हिंदी साहित्य

द्वितीय खंड

[प्रारंभ से सन् १८५० ई० तक]

संपादक

धीरेन्द्र वर्मा (प्रधान)

व्रजेश्वर वर्मा (सहकारी)

भारतीय हिंदी परिषद्

प्रयाग

प्रथम संस्करण २००० प्रतियाँ
महाशिवरात्रि, सं० २०१५ वि०
६ मार्च, १९५९ ई०

मूल्य चौदह रुपए

प्रकाशक : पं० उमाशंकर शुक्ल, कोषाध्यक्ष, भारतीय हिंदी परिषद्, प्रयाग
मुद्रक : सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग

प्रस्तावना

विगत लगभग अर्द्ध शताब्दी की अवधि में हिंदी अनुसंधान और आलोचना के क्षेत्रों में जो बहुविध प्रगति हुई है, वह साहित्य के इतिहास-लेखकों के सामने नित नई चुनौती के रूप में आती रही है। इतिहास-लेखक के लिए यह आवश्यक है कि वह साहित्य की नवीन खोजों और नवीन व्याख्याओं से पदानुपद लाभान्वित होता हुआ उनका यथोचित उपयोग करता रहे। परन्तु सन् १९१३ ई० में 'मिश्रबंधु विनोद' के प्रथम भाग के प्रकाशन के बाद हिंदी साहित्य के जो दर्जनों इतिहास लिखे गए हैं उनमें प्रायः ऐसा नहीं हुआ है। वास्तव में नवीन अनुसंधानों के द्वारा उद्घाटित सामग्री तथा नवीन दृष्टिकोण से की गई व्याख्याओं का इतिहास-लेखन में किस सीमा तक तथा किस प्रकार उपयोग किया जाय, यह निर्णय करना सरल नहीं है। कोई एक लेखक सभी विषयों पर विशेषज्ञता की दृष्टि से विचार नहीं कर सकता। इसी कारण अधिकांश इतिहास-लेखकों में उपर्युक्त कठिनाई से बचकर निकल जाने की प्रवृत्ति देखी जाती है। इसी को ध्यान में रखकर भारतीय हिंदी परिषद् ने एक मँझोले आकार के ऐसे इतिहास की योजना बनाई थी जो विभिन्न विषयों के विशेषज्ञों के सहयोग से प्रस्तुत किया जाय और जिसमें नवीनतम खोजों और व्याख्याओं का समुचित उपयोग हो सके। 'हिंदी साहित्य—द्वितीय खंड' उसी योजना की पूर्ति का प्रथम अंश है। इस खंड में प्रारंभ से १८५० ई० (१९०७ वि०) तक का हिंदी साहित्य का इतिहास दिया गया है। व्यावहारिक उपयोगिता की दृष्टि से ही द्वितीय खंड पहले प्रकाशित किया जा रहा है। प्रथम खंड में हिंदी भाषा और साहित्य की भूमिका के रूप में हिंदी प्रदेश का संपूर्ण सामाजिक, सांस्कृतिक तथा साहित्यिक इतिहास रहेगा और तृतीय खंड १८५० ई० के बाद के साहित्य से संबंधित होगा।

प्रस्तुत ग्रंथ में १८५० ई० तक के संपूर्ण काल को एक अविभाज्य इकाई के रूप में ग्रहण किया गया है। इतिहास-लेखकों ने इस काल को साहित्यिक प्रवृत्तियों के आधार पर अनेक कालों और शाखाओं में विभक्त किया है, परन्तु उस विभाजन के विषय में सदैव मतैक्य नहीं पाया जाता। वस्तुतः हिंदी साहित्य की अनेक प्रवृत्तियाँ प्रायः १८५० ई० तक चली आती हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में ही उसमें एक ऐसी स्थिरता दिखाई देती है जो पुराने युग के अंत और नवीन युग के आगमन की सूचक है।

'हिंदी साहित्य—द्वितीय खंड' सत्रह अध्यायों में विभक्त है। प्रथम दो अध्यायों में राजनीतिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का विवेचन है, आगामी नौ अध्याय हिंदी साहित्य की मुख्य धाराओं से संबंधित हैं तथा शेष पाँच अध्यायों में उन विशिष्ट धाराओं का इतिहास दिया गया है जो प्रभाव-क्षेत्र की दृष्टि से अपेक्षाकृत सीमित हैं।

प्रस्तुत इतिहास की योजना हिंदी प्रदेश को एक संपूर्ण इकाई मान कर बनाई गई थी। इसी दृष्टि से प्रारंभ के दो अध्यायों में हिंदी प्रदेश की राजनीतिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि दी

गई है। इनके लेखक डा० सत्यकेतु विद्यालंकार तथा डा० बनारसीप्रसाद सक्सेना भारतीय इतिहास के प्रतिष्ठित विद्वान् हैं। डा० विद्यालंकार ने हिंदी प्रदेश के राजनीतिक इतिहास की एक तथ्यपूर्ण रूपरेखा प्रस्तुत की है, जिसके बीच हिंदी साहित्य को प्रेरणा देने वाली नवीन संस्कृति का विकास हुआ। यद्यपि लेखक ने राजनीतिक इतिहास के साथ हिंदी साहित्य की गतिविधि का संबंध जोड़ने का प्रयत्न नहीं किया, परन्तु उन्होंने राजनीतिक तथ्यों का जो क्रमिक विवरण दिया है, वह साहित्य के विद्यार्थियों और विचारकों के लिए अत्यंत उपयोगी है। राजनीतिक इतिहास को लेकर हिंदी साहित्य के इतिहास-लेखकों और आलोचकों में अनेक भ्रम प्रचलित हैं। निष्पक्ष रूप से प्रस्तुत किए गए इस तथ्यपूर्ण इतिहास से निश्चय ही उन्हें दूर कर सकने में सहायता मिलेगी। डा० विद्यालंकार ने कुछ ऐसे राजनीतिक तथ्यों को सम्मुख रखा है जिनका परिचय हिंदी साहित्य के विद्यार्थियों को साधारणतया नहीं रहता।

साहित्य सांस्कृतिक चेष्टाओं का ही एक अंग है। डा० बनारसीप्रसाद सक्सेना द्वारा प्रस्तुत सांस्कृतिक पृष्ठभूमि से यह सत्य पूर्णतया प्रमाणित हो जाता है। उन्होंने हिंदी प्रदेश के धर्म, समाज, कला आदि के रूप में उसकी संस्कृति का विवेचन करते हुए हिंदी साहित्य को निरंतर अपने दृष्टि-पथ के केन्द्र में रखा है और जहाँ भी अवसर मिला है, उसके संबंध में अत्यन्त उपयोगी संकेत किए हैं। इस अध्याय से हिंदी साहित्य के संबंध में प्रचलित अनेक रूढ़ विचारों और पूर्वाग्रहों का निराकरण हो सकेगा। यह अध्याय हिंदी साहित्य की विविध धाराओं को ऐतिहासिक सूत्र में बाँधने में भी सहायक हुआ है।

'हिंदी साहित्य' 'नाथपंथी साहित्य' के साथ प्रारंभ होता है। यह हिंदी की प्राचीनतम धारा है, जो उसका संबंध अपभ्रंश के साथ जोड़ती है। अपभ्रंश के सिद्ध साहित्य तथा हिंदी के संतकाव्य के बीच की कड़ी के रूप में इसका महत्व अक्षुण्ण है। इस अध्याय के लेखक डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी हैं, जिन्होंने इस विषय का विशेष अन्वेषण और अध्ययन किया है। प्रस्तुत अध्याय उनके प्रसिद्ध ग्रंथ 'नाथ संप्रदाय' के पूर्व लिखा गया था, परन्तु प्रकाशित होने के पूर्व उन्होंने इसका संशोधन कर दिया है। रासो काव्य की परंपरा भी अपभ्रंश से ही हिंदी में आई है। इसकी एक बड़ी विशेषता यह भी है कि इसकी धारा उन्नीसवीं शताब्दी ई० तक चलती रही तथा इसकी अनेक कृतियों का साहित्यिक दृष्टि से बहुत महत्व है। 'रासो काव्य-धारा' शीर्षक अध्याय के लेखक डा० माताप्रसाद गुप्त ने रासो अथवा रास नामक प्रबंधात्मक काव्यरूप में लिखी गई सैंतीस रचनाओं का परिचय दिया है। इस काव्यरूप की दो पृथक् परंपराएँ हैं——एक गीत-नृत्यमूलक तथा दूसरी छंदवैविध्यमूलक। पहली का प्रतिनिधि है 'बीसलदेव रास' और दूसरी का 'पृथ्वीराज रासो'। हिंदी की इन आद्य रचनाओं पर स्वभावतया अधिक विस्तार से विचार किया गया है। इन दोनों ग्रंथों का वैज्ञानिक संपादन भी डा० गुप्त ने किया है, अतः इनके संबंध में उनके निष्कर्ष प्रामाणिक हैं। 'रासो काव्य-धारा' में वीर रस की रचनाएँ अवश्य हुई हैं, परंतु उसका वीर रस से वैसा अनिवार्य संबंध नहीं है, जैसा कि प्रायः समझा जाता है। इसी कारण 'वीरकाव्य' का विवेचन पृथक अध्याय में किया गया है। भावधारा की दृष्टि से वीरकाव्य हिंदी की प्रथम साहित्यिक धारा कही जा सकती है, यद्यपि इसकी प्राचीन रचनाएँ बहुत कम उपलब्ध हुई हैं। काव्य की यह प्रवृत्ति संपूर्ण विवेच्य काल में परिव्याप्त मिलती है, विशेषरूप से उसकी

अंतिम दो शताब्दियों में वीर रस की रचनाएँ अपेक्षाकृत अधिक संख्या में हुई हैं। 'वीरकाव्य' के लेखक डा० टीकमसिंह तोमर ने इस काव्य-धारा की लगभग एक सौ रचनाओं का परिचय दिया है, रासो काव्य-धारा में आनेवाली वीर रस की रचनाएँ इससे पृथक् हैं।

संत शब्द निर्गुणोपासक भक्त कवियों के लिए रूढ़ हो गया है। कालक्रम की दृष्टि से इसी काव्यधारा के कवि हिंदी भक्ति काव्य के अग्रदूत हैं। 'संतकाव्य' शीर्षक अध्याय में डा० रामकुमार वर्मा ने इस काव्यधारा पर उसके संपूर्ण सामाजिक परिवेश में सभी दृष्टियों से विचार किया है। संभव है इसमें व्यक्त किए गए विचारों की पूर्ण संगति डा० सक्सेना द्वारा दी गई 'सांस्कृतिक पृष्ठभूमि' से कहीं कहीं न मिले, परन्तु इस प्रकार का मत-वैभिन्य स्वाभाविक है। सत्य के अन्वेषण के लिए वह आवश्यक भी है। डा० वर्मा ने संत कवियों को पाँच कोटियों में विभाजित किया है। परंपरा की प्राचीनता में संतकाव्य की अपेक्षा प्रेमाख्यानकों की परंपरा पीछे नहीं है। वस्तुतः यह परंपरा लोक-कथाओं के रूप में चिरकाल से चलती आई है और अपभ्रंश में भी इसका साहित्यिक रूप पाया जाता है। परंतु सूफ़ी भक्तों ने हिंदी में इसे साहित्यिक रूप दिया और इस प्रकार हिंदी काव्य की एक समृद्ध परंपरा को जन्म दिया। 'सूफ़ी प्रेमाख्यानक साहित्य' शीर्षक अध्याय का आधार दुहरा है—एक विशेष धार्मिक विश्वास तथा एक विशिष्ट काव्य-रूप। इस कारण सूफ़ी भक्तों की अन्य प्रकार की रचनाएँ तथा असूफ़ी प्रेमाख्यानक काव्य सीधे इसके अंतर्गत नहीं आते। इस अध्याय के लेखक पंडित परशुराम चतुर्वेदी के सामने यह कठिनाई उपस्थित हुई थी। परंतु स्थान और समय के अभाव के कारण यह संभव नहीं हो सका कि असूफ़ी प्रेमाख्यानों के लिए एक पृथक् अध्याय दिया जाता। पंडित चतुर्वेदी ही अपनी विवेचना में असूफ़ी प्रेमाख्यानों की विशेषताओं का भी प्रसंगवश उल्लेख करते गए हैं। उन्होंने सूफ़ी विचार-धारा और साहित्य का संक्षिप्त इतिहास देते हुए प्रेमाख्यानों की प्राचीन परंपरा, उसके स्वरूप और वर्गीकरण के अंतर्गत इस काव्य की प्राचीनता तथा लोकप्रियता पर यथेष्ट प्रकाश डाला है तथा संपूर्ण सूफ़ी प्रेमाख्यानक साहित्य की सामूहिक रूप में समीक्षा की है।

हिंदी का वैष्णव भक्ति साहित्य राम और कृष्ण भक्ति के संप्रदायों में विभक्त है। राम-भक्ति और रामकाव्य के प्रवर्तक स्वामी रामानंद माने जाते हैं, जिन्होंने सबसे पहले उत्तर भारत के जन-जीवन को वैष्णव भक्ति-भावना से अनुप्राणित और आंदोलित किया था। उनके बाद भी कतिपय भक्तों का नामोल्लेख हुआ है जिन्होंने हिंदी कृष्ण-भक्ति काव्य के पूर्व राम-भक्ति संबंधी रचनाएँ की थीं। अतः 'रामकाव्य' अध्याय पहले रखा गया है, यद्यपि हिंदी रामकाव्य के एकमात्र प्रतिनिधि कवि तुलसीदास का समय प्रारंभिक कृष्ण-भक्त कवियों के बाद में पड़ता है। 'रामकाव्य' के लेखक डा० माताप्रसाद गुप्त ने रामकथा और रामकाव्य की प्राचीन परंपरा, तुलसीदास की जीवनी तथा रचनाओं की प्रामाणिकता का निर्णय तथा उनकी कला, विचार-धारा और भक्ति-भावना का विवेचन करते हुए परवर्ती राम-भक्त कवियों का परिचय दिया है। 'कृष्ण-भक्ति साहित्य' में कृष्णाख्यान और कृष्णकाव्य की प्राचीन परंपराओं का हिंदी में कदाचित् पहली बार उद्घाटन हुआ है। इस अध्याय में कृष्ण-भक्ति के स्वरूप की विवेचना करते हुए हिंदी कृष्ण-भक्ति साहित्य की नवीन दृष्टि से सामूहिक रूप में समीक्षा की गई है। काल-विस्तार, रचना-प्राचुर्य तथा साहित्यिक महत्व, सभी दृष्टियों से कृष्ण-भक्ति साहित्य हिंदी की

सबसे प्रधान काव्य-धारा है और संप्रदायहीन शुद्ध काव्य का विकास इसी धारा से हुआ है। रीति-प्रवृत्ति इस नवीन काव्य की ऐसी विशेषता थी जो उसे पूर्ववर्ती काव्य से मुख्य रूप में पृथक् करती है।

'रीतिकाव्य तथा हिंदी रीतिशास्त्र' अध्याय दो खंडों में विभक्त है। यद्यपि कुछ कवि दोनों खंडों से संबंधित हैं, परंतु यह विभाजन हिंदी काव्य की इस प्रवृत्ति के परिणामों को स्पष्ट रूप में समझने के लिए आवश्यक है। इस अध्याय के लेखक डा० भगीरथ मिश्र ने पहले खंड में रीतिकाव्य की परिस्थिति, परंपरा तथा उसके स्वरूप को स्पष्ट करते हुए संबद्ध कवियों का उदाहरण सहित आलोचनात्मक परिचय दिया है तथा दूसरे खंड में हिंदी रीतिशास्त्र की पृष्ठभूमि, आधार और परंपरा का आकलन करके हिंदी रीतिशास्त्रीय कवियों की, उन्हें रस, अलंकार और ध्वनि संप्रदायों में विभक्त करते हुए सोदाहरण समीक्षा की है। हिंदी साहित्य की मुख्य धाराओं से संबंधित अध्यायों में अंतिम 'नीति और जीवनी साहित्य' है। मूलतः अंतिम अध्याय में नीति और जीवनी साहित्य के अतिरिक्त 'विविध साहित्य' के उपशीर्षक से उस समस्त साहित्य का विवेचन करना अभीष्ट था जो पूर्ववर्ती अध्यायों में विषयान्तर के भय से समाविष्ट नहीं हो सका। यह शेष साहित्य धार्मिक, सांप्रदायिक और उपयोगी साहित्य कहा जा सकता है। परंतु 'नीति और जीवनी साहित्य' के लेखक डा० भोलानाथ तिवारी ने इस अध्याय में विविध साहित्य को सम्मिलित करना संभव नहीं समझा। अंत में उसके लिए पृथक् व्यवस्था करने में समय और स्थान दोनों का अभाव बाधक हो गया।

इस प्रकार उपर्युक्त नौ अध्यायों में हिंदी साहित्य की प्रमुख धाराओं का विषय-विभाजन सिद्धांतवाद, काव्यरूप, भावधारा, वर्ण्य विषय और साहित्यिक प्रवृत्ति——प्रमुखतया इन पाँच आधारों पर किया गया है। विवेच्य काल की प्रमुख धाराएँ वस्तुतः इन्हीं आधारों पर टिकी हुई हैं। यह अवश्य है कि विषय-विभाजन की आधार-विविधता के कारण कहीं कहीं पुनरावृत्तियाँ हो गई हैं। परंतु ये पिष्टपेषण के रूप में प्रायः नहीं हैं, अपितु उनमें विषय के अनुसार दृष्टिकोण का अंतर है, तथा विषय की परिपूर्णता के विचार से उनका औचित्य स्वतः प्रमाणित है।

जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है, 'हिंदी साहित्य' के अंतिम छः अध्यायों की विशिष्ट साहित्य-धाराओं का प्रभाव-क्षेत्र सीमित है। वस्तुतः अपनी सीमाओं के कारण ही इनके अंतर्गत आने वाले संपूर्ण साहित्य को मुख्य धाराओं में सम्मिलित नहीं किया जाता। फिर भी, अपभ्रंश के जैन साहित्य, 'बीसलदेव रास' तथा कुछ अन्य राजस्थानी रचनाओं, अमीर खुसरो की हिंदवी रचनाओं और विद्यापति की पदावली को हिंदी की प्रारंभिक रचनाओं में सम्मिलित करके इन सबकी परवर्ती परंपराओं——हिंदी जैन साहित्य, राजस्थानी साहित्य, हिंदवी साहित्य तथा मैथिली साहित्य का उल्लेख तक न करना कहाँ तक उचित है? हिंदी साहित्य अपने विस्तार में इन सब को समेट कर ही महान् है, इसी रूप में वह संपूर्ण हिंदी प्रदेश की सांस्कृतिक चेष्टाओं का परिचय देता है।

कालक्रम की दृष्टि से इन विशिष्ट साहित्य-धाराओं में प्राचीनतम जैन साहित्य है। यद्यपि 'जैन साहित्य' शीर्षक अध्याय के विद्वान् लेखक श्री अगरचंद नाहटा ने हिंदी भाषा को मध्य-देश की आधुनिक भाषा के ही अर्थ में ग्रहण किया है और अपभ्रंश या राजस्थानी मिश्रित भाषा के साहित्य को अपने विचार-क्षेत्र में सम्मिलित नहीं किया, फिर भी उन्होंने जिस प्रचुर जैन साहित्य

का परिचय दिया है, वह अनेक दृष्टियों से अत्यन्त उपादेय है। भले ही उसमें कविवर बनारसी-दास जैसा कोई अन्य कवि न हुआ हो, परन्तु साहित्य का गौरव केवल कुछ महान् कवियों और गिने-चुने महान् ग्रंथों से ही नहीं बढ़ता। उन कवियों और ग्रंथों का भी महत्व कम नहीं है जो महान् कृतियों के लिए भूमि तैयार करते तथा पोषक तत्व प्रदान करते हैं। 'राजस्थानी साहित्य' शीर्षक अध्याय श्री उदयसिंह भटनागर द्वारा लिखा गया है जिसमें विद्वान् लेखक ने काल-विभाजन के आधार पर राजस्थानी साहित्य का परिचय दिया है। साथ में उन्होंने राजस्थानी साहित्य की एक लंबी सूची भी कालक्रम के अनुसार दी थी, जिसे पुस्तक के अंत में परिशिष्ट के रूप में दिया जा रहा है। यद्यपि इस सूची में राजस्थानी भाषा के साहित्य के साथ राजस्थान में लिखित या प्राप्त ब्रजभाषा के भी कुछ ग्रंथों को सम्मिलित कर लिया गया है, परंतु इससे सूची की उपयोगिता कम नहीं होती, क्योंकि प्रत्येक ग्रंथ के सामने भाषा का भी उल्लेख कर दिया गया है। राजस्थानी की भाँति हिंदी प्रदेश के पूर्वी भाग की उपभाषा, मैथिली ने भी प्राचीन हिंदी साहित्य को समृद्ध किया है। परंतु एकमात्र 'विद्यापति पदावली' द्वारा ही मैथिली भाषा का स्मरण किया जाय, यह हमारे अज्ञान का ही द्योतक होगा, क्योंकि मैथिली साहित्य में गीतिकाव्य के साथ प्रबंध काव्य और गद्य साहित्य भी प्रचुर मात्रा में रचा गया। इनके अतिरिक्त नाट्य साहित्य मैथिली की ऐसी विशेषता है जो उस काल के हिंदी के किसी अन्य साहित्यिक भाषा रूप में नहीं पाई जाती। यह अध्याय डा० उदयनारायण तिवारी ने एक शोध छात्र श्री श्रीमन्नारायण द्विवेदी की सहायता से तैयार किया है। इन विशिष्ट साहित्य-धाराओं में 'हिंदवी साहित्य' का अपना एक पृथक् स्थान है। हिंदवी अर्थात् पुरानी खड़ीबोली के आदि कवि अमीर खुसरो की रचना को एकमात्र इसी अध्याय में स्थान मिला है, अतः इस अध्याय का मुख्य धारा के अध्यायों जैसा महत्व हो जाता है। इसके अतिरिक्त इस अध्याय के लेखक श्री माताबदल जायसवाल ने परिश्रमपूर्वक इसमें ऐसी सामग्री जुटाई है जो हिंदी में पहली बार प्रकाशित हो रही है। दक्षिण भारत के हिंदवी अर्थात् दक्खिनी साहित्य पर हिंदी का अधिकार है या उर्दू का, इस प्रश्न पर गवेषणापूर्वक विचार करके श्री जाय-सवाल ने हिंदी के दावे को तथ्य और तर्क के आधार पर प्रमाणित किया है। परंतु प्रस्तुत ग्रंथ की योजना में तो उर्दू को भी हिंदी साहित्य के भीतर सम्मिलित करके इस प्रश्न पर उठे मत-भेद को ही मानो बहुत कुछ निराधार बनाने का उद्योग किया गया है। हिंदी के अधिकांश विद्वान् उर्दू को हिंदी की ही एक विशिष्ट शैली स्वीकार करते हैं। उर्दू साहित्य को देवनागरी में प्रकाशित करके उसे हिंदी का एक अंग बना लेने के सुझाव भी प्रायः सुनने में आते हैं। परंतु इस सिद्धांत के अनुसार हिंदी साहित्य के इतिहास-ग्रंथों में उर्दू साहित्य को सम्मिलित करने का व्यावहारिक प्रयत्न अभी तक नहीं हुआ। प्रस्तुत ग्रंथ में इस दिशा की ओर पहला क़दम उठाया गया है। 'उर्दू साहित्य' के लेखक श्री सैयद मसीहुज्ज़मां ने इस अध्याय के सीमित आकार में १८५० ई० तक के संपूर्ण उर्दू साहित्य का अत्यन्त स्पष्टता, स्वच्छता और अधिकार के साथ संक्षिप्त, किंतु उपादेय परिचय दिया है। उर्दू साहित्य को हिंदी में सम्मिलित कर लेने से भी अधिक साहस 'पंजाबी साहित्य' शीर्षक अध्याय देने में समझा जाएगा। पंजाबी भाषा को हिंदी की उपभाषा कहना तो संप्रति सामयिक न होगा, परंतु इतना कहा जा सकता है कि साहित्यिक हिंदी से पंजाबी भाषा भोजपुरी अथवा मगही की अपेक्षा अधिक दूर नहीं है। 'पंजाबी साहित्य' शीर्षक अध्याय के लेखक

डा० हरदेव बाहरी की धारणा है कि भाषा के आधार पर 'पंजाबी साहित्य' उसी प्रकार हिंदी साहित्य का एक अंग माना जा सकता है, जिस प्रकार मैथिली या भोजपुरी का साहित्य। परंतु पंजाबी साहित्य को प्रस्तुत इतिहास में सम्मिलित करने का कारण व्यावहारिक भाषा की अपेक्षा साहित्यिक भाषा और साहित्यिक प्रवृत्ति अधिक है। चाहे सिख गुरुओं की वाणियाँ लीजिए और चाहे बाबा फ़रीद शकरगंज जैसे सूफ़ी साधुओं की रचनाएँ, प्राचीन पंजाबी साहित्य हिंदी के अत्यन्त निकट है और वह हिंदी साहित्य का एक अभिन्न अंग है। इस अध्याय में दिए गए पंजाबी साहित्य के संक्षिप्त परिचय से यह तथ्य भलीभाँति सामने आ जाता है। इन विशिष्ट साहित्य-धाराओं के विवेचन में भी कुछ अंश ऐसा अवश्य है जो मुख्य धाराओं में पहले ही आ चुका है। परंतु इसके औचित्य के विषय में भी वही बात कही जा सकती है जो पीछे मुख्य धाराओं में संयोग-प्राप्त पुनरावृत्तियों के विषय में कही गई है।

'हिंदी साहित्य—द्वितीय खंड' के उपर्युक्त सामान्य परिचय से प्रकट है कि इसमें विवेच्य काल के अन्तर्गत हिंदी प्रदेश की संपूर्ण साहित्यिक चेष्टाओं को आँकने का प्रयत्न किया गया है। अनेक लेखकों का सामूहिक प्रयास होने के कारण इसके विभिन्न अध्यायों में स्तर-भेद और शैलीगत अंतर होना स्वाभाविक है। इन अंतरों का कारण लेखक की व्यक्तिगत रुचि के साथ साथ यह भी है कि 'हिंदी साहित्य' की योजना को कार्यान्वित होने में असाधारण विलंब हुआ, अतः इसके विभिन्न अध्यायों के लेखन-काल में परस्पर बहुत अंतर पड़ गया। इतिहास की योजना सन् १९४७ ई० में बनाई गई थी। प्रस्तुत खंड के दो अध्याय तो उसी वर्ष प्राप्त हो गए थे। फिर लगभग ३-४ वर्ष तक विशेष प्रगति नहीं हो सकी। उसके बाद दो-एक अध्याय और प्राप्त हुए। परंतु अधिकतर अध्याय गत पाँच वर्षों में लिखाए गए हैं। कुछ अध्याय तो पुस्तक के छपते-छपते मिले हैं। इस बीच जिन अध्यायों के लिए निश्चित किए गए एक के बाद दूसरे लेखकों ने कार्य स्वीकार करके तथा बार बार नई अवधि देकर भी अंततः समय नहीं निकाल पाया, उनके लिए नए लेखक ढूँढ़ने पड़े और उन्हें अपेक्षाकृत थोड़े समय में ही कार्य समाप्त करना पड़ा। साथ ही, मूलतः यह योजना परिषद् के जिन अधिकारियों द्वारा बनाई गई थी, उनमें भी परिवर्तन हुआ और ग्रंथ के संपादन की स्थायी व्यवस्था योजना बनने के दस वर्ष बाद हो सकी। उस समय तक पुस्तक को शीघ्रातिशीघ्र मुद्रण के लिए तैयार करना आवश्यक था, अतः योजना में कोई मौलिक संशोधन नहीं किया जा सकता था। प्रारंभ में अध्यायों के केवल शीर्षक दिए गए थे, उनकी रूप-रेखा या विषय-विस्तार का निर्देश नहीं था। अतः बाद में अध्यायों की रूपरेखा बनाने में भी कठिनाई हुई तथा उसका पालन करने में भी। फिर भी, अध्यायों को जहाँ तक हो सका पूर्ण और इतिहास की योजना के उपयुक्त बनाने का प्रयत्न किया गया है। नव-निर्धारित लेखकों को यथा-संभव उनके अध्यायों की रूपरेखाएँ भी दी गईं तथा आवश्यकतानुसार अध्यायों के अंत में विषयगत साहित्य एवं सहायक साहित्य की सूचियाँ दिलाने का भी प्रयत्न किया गया। वास्तव में इस प्रकार की योजना को दीर्घ काल के विस्तार में फैलने देना उचित नहीं होता। फिर भी विभिन्न अध्यायों के सामान्य संघटन और शैली के अंतर उनकी एक विशेषता भी कही जा सकती है। इससे लेखकों की व्यक्तिगत रुचि और उनके दृष्टिकोण का भी अधिक परिचय मिल जाता है।

इस प्रकार एकत्र की गई सामग्री के संपादन की समस्या भी सरल नहीं थी। एक बार

इस कार्य के लिए एक छोटी सी परामर्श-समिति भी बनाई गई थी जिसके सदस्य भारतीय हिंदी परिषद् के तत्कालीन सभापति डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, उपसभापति डा० रामकुमार वर्मा तथा डा० माताप्रसाद गुप्त और डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय थे। संपादन के संबंध में अनेक संशयों और आशंकाओं के होने पर भी अंततोगत्वा यही उचित समझा गया कि विभिन्न अध्यायों की अपनी व्यक्तिगत विशेषताओं को यथासंभव सुरक्षित रखा जाय तथा संपादन के रूप में उनमें कम से कम परिवर्तन किए जायँ। अध्यायों का क्रम तो ऐतिहासिक दृष्टि से दिया ही गया है, विभिन्न धाराओं के विवेचन में स्वतः ऐतिहासिक विकास की दृष्टि रखी गई है। यह अवश्य है कि इन धाराओं को एक दूसरे से संबद्ध करने का बाह्य प्रयत्न नहीं किया गया, परंतु सावधान पाठक को अध्यायों के अंतर्गत ही संबंध निर्देश करने वाली सामग्री यथेष्ट मात्रा में मिल सकती है।

विभिन्न लेखकों ने अपनी रुचि के अनुसार विक्रमी संवत् अथवा इसवी सन् का व्यवहार किया है। परन्तु सुविधा के लिए कोष्ठकों में यथावश्यक दोनों दे दिए गए हैं।

'हिंदी साहित्य—द्वितीय खंड' के रूप में भारतीय हिंदी परिषद् की योजना के प्रथम अंश की पूर्ति का प्रधान श्रेय उन विद्वान् लेखकों को है जिन्होंने अपना बहुमूल्य योग देकर परिषद् को आभारी किया। परिषद् के आनुक्रमिक सभापति डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डा० विनयमोहन शर्मा और श्री नन्ददुलारे वाजपेयी, उपसभापति डा० रामकुमार वर्मा और डा० माताप्रसाद गुप्त तथा प्रबन्ध मंत्री पंडित उमाशंकर शुक्ल के उद्योगों को भी भुलाया नहीं जा सकता। उन्हीं के कार्य-काल में यह योजना विशेष प्रगति करके पूर्ण हो सकी। उपर्युक्त परामर्श-समिति के सदस्यों के अतिरिक्त भारतीय हिंदी परिषद् के अन्य अधिकारी तथा प्रयाग विश्वविद्यालय, हिंदी विभाग के अन्य सहयोगी भी समय समय पर अनेक प्रकार की सहायता देते रहे हैं। उन सब को धन्यवाद देना आत्म-स्तुति जैसा जान पड़ता है। सबसे अधिक धन्यवाद के पात्र हैं केन्द्रीय शिक्षा मन्त्रालय और उसके विशेष अधिकारी, जिनकी सहायता के बिना परिषद् की यह योजना आर्थिक संकट में ही पड़ी रहती। इस खंड के लिए केन्द्रीय सरकार द्वारा दिए गए दस हज़ार रुपए के अनुदान से ही हम इसे प्रकाशित कर सकने में सफल हो सके हैं। इतिहास की योजना के लिए उत्तर प्रदेशीय सरकार ने भी डेढ़ हजार रुपए का अनुदान दिया था। उस धन का तृतीयांश इस खंड में लगा है। अतः उत्तर प्रदेश सरकार के भी हम कृतज्ञ हैं। प्रूफ़ संशोधन तथा प्रेस कापी तैयार करने में सहायता देकर हमारे सहयोगी डा० पारसनाथ तिवारी ने हमारा बहुत हाथ बँटाया। विषय-सूची तथा अनुक्रमणिका तैयार करने में हमारे एक शोध-छात्र श्री वागेश्वरीप्रसाद ने सहायता दी है। पुस्तक का मुद्रण सम्मेलन मुद्रणालय में हुआ है। उसके संचालक श्री सीताराम गुंठे के प्रति भी हम आभार प्रकट करते हैं।

हमें विश्वास है कि 'हिंदी साहित्य—द्वितीय खंड' उच्च अध्ययन में रुचि रखने वाले सभी पाठकों के लिए उपादेय होगा तथा इतिहास-लेखन की परंपरा को विकसित करने में सहायक बनेगा। यदि इससे हिंदी साहित्य के विद्यार्थियों का कुछ भी लाभ हो सका तो हम अपना प्रयत्न सार्थक समझेंगे।

महाशिवरात्रि, सं० २०१५ वि० —संपादक

'हिंदी साहित्य' के लेखक

श्री अगरचंद नाहटा, नाहटों की गवाड़, बीकानेर
डॉ० उदयनारायण तिवारी, एम० ए०, डी० लिट०, हिन्दी विभाग, विश्वविद्यालय, प्रयाग
श्री उदयसिंह भटनागर, म० स० गायकवाड़ विश्वविद्यालय, बड़ौदा
डॉ० टीकमसिंह तोमर, हिंदी विभाग, बलवंत राजपूत कॉलिज, आगरा
श्री परशुराम चतुर्वेदी, एम० ए०, एल-एल० बी०, वकील, बलिया
डा० बनारसीप्रसाद सक्सेना, एम० ए०, पी-एच० डी० (लंदन), अध्यक्ष, इतिहास विभाग, विश्वविद्यालय, प्रयाग
डा० भगीरथ मिश्र, एम० ए०, पी-एच० डी०, हिंदी विभाग, विश्वविद्यालय, लखनऊ
डा० भोलानाथ तिवारी, एम० ए०, डी० फ़िल०, हिंदी विभाग, किरोड़ी मल डिग्री कालिज, दिल्ली
श्री माताबदल जायसवाल, एम० ए०, हिंदी विभाग, विश्वविद्यालय, प्रयाग
डा० माताप्रसाद गुप्त, एम० ए०, डी० लिट०, हिंदी विभाग, विश्वविद्यालय, प्रयाग
डा० रामकुमार वर्मा, एम० ए०, पी-एच० डी०, हिंदी विभाग, विश्वविद्यालय, प्रयाग
डा० व्रजेश्वर वर्मा, एम० ए०, डी० फ़िल०, हिंदी विभाग, विश्वविद्यालय, प्रयाग
श्री श्रीमन्नारायण द्विवेदी, एम० ए०, शोध-छात्र, हिंदी विभाग, विश्वविद्यालय, प्रयाग
डा० सत्यकेतु विद्यालंकार, डी० लिट०, इतिहास-सदन, कनाट सर्कस, नई दिल्ली
श्री सैयद मसीहुज़्ज़मां, एम० ए०, उर्दू विभाग, विश्वविद्यालय, प्रयाग
डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डी० लिट०, अध्यक्ष, हिंदी विभाग, हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी
डा० हरदेव बाहरी, एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट०, हिंदी विभाग, विश्वविद्यालय, प्रयाग

विषय-सूची

*

(अंक पृष्ठ संख्या के द्योतक हैं).

संक्षेप

ई० = ईसवी (सन्)
तंत्रा० = तंत्रालोक, अभिनवगुप्त कृत
नं० कि० प्रेस = नंद किशोर प्रेस, लखनऊ
पं० = पंडित
पृ० = पृष्ठ
प्रो० = प्रोफ़ेसर
ब्र० = ब्रह्मचारी
म० म० = महामहोपाध्याय
सं० = संवत् या संपादक (प्रसंगानुसार)
हिं० सा० आ० इ० = हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डा० रामकुमार वर्मा लिखित
डा० = डॉक्टर (ऑफ लेटर्स या फ़िलासफी)
ध्रु० = ध्रुवक
नो० = नोट, हिंदी खोज विवरण का
पु० प्र० सं० = पुरातन प्रबंध संग्रह, सिंघी जैन ग्रंथमाला में प्रकाशित
प्र० = प्रकाशक या प्रकाशित (प्रसंगानुसार)
बौ० गा० दो० = बौद्ध गान ओ दोहा, महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री द्वारा संपादित
भा० = भाग
वि० = विक्रमी
स्व० = स्वर्गीय
हित त० = हित तरंगिणी, कृपाराम कृत
हि० स० = हिजरी सन्

हिन्दी साहित्य

प्रारंभ से सन १८५० ई० (सं० १९०७.वि०) तक

१. राजनीतिक पृष्ठभूमि

विविध राजवंशों के शासन का युग

मगध के महत्वाकांक्षी, वीर राजाओं के प्रयत्न से भारत के बड़े भाग में राजनीतिक एकता स्थापित हुई थी और ऐसे साम्राज्यों का निर्माण हुआ था जिनकी सीमाएँ यद्यपि सम्राट की वीरता के अनुसार घटती-बढ़ती रहती थीं, किन्तु प्रायः सम्पूर्ण मध्यदेश जिनके अन्तर्गत रहता था। महापद्मनन्द के समय में साम्राज्यों के जिस युग का प्रारम्भ हुआ था, वह गुप्त वंश के शासन-काल तक जारी रहा। स्थूल रूप से हम पाँचवीं सदी ईसवी पूर्व से पांचवीं सदी ईसवी पश्चात के काल को भारतीय इतिहास का 'साम्राज्य युग' कह सकते हैं। परन्तु हूणों के आक्रमण के कारण इस युग का अन्त हो गया और मध्यदेश (हिन्दी प्रदेश) में भी अनेक राजवंशों के शासन का प्रारम्भ हुआ।

स्कन्दगुप्त के बाद गुप्त साम्राज्य का ह्रास प्रारम्भ हो गया था और विविध प्रदेशों में विभिन्न राजवंशों ने अपने स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने शुरू कर दिए थे। छठी सदी ई० के इन राजवंशों में दो बहुत महत्वपूर्ण थे—कन्नौज का मौखरिवंश और स्थानेश्वर (थानेसर) का वर्धन-वंश। कन्नौज के मौखरि राजा ग्रहवर्मा का विवाह स्थानेश्वर के राजा प्रभाकरवर्धन की पुत्री राज्यश्री के साथ हुआ था। मालव-नरेश देवगुप्त के साथ युद्ध करते हुए ग्रहवर्मा की मृत्यु हो गई और प्रभाकरवर्धन का पुत्र हर्षवर्धन स्थानेश्वर और कन्नौज दोनों राज्यों का स्वामी बन गया। राजा हर्षवर्धन का भारत के इतिहास में बहुत महत्व है। उसने एक बार फिर उत्तर भारत की राज-नीतिक एकता के लिए प्रयत्न किया और दूर-दूर तक विजय यात्रा की। प्रायः सारा हिन्दी प्रदेश उसके शासन में था और पूर्व में प्राग्ज्योतिष (आसाम) तक के राजाओं के साथ उसका घनिष्ठ सम्बन्ध था। हर्ष के विशाल साम्राज्य की राजधानी कन्नौज नगरी थी। मौर्य और गुप्त सम्राटों के समय में जो गौरव पाटलीपुत्र का था, वह अब कन्नौज को प्राप्त हो गया था। इस युग से कन्नौज भारत की राजशक्ति का प्रधान केन्द्र बन गया और हिन्दी प्रदेश के केन्द्र में स्थित इस नगरी की यह स्थिति कई सदियों तक कायम रही। बारहवीं सदी तक कन्नौज ही भारत का प्रमुख नगर रहा और अनेक प्रतापी राजवंशों ने उसे अपनी राजधानी बना कर शासन किया। प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्युएनत्सांग हर्षवर्धन के समय में ही भारत की यात्रा के लिए आया था।

उसके अनुसार कन्नौज पाँच मील लम्बे और सवा मील चौड़े क्षेत्र में बसा हुआ था, उसके भवन स्वच्छ व सुन्दर थे, वहाँ के निवासी समृद्ध और वैभवपूर्ण थे और सुन्दर रेशमी वस्त्र धारण करते थे। कन्नौज की रचना एक दुर्ग के समान की गई थी। उद्यानों और जलाशयों की भी वहाँ प्रचुरता थी।

हर्ष (६०६ से ६४६ ई० = सं० ६६३ से ७०३ वि०) के बाद भारत के प्राचीन इतिहास में कोई ऐसा राजा नहीं हुआ, जो मध्यदेश (हिन्दी प्रदेश) के बड़े भाग को अपनी अधीनता में लाने में समर्थ हुआ हो। वस्तुतः इस युग में (सातवीं सदी से बारहवीं सदी ई० के अन्त तक) इस क्षेत्र के विविध प्रदेशों पर विविध राजवंशों का शासन रहा। उनके राजा परस्पर युद्धों में व्यस्त रहे और अन्य राज्यों को जीतकर अपनी अधीनता में लाने का प्रयत्न करते रहे। इस युग को भारत के इतिहास का **मध्ययुग** भी कहते हैं।

हर्षवर्धन के बाद लगभग एक सदी तक मध्यदेश की राजनीतिक दशा के सम्बन्ध में निश्चित ज्ञान उपलब्ध नहीं है। कन्नौज में (जो इस समय उत्तर भारत की राजशक्ति का केन्द्र था) इस काल में किन राजाओं का शासन था, यह हमें ज्ञात नहीं है। परन्तु आठवीं सदी के पूर्वार्ध में कन्नौज में एक अन्य राजा हुआ जो हर्षवर्धन के समान ही प्रतापी था। इस राजा का नाम यशोवर्मा (७२७ से ७५२ ई० = सं० ७८४ से ८०९ वि०) था। इस वीर राजा ने एक बार फिर उत्तर भारत को एक शासन में लाने का प्रयत्न किया और प्रायः सम्पूर्ण मध्यदेश (हिन्दी प्रदेश) पर शासन करने में वह समर्थ हुआ। यशोवर्मा ने पूर्वदिशा में दिग्विजय करते हुए मगध से गुप्तवंश के शासन का अन्त किया और गौड़ देश (बंगाल) की भी विजय की। इस विजय का वृत्तान्त कवि वाक्पति ने 'गौड़वहो' में विस्तार से लिखा है जो प्राकृत भाषा का एक उत्कृष्ट महाकाव्य है। संस्कृत का प्रसिद्ध कवि भवभूति भी यशोवर्मा की राजसभा में रहता था।

यशोवर्मा के कुछ समय बाद कन्नौज का शासन ऐसे राजाओं के हाथ में चला गया, जिनके नाम के अन्त में 'आयुध' शब्द आता है। सम्भवतः ये राजा आयुधवंश के थे। इन्हें हर्षवर्धन के सेनापति भण्डि के वंश का समझा जाता है। ये राजा निर्बल थे। इसका परिणाम यह हुआ कि उत्तर भारत के बड़े भाग पर कन्नौज का आधिपत्य नहीं रह गया। इस काल में वस्तुतः उत्तर भारत में एक प्रकार की अराजकता-सी छाई हुई थी और विविध प्रदेशों में अनेक नए राज्य कायम हो गए थे। इस स्थिति में पूर्वी भारत में गोपाल नाम के एक वीर पुरुष ने अपना सुसंगठित राज्य स्थापित किया और एक नए वंश का प्रारम्भ किया, जो इतिहास में 'पालवंश' के नाम से प्रसिद्ध है। यह गोपाल ७६५ ई० (सं० ८२२ वि०) के लगभग बिहार-बंगाल का राजा बना। गोपाल के उत्तराधिकारी बड़े वीर और प्रतापी थे। उन्होंने न केवल बिहार-बंगाल के प्रदेशों पर दृढ़तापूर्वक शासन किया, अपितु पश्चिम की ओर आक्रमण कर कन्नौज के राज्य को भी अपने अधीन किया। पालवंशीय राजा धर्मपाल (७७० से ८०९ ई० = सं० ८२७ से ८६६ वि०) का शासन प्रायः सारे उत्तर भारत में विद्यमान था और कन्नौज के राजा चक्रायुध की स्थिति उसके महासामन्त के सदृश थी।

इसी समय राजस्थान की मरुभूमि में एक अन्य शक्तिशाली राजवंश का उत्कर्ष हो रहा

था, जिसका नाम गुर्जर प्रतिहार है। इस वंश का शासन राजस्थान में मारवाड़ से शुरू होकर भड़ौंच तक विस्तृत था और इसकी राजधानी भिन्नमाल थी। गुर्जर प्रतिहार राजा वत्सराज ने ७८३ ई० (सं० ८४० वि०) में उत्तर-पूर्व की ओर दिग्विजय करते हुए कन्नौज पर आक्रमण किया और वहाँ के राजा चक्रायुध को (जो पालवंशीय सम्राट धर्मपाल का महासामन्त था) परास्त कर कन्नौज़ को अपने अधिकार में कर लिया। इस प्रकार कन्नौज व मध्यदेश से पाल राजाओं के शासन का अन्त हुआ।

इसी काल में नर्मदा नदी के दक्षिण में एक अन्य शक्तिशाली राज्य का विकास हो रहा था, जिसके राजा राष्ट्रकूट कहलाते थे। चक्रायुध और धर्मपाल का समकालीन राष्ट्रकूट राजा कृष्ण (७६० से ७७५ ई० =सं० ८१७ से ८३२ वि०) था, जिसका राज्य सम्पूर्ण महाराष्ट्र और कर्नाटक में विस्तृत था। उसके उत्तराधिकारी राजाओं ने नर्मदा नदी को पार कर उत्तर भारत पर भी आक्रमण किए और गुर्जर प्रतिहार वा पालवंशीय राजाओं के साथ अनेक संघर्षों का प्रारम्भ हुआ।

इस प्रकार आठवीं सदी ई० के अन्तिम भाग में उत्तर भारत पर अपना आधिपत्य करने के लिए तीन राजशक्तियों में संघर्ष हो रहा था—(१) बिहार-बंगाल के पालवंशीय राजा, (२) भिन्नमाल के गुर्जर प्रतिहार राजा और (३) महाराष्ट्र-कर्नाटक के राष्ट्रकूट राजा। ये तीनों अपनी-अपनी शक्ति का विस्तार करने में तत्पर थे और अवसर पाकर मध्यदेश के अधिक-से-अधिक भाग को अपनी अधीनता में लाने के लिए प्रयत्नशील थे। गुर्जर प्रतिहारों, पालों और राष्ट्रकूटों के इस संघर्ष का वृत्तान्त यहाँ लिखने की आवश्यकता नहीं। इनमें कभी कोई सफल होता, कभी कोई। राष्ट्रकूट राजा कृष्ण और उसका उत्तराधिकारी ध्रुव, दोनों बड़े प्रतापी थे। वे गुर्जर प्रतिहारों और पालवंशीय राजाओं को अपने अधीन रखने में समर्थ रहे। पर ध्रुव की मृत्यु (७९४ ई० = सं० ८५१ वि०) के बाद राष्ट्रकूटों की शक्ति क्षीण हो गई और गुर्जर प्रतिहारों का उत्कर्ष प्रारम्भ हुआ। उनके राजा नागभट्ट द्वितीय ने जो वत्सराज का पुत्र था, एक बार फिर कन्नौज पर कब्जा कर लिया, पर वह देर तक उत्तर भारत में मूर्धन्य नहीं रह सका। राष्ट्रकूटों ने एक बार फिर अपनी शक्ति को प्रदर्शित किया और उनके राजा गोविन्द तृतीय ने नागभट्ट को परास्त कर कन्नौज पर अधिकार कर लिया। उसने कन्नौज से आगे बढ़कर उत्तर में हिमालय तक विजय यात्रा की। पालवंशीय राजा भी उसकी अधीनता को स्वीकृत करने के लिए विवश हुए पर गोविन्द तृतीय का शासन भी देर तक कायम नहीं रहा। ८१४ ई० (सं० ८७१ वि०) में जब उसकी मृत्यु हो गई, तो पालवंशीय देवपाल ने राष्ट्रकूटों को परास्त कर मध्यदेश को अपने शासन में ले लिया। इस प्रकार कुछ समय तक उत्तर भारत का मध्यदेश कभी गुर्जर प्रतिहारों के अधीन रहा, कभी राष्ट्र-कूटों के और कभी पालवंश के।

पालवंश का राजा देवपाल राष्ट्रकूटों का पराभव करने में समर्थ हुआ था और गुर्जर प्रतिहार राजा भी उसकी अधीनता को स्वीकार करते थे। पर स्थिति ने एक बार फिर पलटा खाया। ८३६ ई० (सं० ८९३ वि०) में मिहिरभोज या आदिवाराह गुर्जर प्रतिहार वंश की गद्दी पर बैठा, जिसका शासन भिन्नमाल में पालवंश के सामन्त के रूप में कायम था। मिहिरभोज बड़ा वीर और प्रतापी था। उसने देवपाल को परास्त कर कन्नौज पर अधिकार कर लिया और भिन्न-

माल के स्थान पर उसी को अपनी राजधानी बनाया। इस समय उत्तर भारत में कन्नौज की प्रायः वही स्थिति थी, जो मुसलिम राजवंशों के शासन में दिल्ली की थी। कन्नौज के हाथ आ जाने से उत्तर भारत में विविध राजाओं ने जो पहले पालवंशीय देवपाल के सामन्त थे, मिहिरभोज की अधीनता स्वीकार कर ली। ८५५ ई० (सं० ९१२ वि०) में मिहिरभोज ने बिहार को भी पालवंश के राजा नारायणपाल (देवपाल के उत्तराधिकारी) से जीत लिया और इस प्रकार सम्पूर्ण मध्यदेश (हिन्दी प्रदेश) उसके आधिपत्य में आ गया। इस समय तक सिन्ध का प्रदेश अरबों की अधीनता में आ चुका था। अरब लोग जो सिन्ध से आगे भारत में नहीं बढ़ सके, उसका प्रधान कारण गुर्जर प्रतिहार राजाओं की शक्ति ही थी।

मिहिरभोज द्वारा स्थापित साम्राज्य दसवीं सदी ई० के मध्य भाग तक कायम रहा। उसके उत्तराधिकारी भी उसी के समान वीर थे। पर गुर्जर प्रतिहारों की शक्ति भी देर तक स्थिर नहीं रही। ९१६ ई० (सं० ९७३ वि०) में दक्षिण के राष्ट्रकूट राजा इन्द्र नित्यवर्मा ने उत्तर भारत पर आक्रमण किया। यद्यपि वहाँ स्थिर रूप से शासन करने का प्रयत्न उसने नहीं किया, पर उसकी दिग्विजय के कारण गुर्जर प्रतिहारों को जो भारी धक्का लगा, वे उसे फिर नहीं सँभाल सके। इस समय से उत्तर भारत की प्रायः वही दशा हो गई जो हर्षवर्धन के बाद हुई थी। मध्य-देश (हिन्दी प्रदेश) एक बार फिर अनेक छोटे-बड़े राज्यों में विभक्त हो गया, जिन पर विविध राजवंश स्वतन्त्रतापूर्वक शासन करने लगे।

दसवीं सदी के मध्य भाग में गुर्जर प्रतिहारों की शक्ति के क्षीण होने पर मध्यदेश (हिन्दी प्रदेश) में जो अनेक राजवंश शासन करने लगे, उनमें जेजाकभुक्ति का चन्देलवंश, चेदि का कल-चूरिवंश, मालवा का परमारवंश, अणहिलवाड़ा का चालुक्यवंश, शाकम्भरी का चौहानवंश, और ग्वालियर का कच्छपधानवंश मुख्य थे। इनके अतिरिक्त गुर्जर प्रतिहारों और पाल राजाओं के राज्य भी इस युग में कायम रहे, यद्यपि उनका क्षेत्र अब पहले के मुकाबले में बहुत छोटा रह गया था। चन्देल, चौहान, परमार आदि वंशों के राजा पहले गुर्जर प्रतिहारों के समान थे, पर उनकी निर्बलता से लाभ उठाकर स्वतन्त्र हो गए थे। चन्देल वंश का राज्य जेजाकभुक्ति में था जिसे आजकल स्थूल रूप से बुन्देलखण्ड कहते हैं। इसकी राजधानी पहले महोबा थी और बाद में खजुराहो। कालिञ्जर इस राज्य का सबसे प्रसिद्ध दुर्ग था। चेदि का कलचूरि राज्य जेजाकभुक्ति के दक्षिण में था और उसकी राजधानी त्रिपुरी (जबलपुर के समीप) थी। चेदि और जेजाक-भुक्ति के पश्चिम में मालवा का परमार राज्य था, जिसकी राजधानी धारा नगरी थी। मालवा के पश्चिम में अणहिलवाड़ा का चालुक्य राज्य था। शाकम्भरी का चौहान राज्य अजमेर के समीपवर्ती प्रदेश में स्थित था। ग्वालियर के प्रदेश में कच्छपधान वंश का स्वतन्त्र शासन था। कन्नौज में इस समय भी गुर्जर प्रतिहार राजाओं का शासन कायम रहा, यद्यपि उनका साम्राज्य अब क्षीण हो गया था। यही दशा पालवंश की थी। पूर्वी भारत में उसका भी स्वतन्त्र राज्य विद्य-मान था।

मध्यदेश के ये राजवंश निरन्तर पारस्परिक युद्ध में व्यस्त रहते थे। इनमें भी अनेक ऐसे महत्वाकांक्षी राजा हुए जिन्होंने दूर-दूर तक विजय यात्राएँ कीं, पर वे न कोई सुसंगठित साम्राज्य बना सके और न मध्यदेश (हिन्दी प्रदेश) में राजनीतिक एकता ही स्थापित कर सके।

तुर्कों के आक्रमण

गुर्जर प्रतिहार राजाओं की शक्ति के निर्बल पड़ जाने पर जब उत्तर भारत में विविध राजवंशों ने अपने छोटे बड़े स्वतंत्र राज्य कायम कर लिए थे, एक बार फिर पश्चिम दिशा की ओर से विदेशी आक्रमण प्रारम्भ हुए। पश्चिम की ओर से यवन, शक, युइशि सदृश जिन विदेशी जातियों के आक्रमण चौथी सदी ई० पू० में प्रारम्भ हुए थे, वे पहली सदी में समाप्त हो गये थे। ये आक्रांता भारत में बस कर भारतीय बन गये थे और इन्होंने इस देश के धर्म व संस्कृति को अपना लिया था। यही दशा उन हूण लोगों की हुई थी, जिन्होंने पाँचवीं सदी में इस देश पर आक्रमण किये थे। यवन, शक, पल्हव, कुशाण आदि के समान हूणों को भी भारतीयों ने अपने समाज का अंग बना लिया था। पर अब दसवीं सदी में जिन विदेशी जातियों के आक्रमण भारत पर प्रारम्भ हुए, वे एक ऐसे धर्म की अनुयायी थीं, जिनमें अपूर्व जीवनी शक्ति थी। वे जातियाँ इस्लाम को मानने वाली थीं, जिसका सातवीं सदी के प्रारम्भ में अरब देश में प्रादुर्भाव हुआ था। इस्लाम के प्रवर्तक हजरत मुहम्मद थे, जो न केवल एक नये धर्म के पैगम्बर थे, अपितु जिन्होंने अरब के छोटे छोटे राज्यों को सम्मिलित कर अपने देश को एक शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में भी परिवर्तित कर दिया था। इसी कारण मुहम्मद के उत्तराधिकारी एक विशाल साम्राज्य का निर्माण करने में सफल हुए। मुहम्मद की मृत्यु के बाद उनके उत्तराधिकारी अबूबकर ने अरबों की एक शक्तिशाली सेना को संगठित कर इस्लाम की शक्ति का विस्तार शुरू किया। उसके आक्रमणों के दो उद्देश्य थे : इस्लाम की सर्वत्र विजय और अरब साम्राज्य का विस्तार। आठवीं सदी के प्रारम्भ तक अरब लोग एक विशाल साम्राज्य का निर्माण करने में समर्थ हो गये थे, जिसका विस्तार पूर्व में सिंध से लेकर पश्चिम में स्पेन तक था। ईरान, ईजिप्त, उत्तरी अफ्रीका और स्पेन आदि सब इस साम्राज्य के अन्तर्गत थे। ७१२ ई० (सं० ७६९) में अरबों ने भारत में सिन्ध की भी विजय कर ली थी। अरब लोग भारत में और भी आगे बढ़ते पर उस समय तक इस देश की राजशक्ति इतनी प्रबल थी कि अरबों को अपने प्रयत्न में सफलता नहीं हुई।

नवीं सदी के उत्तरार्ध में अरबों के साम्राज्य का पतन शुरू हुआ। इसी समय अरब साम्राज्य पर उत्तर की ओर से तुर्क जाति के आक्रमण प्रारम्भ हो गये। तुर्क लोग हूण जाति की एक शाखा थे, जिन्होंने मध्य एशिया में निवास करने वाले लोगों के सम्पर्क में आकर बौद्ध धर्म को स्वीकार कर लिया था। अब उन्होंने अरब साम्राज्य पर हमले शुरू किये और कुछ समय में ही ईरान और मैसोपोटामिया के प्रदेशों को जीत लिया। मुसलमानों के सम्पर्क में आकर तुर्कों ने इस्लाम को स्वीकार कर लिया और अरब साम्राज्य को नष्ट कर अपने अनेक स्वतंत्र राज्य कायम किये। तुर्क राज्यों में एक राज्य ग़ज़नी का था। इस राज्य की सीमा भारत के साथ लगती थी। दसवीं सदी के अंतिम भाग में ग़ज़नी के तुर्कों ने भारत पर हमले शुरू किये। इस समय भारत की राज्यशक्ति अनेक राज्यों व राजवंशों में विभक्त थी। परिणाम यह हुआ कि भारत के राजा तुर्क आक्रांताओं का सफलता पूर्वक मुकाबला नहीं कर सके।

ग़ज़नी के जिन तुर्क सुल्तानों ने भारत पर आक्रमण किये, उनमें महमूद ग़ज़नवी (९९७ से १०३० ई०=सं० १०५४–१०८७) सर्व प्रधान था। भारत पर उसने अनेक बार हमले

किये और अपनी विजय यात्रा में मध्यदेश के भी अनेक राज्यों को परास्त किया। उत्तर पश्चिमी भारत और पंजाब की विजय कर १०१४ ई० (सं० १०७१) में महमूद ने थानेश्वर की विजय की और १०१८ ई० (सं० १०७५) में गुर्जर प्रतिहार राजा राजपाल को परास्त कर कन्नौज पर कब्जा कर लिया। कन्नौज के चारों ओर सात किले थे। उन्हें एक एक करके जीत लिया गया। वह नगर जो दो सदियों से भारत का शिरोमणि रहा था, अब महमूद के आक्रमण से नष्टप्राय दशा को पहुँच गया। १०२५ ई० (सं० १०८२) में महमूद ने गुजरात पर हमला किया और वहां के प्रसिद्ध सोमनाथ मन्दिर को बुरी तरह से नष्ट किया। वहाँ जो अपार सम्पत्ति संचित थी, वह सब लूट में महमूद के हाथ लगी। भारत की विजय में जो धन महमूद के हाथ लगता था, उसे वह अपनी राजधानी ग़ज़नी को भेज देता था। निःसंदेह महमूद एक महान विजेता और साम्राज्य निर्माता था। उसके प्रयत्न से ग़ज़नी अपने समय के सबसे बड़े नगरों में गिना जाने लगा। महमूद केवल विजेता ही नहीं था, अपितु साहित्य प्रेमी विद्वानों का आश्रयदाता भी था। उसने ग़ज़नी में एक विश्वविद्यालय की स्थापना की और वहां म्युजियम व पुस्तकालय भी कायम किये। फारसी का प्रसिद्ध कवि फिरदौसी उसी के दरबार में रहता था। फिरदौसी के अतिरिक्त अलबेरूनी, उतवी, फर्रूकी आदि अन्य अनेक विद्वानों ने उसके पास आश्रय प्राप्त किया था। अलबेरूनी संस्कृत का प्रकांड पंडित था। उसके यात्रा विवरण से भारत के सम्बन्ध में बहुत सी महत्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं।

महमूद का विशाल साम्राज्य उसकी मृत्यु के बाद कायम नहीं रहा। उसके उत्तराधिकारी निर्बल व अयोग्य थे। भारत के जिन प्रदेशों पर महमूद ने विजय प्राप्त की थी, वे प्रायः सब अब स्वतंत्र हो गये थे। महमूद द्वारा स्थापित साम्राज्य ग़ज़नी तथा उसके समीपवर्ती प्रदेशों तक ही सीमित रह गया। केवल उत्तर-पश्चिमी भारत के कुछ प्रदेश ही उसके अन्तर्गत रहे। मध्य देश के विविध राजवंश फिर पूर्ववत् स्वतंत्रता पूर्वक राज्य करने लग गये।

महमूद ग़ज़नवी के आक्रमण के कारण मध्यदेश के विविध राजवंशों की शक्तियों को बुरी तरह से धक्का लगा था। कन्नौज के गुर्जर प्रतिहार वंश की शक्ति इन आक्रमणों के कारण बहुत क्षीण हो गई थी। इसीलिए १०८० ई० (सं० ११३७) के लगभग गाहड्वाल वंश के सरदार चन्द्रदेव ने गुर्जर प्रतिहार वंश को परास्त कर कन्नौज पर अपना अधिकार कर लिया। चन्द्रदेव केवल कन्नौज पर अधिकार करके ही संतुष्ट नहीं हुआ, अपितु उसने व उसके उत्तराधिकारियों ने दूर दूर तक विजय यात्राएं कीं। चन्द्रदेव का पोता गोविन्दचन्द्र (१११४से ११५४ ई०=सं० ११७१–१२११) बहुत प्रतापी था। वह एक बार फिर कन्नौज के विलुप्त गौरव का पुनरुद्धार करने और प्रायः सारे मध्यदेश में एक शासन स्थापित करने में समर्थ हुआ।

गुर्जर प्रतिहारों की शक्ति के क्षीण होने के कारण शाकम्भरी के चौहानों को भी अपने उत्कर्ष का अवसर मिला। उनके राजा बीसलदेव या विग्रहराज ने झांसी, हिसार व दिल्ली के प्रदेशों को जीतकर अपने राज्य में मिला लिया।

इस प्रकार बारहवीं सदी के उत्तरार्ध में मध्यदेश में दो राजवंश प्रमुख थे—कन्नौज का गाहड्वालवंश और दिल्ली-अजमेर का चौहान वंश। इनके अतिरिक्त मालवा के परमार और चेदि के कलचूरि आदि अन्य राजवंशों की सत्ता भी इस समय विद्यमान थी, यद्यपि उनमें

रूप से स्थापित कर लिया था। उनसे पूर्व चौहान, गाहड्वाल, पाल, कलचूरि आदि जो अनेक राजवंश मध्यदेश में शासन कर रहे थे, उनकी शक्ति अब समाप्त हो गई थी और उनके सब प्रदेश तुर्कों की अधीनता में आ गए थे। मध्यदेश के इतिहास में यह एक महत्वपूर्ण परिवर्तन था। यद्यपि प्रायः सम्पूर्ण उत्तर भारत तुर्कों की अधीनता में आ गया था, तथापि कहीं-कहीं अब भी राजपूत वंशों का शासन कायम रहा। काश्मीर से नेपाल तक सभी पहाड़ी प्रदेशों में राजपूत राजवंश राज्य करते थे। दक्षिणी राजपूताना में भी राजपूतों की स्वतन्त्र सत्ता कायम रही। मेवाड़ को जीत सकने में तुर्क सुलतानों को सफलता नहीं मिली। महाकोसल (छत्तीसगढ़) और बघेलखण्ड में भी राजपूतों की शक्ति कायम रही और इनके राजा तुर्क सुलतानों से सफलतापूर्वक अपनी रक्षा करते रहे।

गुलाम वंश के सुलतानों के बाद खिलजी और तुगलक वंश के सुलतानों ने दक्षिण भारत को भी अपनी अधीनता में लाने का प्रयत्न किया। इन सुलतानों में अलाउद्दीन खिलजी (१२९५ ई० से १३१६ ई० = सं० १३५२ से १३७३ वि०) सबसे अधिक महत्वपूर्ण था। उसने दक्षिण में दूर तक विजय यात्रा की और वहाँ के अनेक पुराने राजवंशों को युद्ध में परास्त किया। यदि वह दक्षिणी राजपूताना को भी जीत सकता तो सम्पूर्ण उत्तर भारत और दक्षिणापथ पर अविकल रूप से उसका आधिपत्य स्थापित हो जाता। पर राणा हम्मीर के नेतृत्व में राजपूताना के मेवाड़ आदि राज्यों ने अलाउद्दीन के विरुद्ध अनुपम पराक्रम प्रदर्शित किया और रणक्षेत्र में अनेक बार परास्त हो जाने पर भी मेवाड़ सदृश राजपूत राज्य अपनी स्वतन्त्र सत्ता को कायम रखने में समर्थ रहे। बाद में मुहम्मद तुगलक (१३२५ ई० से १३५१ ई० = सं० १३८२ से १४०८ वि०) ने भी राजपूतों को परास्त करने और दक्षिण में तुर्कों की शक्ति का विस्तार करने का प्रयत्न किया, पर उसे भी इस प्रयत्न में सफलता नहीं मिल सकी। यद्यपि दक्षिण में इन प्रतापी सुलतानों द्वारा अनेक राज्य परास्त किए गए पर वे स्थायी रूप से वहाँ अपना आधिपत्य कायम नहीं कर सके।

मुहम्मद तुगलक के शासन-काल में ही तुर्क-अफगान सल्तनत की शक्ति का पतन प्रारम्भ हो गया था। कुछ ऐसी शक्तियाँ थीं जो सदा सल्तनत का विरोध करने के लिए उद्यत रहती थीं। वे शक्तियाँ इस प्रकार थीं—(१) हिन्दू तथा राजपूत सरदार, (२) अमीर उमरावों के षड्यन्त्र, (३) प्रान्तीय सूबेदारों के विद्रोह और (४) विदेशी आक्रमण।

हिमालय के पार्वत्य प्रदेशों को दिल्ली के सुल्तान कभी भलीभाँति विजय नहीं कर सके थे। यही बात राजस्थान के सम्बन्ध में कही जा सकती है। इसी कारण तुर्क सुलतानों की शक्ति के निर्बल होते ही इन राजपूत राज्यों ने स्वतंत्रता के लिए संघर्ष शुरू कर दिया और उन्होंने सल्तनत के जुए को अपने कन्धों से उतार फेंका। अमीर उमरावों के षड्यन्त्रों से भी दिल्ली के सुलतान सदा परेशान रहते थे। वे अपने को सुलतान के समान ही महत्वपूर्ण मानते थे और षड्यन्त्र कर स्वयं राजगद्दी को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहते थे। केवल राजपूत सरदार ही सल्तनत के विरुद्ध विरोध करने के लिए उद्यत नहीं रहते थे, अपितु तुर्क अफगान व अन्य मुसलिम सेनापति और सूबेदार भी सदा इस अवसर की प्रतीक्षा में रहते थे कि सुलतान निर्बल हो और उसकी निर्बलता से लाभ उठाकर वे स्वतन्त्र हो जाएँ। मुहम्मद तुगलक के शासनकाल के अन्तिम भाग में जब सुलतान की शक्ति निर्बल हुई तो अनेक मुसलिम सूबेदार गुजरात, मालवा और

जौनपुर आदि में स्वतन्त्र हो गए और उन्होंने अपनी पृथक सल्तनत स्थापित कर ली। इन सब कारणों से जब दिल्ली की सल्तनत अन्दर से बिलकुल खोखली हो रही थी, विदेशी आक्रमण फिर आरम्भ हो गए और ईरान और मध्य एशिया के अधिपति तैमूरलंग ने दिल्ली की सल्तनत पर चढ़ाई करदी (१३९८ ई० = सं० १४५५ वि०)। उसने दिल्ली पर कब्जा कर लिया और उसे बुरी तरह से लूटा। यद्यपि उसने स्थायी रूप से भारत पर शासन करने का प्रयत्न नहीं किया, पर उसके आक्रमण से सल्तनत को बहुत धक्का लगा।

इन्हीं सब का यह परिणाम हुआ कि सैयद और लोदी वंशों के सुलतानों का शासन दिल्ली, आगरा तथा उनके समीपवर्ती प्रदेशों तक ही सीमित रह गया और उत्तर भारत के विभिन्न प्रदेशों में विभिन्न मुसलिम तथा हिन्दू शासक स्वतन्त्रतापूर्वक शासन करने लग गए। लोदी वंश के सुलतान बहलोल लोदी (१४५१ से १४८९ ई० = सं० १५०८ से १५४६ वि०) ने सल्तनत में शक्ति का संचार करने का प्रयत्न किया और उसने अनेक प्रदेशों को फिर से दिल्ली के साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया। मध्यदेश के जिन प्रदेशों पर बहलोल लोदी को विजय प्राप्त हुई थी उनमें जौनपुर का शर्की राज्य मुख्य था। इस राज्य की स्थापना १३९८ ई० (सं० १४५५ वि०) में मलिक सरवर ने की थी जो दिल्ली सल्तनत के पूर्वी (शर्की) सूबे का अधिपति था। तैमूर के आक्रमण के कारण दिल्ली की सल्तनत की जो दुर्दशा हो गई थी, उससे लाभ उठाकर मलिक सरवर जिसे मलिक-उस-शर्की (पूर्व का अधिपति) की उपाधि प्राप्त थी, स्वतन्त्र हो गया था। जौनपुर के शर्की सुलतानों में इब्राहीम शाह (१४०२ ई० से १४३६ ई० = सं० १४५९ से १४९३ वि०) सबसे प्रसिद्ध है। कालपी, कन्नौज, बुलन्दशहर और सम्भल को जीत कर उसने अपने राज्य की सीमा को दिल्ली के समीप तक पहुँचा दिया था। वह न केवल वीर था, अपितु कला व साहित्य का भी प्रेमी था। जौनपुर की प्रसिद्ध अटाला मसजिद उसी ने बनवाई थी। उसकी कलाप्रियता के कारण जौनपुर विद्या और कला का बड़ा केन्द्र बन गया था। जौनपुर का यह स्वतन्त्र राज्य मध्यदेश के केन्द्र में स्थित था। ८० वर्ष तक इसकी स्वतन्त्र सत्ता कायम रही। १४७९ ई० (सं० १५३६ वि०) में बहलोल लोदी ने इसे जीतकर दिल्ली की सल्तनत में सम्मिलित कर लिया।

बहलोल लोदी के समान उसका पुत्र सिकन्दर लोदी (१४८८ ई० से १५१७ ई० = सं० १५४५ से १५७४ वि०) भी वीर और प्रतापी था। उसने भी दिल्ली की सल्तनत की शक्ति का पुनरुद्धार करने का प्रयत्न किया, पर लोदी सुलतानों के ये प्रयत्न पूर्ण सफलता प्राप्त नहीं कर सके। यही कारण है कि जब सोलहवीं सदी के प्रारम्भ १५२६ ई० (सं० १५८३ वि०) में बाबर ने भारत पर आक्रमण किया तो दिल्ली की सल्तनत की शक्ति बहुत क्षीण दशा में थी। वस्तुत: उस समय भारत में दिल्ली की सल्तनत के मुकाबले में मेवाड़ के राजपूत राज्य की शक्ति बहुत अधिक थी। दिल्ली के सुलतानों की निर्बलता से लाभ उठाकर राजपूताना में जो विविध राज-वंश स्वतन्त्र हो गए थे, उनमें मेवाड़ का सिसौदिया वंश प्रमुख था। उसके प्रतापी राजाओं ने न केवल राजपूताना के अन्य राजाओं को अपनी अधीनता स्वीकार करने के लिए विवश किया था, अपितु मालवा और गुजरात के स्वतन्त्र मुसलिम सुलतानों को भी अनेक बार युद्ध में परास्त कर अपनी शक्ति का विस्तार किया था। १५०८ ई० (सं० १५६५ वि०) में राणा सांगा या संग्राम सिंह मेवाड़ के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। वह अपने समय का सबसे वीर और प्रतापी राजा था।

उसकी इच्छा थी कि दिल्ली की सल्तनत का अन्त कर एक बार फिर राजपूतों की शक्ति को स्थापित करे। इसी उद्देश्य से उसने सुलतान इब्राहीम लोदी (१५१७ ई० से १५२६ ई०=सं० १६५४-१५८३) पर दो बार चढ़ाई की, जिनमें सांगा की विजय हुई। इन विजयों के कारण सांगा के राज्य की उत्तरी सीमा आगरा के समीप तक पहुँच गई और ग्वालियर तथा धौलपुर के राज्य भी उसकी अधीनता में आ गये। इस प्रकार सोलहवीं सदी के प्रथम चरण में उत्तर भारत और मध्यदेश का अच्छा बड़ा भाग मेवाड़ साम्राज्य के अन्तर्गत था। मेवाड़ के अतिरिक्त बुंदेलखंड और बघेलखंड में भी राजपूतों का शासन विद्यमान था।

मुगल साम्राज्य

तैमूर एक प्रतापी राजा था जिसने मध्य एशिया, ईरान व अन्य समीपवर्ती प्रदेशों की विजय कर एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी। १४०५ ई० (सं० १४६२) में उसकी मृत्यु हुई। उसका विशाल साम्राज्य उसकी मृत्यु के बाद स्थिर नहीं रह सका। ईरान से बाहर के जो प्रदेश तैमूर ने अपने अधीन किये थे, वे सब स्वतंत्र हो गये। तैमूर के साम्राज्य के खण्ड खण्ड होने पर जो अनेक राज्य कायम हुए, उनमें फरगाना का राज्य भी एक था। इस राज्य में आगे चल कर एक वीर पुरुष उत्पन्न हुआ, जिसका नाम बाबर था। बाबर के अन्य सम्बन्धी उसे राज्यच्युत कर स्वयं फरगाना के राजा बनने के लिए उत्सुक थे। अपने बन्धुओं से निरन्तर युद्ध में व्यस्त रहने के कारण बाबर निराश हो गया। अपने अनुगामी सैनिकों को साथ ले कर उसने दक्षिण की ओर प्रस्थान किया और हिन्दुकुश पर्वतमाला को पार कर काबुल को जीत लिया। दिल्ली की सल्तनत के क्षीण हो जाने के कारण भारत में जो राजनीतिक अव्यवस्था विद्यमान थी उससे बाबर ने लाभ उठाया और भारत पर आक्रमण प्रारम्भ कर दिया। पंजाब को उसने सुगमता से अपने अधीन कर लिया। दिल्ली के सुलतान इब्राहीम लोदी ने उसके मार्ग को रोकने का प्रयत्न किया, पर उसे सफलता नहीं मिली। एप्रिल १५२६ ई० (सं० १५८३) में पानीपत के रणक्षेत्र में दिल्ली की सल्तनत और बाबर की सेनाओं में युद्ध हुआ, जिसमें इब्राहीम लोदी की पराजय हुई। पानीपत में विजयी होकर बाबर ने दिल्ली पर कब्जा कर लिया और अपने को बादशाह घोषित किया। इब्राहीम लोदी को परास्त कर बाबर ने दिल्ली और उसके समीपवर्ती प्रदेशों को अपने अधीन कर लिया था, पर इस समय भारत की प्रधान शक्ति दिल्ली की सल्तनत नहीं थी। बाबर तब तक अपने को भारत का विजेता नहीं समझ सकता था, जब तक कि वह राणा सांगा को परास्त न कर देता। सांगा भी बाबर को भारत से बाहर निकाल देने के लिए उत्सुक था, क्योंकि वह स्वयं दिल्ली पर अधिकार करना चाहता था। उसने बाबर से युद्ध करने के लिए भारी तैयारी की। अन्य राजपूत राजाओं को सहायता के लिए निमंत्रण दिया गया। राजपूत राजाओं ने बड़े उत्साह से अपने अधिपति सांगा का साथ दिया। अनेक तुर्क-अफगान सरदार भी बाबर को परास्त करने के लिए सांगा के साथ आ मिले, क्योंकि बाबर की विजय से राज्यशक्ति उनके हाथों से भी निकल चुकी थी। सीकरी के समीप १५२७ ई० (सं० १५८४) में घनघोर युद्ध हुआ, जिसमें बाबर की विजय हुई। भारत में बाबर को जो असाधारण विजय मिली, उसका प्रधान कारण यह था कि वह युद्ध में तोपों का प्रयोग करता था। बारूद

और गोला का प्रयोग पहले पहल मंगोल लोगों ने ही शुरू किया था। चंगेज खाँ की विश्वविजय में भी बारूद ही प्रधान रूप से मंगोलों का सहायक हुआ था। बाबर मंगोलों का ही वंशज था और उसी के द्वारा बारूद और तोपों का भारत में प्रवेश हुआ। रणक्षेत्र में सांगा को परास्त कर बाबर ने राजपूताना के विविध दुर्गों पर आक्रमण किये और उन्हें विजय करने में वह सफल हुआ। इसके बाद उसने पूर्व दिशा में आगे बढ़कर बिहार और बंगाल पर भी चढाइयाँ कीं। १५३० ई० (सं० १५८७) में जब उसकी मृत्यु हुई, तो पूर्व में बंगाल तक और दक्षिण में मालवा तक के सब प्रदेश उसकी अधीनता में आ चुके थे।

बाबर की मृत्यु के बाद उसका पुत्र हुमायूँ विशाल मुगल साम्राज्य का स्वामी बना, पर अभी भारत में मुगलों की शक्ति भलीभाँति सुदृढ़ नहीं हुई थी। इसलिए बिहार में शेर खां नामक वीर अफगान के नेतृत्व में मुगल शासन के विरुद्ध विद्रोह हो गया। अभी हुमायूँ इस विद्रोह को पूर्णतया शांत भी नहीं कर सका था कि गुजरात के स्वतंत्र मुसलिम सुलतान बहादुर-शाह ने उत्तर भारत के मुगल साम्राज्य पर आक्रमण कर दिया। उसे परास्त करने में हुमायूँ को बहुत यत्न करना पड़ा। मुगल बादशाह को बहादुरशाह के साथ युद्ध में व्यस्त देखकर बिहार में शेर खां ने अपनी शक्ति बहुत बढ़ा ली और अन्त में हुमायूँ को परास्त कर दिल्ली पर अधिकार कर लिया (१५४० ई०=सं० १५९७)। बाबर द्वारा स्थापित मुगल शासन भारत में देर तक कायम नहीं रह सका और एक बार फिर शेरशाह द्वारा दिल्ली की सल्तनत की शक्ति कायम हुई। शेर खां द्वारा दिल्ली में एक नये वंश का प्रारम्भ हुआ, जिसे 'सूरी' कहते हैं। शेर खां या शेरशाह अत्यंत योग्य शासक था। उसने पंजाब, सिन्ध और मालवा की विजय कर प्रायः सम्पूर्ण उत्तर भारत में अपने शासन का विस्तार किया। मध्यदेश तो प्रायः अविकल रूप से उसके अधीन था।

जिस समय शेरशाह भारत में अपना शासन स्थापित करने का उद्योग कर रहा था, हुमायूँ भी शांत नहीं बैठा था। शेरशाह की मृत्यु (१५४५ ई०=सं०१६०२) के बाद उसने ईरान के शाह तहमास्प की सहायता से एक बार फिर अपने भाग्य को आजमाया। काबुल और कान्धार को जीतकर १५५५ ई० (सं० १६१२) में उसने भारत पर आक्रमण कर दिया और शेरशाह के वंशज सुलतान सिकन्दरशाह को परास्त कर दिल्ली पर अधिकार कर लिया।

हुमायूँ की मृत्यु १५५६ ई० (सं० १६१३) में हुई। उसके बाद उसका पुत्र अकबर मुगल साम्राज्य का स्वामी बना। राजगद्दी पर आरूढ़ होने के समय अकबर का साम्राज्य केवल उत्तर पश्चिमी भारत, पंजाब, दिल्ली, आगरा और उनके समीपवर्ती प्रदेशों तक ही सीमित था। सूरवंशी सुलतान को परास्त कर दिल्ली की राजगद्दी पर तो मुगलों का अधिकार हो गया था, पर उनका शासन पूर्व में दूर तक विस्तृत नहीं था। शेरशाह के उत्तराधिकारी सूर सुलतानों की निर्बलता से लाभ उठा कर बंगाल, जौनपुर, मालवा, सिन्ध आदि में विविध मुसलिम सुलतानों के स्वतंत्र राज्य स्थापित हो गये थे और मेवाड़, जोधपुर, जैसलमेर, जयपुर आदि के राजपूत वंशों ने भी अपने स्वतंत्र राज्य फिर से कायम कर लिए थे। यही नहीं, युद्ध में परास्त होने के बाद भी सूरवंशी अफगानों का मूलोच्छेद नहीं हो गया था। आदिलशाह सूर के नेतृत्व में अफगान राजशक्ति ने एक बार फिर सिर उठाने का प्रयत्न किया और हेमू नामक हिन्दू के सेनापतित्व में

उन्होंने आगरा और दिल्ली के प्रदेशों को अपने अधिकार में कर लिया। मुगलों से दिल्ली को जीत कर हेमू ने अपने को सम्राट घोषित कर दिया और 'विक्रमादित्य' की प्राचीन, गौरवशाली उपाधि धारण कर स्वतन्त्र रूप से शासन करना प्रारम्भ कर दिया। पर हेमू विक्रमादित्य का शासन देर तक नहीं रह सका। १५५६ ई० (सं० १६१३ वि०) में पानीपत के रणक्षेत्र में अकबर की मुगल सेनाओं ने हेमू को परास्त किया और दिल्ली-आगरा को पुनः अपने अधिकार में कर लिया।

पर अभी तक मध्यदेश के बहुत से प्रदेश ऐसे थे, जिनमें विविध मुसलिम तथा राजपूत राजाओं के स्वतन्त्र शासन विद्यमान थे। इस समय अकबर को दो प्रकार के राजाओं से युद्ध करना था, राजपूत राजाओं से और सूर वंश के पतन के बाद कायम हुए विविध सुलतानों से। इन्हें परास्त किए बिना वह उत्तर भारत में अपने आधिपत्य का विस्तार नहीं कर सकता था। पर साथ ही उसके लिए यह भी सुगम नहीं था कि वह मुसलिम (तुर्क-अफगान) और राजपूत दोनों राज-शक्तियों का एक साथ मुकाबिला कर सके। मुगलों और तुर्क-अफगानों का धर्म एक था, किन्तु धर्म की एकता उन्हें मित्र बना सकने में असमर्थ रही, क्योंकि मुगलों ने दिल्ली की मुसलिम सल्तनत का अन्त करके ही इस देश में प्रवेश किया था। इस स्थिति में अकबर का ध्यान राजपूतों की ओर गया, जो वीरता, साहस आदि गुणों में अद्वितीय थे। भारत में मुगल शासन की स्थापना करते हुए अकबर ने राजपूतों का सहयोग प्राप्त करने का प्रयत्न किया और इसमें वह सफल हुआ। इसलिए उसने राजपूतों से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किए। सब से पहले जयपुर के राजा भार-मल ने अपनी कन्या का विवाह अकबर के साथ कर दिया। उसके बाद अन्य अनेक राजपूत राजाओं ने भी अकबर के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किए। अकबर ने राजपूतों को मुगल साम्राज्य में ऊँचे-ऊँचे पद प्रदान किए और उन्हीं की सेना की सहायता से भारत के अनेक प्रदेशों की विजय की।

जिन मुसलिम सुलतानों को अकबर ने युद्ध में परास्त किया, उनमें मालवा के सुलतान बाजबहादुर का नाम उल्लेखनीय है। मालवा का प्रदेश सूर सल्तनत के अन्तर्गत था। किन्तु उसकी शक्ति के निर्बल पड़ने पर १५५५ ई० (सं० १६१२ वि०) में बाजबहादुर ने वहाँ अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित करली थी। बाजबहादुर ने रूपवती नाम की एक राजपूत सुन्दरी से विवाह किया था। उनके प्रेम की कथाएँ अब तक मालवा में कही जाती हैं। १५६० ई० (सं० १६१७ वि०) में मुगल सेनाओं ने बाजबहादुर को परास्त कर मालवा को अपने साम्राज्य में शामिल कर लिया। इससे दो वर्ष पूर्व जौनपुर को भी मुगलों ने जीत लिया था जो कि उस समय उत्तर भारत में अफ-गानों की शक्ति का बड़ा केन्द्र था। इन अफगानों की पराजय के कारण बिहार तक का मध्यदेश मुगल साम्राज्य के अन्तर्गत हो गया था। जौनपुर को जीतकर मुगलों ने ग्वालियर की विजय की और मालवा को जीतकर गोंडवाना की। इन दोनों प्रदेशों में राजपूतों का शासन था। इन्हें जीतते हुए अकबर को जिस कठिनाई का सामना करना पड़ा, उसी के कारण उसने अपनी नीति में परिवर्तन किया और राजपूतों के साथ मैत्री का सहयोग प्राप्त किया। इसी नीति के कारण बहुत से राजपूत राजाओं ने अकबर के साथ मैत्री कर उसे सहयोग देना प्रारम्भ कर दिया था। परन्तु राजपूतों में भी एक राजवंश ऐसा था, जो किसी भी प्रकार मुगलों से मैत्री करने व अकबर

को अपना अधिपति स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हुआ। यह राजवंश मेवाड़ का था। राणा प्रताप के नेतृत्व में मेवाड़ के राजपूतों ने मुगलों के साथ संघर्ष को जारी रखा। यद्यपि मेवाड़ के सब दुर्ग मुगल सेनाओं के अधिकार में आ गए थे, किन्तु प्रताप ने जंगलों को अपना केन्द्र बनाकर अकबर से संघर्ष किया और अपने राजवंश के गौरव को क्षीण नहीं होने दिया।

किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि प्रताप के अतिरिक्त अन्य राजपूत राजा अकबर की नीति से सन्तुष्ट थे और उन्होंने स्वेच्छापूर्वक उसकी अधीनता को स्वीकार कर लिया था। अपने छोटे-छोटे राज्यों में स्वतन्त्र शासक होने की अपेक्षा उन्हें विशाल मुगल साम्राज्य के उच्च पदाधिकारी, सूबेदार या सेनापति होने में अधिक गौरव अनुभव होता था। वे भलीभाँति समझते थे कि मुगलों की शक्ति उन्हीं की सहायता व सहयोग पर निर्भर है। अकबर ने हिन्दुओं के प्रति उदारता की नीति का अनुसरण किया। उससे पूर्व मथुरा, हरिद्वार, अयोध्या, प्रयाग, काशी आदि हिन्दू तीर्थों की यात्रा के लिए आने वाले तीर्थयात्रियों से एक विशेष कर लिया जाता था। अकबर ने उसे हटा दिया। १५६४ ई० (सं० १६२१ वि०) में उसने हिन्दुओं से जजिया कर वसूल करना भी बन्द कर दिया। इस कर के हटा देने से मुगल साम्राज्य की हिन्दू और मुसलिम प्रजा में कोई भेद नहीं रह गया। यह बात बड़े महत्व की थी। तुर्क-अफगान युग में भारत में मुसलिम वर्ग का शासन था। किन्तु अकबर ने अपने साम्राज्य में एक ऐसे शासन की नींव डाली, जो किसी सम्प्रदाय विशेष या किसी विशिष्ट वर्ग का न होकर सब जातियों और सम्प्रदायों का सम्मिलित शासन था। उसने अपनी सरकार में हिन्दुओं को ऊँचे-ऊँचे पदों पर नियुक्त किया। राजा टोडरमल उसका दीवान था। राजा भगवानदास और मानसिंह उसके प्रमुख सेनापति थे। अफगानिस्तान जैसे मुसलिम प्रदेश का शासन करने के लिए उसने मानसिंह को नियुक्त किया था।

सम्पूर्ण मध्यदेश तो अकबर के आधिपत्य में था ही, बाद में उसने बंगाल, गुजरात, काश्मीर, सिन्ध और बिलोचिस्तान की भी विजय की। इस प्रकार सम्पूर्ण उत्तर भारत को वह अपने साम्राज्य के अन्तर्गत करने में सफल हुआ। अकबर ने यह भी यत्न किया कि नर्मदा नदी के दक्षिण में स्थित विविध मुसलिम राज्यों को जीत कर दक्षिणापथ में भी अपने आधिपत्य को स्थापित करे। वहाँ इस समय पाँच मुसलिम राज्य थे, जिन्हें 'शाही' कहा जाता था। इनमें से अहमदाबाद की निजामशाही की विजय करने में अकबर समर्थ हुआ और इस विजय के कारण उसके साम्राज्य की दक्षिण सीमा गोदावरी नदी तक पहुँच गई। १६०५ ई० (सं० १६६२ वि०) में जब अकबर की मृत्यु हुई तो भारत में मुगल साम्राज्य की स्थापना सुदृढ़ रूप से हो चुकी थी। वस्तुतः मुगल साम्राज्य का संस्थापक अकबर ही था।

१६०५ ई० (सं० १६६२ वि०) में अकबर की मृत्यु के बाद उसका पुत्र सलीम जहाँगीर के नाम से मुगल साम्राज्य का स्वामी बना। वह राजपूत माता का पुत्र था, इस कारण उसमें हिन्दू रक्त विद्यमान था। उसने अनेक अंशों में अपने पिता की उदार नीति को जारी रखा। दक्षिणापथ में मुगल शासन का विस्तार करने के लिए उसने अनेक युद्ध किए, पर उनमें उसे विशेष सफलता नहीं मिली। १६२६ ई० (सं० १६८३ वि०) में जहाँगीर की मृत्यु हुई और उसका पुत्र शाहजहाँ मुगलों के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। दक्षिणापथ में अपने साम्राज्य को विस्तृत करने में उसे सफलता मिली। १६३३ ई० (सं० १६९० वि०) में अहमदनगर को अन्तिम

रूप से विजय कर निजामशाही का उसने अन्त कर दिया, और बीजापुर तथा गोलकुंडा की शाहियों के विरुद्ध युद्ध कर उन्हें अपनी अधीनता स्वीकार करने के लिए विवश किया। शाहजहाँ के प्रयत्न से दक्षिणापथ का बड़ा भाग मुगल साम्राज्य की अधीनता में आ गया। जहाँगीर और शाहजहाँ दोनों के समय में मुगल साम्राज्य का वह 'राष्ट्रीय' रूप कायम रहा, जिसे अकबर ने स्थापित किया था। इन बादशाहों के शासन काल में उत्तर भारत व मध्यदेश में मुगलों का आधिपत्य अक्षुण्ण रूप से विद्यमान रहा और इन प्रदेशों में शान्ति व व्यवस्था कायम रही।

पर इस युग में उत्तर भारत में मुगलों के आधिपत्य को सुदृढ़ बनाने के लिए अनेक प्रयत्न हुए। अकबर मेवाड़ को पूर्णतया अपनी अधीनता में नहीं ला सका था। राणा प्रताप अपनी स्वतंत्र सत्ता के लिए निरंतर मुगलों से युद्ध करता रहा था। उसका पुत्र अमरसिंह भी वीर और साहसी था। वह जहाँगीर की अधीनता स्वीकार करने के लिए उद्यत नहीं हुआ। इस कारण जहाँगीर और अमरसिंह में अनेक युद्ध हुए, जिनके कारण अन्त में दोनों पक्षों में सन्धि हो गई। इस सन्धि के द्वारा मेवाड़ के सिसौदिया राजवंश ने अपनी मान प्रतिष्ठा कायम रखते हुए मुगलों की अधीनता स्वीकार कर ली। अकबर की मृत्यु के बाद बुन्देलखण्ड ने भी स्वतंत्र होने का प्रयत्न किया, जिसके कारण जहाँगीर और शाहजहाँ को उनके साथ निरन्तर युद्ध में व्यस्त रहना पड़ा। हिमालय के क्षेत्र में विद्यमान अनेक राज्य अकबर के आधिपत्य में नहीं आये थे। इन बादशाहों ने उन्हें भी मुगल साम्राज्य के अन्तर्गत किया।

शाहजहाँ के जीवनकाल में ही अपने अन्य भाइयों को गृहयुद्ध में परास्त कर और अपने पिता को बन्दी बना कर औरंगजेब मुगल साम्राज्य का स्वामी बना (१६५८ ई० = सं० १७१५)। अकबर की नीति का परित्याग कर उसने भारत को एक इस्लामी राज्य के रूप में परिणत करने का उद्योग किया। मुगल शासन की नींव राजपूतों और हिन्दुओं के सहयोग व सहानुभूति पर रखी गई थी। औरंगजेब ने इसी पर कुठाराघात किया। इस्लाम के सिद्धान्तों के अनुसार भारत का शासन करने के उद्देश्य से जो कार्य औरंगजेब ने किए, उनमें मुख्य इस प्रकार थे—(१) हिन्दुओं पर फिर से जजिया कर लगाया गया। (२) हिन्दू मन्दिरों को तोड़ने की आज्ञा जारी की गई। काशी में विश्वनाथ, गुजरात में सोमनाथ और मथुरा में केशवराय के मन्दिर उस समय बहुत प्रसिद्ध थे। वे सब औरंगजेब की आज्ञा से तोड़ दिये गये। अन्य भी बहुत से मन्दिर ध्वस्त किये गये। (३) व्यापार, व्यवसाय आदि में हिन्दुओं और मुसलमानों में भेद किया गया। यदि मुसलमान व्यापारी से ढाई प्रतिशत कर लिया जाता था, तो हिन्दू व्यापारियों से पाँच प्रतिशत कर लेने की व्यवस्था की गई। इसका प्रयोजन यह था कि हिन्दू व्यापारी आर्थिक लाभ से आकृष्ट होकर इस्लाम को स्वीकार कर लें। (४) जो हिन्दू इस्लाम की दीक्षा लेते थे उन्हें इनाम दिये जाते थे, उनका जुलूस निकाला जाता था। उन्हें राज्य में ऊँचा पद मिलता था। 'मुसलमान हो जाओ और कानून को मान जाओ', यह उस समय एक कहावत सी बन गई थी। (५) यह आज्ञा प्रकाशित की गई कि हिन्दू लोग सार्वजनिक रूप से अपने उत्सव व त्यौहार न मना सकें। (६) हिन्दुओं को उच्च राजकीय पदों से हटा कर उनके स्थान पर मुसलमानों को नियुक्त करने की नीति को अपनाया गया। (७) दिल्ली के

राजदरबार में जो अनेक हिन्दू रीति रिवाज प्रविष्ट हो गये थे, उन सब को बन्द कर दिया गया।

औरंगजेब की इस हिन्दू विरोधी नीति का परिणाम मुगल साम्राज्य के लिए बहुत बुरा हुआ। हिन्दुओं की जो शक्ति अब तक मुगलों के लिए सहारा बनी हुई थी, वह अब उनके विरुद्ध उठ खड़ी हुई। इसी कारण उत्तर भारत व विशेषतया मध्यदेश में अनेक स्थानों पर औरंगजेब के विरुद्ध विद्रोह प्रारम्भ हो गये, जिनमें मुख्य इस प्रकार थे—(१) मथुरा के समीप जाटों ने विद्रोह कर दिया। बीस साल तक जाट लोग निरन्तर मुगलों के विरुद्ध संघर्ष में तत्पर रहे। (२) नारनौल के समीप सतनामी सम्प्रदाय के अनुयायियों ने विद्रोह किया। इस विद्रोह को शान्त करने में औरंगजेब की सेनाओं को विकट संकट का सामना करना पड़ा। (३) राजपूताना में दुर्गादास राठौर के नेतृत्व में राजपूतों ने विद्रोह कर दिया। चौथाई सदी के लगभग राजपूत लोग मुगलों के विरुद्ध संघर्ष करते रहे। मेवाड़ के राणा राजसिंह ने भी इस संघर्ष में दुर्गादास का साथ दिया। कुछ समय के लिए ऐसा प्रतीत होने लगा कि राजपूताना को अपने आधिपत्य में रख सकना औरंगजेब के लिए संभव नहीं रहेगा। जो सेनाएं राजपूतों को परास्त करने के लिए गईं, वे प्रायः अपने प्रयत्न में असफल रहीं। अन्त में औरंगजेब को राजपूतों के साथ सन्धि करने के लिए विवश होना पड़ा। (४) पंजाब में सिक्खों के गुरु तेगबहादुर ने औरंगजेब की नीति का विरोध किया। सिक्ख पंथ का प्रादुर्भाव गुरु नानक द्वारा किया गया था और पंजाब में इनके बहुत से अनुयायी थे। बादशाह के खिलाफ बगावत फैलाने के अपराध में गुरु तेग बहादुर का बड़ी क्रूरता के साथ वध किया गया। गुरु के वध का समाचार सुनकर सिक्खों में सनसनी फैल गई। वे अपने गुरु की हत्या का बदला लेने के लिए उठ खड़े हुए। इस समय सिक्खों में एक वीर पुरुष का प्रादुर्भाव हुआ, जिसने उन्हें संगठित कर एक प्रबल शक्ति के रूप में परिवर्तित कर दिया। यह महापुरुष गुरु गोविन्दसिंह था। उसके प्रयत्न से सिक्ख लोग एक प्रबल सैन्य शक्ति (खालसा) बन गये और मुगलों के विरुद्ध संघर्ष में तत्पर हुए। (५) दक्षिण भारत में शिवाजी ने मराठा राज्य की नींव डाली, जिसका उद्देश्य विधर्मी मुगल शासन का अन्त कर हिन्दू राज्य शक्ति का पुनरुद्धार करना था। शिवाजी व उसके उत्तराधिकारी इस उद्देश्य में सफल भी हुए। (६) बुन्देलखण्ड में छत्रसाल के नेतृत्व में विद्रोह हुआ।

मुगल शासन की जो नीति अकबर ने निर्धारित की थी, उसके तीन प्रधान तत्व थे—(१) शासन को किसी वर्ग या धर्म की शक्ति पर आश्रित न रखकर सम्पूर्ण राष्ट्र पर आश्रित रखना। (२) हिन्दुओं के सहयोग व सहानुभूति को प्राप्त करना। (३) सम्पूर्ण भारत को एक शासन की अधीनता में लाना। औरंगजेब की हिन्दू विरोधी नीति के कारण उसके शासन काल में पहले दो तत्वों का अन्त हो गया। पर तीसरे तत्व को क्रिया में परिणत करने में औरंगजेब ने कोई कसर नहीं उठा रखी। शाहजहाँ के शासनकाल में दक्षिणापथ में मुगल सत्ता का बहुत विस्तार हुआ था। अहमदनगर मुगलों के शासन में आ गया था और बीजापुर की आदिलशाही व गोलकुंडा की कुतुबशाही ने मुगलों के आधिपत्य को स्वीकार कर लिया था। पर औरंगजेब इतने से ही सन्तुष्ट नहीं हुआ। उसका प्रयत्न था कि इन सब को जीत कर मुगल साम्राज्य के अन्तर्गत कर ले और सुदूर दक्षिण में भी मुगल शासन का विस्तार करे। इसीलिए उसने अपनी

सब शक्ति दक्षिण के युद्धों में लगा दी। उसके शासनकाल के पिछले पच्चीस वर्ष दक्षिण में ही व्यतीत हुए। वह दक्षिणापथ को अविकल रूप से अपने अधीन करने में सफल हुआ और मराठों की शक्ति को नष्ट करने में भी उसे सफलता मिली।

मराठों का अभ्युदय

औरंगजेब के शासनकाल में दक्षिणापथ में मराठा राजशक्ति का अभ्युदय हुआ। इस काल में मराठों में एक महापुरुष का प्रादुर्भाव हुआ, जिसने उन्हें एक प्रबल शक्ति के रूप में परिवर्तित कर दिया। इस महापुरुष का नाम शिवाजी (जन्म काल १६२७ ई०=सं० १६८४) था। शिवाजी के पिता शाहजी अहमदनगर की निजामशाही के एक प्रतिष्ठित जागीरदार थे। उनकी अपनी जागीर पूना में थी। मुगलों के आक्रमणों के कारण दक्षिणापथ की शक्तियों की जो दुर्दशा थी, शिवाजी ने उससे लाभ उठाया और अपना एक स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लिया। इस राज्य के दो भाग थे—स्वराज्य और मुगलिया। जो प्रदेश शिवाजी के अपने शासन में थे, उन्हें 'स्वराज्य' कहते थे। मुगलिया प्रदेश शिवाजी के अपने शासन में नहीं थे, पर मराठे लोग उनसे 'चौथ' और 'सरदेशमुखी' नाम के कर वसूल करते थे। जिन प्रदेशों में कर वसूल किये जाते थे, उनकी अन्य शक्तियों से रक्षा करना मराठा लोग अपना कर्तव्य समझते थे। शिवाजी के 'स्वराज्य' में उत्तर में कल्याण से लेकर दक्षिण में गोवा तक के प्रदेश सम्मिलित थे। सुदूर दक्षिण में वेल्लारी और जिन्जी के दुर्गों को भी उसने विजय किया था। चौथ और सरदेशमुखी कर तो प्रायः सम्पूर्ण दक्षिणापथ से वसूल किये जाते थे। मराठा राज्य की नींव को सुदृढ़ बनाकर १६८० ई० (सं० १७३७) में शिवाजी की मृत्यु हुई।

शिवाजी का उत्तराधिकारी सम्भाजी था। वह औरंगजेब के मुकाबले में अपने राज्य की रक्षा करने में असमर्थ रहा। १६८९ ई० (सं० १७४६) में उसे कैद कर लिया गया और बड़ी क्रूरता से उसका वध किया गया। शिवाजी ने जिस मराठा राज्य की स्थापना की थी, औरंगजेब उसका अन्त करने में सफल हुआ। पर मराठों का यह अपकर्ष सामयिक था। औरंगजेब की मृत्यु (१७०७ ई०=सं० १७६४) के बाद उन्हें अपनी शक्ति बढ़ाने का अवसर मिला। यद्यपि मुगल सेनाओं ने मराठों के दुर्गों पर कब्जा कर लिया था, पर मराठे लोग इससे हार नहीं मान गये थे। उनके बहुत से दल चारों ओर से मुगल साम्राज्य पर आक्रमण करने के लिए निकल पड़े। वे किसी प्रदेश पर स्थिर रूप से अपना शासन करने का प्रयत्न नहीं करते थे। वे जहाँ जाते, चौथ और सरदेशमुखी वसूल करते थे।

औरंगजेब के उत्तराधिकारी निर्बल थे। न उनमें अकबर जैसी नीति कुशलता थी, और न औरंगजेब जैसा साहस। मराठों ने इस स्थिति से लाभ उठाया। बालाजी विश्वनाथ नामक सुयोग्य नेता के नेतृत्व में मराठों ने दिल्ली की बादशाहत के अतिरिक्त झगड़ों में हस्तक्षेप किया, और सम्पूर्ण दक्षिण भारत से चौथ और सरदेशमुखी वसूल करने का अधिकार प्राप्त कर लिया। बालाजी विश्वनाथ (१७१३ ई० से १७२० ई०=सं० १७७० से १७७७) के प्रयत्न से मराठों की शक्ति बहुत बढ़ गई। मुगलों की शक्ति के क्षीण होते ही उन्होंने अपने असली मराठा 'स्वराज्य'

को तो स्वाधीन कर ही लिया था, अब चौथ और सरदेशमुखी वसूल करने का अधिकार प्राप्त करके दक्षिण भारत की वास्तविक राजशक्ति बन गये थे।

पेशवा बाजीराव (१७२० ई० से १७४० ई० = सं० १७७७-१७९७) के समय में मराठों की शक्ति केवल दक्षिण भारत तक ही सीमित नहीं रही। उन्होंने दक्षिण भारत से आगे बढ़कर गुजरात, मध्य भारत आदि पर भी आक्रमण करने शुरू कर दिये। इन आक्रमणों के कारण मराठों के चार नये राज्य कायम हुए। राघोजी भोंसले ने मध्यभारत में नागपुर को राजधानी बनाकर एक नये राज्य की स्थापना की। इंदौर में मल्हारराव होल्कर ने, ग्वालियर में रानोजी सिंधियाने और गुजरात में पीलाजी गायकवाड़ ने अपने अपने राज्यों को कायम किया। इनमें से सिंधिया और होल्कर के राज्य हिन्दी प्रदेश में थे। इन चारों राज्यों के राजा पेशवा को अपना अधिपति मानते थे, जो शिवाजी के वंशज छत्रपति राजा के नाम पर वास्तविक राजशक्ति का प्रयोग करता था। सिंधिया, गायकवाड़, होल्कर और भोंसले क्रियात्मक दृष्टि से स्वतंत्र राजा थे और अपने शासन क्षेत्र को और अधिक विस्तृत करने के लिए प्रयत्नशील रहते थे। इन वीर राजाओं ने उत्तर में गंगा यमुना के प्रदेशों तक आक्रमण किये और मध्यदेश में अपनी शक्ति को विस्तृत किया। मुगल साम्राज्य अब इतना निर्बल हो गया था, कि मराठों से अपनी रक्षा कर सकना उसके लिए संभव नहीं रहा।

बाजीराव की मृत्यु के बाद उसका पुत्र बालाजी बाजीराव (१७४० ई० से १७६१ ई० = सं० १७९७-१८१८) पेशवा के पद पर अधिष्ठित हुआ। उसके शासन काल में मराठा साम्राज्य शक्ति की चरम सीमा तक पहुँच गया। इसी काल में राघोजी भोंसले ने बंगाल और उड़ीसा पर आक्रमण किये। उड़ीसा मराठों के शासन में आ गया और बंगाल में उन्होंने चौथ और सरदेशमुखी कर वसूल किये। इसी समय एक मराठा सेना ने रुहेलखण्ड (पांचालदेश) पर आक्रमण किया और पेशवा के भाई रघुनाथ राव ने पंजाब पर चढ़ाई की, जिसके कारण सिंध नदी के तट पर स्थित अटक के दुर्ग पर मराठों का भगवा झण्डा फहराने लगा। दिल्ली के मुगल बादशाह इस काल में मराठों के हाथों में कठपुतली के समान थे। उनका तेज मराठों के सम्मुख मन्द पड़ गया था।

औरंगजेब की हिन्दू विरोधी नीति के कारण मुगल शासन के राष्ट्रीय रूप का अन्त हो गया था और राजपूत, सिक्ख, मराठे और विविध राजशक्तियाँ मुगल साम्राज्य का अन्त कर अपने स्वतंत्र राज्य स्थापित करने में तत्पर हो गई थीं। इस समय यदि मुगल राजकुल और उनके मुसलिम मनसबदारों व सूबेदारों में ऐक्य होता और वे खण्ड-खण्ड होते हुए साम्राज्य की रक्षा के लिए सम्मिलित रूप से यत्न करते, तो शायद कुछ समय के लिए उसकी रक्षा भी हो जाती। पर वे भी आपस में लड़ने, अपने स्वतंत्र राज्य कायम करने और अपने व्यक्तिगत उत्कर्ष की फिकर में रहते थे। परिणाम यह हुआ कि विशाल मुगल साम्राज्य का पतन शुरू हो गया और उसके खण्डहरों पर विविध स्वतंत्र राज्य कायम होने लगे। पंजाब में सिक्खों ने जोर पकड़ा। बुन्देलखण्ड, राजपूताना और मध्य भारत में अनेक स्वतंत्र व अर्द्ध-स्वतंत्र राजपूत राज्य कायम हुए। जाटों ने मथुरा व आगरा के समीपवर्ती प्रदेशों में अपने राज्य स्थापित किये। मराठे न केवल दक्षिण भारत में अपनी शक्ति का विस्तार करने में समर्थ हुए,

अपितु अटक से कटक तक और हिमालय से कुमारी अन्तरीप तक अपने आधिपत्य की स्थापना के लिए प्रयत्नशील हुए। मुगल बादशाहों द्वारा नियुक्त प्रांतीय सूबेदार दिल्ली के बादशाह की उपेक्षा कर स्वतंत्र राजाओं के समान आचरण करने की प्रवृत्ति रखने लगे।

यह स्थिति थी, जब कि औरंगजेब की मृत्यु (१७०७ ई०=सं० १७६४) के बत्तीस साल बाद १७३९ ई० (सं० १७९६) में ईरान के शाह नादिरशाह ने भारत पर आक्रमण किया। इस समय दिल्ली की राजगद्दी पर मुहम्मदशाह विराजमान था। वह नादिरशाह का मुकाबला करने में असमर्थ रहा। मुगल सेना को युद्ध में परास्त कर नादिरशाह ने दिल्ली पर कब्जा कर लिया और उसे बुरी तरह से लूटा। यद्यपि ईरानी आक्रान्ता ने भारत पर स्थायी रूप से शासन करने का प्रयत्न नहीं किया, पर उसके आक्रमण के कारण मुगल बादशाहत की रही-सही शक्ति भी नष्ट हो गई। मराठों, राजपूतों और सिक्खों ने उसे पहले ही खोखला कर दिया था। जो शक्ति उसमें शेष थी, वह नादिरशाह के आक्रमण से नष्ट हो गई। इसके बाद बाबर और अकबर के वंशज नाम को ही भारत के सम्राट रह गये।

ईरान का जो साम्राज्य नादिरशाह ने स्थापित किया था, वह भी देर तक कायम नहीं रहा। उसकी मृत्यु के कुछ समय बाद अफगानिस्तान में, जो अकबर जैसे प्रतापी बादशाहों के शासन काल में मुगल साम्राज्य के अन्तर्गत था, अहमदशाह अब्दाली ने अपने पृथक राज्य की स्थापना की। अपने राज्य के उत्कर्ष को दृष्टि में रखकर उसने कई बार भारत पर चढ़ाई की और १७५७ ई० (सं० १८१४) में बुरी तरह से दिल्ली को लूटा। इस समय तक उत्तर भारत में मराठों की शक्ति बहुत बढ़ चुकी थी। दिल्ली का मुगल बादशाह उनके हाथों में कठपुतली के समान थे। अहमदशाह अब्दाली का सब से महत्वपूर्ण आक्रमण १७६१ ई० (सं० १८१८) में हुआ। इस आक्रमण का प्रयोजन पंजाब से मराठों की सत्ता का अन्त करना था। अब्दाली पहले के आक्रमणों द्वारा पंजाब को अपने आधिपत्य में ला चुका था पर मराठों ने उसकी ओर से शासन करने वाले पंजाब के सूबेदार को परास्त कर वहाँ अपना सूबेदार नियत कर दिया था। १७६१ ई० (सं० १८१८) के आक्रमण में अहमदशाह अब्दाली ने पंजाब के मराठा सूबेदार को परास्त किया और दिल्ली को एक बार फिर अपने कब्जे में कर लिया। जब यह समाचार पेशवा को मालूम हुआ, तो उसने अब्दाली को परास्त करने के लिए बड़ी भारी तैयारी की। सदाशिवराव भाऊ और पेशवा बालाजी बाजीराव के पुत्र विश्वनाथ राव ने एक शक्तिशाली सेना के साथ दिल्ली की ओर प्रस्थान किया। सब मराठे राजा अपनी-अपनी सेनाओं के साथ पेशवा की सहायता के लिए आये। अनेक राजपूत राजाओं ने भी मराठों को सहयोग दिया। पहले दिल्ली की विजय की गई। पेशवा के पुत्र विश्वनाथ राव को दिल्ली का मराठा सम्राट घोषित करने की योजना बनाई गई। अब्दाली ने भी मराठों का मुकाबला करने के लिए पूर्ण शक्ति के साथ तैयारी की। १७६१ ई० (सं० १८१८) के समाप्त होने के पूर्व ही पानीपत के रणक्षेत्र में दोनों पक्षों में युद्ध हुआ जिसमें मराठा सेनाएं परास्त हुईं। सदाशिव राव. भाऊ, विश्वनाथ राव आदि अनेक मराठा सरदार युद्ध में मारे गये। इस पराजय के कारण मराठा शक्ति को बहुत धक्का लगा। इस समय से उनके अपकर्ष का प्रारम्भ हो गया।

इस समय भारत में एक अन्य विदेशी जाति अपनी शक्ति का विस्तार करने में तत्पर थी। इसने हिन्दुकुश पर्वतमाला को पार कर उत्तर पश्चिम की ओर से भारत में प्रवेश नहीं किया था। यह समुद्र के मार्ग से भारत में आई थी। इसका नाम अंग्रेज जाति है। मराठों के निर्बल पड़ने पर अंग्रेजों की शक्ति भारत में तेजी के साथ बढ़ने लगी और अठारहवीं सदी के अन्त होने तक वे भारत की प्रधान राजशक्ति बन गये। अठारहवीं सदी के अन्तिम भाग में भारत की राजशक्ति जिन विविध जातियों व राजवंशों के हाथों में थी, उनका निर्देश इस ढंग से किया जा सकता है—

(१) दिल्ली में **मुगल** बादशाहों का शासन था। पर उनकी शक्ति अब बहुत क्षीण दशा में थी। अवध में एक पृथक व स्वतंत्र राजवंश हो गया था, जो नाम मात्र को मुगल बादशाह की अधीनता स्वीकार करता था। यही दशा बंगाल की थी, वहाँ भी मुसलिमोंका पृथक शासन स्थापित हो गया था। दक्षिणापथ (दक्खन) के सूबे का शासन अठारहवीं सदी में निजामुल्मुल्क के सिपुर्द किया गया था, जो अब क्रियात्मक दृष्टि से स्वतंत्र हो गया था। चौथ और सरदेशमुखी प्रदान कर दक्खन के निजाम मराठों को संतुष्ट रखते थे और इस प्रकार अपनी स्वतंत्र सत्ता को कायम रखने में समर्थ थे।

(२) अठारहवीं सदी के मध्य भाग में **मराठों** की शक्ति उत्कर्ष की चरम सीमा को प्राप्त कर चुकी थी और १७६१ ई० (सं० १८१८) के बाद भी ग्वालियर, नागपुर, इन्दौर, बड़ौदा व महाराष्ट्र में उनके शक्तिशाली राज्य कायम थे। अपने स्वराज्य के अतिरिक्त बहुत से मुगलिया प्रदेशों से भी मराठे चौथ और सरदेशमुखी वसूल करते थे।

(३) मुगल बादशाह के उत्कर्ष काल में भी राजपूताना और बुन्देलखण्ड के **राजपूत** राजा अपने अपने क्षेत्र में स्वतंत्र रूप से शासन करते थे। मुगल सेनाओं के सेनापति व विभिन्न सूबों के सूबेदार के रूप में राजपूत राजाओं के प्रभाव व वैभव में बहुत वृद्धि हो गई थी। औरंगजेब के बाद विविध राजपूत राजा क्रियात्मक दृष्टि से स्वतंत्र हो गये थे और मुगल साम्राज्य की राजनीति में खुल कर खेलने लग गये थे।

(४) औरंगजेब के शासन काल में ही गुरु गोविन्दसिंह के नेतृत्व में **सिक्खों** ने अपना सैनिक उत्कर्ष प्रारम्भ कर दिया था। १७६१ ई० (सं० १८१८) में पानीपत के रणक्षेत्र में मराठों के परास्त हो जाने पर पंजाब में अपनी राजशक्ति के विकास का उन्हें अनुपम अवसर मिला और १७६७ ई० (सं० १८२८) में अहमदशाह अब्दाली को परास्त कर उन्होंने पंजाब में अपने अनेक स्वतंत्र राज्य कायम कर लिए। अठारहवीं सदी के अन्त तक सिक्ख लोग पंजाब की प्रधान राजशक्ति बन चुके थे।

(५) अठारहवीं सदी के मध्य तक, आगरा और मथुरा के समीवर्ती प्रदेशों में अनेक छोटे छोटे **जाट** राज्य स्थापित हो गये थे और १७६१ ई० (सं० १८१८) में मराठों के परास्त हो जाने के बाद उन्हें अपने उत्कर्ष का सुअवसर प्राप्त हुआ। सूरजमल जाट नामक वीर नेता के नेतृत्व में उन्होंने आगरा, धौलपुर, मैनपुरी, हाथरस, अलीगढ़, इटावा, मेरठ, रोहतक, फर्रुखाबाद, मेवाड़, रिवाड़ी, गुड़गाँव और मथुरा के प्रदेशों पर अधिकार कर लिया

और भरतपुर को राजधानी बना कर अपने स्वतंत्र और शक्तिशाली राज्य की स्थापना कर ली। अठारहवीं सदी के उत्तरार्ध में जाटों का यह राज्य भी भारत की प्रधान राजशक्ति में अन्यतम था।

मध्यदेश या हिन्दी के क्षेत्र में इस युग में इन राजशक्तियों का प्रभुत्व था। दिल्ली और अवध मुसलिम शासकों के अधीन थे। राजपूताना और बुन्देलखण्ड में विविध राजपूत राजा स्वतंत्र रूप से शासन कर रहे थे। पंजाब सिक्खों के हाथों में था। मथुरा, आगरा व समीप के प्रदेशों पर जाटों का प्रभुत्व था और ग्वालियर तथा इन्दौर के प्रदेश मराठों के अधीन थे। अठारहवीं सदी के अंतिम भाग में बंगाल, मद्रास आदि में अंग्रेजों व कतिपय अन्य यूरोपियन जातियों का प्रवेश हो चुका था, पर मध्यदेश पर अभी इन विदेशियों के प्रभुत्व का प्रसार नहीं हुआ था।

ब्रिटिश आधिपत्य की स्थापना

भारत की यह राजनीतिक दशा थी, जब कि अंग्रेजों ने इस देश में अपने उत्कर्ष का प्रारम्भ किया। यद्यपि अंग्रेज अठारहवीं सदी के पूर्वार्ध में ही भारत में अपने पैर जमा चुके थे, पर उनके आधिपत्य का विस्तार मुख्यतया अठारहवीं सदी के उत्तरार्ध और उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्ध में हुआ। इस विदेशी राजशक्ति को इस देश में अपने प्रभुत्व को स्थापित करने में जो सफलता हुई, उसका प्रधान कारण यही था कि औरंगजेब के बाद मुगल साम्राज्य खण्ड-खण्ड होना शुरू हो गया था और भारत में कोई एक ऐसी प्रबल राजशक्ति नहीं रह गई थी, जो इन विदेशी व विधर्मी लोगों से भारत की रक्षा करने में समर्थ हो सकती।

पन्द्रहवीं सदी तक यूरोप के लोगों को बाहरी दुनिया से बहुत कम परिचय था। दिग्दर्शक यन्त्र का ज्ञान न होने के कारण यूरोप के मल्लाहों के लिए यह संभव नहीं था कि वे महासमुद्रों में दूर तक आ जा सकें। पन्द्रहवीं सदी में इस यन्त्र का पहले-पहल यूरोप में प्रवेश हुआ और यूरोपियन मल्लाह समुद्र मार्ग से दूर-दूर तक आने जाने लगे। इस समय तक यूरोप के लोग पूर्व के देशों के साथ जो व्यापार करते थे, उसका मार्ग पश्चिमी एशिया से था। इस प्रदेश पर पहले अरबों का शासन था, जो सभ्य थे और व्यापार के महत्व को भली-भाँति समझते थे। पर पन्द्रहवीं सदी के मध्य भाग में पश्चिमी एशिया पर तुर्कों का आधिपत्य हो गया। उस समय तुर्क लोग असभ्य थे और व्यापार के महत्व को नहीं समझते थे। परिणाम यह हुआ कि एशिया के साथ व्यापार का यह पुराना मार्ग रुद्ध हो गया। अब यूरोपियन लोगों को पूर्वी देशों तक जाने के लिए एक नये रास्ते की तलाश की चिन्ता हुई। इस कार्य में पुर्तगाल और स्पेन ने विशेष तत्परता दिखाई। पोर्तुगीज़ लोगों ने विचार किया कि अफ्रीका का चक्कर काट कर प्राच्य देशों तक पहुँचा जा सकता है। १४९८ ई० (सं० १५५५) में वास्कोडिगामा नामक पोर्तुगीज़ मल्लाह अफ्रीका का चक्कर काटकर पहले-पहल एक नवीन मार्ग से भारत पहुँचने में समर्थ हुआ, पोर्तुगीज़ व्यापारियों ने प्राच्य देश के व्यापार को हस्तगत करने का प्रयत्न प्रारम्भ किया। इस व्यापार द्वारा पोर्तुगीज़ लोग बहुत समृद्ध हो गये और उनकी

देखा-देखी अन्य यूरोपियन देश भी इसी सामुद्रिक मार्ग से पूर्वी देशों में आने जाने लगे। हालैण्ड, फ्रान्स, ब्रिटेन आदि देशों में प्राच्य व्यापार को हस्तगत करने के लिए कम्पनियाँ खड़ी की गईं। ये कम्पनियाँ भारत आदि प्राच्य देशों के बन्दरगाहों में अपनी व्यापारी कोठियाँ कायम करती थीं और अधिक से अधिक व्यापार पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए उद्योग करती थीं।

सोलहवीं और सतरहवीं सदियों में भारत में प्रतापी मुगल बादशाहों का शासन था। अतः इस काल में यूरोपियन लोग केवल व्यापार से ही संतुष्ट रहे। केवल पोर्तुगीज़ लोगों ने दक्षिण भारत की राजनीतिक दशा से लाभ उठाकर (क्योंकि वहाँ अब इस काल में भी अनेक छोटे छोटे राज्यों की सत्ता थी) गोआ व उसके समीपवर्ती प्रदेशों को अपने आधिपत्य में कर लिया। पर अन्य यूरोपियन जातियाँ इस देश में अपना राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित करने में असमर्थ रहीं। पोर्तुगीज़ लोग भी दक्षिण भारत में अपनी शक्ति को अधिक नहीं बढ़ा सके, क्योंकि मराठों की शक्ति के सम्मुख वे अपने को असहाय अनुभव करते थे।

औरंगजेब के बाद जब मुगल बादशाहत की शक्ति क्षीण हो गई और भारत में अनेक छोटे-बड़े राज्य कायम हो गये, तो यूरोपियन व्यापारियों ने इस देश की राजनीतिक दुर्दशा से लाभ उठाया और व्यापार के साथ-साथ अपनी राजनीतिक सत्ता भी स्थापित करनी शुरू कर दी। इस क्षेत्र में फ्रांस और ब्रिटेन ने विशेष तत्परता दिखाई। उन्होंने इस देश के राजनीतिक मामलों में हस्तक्षेप करते हुए विविध राज्यों के प्रतिद्वन्द्वी व्यक्तियों का पक्ष लेना शुरू किया और इस प्रकार अपने राजनीतिक उत्कर्ष की नींव डालनी प्रारम्भ की। इस प्रसंग में यह ध्यान में रखना चाहिए कि भारत को अपने प्रभुत्व में लाने के लिए ब्रिटेन और फ्रांस ने अपने देश से कोई सेनाएँ नहीं भेजीं। उन्होंने भारत की विजय के लिए भारत की ही सेनाओं का प्रयोग किया। भारत की राजनीतिक दुर्दशा से लाभ उठाकर इस देश में अपनी सत्ता स्थापित की जा सकती है, यह विचार सब से पहले फ्रेंच लोगों में उत्पन्न हुआ था। डूप्ले पहला यूरोपियन राजनीतिक था, जिसने भारत में पाश्चात्य आधिपत्य स्थापित करने का स्वप्न देखा। उसे यह समझते देर नहीं लगी कि भारत की राजनीतिक दशा बहुत दयनीय है और यहाँ के विविध राजा व नवाब परस्पर युद्ध में व्यस्त हैं। साथ ही, किसी राज्य की राजगद्दी पर कौन व्यक्ति आरूढ़ हो, इस विषय पर भी संघर्ष चलता रहता है। राजगद्दी के एक उम्मीदवार का पक्ष लेकर उसे यदि सहायता दी जाये, तो उसके सफल हो जाने पर उससे अनेक प्रकार के विशेषाधिकार भी प्राप्त किये जा सकते हैं। इस काल में भारत में राष्ट्रीय भावना का अभाव था। इसीलिए डूप्ले और अन्य पाश्चात्य राजनीतिज्ञों को अपने उद्देश्य में सफलता हुई। डूप्ले की नीति का अनुकरण कर ब्रिटिश लोग भी विविध भारतीय राज्यों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने लगे, क्योंकि अंग्रेज और फ्रेंच दोनों ही इस देश में अपना-अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए उद्यत थे, अतः उनमें भी संघर्ष का सूत्रपात हुआ। इस संघर्ष में, अंग्रेज लोग सफल हुए। इसका कारण यह था कि अठारहवीं सदी में फ्रान्स में बूर्बो वंश के एकतन्त्र व स्वेच्छाचारी राजाओं का शासन था और ये शक्ति के विस्तार का जो प्रयत्न कर रहे थे, उसका संचालन फ्रांस की

निरंकुश व अक्षम सरकार द्वारा ही होता था। इसके विपरीत ब्रिटेन की ईस्ट इंडिया कम्पनी, जिसके हाथों में पूर्वी देशों के व्यापार का कार्य था, ब्रिटिश सरकार के नियंत्रण से प्रायः स्वतंत्र थी। उसके लिए यह सुगम था कि वह समय और परिस्थिति के अनुसार स्वतंत्रता पूर्वक कार्य कर सके।

अठारहवीं सदी के मध्य भाग में अंग्रेज और फ्रेंच लोग दक्षिण भारत के विविध राज्यों को अपने प्रभाव व प्रभुत्व में लाने के लिए तत्पर रहे। इसके लिए उन्होंने आपस में अनेक युद्ध किये जो 'कर्नाटक के युद्धों' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन युद्धों के कारण आर्काट के राज्य पर अंग्रेजों का प्रभुत्व कायम हो गया और हैदराबाद का निजाम भी उनके प्रभाव में आ गया। १७६१ ई० (सं० १८१८) के बाद फ्रेंच लोगों ने भारत में अपने आधिपत्य को स्थापित करने का प्रयत्न त्याग दिया और अंग्रेजों के लिए इस देश में प्रभुत्व के प्रचार का मार्ग निष्कंटक हो गया। अब उन्हें केवल भारत के विविध राजाओं के साथ ही युद्ध करने थे। फ्रांस जैसे शक्तिशाली यूरोपियन राज्य के विरोध का भय उन्हें अब नहीं रह गया था।

अंग्रेज लोग केवल दक्षिण भारत के कतिपय राज्यों को अपने प्रभाव में लाकर ही संतुष्ट नहीं रहे। उन्होंने उत्तर भारत में भी अपनी शक्ति का विस्तार किया। अठारहवीं सदी के पूर्वार्ध में मुगल बादशाहत के निर्बल पड़ने पर बिहार-बंगाल के सूबेदार भी स्वतंत्र हो गये थे। १७५६ ई० (सं० १८१३) में बंगाल की राजगद्दी पर सिराजुद्दौला आरूढ़ हुआ। उसके विरुद्ध अंग्रेजों ने षड्यन्त्र किया, जिसमें बंगाल के अनेक अमीर उमरा और सूबेदार शामिल हो गये। इनका नेता मीर जाफर था, जो सिराजुद्दौला का सेनापति था। षड्यन्त्र की सब तैयारी पूरी हो जाने पर अंग्रेजी सेना ने बंगाल की राजधानी मुर्शिदाबाद की ओर प्रस्थान किया। २३ जून १७५७ ई० (सं० १८१४) के दिन प्लासी के रणक्षेत्र में लड़ाई हुई। युद्ध आरम्भ होते ही मीर जाफर अंग्रेजों से जा मिला। सिराजुद्दौला की हार हुई और वह लड़ाई में मारा गया। अब मीर जाफर बंगाल का नवाब बना। नाम को तो मीर जाफर बंगाल का नवाब था, पर वास्तविक शक्ति अंग्रेजों के हाथों में थी। ईस्ट इंडिया कम्पनी के प्रतिनिधि के रूप में कुशल व चालाक अंग्रेज ही बंगाल के शासन का कर्त्ताधर्त्ता बन गया था। १७६० ई० (सं० १८१७) में क्लाइव बीमार पड़ा और इंग्लैंड वापस लौट गया। अब उसकी जगह पर वान्सिटार्ट को नियुक्त किया गया। प्लासी के युद्ध में सिराजुद्दौला को परास्त कर जब क्लाइव ने मीर जाफर को बंगाल का नबाब बनाया था, तो उसके साथ की गई सन्धि की शर्तों में एक शर्त यह भी थी कि, पौने तीन करोड़ रुपये अंग्रेजों को प्रदान करेगा। जब इतनी बड़ी रकम शाही खजाने में नहीं निकली, तो जवाहरात आदि बेच कर आधी के लगभग रकम नावों द्वारा मुर्शिदाबाद से कलकत्ता (जो बंगाल में अंग्रेजी शक्ति का केन्द्र था) भेज दी गई और शेष रकम को तीन सालाना किश्तों में अदा करना तय किया गया। पर मीर जाफर के लिए यह सम्भव नहीं हुआ कि वह अंग्रेजों को दी जाने वाली धनराशि की नियम पूर्वक अदायगी करता रहे। अतः वान्सिटार्ट ने उसके स्थान पर मीर कासिम को बंगाल का नबाब बनाया (१७६० ई० = सं० १८१७)। इस अवसर पर उसके साथ जो समझौता हुआ, उसके अनुसार बर्दवान, मिदनापुर और चटगाँव के जिले ईस्ट इंडिया कम्पनी को मिले।

मीर कासिम योग्य व्यक्ति था, उसने प्रयत्न किया कि बंगाल के शासन में सुधार कर खर्च को कम करे, ताकि अंग्रेजों को दी जाने वाली रकम की अदायगी हो जाये और राज्य में विदेशी प्रभाव न बढ़ने पावे। इससे अंग्रेज लोग असंतुष्ट हो गये और उन्होंने एक बार फिर मीर जाफर को बंगाल की राजगद्दी पर बिठाने का प्रयत्न किया। पर मीर कासिम ने सुगमता के साथ अंग्रेजों के सम्मुख सिर नहीं झुका दिया। अंग्रेजों के सम्मुख अपने को असहाय पाकर उसने अवध की ओर प्रस्थान किया और वहाँ के नबाब शुजाउद्दौला से सहायता की याचना की। दिल्ली का बादशाह शाह आलम भी उन दिनों अवध में रह रहा था। शुजाउद्दौला और शाह आलम के साथ मीर कासिम ने अंग्रेजों का सामना करने के लिए पूर्व की ओर प्रस्थान किया। अक्टूबर १७६४ ई० (सं० १८२१) में बक्सर में अंग्रेजी सेना के साथ उसका सामना हुआ, जिसमें अंग्रेजों की विजय हुई। अब अंग्रेजी सेना अवध में प्रविष्ट हुई और बनारस व इलाहाबाद पर उसका कब्जा हो गया। इस दशा में शुजाउद्दौला को अपने अवध के राज्य की चिंता हुई। उसने रुहेलों और मराठों की सहायता से अंग्रेजों का मुकाबला करने का प्रयत्न किया, पर वह सफल नहीं हो सका। विवश हो कर १७६५ ई० (सं० १८२२) में शुजाउद्दौला ने अंग्रेजों के सम्मुख आत्मसमर्पण कर दिया। इन घटनाओं का समाचार जब इंग्लैंड पहुँचा तो ईस्ट इंडिया कम्पनी ने एक बार फिर क्लाइव को बंगाल में अपने कारोबार का अध्यक्ष (गवर्नर) बना कर भेजा। वह मई, १७६५ ई० (सं० १८२२) में कलकत्ते पहुँच गया।

बक्सर के युद्ध में जब अंग्रेज विजयी हुए थे, तो मुगल बादशाह शाह आलम भी अंग्रेजों की शरण में आ गया था। अवध का नबाब भी आत्मसमर्पण कर चुका था। अब क्लाइव ने इन दोनों के साथ सन्धि की, जो इलाहाबाद की सन्धि के नाम से प्रसिद्ध है। इस सन्धि की मुख्य शर्तें इस प्रकार थीं—(१) शुजाउद्दौला कम्पनी को पचास लाख रुपया जुर्माना दे। (२) अवध में कम्पनी की ओर से एक सेना रहे, जिसका खर्च नबाब दे। इसी समय शाह आलम द्वारा क्लाइव ने एक फरमान जारी कराया, जिसके अनुसार बंगाल, बिहार, और उड़ीसा की दीवानी (सरकारी कर वसूल करने का अधिकार) कम्पनी को दिया गया, यद्यपि बंगाल-बिहार के नबाब स्वतंत्र थे, पर मुगल बादशाहत का उन पर प्रभुत्व स्वीकृत किया जाता था। शाह आलम के पद और प्रतिभा का उपयोग कर के ही अंग्रेजों ने यह फरमान उससे जारी कराया था।

१७६५ ई० (सं० १८२२) में बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी ईस्ट इंडिया कम्पनी के हाथों में आ गई, जिसके कारण वहाँ दोहरा शासन स्थापित हुआ। वहाँ का शासन अब भी नबाब के हाथों में था, जिसे निजामत (राज्य में शान्ति और व्यवस्था स्थापित रखना और न्याय) के अधिकार थे। पर राज्य से मालगुजारी व अन्य कर वसूल करना कम्पनी के हाथों में था। इसके लिए क्लाइव ने एक नई पद्धति प्रारम्भ की, जिसके अनुसार कर वसूल करने के कार्य की नीलामी की जाती थी। जो कोई सब से ऊँची बोली बोलता, उसे कर वसूल करने का ठेका दे दिया जाता। जो लोग ये ठेके लेते, वे जनता से अधिकाधिक कर वसूल करते, ताकि उन्हें मुनाफा रहे। इसके लिए वे प्रजा पर भयंकर से भयंकर अत्याचार करने में भी संकोच न करते। इस नीति का परिणाम यह हुआ कि बिहार, बंगाल और उड़ीसा में किसानों की बहुत दुर्दशा हुई। देश में शान्ति और व्यवस्था कायम रखने का उत्तरदायित्व नबाब का था,

पर सेना कम्पनी के हाथों में थी। सेना के बिना नवाब के लिए अपने कर्त्तव्यों का पालन कर सकना सम्भव नहीं था। इस कारण सर्वत्र अशान्ति छा गई और जनता का जीवन सुरक्षित नहीं रहा। इन सब के कारण १७७० ई० (सं० १८२७ वि०) में बंगाल में घोर दुर्भिक्ष पड़ा, जिसमें एक करोड़ के लगभग नर-नारी मृत्यु के ग्रास बने। जब बंगाल की यह दुर्दशा हो रही थी, तो कम्पनी ने वारेन हेस्टिंग्स को वहाँ का गवर्नर नियत किया (१७७२ ई०=सं० १८२९ वि०)। उसने इस प्रदेश से दोहरे शासन का अन्त कर सारे राज्य-प्रबन्ध को अपने हाथों में ले लिया और नवाब के लिए १६ लाख रुपया वार्षिक पेंशन नियत कर दी। इस प्रकार पूर्वी भारत में अंग्रेजी शासन स्थापित हुआ और वहाँ से नवाबी शासन का अन्त हो गया। वारेन हेस्टिंग्स के समय भारत में अंग्रेजी शासन के विस्तार के लिए बहुत उद्योग हुआ और उसने इस देश की विविध राजशक्तियों के साथ निरन्तर संघर्ष किया। उत्तर भारत व मध्यदेश में उसे जिन शक्तियों का सामना करना था, उनमें मराठे लोग प्रमुख थे। यद्यपि १७६१ ई० (सं० १८१८ वि०) में पानीपत के रणक्षेत्र में अहमदशाह अब्दाली से परास्त हो जाने के कारण मराठों की शक्ति क्षीण हो गई थी, तथापि वे इस समय भारत की प्रधान राजशक्ति थे। पेशवा माधवराव (१७६१ से १७७२ ई०=सं० १८१८-१८२९ वि०) ने अपनी शक्ति को फिर से संभाल लिया था और विविध मराठा सरदारों को संतुष्ट कर उन्हें एक सूत्र में संगठित कर दिया था। १७७२ ई० (सं० १८२९ वि०) के शुरू में बादशाह शाहआलम भी अंग्रेजों की शरण छोड़कर मराठों की सहायता से दिल्ली चला आया था और मराठा सरदार उसे दिल्ली की गद्दी पर बिठा कर मुगल बादशाहत का संचालन करने लग गए थे। यद्यपि दिल्ली की बादशाहत पर मराठों का प्रभाव था, पर उससे पूर्व के मध्यदेश में दो मुसलिम राजशक्तियों की सत्ता थी। रुहेलखण्ड पर रुहेले पठानों का प्रभुत्व था जो मुगल साम्राज्य के निर्बल पड़ने पर वहाँ प्रबल हो गए थे। मुगलों की अधीनता स्वीकार करते हुए भी वे स्वतंत्रता के साथ शासन करते थे। इलाहाबाद की सन्धि (१७६५ ई०=सं० १८२२ वि०) के अनुसार अवध में अंग्रेजों की सेना स्थापित हो चुकी थी, यद्यपि वास्तविक शासन में उनका विशेष हाथ नहीं था।

यह स्थिति थी, जब कि वारेन हेस्टिंग्स ने बिहार-बंगाल के पश्चिम में स्थित प्रदेशों में अंग्रेजी शासन के विस्तार का प्रयत्न प्रारम्भ किया। उसके इस प्रयत्न में इन प्रदेशों की राजनीतिक दशा ने बहुत सहायता पहुँचाई। उन दिनों अवध का नवाब शुजाउद्दौला रुहेलखण्ड को जीतकर अपने अधीन करने के लिए प्रयत्नशील था। इसके लिए उसने अंग्रेजों से मदद माँगी। अंग्रेजों ने चालीस लाख रुपया और सेना का खर्च लेकर नवाब की सहायता करना स्वीकार कर लिया। अंग्रेजी सेना ने शुजाउद्दौला के साथ रुहेलखण्ड पर चढ़ाई की (१७७३ ई०=सं० १८३० वि०)। मीरांपुर कटरा के युद्ध में रुहेलों ने वीरतापूर्वक अंग्रेजों का सामना किया, पर अन्त में उनकी हार हुई। रुहेला सरदार रहमत खां युद्ध में मारा गया। रहमत खां के पुत्र फैजुल्ला खां ने शुजा-उद्दौला का जुर्माना देना और उसका वशवर्ती होकर रहना स्वीकार कर लिया। इस पर उसे रामपुर में एक जागीर दे दी गई। शेष रुहेलखण्ड अवध के राज्य में सम्मिलित कर लिया गया। इसके कुछ समय बाद शुजाउद्दौला की मृत्यु हो गई और उसका पुत्र आसफुद्दौला अवध का नवाब बना। वारेन हेस्टिंग्स ने उसे अपने राज्य में और अधिक अंग्रेजी सेना रखने के लिए विवश किया, जिसका खर्च चलाने के लिए उसे गोरखपुर और बहराइच जिले की मालगुजारी अंग्रेजों को देनी

पड़ी। साथ ही उसने बनारस का प्रदेश भी अंग्रेजों को दे दिया। बनारस के हिन्दू राजा अवध के नवाब के सामन्त थे। इस समय से बनारस के राजा अंग्रेजों के प्रभुत्व में आ गए (१७७५ ई० =सं० १८३२ वि०)।

भारत और विशेषतया उसके दक्षिणी राज्यों को अपने प्रभुत्व में लाने के लिए जो बहुत से युद्ध अंग्रेजों को करने पड़ रहे थे, उनमें बहुत रुपया खर्च हो रहा था। इस धन को उन्होंने अनुचित रूप से प्राप्त करने का प्रयत्न किया। १७७५ ई० (सं० १८३२ वि०) में बनारस का राजा चेतसिंह अंग्रेजों के अधीन हो गया था और वह उन्हें नियमपूर्वक खिराज देने लगा था। १७७८ ई० (सं० १८३५ वि०) में वारेन हेस्टिंग्स ने उससे अतिरिक्त पाँच लाख रुपए की माँग की जिसे उसने दे दिया। १७७९ ई० (सं० १८३६ वि०) में भी उसने यह अतिरिक्त रकम प्रदान कर दी, पर १७८० ई० (सं० १८३७ वि०) में उसके लिए दे सकना सम्भव नहीं रहा। इस पर हेस्टिंग्स ने उस पर ५० लाख रुपया जुर्माना किया और यह रकम न दे सकने पर उसे गिरफ्तार कर लिया। इस पर बनारस की सेना ने विद्रोह कर दिया जिसे अंग्रेजों ने बुरी तरह से कुचला। चेतसिंह को पदच्युत कर के उसके भानजे को बनारस का राजा बनाया गया, उसकी सालाना खिराज की मात्रा दुगनी कर दी गई। अनुचित ढंग से रुपया प्राप्त करने की धुन में ही हेस्टिंग्स ने अवध के नवाब आसफुद्दौला से रुपया वसूल करने की कोशिश की। उसका कोश खाली था, पर उसकी माँ व हरम की अन्य बेगमों के पास धन था। हेस्टिंग्स के आदेश से बेगमों से रुपया वसूल करने के लिए अंग्रेजी सेना ने राजमहल को घेर लिया और बेगमों को कैद कर लिया। उन पर अत्याचार किए गए और उन्हें धन देने के लिए विवश किया गया। इसमें सन्देह नहीं कि इस समय अवध पूर्णतया अंग्रेजों का वशवर्ती हो गया था और रुहेलखण्ड तक के मध्यदेश (हिन्दी प्रदेश) पर ब्रिटिश आधिपत्य स्थापित हो गया था।

इस समय ईस्ट इंडिया कम्पनी भारत को अपनी अधीनता में लाने के लिए पूर्ण रूप से तत्पर थी। इसके लिए जिन साधनों को वह उपयोग में ला रही थी, वे इस प्रकार थे—(१) यदि किसी राज्य में राजगद्दी के लिए एक से अधिक उम्मीदवार हों, तो कम्पनी के अफसर उनमें से किसी एक का पक्ष ले कर उसकी सहायता करते थे, इस सहायता के बदले में कम्पनी के लिए कुछ जागीरें व अन्य कुछ विशेष अधिकार प्राप्त कर लेते थे। (२) भारत में इस समय अनेक छोटे-बड़े राज्यों की सत्ता थी। जो राज्य निर्बल हों, कम्पनी उनसे एक विशेष प्रकार की सन्धि करती थी, जिसे सहायक सन्धि कहते थे। इस सन्धि द्वारा कम्पनी उस राज्य की बाह्य आक्रमणों से और आंतरिक विद्रोहों से रक्षा करने की जिम्मेवारी लेती थी। इसके लिए कम्पनी को जो सेवा करनी पड़ती थी, उसका खर्च वह उस राज्य से ही वसूल करती थी। ऐसे राज्यों को कम्पनी अपने अधीन समझती थी और अन्य राज्यों के साथ उनके सम्बन्ध को नियंत्रित करने के लिए कम्पनी की ओर से एजेन्ट या रेजिडेन्ट भी नियत किए जाते थे। (३) शक्तिशाली राज्यों को अपने अधीन करने के लिए कम्पनी सदा ऐसे बहानों की तलाश में रहती थी, जिनसे उन पर आक्रमण किया जा सके।

यद्यपि रुहेलखण्ड तक का मध्यदेश अंग्रेजों के प्रभुत्व में आ चुका था, पर अभी भारत की प्रधान राजशक्ति, मराठा लोग उनके वशवर्ती नहीं बने थे। मराठे अंग्रेजों से तभी अपनी

रक्षा कर सकते थे, जब कि उनमें एकता होती। पर इस समय मराठा साम्राज्य की आन्तरिक दशा अच्छी नहीं थी। पेशवा माधवराव की मृत्यु (१७८५ ई० = सं० १८४२ वि०) के बाद पेशवा पद के लिए झगड़े शुरू हो गए और शक्तिशाली मराठा सरदार पेशवा पद के विविध उम्मीदवारों का पक्ष लेकर अपने प्रभाव को बढ़ाने में तत्पर हुए। इस दशा में अंग्रेजों ने मराठों के राज्य में खुल कर खेलना शुरू किया। कुछ समय के गृह-कलह के बाद बाजीराव द्वितीय पेशवा पद पर आरूढ़ हुआ, जिसे अपने प्रभाव में रखने के लिए अनेक मराठा सरदार परस्पर संघर्ष में तत्पर थे। अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाने के लिए बाजीराव ने अंग्रेजों की सहायता ली और उनसे यह सन्धि की कि कम से कम ६००० सैनिकों की अंग्रेजी सेना उसकी सहायता के लिए रहे और इस सेना के खर्च के लिए इतने प्रदेश को अंग्रेजों के सिपुर्द कर दिया जाए जिसकी आमदनी २६ लाख रुपया वार्षिक हो (१८०२ ई०=सं० १८५९ वि०)। इस प्रकार मराठा राज्य में भी अंग्रेजी प्रभुत्व का सूत्रपात हुआ। जब इस सन्धि का समाचार ग्वालियर के सिंधिया और नागपुर के भोंसले सरदारों को मिला, तो वे बहुत दुखी हुए। उन्हें पेशवा के एक विदेशी शक्ति के अधीन हो जाने की बात से हार्दिक दुःख हुआ। उन्होंने यत्न किया कि इस राष्ट्रीय विपत्ति के समय सब मराठा सरदार आपस में मिलकर एक हो जायं। पेशवा उनकी बात मान गया। सिंधिया और भोंसले की सेनाओं ने पेशवा को अपने प्रभाव में रखने के लिए जब पूना की ओर प्रस्थान किया, तो अंग्रेजों ने उनका प्रतिरोध किया, क्योंकि १८०२ ई० (सं० १८५९ वि०) की सन्धि के अनुसार वे पेशवा को अपनी संरक्षा में समझते थे। मराठों और अंग्रेजों का यह युद्ध (१८०३ ई०=सं० १८६० वि०) उत्तर और दक्षिण सर्वत्र लड़ा गया। इस युद्ध के दौरान में लार्ड लेक के नेतृत्व में एक अंग्रेजी सेना ने अलीगढ़ को जीत कर दिल्ली पर चढ़ाई कर दी। वहां से मराठों के प्रभुत्व का अन्त कर उसने बादशाह शाहआलम को (जो अब तक मराठों की संरक्षा में था) अपनी संरक्षा में ले लिया, और फिर आगरा पर आक्रमण किया। अक्टूबर १८०३ ई० (सं० १८६० वि०) में आगरा पर भी अंग्रेजों का कब्जा हो गया। इसी प्रकार के युद्ध दक्षिणापथ में भी लड़े गए। इन युद्धों में परास्त होकर सिंधिया और भोंसले अंग्रेजों के साथ सन्धि करने के लिए विवश हुए और अब जो सन्धियां हुईं उनके अनुसार दिल्ली, आगरा और गंगा-यमुना के प्रदेश और दोहद व ग्वालियर सिंधिया ने अंग्रेजों को प्रदान कर दिए। ये सब प्रदेश अब तक सिंधिया के प्रभुत्व में थे। इसी प्रकार नागपुर के भोंसले ने भी कटक और वर्धा नदी के पश्चिम के सब प्रदेश अंग्रेजों को देने स्वीकार किए। १८०३ ई० (सं० १८६० वि०) में मराठों को अंग्रेजों से परास्त होना पड़ा था, उससे इन्दौर का होल्कर राजा बहुत चिंतित हुआ। पिछले युद्ध में वह तटस्थ रहा था, पर अब उसने अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध करने का निश्चय किया। सिंधिया ने भी उसका साथ दिया और एक बार फिर मराठों और अंग्रेजों में युद्ध शुरू हुआ (१८०४ ई०=सं० १८६१ वि०)। यह युद्ध देर तक नहीं चला, क्योंकि इस समय अंग्रेज शान्ति के लिए उत्सुक थे। यूरोप में नेपोलियन के साथ उनका युद्ध चल रहा था जिसके कारण उनकी सारी शक्ति फ्रांस को परास्त करने में लगी हुई थी। शान्ति की नीति को अपना कर अंग्रेजों ने मराठों के साथ सन्धि कर ली, जिसके अनुसार दोहद और ग्वालियर के प्रदेश फिर से सिंधिया को वापस दे दिए गए (१८०५ ई०=सं० १८६२ वि०)।

१८१४ ई० (सं० १८७१ वि०) में यूरोप में नेपोलियन का पतन हो गया और अंग्रेज लोग

यूरोप की ओर से निश्चिन्त होकर फिर भारत में अपने साम्राज्य का विस्तार करने के लिए प्रवृत्त हुए। इसी कारण १८१७ ई० (सं० १८७४ वि०) में एक बार फिर उन्होंने मराठों के साथ युद्ध प्रारंभ किया। इस युद्ध में पेशवा, सिंधिया, भोंसले, होल्कर आदि सभी मराठा राजाओं ने अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए अन्तिम बार अंग्रेजों के खिलाफ अपनी शक्ति को आजमाया, पर उन्हें सफलता नहीं मिली। वे एक एक कर के परास्त कर दिए गए। १८१८ ई० (सं० १८७५ वि०) में मराठों की स्वतंत्र सत्ता का सदा के लिए अंत हो गया। आठ लाख रुपया वार्षिक पेन्शन प्राप्त करते रहने की शर्त पर पेशवा बाजीराव द्वितीय ने आत्मसमर्पण कर दिया और उसे महाराष्ट्र से दूर बिठूर (कानपुर के समीप) भेज दिया गया। भोंसले, होल्कर और सिंधिया ने इस युद्ध के परिणाम स्वरूप अंग्रेजों के आधिपत्य को स्वीकार कर लिया। इस युद्ध में अंग्रेजों की सफलता का यह परिणाम हुआ कि काश्मीर, पंजाब और सिंध के अतिरिक्त प्रायः सम्पूर्ण भारत में अंग्रेजों की प्रभुता कायम हो गई। राजपूताना के विविध राजा मुगल युग में दिल्ली के बादशाह की अधीनता स्वीकार करते थे। मराठों के उत्कर्ष के समय वे सिंधिया के आधिपत्य में आ गए थे, क्योंकि दिल्ली का बादशाह सिंधिया का वशवर्ती था। १८१७ ई० (सं० १८७४ वि०) के युद्ध में परास्त होकर सिंधिया ने अंग्रेजों के साथ जो सन्धि की, उसके अनुसार उसने राजपूताना पर अपने आधिपत्य को छोड़ दिया और विविध राजपूत राज्य ईस्ट इंडिया कम्पनी की संरक्षता में आ गए। दिल्ली, आगरा व उनके समीपवर्ती प्रदेश १८०३ ई० (सं० १८६० वि०) में ही अंग्रेजों के प्रभुत्व में आ गए थे। अब राजपूताना के अधिपति बन जाने के कारण प्रायः सम्पूर्ण मध्यदेश उनके अधीन हो गया। हिन्दी प्रदेश में अब केवल पंजाब का प्रदेश ऐसा रह गया था जो अंग्रेजों की अधीनता में नहीं था। इस प्रदेश पर सिक्खों का शासन था जिन्हें अहमदशाह अब्दाली के बाद अपने उत्कर्ष का अनुपम अवसर प्राप्त हुआ था। अब्दाली के बाद सिक्खों ने पंजाब में अपने बारह राज्य कायम कर लिए थे, जिन्हें 'मिसल' कहते थे। १७७३ ई० (सं० १८३० वि०) में पूर्व में सहारनपुर से लगाकर पश्चिम में अटक तक और उत्तर में कांगड़ा व जम्मू से शुरू कर दक्षिण में मुलतान के उत्तर तक सिक्खों के शासन स्थापित हो गए थे। सिक्खों की ये मिसलें मराठों को चौथ प्रदान किया करती थीं। पर जब १८०३ ई० (सं० १८६० वि०) में सिंधिया ने दिल्ली, आगरा और उनके समीपवर्ती प्रदेश को अंग्रेजों को दे दिया, तो सिक्ख मिसलें मराठों के प्रभाव से मुक्त हो गईं और अंग्रेज उन पर अपना अधिकार समझने लगे।

इसी बीच में सिक्खों में एक प्रतापी पुरुष का प्रादुर्भाव हुआ, जिसका नाम राजा रणजीतसिंह (१७९२ से १८३९ ई० = सं० १८४९–१८९६ वि०) था। वह सुकर चकिया मिसल का सरदार था। अन्य अनेक मिसलों को उसने अपनी अधीनता स्वीकृत करने के लिए विवश किया और इस उद्देश्य से उनसे अनेक युद्ध किए। यमुना और सतलज के बीच में जो सिक्ख मिसलें थीं उन्होंने डट कर रणजीतसिंह का मुकाबला किया और उसके विरुद्ध अंग्रेजों से सहायता की याचना की। १८०९ ई० (सं० १८६६ वि०) में एक अंग्रेजी सेना ने यमुना नदी को पार कर अम्बाला की ओर प्रस्थान किया और यह घोषणा की कि सतलज और यमुना के बीच का प्रदेश कम्पनी के आधिपत्य में है। यदि रणजीतसिंह उन्हें अपनी अधीनता में लाने का प्रयत्न करेगा, तो अंग्रेजी सेना उसका मुकाबिला करेगी। इस पर रणजीतसिंह ने अंग्रेजों से सुलह कर ली, जिसके अनुसार

उसने यह वचन दिया कि वह सतजल के पूर्व के प्रदेशों को अपनी अधीनता में लाने का कोई प्रयत्न नहीं करेगा। इसके बाद रणजीतसिंह ने पश्चिम की ओर अपने राज्य-विस्तार का प्रयत्न किया और लाहौर को राजधानी बनाकर एक शक्तिशाली सिक्ख राज्य की स्थापना की। बीच के प्रदेशों पर पुरानी मिसलों की सत्ता कायम रही और ये मिसलें अंग्रेजों को अपना अधिपति व संरक्षक स्वीकार करती रहीं। १८३९ ई० (सं० १८९६ वि०) में रणजीतसिंह की मृत्यु के बाद उसके द्वारा स्थापित सिक्ख राज्य में झगड़े प्रारम्भ हो गए, जिनका अंग्रेजों ने पूरा पूरा लाभ उठाया। १८४५ ई० (सं० १९०२ वि०) और १८४८ ई० (सं० १९०५ वि०) में अंग्रेजों के सिक्खों से दो युद्ध हुए जिनमें सिक्खों की पराजय हुई। १८४९ ई० (सं० १९०६ वि०) में लार्ड डलहौजी ने (जो इस समय कम्पनी की ओर से भारत का गवर्नर जनरल था) पंजाब को अंग्रेजी शासन में ले लिया और अन्तिम सिक्ख राजा दलीपसिंह को राजगद्दी से उतार कर उसके लिए ५०००० रु० वार्षिक पेंशन नियत कर दी। सिन्ध और उत्तर पश्चिमी प्रदेश, आदि अन्य प्रदेशों पर अंग्रेजी शासन किस प्रकार स्थापित हुआ, इसका यहाँ उल्लेख कर सकना सम्भव नहीं है।

२. सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

७वीं से १२वीं शताब्दी ई०—राजपूत-काल

सातवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से बारहवीं शताब्दी के अन्त तक भारत पर प्रायः राजपूत जाति का ही आधिपत्य रहा। इस लंबी अवधि में यद्यपि हमारी संस्कृति के मूल सिद्धान्तों में कोई क्रान्तिमय परिवर्तन नहीं हुआ, परन्तु बाहरी रूपरेखा बहुत-कुछ बदल गई। सभ्यता के प्रत्येक अंग पर एक नवीन छाप स्पष्ट दिखाई देने लगी, चाहे उसका संबंध धर्म से हो, चाहे समाज अथवा साहित्य से। इस छाप को यदि हम राजपूती छाप कहें तो अनुचित न होगा। इस छाप के पीछे कौन-कौन प्रवृत्तियाँ विद्यमान हैं, इनको बिना समझे राजपूत-काल के सांस्कृतिक तत्वों का विश्लेषण असंभव है। चूँकि पुरातन समय से धर्म ही हमारी सभ्यता का मूलाधार रहा है, इसलिए सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के चित्रण में सर्वप्रथम उसी की ओर ध्यान जाना स्वाभाविक है। इसमें सन्देह नहीं कि राजपूतों ने प्राचीन परम्परा और मर्यादाओं को स्थिर रखने का भरसक प्रयास किया, परन्तु समय और परिस्थिति ने परिवर्तन को अनिवार्य कर दिया और वह होकर ही रहा।

मौर्यकाल से लेकर हर्षवर्धन के समय तक साम्राज्यवाद का बोलबाला रहा तथा धर्म और साम्राज्य में घनिष्ठ संबंध बना रहा। मौर्यों ने बौद्ध धर्म को अपनाया और उसका प्रसार किया। गुप्त वंश के सम्राटों ने ब्राह्मण धर्म को प्रोत्साहन दिया और साम्राज्य के उत्थान के साथ-साथ इस धर्म की भी उन्नति हुई। राजा और प्रजा दोनों ने ही इसे ग्रहण किया। परन्तु हर्ष के समय में एक नवीन परिपाटी दृष्टिगोचर होती है। एक ओर उसके संरक्षण द्वारा कन्नौज में बौद्धमत फूला-फला तो दूसरी ओर जनता के हृदय में पौराणिक धर्म घर किए हुए था। जनता को प्रसन्न करने के अभिप्राय से हर्ष ने प्रयाग में महामोक्ष के अवसर पर आदित्य और शिव की पूजा की, ब्राह्मणों को भोजन कराया और उनको प्रभूत दान दिया। हर्ष का दृष्टिकोण आने वाली प्रवृत्तियों का प्रतीक था। उसके पूर्व चक्रवर्ती सम्राटों का ध्येय न केवल साम्राज्य-स्थापन पर केन्द्रित होता था, वरन अपने वैयक्तिक धर्म-विशेष का प्रचार करना भी वे अपना कर्त्तव्य समझते थे। इस प्रकार धार्मिक तथा राजनीतिक शक्तियाँ मिल कर संस्कृति की चतुर्मुखी उन्नति तथा संगठन में योग देती थीं। राजा और प्रजा में एक प्रकार की अदृश्य सहानुभूति विद्यमान रहती थी। परन्तु हर्ष के समय राजा और प्रजा के दृष्टिकोण में धीरे-धीरे अन्तर पड़ने लगा। यद्यपि यह अन्तर संघर्ष के स्तर तक तो न पहुँचा, परन्तु इसने एक प्रकार की विभिन्नता तो पैदा कर ही दी। संस्कृति के संगठन में दरार पड़ने लगी।

धार्मिक विश्रृंखलता

राजपूत-काल का धार्मिक संगठन विकीर्ण दिखाई देता है। वैसे तो हमारे देश में कभी भी एक मात्र धर्म का सिद्धान्त मान्य नहीं रहा, व्यक्तियों तथा समूहों को अपने व्यक्तिगत

विचारों के प्रचार की निरन्तर स्वतंत्रता थी, परन्तु सामान्य रूप से अधिकांश जन-समुदाय केवल एक ही मत का अनुसरण करता था। वैदिक काल के पूर्ववर्ती धर्म की रेखाएं मोहनजोदड़ो तथा हड़प्पा के भग्नावशेषों में विद्यमान हैं। वैदिक धर्म तो सनातन माना ही जाता है। इसी की नींव पर बौद्ध तथा जैन मतों ने नास्तिकवाद के महल बनाए। काल ने समन्वय और सम्मिश्रण का चक्र चलाया और पौराणिक धारा का सृजन हुआ। यह धारा इतने वेग से बही कि इसके फाँद में सभी मत-मतान्तर समा गए। सभी मत-मतान्तर सामूहिक रूप से धर्म नाम से अभिहित किए जाते थे। इस धर्म के विविध अंगों में परस्पर भेद स्पष्ट था। एक ही रूप के अनेक आकार दिखाई देते थे।

दसवीं शताब्दी के एक अरब यात्री का कथन है कि भारत में बयालीस मत हैं। दूसरे यात्री अलइद्रीसी ने ग्यारहवीं शताब्दी में इस कथन की पुष्टि करते हुए कहा है कि भारत के प्रमुख मतों में बयालीस मतों की गणना की जाती है। कुछ लोग विधाता को तो मानते हैं, परन्तु नबी या रसूल में उनकी निष्ठा नहीं, कुछ दोनों में से एक को भी स्वीकार नहीं करते। कुछ लोग अग्नि की उपासना करते हैं और दहकती आग में कूद कर प्राण-विसर्जन करते हैं। यदि कुछ पत्थरों की पूजा करते हैं और उन पर घी चढ़ाते हैं, तो कुछ सूर्य की उपासना करते हैं और उसको सृष्टि का निर्माता तथा संचालक समझते हैं। कुछ वृक्षों को पूजते हैं, तो कुछ सर्पों को। कुछ लोग ऐसे भी हैं जिनकी श्रद्धा किसी भी वस्तु में नहीं और न उनका विश्वास त्याग या तप में ही है। विदेशी यात्रियों के कथनों में थोड़ा-बहुत तथ्य है, इसे इनकार नहीं किया जा सकता। उस समय के मत-मतान्तरों की विभिन्नता से प्रभावित हो कर उन्होंने उसी का साधारण ब्यौरा दिया है। इस विभिन्नता के अन्तर्गत एकता को समझना उनके लिए संभव न था। फिर भी, विभिन्नता की ओर से हम अपनी आँख बन्द नहीं कर सकते और सत्य तो यह है कि इस समय के समस्त वातावरण में जैसे विभिन्नता की बिजली दौड़ गई थी।

जैनमत

राजपूत राजाओं की श्रद्धा तो शैवमत में थी, परन्तु उनकी जनता का विशेष झुकाव अहिंसा व्रत की ओर था। अहिंसा धर्म का प्रतिपादन अधिकांश रूप से जैन तथा बौद्ध मतों ने ही किया था। यद्यपि बौद्धमत के समान जैनमत को उत्तर भारत के किसी चक्रवर्ती सम्राट ने नहीं अपनाया, फिर भी उसका प्रसार देश के भिन्न-भिन्न प्रान्तों में हो ही गया। पूर्वी प्रदेश से वह दक्षिण पहुँचा और वहाँ फैला तथा राष्ट्रकूटों ने (८००-१००० ई० = सं०८५७-१०५७ वि०) उसे प्रश्रय दिया। उनके संरक्षण में वह महाराष्ट्र के कृषक-वर्ग में फैल गया तथा महाराष्ट्र से गुजरात होता हुआ एक ओर राजपूताना और मालवा तक और दूसरी ओर सतलज नदी की घाटी तक प्रवेश कर गया। विशेष कर वैश्य जाति की तो इस मत में पूर्ण निष्ठा हो गई। यह भी संभव है कि जैनमत के अन्य अनुयायी वैश्य जाति में सम्मिलित हो गए हों। जैनमत पर भी पौराणिक धर्म की छाप लगी। मध्यकाल से बहुत पूर्व इसकी दो शाखाएँ—दिगम्बर तथा श्वेताम्बर—हो गई थीं। चौबीस तीर्थंकरों की व्यवस्था ने अवतारवाद के साथ समता प्रदर्शित की। तप और त्याग तो भारतीय अध्यात्म के मूल सिद्धान्त थे ही, मूर्ति-पूजा का भी उसमें प्रवेश हो गया और ईश्वरवाद का निषेध करते हुए भी इस मत में आस्तिकता का सन्निवेश हो गया। दर्शन तो एक

ओर संकुचित होकर रह गया, जनमत ने अपनी आवश्यकता तथा सुविधा के अनुसार इस मत को एक नए साँचे में ढाल दिया। इस मत के प्रसार में ब्राह्मणों ने भी कोई बाधा नहीं डाली। इसके दार्शनिक ग्रन्थ बहुत दिनों से संस्कृत में ही लिखे जाने लगे थे और संस्कृत पर ब्राह्मणों का ही अधिकार था। चन्द्रप्रभा ने (११०० ई० = सं० ११५७ वि०) 'दर्शनशुद्धि' तथा 'प्रेमरत्न' कोश लिखे। हरिभद्र सूरि ने 'सुदर्शन समुच्चय', 'न्यायावतारवृत्ति', 'योगविन्दु' और 'धर्मविन्दु' तथा मल्लिसेन ने 'स्याद्वाद मंजरी' लिखी। हेमचन्द्र ने अपने पांडित्य तथा अथक परिश्रम से इस मत की प्रगति में योग दिया। गुजरात के सम्राट जयसिंह सिद्धराज (१०९५-११४३ ई० = सं० ११५२-१२०० वि०) तथा कुमारपाल हेमचन्द्र के समकालीन थे। जयसिंह विद्या प्रेमी और सहिष्णुता का प्रतीक था। शैव होते हुए भी वह अन्य मतावलम्बियों के प्रवचन कराया करता था। हेमचन्द्र के प्रति उसकी अगाध श्रद्धा थी। कुमारपाल ने तो आचार्य के सशक्त धर्म-निरूपण से ही प्रभावित होकर स्वयं जैनमत ग्रहण किया था। यह जैनमत का प्रभाव था कि उसने अपने राज्य में पशुवध का पूर्णतया निषेध कर दिया। गुजरात, राजपूताना तथा उसके सन्निकट प्रदेशों में ही जैन मत के अनुयायियों के केन्द्र रहे और वे वर्तमान काल तक विद्यमान हैं।

बौद्धमत——महायान

जैनमत के समान बौद्धमत भी दो शाखाओं——महायान तथा हीनयान——में विभाजित हो गया। कई कारणों से महायान ही इस देश में लोकप्रिय सिद्ध हुआ; परन्तु जो रूप महायान सम्प्रदाय को सम्राट कनिष्क के समय दिया गया था, कालान्तर में उसमें अनेकानेक परिवर्तन हो गए। आचार्य नागार्जुन ने शून्यवाद का प्रतिपादन किया तो अश्वघोष, वसुबन्धु, मैत्रेय तथा असंग ने विज्ञानवाद का प्रचार किया। महायान-दर्शन के अन्तर्गत ही बोधिसत्व-आदर्श का विकास हुआ जिसका बहुमुखी प्रभाव आगे आने वाली प्रवृत्तियों पर भरपूर पड़ा। सर्वप्रथम अवलोकितेश्वर की कल्पना की गई। यद्यपि इनमें बुद्ध के समान ही दस बल और चार वैशारद्य थे, परन्तु पद में ये बुद्ध से नीचे थे। लेकिन जब मंजुश्री का आविर्भाव हुआ तब अवलोकितेश्वर करुणा के प्रतीक और मंजुश्री प्रज्ञा के प्रतीक माने गए। आरंभ में करुणा का प्रज्ञा से उच्च स्थान था, परन्तु शीघ्र ही यह क्रम बदल गया। जब महायान ने योग को अपना लिया तब बोधिसत्व को महायोगी माना गया। इस प्रकार बोधिसत्व की कल्पना श्रौत परम्परा के पौराणिक तत्वों के साथ समन्वय स्थापित करती हुई ब्रह्म की ओर मुड़ी और आगे चल कर भक्ति में परिणत हो गई।

महायान सम्प्रदाय की प्रगति व्यापक रूप में हुई। एक ओर तो वह भारत के समस्त उत्तरी भाग में फैला और दूसरी ओर मध्य एशिया से लेकर ईरान होता हुआ सुदूर अरब तक प्रसृत हुआ। संभवतः मूर्ति-पूजा इसी की देन है। महायान के अन्तर्गत भगवान बुद्ध एक प्रकार के ईश्वर बन कर पूजा और श्रद्धा के पात्र बन गए। बुद्ध स्वयंभू तथा जगत के संतारक और उद्धारक हो गए। उनकी कृपा भागवती कृपा हो गई। अपने भक्तों और शरणागतों का भार उन्होंने अपने ऊपर ले लिया। इन कल्पनाओं के अनुसार महायान सम्प्रदाय में साधना के सिद्धान्त भी निर्धारित कर दिए गए। बुद्ध-काया के तीन रूपों की कल्पना की गई——(१) धर्म-काया, (२) सम्भोग-

काया तथा (३) निर्माण-काया। धर्म-काया ब्रह्म का दूसरा रूप है। तीनों लोकों में अभिव्यक्त होते हुए भी धर्म-काया सभी आवासों, क्लेशों और संस्कारों से मुक्त अनादि, अनन्त, अजर, अमर, अपरिवर्तशील होती है। गीता के वाक्य **'नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादि'** में हूबहू इसी का चित्रण मिलता है। सम्भोग-काया में आनन्द अथवा करुणा की प्रधानता होती है, यह रूप बोधिसत्वों का है। पौराणिक देवताओं से इनकी बहुत-कुछ समानता है। निर्माण-काया में बुद्ध मानुषी रूप धारण कर संसार के अनुरूप जीवन व्यतीत करते हैं। यह कल्पना अवतारवाद के सन्निकट है।

अपनी आध्यात्मिक प्रगति को अग्रसर करने के पूर्व बोधिसत्व को बोधिचित्त का उत्पादन करना पड़ता है। इसके लिए उसे छः पारमिताओं की साधना करनी पड़ती है। ये इस प्रकार हैं—दान, शील, शान्ति, वीर्य, ध्यान तथा प्रज्ञा। इनमें से प्रज्ञा अन्तिम और अत्यन्त महत्वपूर्ण है। परन्तु यह चर्या जन-सुलभ नहीं हो सकती, अतः जनसाधारण के लिये सरल मार्ग बताए गए। शान्तिदेव (सातवीं शताब्दी ई०) ने 'शिक्षा-समुच्चय' तथा 'बोधिचर्यावतार' में बोधिचित्त की उत्पत्ति के लिए भक्ति को आवश्यक मानते हुए व्यावहारिक रूप से छः क्रियाओं पर जोर दिया है—(१) बुद्ध और बोधिसत्वों की पूजा और वन्दना। साधक यह प्रतिज्ञा करता था कि 'मैं अपने आपको बुद्ध को समर्पित करता हूँ। मैं अपने सम्पूर्ण हृदय से बोधिसत्वों के प्रति आत्म-समर्पण करता हूँ। मैं प्रेम द्वारा तुम्हारा दास हो गया हूँ।' यह **'बुद्धं शरणं गच्छामि'** का नवीन रूप है। (२) शरण-गमन जिसमें साधक यह कहता है कि 'मैं तुम्हारी शरण में हूँ।' इस प्रकार की अनुभूति साधक को प्रत्येक क्षण करनी चाहिए। यह है **'संघं शरणं'** का रूप। संघ की जगह बोधिसत्व ने ले ली। (३) पाप-देशना अथवा अपने पाप कर्मों को याद करना, अपने अपराधों को स्वीकार करना और बोधिसत्व की सहायता की याचना करना। (४) पुण्यानुमोदन तथा दूसरे के पुण्य कर्मों को देखकर प्रसन्न होना, उनकी प्रशंसा करना और उनका अनुसरण करना। (५) अध्येषण, प्रार्थना और याचना करना। (६) आत्मभावादि का परित्याग तथा अहंभाव के निरोध का प्रयत्न करना।

तंत्र-मंत्र

कालान्तर में महायान के साधना-पक्ष के दो रूप हो गए —(१) पारमित नय तथा (२) मंत्र नय। पारमित नय की धारा तो धीरे-धीरे मन्द पड़ गई, परन्तु मंत्र नय में पुरातन काल से प्रचलित तांत्रिक धर्म-साधनाओं का प्रवेश हुआ और फलस्वरूप वज्रयान का विकास हुआ। सर्वप्रथम अवलोकितेश्वर और अन्य बोधिसत्वों पर भैरवी-चक्र का निर्माण हुआ, फिर स्त्री-सम्भोग की धारणा आई। इस प्रकार मंत्र, हठयोग और मैथुन यह तीनों ही तत्व एक नवीन मत के प्रतिष्ठित अंग बन गए। वज्रयान की परम्परा को नियमित रूप देने तथा उसके प्रचार करने का श्रेय सरहपा को दिया जाता है। मध्ययुग में, जिसको तंत्रकाल के नाम से भी संबोधित किया जाता है, वज्रयान का अधिक विस्तार हुआ। अनेक आचार्यों ने भिन्न-भिन्न विचारधाराओं तथा पद्धतियों का प्रचार किया। इसमें नाना प्रकार के शैव, शाक्त और वैष्णव देवी-देवताओं को ग्रहण किया गया। इस प्रकार इसके इतने रूप-रूपान्तर हो गए कि जिनका एक श्रृंखलाबद्ध चित्र प्रस्तुत करना संभव नहीं। फिर भी वज्रयान की दो प्रवृत्तियों की ओर संकेत करना आवश्यक मालूम

होता है—(१) सहजयान में तंत्र-मंत्र का निषेध किया गया है। सहज में महासुख की साधना का निर्देश किया गया है। इस सम्प्रदाय में नृत्य, संगीत, संधवाद परिवर्तित रूप में उतर आया। शक्ति का भय हट गया, करुणा ने प्रेम की ओर अग्रसर होने में योग दिया। व्यक्ति में प्रेम की भावना इतनी बढ़ गई कि वह अपने भीतर ही पूर्णत्व का प्रयत्न करने लगा। इस पद्धति के अनुसार पाषंड का खंडन हुआ और देवताओं को व्यर्थ ठहराया गया। (२) कालचक्रयान वास्तव में योग-मार्ग है और उसमें योग-साधना की व्याख्या की गई है। इस पद्धति का कब प्रादुर्भाव हुआ इस विषय में विद्वानों में मतभेद है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इसका मूल स्रोत तिब्बत है। यहाँ दसवीं या ग्यारहवीं शताब्दी ई० में अतिश ने इसका रूप निर्धारित किया। इस पद्धति के अनुसार काल ही वज्रज्ञान है, तथा आदि बुद्ध ही कालचक्र है। वह करुणा तथा शून्य रूप है। काल देह ही में स्थित है तथा उसका रूप प्राणवायु है। उसकी साधना चक्रों और नाड़ियों द्वारा की जाती है। सहजयान तथा कालचक्रयान ने मिलकर सिद्धों की विचारधाराओं पर गहरा प्रभाव डाला।

सिद्ध-साधना

वास्तव में धार्मिक दृष्टि से राजपूत-काल को सिद्ध-सामन्त-नाथ युग कहना ही उचित है। इस समय निम्न जातियों तथा ब्राह्मण-विरोधी दलों ने एक प्रचंड विकंपन पैदा कर दिया था। यदि सिद्धों की जीवनियों पर दृष्टिपात किया जाय तो यह स्पष्ट हो जायगा कि इनमें से अधिकतर निम्न जातियों के थे। सरहपा या तो शूद्र थे और यदि ब्राह्मण भी थे तो उन्होंने शूद्र-कन्या से विवाह किया था। शबरपा नर्तक जाति के थे, लुईपा संभवतः कायस्थ थे। बंगाल में गंगा-तट पर मछलियों का ढेर देख कर उनको खा कर ही उन्हें सिद्धि प्राप्त हुई थी। तिलोपा तेली थे। मीनपा मछुवा थे। सिद्धमत में साधना का बहुत बड़ा महत्व है। साधना के द्वारा ही सिद्धि प्राप्त होती थी। साधना के भिन्न रूप थे जिनमें से कुछ बाहर से देखने में पापमय मालूम होते हैं। पूर्ववर्ती समस्त क्रियाएँ, जो तंत्र से संबंधित थीं, इस मत में प्रवेश कर गईं। सिद्ध लोग संसार और मन को एक ही मानते थे। उनका कहना था कि मन के द्वारा ही सांसारिक बन्धनों से निर्वाण की प्राप्ति होती है। मन के बन्धन हैं कर्म। ज्ञान से कर्मों का नाश होता है। मन की चंचलता मिटाने के लिए सहज-बोधि को जाग्रत करना आवश्यक है। जागृति प्राप्त करने के लिए विशोधन, हनन, हठयोग इत्यादि साधनों का सहारा चाहिए। परन्तु इस सहारे का उपयोग बिना गुरु के नहीं किया जा सकता। इस प्रकार सिद्ध-पद्धति में गुरु का बहुत महत्व है। यद्यपि व्यक्तिगत रूप से सिद्धों के समय का ठीक निर्णय करना उपलब्ध सामग्री के आधार पर कठिन है, फिर भी यह कहना अनुचित न होगा कि समस्त राजपूत-काल में सिद्धों का प्रभाव व्यापक रहा। मंत्र-तंत्र की सहायता से सिद्ध लोग असाधारण शक्ति प्राप्त करके दिखाते थे। एक सिद्ध डोम्बिपा नाम के हैं, जिन्हें सिंह पर सवार तथा हाथ में सर्प का कोड़ा लिए चित्रित किया गया है। ऐसी ही जनश्रुति एक सूफी साधु के संबंध में है। सिद्धमत का प्रचार-क्षेत्र बंगाल से पंजाब तक और नैपाल से तंजौर तक फैल गया।

नाथपंथ

तांत्रिक महायान ने एक और सम्प्रदाय में योग दिया। इसका नाम नाथपंथ या अवधूत मत है। इस मत के प्रवर्तक आदिनाथ अथवा स्वयं शिव ही माने जाते हैं और इसके प्रचारक

आचार्यों के नामों के अन्त में अधिकतर नाथ शब्द जुड़ा रहता है। सिद्धमत से नाथपंथ का गहरा संबंध रहा है। कुछ प्रवर्तकों के नाम दोनों में एक ही हैं, जैसे, मीननाथ, सिद्धपाद, जालंधर-नाथ। सिद्ध तो संभवतः चौरासी हुए हैं और कम-से-कम इसके आधे नाथों की नामावली प्राप्त है। वास्तव में सिद्धों तथा नाथों में भेद करना कठिन है। आदिनाथ के बाद मत्स्येन्द्रनाथ का नाम आता है। इनका प्रादुर्भाव नवीं शताब्दी ई० में किसी समय हुआ। संभव है कि आरंभ में ये साधक सिद्ध रहे हों, परन्तु आगे चलकर इन्होंने ऐसे आचार को ग्रहण किया जिसमें स्त्रियों का साहचर्य प्रधान था। एक ओर ये गोरक्षनाथ के गुरु माने जाते हैं और दूसरी ओर कौलमत के प्रवर्तक। नाथ सम्प्रदाय में सिद्धियों और चमत्कारों का तो स्थान है, परन्तु भोग-विलास का नहीं। नाथपंथी योग-साधन करके समाधि के अन्त में निर्विकल्पक आनन्द अनुभव करते हैं। परन्तु कौलमार्गी पंच मकारों को ग्रहण करते हुए श्री-सुन्दरी की साधना का व्रत लेकर अपने लक्ष्य को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार मत्स्येन्द्रनाथ का यह द्विमुखी चित्र तथा चरित्र कुछ आश्चर्यजनक-सा प्रतीत होता है। इनके शिष्य थे गोरक्षनाथ। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि यह दसवीं शताब्दी ई० में हुए हैं, परन्तु इस अनुमान को ऐतिहासिक प्रमाण प्राप्त नहीं है। यह भी कहा जाता है कि शंकराचार्य के बाद इतना प्रभावशाली और इतना महिमान्वित महापुरुष भारतवर्ष में दूसरा नहीं हुआ। परन्तु यह निष्कर्ष भी दन्तकथाओं तथा साहित्य में आए हुए संकेतों पर आधारित है। गोरक्षनाथ ने हठयोग का उपदेश दिया है जिसके अनुसार साधक प्राणवायु को रोककर कुण्डलिनी को जाग्रत करता है। जाग्रत कुण्डलिनी क्रमशः षट्चक्रों को भेदती हुई अन्तिम चक्र में पहुँचकर शिव से जा मिलती है। यही है परम आनन्द, आत्मा और परमात्मा की अभेद सिद्धि। यद्यपि गोरक्षनाथ की मृत्यु के पश्चात् ही उनके द्वारा प्रवर्तित मत छोटे-छोटे भागों में विभाजित हो गया और नौबत यहाँ तक पहुँची कि उसका सार लुप्त हो गया, लेकिन इसमें संदेह नहीं कि भारतवर्ष में उसका प्रभाव विस्तृत था। इस पंथ के कुछ अनुयायी, जिनकी वेदों में आस्था न थी, आगे चलकर इस्लाम धर्म में प्रविष्ट हो गए। जोगी नाथ सम्प्रदाय के ही मानने वाले थे। धर्म-परिवर्तन उनकी पुरानी विश्वास-प्रणाली पर अधिक प्रभाव न डाल सका।

शैवमत

ऊपर के कथन से यह नहीं समझ लेना चाहिए कि धार्मिक क्षेत्र केवल महायान के रूपान्तर से ही आच्छादित था, यद्यपि इसमें सन्देह नहीं कि इन मतों का जनता पर विशेष प्रभाव था, क्योंकि जनता को अपनी दैनिक कठिनाइयों का हल इनमें दृष्टिगोचर होता था। तंत्र-मंत्र से दुःख-निवारण होता है, योगी के दर्शन से पुण्य की प्राप्ति होती है—यही विश्वास लोगों के हृदय में घर किए हुए था। यद्यपि यह युग सिद्धि और तंत्र का था, फिर भी इन्हीं पद्धतियों से प्रभावित तथा व्यक्तिगत रूप से भी इस देश में अनेक और मत भी प्रचलित थे। शैव सम्प्रदाय तो प्राचीन काल से चला आ रहा था। प्रमुख शैव सिद्धान्त तीन हैं—काश्मीर, दक्षिण तथा वीर। सहस्रों मील का अन्तर होते हुए भी उत्तर और दक्षिण के शैवमत में कोई मौलिक अंतर नहीं है। तांत्रिक सम्प्रदाय का प्रारंभ नवीं शताब्दी में काश्मीर में माना जाता है। विकसित रूप में इसकी दो शाखाएँ हो गईं—(१) स्पन्द तथा (२) प्रत्यभिज्ञ। स्पन्द शाखा के सिद्धान्तों का वसुगुप्त

(८५० ई० = सं० ९०७ वि०) ने प्रतिपादन किया तथा इसका साहित्यिक नाम शिवसूत्र पड़ा। उत्पलदेव (१००० ई० = सं० १०५७ वि०) ने 'स्पन्दप्रदीपिका' और क्षेमराज ने 'स्पन्दनिर्णय' की रचना की। स्पन्द विचार-पद्धति के अनुसार शिव ही सृष्टि के कर्त्ता हैं, परन्तु उसके भौतिक कारण नहीं। सृजन-कार्य से उन पर कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता। मुक्ति प्राप्त करने के तीन साधन हैं—शाम्भव, आर्णव तथा अर्थस। प्रत्यभिज्ञान के सिद्धान्तों का प्रतिपादन सोमानन्द ने ८५० ई० (सं० ९०७ वि०) में किया। इस शाखा का सर्वमान्य आधार-ग्रन्थ अभिनवगुप्त रचित 'ध्वन्यालोक-लोचन' है। इसके अतिरिक्त भी उन्होंने अनेक ग्रन्थ लिखे जिनसे तांत्रिक सम्प्रदाय का साहित्य-भंडार परिपूर्ण हुआ। इस सम्प्रदाय के अनुसार जीवात्माओं में पारस्परिक विभिन्नता होते हुए भी वे शिव से विभिन्न नहीं हैं। वातावरण तथा अन्य मतों के सम्पर्क में आने के कारण शैव मत ने भी अनेक रूप धारण किए और इन रूपों के सहारे वह समस्त उत्तर भारत में व्याप्त हो गया। ऊपर संकेत किया जा चुका है कि राजपूत शासकों की इसमें अगाध निष्ठा थी। राजा भोज (१००५—१०५४ ई० = सं० १०६२–११११ वि०) ने तो 'तत्वप्रकाश' नामक एक प्रामाणिक ग्रन्थ भी लिखा है। नेपाल में शैव सम्प्रदाय ने नाथपंथ में योग दिया, सिद्ध सम्प्रदाय ने महायान तथा शैव सम्प्रदाय के सम्मिश्रण से लाभ उठाया और परिवर्तित रूप में जनता में उसका प्रचार किया। सैद्धान्तिक रूप में इसको उच्च वर्ग ने अपनाया। शैवमत के प्रसार से बौद्धमत को धक्का लगा। ध्यानी बुद्ध तथा योगी शिव में कोई अन्तर नहीं जान पड़ता। नेपाल में अनेक मूर्तियाँ ऐसी हैं जिनके संबंध में यह निर्णय करना कठिन है कि वे शिव की हैं या बुद्ध की। शैवों ने बुद्ध विहारों पर अधिकार जमा लिया। बुद्ध भगवान शिव के रूप में अन्तर्धान हो गए। यह था शैवमत के आधिपत्य का प्रभाव।

शाक्तमत

पौराणिक परम्परा के अन्तर्गत लगभग प्रत्येक देवता के साथ शक्ति-रूपी देवी की कल्पना की गई है। वैसे तो यजुर्वेद में भी रुद्र के साथ मातृरूपी अम्बिका का उल्लेख आता है, परन्तु इस प्रसंग में अम्बिका को रुद्र की बहन माना गया है, न कि उसकी अर्धांगिनी। अन्त में भावनाओं में परिवर्तन होने के कारण देवी अम्बिका को रुद्र की पत्नी का पद प्राप्त हुआ और उसका संबंध पर्वत से जोड़ दिया गया तथा नवीन रूप में उसका नाम पार्वती, हेमवती तथा उमा पड़ा। यह नामकरण शैवमत पर पहाड़ी प्रभाव की ओर संकेत करता है। धीरे-धीरे शिव तथा शक्ति में अटूट नाता स्थापित हो गया। शक्ति ही सृष्टि-रचना की आधारभूत या जननी ठहराई गई। कालान्तर में शक्ति की दो रूपों में कल्पना की गई—श्वेत वर्ण तथा श्याम वर्ण। उमा श्वेत वर्ण की मानी गई। उसका स्पष्ट कारण यह है कि पहाड़ों की ऊँची श्रेणियों पर रहने वाले पुरुष तथा नारियाँ गौर वर्ण के होते हैं और जब देवताओं की शारीरिक रूपरेखा की कल्पना मनुष्यों के समान की गई तो उमा का गोरा रंग स्वाभाविक ही प्रतीत होता है। श्याम वर्ण वाली देवियों में काली, कराली, चामुण्डा और चण्डी की गणना होती है। इस रूप में भी वह माता ही समझी जाती है, परन्तु ऐसी माता जो दुष्टों का संहार करती है और जिसकी आकृति भयंकर होती है, जिसको प्रसन्न करने के लिए तरह-तरह की बलि का विधान है।

सैद्धान्तिक दृष्टि से शक्ति ब्रह्म की प्रतीक ही नहीं, वरन ब्रह्म और शक्ति दोनों एक ही हैं।

तंत्र इसी भावना से ओतप्रोत है। जब तांत्रिक और शैवमत का संपर्क हुआ तब दोनों के सम्मिश्रण से शाक्तमत का प्रादुर्भाव हुआ। कालान्तर में इस मत के आचार दो विभागों में बँट गए। दक्षिणाचार के अनुसार प्रभात के समय संध्या, मध्याह्न में जप, दुग्ध तथा शर्करा का पान, रुद्राक्ष की माला धारण करना साधक के लिए अनिवार्य माना गया। यह एक प्रकार से गौर वर्ण शक्ति की आराधना थी। इसके प्रतिकूल वामाचार में तामसी उपासना का विधान है। इसमें पशु-बलि तथा गुरु का विशेष महत्व है। गुरु-दीक्षा के बिना सिद्धियों की प्राप्ति असंभव मानी गई। इसके अतिरिक्त वामाचार में पाँच मकारों का भी विधान है। इन मकारों को कार्यरूप में परिणत करने के लिए भैरवी-चक्र की योजना की जाती थी। चक्रों में वर्ण-जाति के भेद का विचार नहीं होता था। ये चक्र तीन प्रकार के होते थे—वीर, राज और देव। वीरचक्र में किसी भी रजस्वला कन्या की गणना हो सकती थी। राजचक्र में यामिनी, योगिनी, रजकी, श्वपची, कैवर्तकी नारी का शक्ति-रूप में व्यवहार किया जाता था। देवचक्र में राजवेश्या, नागरी, गुप्तवेश्या, देववेश्या तथा ब्रह्म-वेश्या सम्मिलित होती थीं। इस प्रकार जब सिद्ध लोग हठयोग तथा संयम से कुंडलिनी को जाग्रत करते थे, शाक्त सम्प्रदाय वाले इसी कार्य को भोग द्वारा सम्पन्न करते थे। चक्रों तथा कुंडलिनी का स्थान दोनों सम्प्रदायों में समान है, परन्तु साधनाओं के रूप में विभिन्नता है। दार्शनिक विचार से शाक्तमत का पथ तलवार की धार के समान पैना है तथा भोग का अर्थ इन्द्रियों की तृप्ति नहीं, बल्कि वासना का संहार है। परन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि भैरवी-चक्र के अनुयायियों ने शाक्तमत के आदर्शों को दूषित कर दिया। जनसाधारण के लिए गूढ़ तत्व को समझना दुष्कर था। वे मत के बाह्य आवरण से ही प्रभावित हुए। विशेष कर बंग प्रदेश में शाक्तमत का अधिक प्रचार हुआ। इसका मुख्य कारण महायान-परम्परा है। अन्य उत्तरी प्रदेशों में भी थोड़ा-बहुत प्रचार हुआ। तंत्र तथा शाक्त सम्प्रदायों से मिलकर भारत के सांस्कृतिक क्षेत्र में दो विचार-धाराओं का प्रादुर्भाव हुआ—एक का संबंध वीर रस से है और दूसरी का श्रृंगार रस से। राजपूतों का समस्त जीवन इन्हीं दो रसों से पगा हुआ था। शाक्त मत की हिंसात्मक प्रवृत्तियाँ उनको रक्तपात की ओर प्रोत्साहित करती थीं तथा विलासमयी प्रवृत्तियाँ भोग की ओर।

नूतन वैष्णवमत

सर्वशक्तिमान, सृष्टि तथा प्रलय, देवताओं की उत्पत्ति तथा पूजा, स्वर्ग, नरक, देवता, स्त्री, पुरुष, शरीर-स्थित चक्र, शास्त्र तथा धर्म, आश्रम, देवता-मूर्ति, मंत्र, यंत्र, मुद्रा, साधना, उपासना, जादू, ध्यान, योग, विज्ञान, इत्यादि सभी तंत्रों के अन्तर्गत आ गए। तंत्र के रूप-रूपान्तरों ने प्रत्येक वर्ग की आध्यात्मिक तथा भौतिक पिपासा को तृप्त किया। शाक्तमत के प्राबल्य ने प्राचीनता को एक ऐसा धक्का दिया जो असह्य था। परन्तु ब्राह्मण धर्म ने इस पर भी अपनी छाप लगा कर इसे टकसाली मत में परिणत कर लिया। इसी समय पुराणों का पुनः प्रतिपादन हुआ और इनमें पाँच देवताओं के प्रति स्तोत्र लिखकर सम्मिलित किए गए। वैदिक धर्म ने एक नया रूप धारण किया। इसको इतिहासकार नूतन वैष्णवमत कहते हैं। अन्य मतों के समान इसके मूलाधारों में भी कई विचार-धाराओं और परम्पराओं का सम्मिश्रण है, परन्तु इसके सिद्धान्तों में अहिंसा पर अधिक बल दिया गया। पशु-बलि तथा आमिष भोजन का निषेध किया गया।

काश्मीर का राजा अवन्तिवर्मन परम वैष्णव था और उसने अपने राज्य में पशु-हत्या की मनाही कर दी थी। राजा भोज तथा उसका पौत्र दोनों ही परम वैष्णव थे। बंगाल का लक्ष्मणसेन भी परम वैष्णव था। फिर भी सामान्य रूप से यह मत क्षत्रियों को रुचिकर न हुआ। उनकी प्रकृति तथा परम्परा के अनुकूल तो शैवमत ही था।

वैष्णव सम्प्रदाय का मुख्य ग्रन्थ 'पंचरात्र संहिता' है। इसके मानने वाले मन्दिरों में जाना, पूजा की सामग्री इकट्ठा करना, पूजा करना, स्वाध्याय तथा योग से भगवान का साक्षात्कार करना अध्यात्मवाद का ध्येय समझते थे। धीरे-धीरे वैष्णवों ने विष्णु के चौबीस अवतारों की कल्पना की—मत्स्य, कूर्म, धन्वन्तरि, ब्रह्मा, नारद, नारायण, कपिल, दत्तात्रेय, ऋषभदेव, पृथु, मोहिनी, नृसिंह, वामन, परशुराम, वेदव्यास, राम, बलराम, कृष्ण, बुद्ध, कल्कि, हंस, हयग्रीव और यज्ञ। इनमें से दस अवतार मुख्य माने गए। इन अवतारों की तालिका से वैष्णव संप्रदाय पर बौद्ध तथा जैन मतों का प्रभाव स्पष्ट है तथा इसमें सन्देह नहीं रह जाता कि अवतारवाद २४ बुद्धों अथवा २४ तीर्थंकरों का दूसरा रूप है। मूर्ति-पूजा का सिलसिला तो महायान सम्प्रदाय से ही चल निकला था, प्रत्येक मत ने अपनी-अपनी कल्पना के अनुसार इसकी रूपरेखा में परिवर्तन कर इसको अपना लिया। यदि शैवों ने मूर्तियों को मन्दिरों में स्थापित किया तो वैष्णव भला कब पीछे रहने वाले थे। हजारों की संख्या में वैष्णव सम्प्रदाय के मन्दिर बने और इनमें नाना प्रकार की मूर्तियाँ स्थापित की गईं। विष्णु की चौदह और चौबीस हाथ वाली आकृति की कल्पना के अनुसार मूर्तियों का निर्माण किया गया तथा उनके हाथों में भिन्न-भिन्न आयुध दिए गए। इसी प्रकार ब्रह्मा की मूर्ति भी बनाई गई। धीरे-धीरे ब्रह्मा, शिव और विष्णु एक ही परमात्मा के रूप मान लिए गए और त्रिदेव की पूजा होने लगी। अट्ठारह पुराण इन्हीं तीन देवताओं के संबंध में हैं। इनके अतिरिक्त गणेश, स्कन्द, सूर्य, अष्ट दिक्पालों का तो कहना ही क्या; ग्रह, नक्षत्र, शास्त्रों, नदियों, युगों तक की मूर्तियाँ बना डाली गईं। अन्त में हिंदुओं के पाँच मुख्य देवता—सूर्य, विष्णु, देवी, रुद्र और अग्नि—रह गए, जिन्हें सामान्य रूप से पंचायतन कहते हैं। जिस देवता का मन्दिर होता है उसकी मूर्ति मध्य में और चारों कोनों में अन्य चार देवताओं की मूर्तियाँ होती हैं। इन मूर्तियों तथा मन्दिरों के आकार और सजावट में कारीगरी के दृष्टिकोण से कोई बात उठा नहीं रखी गई है। शिल्पियों ने अपनी कुशलता का भरपूर प्रदर्शन किया है। देवालय पवित्रता के केन्द्र तो थे ही, इसके साथ-साथ उनमें सुरक्षा का भी प्रबन्ध रहता था। प्रतिमाओं के वस्त्र-आभूषण बहुमूल्य होते थे। इस सम्बन्ध में सोमनाथ के देवालय तथा मूर्ति का उदाहरण दिया जा सकता है। वह इतने रत्नों से सुसज्जित था कि महमूद गजनवी अपने लालच को रोक न सका और उसने प्रतिमा का विध्वंस करके अपने राजकोष को मालामाल किया। कभी-कभी राजागण सुरक्षा के हेतु अपनी बहुमूल्य वस्तुएँ देवालयों में लाकर रख दिया करते थे। धनराशि के लोभ से ही प्रेरित होकर तुर्क आक्रमणकारियों ने सैकड़ों मन्दिरों को तोड़ा।

वेदान्त

धर्म-दर्शन के क्षेत्र में इस काल में वेदान्त धर्म का अधिक विकास हुआ। विभिन्न आचार्यों ने वेदान्त सूत्र का अपने-अपने दृष्टिकोण से भाष्य करके कई सम्प्रदाय चलाए। परन्तु इन सबका

आधार भक्ति थी। रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैतवाद प्रचलित किया। इसके अनुसार यद्यपि ब्रह्म, जीवात्मा और जगत तीनों मूलतः एक ही हैं, फिर भी सामान्य रूप से एक दूसरे से भिन्न और विशिष्ट गुणों से युक्त हो जाते हैं। जीव और ब्रह्म का वही संबंध है जो सूर्य और किरण का है। जिस प्रकार किरण सूर्य से निकलती है, उसी प्रकार जीव भी ब्रह्म से निकला हुआ है। परन्तु इस सूक्ष्म भेद को समझना सरल न था। इस ध्येय को लेकर मध्वाचार्य ने द्वैतवाद का प्रचार किया और ब्रह्म, जीव तथा प्रकृति को पृथक-पृथक सिद्ध किया। राम और सीता की मूर्तियों की पूजा पर जोर दिया। इस सम्प्रदाय में वैराग्य, शम, शरणागति, गुरु-सेवा, गुरुमुख से अध्ययन, परमात्म-भक्ति, अपने से बड़ों के प्रति भक्ति, समवयस्कों से प्रेम और अपने से छोटों पर दया, यज्ञ, संस्कार, सब कार्य हरि को समर्पित करना तथा उपासना आदि अनेक साधनों से मोक्ष प्राप्त करने का सिद्धान्त बताया गया है। इसके अतिरिक्त बारहवीं शताब्दी ई० में निम्बार्क ने द्वैताद्वैत अर्थात् द्वैत और अद्वैत दोनों का सम्मिश्रण करके एक और सम्प्रदाय की स्थापना की। इसके अनुसार ब्रह्माण्ड तथा ब्रह्म में ऐक्य भी है और विभिन्नता भी। ब्रह्माण्ड में जीवात्मा और प्रकृति दोनों सम्मिलित हैं। जीवात्माएँ ब्रह्म के अधीन हैं तथा मुक्त अवस्था में भी ब्रह्म में मिली हुई और ब्रह्म से अलग रहती हैं। ब्रह्म के वास्तविक रूप को समझना ही मोक्ष है तथा इसकी प्राप्ति ज्ञान और प्रपत्ति द्वारा ही संभव है। राधा और कृष्ण ब्रह्म के स्वरूप हैं। इनकी पूजा तथा आराधना ही मनुष्य का कर्त्तव्य है।

धार्मिक आदर्श और व्यवहार

शैव, वैष्णव, सिद्ध, तांत्र तथा शाक्त मतों ने मिलकर भारत में एक गहन वन का दृश्य प्रस्तुत कर दिया। इस वन में प्रत्येक वृक्ष अपनी शाखाओं को दूर-दूर तक फैलाने का प्रयत्न करता है, किन्तु एक दूसरे की जड़ों को नष्ट नहीं करता। आर्य तथा आर्येतर जातियों की उच्च दार्शनिकता तथा निम्न कोटि के अन्धविश्वास परस्पर हिल-मिलकर एक हो गए। धर्म और सम्प्रदायों के इन्हीं उलझे हुए स्वरूपों ने यहाँ की संस्कृति की रक्षा की। विद्वेष और असहिष्णुता रहते हुए भी सहिष्णुता का लोप नहीं हुआ; अनेक में एक और एक में अनेक की परिपाटी स्थिर रही। कन्नौज के गहड्-वाल-वंशी परम शैव राजा गोविन्दचन्द्र ने दो बौद्ध भिक्षुओं को विहार के लिए छः गाँव दिए थे। बौद्ध राजा मदनपाल ने अपनी स्त्री को रामायण सुनाने के लिए एक ब्राह्मण को एक गाँव दान में दिया था। गोविन्दचन्द्र की स्त्री बौद्ध थी। इस प्रकार के और भी बहुत से उदाहरण दिए जा सकते हैं। परन्तु यह चित्र का केवल एक ही पटल है, यदि हम दूसरी ओर ध्यान दें तो दूसरा ही रूप प्रदर्शित होता है। साम्प्रदायिक विभिन्नता के कारण मोक्ष को छोड़ कर जनसाधारण के समक्ष दूसरा ध्येय, कोई और उत्साहपूर्ण आदर्श शेष नहीं रह गया था। इसका यह अभिप्राय नहीं कि समस्त जनता अध्यात्मवाद में विभोर हो गई थी। इसके विपरीत वह अंधविश्वासों तथा आडंबरों के विस्तृत जाल में फँस कर आत्मसत्ता खो बैठी थी। आध्यात्मिक शब्दावली की रूपरेखा तो जैसी की तैसी बनी रही, परन्तु उसके अर्थ बदल गए थे। शंकर की माया का अर्थ ब्रह्म के अज्ञान के बदले संसार की असारता हो गया। परिणामस्वरूप भौतिक और आध्यात्मिक आदर्शों के सन्तुलन में हानिकारक बल पड़ गया। सांसारिक वस्तुओं के प्रति सर्वसाधारण

का मोह तो जहाँ का तहाँ रहा, परन्तु इस मोह के पीछे कोई उत्साह न रह गया। धर्म का पालन इस लोक के लिए नहीं, बल्कि परलोक के लिए किया जाने लगा। जीवन के इस क्षेत्र पर एक प्रकार का आलस्य छा गया। प्रगति की धारा मन्द पड़ गई। परन्तु इस मन्द अवस्था में भी आगे आने वाली क्रान्ति के बीज निहित थे।

सामाजिक संगठन—वर्ण-व्यवस्था तथा जाति-विभाजन

इस समय का समाज भी धर्म के साँचे में ही ढला। वर्ण-व्यवस्था की भित्ति पर ही इसका भवन खड़ा हुआ था। परन्तु वर्ण कर्म के अनुकूल न रहकर वंश-परम्परा के अधीन होकर जातियों तथा उपजातियों के रूप में विकसित हुआ। समाज में ब्राह्मणों का सबसे अधिक मान-सम्मान था। शिक्षा तथा विद्या पर लगभग उनका एकाधिकार-सा था। अबूजैद, अलमसऊदी, अलबेरुनी इत्यादि यात्रियों ने इनकी विद्वत्ता की प्रशंसा की है। वे शासन-कार्य में पर्याप्त भाग लेते थे। मंत्री तो प्रायः ब्राह्मण ही हुआ करते थे और कभी-कभी वे सेनापति का भी पद ग्रहण करते थे। समस्त समाज के आचार-विचार का ब्राह्मण ही निर्देश किया करते थे। उनका व्यवहार शुद्ध, उनका भोजन सात्विक और धर्म तथा अध्यात्म में उनकी विशेष प्रवृत्ति रहती थी। यद्यपि कई कारणों से यज्ञादि में कमी आ गई थी, लेकिन उनके स्थान पर नाना प्रकार के पूजा-पाठ और तांत्रिक विधान दिन प्रतिदिन बढ़ते गए तथा समयानुसार ब्राह्मणों ने इन क्रियाओं को करना और कराना आरंभ कर दिया।

समाज के संगठन और विकास में दो शक्तियों का योग होता है—दार्शनिक तथा क्रियात्मक। ये दोनों शक्तियाँ एक दूसरे से इतनी सम्मिश्रित होती हैं कि यह निर्णय करना कि किस स्तर पर एक का प्रारम्भ हुआ और उसने दूसरे को प्रभावित किया, असंभव-सा प्रतीत होता है। परन्तु इतना कहना अनुचित न होगा कि कर्म के पश्चात् ही दर्शन तथा सिद्धान्तों का प्रादुर्भाव होता है। अतएव जब परिस्थितियों से विवश होकर ब्राह्मण नाना प्रकार के व्यवसाय करने लगे तो स्मृतियाँ भी इसी के अनुकूल लिख दी गईं जिनमें ब्राह्मणों को क्षत्रिय तथा वैश्यों के धन्धों को करने की आज्ञा दे दी गई। अतएव बहुत से ब्राह्मण कृषक, शिल्पी और दूकानदार बन गए। परन्तु वे नमक, तिल, शहद, शराब और मांस आदि पदार्थ नहीं बेच सकते थे। यद्यपि इस काल के आरंभ में ब्राह्मणों का केवल एक ही वर्ण था, लेकिन धीरे-धीरे उनमें उपजातियाँ बनने लगीं और ये भेद क्रमशः बढ़ते गए। इस प्रवृत्ति के कई कारण थे, जैसे, भोजन का भेद, निवास-स्थान का भेद तथा दार्शनिक विचारों का भेद। स्कन्दपुराण में नागर ब्राह्मणों का इतिहास दिया हुआ है और इसी प्रसंग में नागर ब्राह्मण परिवारों की गणना कराई गई है। इस ब्यौरे से यह निष्कर्ष निकलता है कि किस प्रकार से जाति-विभाजन में देश तथा वैवाहिक संबंध ने योग दिया।

उत्तर भारत में नगरकोटिया, मुहियाल, सारस्वत, गौड़, नानौल, कनौजिया, सरयूपारी, श्रीमाली, तिवारी, पुष्कर, मालवीय उपजातियों का उल्लेख इस काल के शिलालेखों अथवा ताम्रपत्रों में मिलता है। अपने पवित्र आचारों तथा शुद्ध धार्मिक वृत्ति के कारण समस्त देश में इनका विशेष आदर-सम्मान था। कुछ राजाओं ने ब्राह्मणों को मध्यदेश से आमंत्रित करके अपने राज्य में बसाया था। कनौजिया ब्राह्मणों को बल्लालसेन ने बंगाल में बसाया, केसरी राजाओं

ने उड़ीसा में तथा मूलराज ने गुजरात में बसाया। इन ब्राह्मणों ने बाहरी प्रदेशों में बस-कर भी अपने को स्थानीय ब्राह्मणों से पृथक रखा और उनसे रोटी-बेटी का संबंध नहीं किया। इस प्रसंग में यह संकेत करना अनुचित न होगा कि गौड़ ब्राह्मणों का बंगाल से कोई संबंध नहीं। थानेश्वर के चारों ओर का प्रदेश किसी समय गौड़ नाम से प्रसिद्ध था तथा गौड़ ब्राह्मण इसी प्रदेश के रहने वाले थे। बंगाली ब्राह्मण इन्हीं के वंशज हैं और इसलिये गौड़ कहलाते हैं। उत्तर भारत की ब्राह्मण उपजातियाँ बहुधा मांसाहारी थीं। इसका प्रमाण अलबेरुनी से मिलता है। उसने लिखा है कि जैसे ईसाइयों को हिंसा करना मना है, इसी तरह ब्राह्मणों को भी। परन्तु वे कुछ पशुओं को गला घोंट कर मार सकते हैं, जैसे भेड़, बकरी, हरिण, गैंडा इत्यादि। बैल, ऊँट, घोड़ा, हाथी तथा पालतू पशु-पक्षी, मछली, अंडा इत्यादि का खाना उनके लिये वर्जित था। लगभग एक शताब्दी पश्चात् मार्कोपोलो ने इस प्रसंग में लिखा है कि ब्राह्मण कुशल तथा सत्यवादी व्यापारी होते हैं। वे न तो मांस खाते है, न मदिरा पीते हैं और शुद्ध जीवन व्यतीत करते हैं। वे सूत का एक धागा पहनते हैं जो कंधे से होता हुआ वक्ष तथा पीठ पर पड़ा रहता है। प्रत्येक साप्ताहिक दिवस के शुभ तथा अशुभ मुहूर्त में विश्वास करते हैं, तथा व्यापार शुभ मुहूर्त में ही करते हैं। वे दीर्घायु होते हैं, क्योंकि वे त्याग का जीवन व्यतीत करते हैं। उनके दाँत बड़े-बड़े होते हैं तथा वे एक प्रकार की पत्ती चबाते हैं। सारांश यह कि उपजातियों में विभाजित हो जाने तथा अपने पैतृक आचार छोड़ देने के बाद भी समाज में ब्राह्मणों का आदर-सम्मान था। समस्त हिन्दू जनता, चाहे वह किसी भी श्रेणी की क्यों न हो, उनको धर्म का रक्षक तथा आचार-विचार का निर्देशक मानती थी और इसमें सन्देह नहीं कि ब्राह्मण जाति ने अपने उत्तरदायित्व को पूर्ण रूप से निबाहा।

ब्राह्मणों के समान क्षत्रिय जाति भी कई समूहों में विभाजित हो गई थी। दो भाग तो उसमें पहले से बन चुके थे——(१) कृषक क्षत्रिय, (२) सैनिक क्षत्रिय। स्पष्ट है कि प्रथम श्रेणी का पद निम्न था। द्वितीय श्रेणी वालों का, जो बहुधा राज्यपाल तथा ग्रामों के संरक्षक होते थे, समाज में ऊँचा स्थान माना जाता था। इस काल में इन्होंने ही राजपूत नाम धारण किया, जिसका अर्थ है——शासक-वर्ग के क्षत्रिय। आरम्भ में ये ब्राह्मणों से भी ऊँचे समझे जाते थे जिसका कि अरब यात्रियों ने उल्लेख किया है। परन्तु अलबेरुनी के समय तक दशा बदल चुकी थी। उसके कथना-नुसार राजपूत जाति ब्राह्मणों से बहुत नीची न थी। राजपूतों को ब्राह्मणों के समान ही वेद और शास्त्र पढ़ने का अधिकार प्राप्त था। राजा भोज और गोविन्दचन्द्र धर्मशास्त्र तथा कामशास्त्र के उतने ही प्रकांड विद्वान् थे जितने कि उनके समकालीन ब्राह्मण। एक अभिलेख में भोज को कविराज कहा गया है। चिकित्सा, ज्योतिष, धर्म, व्याकरण, वास्तु, अलंकार, कोष, कला—— सभी विषयों पर उन्होंने ग्रन्थ लिखे हैं। इसी प्रकार गोविन्दचन्द्र भी न केवल एक प्रतापी सम्राट था बल्कि उच्च विद्वान तथा विद्वानों को प्रोत्साहन एवं संरक्षण देने वाला था। गहड़-वालों के इतिहासों में उसको विविध-विचार-विद्या-वाचस्पति की उपाधि से संबोधित किया गया है। कुछ लोगों ने तो उसको स्वयं वृहस्पति माना है, क्योंकि विज्ञान तथा दर्शन में वह निपुण था। उसके मेधावी सन्धि-विग्रहिक लक्ष्मीधर ने 'व्यवहार-कल्पतरु' की रचना की जो कि कानून का अमूल्य ग्रन्थ माना जाता है।

बारहवीं शताब्दी के आरंभ होते-होते राजपूत तथा शासक-वर्ग की एक विभिन्न जाति बन गई और इस जाति में केवल विशुद्ध क्षत्रिय वंशों की गणना की गई। इस गणना से पंजाब तथा दक्षिण प्रदेश के क्षत्रिय वंचित रहे, कारण यह कि पंजाब उस समय तुर्कों के अधीन था और दक्षिण के शासक वंशों की शुद्धता संदिग्ध थी। उनकी नसों में आर्य-क्षत्रिय रक्त प्रवाहित न था। परन्तु इस गणना में मराठा क्षत्रिय कुल में शामिल कर लिए गए थे और वह इसलिए कि उनके तथा उत्तरीय क्षत्रियों के बीच वैवाहिक संबंध होने लगा था। इस प्रकार राजपूतों में ३६ विशुद्ध वंशों की परम्परा का निर्माण हुआ। कल्हण ने 'राजतरंगिणी' में इसका उल्लेख किया है। सर्वप्रथम राजा गोविन्दचन्द्र गहड्वाल ने इन ३६ वंशों की तालिका बनाई। उस समय के शिलालेखों के अनुसार उसने सूर्य तथा चन्द्रवंशी क्षत्रियों का पुनरुद्धार किया, जिसका अर्थ यह भी हो सकता है कि राजपूत परिवारों को सूर्य तथा चन्द्रवंशी श्रेणियों में विभाजित करके उन्हें महाभारत के समय तथा उसके पूर्व से प्रचलित परम्परा के साँचे में ढाला गया और इस प्रकार इस सम्मिश्रित जाति को भारतीय वर्ण-व्यवस्था के अनुरूप बना लिया गया। इस प्रकार क्षत्रिय वर्ण तीन समूहों में बाँटा गया—(१) ३६ कुल वाले राजपूत जो कि राजपूताना, गुजरात, काठियावाड़, मालवा, उत्तर प्रदेश तथा पूर्वी पंजाब में बसे हुए थे, (२) पश्चिमी हिमालय के राजपूत और (३) मराठा क्षत्रिय। इन समूहों में रोटी-बेटी का पारस्परिक सम्बन्ध न था। कई कारणों से उत्तरी प्रदेशों के राजपूतों का गौरव अधिक बढ़ गया तथा वे ही भारतीय मान-मर्यादा के प्रतीक समझे जाने लगे। समाज और धर्म के संरक्षण का भार उन्हीं के कन्धों पर आ पड़ा। इस प्रकार वे संस्कृति के विकास और उसके प्रसार का मापदण्ड बन गए। उनके चरित्र को ही आदर्श मान लिया गया।

वैश्यों तथा शूद्रों पर भी वही प्रभाव पड़े जो कि ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों पर, अतएव वे भी अनेक उपजातियों में विभाजित हो गए। वैश्यों के मुख्य कार्य थे—पशु-पालन, कृषि, वाणिज्य इत्यादि। परन्तु जैन मत से प्रभावित होकर उन्होंने कृषि को धीरे-धीरे त्यागना प्रारंभ कर दिया और व्यापार की ओर उनकी रुचि दिनोंदिन बढ़ती गई। यहाँ तक कि इस समस्त जाति को वाणिज्य शब्द से व्युत्पन्न वणिक् या बनिया नाम से संबोधित किया जाने लगा। जिन पेशों को ब्राह्मणों, क्षत्रियों तथा वैश्यों ने नीचा और तुच्छ समझ कर छोड़ दिया, उनको शूद्रों तथा अन्त्यजों ने अपना लिया और इसी के आधार पर इन जातियों में भी बहुत-सी उपजातियाँ बन गईं। शूद्रों तथा अन्त्यजों का कर्त्तव्य था सेवा करना, परन्तु समाज में उनके अधिकार नहीं के बराबर थे। कुछ शूद्र जातियों को उच्च श्रेणी वाले स्पर्श कर सकते थे, परन्तु इनमें से बहुतों के स्पर्श से पवित्रता भंग हो जाती थी। अतएव यह कहना अनुचित न होगा कि उस समाज में इस समस्त वर्ग का स्थान शोषितों का था। शूद्रों और अन्त्यजों का जीवन सेवा-धर्म के पालन में व्यतीत होता था। ऊपर उठने के लिये उनको न तो कोई साधन प्राप्त थे और न किसी ओर से प्रोत्साहन मिल सकता था। राजपूत राजाओं को वे अपनी मर्यादा तथा संपत्ति का रक्षक तो अवश्य समझते थे, परन्तु राजा और प्रजा में सांस्कृतिक समानता होते हुए भी एक अप्रत्यक्ष द्वेष की भावना विद्यमान थी। राजा का कर्त्तव्य था राज्य करना और प्रजा का आज्ञा पालन करना। सैद्धान्तिक रूप से तो राजा का धर्म था कि प्रजा के सुख तथा समृद्धि का ध्यान रक्खे, परन्तु उस समय के युद्ध की भावनाओं से

ओत-प्रोत वातावरण में इन आदर्शों की पूर्ति असंभव थी। यही कारण है कि राजा के प्रति प्रजा की सहानुभूति निरन्तर कम होती गई तथा दोनों के उद्देश्यों में विभिन्नता पैदा हो गई।

विवाह

सामाजिक जीवन में बाह्य एकता होते हुए भी विभिन्नता प्रत्यक्ष दिखाई पड़ती है। उदाहरण के रूप में विवाह-संस्कार लिया जा सकता है। पुरातन पद्धति के अनुसार विवाह आठ प्रकार के होते हैं, परन्तु इनमें से केवल चार---ब्राह्म, देव, आर्ष तथा प्राजापत्य को ही विहित माना गया है। फिर भी राजपूतों में गान्धर्व, राक्षस तथा आसुर विवाहों का भी चलन था। विवाह के पूर्व सैनिक बल का प्रयोग किया जाता था और विवाह-उत्सव एक प्रकार की सैनिक विजय समझा जाता था। स्त्री का बलपूर्वक अपरहण करना एक साधारण-सी बात थी और इस विषय को लेकर भयंकर युद्धों तक की नौबत पहुँच जाती थी। पृथ्वीराज और जयचंद के संघर्ष का कारण संयोगिता ही थी। विवाह के समय सैनिक विजय की भावनाओं का प्रदर्शन आज दिन भी कुछ अंशों में मौजूद है। यह अनुमान किया जा सकता है कि क्षत्रियों को छोड़कर अन्य जातियों में---विशेष कर ब्राह्मण तथा वैश्यों में---गान्धर्व, आसुर, राक्षस तथा पैशाच विवाह-परम्परा का चलन था। उच्च श्रेणियों में बहुविवाह का रिवाज था। राजा, सरदार आदि धनाढ्य लोग प्रायः कई विवाह करते थे, परन्तु निम्न श्रेणी के लोग संभवतः आर्थिक कारणवश एक समय एक ही स्त्री से संतुष्ट रहते थे।

उत्सव

इसी प्रकार यद्यपि सभी श्रेणियाँ विभिन्न उत्सव मनाती थीं, परन्तु उनके मनाने के ढंग में विभिन्नता थी। केवल होलिकोत्सव ही ऐसा था जिसमें ऊँच-नीच की भावना थोड़ी देर के लिये लोप हो जाती थी। इस विभिन्नता के पीछे आर्थिक तथा धार्मिक दोनों ही कारण थे। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि मेले-ठेले के समय सब लोग जी खोल कर आमोद-प्रमोद की योजनाओं में सम्मिलित होते थे। ऐसे अवसरों पर प्रत्येक वर्ग के लोग अपनी-अपनी हैसियत के अनुसार वस्त्राभूषण से सुसज्जित होकर बाहर निकलते थे। पुरुष और स्त्रियों दोनों को ही गहनों के पहनने का चाव था। बहुमूल्य मणियों के हार, अंगूठियाँ, कड़े, भुजबंद, कुंडल, कर्धनी इत्यादि गहनों का खूब चलन था। स्त्री के रूप और पुरुष के आकर्षण में इससे चार चाँद लग जाते थे। अलंकार ही स्त्री की धन-राशि समझा जाता था तथा स्त्री को सजाने के लिये हर एक साधन से काम लिया जाता था।

नारी का स्थान

यदि राजपूत नरेशों के लिए स्त्री विलास की वस्तु थी, तो अन्य जातियों के लिए वह त्याग तथा पवित्र प्रेम की प्रतिमा थी। परन्तु भोग-विलास के वातावरण में रहते हुए भी राजपूतनियों ने आत्म-समर्पण के ऐसे उदाहरण प्रस्तुत किए हैं जो कि संसार के इतिहास में अद्वितीय हैं। उच्च वर्ग में स्त्रियों का सम्मान भी था और उनके कुछ अधिकार भी थे, यद्यपि आज वे हमें धुँधले दिखाई पड़ते हैं। पर्दे का अभी चलन न था। राजाओं की स्त्रियाँ दरबारों में आती

थीं। यात्री अबूजैद ने इस प्रचलन की ओर संकेत किया है। शस्त्र धारण करके राजपूतनियाँ रणक्षेत्र में घोड़ों पर सवार होकर सेना का संचालन करती थीं। इतिहासकार ईसामी ने अलाउद्दीन के प्रथम दक्षिण आक्रमण का वर्णन करते हुए लिखा है कि तुर्की सेना का एक स्थान पर पुरुषवेश धारण किए हुए स्त्रियों ने विरोध किया और वे इतने साहस तथा वीरता से लड़ीं कि उन्होंने शत्रु के दाँत खट्टे कर दिए। अलाउद्दीन को यह कहना पड़ा कि यदि इस देश की स्त्रियाँ इतनी वीर और लड़ने वाली हैं तो फिर पुरुषों का क्या ठिकाना। स्त्रियों का यह कोई नवीन संस्कार न था, यह परम्परा तो राजपूत-काल से बराबर चली आ रही थी।

मनोरंजन

जन-साधारण तथा उच्च वर्ग के लोग नाना प्रकार के आखेटों से अपना मन बहलाते थे। कुशल सैनिक बनने के अभिप्राय से शासक-वर्ग के व्यक्ति घुड़सवारी, तलवार तथा भाला चलाना और इसी तरह के दूसरे व्यायाम किया करते थे जिनसे मनोरंजन भी होता था और स्वास्थ्य-लाभ भी। रथों की दौड़ हुआ करती थी जिसके लिए बैलों और घोड़ों को रंग-बिरंगे वस्त्रों और आभूषणों से सुसज्जित किया जाता था। मल्ल-युद्ध का आम रिवाज था जिसे देखने के लिए लोग अधिक से अधिक संख्या में इकट्ठे होते थे। मस्त हाथियों के लड़ाने की भी प्रथा थी। राजाओं के दरबारों में नाटक भी खेले जाते थे। कवियों तथा नाटककारों का विशेष सम्मान था। कुछ इतिहासकारों का मत है कि यदि राजपूत नरेशों ने अपना समय तथा धन कवियों के आदर करने और कविता की रचना करने में न गँवाया होता तो संभव है कि उनका अधःपतन इतनी शीघ्रता से न होता। घरों के भीतर लोग चौसर इत्यादि से मनोरंजन करते थे। जुआ खेलना बुरा न समझा जाता था।

भोजन में शुद्धि और सफाई का बहुत ध्यान रखा जाता था। अहिंसा-प्रवृति के प्रभाव के कारण अधिकांश वैश्य जाति तथा कुछ ब्राह्मण उपजातियों के लोग केवल निरामिष आहार करते थे, परन्तु क्षत्रिय सामान्य रूप से मांसाहारी होते थे और संभवतः यही दशा शूद्रों की थी। साधारणतया गेहूँ, चावल, ज्वार, बाजरा, जौ, मटर, उड़द, मसूर ही जन-समुदाय के खाद्य पदार्थ थे। लहसुन, प्याज का अधिक रिवाज न था। हरिण, भेड़, बकरी के मांस के अतिरिक्त प्रायः अन्य मांस निषिद्ध थे। यद्यपि अल-मसऊदी तथा सुलेमान के कथनानुसार यह सिद्ध होता है कि राजा लोग मदिरा-पान नहीं करते थे, परन्तु शनैःशनैः क्षत्रियों में मदिरा तथा अफीम और भांग का चलन बढ़ता गया। ये वस्तुएँ उनके लिए व्यसन बन गईं। शिव और शक्ति को पूजने वाला राजपूतवर्ग भला मांस, मदिरा तथा मैथुन से अछूता कैसे रह सकता था! संग्राम के समय अपने आपे को भूलने का एक मात्र उपाय मदिरा-पान या विजया-सेवन ही था। होश में रहकर वीरत्व का प्रदर्शन करना संभव नहीं था।

कला—वास्तु और मूर्ति

कला सामाजिक तथा धार्मिक व्यवस्था का प्रतिबिम्ब होती है। राजपूत-काल की कला के नमूने अधिक संख्या में प्राप्त नहीं हैं, परन्तु जितने भी हैं, वे समकालीन सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थिति पर भरपूर प्रकाश डालते हैं। प्राचीन परम्परा के अनुसार कला धर्म-केन्द्रित थी।

शाक्त सम्प्रदाय के विलासमय पहलू को कलाकारों ने पत्थर के माध्यम से न केवल चित्रित करके चिरस्थायी बना दिया है, बल्कि कोणार्क, भुवनेश्वर और खजुराहो के भग्नावशेषों को देखकर समसामयिक धार्मिक प्रवृत्तियों का यथार्थ बोध हो जाता है। शृंगार रस तथा वामाचार के सम्मिश्रण ने कला के क्षेत्र में एक विशेष सौन्दर्य तथा आकर्षण का संचार कर दिया। उस समय की मूर्तिकला को देख कर आज दिन भी विशेषज्ञ चकित रह जाते हैं। यद्यपि जिस भाव अथवा विषय को ये मूर्तियाँ प्रदर्शित करती हैं, उसे देख कर हृदय में ग्लानि भले ही पैदा हो, मगर कलाकार के हाथ की सफाई की भूरि-भूरि प्रशंसा किए बिना नहीं रहा जाता। कितने साहस, कितने धैर्य तथा कितनी लगन से काम करने के बाद ये जीते-जागते चित्र पाषाण के टुकड़ों से गढ़ कर बनाए गए होंगे। ऐसा लगता है कि इन मूर्तियों में केवल जान डालना ही शेष रह गया है और कभी-कभी तो इन निर्जीव पत्थरों से जीवन भी झलकता प्रतीत होता है। मूर्तियों के अंग-प्रत्यंग मानो साँचे में ढाल दिए गए हों। शरीर का प्रत्येक भाग बनावट में सुडौल और इतना मनोमोहक है कि घंटों उस पर दृष्टि जमी रहती है। यदि मूर्ति पुरुष की है तो मानो उसमें से बल फूटा पड़ता है और यदि स्त्री की है तो वह यौवन के चमत्कार से भरपूर है।

इस काल की वास्तु तथा मूर्तिकला का विस्तार गुजरात से बंगाल तक है और यद्यपि हिन्दी भाषा और साहित्य का क्षेत्र केवल मध्य और पश्चिमी भागों में ही सीमित है, फिर भी उसमें समस्त उत्तर भारत की संस्कृति प्रतिबिम्बित है। कला के बाह्य रूपों में भले ही अन्तर दिखाई देता हो, परन्तु आन्तरिक प्रेरणा का स्रोत सब का एक ही है। हिन्दी साहित्य पर जैन धर्म की छाप स्पष्ट है। जैनियों ने भी पुनीत स्थानों में विशाल मन्दिरों का निर्माण किया। गिरिनार में १६ मन्दिर हैं। इनमें से सबसे बड़ा नेमिनाथ का मन्दिर है। इसका आंगन १९५ फुट लंबा और १३० फुट चौड़ा है। इसमें दो मण्डप हैं, एक अर्धमंडप और दूसरा महामंडप। आंगन के चारों ओर ७० कोष्ठ हैं। प्रत्येक कोष्ठ में तीर्थंकर की प्रतिमा स्थापित है। नेमिनाथ के मन्दिर के बिलकुल पीछे तेजपाल और वास्तुपाल द्वारा ११७७ ई० (सं० १२३४ वि०) में बनवाया हुआ मल्लनाथ का मन्दिर है। इसके आकार में यह विशेषता है कि तीन मन्दिर एक साथ जोड़ दिए गए जान पड़ते हैं। यह शैली दक्षिण में तो प्रचलित है, परन्तु उत्तर भारत में बहुत ही कम पाई जाती है। गिरिनार के सन्निकट ही समुद्रतट पर सोमनाथ का मन्दिर है जिसका विध्वंस महमूद गजनवी ने किया था। भीमदेव ने इसका पुनर्निर्माण कराया था तथा सिद्धराज और कुमारपाल ने इसकी सजावट कराई थी। इस मन्दिर में किस देवता की मूर्ति स्थापित थी, इस प्रश्न पर मतभेद है। सोमेश्वर के नाम से तो शिव का बोध होता है, परन्तु मुसलमान इतिहास-कारों के वर्णन से यह भी अनुमान होता है कि मूर्ति संभवतः विष्णु या तीर्थंकर की रही होगी। इस मत की पुष्टि में यह तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है कि गुजरात प्रदेश में दीर्घ काल से जैन मत का प्राबल्य था।

इसी प्रसंग में आबू पर्वत का महत्व भी उल्लेखनीय है। इसका ५००० या ६००० फुट ऊँचा शिखर रेगिस्तान के बीच ऐसा प्रतीत होता है जैसे नीलवर्ण समुद्र के मध्य कोई द्वीप। जैन तथा हिन्दू इसको तीर्थस्थान मानते हैं। यद्यपि पलिताना तथा गिरिनार के समान यहाँ बहुत से मन्दिर नहीं हैं, फिर भी जैनियों ने अपने प्रभुत्व-काल में कई अद्वितीय मन्दिर बनवाए

थे। ये श्वेत संगमरमर के बने हुए हैं, जब कि ३०० मील तक इस पत्थर की खान का कोई भी निशान नहीं मिलता। इनमें से एक तेजपाल तथा वास्तुपाल ने (११९७-१२४७ ई० = सं० १२५४-१३०४ वि०) बनवाया था। इसकी बारीक कटाई तथा विवरणों की सुन्दरता अवर्णनीय है। दूसरा मन्दिर विमल साह का बनवाया हुआ है। यद्यपि देखने में यह सादा है, परन्तु इसका आकार भव्य है। कलाकार ने भावुकता से प्रेरित होकर बड़े परिश्रम से अत्यन्त सूक्ष्म कला का प्रदर्शन किया है। इस मन्दिर के प्रमुख कोष्ठ में पार्श्वनाथ की मूर्ति स्थापित है। मन्दिर का शिखर कोणाकार है। इससे संबंधित एक मण्डप है जिसका कलश अड़तालीस स्तम्भों पर आधारित है। समस्त मन्दिर १४० × ९० फुट आंगन से घिरा हुआ है जिसके किनारे-किनारे दुहरे छोटे-छोटे स्तम्भों की श्रृंखला की एक दालान है जो कि ५५ कोष्ठों के सामने मण्डपों के समान दिखाई पड़ती है। प्रत्येक कोष्ठ में पार्श्वनाथ की प्रतिमा स्थापित है। इस मन्दिर के स्तम्भों तथा छत में बारीक कटाव का काम है, जो देखते ही बनता है। अरावली पर्वत की पश्चिमी श्रेणी की घाटी में भी जैन मन्दिरों का छोटा-सा समूह है जो कला की दृष्टि से तो महत्वपूर्ण हैं ही, परन्तु इसके अतिरिक्त जिस प्राकृतिक वातावरण में वे स्थित हैं वह उससे भी अधिक मोहक है। सदरी का मुख्य मन्दिर राणा कुंभा का बनवाया हुआ है। इसने जैन मत को भरपूर प्रोत्साहन दिया था तथा अपने राज्य में अनेक इमारतों का निर्माण कराया था। सदरी के मन्दिर के कलशों, स्तम्भों तथा बाहर की कंगूरेदार दीवार से आगे आने वाली प्रगति का अनुमान किया जा सकता है। वर्तुलाकार शिखर तथा गोलाई लिए हुए कलश कुछ ऊँचे, कुछ नीचे, सब मिला कर पर्वतीय श्रृंखला का रूप प्रदर्शित करते हैं तथा प्राकृतिक वातावरण से मिलकर एक अद्भुत दृश्य उपस्थित कर देते हैं।

जैन, वैष्णव तथा शाक्त मतों की कला के सम्मिश्रण का जीता-जागता चित्र खजुराहो के विख्यात मन्दिरों में विद्यमान है। शिलालेखों अथवा शैली के आधार पर इनका निर्माण-काल ग्यारहवीं शताब्दी ई० स्थिर किया गया है। बड़े आश्चर्य की बात तो यह है कि इन मन्दिरों के तीन समूह गणना में बराबर-बराबर ही तीन मतों के अनुसार विभाजित हैं। प्रत्येक समूह में एक बड़ा मन्दिर है जिसके चारों ओर छोटे-छोटे मन्दिर बने हुए हैं। शैव समूह में कनदरिया महादेव का प्रमुख मन्दिर है, वैष्णव-समूह में रामचन्द्र का और जैन-समूह में जिननाथ का। आकार तथा रूपरेखा में तीनों में इतनी समानता है कि चित्र को देखकर साधारणतया यह बताना कठिन है कि अमुक मन्दिर किस मत का है। अनुमान यह होता है कि संभवतः एक ही शासक ने तीनों को बनवाया होगा तथा बनवाते समय इस बात पर विशेष ध्यान दिया होगा कि तीनों मतों की प्रतिष्ठा में कोई अन्तर न पड़ने पाए। इसीलिए या किसी और अज्ञात कारण से यहाँ के जैन मन्दिर में उन विशेषताओं का अभाव है जिनको हम जैन कला से संबंधित कहते हैं। अलिन्द की अपेक्षा वितान अथवा शिखर अधिक महत्वपूर्ण दिखाई देता है। न तो इनमें कोष्ठों से घिरे हुए आंगन ही हैं, और न उठे हुए कलश ही। इन मन्दिरों में दो विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—प्रथम चौंसठ योगिनी का मन्दिर और दूसरा घंटई। चौंसठ योगिनी का केवल एक १०५ × ६० फुट का आंगन है, जिसके चारों ओर सब मिलाकर ६४ छोटे-छोटे कोष्ठ हैं, जिनके गावदुम शिखरों के ऊपर नुकीले शंकु बने हुए हैं। यह क्रम-विन्यास जैन शैली के अनुसार है। घंटई

की विशेषता है इसकी कला का माधुर्य। इसके स्तम्भों में घंटों के आकार खुदे हुए हैं। संभव है, इसी कारण इस इमारत का नाम घंटई पड़ा हो। कनदरिया महादेव के मन्दिर के एक भाग में बहुत ही अश्लील मूर्तियाँ खुदी हुई हैं। यह वामाचार मत की प्रतीक हैं। जहाँ एक ओर जैनियों के मन्दिरों से त्याग और आत्म-नियंत्रण का संदेश मिलता है, वहाँ ये अश्लील मूर्तियाँ भोग-विलास द्वारा इन्द्रियों के दमन करने का साधन प्रस्तुत करती हैं। इस अश्लीलता में ही जीवन की वास्तविकता का सार छिपा हुआ है। योग तथा तप में असाधारणता है; भोग और विलास में सामान्यता और स्वाभाविकता। संभव है, इन अश्लील मूर्तियों का यह तात्पर्य हो कि उनको देखकर साधारण मनुष्य के हृदय में ऐसी ग्लानि उत्पन्न हो जाए कि उसका चित्त भोग से हटकर योग की ओर चला जाए अथवा भोग के नाना प्रकार के आसनों का प्रयोग करके वह इन्द्रियों को इतना शिथिल कर डाले कि उनमें विलास की प्रवृत्ति ही शेष न रह जाए। तीन विभिन्न मतों के मन्दिरों का एक ही स्थान में विद्यमान होना निरर्थक नहीं है। यदि एक ओर वे धार्मिक सहिष्णुता के द्योतक हैं, तो दूसरी ओर समकालीन वातावरण को चित्रित करते हुए जीवन के आदर्शों को कार्यरूप में परिणत करने का मार्ग भी दिखाते हैं। भोग कर्म है। ईशोपनिषद में लिखा है कि मनुष्य से कर्म नहीं चिपकता, फल या वासना चिपकती है। भोग से वासना की तृप्ति हो कर उसका संहार हो जाता है। इसके बाद ही योग की ओर मन आकर्षित हो सकता है। यह भी एक दार्शनिक दृष्टिकोण है।

इस काल की मूर्तिकला तथा वास्तुकला का वर्णन कोणार्क, भुवनेश्वर तथा पुरी का उल्लेख किए बिना अधूरा रह जायगा। भुवनेश्वर में सब से पुराना मन्दिर परशुरामेश्वर का है। आकार में उसी के समान मुक्तेश्वर का मन्दिर है, परन्तु लंबाई-चौड़ाई में वह उससे कुछ छोटा है। उसके जगमोहन के विभिन्न भाग अत्यंत सुसज्जित तथा विविधतापूर्ण हैं। भुवनेश्वर का सब से पुराना मन्दिर उस काल की शैली का प्रतीक मात्र है। यद्यपि आकार में वह बड़ा नहीं है, फिर भी उसका रूप विशाल है। उड़ीसा के अन्य मन्दिरों के समान असली मन्दिर में केवल एक ही वितान अथवा बड़ा देवल था और उसी से लगा हुआ जगमोहन था। बारहवीं शताब्दी में इसके साथ नाट्य और भोग-मन्दिर और जोड़ दिए गए। इस मन्दिर का बाह्य उचान बहुत ही सुहावना तथा भव्य है। देखने में यह एक ठोस चौकोर स्तंभ के समान है, परन्तु इसकी कठोरता को ऊपर की कोमल मोड़ गोलाकार में परिवर्तित करके सुन्दर मुकुट का रूप धारण कर लेती है। समस्त मन्दिर नीचे से लेकर ऊपर तक पत्थर का बना हुआ है। इन पत्थरों में कोई ऐसा स्थान नहीं जिसमें बारीक और अलंकृत कटाव का काम न हो। वितान का रूप सपाट न हो कर कमरखी है तथा कमरख की हर एक फाँक में भिन्न प्रकार की चित्राकृतियाँ खुदी हुई हैं जिनसे उसकी शोभा तथा मनोहरता अद्वितीय हो जाती है। भुवनेश्वर के अनेक मन्दिरों में बाहर की ओर मैथुन के आसन अंकित हैं, और यही बात कोणार्क तथा पुरी के मन्दिरों में भी है। इस प्रकार यदि हम मूर्तिकला का अध्ययन करें तो इस निर्णय पर पहुँचने में संदेह नहीं रह जाता कि बुंदेलखंड से लेकर बंगाल और उड़ीसा तक इस काल में शाक्त मत के रूप-रूपान्तर विद्यमान थे तथा इसी की झलक हमको साहित्य में दृष्टिगोचर होती है।

१३वीं से १८वीं शताब्दी ई०—इस्लाम का प्रवेश

आगामी छः शताब्दियों की संस्कृति के इतिहास का मूल स्रोत तो उसकी पूर्ववर्ती छः शताब्दियों में ही केन्द्रित रहा, परन्तु उसके विकास की प्रगति में एक नवीन धारा ने योग देकर समस्त वातावरण में विद्युत-शक्ति का संचार कर दिया। तुर्कों के आगमन के साथ-साथ भारत में इस्लाम धर्म ने भी प्रवेश किया। आक्रमणकारियों के बलात्कार तथा बर्बरता ने कुछ समय के लिए तो यहाँ के निवासियों को स्तब्ध-सा कर दिया। परन्तु मनुष्य की मनोवृत्ति दीर्घकाल तक स्थगित नहीं रह सकती। धक्के से कुछ समय के लिये पीछे हटकर वह आगे बढ़ने का उपाय ढूँढ़ ही निकालती है। धार्मिक आवेश तथा धन के लालच से प्रेरित हो कर तुर्कों ने मन्दिर तोड़े। अपना आतंक जमाने में उनको यह साधन बहुत ही सुगम तथा सफल प्रतीत हुआ। परन्तु ऐसे द्वेषपूर्ण व्यवहार से जनता के हृदय पर काबू पाना असंभव था। धीरे-धीरे परिस्थिति बदलने लगी। जब आक्रमणों का वेग समाप्त हो गया तो साम्राज्य-स्थापन का कार्य आरंभ हुआ। तुर्क सेनाओं का भारतवासियों ने जी तोड़कर विरोध किया तथा दिल्ली में सुलतानी सिक्का चलने के बाद भी उत्तर भारत के विभिन्न क्षेत्रों में विद्रोह की अग्नि धधकती ही रही। इसको दबाने में बलबन, अलाउद्दीन, मुहम्मद तुगलक, फीरोज तुगलक तथा सिकंदर लोदी के भी छक्के छूट गए। साम्राज्य के निर्माण में ऐसी धारा का बहना कोई आश्चर्यजनक बात न थी। एक दृष्टि से तो ये विरोधी देशभक्त थे जिन्होंने स्वतंत्रता की वेदी पर अपने प्राणों को होम दिया था, परन्तु यह संघर्ष न तो राजनीतिक क्षेत्र में और न सामाजिक क्षेत्र में व्यापक रूप से चल सका और जब तुर्क स्थायी रूप से इस देश में बस गए, तो यहाँ के लोगों के साथ संपर्क स्थापित करना अनिवार्य हो गया। इस संपर्क के दिनोदिन घनिष्ठ होने के कई कारण थे। प्रत्येक ने वातावरण तथा सामयिक आवश्यकता के अनुसार व्यक्तिगत तथा सामूहिक प्रभाव डाला।

सैनिक शासन और धार्मिक तनाव

तुर्क जाति के लोग विशेषतः सैनिक थे। यद्यपि उनके कुछ नेता विद्वान तथा विद्यानुरागी भी थे, परन्तु उनका अधिकांश समय अभियानों में ही व्यतीत होता था। देश में बस जाने के बाद भी बहुत दिनों तक उन पर अजनबीपन की छाप लगी रही। नेतागण विजेता होने के अभिमान से प्रेरित होकर भारतीय जन-समुदाय से पृथक रहना चाहते थे। साम्राज्य का आधार था भय। सुलतान बलबन ने एक बार यह स्पष्ट कहा था कि जो व्यक्ति अपनी प्रजा को अपने भय से प्रभावित नहीं कर सकता वह सुलतान होने के योग्य नहीं। मिलने-जुलने से इस भय में कमी हो जाने की संभावना थी, अतएव तुर्की साम्राज्य के प्रथम सौ वर्षों में विदेशियों तथा भारतवासियों के बीच खिंचाव-सा बना रहा। भारतवासी तुर्कों को दैवी प्रकोप समझते थे, यहाँ तक कि उनके स्पर्श को भी पाप समझते थे। परन्तु इस प्रकार की भावनाएँ दोनों दलों के कट्टर वर्गों में ही सीमित थीं। इतिहासकार बरनी हिन्दुओं के प्रति अपने हृदय के जले फफोले फोड़ता है, स्थान-स्थान पर उनके लिये अपशब्दों का प्रयोग करता है और अपनी भाषा तथा विचारों से यह स्पष्ट कर देता है कि हिन्दू उसको फूटी आँख से भी न भाते थे। बरनी तथा उस काल के अन्य इतिहासकार उस रूढ़िवाद के प्रतिनिधि हैं जिसके अनुसार तुर्की राष्ट्र को इस्लाम तथा इस्लाम-केन्द्रित राष्ट्र होना

चाहिए। अतएव इन इतिहासकारों ने धर्म की कसौटी पर ही शासकों को कसने का प्रयत्न किया है और केवल उन्हीं सुलतानों को अपनी प्रशंसा का पात्र ठहराया है जो इस्लाम धर्म के संरक्षक तथा प्रतिपालक थे और जिनके धार्मिक विचार संकुचित थे। इन इतिहासकारों की अलंकृत भाषा ने ही इस देश की भूमि को ऐसे हलाहल से सींचा है जिसका फल गुड़-भरे हँसिये के समान न निगला जाता है और न उगला जाता है। बरनी तथा उसके पूर्ववर्ती इतिहासकारों ने जो शैली अपनाई, उसका अनुकरण आगे चलकर भी बहुत दिनों तक होता रहा और विष-वृक्ष की जड़ें सुदृढ़ होती गईं। इसमें संदेह नहीं कि ऊँची श्रेणियों से छन-छनकर ये भावनाएँ मध्यम तथा निचले वर्गों में भी फैलीं, परन्तु इतिहासकारों की इनमें से बहुत-सी भावनाएँ केवल कल्पना मात्र ही थीं। उनके लिए कल्पना की सीमा को पार करना दुष्कर ही नहीं, वरन असंभव था। साथ ही जब मुसलिम इतिहासकार राजनीतिक घटनाओं को धर्म के रंग में डुबोकर अंकित कर रहे थे, संस्कृति की धाराओं का बहाव दूसरी ओर ही जा रहा था।

हिन्दू-मुस्लिम संपर्क और सांस्कृतिक आदान-प्रदान

इच्छा न होते हुए भी तुर्कों को भारतवासियों के संपर्क में आना ही पड़ा। सैनिक मनोवृत्ति के कारण भूमि-कर शासन में उन्हें कोई रुचि न थी। विदेशी होने के कारण उनका प्रभाव भी नहीं के बराबर था। विवश होकर उन्हें राजस्व-विभाग की मध्यम तथा निचली श्रेणियों को हिन्दुओं के सिपुर्द करना पड़ा। शहरों के हिन्दू जजिया देते थे, फिर भी सरकारी नौकरी करते थे। यह भी संभव है कि उस समय के हिन्दुओं को जजिया कर उतना ही सह्य अथवा असह्य रहा हो जितना कि आजकल के दिनोंदिन बढ़ते हुए कर। इसके अतिरिक्त जजिया कर की दर भी बहुत अधिक न थी। तुर्क साम्राज्य के प्रथम २०० वर्षों में संभवतः जजिया कर के विरोध में कोई भयंकर आन्दोलन नहीं हुआ। फीरोज तुगलक तथा सिकंदर लोदी के समय जो घटनाएँ घटीं उनका संबंध व्यक्तियों से था, न कि जनता से। इतिहासकार अफीफ के कथनानुसार जब सिंहासनारूढ़ होने के पश्चात फीरोज तुगलक थट्टा से दिल्ली की ओर यात्रा कर रहा था, तब स्थान-स्थान पर जिन लोगों ने सुलतान का अभिवादन किया, उनमें न केवल मुसलमान ही थे बल्कि साह और सर्राफ भी थे, जो कि हिन्दू थे। इस कथन से हम दो निष्कर्षों पर पहुँच सकते हैं---प्रथम यह कि व्यापार तथा अर्थ-संबंधी समस्त कार्य पूर्व की भाँति अब भी हिन्दू बनियों के हाथ में था, दूसरे यह कि धार्मिक भेद होते हुए भी दोनों जातियों में पारस्परिक व्यवहार के अवसर बढ़ते ही जा रहे थे। फलतः वातावरण में दो विभिन्न धाराएँ बहती हुई दिखाई पड़ती हैं। एक का प्रवाह उच्च वर्ग तक सीमित था तथा दूसरी अत्यधिक व्यापक तथा विस्तृत थी और उसका प्रभाव किसी न किसी मात्रा में जन-समुदाय के प्रत्येक भाग पर पड़ रहा था।

राजनीति के नवीन वातावरण में धन तथा पद के लालच से प्रेरित होकर तथा हिन्दू समाज की बढ़ती हुई कठोर पद्धति से पीड़ित होकर बहुत-से भारतीयों ने अपने धर्म को छोड़कर इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया। विदेशी शासकों के सामने एक नई समस्या प्रस्तुत हो गई जिसके दो पहलू थे---एक राजनीतिक, दूसरा सामाजिक। इस्लामी आदर्शों के अनुसार इस्लाम धर्म के समस्त अनुयायियों के सामाजिक अधिकार समान हैं। समाज ही राजनीति की नींव है, अतएव तुर्क

सुलतानों को इस प्रश्न का हल ढूँढ़ना था कि नव मुस्लिमों को अपने समाज में किस प्रकार सम्मिलित करें। इस प्रश्न के हल पर ही संस्कृति के आगामी विकास की रूपरेखा का आधार था। जैसे-जैसे नव मुस्लिमों की संख्या बढ़ती गई और संख्या के साथ-साथ उनका संगठन तथा अधिकारों का ज्ञान बढ़ता गया, वैसे-वैसे प्रश्न का उत्तर जटिल होता गया। बलबन को तो अपने मंत्रित्व काल में नव मुस्लिमों की बढ़ती हुए शक्ति का ऐसा कटु अनुभव हुआ कि गद्दी पर बैठने के पश्चात उसने यह नीति बना ली कि यथासंभव नव मुस्लिमों को उच्च पदों पर नियुक्त न किया जाय। एक बार तो उसने यहाँ तक कह डाला कि नीच नव मुस्लिमों को देखते ही मेरा खून उबलने लगता है। यह थी बलबन की इस्लाम धर्म में आस्था और उसकी शासन-पद्धति। ऐसे शक्तिशाली सम्राट के लिए भी ऐतिहासिक प्रवृत्तियों को रोकना असंभव था। जब बाहर से तुर्कों का आगमन ही कम हो गया तो सुलतानों को देशवासियों का ही सहारा लेना पड़ा। इस प्रकार भारतीय मुसलमानों की संख्या बढ़ती गई और कुछ अवसर तो ऐसे भी आए जब थोड़े समय के लिए राज्यकार्य की बागडोर भारतीय मुसलमानों के हाथों में आ गई। मलिक काफूर तथा खुसरो खाँ भारतीय मुसलमान थे। फीरोज तुगलक का प्रधान मंत्री भारतीय मुसलमान ही था। ये भारतीय मुसलमान ही विदेशी तुर्कों तथा भारतवासियों के बीच की एक कड़ी बन गए। इन्होंने इस्लाम धर्म तो स्वीकार कर लिया, परन्तु बाहर से आई हुई संस्कृति को बिना अपने साँचे में ढाले हुए नहीं अपनाया। इस साँचे की मिट्टी बहुत पुरानी थी। जब इस्लामी संस्कृति इस साँचे में पड़ी तो उस पर जो छाप लगी वह भारतीय छाप थी। इस छाप का प्रमाण साहित्य, कला तथा धर्म तीनों में ही स्पष्ट रूप से विद्यमान है।

भाषा और साहित्य

यह धारणा कि समस्त मुसलमान कट्टरतावादी थे तथा वे भारतीय संस्कृति को घृणा की दृष्टि से देखते थे, उचित नहीं है। भारतीय मुसलमानों का शिक्षित वर्ग तो अधिकांश असहिष्णु प्रकृति का था जिसका ज्वलंत प्रमाण पूर्व मध्यकालीन ऐतिहासिक रचनाओं से मिलता है, परन्तु साधारण वर्ग के लोगों में ऐसी भावनाएँ नहीं थीं। उन्होंने धर्म तो बदल दिया था, परन्तु उनके पुराने संस्कार लगभग ज्यों के त्यों ही रहे तथा यह अनुमान करना कि ऐसे ही दल के प्रभाव से आगे चलकर हिन्दू-मुस्लिम एकता का आन्दोलन चला, अनुचित न होगा। इस आन्दोलन के कर्णधार अशिक्षित अथवा अर्धशिक्षित व्यक्ति ही थे, परन्तु शिक्षित वर्ग भी वातावरण के प्रभाव से बहुत ऊपर न उठ पाया। परिणामस्वरूप फारसी भाषा, जिसको इस वर्ग ने अपनाया, दो शैलियों में विभाजित हो गई—एक विदेशी शैली अथवा उन लोगों की जो बाहर से आए थे, और दूसरी देशी शैली जिसका निर्माण भारत में हुआ। दोनों शैलियों में अन्तर स्पष्ट है। देशी शैली में भारतीय शब्दों का अच्छा-खासा प्रयोग है। वास्तव में देशी शैली के ग्रन्थों में भावानुवाद की झलक दिखाई पड़ती है। ग्रन्थकार सोचता तो है अपनी मातृभाषा के माध्यम से, परन्तु अपने विचारों को फारसी भाषा का बाना पहना देता है। परन्तु इस काल में ऐसे भी विद्वान और कवि हुए जिन्होंने विदेशी होते हुए भी भारतवर्ष की मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। इनमें खुसरो का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनका जन्म तो इसी देश में हुआ, परन्तु

इनके पिता और पितामह तुर्क थे। इनकी काव्यमयी रचनाओं को लोक-ख्याति प्राप्त हुई। इनकी कविता में रस है, अलंकार है, कल्पना है और इन सब से बढ़कर गुण है हार्दिकता। यदि शाही दरबार के विलासमय वातावरण में नर्तकी इनकी गजलों को ताल और सुर से गाती थी तो सारी महफिल पर मदहोशी का समाँ छा जाता था और यदि उनको सूफी सन्त सुनता था तो योग की अवस्था को प्राप्त हो जाता था। इस महान कवि ने हिन्दवी भाषा की मिठास की प्रशंसा करते हुए यहाँ तक कह डाला है कि यदि कुरान शरीफ अरबी भाषा में न अवतरित हुआ होता तो मुझे यह कहने में तनिक-भी संकोच न होता कि संसार की सब भाषाओं की अपेक्षा हिन्दवी ही अधिक मधुर है। संभव है कि जिस हिन्दवी की ओर मलिक खुसरो ने संकेत किया है वह ब्रजभाषा हो। उनका जन्म पटियाला में हुआ था और पालन-पोषण दिल्ली में। उनका एक ऐतिहासिक काव्य है 'देवलरानी खिज्रखाँ'। यह मसनवी शैली में लिखा गया है। वास्तविक घटनाओं के अतिरिक्त इसमें राजकुमार खिज्रखाँ तथा राजकुमारी देवलदेवी की कथा भी वर्णित है। इस मसनवी की शैली प्रचलित फारसी परम्परा के अनुसार है। विख्यात कवि निजामी के अनुकरण पर अमीर खुसरो ने भी 'शीरी फरहाद', 'लैला मजनूँ' की प्रेमकथा को काव्य-बद्ध किया, परन्तु 'देवलरानी खिज्रखाँ' में जो भावुकता भरी हुई है वह निराली ही है। यह कहना अनुचित न होगा कि यह फारसी भाषा की मसनवी शैली और विषय-वस्तु दोनों में ही मुल्ला दाऊद, कुतबन, मंझन और जायसी के लिए पथ-प्रदर्शक बनी। फारसी भाषा के १४ वीं शताब्दी ई० में हुए ईसामी कवि ने 'खिज्रखाँ देवलरानी' की प्रेमकथा की ओर संकेत करते हुए खिज्र को हिन्दुस्तान का परवेज कहा है। यह इस बात का प्रमाण है कि किस प्रकार फारसी पद्धतियों को भारतीय वातावरण में प्रविष्ट किया जा रहा था। राजा करण की कन्या की प्रेम-कहानी हिन्दुओं के लिए उतनी ही रोचक साबित हुई होगी जितनी मुसलमानों को।

यद्यपि शासक-वर्ग केवल फारसी भाषा की उन्नति करना ही अपना कर्तव्य समझता था, परन्तु वह भारतवर्ष में रहते हुए यहाँ के वातावरण के प्रभाव से कहाँ तक बच सकता था? इल्तुतमिश तथा बलबन के उत्तराधिकारियों का जन्म इसी देश में हुआ था। बलबन के एक भतीजे का नाम मलिक छज्जू था। खिलजी तथा तुगलक वंश के सभी सुलतान इसी देश में पैदा हुए थे और लोदी वंश के सुलतान भी। दूसरे, दिल्ली के सुलतान अब्बासी खलीफाओं के आदर्शों का अनुकरण करने में अपने को धन्य समझते थे। इतिहास साक्षी है कि बगदाद में भारतीय विद्वानों का खलीफाओं ने यथोचित आदर-सम्मान किया था और संस्कृत के अनेक ग्रन्थों का अरबी में अनुवाद कराया था। अरबी साहित्य को भारत की देन की कहानी पीढ़ी-दर-पीढ़ी चली आ रही थी। अरबी यात्रियों ने इसकी ओर संकेत किया है और अलबेरुनी ने न केवल इसकी प्रशंसा ही की है, बल्कि भारतीय संस्कृति का रेखाचित्र भी उपस्थित किया है। परन्तु यह सांस्कृतिक आदान-प्रदान कुछ काल के लिए स्थगित हो गया और एक उपयोगी धारा का प्रवाह कई कारणों से मन्द पड़ गया। समय व्यतीत होने के पश्चात प्रवृत्ति ने पलटा खाया। आवश्यकतानुसार तथा रुचि की पूर्ति के लिए संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद होने लगे। फीरोज तुगलक जैसे संकीर्ण विचारों वाले व्यक्ति ने भी फलित ज्योतिष तथा चिकित्सा विषयक कई पुस्तकों का फारसी में अनुवाद कराया, जिससे इतना तो स्पष्ट ही हो जाता है कि कुछ ऐसे मुसलमान अवश्य थे जिनको संस्कृत भाषा का

ज्ञान था, अन्यथा संस्कृत पुस्तकों का फारसी भाषा में सुगमता से अनुवाद न हो पाता। अनुवाद का क्षेत्र सीमित होते हुए भी इतना निश्चय है कि इस साधन द्वारा हिन्दू-मुसलमानों में कुछ मात्रा में संपर्क अवश्य बढ़ा होगा, क्योंकि इस प्रकार एक दूसरे के विचारों को समझने का अवसर प्राप्त हुआ होगा, विशेषतया दोनों जातियों के शिक्षित व्यक्ति एक दूसरे के निकट आ गए होंगे, चाहे थोड़े ही समय के लिए ऐसा हुआ हो। यदि खोज की जाय तो पता लग सकता है कि इस काल में अनेक अन्य संस्कृत ग्रन्थों का भी अनुवाद हुआ होगा। भारतीय चिकित्सा-शास्त्र संसार-विख्यात था, अतएव इसमें संदेह नहीं कि जो चिकित्सा-शास्त्र तुर्क लोग अपने साथ लाए उस पर भारतीय चिकित्सा-पद्धति की अमिट छाप लगी। इस आदान-प्रदान से दोनों को ही लाभ हुआ और दोनों जातियों के पारस्परिक संबंध में एक और शृंखला जुड़ गई।

कला

यदि हम कला की ओर ध्यान दें तो इस क्षेत्र में साहित्य की अपेक्षा हिन्दू-मुस्लिम सामंजस्य के और अधिक प्रमाण मिलते हैं। यह कहना कि तुर्कों ने केवल विनाश ही किया, निर्माण नहीं, तर्क-सम्मत नहीं है। निर्माण-कार्य के पूर्व विनाश एक अनिवार्य चरण है। तुर्कों ने मन्दिरों को तोड़ कर पहले तो उनकी सामग्री से ही मसजिदें बनवाईं, परन्तु जब इस प्रयोग में इच्छानुसार सफलता प्राप्त न हुई, तब नए मसाले से इमारतें बनवाना आरंभ किया। विजय के प्रथम वेग के पश्चात मन्दिर-विध्वंस की तीव्रता मन्द पड़ती गई तथा फीरोज तुगलक और सिकंदर लोदी के ही दो प्रमुख नाम आते हैं, जिन्होंने जान-बूझ कर मन्दिर तुड़वाए तथा मूर्तियों का अपमान किया। परन्तु ये सुलतान भी मूर्ति-पूजा की परम्परा को इस देश से हटा न सके। इस्लाम में निराकार ईश्वर की मान्यता के कारण ही भारतीय वास्तुकला के एक प्रमुख अंग तथा मूर्तिकला के विकास को धक्का लगा। शासक-वर्ग ने इस कला को न तो प्रोत्साहन ही दिया और न इसका संरक्षण ही किया। इतना होते हुए भी भारतीय कारीगरों ने अपने को पुरानी पद्धति से संबंधित रखते हुए नवीन आदर्शों को पत्थर और चूने के माध्यम से इस प्रकार प्रदर्शित किया कि आज भी उनकी कृतियों को देखकर उनके हाथों की सफाई तथा उनकी भावनाओं की सुकुमारता का स्पष्ट चित्र आँखों के समक्ष खिंच जाता है। भारत की वास्तुकला का गौरव लोक-प्रसिद्ध था। यहाँ के विशाल मन्दिरों को देखकर बाहर के यात्री चकित रह जाते थे। महमूद गजनवी ने मन्दिर तो तोड़े, परन्तु भारतीय वास्तुकला का इतना आदर किया कि वह यहाँ से सैकड़ों कारीगर अपनी राजधानी में इमारतें बनवाने के लिए ले गया। लगभग चार शताब्दियों के पश्चात तैमूरलंग ने भी ऐसा ही किया।

दिल्ली में स्थित कुव्वतुल इस्लाम मस्जिद तथा अजमेर में बना हुआ 'अढ़ाई दिन का झोंपड़ा' स्पष्टतः आकार तथा शैली दोनों में ही हिन्दू हैं। कारण यह है कि दोनों ही हिन्दू तथा जैन मन्दिरों के मसाले से बनाए गए हैं। इस्लामी रूप देने के विचार से इनकी सपाट छतों पर छोटे-छोटे कलश बना दिए गए हैं जिनका कि कोई भी वास्तविक संबंध असली इमारत से नहीं जान पड़ता। इसके अतिरिक्त भारत में तुर्क सिपाही तो आए, परन्तु इस्लामी कारीगरों के आगमन का उल्लेख नहीं मिलता। फलतः तुर्क सुलतानों ने जब इमारतें बनाना आरंभ किया तो उनको

भारतीय कलाकारों की सहायता लेनी पड़ी और कलाकार अपने कौशल में इतने दक्ष थे कि नवीन विचारधारा को इन्होंने सहज में ही अपना लिया। इस समय से भारतीय वास्तुकला में एक नवीन शैली का श्रीगणेश होता है जिसका कि बाह्य आकार तो इस्लामी दिखाई पड़ता है, परन्तु उसकी अन्तरात्मा भारतीय है। इस तीन सौ वर्ष के दीर्घ काल में सैकड़ों मस्जिदों और मक़बरों का निर्माण किया गया। इनमें से हर एक में कुछ न कुछ अपनी विशेषता है। परन्तु वास्तव में ये कला के विकास की शृंखला की कड़ियाँ हैं, जिनका महत्व सांस्कृतिक दृष्टिकोण से कम नहीं है। हिन्दू शिल्पियों को जब मुसलिम इमारतें बनानी पड़ीं तो पहले तो उनको मुस्लिम भावनाओं को समझने के लिए प्रयत्न करना पड़ा होगा और इस प्रकार वे मुसलमानों के न केवल संपर्क में आए होंगे, वरन उनसे मेल भी खाने लगे होंगे। शिल्पियों में जिस आसानी से बन्धुत्व जुड़ जाता है और पारस्परिक सहानुभूति स्थापित हो जाती है, उतनी दूसरे वर्गों में नहीं हो पाती। यह भी संभव है कि इस वर्ग के व्यक्ति नवीन विचारों से प्रभावित होकर तथा आर्थिक उन्नति के लालच से हिन्दू धर्म को छोड़कर मुसलमान बन गए हों। जाति-व्यवस्था के अनुसार शिल्पियों की गणना निम्न वर्ग में होती थी। यह भी हो सकता है कि सामाजिक स्तर ऊँचा करने के ध्येय से उन्होंने धर्म-परिवर्तन किया हो। जो हो, इस वर्ग ने हिन्दू-मुसलमानों को निकट लाने में अदृश्य रूप से बहुत सहायता दी। इसी के द्वारा सर्वसाधारण के विचारों तथा भावनाओं का आदान-प्रदान हुआ। कहने का तात्पर्य यह है कि वास्तुकला के माध्यम से न केवल एक नवीन कला-पद्धति का विकास हुआ वरन भारतीय संस्कृति के वृक्ष के तने से एक और शाखा फूट निकली जो धीरे-धीरे बढ़ती गई।

सल्तनत-काल में पाँच वंशों ने बारी-बारी से राज्य किया। गुलाम वंश के समय में वास्तु-कला के विकास का प्रारंभिक चरण था, फिर भी उसके झुकाव की दिशा स्पष्ट है। खिलजियों के समय में विशाल भवनों का निर्माण हुआ। अलाउद्दीन ने सन् १३१० ई० (सं० १३६७ वि०) में अलाई दरवाजा बनवाया, अगले वर्ष उसने एक लाट की नींव डाली जिसको वह पूरा न कर पाया। उसका बनवाया हुआ हजार स्तंभों वाला महल भारतीय परम्परा का द्योतक है। बौद्ध काल में भी विशाल चैत्यों के बनवाने का रिवाज था। ये सब इमारतें नए खदान के पत्थरों की बनी हुई हैं। तुगलक वंश के संस्थापक ने तुगलकाबाद का किला बनवाया। इसी के निकट उसका मकबरा है जिसका वास्तुकला की शैली के विकास में अधिक महत्व है। उसके कलश का आकार और उसकी सजावट, जो संगमरमर की एक पट्टी द्वारा की गई है, कलश-निर्माण-कला के विकास में एक स्पष्ट सोपान है। इस वंश के अन्तिम भाग में जो इमारतें बनीं उनमें हिन्दू प्रभाव साफ झलकता है। कारण यह है कि इस समय तक नव मुस्लिमों की संख्या अधिक हो गई थी। इन लोगों ने हिन्दू धर्म तो छोड़ दिया था, परन्तु अपने पुराने रीति-रिवाजों को अब भी अपनाए हुए थे। बाहर के देशों से मुसलमानों का आना बंद हो गया था जिसका परिणाम यह हुआ कि शासक-वर्ग के मुसलमानों को इस देश के निवासियों के सन्निकट आना अनिवार्य-सा हो गया, यद्यपि इसमें सन्देह नहीं कि अभी सहिष्णुता का समय दूर था। सैयद और लोदी वंश के सुलतानों ने भी इमारतें बनवाईं, परन्तु कला की दृष्टि से उनका अधिक महत्व नहीं है।

साम्राज्य-विघटन तथा सांस्कृतिक समन्वय

इस प्रसंग में एक ओर और ध्यान देने की आवश्यकता है। तुर्कों की सत्ता चौदहवीं शताब्दी ई० के मध्य तक तो बढ़ती रही, परन्तु उसके पश्चात उसका पतन आरंभ हो गया तथा पतन की धारा का प्रवाह पंद्रहवीं शताब्दी के अन्त तक जारी रहा। साम्राज्य के विघटन के दो परिणाम हुए, जिनका तत्कालीन संस्कृति पर भरपूर प्रभाव पड़ा। एक तो मुसलमानों के सामूहिक आतंक को भारी धक्का लगा, हिन्दुओं को यह भास होने लगा कि तुर्की सत्ता अमर और अचल नहीं है; दूसरे, इस आतंक के कम होते-होते सर्वसाधारण, हिन्दू तथा मुस्लिम जनता, में घनिष्ठता बढ़ने लगी। दोनों के बीच का भेद-भाव तो नष्ट नहीं हुआ, परन्तु वे अब एक दूसरे के विचारों को समझने के लिए प्रयत्नशील होने लगे। इस प्रकार समाज में एक नवीन वातावरण उत्पन्न हुआ। चारों ओर व्यक्तित्व को विकसित करने की प्रेरणा होने लगी। कहने का तात्पर्य यह कि राजकीय सत्ता के विनाश से एक क्लिष्ट बन्धन का अन्त हो गया और जन-समुदाय के बहुमुखी विकास के लिए एक सुनहरा अवसर आ गया। हिन्दू-मुसलिम एकता के प्रचार के लिए परिस्थिति अनुकूल हो चली।

तुर्की साम्राज्य के स्थान पर उत्तर भारत में कई छोटे-छोटे राज्य स्थापित हो गए, जैसे बंगाल, जौनपुर, मालवा और गुजरात में। इनमें से प्रत्येक राज्य में सांस्कृतिक जीवन के प्रमुख अंगों में हिन्दू-मुस्लिम एकता के चिह्न स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। बंगाल, मालवा और गुजरात में वास्तुकला की जिन शैलियों की उन्नति हुई उन पर हिन्दू छाप स्पष्ट है। जौनपुर की मस्जिदों की सजावट हिन्दू कारीगरों की कुशलता का नमूना है। मालवा स्थित जहाजमहल और हिंडोला-महल हिन्दुओं के बनाए हुए हैं। इसी प्रकार गुजरात तथा बंगाल में भी हिन्दू प्रभाव बढ़ा। शासक-वर्ग के मुसलमान होते हुए भी हिन्दुओं में एक नई जागृति पैदा हो गई। यद्यपि वे राजकीय सत्ता प्राप्त न कर सके, परन्तु सांस्कृतिक क्षेत्र में उन्होंने फिर से अपना अधिकार जमाना आरंभ कर दिया।

समन्वय की प्रक्रिया—सूफीमत

एक वर्ग-विशेष के मतानुसार हिन्दू-मुस्लिम-एकता के ध्येय के प्रचार का श्रेय सूफी सम्प्रदाय को है। इस विचार को कसौटी पर कसने की आवश्यकता है। सूफियों के जिस सम्प्रदाय ने भारत में सर्वप्रथम प्रवेश किया वह चिश्तिया सम्प्रदाय था, जिसके संस्थापक ख्वाजा मुईनुद्दीन थे। इनका मकबरा अजमेर में है। ये पृथ्वीराज चौहान के समकालीन थे। इनके शिष्य थे ख्वाजा कुतबुद्दीन ऊशी, इनके शिष्य ख्वाजा फरीदुद्दीन गंजशकर, इनके शिष्य ख्वाजा निजामुद्दीन औलिया, इनके शिष्य थे शेख नसीरुद्दीन चिराग देहलवी। इस गुरु-शिष्य परंपरा में अन्तिम नाम आता है शेख सलीम चिश्ती का जिनका मकबरा सम्राट अकबर ने सीकरी में बनवाया। दूसरा सूफी सम्प्रदाय जो इस देश में आया, सुहरावर्दी सम्प्रदाय था, जिसके प्रवर्तक थे शेख बहाउद्दीन जकरिया। इन्हीं के वंशज थे शेख रुक्नुद्दीन जिनका अलाउद्दीन खिलजी बहुत आदर-सत्कार करता था। गयासुद्दीन तुगलक ने भी इनका सम्मान किया तथा ये सुलतान के साथ ही अफगानपुर के पास उस इमारत से कुचल कर मरे जिसको जूना खाँ ने अपने पिता के स्वागत के लिए बनवाया था। कुत-

बुद्दीन मुबारक खिलजी भी इनका खूब आदर करता था। इस राजकीय संरक्षण का यह प्रभाव पड़ा कि शेख रुक्नुद्दीन शेख निजामुद्दीन के प्रतिद्वन्द्वी समझे जाते थे और दोनों में वैमनस्य रहा करता था। इनके शिष्य थे मीर सैयद जलालुद्दीन मखदूम जहानियाँ जहाँगश्त, जिनको फीरोज तुगलक के मंत्री खानजहाँ का सम्मान प्राप्त था। इन्होंने देश-विदेश की खूब यात्रा की थी, इसीलिए इनको जहाँगश्त अथवा परिव्राजक कहा जाता था। ये अधिकतर उच्छ में रहते थे, परन्तु दिल्ली भी आते-जाते रहते थे। इन अवसरों पर सुलतान फीरोज तुगलक स्वयं इनका स्वागत करने राजधानी से बाहर जाता था। ये सदैव सरकारी अतिथि हुआ करते थे। इनके पुत्र सैयद मुहम्मद आलम ने इनसे भी अधिक ख्याति प्राप्त की और इनके पौत्र अबू मुहम्मद अब्दुल्ला को कुत्बे आलम की उपाधि से संबोधित किया जाता था। इसी सम्प्रदाय में शेख मूसा सुहाग का नाम आता है। ये अहमदाबाद में हिजड़ों के साथ अपना समय व्यतीत किया करते थे। इनके अनु-यायी अपने आपको सदासुहागिन कहते हैं। इस्लाम धर्म के सूफी सम्प्रदाय में इस प्रकार की उपज आश्चर्यजनक प्रतीत होती है। परन्तु सदासुहागिन मत का प्रसार गुजरात से लेकर उत्तर भारत तक खूब हुआ। इस सम्प्रदाय के लोग नाच-गा कर अपनी गुजर-बसर करते हैं। सुहरावर्दी सम्प्रदाय में ही शाह अब्दुल्ला कुरेशी मुलतानी हुए जिनके साथ सिकंदर लोदी ने अपनी एक पुत्री का विवाह कराया। पंद्रहवीं शताब्दी में एक और सूफी सम्प्रदाय ने भारत में प्रवेश किया जिसका श्रेय एक सम्पन्न सौदागर शेख अब्दुल्ला को है। इन्होंने मुस्लिम देशों का खूब भ्रमण किया था और भारत में ये हिसामुद्दीन मानिकपुरी तथा मीर सैयद अशरफ जहाँगीरी जैसे चिश्तिया संतों के संपर्क में आए थ। इसी सम्प्रदाय में शेख बुद्दन का नाम आता है जो सुलतान सिकंदर लोदी के समकालीन थे। इन सम्प्रदायों के अतिरिक्त दो और के नाम उल्लेखनीय हैं। पहले का नाम है कादिया जिसका भारत में मुहम्मद गौस द्वारा प्रवेश हुआ। सुलतान सिकंदर लोदी इनके शिष्य बने तथा इन्होंने मुलतान के हाकिम कुतबुद्दीन लंकाह की लड़की के साथ विवाह किया। इस सम्प्र-दाय का प्रचार उच्च श्रेणी में अधिक हुआ। अमीरों और सुलतानों ने इसे अपनाया। दूसरे का का नाम है कलन्दरिया सम्प्रदाय, जिसके प्रवर्तक थे शेख बूअलीशाह कलंदर, जो सुलतान अला-उद्दीन खिलजी के समकालीन थे। इसी सम्प्रदाय में शेख हमीद कलंदर तथा शेख मुहम्मद कलंदर के नाम आते हैं। इस सम्प्रदाय का भी खूब प्रचार हुआ और इसके प्रतिनिधि अब भी पाए जाते हैं। इनकी तुलना औघड़ों से की जा सकती है। इनमें से कुछ नग्न रहते हैं तथा उन्हें जो भी मिल जाता है, खा लेते हैं।

ऊपर के विवरण से कई बातें स्पष्ट हो जाती हैं। प्रथम यह कि सूफी सम्प्रदाय दो प्रकार के थे। एक का प्रभाव उच्च वर्ग के लोगों पर पड़ा तथा दूसरे का संपर्क तथा प्रभाव जन-साधारण पर था। सूफी संत सादा, आडंबर-रहित जीवन व्यतीत करते थे तथा वे प्रेम में मस्त रहते थे। भावुकता उनकी विशेषता थी। उनमें से बहुतों को तो सिद्धि भी प्राप्त थी। कुतबुद्दीन ऊशी के संबंध में नाना प्रकार की किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। उनको काकी के उपनाम से संबोधित किया जाता था और इसका कारण यह बताया जाता है कि जब भी वे चाहते थे, गर्म रोटियों का थाल आकाश से उतर आता था और ये रोटियाँ उनके पास बैठे हुए लोग खाते थे। इसी प्रकार बाबा फरीद के बारे में प्रसिद्ध है कि उपवास से व्याकुल होकर वे मिट्टी के ढेले मुँह में डाल लेते थे

और वे ढेले शक्कर के टुकड़े बन जाते थे। निजामुद्दीन चिश्ती तथा शेख सलीम चिश्ती की दरगाहों में अब भी लोग जा कर मनौती मनाते हैं और जब ये संत जीवित थे, तब भी हजारों स्त्री-पुरुषों का जमाव रहा करता था। आशीर्वाद देते समय ये संत धर्म का भेद नहीं करते थे, केवल श्रद्धा की ही तौल किया करते थे। कामनाओं की पूर्ति होने पर प्रभाव का पड़ना स्वाभाविक ही था। चिश्ती सम्प्रदाय के संत संगीत-प्रेमी होते थे। उनमें से कुछ ने तो कव्वाली सुनते-सुनते ही अपने प्राण त्याग दिए। कव्वाली में वह आकर्षण होता है जो मनुष्य के हृदय को प्रेम-विभोर कर देता है और जब कव्वाली सुनने के लिए हिन्दू-मुसलमान दोनों ही दरगाहों में इकट्ठा होते थे, तो दोनों में धीरे-धीरे संपर्क और सामंजस्य बढ़ना स्वाभाविक था। यह भी संभव है कि संतों की करामात से प्रभावित होकर बहुत-से हिन्दुओं ने अपना धर्म बदल दिया हो। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि सूफी प्रेम-मार्ग के सहारे इन दोनों जातियों की जनता का पारस्परिक संबंध विस्तृत तथा निकटतम हो गया जिसके द्वारा विचार-विनिमय तथा भावनाओं के आदान-प्रदान का सुगम रास्ता मिल गया। इस संबंध में यह भी याद रखने की बात है कि सूफी मत का प्रभाव हिन्दुओं की निम्न श्रेणियों पर अधिक पड़ा जिसके फलस्वरूप उनके बीच धीरे-धीरे एक धार्मिक आन्दोलन की धारा बहने लगी।

इस प्रकार भारत की संस्कृति के प्रत्येक क्षेत्र में पन्द्रहवीं शताब्दी में एक नवीन धारा दृष्टि-गोचर होती है। इस धारा का बहाव निम्न श्रेणियों में सीमित है। इस श्रेणी के लोग मानसिक उन्नति के लिए व्याकुल दिखाई पड़ते हैं। जिस तरह हिन्दुओं में उच्च तथा निम्न वर्गों में एक चौड़ी खाई बन गई थी, उसी तरह मुसलमानों में भी बन गई। यद्यपि इस्लाम धर्म में समानता तथा बन्धुत्व पर अधिक बल दिया गया है, फिर भी आर्थिक वास्तविकता ने धार्मिक आदर्श को अगर सर्वथा मिटा नहीं दिया, तो उसको धुंधला तो अवश्य ही कर दिया। मुस्लिम जनता को सूफियों से प्रेरणा तो मिली, परन्तु कट्टरतावादी नेताओं ने भरसक इसका विरोध किया और समय-समय पर वे अपनी छाप धार्मिक विषयों पर लगाते रहे और जनता को आगे बढ़ने से रोकते रहे। इसके विपरीत हिन्दुओं को सूफी प्रेम-मार्ग ने एक नया रास्ता दिखाया जिसमें उनकी पुरानी परम्परा के भी चिह्न विद्यमान थे। हिन्दू धर्म में ब्रह्म के सगुण तथा निर्गुण दोनों ही रूप स्वीकृत हैं। तुर्कों की राजकीय सत्ता के प्रसार के पश्चात भी सगुण विचारधारा का अन्त नहीं हुआ। मन्दिरों के विध्वंस से भावनाओं को मिटाना असंभव था। इसके सिवा जितने मन्दिर तोड़े गए उससे कहीं अधिक संख्या में विद्यमान रहे, तथा सगुण-परम्परा के केन्द्र माने जाते रहे। इस सगुण विचारधारा को ही नव मुस्लिम अपने साथ ले गए जिसके कारण कब्रों तथा दरगाहों की पूजा को बल मिला। इसका रिवाज इतना बढ़ा कि सुलतान फीरोज तुगलक को मनाही के आज्ञापत्र निकालने पड़े। परन्तु हिन्दू धर्म की जो छाप इस्लाम पर लगी वह अमिट थी। सुलतानों के लिए उसको मिटाना असंभव था। जन-साधारण ने उसको अपना लिया।

हिन्दू धर्म—भक्ति-आंदोलन

इसी प्रकार इस्लाम का भी हिन्दू धर्म पर प्रभाव पड़ा। यद्यपि निर्गुणवाद इस्लाम की देन नहीं है, यह विचारधारा हिन्दू धर्म में पुराने समय से विद्यमान थी, मध्यकालीन भारत में शंकर ने इसको बल दिया था, परन्तु इसका प्रसार केवल दार्शनिकों एवं ज्ञानवादियों तक ही सीमित

रहा। शीघ्र ही सगुणवादियों ने अपने उखड़ते हुए पैरों को फिर से जमा लिया। चौदहवीं शताब्दी तक सगुणवाद का बोलबाला हो गया। इसके अनुयायियों ने भ्रमण करके इसका प्रचार किया। इसके प्रमुख उपदेशक दक्षिण से उत्तर भारत में आए। सगुण सम्प्रदाय में भी दो दल दिखाई पड़ते हैं। एक दल विद्वानों का था जो कि तर्क के सहारे अपने सिद्धान्तों की पुष्टि करते थे तथा अपने विचारों के स्पष्टीकरण में हिन्दू धर्म के प्रामाणिक ग्रन्थ, जैसे गीता व भागवत का सहारा लेते थे। इस दल के सदस्य उच्चतम शिक्षा-प्राप्त होते थे। दूसरा दल था जन-साधारण का जिनके अध्यात्म का आधार केवल विश्वास था और यह विश्वास बहुधा अंधविश्वास तक पहुँच जाता था। कहने का मतलब यह है कि सगुणवाद में भी अनेक प्रकार के दोष घर कर गए थे। सैद्धान्तिक रूप से सगुणवाद मुसलमानों के लिए घृणा की वस्तु था। निम्न श्रेणी के हिन्दुओं को उसमें विश्वास तो था, परन्तु इस्लाम धर्म की सरलता तथा सूफियों के शुद्ध आचरण और प्रचार ने इन लोगों के मध्य असन्तोष की लहर दौड़ा दी और धीरे-धीरे वातावरण ऐसा बन गया जिसमें परिवर्तन की विद्युत-शक्ति निम्न श्रेणी के नेताओं को आगे बढ़ने की प्रेरणा प्रदान करने लगी। आशा की उषा उनको अपनी ओर निरन्तर खींच रही थी। इस आशा में लोक तथा परलोक दोनों को सफल बनाने के मार्ग को ढूँढ़ निकालने का प्रोत्साहन था तथा आध्यात्मिक क्षेत्र को विद्वत्समाज तथा शिक्षित दल के एकाधिकार से मुक्त करके जन-साधारण के समीप लाने का ध्येय था। यह समय निम्न वर्ग के धार्मिक उत्थान का है। भक्ति-आन्दोलन के नेता इसी वर्ग के थे। ये लोग जन-साधारण की नाड़ी पर निरन्तर हाथ रखे रहे। कबीर तथा नानक ने हिन्दू-मुस्लिम एकता पर इस कारण बल नहीं दिया कि इसकी भित्ति पर उनको किसी राजकीय महल का निर्माण करना था। उन्होंने इस विचार का इसलिए प्रचार किया कि यह उस समय की मांग थी। कबीर, धन्ना, सेना, रविदास इत्यादि की उत्पत्ति निम्न वर्गों में ही हुई थी। यद्यपि उनको प्रेरणा रामानन्द से मिली, परन्तु उन्होंने उनके विचारों को अपने साँचे में ढाला तथा अपनी ही श्रेणी के नैतिक स्तर को ऊँचा करने का प्रयत्न किया।

भक्ति-आन्दोलन का मूलाधार तो हिन्दू धर्म ही था, परन्तु उसकी प्रगति को तीव्र करने का श्रेय इस्लाम धर्म को है। पुरातन काल के भक्ति-मार्ग तथा नवीन भक्ति-आन्दोलन में अन्तर था। पुरानी पद्धति के अनुसार भक्ति-मार्ग केवल द्विज-धर्मियों के लिए था, अन्य जातियों के लिए प्रपत्ति का मार्ग था। यद्यपि यमुनाचार्य ने इस भेद को मिटाने का उपाय किया और अपने शिष्य रामानुजाचार्य को इस कार्य की पूर्ति के लिए आदेश भी दिया, परन्तु आचार्यों का आचार-विचार, उनका धर्मशास्त्र से प्रभावित होना तथा उनका रूढ़िवाद से संबंध, ऐसी अड़चनें थीं, जिनके कारण ऊँचे और नीचे वर्गों का अन्तर मिट न सका। यहाँ तक कि रामानन्द को कबीर को दीक्षा देने में संकोच ही हुआ। इतना होते हुए भी समय की माँग को ठुकराया नहीं जा सकता था। सूफियों ने भक्ति को ज्ञान से अलग करके उसे प्रेम के रंग में रँग दिया, और प्रेम भी ऐसा कि जिसकी अन्तिम दशा में प्रेमी और प्रिय का अन्तर ही समाप्त हो जाता है। प्रेम की इस व्याख्या से हिन्दू परिचित तो थे, परन्तु उस पर पूर्णरूप से आरूढ़ होना नहीं चाहते थे। मुसलमानों के संपर्क में आने से निम्न जातियों में एक नए दृष्टिकोण का संचार हुआ। उनको भी यह सोचने का अवसर मिला कि प्रेम के माध्यम से किस प्रकार भक्ति प्राप्त की जा सकती है। सगुण भक्ति

का मार्ग उनके सामने था, परन्तु यह मार्ग रूढ़िवाद की श्रृंखला से जकड़ा हुआ था। इसमें उनके लिए कोई स्थान न था। सूफियों के विचार का आधार निर्गुणवाद था, यद्यपि उनके निराकार में प्रियतम के गुण भी थे और उसके आकार का भी ध्यान किया जा सकता था। नवीन भक्ति-मार्ग सूफी निर्गुणवाद तथा हिन्दू सगुणवाद के बीच का रास्ता है। निर्गुणवाद से इसको नैतिक विचार मिले, शब्दों का भंडार मिला तथा निर्गुणवाद और अद्वैतवाद से इसको आगे बढ़ने की प्रेरणा मिली। जिस वातावरण में नवीन भक्ति-मार्ग की उत्पत्ति हुई वह समन्वय तथा सामंजस्य की विद्युत-शक्ति से ओत-प्रोत था, इसीलिए उसमें हिन्दू और मुस्लिम, दोनों धर्मों के विचार मिलते हैं। परन्तु इन विचारों की व्याख्या पुरानी परम्परा से विलग है। कबीर की शब्दावली के अर्थ नए हैं और नानक तो बार-बार यही कहते हैं कि मैं न हिन्दू हूँ और न मुसलमान। इतिहास इस बात का साक्षी है कि ये दोनों महापुरुष हिन्दू धर्म से उतने ही प्रभावित हुए, जितने इस्लाम धर्म से। पंद्रहवीं शताब्दी ई० की सांस्कृतिक उथल-पुथल को बिना समझे कबीर तथा नानक के दृष्टिकोण को समझना असंभव है। भक्ति-काल का हिन्दी साहित्य इसीलिए प्रेम-मार्गी है कि प्रेम का उस समय नैतिक जीवन में विशेष महत्व था। प्रेम ही मुक्ति-प्राप्ति का एक साधन था तथा प्रेम के द्वारा ही ऊँच-नीच, जाति-पाँति का भेद मिटाया जा सकता था। भक्ति-आन्दोलन का ध्येय न केवल आध्यात्मिक उन्नति था, वरन सामाजिक उत्थान भी था। इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि पंद्रहवीं शताब्दी ई० राजनीतिक दृष्टिकोण से ह्रास का समय था, परन्तु सांस्कृतिक दृष्टिकोण से यह समय रचनात्मक कार्यों का था। प्रत्येक क्षेत्र में नवीन रूप से मूल्यांकन हो रहा था तथा एक महत्वपूर्ण परिवर्तन के लिए आँकड़े इकट्ठे हो रहे थे।

मुगल-काल—सोलहवीं शताब्दी की नई सांस्कृतिक चेतना

सोलहवीं शताब्दी ई० के आरम्भ होते-होते भारतीय संस्कृति का एक नया चित्र दृष्टि-गोचर होने लगता है। प्रथम पच्चीस वर्षों के बाद मध्य एशिया के एक प्रसिद्ध विजेता ने एक नए वंश की नींव डाली, जिसका ऐतिहासिक नाम है चगताई वंश। इस वंश के पदार्पण के साथ-साथ सांस्कृतिक तथा राजनीतिक विषयों का फिर से मूल्यांकन हुआ। सुलतान काल में सरकार के सामने केवल दो ही ध्येय थे—(१) साम्राज्य का विस्तार करना तथा (२) इसकी पूर्ति के लिए आवश्यक साधन जुटाना। विशाल साम्राज्य की आकांक्षा राजपूत-काल के चक्रवर्ती आदर्श का प्रतिबिम्ब तथा समयानुकूल थी। सुलतानों ने पहले उत्तर भारत पर अधिकार स्थापित किया, तत्पश्चात वे दक्षिण की ओर बढ़े। सन् १३१२ ई० (सं० १३६९ वि०) तक समस्त प्राय-द्वीप उनकी सत्ता को स्वीकार करने लगा। जब सुलतानों को सैनिक बल से सफलता प्राप्त हो गई, तब उन्होंने देश को एक मोटे विधान के अन्तर्गत करने का प्रयत्न किया। यह विधान आजकल के विधान के समान न था। इसके आधार थे मुसलमानी शरह, सैनिक बल तथा शान्ति की आवश्यकता। अतएव इस प्रकार की शान्ति का वातावरण स्वभाविक न था, फिर भी उसमें संस्कृति के एक अंग की खूब उन्नति हुई। इस्लाम धर्म, फारसी भाषा तथा सूफी सम्प्रदाय अच्छी प्रकार फूले-फले तथा कला के क्षेत्र में भी यथोचित प्रगति हुई। इसका परिणाम यह हुआ कि विजेता तथा विजित में जो भेद था वह धीरे-धीरे कम होने लगा और तुर्क लोग भारत को ही अपना

देश समझने लगे, तथा भारतवासी तुर्कों को अपना राजनीतिक नेता मानने लगे। इस कथन का साक्षी सम्राट बाबर है। इब्राहीम लोदी के विरुद्ध उसको किसी भी भारतीय वर्ग की सहायता न मिली। मुगल फौजों को देखते ही भारतवासी भाग जाते थे तथा उनको रसद इकट्ठा करना दुष्कर कर देते थे। इसी प्रकार जब राजपूतों के साथ बाबर का संघर्ष हुआ तो संग्रामसिंह के सहायकों में कई तुर्क नेता थे और बहुत से मुसलमान सिपाही भी। इब्राहीम लोदी के प्रति हिन्दू जनता की सहानुभूति का एक विशेष महत्व है, वह यह कि उसके पिता के किए हुए अत्याचारों को वह भूल गई थी अथवा इतिहासकारों ने इन अत्याचारों का ब्यौरा अत्युक्ति करके दिया है।

राजनीतिक क्षेत्र **में** चौदहवीं शताब्दी ई० के मध्य भाग से केन्द्राभिसारी प्रवृत्ति का प्रारंभ होता है, जिसका वेग दिनोंदिन बढ़ता ही गया। जब लोदी वंश सिंहासनारूढ़ हुआ तब अवस्था कुछ सुधरी तथा बंगाल, गुजरात और मालवा को छोड़कर शेष उत्तरी भारत पर एकछत्र राज्य स्थापित हो गया। यह घटना **केन्द्राभिसारी** प्रवृत्ति के आगमन की द्योतक थी और जब इसका संतुलन उस समय की सांस्कृतिक प्रवृत्तियों से करते हैं तो हमारे सामने हूबहू उसी प्रकार का चित्र प्रस्तुत हो जाता है। यद्यपि चगताई वंश के आगमन से राजनैतिक केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति को धक्का लगा, परन्तु यह परिस्थिति अस्थायी थी। वास्तव में समस्त प्रवृत्तियाँ एक ही दिशा की ओर बढ़ रही थीं, वह दिशा थी एकीकरण की। मुगल चगताइयों के आगमन से इस विस्तीर्ण जागृति को अधिक बल मिला। बाबर, हुमायूँ तथा शेरशाह सूरी के विचार उदार थे। यद्यपि पूर्ववर्ती सम्राटों के समान उनका भी आदर्श साम्राज्यवादी था, परन्तु अब साम्राज्यवाद का ध्येय तथा अर्थ बदलने लगा था। साम्राज्य का आधार पहले की भाँति अब भी सेना ही थी तथा सेना ही शान्ति-स्थापन के कार्य में सहायता देती थी। परन्तु अब शान्ति-स्थापन का केवल इतना ही उद्देश्य न था कि उसके सहारे साम्राज्य की वृद्धि की जा सके तथा सम्राट के आतंक का आभास कराया जा सके, वरन सम्राटों का ध्यान जनता को सुखी और संपन्न करने की ओर आकर्षित होने लगा था। शेरशाह तथा अकबर के भूमिकर-संबंधी सुधारों से नवीन राजनीतिक दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है। शेरशाह को कृषकों के अधिकार की सुरक्षा का सदैव ध्यान रहता था और अकबर ने तो निश्चित नियम बना दिए थे, जिनका पालन करना सरकारी कर्मचारियों का कर्तव्य था। इस प्रकार जनता को एक नया स्तर प्राप्त हो रहा था और धीरे-धीरे वह उन राजनीतिक बन्धनों से मुक्त हो रही थी जो सुलतान-काल में उस पर लागू किए गए थे। शेरशाह ने योग्यतानुसार सरकारी पद देकर मुसलमानों के एकाधिकार को ठेस लगाई और अकबर ने इस सिद्धान्त पर जम कर हिन्दुओं के राजनीतिक स्तर को मुसलमानों के बराबर कर दिया।

भाषा, साहित्य तथा कला

सोलहवीं शताब्दी ई० प्रत्येक दिशा में प्रगतिशील दिखाई पड़ती है। सुलतान-काल में भी फारसी भाषा तथा साहित्य को प्रोत्साहन मिला था। परन्तु इस शताब्दी में फारसी भाषा तथा साहित्य की बहुमुखी उन्नति हुई। कवियों एवं इतिहासकारों ने मूल ग्रन्थों की रचना तो की ही, इसके साथ-साथ जब फारसी को सरकारी भाषा घोषित कर दिया गया, तो उसके प्रसार की गति अधिक तीव्र हो गई। यद्यपि फारसी शासक-वर्ग की ही भाषा रही, परन्तु इस वर्ग में अब हिन्दू-

मुसलमान दोनों ही सम्मिलित थे, इस कारण इसका प्रभाव अदृश्य रूप से व्यापक होने लगा। भारतीय फारसी शैली का प्रारंभ तो सुलतान-काल से ही होता है, परन्तु इसका पूर्ण विकास चगताई-युग में ही हुआ। अबुलफजल की गद्य-रचनाएँ प्रामाणिक सिद्ध हुईं। उसके लिखे हुए पत्रों का अर्थ समझना आसान न था। मध्य एशिया के शासक अब्दुल्लाखाँ उजबक ने यह कहा था कि "मैं अकबर की तलवार से उतना नहीं डरता हूँ, जितना अबुलफजल के वाक्यों से।" जो ख्याति अबुलफजल को गद्य में प्राप्त हुई, उतनी ही, बल्कि उससे भी अधिक उसके भाई फैजी को पद्य में प्राप्त हुई। सम्राट ने उसको राजकवि की उपाधि से अलंकृत किया। अकबर का दरबार फारसी के विद्वानों से भरा था। कुछ अमीर-कबीर भी इस भाषा पर अधिकार रखते थे, परन्तु फारसी भाषा के प्रसार तथा प्रचार का उद्देश्य केवल सरकारी सत्ता को जमाना ही न था, बल्कि इससे कहीं उच्चतम था—वह यह कि मुस्लिम वर्ग के प्रमुख सदस्यों को हिन्दू धर्म के प्रामाणिक ग्रन्थों से परिचित कराना और इस साधन द्वारा हिन्दू-मुस्लिम एकता को स्थिर करना। ऐसी ही भावनाओं से प्रेरित होकर अकबर ने रामायण, महाभारत तथा गीता और योगवाशिष्ठ का फारसी में अनुवाद कराया। इस बहाने फारसी के विद्वानों को संस्कृत भाषा का ज्ञान प्राप्त करना पड़ा। अकबर को दर्शन से विशेष अनुराग था। उसकी तीव्र आकांक्षा थी कि इस्लाम धर्म के अतिरिक्त वह भारतीय मत-मतान्तरों के गूढ़ तत्वों को भी समझ ले। इसी उद्देश्य से उसने सीकरी में इबादत-खाना स्थापित किया। उसकी व्यापक सहिष्णुता का समकालीन संस्कृति के प्रत्येक अंग पर प्रभाव पड़ा और हिन्दू-मुस्लिम एकता की प्रवृत्ति को बल मिला। उसका राज्य-काल भारत के इतिहास में रचनात्मक तथा क्रियात्मक काल है। उसकी कामनाओं का प्रभाव व्यापक सिद्ध हुआ।

यदि हम कला की ओर ध्यान दें तो उसकी प्रगति में भी इसी प्रकार की प्रवृत्तियाँ दृष्टि-गोचर होती हैं। वास्तुकला सुलतान-युग से एक विशेष रूप धारण कर रही थी। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, उसका बाह्य आकार मुसलमानी था, परन्तु उसकी अन्तरात्मा हिन्दी थी। अकबर ने इस क्षेत्र में भी नाना प्रकार के प्रयोग किए, जिसका ज्वलन्त चित्र हमको सीकरी में मिलता है। पंचमहला बौद्ध शैली के अनुसार बना हुआ है, तो जोधाबाई के महल में राजपूत-कला का पूर्ण प्रदर्शन किया गया है। सुनहरे मकान का अलंकरण और सजावट अद्वितीय है। इसी समूह के सलीम चिश्ती का संगमरमर का मकबरा समाट की श्रद्धा-भक्ति तथा कृतज्ञता का द्योतक है और बुलन्द दरवाजा उसकी राजनीतिक सफलता का जीता-जागता चिह्न है। स्पष्ट है कि सीकरी के निर्माण में यदि सम्राट की कल्पना ने योग दिया तो उसकी रूपरेखा को पत्थर के माध्यम से ढालने का श्रेय हिंदू-मुस्लिम कारीगरों के सामूहिक परिश्रम को है। इसी प्रकार की प्रवृत्तियाँ आगरे के किले में भी विद्यमान हैं। जहाँगीरी महल की सजावट तथा उसका वातावरण ठेठ हिन्दू है। इलाहाबाद के किले की बारहदरी भी इसी साँचे में ढली हुई है। सारांश यह कि अकबर की उदार मनोवृत्ति ने हिन्दू तथा मुसलमान दोनों को ही उन्नति करने का अवसर प्रदान किया। इनकी रचनात्मक प्रतिद्वन्द्विता का परिणाम भारतीय संस्कृति के उत्थान के लिए हितकर ही सिद्ध हुआ। वास्तुकला ने प्रगतिशील दिशा में कदम उठाया। शिल्पकार बन्धनों से मुक्त होकर अपने व्यक्तित्व को स्पष्ट करने में लग गया, जिससे कला निखरने लगी।

वास्तुकला के समान ही चित्रकला में भी उन्नति हुई। पिछले तीन सौ वर्षों से इस कला को सरकारी प्रोत्साहन मिलना बन्द हो गया था। किसी सजीव वस्तु का आकार अंकित करना इस्लाम धर्म के सिद्धान्तों के विरुद्ध था। इस पर भी कुछ इतिहासकारों ने यह संकेत किया है कि सुलतानों के कोई-कोई महल चित्रों से अलंकृत थे। फीरोज तुगलक ने लिखा है कि उसने इन चित्रों को मिटवा दिया। सारांश यह कि चित्रकला का चलन कम हो गया था, यद्यपि हिन्दू अब भी इसको अपनाए हुए थे। इस समय के जैन ग्रन्थ उपलब्ध हैं जिनसे यह अनुमान सिद्ध होता है। दूसरे यह कि जब अकबर ने वास्तुकला के समान चित्रकला के क्षेत्र में प्रयोग किया तो उसको हिन्दू चितेरे काफी संख्या में मिल गए और वे भी ऐसे जो अपने हुनर में दक्ष थे। हुमायूँ कई प्रमुख चितेरों को ईरान से अपने साथ लाया था और उसने अकबर को चित्र का ज्ञान प्राप्त करने की सुविधा प्रदान की थी जिसका कि राजकुमार ने पूरा फायदा उठाया। परन्तु अकबर तो साम्राज्यवादी होते हुए भी राष्ट्रवादी था, वह ईरानी शैली से ही संतुष्ट होने वाला न था। ईरानी शैली ग्रन्थ शोभित करने तक ही सीमित थी। ये कलाकार छोटे-छोटे चित्र, किस्से-कहानियों को चित्रित करने के लिए बनाते थे। ये चित्र ग्रन्थ के अंग होते थे। इनमें कल्पना की उड़ान तो अवश्य होती थी, परन्तु वास्तविकता का पुट अधिक मात्रा में रहता था। इसके विपरीत भारतीय चित्रकला के मूलाधार और ही थे। ये चितेरे ग्रन्थ अलंकृत करने की कला से अनभिज्ञ तो न थे, परन्तु वे अपने कौशल का प्रदर्शन दीवार पर चित्रकारी के द्वारा ही करते थे। यह परम्परा अजंता तथा एलोरा के भित्ति-चित्रों के समय से भारत में अविरल रूप से विद्यमान रही। अकबर जैसे पारखी ने इससे लाभ उठाया और भारतीय कारीगरों को संरक्षण तथा प्रोत्साहन प्रदान किया। उसने फतेहपुर सीकरी की दीवारों पर चित्र बनवाए जिनकी धुँधली रेखाएँ एक महत्वपूर्ण विषय की सूचक हैं। ईरानी कलाकारों के संपर्क में आकर दशवन्त, बसावद तथा लाल जैसे हिन्दू चितेरों ने ग्रन्थ अलंकृत करने के हुनर को सीख लिया तथा तैमूरनामा और रज्मनामा (महाभारत) जैसे ग्रन्थों को अपनी कृतियों से सुशोभित किया। इन चित्रों में ईरानी प्रभाव स्पष्ट है। विषय भारतीय होते हुए भी उनका आवरण ईरानी है। चित्रकला के उत्कर्ष में भी हिन्दू-मुसलमान दोनों ने ही मिलकर परिश्रम किया।

कला तथा साहित्य की दिनोंदिन उन्नति होने लगी, जिसका श्रेय शासक तथा शासन-संबंधी वर्ग को था। जहाँ तक फारसी साहित्य तथा वास्तुकला और चित्रकला का संबंध है, इनका प्रोत्साहन तथा संरक्षण इन्हीं श्रेणियों का एकाधिकार बन गया था। जहाँ तक धर्म का संबंध है, सम्राट अकबर की सहिष्णुता की नीति का यह ध्येय था कि हिन्दू-मुसलमानों के बीच जो द्वेष और ईर्ष्या के भाव थे वे मिट जाएँ। उनके प्रयत्नों के दो अदृश्य परिणाम ये हुए कि एक तो हिन्दुओं के नीतिशास्त्र, धर्मशास्त्र तथा भौतिक ज्ञान के ग्रन्थों की श्रेष्ठता व्यापक हो गई और दूसरे, हिन्दुओं को विचारों की स्वतंत्रता प्राप्त हो गई। हिन्दू धार्मिक क्षेत्र में एक प्रकार का संघर्ष चल रहा था। कबीर तथा नानक जैसे संतों ने निडर होकर अवतारवाद, सगुणवाद, बहुदेववाद का खण्डन किया था और निम्न वर्ग में एक नया नैतिक जोश फूँक दिया था। यह वर्ग उन्नति की ओर अग्रसर था। द्विज धर्मियों को यह प्रवाह खटका। इससे उनके अधिकारों पर चोट लगती थी, उनके सम्मान तथा प्रतिष्ठा की हानि होती थी। इस वर्ग के लोग सचेत होकर अपने नेतृत्व के पुनः स्थापन के

लिए प्रयत्नशील हो गए। नवीन विचारधारा को शास्त्रीय आवरण पहनाया गया। भक्ति के सार को लेकर सगुणवाद के साँचे में ढाल कर पुराने आदर्शों को लोकप्रिय बनाने के लिए नाना प्रकार के उपाय किए गए। जनता की मांग को ध्यान में रख कर तुलसीदास ने संस्कृत का मोह कुछ हद तक त्याग कर अवधी में पद्य के माध्यम द्वारा हिन्दू धर्म के आदर्शों का प्रचार किया तथा वल्लभ के वंशजों और शिष्यों ने ब्रजभाषा को अपनाया। सूर ने अपनी रचनाओं द्वारा साक्षात ब्रह्म की जीती-जागती मूर्ति को भक्तों के सामने प्रस्तुत कर दिया। जिस प्रकार निर्गुणवाद के आन्दोलन से पंद्रहवीं शताब्दी में हिन्दी साहित्य को बल मिला, ठीक उसी तरह सगुणवाद ने सोलहवीं शताब्दी में इस साहित्य के प्रसार तथा उन्नति में योग दिया। इस वर्णन से इस निष्कर्ष पर न पहुँचना चाहिए कि इस शताब्दी में निर्गुणवादी विचारधारा का अन्त हो गया, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उनकी गति अधिक क्षीण हो गई।

प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ

सोलहवीं शताब्दी ई० के सांस्कृतिक वातावरण के प्रसंग में कई अन्य विशेषताओं को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। यदि एक ओर सामंजस्य तथा एकीकरण की प्रवृत्ति बलपूर्वक काम कर रही थी, तो दूसरी ओर हिन्दू तथा मुसलमान दोनों वर्गों में रूढ़िवादी अपने पैर जमाने के लिए भरसक परिश्रम कर रहे थे। अकबर ने मुसलमान रूढ़िवादियों को दबाने का भरसक प्रयत्न किया, मगर व्यक्तियों का संहार किया जा सकता है, विचारों का नहीं। इस्लाम धर्म में भ्रातृत्व, शान्ति तथा समानता के सिद्धान्तों के होते हुए भी उसके अनुयायियों की मनोवृत्ति में संकीर्णता विद्यमान रहती है। कारण इसके कुछ भी हों, परन्तु इसके होने से इनकार नहीं किया जा सकता। इसका मतलब यह नहीं कि समस्त मुसलमान समुदाय असहिष्णुता के रंग से सराबोर होते हैं, परन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि उनमें से बहुधा गौण विषयों को लेकर उत्तेजित हो जाते हैं तथा धर्म के संबंध में वे अधिक प्रभावशील होते हैं। फिर इसमें कौन-सी आश्चर्य की बात है कि अकबर की सहिष्णुता की नीति से इनके एक वर्ग को असन्तोष हुआ? इस वर्ग ने अपनी रूढ़िवादी कार्यवाही जारी रखी, कभी खुल्लमखुल्ला और कभी छिपकर। इसी प्रकार हिन्दुओं में भी प्रगतिवादियों और रूढ़िवादियों में संघर्ष चलता रहा। यद्यपि इस द्वन्द्व का प्रभाव साम्राज्य की नीति पर अधिक न पड़ा, लेकिन जनता इससे विलग न रह पाई। इस द्वेषपूर्ण प्रवृत्ति का परिणाम आगामी शताब्दी में भीषण सिद्ध हुआ।

दूसरे यह कि जब अकबर की महत्वाकांक्षाएँ फलीभूत हो गईं और उसको एक विस्तृत साम्राज्य पर एकछत्र शासन करने का अवसर प्राप्त हुआ, तो उसने जनता के सुख, शान्ति और संपन्नता के ध्येय को निरन्तर अपने सामने रखा। उसके विचार उदार थे। उसकी कामनाएँ आदर्शपूर्ण थीं। धन-राशि से उसका कोष भरा था। समस्त संसार में उसकी ख्याति फैल गई थी और उसके साथ भारत की बहुमुखी श्रेष्ठता का नाम भी। इसमें सन्देह नहीं कि भारत में स्वर्ण-युग आ गया था। हिन्दू शास्त्रीय कसौटी पर पूरा न उतरते हुए भी मुगल सम्राटों के आदर्श ऊँचे थे। बाबर तथा हुमायूँ का अपने भाइयों के साथ व्यवहार जिसके कारण उनको निर्वासन भोगना पड़ा तथा अकबर की अपने सौतेले भाई हकीम के प्रति सौहार्द की भावना भगवान राम

की स्मृति जाग्रत करती है। संभव है इन्हीं उदाहरणों से प्रेरित होकर समकालीन हिन्दू कवियों ने अपने ग्रन्थों को रचा हो। इनकी कृतियों में जो राज-दरबार तथा शाही वैभव का वर्णन मिलता है वह ठीक मुगल सम्राट के दरबार का है और सम्राट अकबर ने तो बहुत से हिन्दू रिवाज अपना लिए थे। उसके पूर्ववर्ती सम्राटों ने भी कुछ हद तक ऐसा ही किया था। परन्तु इतना वैभव प्राप्त होते हुए भी अकबर के जीवन में सादगी और सरलता थी, जिसका व्यापक प्रभाव समस्त समकालीन सांस्कृतिक पद्धति पर पड़ा। अबुलफजल की भाषा शब्दाडम्बर और अलंकार-पूर्ण थी, परन्तु फैजी की कविता, रसमयी थी। इन दोनों भाइयों को तो ईरानी विद्वानों का मुकाबिला करना था। वास्तुकला तथा चित्रकला में अलंकार की अपेक्षा हुनर का अधिक प्रदर्शन है। इसी प्रकार की सादगी का परिचय हमको हिन्दी काव्य में भी मिलता है। अबुलफजल के समान तुलसीदास ने भी सरल तथा विलष्ट दोनों तरह की भाषा का प्रयोग किया और फैजी के समान सूर ने अपने पदों में रस भर दिया। अन्तर केवल इतना ही है कि अबुलफजल और फैजी की कृतियाँ विशिष्ट वर्ग के लिए थीं और तुलसीदास और सूर की कृतियाँ जन-साधारण के लिए थीं। परन्तु दोनों ही अपने-अपने ढंग से समकालीन संस्कृति का चित्र प्रदर्शित करती हैं।

सम्मिश्रण, संकलन और सामंजस्य की भावनाएँ सोलहवीं शताब्दी ई० में पराकाष्ठा तक पहुँच गईं। तत्पश्चात प्रतिक्रिया की ओर प्रवृत्ति अग्रसर हुई। यदि हम सत्रहवीं शताब्दी ई० की सांस्कृतिक रूपरेखा पर विहंगम दृष्टिपात करें तो हमारे सामने नाना प्रकार की धारणाओं से रँगा हुआ रंगबिरंगा चित्र प्रस्तुत होता है। समस्त वातावरण पर सामान्य रूप से शासक-वर्ग का प्रभाव स्पष्ट है। अरबी की एक कहावत है, जैसा राजा करता है, वैसा प्रजा करती है। इसी प्रकार की हूबहू कहावत हमारे देश में भी प्रचलित है---यथा राजा तथा प्रजा। वास्तव में प्राचीन तथा मध्ययुग में राजा के आदर्शों तथा कार्यों का अनुकरण प्रजा करती थी। इस कसौटी पर यदि सत्रहवीं शताब्दी ई० के सांस्कृतिक वातावरण तथा प्रगति को कसा जाए तो अधिक हद तक यही सिद्ध होगा। विगत पचास वर्षों में मुगल साम्राज्य सुसंगठित तथा वैभवपूर्ण हो गया था। यद्यपि मुगल सिक्का कन्धार से लेकर गौड़ और कश्मीर से लेकर अहमदनगर के कुछ भाग तक ही चलता था, परन्तु मुगलों का आतंक समस्त भारत प्रायद्वीप पर छाया हुआ था। इस प्रकार से अहमदनगर का स्वतंत्र राज्य छिन्न-भिन्न होकर अन्तिम साँस ले रहा था और बीजापुर तथा गोलकुंडा के राज्य उत्तरी साम्राज्य की दिन प्रतिदिन बढ़ती हुई शक्ति से भयभीत हो रहे थे। मुगलों के पास सुसज्जित सेना थी। उनकी कीर्ति का डंका समस्त एशिया में गूँज रहा था। उसकी ध्वनि यूरोप तक पहुँच गई थी। यूरोपीय देशों से यात्रियों तथा व्यवसायियों ने आना आरंभ कर दिया था। वह मुगल सम्राट तथा मुगल साम्राज्य की विशालता तथा संपन्नता को देखकर चकित रह जाते थे।

कला में अलंकरण की प्रवृत्ति

शासक-वर्ग के पास अतुल धन था जिसका सदुपयोग भी किया गया और दुरुपयोग भी। यदि एक ओर भोग-विलास की प्रवृत्ति ने जोर मारा तो दूसरी ओर ललित कलाओं का उत्थान तथा संरक्षण भी हुआ। शासक-वर्ग सामान्यतः उपभोगी वर्ग था। इनको दो विभागों में विभाजित

किया जा सकता है--(१) सम्राट तथा उसका परिवार और (२) अमीरों का दल। जहाँ तक पहले विभाग का संबंध है उसके उच्च तथा व्यापक आदर्शों को मानते हुए भी यह कहना अनिवार्य हो जाता है कि वे अधिक मात्रा में विगत शताब्दी के आदर्शों से विभिन्न थे। जहाँगीर की आत्मकथा के अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि उसने राजनीतिक क्षेत्र में अपने पिता की निर्धारित प्रथा पर चलने का ही प्रयत्न किया, परन्तु उसका निजी जीवन अकबर के जीवन से भिन्न था। उसकी प्रवृत्ति अलंकार और विलास की ओर अधिक झुकी हुई थी। मदिरा पीने की उसकी आदत पड़ गई थी। वह बीस प्याले तक एक बैठक में पी जाता था। परंतु मदिरा के हाथ वह बिका न था और जब तक स्वास्थ्य ने उसका साथ दिया, वह समस्त राजकीय कार्य का निर्देशन करता रहा। उसका ललित कलाओं में विशेष अनुराग था। चित्रकारी का वह विशेषज्ञ था, जिसका उल्लेख इंग्लिस्तान के राजदूत सर टामस रो ने भूरि-भूरि प्रशंसा करके किया है। वास्तव में उसके राज्य-काल में यह कला उन्नति की पराकाष्ठा को प्राप्त हुई। उसने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि हर समय चितेरों का एक दल उसकी सेवा में उपस्थित रहता था और उसके आदेशों की पूर्ति किया करता था। यदि किसी अवसर पर कोई प्राकृतिक दृश्य सम्राट का मन लुभा लेता था तो आदेशानुसार तुरंत ही चितेरे उसको अंकित कर लेते थे। सम्राट को चिड़ियों और जानवरों की सुन्दरता तथा रहन-सहन भी आकर्षित करती थीं। अकसर घंटों वह सारस के जोड़ों की ओर टकटकी बाँधे देखा करता था। सारांश यह कि चित्रकला में नवीन उन्नति हुई। वास्तविकता के साथ-साथ उसमें कल्पना की उड़ान भी पर्याप्त मात्रा में दृष्टिगोचर होती है तथा प्राकृतिक सौन्दर्य के साथ-साथ बहुमूल्य अलंकार भी देखने को मिलते हैं। सादगी और हाथ की सफाई उसकी जान हैं। परन्तु आगे चलकर आदर्श ने पलटा खाया। शाहजहाँ के समय बहुमूल्य अलंकरण की ओर अधिक ध्यान दिया गया, सौन्दर्य की ओर कम और इस कमी को पूरा करने के लिए नाना प्रकार के साधनों से काम लिया गया। उदाहरणार्थ चित्रों के चारों ओर किनारों पर बने हुए बेल-बूटों में अद्भुत प्रकार के जानवरों के आकार समाविष्ट कर दिए गए। इसके अतिरिक्त आकर्षण-वृद्धि के विचार से स्वर्णमय रंगों का अधिक प्रयोग किया गया। इस नवीन गतिविधि के कई कारण थे। प्रथम यह कि सम्राट शाहजहाँ को दिखावे का अधिक शौक था, दूसरे यह कि उसके कोष में अतुल धन था जिसको व्यय करने का एक यह भी साधन था। परिणाम यह हुआ कि चित्रकला की बाहरी रूपरेखा में तो कुछ आकर्षण बढ़ गया, लेकिन उसमें से कल्पना का भाव लुप्त हो गया। उसके चित्रों का एक संग्रह विक्टोरिया अलबर्ट संग्रहालय में है, जिसको दाराशिकोह से संबंधित किया जाता है। विशेषज्ञ इस संग्रह को आदर की दृष्टि से देखते हैं और कला की दृष्टि से इसको बहुत महत्वपूर्ण समझते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि चित्रकला का संरक्षण सम्राट का ही एकाधिकार न रहकर राजकुमारों तथा अमीरों के हाथ में भी पहुँच गया। फ्रांसीसी यात्री बर्नियर के कथनानुसार उमराव वर्ग के लोग चितेरों से जबर्दस्ती काम लेते थे। ऐसी अवस्था में कला की अवनति अनिवार्य हो गई तथा चित्र-कला व्यवसाय का साधन बन गई। औरंगजेब के समय में इस कला को सरकारी संरक्षण तथा प्रोत्साहन प्राप्त न हुआ, यद्यपि समय-समय पर इससे उसने अपना काम निकाला। उदाहरणार्थ जब सम्राट ने अपने ज्येष्ठ पुत्र को बन्दीगृह में डाल दिया तो उसके स्वास्थ्य का हाल जानने के

लिए वह उसका चित्र बनवा लेता था। इस प्रकार हम देखते हैं कि चित्रकला में शृंगार, अलंकार तथा दिखावे की मात्रा अधिक बढ़ गई और उसका उद्देश्य केवल इतना ही रह गया कि शासक-वर्ग की इच्छाओं की पूर्ति करे। शताब्दी के अन्त होते-होते उसमें कल्पना का बिलकुल अभाव हो गया।

जब हम वास्तुकला की ओर ध्यान देते हैं तो उसके विकास में भी लगभग वे ही प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं जो कि चित्रकला में दिखाई पड़ती हैं। जहाँगीर का अनुराग चित्र-कला में था, परन्तु वास्तुकला की ओर से भी वह बिलकुल उदासीन न था। ऐतमादुद्दौला का मकबरा कला की दृष्टि से अद्वितीय है। आकार में ताज के समान विशाल तो नहीं, परन्तु अनुपात के विचार से उसका सौन्दर्य अपना एक भिन्न ही महत्व रखता है। प्रकृति के पुजारी के नाते जहाँगीर ने कश्मीर में कई बाग लगवाए जिनको देखकर आज भी लोग मुग्ध हो जाते हैं और उल्लास से फूले नहीं समाते। मनोरंजन के लिए वहाँ अब भी हजारों की संख्या में लोग पहुँचते हैं। जहाँगीर के समय की इमारतों में सादगी और आकर्षण है और इसके साथ-साथ सुव्यवस्थित सजावट भी है। इसके विपरीत शाहजहाँ ने विशाल इमारतों का निर्माण किया। इसमें सन्देह नहीं कि उसके संरक्षण में और उसके प्रोत्साहन द्वारा यह कला उन्नति की पराकाष्ठा को प्राप्त हुई। परन्तु चित्रकला की ही तरह वास्तुकला में अलंकार, सजावट और बहुमूल्य पत्थरों के प्रयोग से काम लिया गया। सामान्य रूप से श्वेत संगमरमर की इमारतें बनीं तथा पच्चीकारी के हुनर से इनके सौन्दर्य को आकर्षणपूर्ण किया गया। इस समय की इमारतों में केवल मोती मस्जिद ही एक ऐसी इमारत है जो सादी है और सादगी में ही उसका सौन्दर्य केन्द्रित है, अन्यथा और इमारतों में बहुमूल्य रत्नों का आवश्यकतानुसार प्रयोग किया गया है। इससे सम्राट की भावनाओं तथा आदर्शों का स्पष्टीकरण होता है। शाहजहाँ को अपना वैभव-प्रदर्शन करने का बेहद शौक था। इस इच्छा से प्रेरित होकर तथा उसकी पूर्ति के विचार से इमारतें बनवाने में उसने अतुल धन व्यय किया। ये इमारतें उस समय की प्रवृत्तियों की सूचक हैं। इनमें कला का निखार है, सजावट की बहार है, वैभव का प्रदर्शन है तथा वे विशालता की प्रतीक हैं। ताजमहल की गणना तो संसार की नौ अद्भुत वस्तुओं में की जाती है और दिल्ली के दीवानेखास में कविता की जो दो पंक्तियाँ अंकित हैं उनका अर्थ है 'यदि इस लोक में स्वर्ग है तो वह यहीं है, यहीं है, यहीं है।' सांसारिक सुख और विलास की यह चरम सीमा थी। औरंगजेब के समय में वास्तुकला का ह्रास होने लगा। पुरानी पद्धति की नकल तो हुई, परन्तु नकल से आगे न बढ़ सकी।

धार्मिक संघर्ष

धार्मिक क्षेत्र की प्रवृत्तियों में घोर संघर्ष का वातावरण दिखाई देता है। अकबर ने जिस सामंजस्य तथा व्यापकता के लिए प्रयत्न किए थे, वे धीरे-धीरे लोप हो गए। अपने पिता की अपेक्षा जहाँगीर की धार्मिक भावनाएँ अधिक संकीर्ण थीं। उसका स्वभाव तो उदार था, परन्तु राजनीतिक परिस्थितियों से वह अपने को ऊपर न उठा सका। अकबर के समय भी मुसल-मान रूढ़िवादियों ने उसकी धार्मिक नीति के प्रति असन्तोष तथा विरोध प्रकट किया था, परन्तु इस वर्ग को अधिक बल न प्राप्त हो सका। लेकिन जहाँगीर के सिंहासनारूढ़ होते-होते

इसने जोर पकड़ा और 'इस्लाम खतरे में है' का नारा लगाया। विरोधी दल के नेता थे मुजदद सानी अल्लामा सरहिन्दी। यद्यपि कई कारणों से सम्राट ने इनको कारागार में डाल दिया, परन्तु उठती हुई लहर को दबाना असंभव था। संकीर्ण विचारधारा आगे बढ़ती ही गई। शाहजहाँ ने एक राजपूत राजकुमारी की सन्तान होते हुए भी इस्लाम का पल्ला पकड़ा, यद्यपि इसमें सन्देह नहीं कि उसने धर्म को राजनीति के ऊपर हावी नहीं होने दिया। समय-समय पर धर्म की आड़ लेकर उसने राजनीतिक कार्य किए जिनसे उसकी असहिष्णु मनोवृत्ति का प्रमाण मिलता है। बनारस तथा बुन्देलखंड में उसने मन्दिर तुड़वाए तथा गोलकुंडा में शैवमत के मानने की मनाही की। शाहजहाँ के उत्तराधिकारी औरंगजेब ने न केवल अपने पिता की नीति का पालन किया, बल्कि उससे कहीं अधिक उग्र भावनाओं का प्रदर्शन किया जिसके परिणामस्वरूप समस्त साम्राज्य में व्यापक उथल-पुथल होने लगी। हिन्दू-मुस्लिम एकता की जगह दोनों जातियों में द्वेष तथा घृणा की भावनाएँ घर करने लगीं। धार्मिक असन्तोष ने राजनीतिक आवरण धारण किया और एकछत्र राज्य के विघटन के चिह्न स्पष्ट होने लगे।

परन्तु यह धारणा कि केवल इस्लाम धर्म ही संकीर्णता और रूढ़िवाद की ओर अग्रसर हो गया था, न्याय-युक्त नहीं। वास्तव में देश के वातावरण में ही संकीर्णता प्रवेश कर गई थी। व्यापक दृष्टिकोण के युग की समाप्ति हो गई थी। जिस मत का सोलहवीं शताब्दी में एक रूप था, वह अनेक रूपों में परिवर्तित हो गया। नानक ने तो स्वप्न में भी विचार नहीं किया था कि उनके उत्तराधिकारी सच्चे पादशाह का पद ग्रहण करेंगे और एक स्वतंत्र पंथ स्थापित कर लेंगे। धीरे-धीरे नानक के चलाए मत की अनेक शाखाएँ और उपशाखाएँ बन गईं। गुरु अर्जुन के समय से सिक्ख मत ने राजसी आवरण धारण कर लिया। विद्रोही राजकुमार खुसरो को संरक्षण देने के अपराध में जब सम्राट ने उन पर जुर्माना किया जिसके अदा न करने पर उन पर सख्ती की गई तथा परेशान होकर उन्होंने जल-समाधि ले ली, तो उनके अनुयायियों को यह कहने का बहाना मिल गया कि सरकार उन पर अत्याचार कर रही है। गुरु अर्जुन के उत्तराधिकारी गुरु गोविन्द-सिंह तो राजसी ठाठबाट से रहते थे। उन्होंने अपने अनुयायियों में सैनिक प्रवृत्ति का संचार किया। वे अपना अधिक समय कुश्ती लड़ने, बाघ तथा सुअर का शिकार करने, आदि में व्यतीत करते थे। वे सदैव अपनी कमर में दो तलवारें बाँधे रहते थे, जो दो उद्देश्यों की सूचक थीं, पहला पिता की मृत्यु का बदला लेना और दूसरा इस्लाम की विस्मयजनक कृतियों को मिटाना। उनके उद्दंड व्यवहार के कारण सम्राट ने उन्हें ग्वालियर के किले में कैद कर दिया। इस घटना ने सिक्खों को और भी उत्तेजित कर दिया। सद्गुरु तथा सच्चे पादशाह के पदों के सम्मिश्रण का यह अनि-वार्य परिणाम था। नैतिक तथा लौकिक भावनाओं के विवेक को सामान्य बुद्धि के मनुष्यों के लिए समझना कठिन था। गुरु तेगबहादुर के साथ औरंगजेब ने जो व्यवहार किया उसने दहकती हुई अग्नि में घृत का काम किया। दशम गुरु गोविन्दसिंह ने लौह के गुण गाए और अपने मतावलंबियों को मरने-मारने की शिक्षा दी। इस प्रकार सिक्खों का दल अन्य हिन्दू जनता से पृथक हो गया और मुसलमानों का तो वह जानी दुश्मन समझा जाने लगा। इस दल ने वीरता के आदर्शों को अपनाया तथा त्याग और शारीरिक परिश्रम पर अपनी शक्ति को केन्द्रित किया। नानकपंथी शाखाओं में उदासी, रामरायी, धीरमली तथा मसनदी का उल्लेख उचित प्रतीत

होता है। इन शाखाओं के अनुयायी गुरु नानक के प्रति श्रद्धा-भक्ति तो रखते हैं, परन्तु इनके आचार-विचार सिक्खों से भिन्न हैं। कालान्तर में इनमें से कुछ हिन्दुओं के अधिक समीप आ गए। जो हो, सिक्ख-आन्दोलन ने वीर रस की कविता के लिए वातावरण प्रस्तुत कर दिया।

राजनीतिक स्वतंत्रता के प्रयत्न

इस वातावरण के उत्पादन तथा प्रोत्साहन में राजनीतिक परिस्थिति ने भी योग दिया। शाहजहाँ के राज्य-काल में यदि एक ओर बुन्देलों ने जोर पकड़ा, तो उनकी देखादेखी राजपूताना के कुछ राजाओं के हृदयों में भी स्वतंत्रता के विचार हिलोरें लेने लगे। मुगल सम्राट की तीन बार लगातार कन्धार में पराजय होने से विद्रोहियों के हौसले बढ़ने लगे। मेवाड़ के राजा ने पूर्ववर्ती सन्धि की एक धारा का उल्लंघन करके चित्तौर के किले की मरम्मत कराई तथा अजमेर पर धावा बोलने की बात सोची। इस उद्दंडता को देखकर भला शाहजहाँ कब चुप बैठने वाला था? उसने राना को मजा चखाने के लिए बादल-दल के समान सेना भेजी तथा अपने उद्देश्य में वह सफल हुआ और राना को मुँह की खानी पड़ी। परन्तु राना की मनोवृत्ति और उसका साहस एक आन्दोलनमय परिस्थिति का सूचक था। चिनगारी बुझ तो गई, परन्तु अग्नि धीरे-धीरे जलती रही और अवसर पाकर औरंगजेब के समय पूर्णरूप से प्रज्वलित हो गई। राजपूताना में आई हुई राजनीतिक बाढ़ की रोकथाम करना शक्तिशाली मुगल सम्राट के लिए असंभव हो गया। दुर्गादास जैसे योद्धा ने वीरता के वे जौहर प्रदर्शित किए, जिनको देखकर शत्रुओं ने भी मुक्त-कंठ से उसकी प्रशंसा की। एक प्रकार से राजपूताना में वीरगाथा-काल फिर से जाग्रत हो गया, जिससे स्वतंत्रता की भावनाओं को प्रोत्साहन प्राप्त हुआ।

दक्षिण में भी मुगलों की बढ़ती हुई शक्ति के विरोध में बहुत दिनों से आन्दोलन चल रहा था। इसका प्रथम नेता मलिक अम्बर था। यद्यपि उसकी मृत्यु के पश्चात अहमदनगर का शीघ्रता के साथ विघटन होने लगा, परन्तु उसकी स्वतंत्रता की अन्तिम क्रिया होने तक मुगलों को लगातार १४ वर्ष तक परिश्रम करना पड़ा। तत्पश्चात उसकी जली हुई अस्थियों से एक ऐसी शक्ति का सृजन हुआ जिसने न केवल मुगल साम्राज्य से लोहा लिया, बल्कि उसके संगठन को भी नितान्त जर्जर कर दिया। अहमदनगर राज्य के एक कोने में मराठा शक्ति का उद्भव हुआ। शाहजी भोंसले ने अपनी नीति तथा बाहुबल से इसे आगे बढ़ाया और उसके क्रान्तिकारी पुत्र ने तो एक स्वतंत्र राज्य ही स्थापित करके दम लिया। उसके संघर्ष का क्षेत्र बहुत ही विस्तृत था। यदि दक्षिण में वह बीजापुर पर चोट मारता था तो उत्तर में मुगलों पर छापा मारता था। शत्रुओं की ओर से आए हुए उसने अनेक अनुभवी तथा पराक्रमी सेना-नायकों के दाँत खट्टे कर दिए। शायस्ताखाँ उससे भयभीत होकर पूना से भाग निकला और अफजलखाँ को तो अपनी जान तक से हाथ धोना पड़ा। शिवाजी के वीरतापूर्ण कार्यों, उसके साहस और उसकी बढ़ती हुई राजनीतिक शक्ति ने बहुत-से कवियों को ओजस्वी भावनाओं से प्रेरित किया और उनको अतीत काल के भारतीय सूरमाओं का स्मरण हुआ, जिससे उनकी कल्पना की उड़ान की गति तीव्र हो उठी।

इसी समय दिल्ली और आगरा के सन्निकट जाटों ने भी जोर पकड़ा और मुगल सेना-

नायकों का बहादुरी से मुकाबिला किया। गोकुल व राजाराम चूड़ामणि के नाम लोक-प्रसिद्ध हो गए। इसी प्रकार बुन्देलों ने भी सिर उठाया। शाहजहाँ के समय जुझारसिंह ने विद्रोह किया, जिसका रूप अति भयंकर था। यद्यपि सम्राट ने बलपूर्वक इस विद्रोह को दबा दिया, परन्तु बुन्देलखंड में निरन्तर आग सुलगती ही रही। वहाँ की जनता सम्राट की असहिष्णु नीति से अप्रसन्न थी। जब सम्राट ने जुझारसिंह का दमन करने के लिए दूसरी बार सेनाएँ भेजीं, तो वह जान बचाने के लिए गोंडवाना भाग गया, जहाँ गोंडों ने उसे मार डाला। बुन्देलखंड तथा चौरागढ़ के सभी दुर्गों पर सम्राट का अधिकार हो गया तथा जुझारसिंह के सारे परिवार को बन्दी बना लिया गया। उसके पुत्र और पौत्रों को इस्लाम धर्म स्वीकार करने के लिए बाध्य किया गया और ओरछा के प्रसिद्ध मन्दिर को गिरा दिया गया। परास्त राजा के परिवार की स्त्रियों को चेरी बनाकर अपमानित किया गया। यद्यपि राजनीतिक दृष्टिकोण से यह व्यवहार उचित ही था, परन्तु इससे जनता की भावनाओं को चोट पहुँची और उनके हृदय में मुगल साम्राज्य के प्रति घृणा ने घर कर लिया। इससे लाभ उठाकर चम्पतराय ने मुगलों का विरोध किया और जब लड़ते हुए वह वीरगति को प्राप्त हुआ तो उसके पुत्र छत्रसाल ने पिता के आदर्शों पर चलने का भरसक प्रयत्न किया। शिवाजी के व्यक्तित्व तथा स्वतंत्रता-संग्राम से प्रभावित होकर और औरंगजेब की कठोर धार्मिक नीति से खिन्न होकर उसने प्रतिशोध लेने का दृढ़ संकल्प किया। बुन्देलों ने उसे हिन्दू धर्म का रक्षक और क्षत्रियों की मर्यादा का पालक मान कर जी-जान से उसका साथ दिया। इस प्रकार समस्त देश में हिन्दू वीरों की कीर्ति का डंका बजने लगा। समकालीन साहित्य पर इसका प्रभाव पड़ना अनिवार्य ही था।

राजनीतिक संघर्षों का आधार— धर्म

लौकिक जीवन को धार्मिक भावनाओं से पृथक करना प्राचीन तथा मध्यकालीन पद्धति के विपरीत था। वास्तव में धर्म को ही सांसारिक जीवन का आधार समझा जाता था। परलोक को उज्ज्वल करने के लिए इस लोक में नियम-संयम से रहने का आदेश संतों तथा आचार्यों, दोनों ने दिया है। इस आदेश का चाहे और कुछ प्रभाव पड़ा हो या न पड़ा हो, इतना तो निश्चय है कि इसके द्वारा प्रेरणा पाकर एक ओर तो सामुदायिक संस्थाओं का निर्माण हुआ और दूसरी ओर इस धारणा ने राजनीतिक क्षेत्र में प्रवेश करके हिन्दू-मुसलमानों के बीच भेद-भाव को अधिक बढ़ा कर मुगल साम्राज्य की नीति में परिवर्तन कर दिया। गुरु नानक के उत्तराधिकारियों तथा वंशजों ने जो संस्थाएँ स्थापित कीं उनकी ओर ऊपर संकेत किया जा चुका है। कबीर का चलाया हुआ मत भी अनेक शाखाओं में विभाजित हो गया। प्रत्येक शाखा की गद्दियाँ बन गईं। इसके अतिरिक्त दादूपंथ, बावरी पंथ, निरंजनी सम्प्रदाय, मलूकदासी पंथ, बाबालाली सम्प्रदाय, धामी सम्प्रदाय, साध तथा सतनामी सम्प्रदाय, दरियादासी सम्प्रदाय, चरणदासी तथा गरीबदासी सम्प्रदाय का उल्लेख करना भी उचित प्रतीत होता है। संभव है, व्यक्तिगत दृष्टि से इन विभिन्न सम्प्रदायों की शिक्षाओं का प्रभाव हितकर रहा हो, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इनके निर्माण से भारत की एकता को धक्का लगा और सामान्य रूप से प्रत्येक वर्ग का दृष्टिकोण संकुचित तथा संकीर्ण हो गया। इन सामुदायिक संतों की वाणियों ने साहित्य के भंडार को तो परिपूर्ण किया,

परन्तु सामाजिक जीवन के जाल में नाना प्रकार की गुत्थियाँ डाल दीं, मनुष्य मात्र के ध्यान को एक से अनेक की ओर केन्द्रित कर दिया। राम और रहीम में फिर से अलगाव हो गया, हिन्दू-मुसलमानों में खींचातानी मच गई। इस बढ़ते हुए अन्धकार के वातावरण में कुछ ऐसी विभूतियाँ भी थीं जिन्होंने बिखरते हुए तारों को बटोर कर सीधे रास्ते पर ले जाने का प्रयत्न किया। इनमें से राजकुमार दारा शिकोह का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। अपने पितामह के समान उसने हिन्दू ग्रन्थों का अध्ययन किया और उनके सार को समझा। उपनिषदों का तो उसने फारसी भाषा में अनुवाद भी किया और उनका मूल्यांकन करते हुए उसने कहा कि ये वही ग्रन्थ हैं जिनकी ओर कुरान में संकेत किया गया है। उसने संस्कृत के आध्यात्मिक शब्दों का फारसी में एक पारिभाषिक संग्रह तैयार किया जिससे उसके ज्ञान तथा उदार विचारों का पता चलता है। परन्तु दारा का व्यक्तित्व उस असहिष्णुतापूर्ण वातावरण में समुद्र में अकेली मछली के समान था। उसका प्रभाव सीमित था और उसके आदर्शों का सम्मान करने वालों की संख्या बहुत कम थी।

सत्रहवीं शताब्दी—सांस्कृतिक पराभव की प्रक्रिया

यदि हम सत्रहवीं शताब्दी के सांस्कृतिक पहलुओं पर विहंगम दृष्टिपात करें तो हमको कई प्रवृत्तियाँ स्पष्ट दिखाई पड़ती हैं। प्रथम है श्रृंगार की प्रचुरता। कला के क्षेत्र में वास्तुकला तथा चित्रकला इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। स्त्री-पुरुषों की वेश-भूषा में भी यही चित्र मिलता है। आभूषण पहनने का रिवाज तो पहले से प्रचलित था ही, अब कई कारणों से इसको और भी बल प्राप्त हो गया जिसका प्रमाण समकालीन चित्रों से तथा साहित्य में आए हुए विवेचनों से मिलता है। धनधान्यपूर्ण देश में श्रृंगार की प्रवृत्ति स्वाभाविक ही प्रतीत होती है। यदि हम फारसी साहित्य का निरीक्षण करें तो उसमें भी यही शैली दिखाई पड़ती है। अबुलफजल ने क्लिष्ट तथा शब्दालंकृत भाषा के विकास को ऐसे स्तर तक पहुँचा दिया कि जिसकी नकल करना असंभव था। फिर भी शाहजहाँ ने अपने समय के इतिहासकारों को यही आदेश दिया कि वे अबुलफजल की ही शैली में अपने ग्रन्थों की रचना करें। जहाँगीर तथा शाहजहाँ के समय में जो रचनाएँ फारसी भाषा में की गईं, उनमें भावों की अपेक्षा शब्दों के जड़ाव पर अधिक ध्यान दिया गया है। जिस प्रकार आभूषण रत्न-जटित होते थे और इमारतों में सुन्दर पच्चीकारी का काम होता था, उसी प्रकार फारसी साहित्य में अलंकार का बाहुल्य हुआ। कवि तथा गद्यकार की प्रशंसा इसी पर निर्भर थी कि उसको उसके शब्द-विन्यास में कितना चातुर्य प्राप्त है। जहाँगीर के समय एक ग्रन्थ लिखा गया जिसका नाम है 'शश फतह कांगड़ा' अर्थात कांगड़ा पर छः बार विजय। वास्तव में यह एक ही घटना का भाषा के छः रूपों में वर्णन है। शाहजहाँ ने एक के बाद दूसरे कई लेखकों से पादशाहनामा लिखवाया। अन्त में उसको अब्दुलहमी लाहौरी की रचना पसंद आई, क्योंकि उसने अबुलफजल की शैली का अनुसरण करने की सफल चेष्टा की थी। इस शब्द-जाल के चक्कर में पड़ कर फारसी साहित्यकारों ने अपनी रचनाओं को अलंकारपूर्ण बाह्य रूप तो प्रदान कर दिया, परन्तु उनमें आन्तरिक गुणों का अभाव हो गया। श्रृंगारमय वातावरण में केवल एक ही दृष्टिकोण संभव था। इसके माध्यम से यदि एक ओर सांसारिक वैभव का प्रदर्शन किया गया, तो दूसरी ओर उसको भगवान की भक्ति का भी आधार स्वीकार करना पड़ा। वल्लभाचार्य

ने मूर्तियों के शृंगार पर बल दिया था जिसका आगे चलकर यह परिणाम हुआ कि श्रीकृष्ण जी का बिना अलंकारों के ध्यान करना भी असंभव हो गया। अलंकार के साथ-साथ शरीर के विभिन्न भागों के सौन्दर्य का भी वर्णन होने लगा, जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है। यह प्रवृत्ति सूफी कवियों की शैली पर आधारित थी, यद्यपि इसका संबंध प्राचीन काल से जोड़ा जा सकता है। यदि शृंगार की भावनाएँ भगवान के ध्यान तथा इमारतों के सौन्दर्य को बढ़ाने तक ही सीमित रहतीं तो अधिक हानि न होती। परंतु ऐसा न हुआ। इस रस के दुरुपयोग के परिणाम-स्वरूप सामाजिक तथा नैतिक जीवन का स्तर इतना नीचे गिर गया कि जिसको ऊपर उठाने में बहुत समय लगा।

ऊपर के वृत्तांत से यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि सोलहवीं शताब्दी ई० रचनात्मक विचारों, उच्च आदर्शों, व्यापक भावनाओं, एकीकरण के क्षेत्र में नवीन प्रयोगों, सहिष्णुतावाद के प्रचार तथा सार्वजनिक जीवन के कल्याण के प्रयत्नों की थी, तो सत्रहवीं शताब्दी में संकीर्णता-वाद, सम्प्रदायवाद, असहिष्णुता, आदि का बोलबाला हुआ। चारों ओर अवनति के चिह्न दिखाई पड़ने लगे। मुगल सम्राटों ने साम्राज्य का पूर्णरूप से विस्तार तो कर लिया, पर इस विस्तार से उत्पन्न हुई समस्याओं को वे हल न कर सके। औरंगजेब का प्राण-पखेरू तो नैराश्य से मुक्ति पाने के लिए उड़ गया। सर जदुनाथ सरकार ने उसकी दक्षिण-विजय का उल्लेख करते हुए ठीक ही कहा है कि देखने में तो समस्त अभिलाषाओं तथा आदर्शों की पूर्ति हो गई थी, परन्तु वास्तव में सब का सब खो गया था, यह अन्त का प्रारंभ था। सदा संयमपूर्ण जीवन व्यतीत करते हुए भी औरंगजेब साम्राज्य में विघटन की उठती हुई लहरों को दबा न सका। देश में एक ओर शृंगारमयी भावनाएँ बल पकड़ रही थीं और दूसरी ओर कुछ वर्गों के सामने वीरता का आदर्श था और वह भी इस आशय से कि उसके सहारे किस प्रकार मुगल साम्राज्य से मुक्ति प्राप्त कर लें। इन वर्गों में साहस था, उत्साह था, धैर्य भी था, आदर्शवाद भी था, परन्तु इनमें उच्च आदर्श का अभाव था। युग पलट रहा था, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आपाधापी मची हुई थी, देश खंड-खंड में विभाजित होने की ओर वेग से अग्रसर हो रहा था। पुराने स्वप्नों की जगह पर नए रूप सामने आ रहे थे और धीरे-धीरे शान्ति भंग हो रही थी।

१८वीं शताब्दी—निराशा और अंधकार का युग

अठारहवीं शताब्दी का आरंभ जिस वातावरण में हुआ वह अत्यंत भयानक था। केन्द्रीय शासन दिनोंदिन शिथिल होता जा रहा था, जिसका प्रभाव समाज और साहित्य दोनों पर पड़ा। मुगल सम्राट उमराव वर्ग के हाथों की कठपुतली बन कर रह गया। सम्राट जहाँदारशाह के संबंध में एक कवि ने लिखा है कि वह दर्पण और कंघा हाथ में लिए हुए सुन्दर स्त्री के समान अपने केशों का पुजारी था। लालकुँवर वेश्या का उस पर अधिक प्रभाव था। सम्राट मुहम्मदशाह को तो इतिहासकारों ने 'रंगीले' की उपाधि ही दी है। वह अपना समय नाचरंग और मदिरा-पान में ही व्यतीत करता था। उसका प्रधान मंत्री कमरुद्दीन उसका साथी था। वेश्या ऊधमबाई के प्रति उसको अगाध प्रेम था। उससे उत्पन्न पुत्र ही उसका उत्तराधिकारी हुआ। वास्तव में यह वेश्याओं और हिजड़ों का ही युग था। इन्हीं लोगों का दरबार में सम्मान था। इस संबंध में एक

घटना उल्लेखनीय है। एक बार जहाँदार शाह के विलासपूर्ण जीवन तथा उसकी रखेल लालकुँवर के संबंधियों के प्रति पक्षपात से रुष्ट हो कर उसके प्रधान मंत्री ने एक दिन सारे सितार सम्राट के सम्मुख भेंट के रूप में रखे। जब आश्चर्य से चकित होकर सम्राट ने पूछा कि इस प्रकार की भेंट का क्या अर्थ है, तो मंत्री ने उत्तर दिया कि जब दरबार में केवल गायकों और वादकों की ही पूछ है और उन्हीं को सम्राट पदासीन करते हैं तो यह भेंट उपयुक्त ही है। यह है शासक-वर्ग की जीवनचर्या तथा चरित्र की एक झाँकी! प्रजा ने भी इसी का अनुसरण किया। विलासमय जीवन ही इस समय के लोगों को सुहाने लगा और उनकी भावनाओं को संतुष्ट करने के लिए ही साहित्य-कारों ने अपनी रचनाएँ कीं। गजलों का बाह्य रूप तो सूफी-परम्परा के अनुकूल ही रहा, लेकिन उनके आन्तरिक भावार्थ की काया बदल गई। इश्क हकीकी और मजाजी का भेद ही खत्म हो गया। फारसी कवियों की शैली का अनुसरण तो किया गया, परंतु उनके आदर्शवाद तथा अध्यात्मवाद को तिलांजलि दे दी गई।

धर्म तथा कला के क्षेत्रों में भी इसी प्रकार अवनति होने लगी। रूढ़िवाद तथा आडम्बर ने जनता को ग्रस्त कर लिया, यद्यपि यह मानना पड़ेगा कि असहिष्णुता की व्यापकता में बहुत कमी आ गई थी। जब प्रधान मंत्री निजामुल्मुल्क ने सम्राट के सामने हिन्दुओं पर जजिया लगाने का प्रस्ताव रखा, तो उसको न माना गया। सैयद भाइयों के हिमायती अधिकतर हिन्दू ही थे। पंजाब से लेकर बंगाल तक सरकारी और गैर-सरकारी आर्थिक संस्थाओं के संचालन का कार्य हिन्दुओं के ही हाथ में था। परन्तु इस परिस्थिति से हिन्दू वर्ग अधिक लाभ न उठा सका और न प्रगति की ओर अग्रसर ही हो सका। वास्तव में यह समय निराशा और अन्धकार का था। बाह्य आक्रमणों और आन्तरिक आन्दोलनों के कारण समस्त प्रायद्वीप व्याकुल हो रहा था। यही परिस्थिति अगली शताब्दी में भी रही।

३. नाथपंथी साहित्य

नाथपंथ और उसका विस्तार

सांप्रदायिक ग्रंथों में नाथपंथ के अनेक नाम मिलते हैं जिनमें नाथमार्ग, सिद्धसंप्रदाय आदि मुख्य हैं। इस मार्ग के आदि प्रवर्तक आदिनाथ माने जाते हैं जो वस्तुतः साक्षात् शिव ही हैं। आदिनाथ के शिष्य मच्छंदनाथ या मत्स्येन्द्रनाथ हुए और उनके शिष्य गोरखनाथ या गोरक्ष-नाथ। इन दिनों नाथमत का जो रूप जीवित है वह मुख्यतः गोरखनाथी योगियों का संप्रदाय है जिन्हें साधारणतः कनफटा योगी या बारहपंथी योगी कहते हैं। इन्हीं साधुओं को दरसनी साधु भी कहते हैं। कनफटा और दरसनी नामों का कारण यह है कि ये लोग कान फाड़ कर एक प्रकार की मुद्रा धारण करते हैं। मुद्रा के कारण ही ये लोग दरसनी कहे जाते हैं। यह मुद्रा नाना धातुओं की भी बनती है, हाथी दाँत की भी होती है और अधिक धनी महंत लोग सोने की मुद्रा भी धारण करते हैं।

आज भी कनफटा साधुओं की संख्या बहुत है। सारे भारतवर्ष और सुदूर अफगानिस्तान तक इनके मठ और दरगाह हैं और हिन्दू तथा मुसलमान दोनों ही संप्रदायों में इनके अनुयायी काफी बड़ी संख्या में पाए जाते हैं। ब्रिग्स ने अपनी बहुमूल्य अंग्रेजी पुस्तक 'गोरखनाथ ऐन्ड कनफटा योगीज' में भिन्न-भिन्न कालों की मनुष्य-गणना के विवरणों से इनकी संख्या का हिसाब बताया है। सन १८९१ की मनुष्य-गणना में सारे भारत में योगियों की संख्या २१४५४६ थी जिनमें औघड़ों को लेकर गोरखपंथी योगियों की संख्या लगभग ४५ प्रतिशत थी। औघड़ उन योगियों को कहते हैं जिनका कान फाड़ने वाला संस्कार नहीं हुआ रहता। इस रिपोर्ट के अनुसार पुरुष और स्त्रियों की संख्या का अनुपात ४२ और ३५ था। इन योगियों में मुसलमान कम नहीं हैं। उस वर्ष अकेले पंजाब में ३८ हजार से ऊपर योगी मुसलमान थे। सन १९२१ की मनुष्य-गणना में हिन्दू योगियों की संख्या लगभग ६३० हजार थी, मुसलमान योगियों की ३१ हजार और फकीर योगियों की १४१ हजार। मनुष्य-गणना की परवर्ती रिपोर्टों में इनका अलग से उल्लेख नहीं मिलता। लगभग समूचे भारतवर्ष में नाथमत के गृहस्थ अनुयायी पाए जाते हैं जो कहीं-कहीं तो अलग जाति ही बन गए हैं और कहीं-कहीं विशेष-विशेष जातियों को संपूर्ण रूप से आत्मसात कर गए हैं। साधारणतः वयनजीवी जातियाँ, जैसे तांती, जुलाहे, गड़ेरिए, दरजी आदि इस मत के अनुयायी हैं। हमने अपनी 'नाथसंप्रदाय' नामक पुस्तक में इस मत के प्रसार की चर्चा कुछ अधिक विस्तार से की है।

हिन्दी में इन योगियों का साहित्य बहुत थोड़ा ही पाया गया है। बंगला, उड़िया, मराठी, नैपाली, पंजाबी, आदि पार्श्ववर्तिनी भाषाओं में इनका या इनके द्वारा प्रभावित संप्रदायों का साहित्य कुछ-कुछ पाया जाता है। संस्कृत और अपभ्रंश में भी इनके साहित्य का संधान मिलता

है। लोकगीतों और कथानकों में इनकी चर्चा मिलती है। इन सारी बातों से सिद्ध होता है कि किसी समय समूचे उत्तर भारत में इनका बड़ा प्रभाव था। दक्षिण में भी इस प्रभाव का कुछ-कुछ पता लगता है। परवर्ती साहित्य के अध्ययन के लिए इनकी जानकारी बहुत आवश्यक है।

बारहपंथ

गोरखनाथी लोग मुख्यतः बारह शाखाओं में विभक्त हैं। अनुश्रुति के अनुसार स्वयं गोरखनाथ ने ही परस्पर विच्छिन्न नाथपंथियों का संगठन करके इन्हें बारह शाखाओं में विभक्त कर दिया था। ये बारह पंथ हैं--सतनाथी, धर्मनाथी, रामपंथ, नटेश्वरी, कन्हड़, कपिलानी, बराग, माननाथी, आईपंथ, पागलपंथ, धजपंथ और गंगानाथी। एक दूसरी परंपरा के अनुसार बारह पंथों के नाम इस प्रकार हैं--सतनाथ, रामनाथ, धरमनाथ, लक्ष्मणनाथ, दरियानाथ, गंगानाथ, वैराग, रावल या नागनाथ, जालंधरिपा, आईपंथ, कपिलानी और धजनाथ। एक तेरहवाँ पंथ भी है कानिपा। ऐतिहासिक दृष्टि से यह बहुत महत्वपूर्ण है, पर आज की बारहपंथी शाखा के बाहर है। इन बारहपंथों के कारण ही शंकराचार्य-प्रवर्तित दशनामी संन्यासियों की भाँति इन्हें बारहपंथी योगी कहते हैं। हाल में की गई खोजों से पता चला है कि ऐसे भी गोरखपंथी योगी हैं जिनका संबंध इन पंथों से नहीं है। प्रत्येक पंथ का एक-एक निजी स्थान है जिसे ये लोग पुण्य क्षेत्र मानते हैं।

एक अनुश्रुति के अनुसार शिव जी ने १२ पंथ चलाए थे और गुरु गोरखनाथ ने भी १२ ही पंथ चलाए थे। ये दोनों दल आपस में झगड़ने लगे थे। गोरखनाथ ने इसीलिए शिव के ६ संप्रदायों को और अपने ६ संप्रदायों को तोड़ दिया था और बाकी बारह पंथों को प्रतिष्ठित कर के आज की बारहपंथी शाखा का प्रवर्तन किया था। यह कहानी पागलबाबा नामक एक औवड़ साधु से सुनी हुई है। ब्रिग्स ने किसी और मूल से प्राप्त एक इसी प्रकार की कहानी लिखी है। उसके अनुसार शिव के अठारह संप्रदाय थे और गोरखनाथ के बारह। वे आपस में झगड़ते रहते थे। इसलिए गुरु गोरखनाथ ने शिव के बारह संप्रदायों को तोड़ दिया था और अपने भी छ संप्रदायों को भंग कर दिया था। इस प्रकार जो बारह संप्रदाय रह गए हैं उनमें छ तो शिव जी के प्रवर्तित हैं और छ गुरु गोरखनाथ के। इन बारहों संप्रदायों को गोरखनाथ का अनुमोदन प्राप्त था, इसलिए ये अपने को गोरखनाथ के अनुयायी ही मानते हैं।

पुनर्गठित बारह संप्रदाय इस प्रकार हैं :--

१. शिव जी के प्रवर्तित संप्रदाय

१. भुज (कच्छ) के कंठरनाथ
२. पेशावर और रोहतक के पागलनाथ
३. अफगानिस्तान के रावल
४. पंख या पंक
५. मारवाड़ के बन
६. गोपाल या राम के संतोषनाथ तथा दासगोपालनाथ

२. गोरखनाथ द्वारा प्रवर्तित संप्रदाय

७. हेठनाथ
८. आईपंथ के चोलीनाथ
९. चाँदनाथ कपिलानी
१०. मारवाड़ का बैरागपंथ और रतननाथी
११. जयपुर के पावनाथ
१२. धजनाथ महावीर

उक्त सूची सर्वसम्मत नहीं समझी जानी चाहिए। संप्रदाय-विशेष का दावा कभी-कभी दूसरे ही प्रकार का हो सकता है। जो हो, ये सब पुराने विभाग हैं। आधुनिक विभाग तो ऊपर गिनाए ही जा चुके हैं। इनके बाहर भी अनेक नाथपंथी संप्रदाय हैं। हाड़ीभरंग, कायिकनाथ, चर्पटनाथी, गैनीनाथी, आरजपंथ, पीतमनाथी, निरंजननाथ, कामधज, अर्धनारी, नायरी, अमरनाथ, तारकनाथ, भृंगनाथ आदि अनेक उपशाखाएँ ऐसी हैं जिनका बारह पुराने या नए पंथों से सीधा संबंध नहीं खोजा जा सका है।

यह विवरण विशेष रूप से यहाँ इसलिए उपस्थित किया गया कि इन परंपराओं में नाथ-संप्रदाय के संगठन के मूल इतिहास का आभास मिलता है जो साहित्य के विद्यार्थी के लिए अत्यन्त आवश्यक है। यह तो कभी देखा नहीं गया कि एक ही गुरु अपने नाम से बारह पंथों का प्रवर्तन करे और बाद में फिर उनमें से कुछ को तोड़ दे और कुछ को रहने दे। ऐसा जान पड़ता है कि गोरखनाथ के पहले अनेक शैव और योगी संप्रदाय थे जो परस्पर लड़ते रहते थे। गोरखनाथ ने उनको नए सिरे से संगठित किया था। इन पंथों की अनुश्रुतियों और स्वल्प उपलब्ध साहित्य के अध्ययन से इस मत की पुष्टि होती है। हमने अपनी पुस्तक 'नाथ संप्रदाय' में इस बात की विस्तारपूर्वक चर्चा की है। यहाँ उतने विस्तार में जाने की जरूरत नहीं है। संक्षेप में इतना कहना ही पर्याप्त है कि इस मत में बौद्ध, जैन, वैष्णव, कापालिक, कौल, आदि सभी प्रकार की साधनाओं का अन्तर्भाव हुआ था। इसीलिए इनके साहित्यिक प्रयत्नों में सब का कुछ-कुछ प्रभाव रह गया है। पारसनाथी और नीमनाथी शाखा के योगियों का संबन्ध जैन-परंपरा से है, कपिलानी या कपिलायन शाखा का वैष्णव-परंपरा से, जालंधरिपा और कानिपा का बौद्ध और कापालिक परंपरा से और मच्छंदनाथी तथा कई अन्य उपशाखाओं का सम्बन्ध कौल और शाक्त साधनाओं से है। पच्छिम के रावल वस्तुतः पाशुपत-मत के अवशेष हैं और बारह पंथों से अलग माना जानेवाला बामारग अपने नाम में ही वाममार्ग की छाप लिए हुए है।

बहुत से पुराने संप्रदायों के इस मार्ग में आ जाने के कारण उनके प्रवर्तक मूल आचार्य भी संप्रदाय के सिद्ध मान लिए गए हैं। इसका फल यह हुआ है कि गोरक्षनाथ आदि का समय बहुत विवाद का विषय बन गया है, क्योंकि ऐसे अनेक सिद्ध गोरखनाथी माने जाते हैं जिनके विषय में निश्चित प्रमाण हैं कि वे बहुत प्राचीन हैं। फिर, ऐसे भी ऐतिहासिक व्यक्तियों के साथ गोरखनाथ का सम्बन्ध बताया जाता है जिनके विषय में निश्चित रूप से परवर्ती होने के प्रमाण हैं। संप्रदाय की अनुश्रुति इन विवादों को आसानी से सुलझा देती है।

चौरासी सिद्ध

नाथपंथ समूचे भारतवर्ष में और अफगानिस्तान में भी फैला हुआ है। इसीलिए भारतवर्ष की प्रायः सभी देशभाषाओं में नाथपंथी सिद्धों की कुछ-न-कुछ चर्चा है। प्रायः सभी प्रान्तों में इस जाति के साहित्य में एक बात विशेष रूप से सामान्य है। संप्रदाय के मूल प्रवर्तक आदिनाथ या स्वयं महादेव हैं। उनकी दो शिष्य-परंपराएँ हैं। प्रथम मत्स्येन्द्रनाथ (मच्छंदरनाथ) और गोरक्षनाथ (गोरख़नाथ) की और दूसरी जालंधरनाथ (जालंधरपाद) और कृष्णपाद (कान्ह, कानू, कानफा, कानिपा) की। कभी-कभी जालंधरनाथ को भी मत्स्येंद्रनाथ का शिष्य बताया गया है, पर अधिकांश अनुश्रुतियाँ यही बताती हैं कि जालंधरनाथ या जालंधरपाद तथा उनके शिष्य कृष्णपाद स्वतंत्र मतों के प्रवर्तक थे। ये ही मूल पथ-प्रवर्तक हैं। तिब्बत से जो बौद्ध सहज और वज्रयान मत के चौरासी सिद्धों की सूची पाई गई है, उनमें इन चारों ही आचार्यों के नाम पाए जाते हैं। इनके लिखे हुए अनेक ग्रंथों के तिब्बती अनुवाद भी प्राप्य हैं।

नाथमत के चौरासी सिद्धों की सबसे प्राचीन सूची 'वर्णरत्नाकर' नामक मैथिल ग्रंथ की है। यह पुस्तक एशियाटिक सोसायटी की लाइब्रेरी में सुरक्षित है। यह तालपत्र पर लिखी गई है। इसका लिपि-काल लक्ष्मण संवत ३८८ दिया हुआ है। ग्रंथ के लेखक कविशेखराचार्य ज्योतिरीश्वर हैं, जो मिथिला के राजा हरिसिंह देव (सन १३००—१३२१ ई०) के सभासद थे। हाल ही में डा० सुनीतिकुमार चटर्जी और पं० बबुआ मिश्र ने संपादन करके इसे एशियाटिक सोसायटी से प्रकाशित कराया है। इस पुस्तक में जिन नाथ सिद्धों का उल्लेख है उनकी संख्या वस्तुतः ७६ या ७७ है, यद्यपि शुरू में चौरासी की ही संख्या दी हुई है। जान पड़ता है कि लिपिकार के प्रमाद से कुछ नाम छूट गए हैं। नाम निम्न प्रकार हैं। ये नाम स्व० पं० हर प्रसाद शास्त्री की सूची (बौ० गा० दो०) के अनुसार हैं। मुद्रित पुस्तक में कुछ पाठ-भेद हैं। टिप्पणी में मुद्रित पुस्तक के पाठ दिए गए हैं:—

१. मीननाथ[१], २. गोरक्षनाथ, ३. चौरंगीनाथ, ४. चामरीनाथ, ५. तंतिपा, ६. हालिपा[२], ७. केदारिपा, ८. धोंगपा, ९. दारिपा, १०. विरूपा, ११. कपाली, १२. कमारी, १३. कान्ह[३], १४. कनखल[४], १५. मेखल, १६. उनमन, १७. कान्डलि[५], १८. धोबी, १९. जालंधर, २०. टोंगी[६], २१. मबह, २२. नागार्जुन, २३. दौली, २४. भिषाल[७], २५. अचिति, २६. चंपक[८], २७. ढेण्टस[९], २८. मुम्बरी[१०], २९. बाकलि[११], ३०. तुजी[१२], ३१. चर्पटी, ३२. भादे, ३३. चांदन, ३४. कामरी, ३५. करवत, ३६. धर्मपापतंग[१३], ३७. भद्र[१४], ३८. पातालिभद्र, ३९. पालिहिद[१५], ४०. भानु[१६], ४१. मीन[१७], ४२. निर्दय, ४३. सबर, ४४. सान्ति, ४५. भर्तृहरि, ४६. भीषण, ४७. भटी, ४८. गगनपा, ४९. गमार, ५०. मेनुरा[१८], ५१. कुमारी, ५२. जीवन, ५३. ऊधोसाधव[१९], ५४. गिरिवर,

---

१. सीलनाथ, २. हलिपा, ३. कान्हकन, ४. खल, ५. कान्तलि, ६. डोगी, ७. भिषरिग, ८. इसके बाद मेदिनि, ९. चेंटल, १०. भूसुरि, ११. धाकलि, १२. कूजी, १३. धर्मपापतंगभद्र, १४. नहीं है, १५. पालिहिह, १६. भा, १७. मीनो, १८. मेण्डश, १९. अधो-

५५. सियारी, ५६. नागवालि, ५७. विभवत्[20], ५८. सारंग, ५९. विविकिधज, ६०. मकरधज, ६१. अचित, ६२. विचित, ६३. नेचक[21], ६४. चाटल, ६५. नाचन[22], ६६. भीलो, ६७. पाहिल, ६८. पासल, ६९. कमलकंगारि[23], ७०. चिपिल, ७१. गोविन्द, ७२. भीम, ७३. भैरव, ७४. भद्र, ७५. भामरी, ७६. भुरुकुटी। यदि ३६वें सिद्ध धर्मपापतंग का धर्मपा और पतंग इन दो नामों का मिश्रण मान लिया जाय तो संख्या ७७ हो सकती है।

इनमें अनेक सिद्ध ऐसे हैं जो वज्रयान के चौरासी सिद्धों से अभिन्न हैं। वज्रयान के चौरासी सिद्धों के नाम श्री राहुल सांकृत्यायन ने इस प्रकार लिखे हैं :—

१. लूइपा, २. लीलापा, ३. विरूपा, ४. डोम्बिपा, ५. शबरपा, ६. सरहपा, ७. कंकालीपा, ८. मीनपा, ९. गोरक्षपा, १०. चौरंगिपा, ११. वीणापा, १२. शन्तिपा, १३. तंतिपा, १४. चमरिपा, १५. खड्गपा, १६. नागार्जुन, १७. कन्हपा (चर्यपा), १८. कर्णरिपा (आर्यदेव), १९. थगनपा, २०. नरोपा, २१. शलिपा (शीलपा), २२. तिल्लोपा, २३. छत्रपा, २४. भद्रपा, २५. दोखंधिपा, २६. अजोगिपा, २७. कालपा, २८. धोंमिपा, २९. कंकणपा, ३०. कमरिपा, ३१. डेंगिपा, ३२. भदेपा, ३३. तंधे (ते) पा, ३४. कुकुरिपा, ३५. कुचिपा, ३६. धर्मपा, ३७. महीपा, ३८. अचितिपा, ३९. भलहपा, ४०. नलिनपा, ४१. भुसुकपा, ४२. इंद्रभूति, ४३. मेकापा, ४४. कुठालि (कुद्दालि) पा, ४५. कर्मरिपा, ४६. जालंधरपा, ४७. राहुलपा, ४८. धर्वरिपा, ४९. धोकरिपा, ५०. मेदनीपा, ५१. पंकजपा, ५२. वज्र (घंटा) पा, ५३. जोगीपा (अजोगिपा), ५४. चेलुकपा, ५५. गंडरिपा, ५६. लुचिकपा, ५७. निर्गुणपा, ५८. जयानन्त, ५९. चर्पटीपा, ६०. चंपकपा, ६१. भिखनपा, ६२. भालिपा, ६३. कुमरिपा, ६४. चवरिपा, ६५. मणिभद्रा, ६६. मेखलापा, ६७. कनखलापा, ६८. कलकलपा, ६९. कंता (था) लीपा, ७०. धहुलि (रि) पा, ७१. उधलिरिपा, ७२. कपाल (कमल) पा, ७३. किलपा, ७४. सागरपा, ७५. सर्वभक्षपा, ७६. नागबोधि पा, ७७. दारिकपा, ७८. पुतुलिपा, ७९. पनहपा, ८०. कोकालिपा, ८१. अनंगपा, ८२. लक्ष्मींकरा, ८३. समुदपा, ८४. भालि (न्यालि) पा।

(पुरातत्व निबंधावली, पृष्ठ १४८-१५४)

इन वज्रयानी सिद्धों में कम से कम तैंतीस नाम ऐसे हैं जो नाथपंथी चौरासी सिद्धों में भी गृहीत हैं (वज्रयानी सिद्ध सं० ३, ५, ८, ९, १०, १२, १३, १६, १७, १९, २१, २४, २८, ३०, ३१, ३२, ३६, ३८, ४४, ४५, ४६, ५०, ५९-६७, ७२ और ७६)।

'प्राणसंगली' में तथा परवर्ती संत साहित्य में कुछ ऐसे नाथ सिद्धों के नाम पाए जाते हैं, जिन्हें चौरासी सिद्धों में तो माना गया है, पर 'वर्णरत्नाकर' की सूची में उनका कोई उल्लेख नहीं है। संभवतः छूटे हुए नामों में इनमें से कुछ रहे हों। निम्नलिखित सिद्धों के नाम परवर्ती हिन्दी साहित्य में मिल जाते हैं—

परबत सिद्ध, ईश्वरनाथ, घुघूनाथ, चंपानाथ, खिथड़नाथ, झंगारनाथ, धर्मनाथ, ऊरमनाथ, मंगलनाथ, प्राणनाथ। विशेष विस्तार के लिए मेरा 'नाथ सम्प्रदाय' नामक ग्रंथ द्रष्टव्य है।

साधर, २०. धिभरह, २१. नेवक, २२. नायन, २३. दो नाम हैं, कमल और कंगरी।

योगियों के अनेक उपसंप्रदायों के प्रवर्तक अवश्य ही असाधारण योगी रहे होंगे। यह खेद की बात है कि उनके लिखे हुए साहित्य का पता नहीं लगता। सतनाथ, संतोषनाथ, गरीबनाथ, कायानाथ (कायमुद्दीन), लक्ष्मणनाथ (बालनाथ), दरियानाथ, जाफरपीर, चोलीनाथ, करकाई (कर्कनाथ), भूष्टाई (शंभूनाथ), मस्तनाथ, रतननाथ, माईनाथ, पावनाथ, धजनाथ आदि सन्तों के नाम से उपसंप्रदाय हैं। पुराने आचार्यों के साथ इनका संबंध भी जोड़ा जाता है। परन्तु 'वर्ण-रत्नाकर' में इनकी चर्चा न आने के कारण अनुमान किया जा सकता है कि ये चौदहवीं शताब्दी में या उसके बाद हुएं। इनमें से किसी-किसी के नाम से छिटपुट पद्य इधर-उधर मिल जाते हैं, नहीं तो किसी व्यवस्थित साहित्य का इनके द्वारा रचित या प्रचारित होने का कोई सबूत नहीं मिलता।

पंथ के मूल प्रवर्तकों के लिखे हुए संस्कृत और लोकभाषा के ग्रंथ पाए गए हैं। नीचे संक्षेप में उन पर से संगृहीत ऐतिहासिक तथ्यों की विवेचना की जा रही है।

मत्स्येन्द्रनाथ या मच्छंदरनाथ

जैसा कि शुरू में ही बताया गया है, सब प्रकार की अनुश्रुतियों और दन्तकथाओं में मस्येन्द्रनाथ और उनके शिष्य गोरखनाथ और जालंधरनाथ और उनके शिष्य कृष्णपाद (कानफा, कानिपा, कान्हपा आदि) ये चार सिद्ध नाथपंथ के प्रथम चार प्रवर्तयिता माने जाते हैं। मत्स्येन्द्र और जालंधर आदिनाथ के शिष्य माने जाते हैं, जो वस्तुतः शिव हैं। नैपाल में मत्स्येन्द्रनाथ को अवलोकितेश्वर बुद्ध का अवतार माना जाता है। वस्तुतः मत्स्येन्द्रनाथ इस परंपरा के सर्वमान्य आदि आचार्य हैं, ये कौलज्ञान के अवतारक माने जाते हैं। इनके विषय में अनेक दन्तकथाएँ पाई जाती हैं। काश्मीर शैव संप्रदाय में भी इनका नाम बड़े सम्मान से लिया जाता है। इनका वास्तविक नाम क्या था, यह कह सकना कुछ कठिन है। बहुत प्राचीन पुस्तकों में इनके नाम कई प्रकार लिखे गए हैं। 'तंत्रालोक' में इन्हें मच्छन्द कहा गया है। मत्स्येन्द्रनाथ द्वारा रचित कुछ पुस्तकें नैपाल दरबार लाइब्रेरी में सुरक्षित हैं। उनमें एक 'कौलज्ञान निर्णय' है। इसकी लिपि को देख कर स्वर्गीय महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री ने अनुमान किया था कि यह लिखावट सन ईसवी की नवीं शताब्दी की होगी। इधर डा० प्रबोधचन्द्र बागची महाशय ने इन पुस्तकों को संपादित करके प्रकाशित किया है। आपके मत से 'कौलज्ञान निर्णय' की लिखावट ग्यारहवीं शताब्दी की होनी चाहिए। इन पुस्तकों में मत्स्येन्द्रपाद, मच्छन्दरपाद, मच्छेंद्रपाद, मीनपाद, मच्छिन्द्रनाथपाद, आदि कई नाम मिलते हैं। जान पड़ता है कि मूल नाम मच्छिन्द्र जैसा कुछ प्राकृत ही था जिसे नाना भाव से संस्कृत रूप देने का प्रयत्न किया गया है। मच्छघ्न नाम से यह भी मालूम होता है कि ये मछली मारने वाले थे। 'कौलज्ञान निर्णय' में बताया गया है कि एक बार कार्तिकेय ने कुल शास्त्र को चुरा कर समुद्र में फेंक दिया था और उसे एक मत्स्य खा गया था। स्वयं भैरव ने समुद्र में प्रवेश कर के मत्स्येन्द्र का रूप धारण किया और मछली का उदर विदीर्ण कर के 'कुल शास्त्र' का उद्धार किया था। अभिनव गुप्त ने कहा कि (तंत्रा० १, ७) आतान-वितानात्मक जाल को छिन्न करने के कारण ही उनका नाम मच्छन्द पड़ा था। परवर्ती ग्रन्थों में बराबर मत्स्येन्द्रनाथ और मीननाथ दोनों नाम एक ही सिद्ध के लिए प्रयुक्त किए गए हैं। परन्तु 'हठयोग प्रदीपिका' में मीननाथ और मत्स्येन्द्रनाथ दो व्यक्ति बताए गए हैं। 'योगिसंप्रदायाविष्कृति' में मीननाथ को मत्स्येन्द्रनाथ का पुत्र बताया गया है (पृ० २२७ के आगे), परन्तु तिब्बती अनुश्रुति के अनुसार

मीननाथ ही मत्स्येन्द्रनाथ के पिता थे (बौद्धगान ओ दोहा पृ० ४,।।।≥)। डा० बागची इन बातों को परवर्ती कल्पना बताते हैं और मत्स्येन्द्रनाथ और मीननाथ को एक ही व्यक्ति मानते हैं, क्योंकि 'कौलज्ञान निर्णय' की पुष्पिका में मत्स्येन्द्रपाद और मीनपाद नाम से एक ही ग्रंथकार को कई बार कहा गया है। इन दोनों नामों से एक ही व्यक्ति का बोध होना चाहिए, क्योंकि 'तंत्रालोक' की टीका में जयद्रथ ने दो पुराने श्लोक उद्धृत किए हैं, जिनके अनुसार शिव जी ने कहा था कि मीन नामक महासिद्ध मच्छन्दर ने कामरूप में मुझसे योग पाया था ('तंत्रालोक' टीका, पृष्ठ २४)। यही मच्छन्दर सकल कुल शास्त्रों के अवतारक थे। 'गोरक्ष शतक' के दूसरे श्लोक में गोरक्षनाथ ने मीननाथ की ही वंदना की है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि मत्स्येन्द्रनाथ और मीननाथ एक ही थे।

किसी-किसी ने बौद्ध आदिसिद्ध लुईपाद (लुई = लोहित = रोहित) और मत्स्येन्द्रनाथ को एक ही सिद्ध बताने का प्रयत्न किया है, जो बाद में प्रत्याख्यात हो गया है (हरप्रसाद शास्त्री, बौ० गा० दो०, पृ० १६)। नेपाल दरबार लाइब्रेरी में 'नित्याह्निक तिलक' नामक पुस्तक सुरक्षित है। इसमें पच्चीस कौल सिद्धों के नाम, जाति, जन्मस्थान आदि का विवरण दिया हुआ है। डा० प्रबोधचन्द्र बागची महाशय ने अपनी पुस्तक की भूमिका में इस सूची को उद्धृत किया है। इससे जान पड़ता है कि मत्स्येन्द्रनाथ का मूलनाम विष्णु शर्मा था, जाति ब्राह्मण थी, जन्मभूमि बारण, बंगदेश थी। 'कौलज्ञान निर्णय' में इन्हें चन्द्रद्वीप का निवासी कहा गया है। यह चन्द्रद्वीप कहाँ था, इस विषय में विद्वानों में मतभेद है। कुछ लोग वर्तमान सुन्दरबन को चन्द्रद्वीप कहते हैं (क्योंकि चन्द्र या चंदर ही 'सुंदर' बन गया है) और कुछ लोग नोआखाली जिले में मानते हैं। एक और मत यह है कि चन्द्रद्वीप आसाम का कोई पहाड़ी स्थान है, जो ब्रह्मपुत्र नदी के बहाव से घिर कर द्वीप जैसा बन गया है। कहते हैं, अब भी योगी लोग तीर्थ करने के लिए उस स्थान पर जाया करते हैं। यह कामरूप से बहुत दूर नहीं है। 'दलाकरजोपम' नामक भोट ग्रन्थ से भी पता चलता है कि चन्द्रद्वीप लौहित्य (ब्रह्मपुत्र) नदी का कोई द्वीप है ('गंगा' पुरातत्त्वांक, पृ० २२४)। परन्तु 'कौलज्ञान निर्णय' से जान पड़ता है कि चन्द्रद्वीप कहीं समुद्र के आस-पास था। जो हो, इतना निश्चित है कि मत्स्येन्द्रनाथ बंगाल के किसी स्थान के रहने वाले थे और कामरूप में साधना करते थे। दन्तकथाओं में बताया गया है कि एक बार वे कदलीवन या कजरीवन में योगिनी स्त्रियों के मायाजाल में फँस गए थे। उनके शिष्य गोरक्ष या गोरखनाथ ने उस जाल से उनका उद्धार किया था। सारे भारतवर्ष में यह कहानी नाना भाँति से प्रचलित है। हमने अपन 'नाथ संप्रदाय' नामक ग्रन्थ में इन कहानियों का विस्तारपूर्वक संग्रह किया है।

मत्स्येन्द्रनाथ की चार पुस्तकें डा० बागची ने प्रकाशित की हैं। चारों संस्कृत में हैं। इनकी भाषा बहुत विकृत है और अनेक स्थानों पर दुर्बोध भी। ये चार पुस्तकें हैं—'कौलज्ञान निर्णय', 'अकुल वीरतंत्र' (दो रूपों में उपलब्ध), 'कुलानंद' और 'ज्ञान कारिका'। ये कौल ज्ञान की पुस्तकें हैं। 'कुल' शक्ति को कहते हैं और 'अकुल' शिव को। कौलज्ञान एक प्रकार का शाक्त शास्त्र है।

'कौलज्ञान निर्णय' की लिपि ग्यारहवीं शताब्दी की है, इससे इतना निश्चित है कि मत्स्येंद्र-नाथ ग्यारहवीं शताब्दी से पहले हुए थे। फिर अभिनव गुप्त ने (दसवीं शताब्दी के अन्त और ग्यारहवीं के आरम्भ में) इनका नाम 'तंत्रालोक' में लिया है। इससे भी सिद्ध होता है कि ये दसवीं

शताब्दी के पहले ही हो चुके थे। राहुल जी ने चौरासी सिद्धों की सूची प्रकाशित की है, जिसमें मीनपा नामक सिद्ध, जिसे तिब्बती परंपरा में मत्स्येन्द्रनाथ का पिता कहा गया है, राजा देवपाल (८०९-८४९ ई०) का समकालीन बताया गया है। इस प्रकार मत्स्येन्द्रनाथ का समय नवीं शताब्दी के मध्यभाग से लेकर अन्त्यभाग तक हो सकता है। जालंधरनाथ के शिष्य कन्हपा (कृष्णपाद) भी देवपाल के समकालीन थे। 'प्रबन्ध चिन्तामणि' में कंथड़ी नामक सिद्ध को (जो गोरक्षनाथ के शिष्य थे) मूलराज (नवीं शताब्दी ई० का मध्यभाग) का समसामयिक बताया गया है। इस प्रकार इन सभी प्रमाणों पर विचार करने से यही मालूम होता है कि मत्स्येन्द्रनाथ ईसवी सन की नवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में या मध्यभाग में वर्तमान थे। दन्तकथाओं से स्पष्ट है कि वे किसी समय ऐसी साधना में लगे थे जिसमें स्त्रियों का साहचर्य ही प्रधान था जो ब्रह्मचर्य मार्ग के अनुकूल नहीं था। वह स्थान जहाँ वे इस प्रकार की साधना में निमग्न थे, हिमालय के पाददेश में कहीं अवस्थित था और कामरूप से बहुत दूर नहीं था। उसे कदली या कजरी वन कहते थे। उनके शिष्य गोरखनाथ ने उस माया जाल से उनका उद्धार किया था। वे चन्द्रद्वीप के निवासी थे और संभवतः शुरू-शुरू में मछली मारने का व्यवसाय करते थे। इन्हें तंत्रों में कौलज्ञान का अवतारक माना जाता है। मत्स्येन्द्रनाथ या मच्छंदरनाथ के नाम से सन्त-संग्रहों में कुछ हिंदी पद भी प्राप्त होते हैं। इन पदों का संग्रह मैंने 'नाथ सिद्धों की बानियाँ' में कर दिया है जो नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित हुई है।

जालंधरनाथ और कृष्णपाद

कृष्णपाद के अनेक दोहे और पद उपलब्ध हुए हैं। एक पद में उन्होंने अपने को कापालिक (कपाली) कहा है और अपने को जालंधरपाद का शिष्य बताया है। जालंधरपाद कापालिक मत के प्रवर्तक जान पड़ते हैं। इनके और इनके शिष्य कृष्णपाद के अनेक संस्कृत ग्रंथों के तिब्बती अनुवाद प्राप्य हैं।

समूचे भारतवर्ष में नाथ योगियों में जो कथाएँ प्रचलित हैं उनसे सिद्ध होता है कि ये मत्स्येन्द्रनाथ के गुरुभाई थे, पर एक तिब्बती परंपरा में ये मत्स्येन्द्रनाथ के गुरु भी माने जाते हैं। जो हो, इतना निश्चित है कि ये मत्स्येन्द्रनाथ के समसामयिक थे। तिब्बती परंपरा के अनुसार नगरभोग देश में ब्राह्मण कुल में इनका जन्म हुआ था। पीछे ये एक अच्छे पंडित भिक्षु बन गए। बाद में घंटापाद के शिष्य कूर्मपाद की संगति में आकर उनका शिष्यत्व स्वीकार किया। इनके मुख्य शिष्य मत्स्येन्द्र, कन्हपा और तंतिपा थे।

'योगि-संप्रदायाविष्कृति' में इन्हें हस्तिनापुर के राजा बृहद्रथ की यज्ञाग्नि से उत्पन्न बताया गया है। उस ग्रन्थ के अनुसार ज्वाला से उत्पन्न होने के कारण ही इनका नाम ज्वालेन्द्रनाथ पड़ा था जो बाद में विकृत होकर जालंधर बन गया। यह बात परवर्ती कल्पना जान पड़ती है, क्योंकि सभी प्राचीन पुस्तकों में इनका नाम जालंधरनाथ ही मिलता है। इस नाम पर से अनुमान किया जा सकता है कि या तो ये जालंधर पीठ में उत्पन्न हुए थे या सिद्ध हुए थे। कहते हैं कि हठयोग में जो जालंधर बंध है वह इनका ही प्रवर्तित है। जालंधर पीठ पंजाब में है। फिर भी यह जोर देकर नहीं कहा जा सकता कि इनका जन्मस्थान पंजाब में ही रहा होगा। तनजुर में इनके लिखे

सात ग्रन्थों का उल्लेख है जिनमें राहुलजी के मतानुसार दो पुस्तकें मगही भाषा की हैं—१. 'विमुक्त मंजरी गीत' और २. 'हुंकार चित्त विन्दुभावना क्रम'। मगही भाषा में लिखित ग्रन्थों को देखकर अनुमान किया जा सकता है कि मूलरूप में ये पूर्वी प्रदेशों के निवासी थे। परन्तु कृष्णपाद ने इन्हें बराबर जालंधरिपा कहा है और पुस्तकों में जालंधरि नाम पाया जाता है जिससे जान पड़ता है कि यह विशेषण पद इन्हें जालंधर पीठ से संबद्ध (जालंधर वाले) सिद्ध करता है।

जालंधरनाथ के प्रधान शिष्य कृष्णपाद (कृष्णाचार्यपाद, कान्हपा, कानपा, कानफा थे)। तिब्बती परंपरा के अनुसार राहुल जी ने इन्हें कर्णाट देशीय ब्राह्मण कहा है और डा० विनयतोष भट्टाचार्य ने उड़ीसा देशवासी। म० म० पं० हरप्रसाद शास्त्री ने लिखा है कि तनजुर में इन्हें पंद्रह स्थानों पर भारतवासी कहा गया है। केवल एक स्थान पर उड़ीसा देशीय ब्राह्मण कृष्णपाद कहा है। लेकिन ये मूल ग्रंथकार नहीं, अनुवादक थे और इसीलिए प्रसिद्ध कृष्णाचार्यपाद से भिन्न थे। इनकी लिखी ५७ पुस्तकों और १२ संकीर्तन पदों का संधान शास्त्री जी को मिला था। वज्रयानी सिद्धों में इनका स्थान कितना महत्वपूर्ण था, इसका अनुमान इसी से किया जा सकता है कि इन्हें महाचार्य, महासिद्धाचार्य, उपाध्याय और मंडलाचार्य कह कर सम्मानपूर्वक स्मरण किया जाता है। इन्हें शास्त्री जी बंगलाभाषी मानते हैं, डा० विनयतोष भट्टाचार्य उड़ियाभाषी और महापंडित श्री राहुल सांकृत्यायन मगहीभाषी। राहुल जी ने इनके निम्नलिखित ग्रंथों को मगही भाषा में लिखा कहा है—१. कन्हपाद गीतिका, २. महाढुण्ढुन मूल, ३. वसन्त तिलक, ४. असंबद्ध दृष्टि, ५. बज्रगीत, ६. दोहाकोष। इनके अनेक पद और दोहे 'बौद्ध गान ओ दोहा' में संगृहीत हैं। डा० प्रबोधचन्द्र बागची ने इनके दोहाकोष का अलग से भी संपादन किया है।

बंगाल में पाई जाने वाली कथाओं में जालंधरनाथ को हाड़ीसिद्ध (हाड़ीपा) से अभिन्न माना गया है। राजा मानिकचन्द की रानी मयनामती इनकी शिष्या थी। मयनामती के पुत्र का नाम गोपीचंद या गोविन्दचन्द्र था। माता के उपदेश से इन्होंने जालंधरनाथ का शिष्यत्व ग्रहण किया था। भर्तृहरि या भरथरी इन्हीं रानी मयनामती के भाई थे। किसी-किसी कहानी में बताया गया है कि मयनामती और भरथरी दोनों ने ही गोरखनाथ से दीक्षा ली थी। आगे चलकर गोपीचंद और भरथरी दोनों के नाम पर पंथ चले हैं। गोपीचंद और भरथरी दोनों के वैराग्य-ग्रहण में करुण मानवीय रस होने के कारण इनकी कहानियाँ नाना नामों से समूचे भारतवर्ष में गाई जाती हैं।

जालंधरपाद के देशी भाषा में लिखे हुए पदों का कोई नमूना हमें नहीं मिला है। महा-पंडित राहुल सांकृत्यायन ने नैपाल के बौद्धों में प्रचलित 'चर्यागीति' (चर्चा) पुस्तक से इनका बताया जाने वाला एक पद उद्धृत किया है (पुरातत्व निबंधावली पृ० १८४), जिसकी भाषा बहुत बिगड़ी हुई है। पद इस प्रकार है—

अखय निरंजन अर्द्धय अनु पद्म गगन कमरंजे साधना
शून्यता विरासित राय श्री चिय देवपान बिन्दु समय जोदिता ॥ध्रु०॥
नमामि निरालंब निरक्षर स्वभाव हेतु स्फुरन संप्रापिता।
सरद चन्द्रसमय तेज प्रकासित जरज चन्द्र समय व्यापिता ॥ध्रु०॥

ख़डग योगांबर सादिरे चक्रवर्ति मेरुमंडल भमलिता।
निर्मल हृदयाकारे चक्रवर्ति ध्याविते अहिनिसि शंवज्र मय साधना ।।ध्रु०।।
आनंद परमानंद विरमा चतुरानंद जे संभवा।
परमा विरमा माझे न छादिरे महासुख सुगत संप्रद प्रापिता ।।ध्रु०।।
हे वज्रकार चक्र श्री चक्र संवर अनन्त कोटि सिद्ध पारंगता।
श्रीहत वदियाने पूर्णगिरि जालंधरि प्रभु महासुख जातहुँ ।।ध्रु०।।

परन्तु कृष्णाचार्य के अनेक पद और दोहे ठीक-ठीक मिलते हैं। उन पर से उनके विश्वास का भी पता चलता है और उनकी भाषा और शैली का भी परिचय मिलता है। कृष्णाचार्य के पदों में उस प्रकार के रूपक बहुत मिलते हैं जो आगे चलकर नाथपंथ तथा निर्गुण संप्रदाय में बहुत प्रचलित हुए थे। जालंध रनाथ के कुछ पद संत बानियों के संग्रह में 'जलंध्रीपाद के पद' कह कर संगृहीत हुए हैं(देखिए 'नाथ सिद्धों की बानियाँ')। इन पदों में वे पूर्ण रूप से नाथपंथी सिद्ध हो गए हैं। परन्तु इन रचनाओं की केवल भाषा ही नहीं बदली है, भाव भी बदले-से जान पड़ते हैं। इसकी उलटवासियाँ तो हिन्दी रचनाओं में प्रायः नहीं हैं। परन्तु चर्यापदों में और दोहों में पाई जाने वाली कृष्णपाद की रचनाओं में भी उन भड़का देने वाले बाह्य आवरणों के भीतर योगपरक अर्थ सन्निहित करने की शैली है, जो परवर्ती साहित्य में अत्यधिक लोकप्रिय सिद्ध हुई है। वस्तुतः यह शैली बहुत पुरानी है। वज्रयान में इसे संध्या (संधा ?) भाषा कहते थे। 'बौद्ध गान ओ दोहा' (पृष्ठ १९) में कृष्णाचार्यपाद के एक पद की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

नगर बाहिरे डोम्बि तोहारि कुडिया।
छोइ छोइ जाइ सो बाह्मण नाडिया।।
आलो डोम्बि तोहे सम करिब म संग।
निघिण काण्ह कपालि जोइ लाग।।
एक सो पदुम चौषठि पाखुड़ी।
तहिँ चड़ि णाचअ डोम्बि बापुड़ी।।
हालो डोम्बि तो पूछिमि सद भावे।
अइससि जासि डोम्बि काहरि नावें ।।इत्यादि।।

'ऐ डोमिन, नगर के बाहर तुम्हारी कुटिया है, ब्राह्मण का लड़का उसे छू-छू चला जाता है। ऐ डोमिन, तुम्हारे साथ संग ही करूँगा। निर्घृण कान्ह कापालिक योगी नंगा है। एक पद्म है जिसकी चौंसठ पंखड़ियाँ हैं। उसी पर चढ़कर डोमिन बिचारी नाचती है। ऐ डोमिन, मैं तुमसे सद्भावपूर्वक पूछता हूँ, ऐ डोमिन, तू किसके नाम से आती जाती रहती है ?' यहाँ अवधूती नाड़ी ही डोमिन है और चंचल चित्त ही ब्राह्मण का पुत्र ह। स्पर्श भय से यह अभागा भागा फिरता है। विषयों का जंजाल ही मानो एक नगर है जिसके बाहर इस अवधूती-वृत्ति डोमिन का वास है। कान्ह कहते हैं कि ऐ डोमिन, तुम चाहे नगर के बाहर ही रहो, पर निर्घृण कान्ह तो तुम्हारे साथ ही विहार करेगा। कृष्णाचार्य ने अपने 'दोहाकोष' में अन्यत्र बताया है कि शरीर के सर्वोच्च स्थान

में मेरुगिरि है जिसके जालंधर नामक शिखर पर चौंसठ दलों का उष्णीश कमल है। डोमिन अर्थात् अवधूती-वृत्ति इसी कमल पर नृत्य करती है।

इस प्रकार जो बात ऊपर-ऊपर से भड़का देने वाली है उसका वास्तविक अर्थ योग और समाधि है। कान्ह (कृष्णपाद) जब कहते हैं कि ये मंत्र तंत्र एक भी न करो, केवल अपनी गृहिणी को लेकर केलि करो, जब तक तुम अपनी घरनी की जानकारी में निमग्न नहीं हो जाते तब तक क्या पंच क्लेशों से छूट सकते हो?—

एक्क न किज्जइ मंत ण तंत।
णिअ घरणी लेइ केलि करन्त।।
णिअ घर घरिणी जाव ण मज्जइ।
ताव कि पंचवण्ण विरहिज्जई।।

(बौ० गा० दो०, पृ० १३१)

तो वस्तुतः इसी अवधूती वृत्ति को अपनाने की बात कहते हैं। केवल कहने का ढंग झकझोर देने वाला है। आगे चल कर नाथमार्ग में यह स्वर ज्यों का त्यों बना रहता है।

जालंधरनाथ और कानपाद (कणेरी) के नाम पर कुछ परवर्ती हिन्दी के पद मिलते हैं (देखिए 'नाथ सिद्धों की बानियाँ' और 'योग प्रवाह')। ये सम्भवतः मूल पदों के अत्यन्त बाद के परिवर्तित रूप हैं या किसी अन्य कवि ने इनके नाम पर इन पदों की रचना कर दी है। जालंधर का एक पद इस प्रकार है—

थोड़ो खाई सो कलपै झलपै घणो खाइ सो रोगी।
दहूं पषा की संधि बिचारै ते कोई बिरला जोगी।।
यह संसार कुबधि का खेत। जब लगि जीवे तब लगि चेत।।
आंख्यां देखै कानां सुणै। जैसा कहै तैसा लुणै।।

इन पदों को संस्कृत में रूपान्तरित करने का भी प्रयास किया गया था।

गोरक्षनाथ या गोरखनाथ

मत्स्येन्द्रनाथ के सुप्रसिद्ध शिष्य गोरखनाथ या गोरक्षनाथ किस प्रदेश में उत्पन्न हुए थे, इसका कुछ निश्चित पता नहीं चलता। इनका समय मोटे तौर पर मत्स्येन्द्रनाथ के थोड़ा बाद का अर्थात सन ईसवी की नवीं शताब्दी का उत्तरार्ध माना जा सकता है। ये अपने युग के सर्वाधिक प्रतिभासंपन्न महात्मा थे। समूचे भारतवर्ष तथा अफगानिस्तान, ईरान और चीन में गोरखनाथ के नाम से संबद्ध स्थान बताए जाते हैं। इनके बारे में अनेक दन्तकथाएँ प्रचलित हैं जो उनके द्वारा प्रवर्तित योगमार्ग के महत्व के सिवा और किसी विशेष जानकारी का साधन नहीं हैं, क्योंकि इन दन्तकथाओं के आधार पर जो जानकारियाँ संग्रह की जाती हैं वे परस्पर बहुत विरुद्ध हैं।

दन्तकथाओं को देखकर विभिन्न लेखकों ने इनके जन्मस्थान और समय आदि के विषय में तरह-तरह के अटकल लगाए हैं। 'योगिसंप्रदायाविष्कृति' में इन्हें गोदावरी तीर पर अवस्थित किसी चन्द्रगिरि में उत्पन्न बताया गया है। नैपाल दरबार लाइब्रेरी में एक 'गोरक्ष सहस्रनाम'

नामक स्तोत्र ग्रंथ है जिसमें इन्हें दक्षिण देश के 'बड़व' संज्ञक देश में प्रादुर्भूत कहा गया है। क्रुक्स ने एक परंपरा का उल्लेख किया है, जिसे ग्रियर्सन साहब ने 'इनसाइक्लोपीडिया आफ रेलिजन ऐंड एथिक्स' (पृ० ३२८) में अपने गोरखनाथ विषयक लेख में उद्धृत किया है। इसके अनुसार गोरखनाथ सतयुग में पंजाब के पेशावर में, त्रेता में गोरखपुर में, द्वापर में द्वारका के भी आगे हुरभुज में और कलिकाल में काठियावाड़ की गोरखगढ़ी में प्रादुर्भूत हुए थे। बंगाल में यह विश्वास किया जाता है कि गोरखनाथ बंगाल के निवासी थे। गोरखपुर के महन्त ने ब्रिग्स साहब को बताया था कि गोरखनाथ टिला (जिला झेलम, पंजाब) से गोरखपुर आए थे और नैपाल के लोगों का विश्वास है कि वे पंजाब से नैपाल ही आए थे। टिला का अनेक कहानियों में बहुत अधिक उल्लेख मिलने से अनुमान किया गया है कि ये पंजाब के ही निवासी थे (ब्रिग्स, पृ० २२९)। मैंने अपने ग्रंथ 'नाथ संप्रदाय' में गोरखनाथी साधना के मूल सुर का विस्तृत विवेचन किया है। उस विवेचन पर से मेरा अनुमान है कि गोरक्ष (ख) नाथ निश्चित रूप से ब्राह्मण वंश में उत्पन्न हुए थे और ब्राह्मण-परंपरा में पालित हुए थे। उनके गुरु मत्स्येन्द्रनाथ भी शायद ही कभी बौद्ध साधक रहे हों। तिब्बती परंपरा में कोई बात पाई जाने मात्र से यह सिद्ध नहीं होता कि वह प्रामाणिक ही है। वस्तुतः तिब्बती परंपरा भी बहुत बाद की है और सब को आँख मूँद कर नहीं माना जा सकता। तिब्बती ऐतिहासिक तारानाथ ने बौद्धमत से उनका शैवमत में आना बताया है, और उनके कथन से यह भी ध्वनित होता है कि गोरखनाथ का समय सन ई० की बारहवीं शताब्दी है। वस्तुतः यह मत भ्रामक है। परवर्ती साहित्य में गोरखनाथ के विषय में जो नाना प्रकार की दन्तकथाएँ प्राप्य हैं उन पर से न तो उनके समय की ही कुछ ठीक धारणा होती है और न अन्य किसी बात की ही। इन दन्तकथाओं को मोटे तौर पर चार श्रेणियों में बाँट लिया जा सकता है—१. कबीरदास, गुरुनानक आदि के साथ उनके साक्षात्कार और विचार की जो कथाएँ हैं उन पर से उनका काल-निर्णय किया जाय (जैसा कि किसी किसी विद्वान ने किया भी है), तो उनका समय चौदहवीं शताब्दी या उसके आसपास स्थिर होता है। २. पंजाब में प्रचलित गूगा आदि की कथाएँ, पश्चिमी नाथों की अनुश्रुतियाँ, बंगाल की शैव परंपरा और धर्मपूजा का साहित्य, महाराष्ट्र में प्रचलित ज्ञानेश्वर की गुरु-परंपरा आदि पर से विचार किया जाय तो यह काल १२०० ई० के आसपास आता है। इस बात का ऐतिहासिक प्रमाण है कि १३वीं शताब्दी में एक गोरखपंथी मठ बर्बाद कर दिया गया था, इसलिये निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि गोरखनाथ इस काल के पूर्व ही हो गए होंगे। ३. नैपाल की शैव बौद्ध परंपरा के नरेन्द्र देव, उदयपुर के बाप्पा रावल, उत्तर-पश्चिम के राजा रसालू और होदी आदि पर आधारित काल ८वीं से ९वीं शताब्दी तक के काल की ओर इशारा करते हैं और ४. नैपाल में प्रचलित कुछ अनुश्रुतियाँ किसी और भी पुराने काल की ओर संकेत करती हैं। ये सभी तिथियाँ ठीक नहीं हो सकतीं। हमने मत्स्येन्द्रनाथ के प्रसंग में उनका जो काल निश्चय किया है वही सब प्रकार से ऐतिहासिक जान पड़ता है।

गोरक्ष-साहित्य का रचनाकाल

इस प्रकार नाथ-साहित्य नवीं शताब्दी के मध्यभाग के आसपास बनना आरम्भ हुआ। इसके पहले पश्चिमी भारत पर मुस्लिम आक्रमण हो चुका था, परन्तु वह आक्रमण विशेष विक्षोभ-

कारी नहीं हो सका। सिंध नदी के इस पार वह नहीं जा सका। आठवीं शताब्दी में मुसलमानों से हिन्दू राजाओं का संघर्ष हुआ था। उसी समय गजनी और रावलपिंडी के राजघरानों को पूर्व की ओर हटना पड़ा था। परन्तु आगे चलकर अवस्था फिर सुधर गई और स्यालकोट का राजवंश गजनी तक अपना प्रभाव-विस्तार क रने में समर्थ हुआ। नवीं-दसवीं शताब्दी में कोई राजनीतिक विक्षोभ नहीं हुआ। इस समय उत्तर भारत में दो प्रबल पराक्रान्त साम्राज्य थे। कन्नौज के प्रतीहार और गौड़ तथा मगध के पाल। सिद्धों (बौद्ध और नाथ) का साहित्य अधिकांश में इसी काल में रचित हुआ। पाल राजवंश बौद्ध धर्म का संरक्षक था और उनके राज्य-काल में लोकभाषा का भी खूब सम्मान रहा।

ग्यारहवीं शताब्दी में भारतवर्ष का पश्चिमोत्तर सीमान्त फिर विक्षुब्ध हुआ। इसके बाद की दो-तीन शताब्दियों तक देश का राजनीतिक वातावरण विक्षब्ध ही बना रहा। इसीलिए उत्तर भारत में विशेषकर हिंदी प्रदेशों में इन दिनों उल्लेख-योग्य साहित्य कम ही रचा गया। इन दिनों के साहित्य में अनुकरण की चेष्टा ही अधिक मिलती है। नाथ-पंथी साहित्य में इस काल की जो कुछ रचनाएँ मिली हैं उनमें स्वकीयता कम और परानुकरण अधिक है। पुराने सिद्धों के विषय में किंवदन्तियाँ और चमत्कारपूर्ण कहानियाँ इन दिनों खूब प्रचलित हुईं। कभी-कभी गोरखनाथ आदि सिद्धों के साथ और भी प्राचीन ऐतिहासिक व्यक्तियों की चर्चा मिलती है।

यह प्रश्न रह जाता है कि इन विभिन्न ऐतिहासिक पुरुषों के साथ गोरखनाथ के संपर्क की कहानियों के मूल में क्या बात है। हमने अपनी पुस्तक में विस्तारपूर्वक इस बात पर विचार किया है। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि गोरक्षमत में अनेक पूर्ववर्ती मत भी मिल गए हैं और परवर्ती मत भी मिले हैं। इन मतों के मूल प्रवर्तकों को गोरखनाथ का अवतार या शिष्य या गुरुभाई मान लिया गया है। लकुलीश पाशुपतों का पूरा मत इस संप्रदाय में अन्तर्भुक्त हो गया है और अनेक पाशुपत आचार्यों को गोरक्षनाथ का अवतार (और इसीलिए उनसे अभिन्न) मान लिया गया है। ऐतिहासिक दृष्टि से इसमें असंगति हो सकती है, पर आध्यात्मिक भाव से देखने वालों को इसमें कोई विरोध नहीं दिखता।

गोरक्षनाथ का महत्व

गोरक्ष (ख) नाथ और उनके द्वारा प्रभावित योगमार्ग के अवलोकन से स्पष्ट रूप से पता चलता है कि उन्होंने योगमार्ग को एक बहुत सुन्दर व्यवस्थित रूप दिया है। उन्होंने शैव प्रत्यभिज्ञा दर्शन के आधार पर बहुधा विस्रस्त कायायोग के साधनों को व्यवस्थित किया, आत्मा-नुभूति और शैव परंपरा के सामंजस्य से शरीरस्थित चक्रों की संख्या निश्चित की, उन दिनों अत्यधिक प्रचलित वज्रयानी शब्दों के सांवृतिक अर्थ को बलपूर्वक पारमार्थिक रूप दिया और अब्राह्मण उद्गम से उद्भूत संपूर्ण ब्राह्मण-विरोधी साधन-मार्ग को व्यवस्थित और संस्कृत रूप भी दिया और उसके रूढ़ि-विरोधी स्वर को ज्यों-का-त्यों रहने दिया। उन्होंने संस्कृत में भी ग्रंथ लिखे और लोकभाषा को भी अपने उपदेशों का माध्यम बनाया। यद्यपि उपलब्ध सामग्री पर से यह निर्णय करना बड़ा कठिन है कि उनके नाम पर चलने वाली

पुस्तकों[1] में कौन-सी कितनी प्रामाणिक हैं और उनके द्वारा प्रयुक्त लोकभाषा का मूल रूप क्या है, परन्तु इतना निश्चित है कि उन्होंने अपने उपदेशों को तत्काल प्रचलित लोकभाषा में भी प्रचारित किया था। संभवतः यह भाषा गोरखपुर के आस-पास प्रचलित वह भाषा थी जिसका वर्तमान रूप भोजपुरी है।

लोकभाषा में गोरखनाथ के ग्रंथ

स्व० डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने बड़े परिश्रमपूर्वक गोरखनाथ की बताई जाने वाली बानियों का संग्रह 'गोरखबानी' नाम से किया है। डा० बड़थ्वाल की खोज से निम्नलिखित चालीस पुस्तकों का पता चला है, जिन्हें गोरखनाथ-रचित कहा जाता है। इनमें से अधिकांश पुस्तकें ऐसी हैं जो छपने पर मुश्किल से एक पृष्ठ की होंगी:—

१. सबदी
२. पद
३. सिष्या दरसन
४. प्राण संकली
५. नरवै बोध
६. आत्म बोध (१)
७. अभैमात्रा जोग
८. पंद्रह तिथि
९. सप्तवार
१०. मछीन्द्र गोरख बोध
११. रोमावली
१२. ग्यान तिलक
१३. ग्यान चौंतीसा
१४. पंचमात्रा
१५. गोरख गणेश गोष्ठी
१६. गोरख दत्त गोष्ठी (ज्ञानदीप बोध)
१७. महादेव गोरख गुष्टि
१८. सिष्ट पुरान
१९. दया बोध
२०. जाती भौंरावली (छंद गोरख)
२१. नवग्रह
२२. नवरात्र
२३. अष्ट पारछ्या
२४. रहरास
२५. ज्ञान माला
२६. आत्म बोध (२)
२७. व्रत
२८. निरंजन पुराण
२९. गोरख वचन
३०. इन्द्री देवता
३१. मूल गर्भावली
३२. खाणीवाणी
३३. गोरखसत
३४. अष्ट मुद्रा
३५. चौबीस सिद्धि
३६. षडक्षरी
३७. पंच अग्नि
३८. अष्ट चक्र
३९. अवलि सिलूक
४०. काफिर बोध

---

१. निम्नलिखित संस्कृत पुस्तकें गोरक्षनाथ की लिखी बताई जाती हैं:—

१. अमनस्क, २. अमरौघशासनम, ३. अवधूत गीता, ४. गोरक्ष कल्प, ५. गोरक्ष कौमुदी, ६. गोरक्ष गीता, ७. गोरक्ष चिकित्सा, ८. गोरक्ष पंचम, ९. गोरक्ष-पद्धति, १०. गोरक्ष शतक, ११. गोरक्ष शास्त्र (नं० १०, ११ में बहुत साम्य है, गोरक्ष-पद्धति का ही एक शतक गोरक्ष शतक है), १२. गोरक्ष संतति, १३. चतुरशीत्यासन, १४. ज्ञान प्रकाश शतक, १५. ज्ञान शतक (संभवतः नं० १४ और १५ गोरक्ष शतक के ही नामान्तर हैं), १६. ज्ञानामृत योग, १७. नाड़ीज्ञान प्रदीपिका, १८. योग चिंतामणि, १९. योग मार्तण्ड, २०. योगबीज, २१. योग शास्त्र, २२. योग सिद्धासन पद्धति, २३. श्रीनाथ सूत्र, २४. सिद्ध सिद्धांत पद्धति, २५. हठयोग और २६. हठसंहिता।

डा० बड़थ्वाल ने अनेक प्रतियों की जाँच करने के बाद इनमें प्रथम चौदह को निस्संदिग्ध रूप से प्राचीन माना, क्योंकि इनका उल्लेख प्रायः सब में मिला। 'ग्यान चौंतीसा' उन्हें समय पर न मिल सका इसीलिए प्रमाणित संग्रह में उसे स्थान नहीं दिया जा सका। परन्तु बाकी तेरह को गोरखनाथ की मूल बानी मान कर गोरखबानी में स्थान दिया गया है। १५ से १९ तक की रचनाओं को एक प्रति में सेवादास निरंजनी लिखित बताया गया है, इसीलिए संदेहास्पद समझ कर संपादक ने उन्हें परिशिष्ट में संग्रह किया है। बाकी के कुछ में गोरखनाथ की स्तुति है, कुछ में अन्य ग्रंथकारों के नाम भी हैं। 'काफिर बोध' कबीरदास के नाम पर भी मिलता है, इसलिए डा० बड़थ्वाल ने इस संग्रह में उसे स्थान नहीं दिया, केवल परिशिष्ट में 'सप्तवार', 'नवग्रह', 'व्रत', 'पंचअग्नि', 'अष्टमुद्रा', 'चौबीस सिद्धि', 'बत्तीस लच्छन' और 'रहरास' को स्थान दिया है। 'अवलि सलूक' और 'काफिर बोध' रतननाथ के लिखे हुए हैं।

इन प्रतियों की आलोचना करने के बाद डा० बड़थ्वाल इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि 'सबदी' गोरखनाथ की सब से प्रामाणिक रचना जान पड़ती है। परन्तु वह उतनी परिचित नहीं है जितना 'गोरखबोध'।

इस 'गोरखबोध' की सब से पहली छपी हुई एक खंडित प्रति कार्माइकेल लाइब्रेरी, काशी में है, जो सन् १९११ ई० में बाँस का फाटक, बनारस से छपी थी। बाद में इसे जयपुर के पुस्तकालय से संग्रह करके डा० मोहनसिंह ने अंग्रेजी अनुवाद के साथ अपनी पुस्तक में प्रकाशित किया। डा० मोहनसिंह इस पुस्तक में प्रतिपादित सिद्धान्तों को बहुत प्रामाणिक मानते हैं। परन्तु मत्स्येंद्र-नाथ के संप्रति उपलब्ध ग्रंथों के आलोक में यह मत बहुत ग्रहणीय नहीं जान पड़ता। डा० बड़थ्वाल ने इन पुस्तकों के रचयिता के बारे में विशेष लिखने का वादा किया था, पर दुर्भाग्यवश, महा-काल ने बीच में ही हस्तक्षेप किया और यह कार्य अधूरा ही रह गया।

गोरखनाथ की बानी में पूर्वी भाषा

जिस रूप में 'गोरखबानी' हमें उपलब्ध है वह प्राचीन मूलरूप ही है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। डा० मोहनसिंह द्वारा संपादित 'गोरखबोध' की भाषा डा० बड़थ्वाल-संपादित उसी ग्रंथ की भाषा से भिन्न है। इन पदों में पंजाबीपन भी कहीं-कहीं मिलता है, परन्तु अनेक पदों में ऐसे प्रयोग मिलते हैं जो पूर्वी हैं। डा० सुकुमार सेन ने 'उत्तर भारत के नाथ संप्रदाय की परंपरा में बंगाली प्रभाव' नामक अपने प्रबंध (प्रेमी अभिनन्दन ग्रंथ) में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि 'गोरखबानी' के दोहों तथा पदों में यदि सभी नहीं तो अधिकांश पहले-पहल बंगला में लिखे गए थे। डा० सेन ने अपने मत की पुष्टि में जो प्रमाण दिए हैं वे सभी भोजपुरी भाषा के पक्ष में भी दिए जा सकते हैं। वस्तुतः गोरखनाथ का साधना-क्षेत्र गोरखपुर के आस-पास के प्रदेश रहे। उनका प्रचार-क्षेत्र बहुत विस्तृत था। वह कामरूप से काबुल तक फैला हुआ था। हमने पहले ही देखा है कि उन दिनों उत्तर भारत में दो प्रबल राजशक्तियाँ थीं, कन्नौज के प्रतीहार और गौड़ के पाल। पहली राजशक्ति संस्कृत साहित्य की आश्रयदात्री थी और दूसरी देश-भाषा के साहित्य की। इसीलिए उन दिनों सिद्धों की लोकभाषा में पूर्वी प्रयोगों की प्रचुरता है। यह पूर्वी भाषा जिस रूप में उपलब्ध है उसमें भोजपुरी, मगही, बंगला, नैपाली, उड़िया आदि भाषाओं के

बीज वर्तमान हैं। इस भाषा को जितना ही बंगला कहा जा सकता है उतना ही उड़िया या मगही।

ऐसे अनेक पद, दोहे और वाक्यांश गोरखनाथ के नाम पर मिलते हैं जो कबीर, दादू, नानक आदि परवर्ती सन्तों के नाम पर भी पाए जाते हैं। यह भी संभव है कि गोरखनाथ के नाम पर मिलने वाले पदों में से कुछ और भी पुराने सिद्धों के लिखे हों। यह बिलकुल गलत धारणा है कि निरंजन और धर्म दैवत संप्रदाय केवल बंगाल तक ही सीमित था। वस्तुतः कबीरपंथी साहित्य का एक बहुत बड़ा हिस्सा निस्संदिग्ध रूप से सिद्ध करता है कि किसी जमाने में प्रबल प्रभावशाली धर्म और निरंजन संप्रदाय का एक बड़ा समुदाय कबीरपंथ में सम्मिलित हो गया था।

डा० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल ने ('योग प्रवाह', पृष्ठ ६३, ६४) कान्ह और गोरख की वाणियों में पूर्वी (भोजपुरी) भाषा का प्रभाव लक्ष्य किया था और कुछ स्थलों पर मराठी और गुजराती के चिह्न भी देखे थे। उन्हें जान पड़ा था कि गोरखनाथ के उपदेशों के प्रचार करने के इच्छुक उनके अनुयायी जहाँ-जहाँ गए, वहाँ-वहाँ के लोगों के लिए उन उपदेशों को बोधगम्य करने के लिए देशकालानुसार फेरफार करते रहे। यही ठीक मत है। एक मनोरंजक बात यह है कि जिन 'इबान्त' पदों के आधार पर डा० सेन इसकी भाषा को बंगला से प्रभावित मानते हैं, वैसे ही एक पद को उद्धृत करके डा० बड़थ्वाल ने कहा था कि राजस्थानी का ठाठ तो इनमें पद-पद पर मिलता है। उद्धृत पद यह है:—

हबकि न बोलिबा ठबकि न चलिबा धीरे धरिबा पावं।
गरब न करिबा सहजें रहिबा भणत गोरख रावं॥

कुछ अन्य सिद्ध

इन सिद्धों के अतिरिक्त अन्य सिद्धों की भी छोटी-मोटी रचनाएँ मिलती हैं। हमने पहले ही देखा है कि नाथ सिद्धों में बहुतेरे ऐसे हैं जो वज्रयान में भी स्वीकृत हैं। इन उभय सामान्य संतों में निश्चय ही योग विषयक, विशेष करके कायायोग विषयक, बातें ऐसी होंगी जिनके कारण नाथमत में उन्हें सिद्ध स्वीकार कर लिया गया होगा। इनमें से कुछ के बनाए हुए पद मिले हैं, उन पर संस्कृत टीका भी उपलब्ध हुई है। ये पद निश्चित रूप से नाथमार्ग के स्वीकृत सिद्धांतों के सर्वथा अनकूल नहीं हैं। फिर भी कायायोग पर सब में कुछ-न-कुछ विचार मिल जाता है।

कुछ नाथ सिद्धों की हिंदी-रचनाएँ भी प्राप्त होती हैं। इनमें अजयपाल (१४वीं शताब्दी), धूँधलीमल (१२वीं शताब्दी), घोड़ाचूली (१२वीं शताब्दी), पृथ्वीनाथ (कबीर के परवर्ती), बालनाथ या बालगुंदाई (१४वीं), सुकुल हंस (?), हणवंतजी (कबीर के पूर्ववर्ती) आदि सिद्धों की रचनाएँ मिलती हैं। इनके अतिरिक्त मत्स्येंद्रनाथ, नागार्जुन, भर्तृहरि, जालंधरनाथ आदि पुराने सिद्धों की भी रचनाएँ प्राप्त होती हैं। इनकी भाषा में काफी परिवर्तन हो गया जान पड़ता है। चर्पटनाथ के पदों में काफी व्यंग्य और तीखापन है। प्रायः सभी रचनाएँ सांसारिक विषय-वासना की निंदा कर के योगमार्ग का अवलंबन करने का उपदेश देती हैं। इनकी बानियाँ प्रस्तुत लेखक द्वारा संपादित 'नाथ सिद्धों की बानियाँ' नामक संग्रह में प्रकाशित हुई हैं।

संस्कृत और भाषा-ग्रंथों का अन्तर

गोरक्षनाथ के नाम पर जो संस्कृत ग्रंथ मिले हैं उनकी प्रामाणिकता में संदेह है। 'अमरौघ शासन', 'गोरक्षशतक' आदि कुछ थोड़ी-सी ही पुस्तकें हैं जिनके विषय में कुछ दृढ़ता के साथ कहा जा सकता है कि वे गोरक्ष-कृत होंगी। इन पुस्तकों में अधिकांश में हठयोग की विविध साधनाओं के विषय बताए गए हैं। साधारणतः तत्वावद या सिद्धान्त की बातें इन पुस्तकों में बहुत संक्षेप में कही गई हैं और कभी-कभी तो एकदम नहीं कही गईं।

'अमरौघ शासन' में पूर्ववर्ती मतों की आलोचना करने का थोड़ा-सा प्रयत्न है। बहुत बाद में 'गोरक्ष-सिद्धान्त-संग्रह' नाम से एक पुस्तक लिखी गई थी जिसमें पर मत का निरसन कर आत्मपक्ष के स्थापन की चेष्टा है। साधारणतः गोरक्षनाथ के नाम पर चलने वाले अधिकांश ग्रंथ हठयोग की व्यावहारिक शिक्षा देने के लिए ही लिखे गए हैं।

हठयोगी का विश्वास है कि प्रत्येक शरीरधारी का शरीर (पिंड) छोटा-मोटा ब्रह्माण्ड है। ब्रह्माण्ड में जो कुछ है वह सभी पिंड में ही मिल सकता है। इसलिए पिंड या शरीर को शुद्ध करने से मनुष्य अपना परम प्राप्तव्य पा सकता है। मानव-शरीर में बहत्तर हजार नाड़ियाँ हैं, परन्तु मेरुदंड के भीतर जो सुषुम्ना नाम की नाड़ी है, वही शांभवी शक्ति है। नेति, धौति आदि षट् कर्मों के द्वारा योगी नाड़ियों को शुद्ध करता है, जिससे प्राणवायु को नियंत्रित करना सहज हो जाता है। प्राणवायु को प्राणायाम, आसन, आदि विविध साधनाओं से संयमित करके योगी सुषुम्ना मार्ग से शुद्ध करता है। इस क्रिया से कुण्डलिनी शक्ति शुद्ध होती है। शुद्ध कुण्डली (कुण्डलिनी) क्रमशः छः चक्रों को भेद करती हुई अन्तिम चक्र सहस्रार (जो मस्तक में स्थित है) में स्थित शिव से मिलित होती है। इन चक्रों का हठयोग में बहुत महत्व है। हठयोग शब्द में हकार का अर्थ सूर्य है, ठकार का अर्थ चंद्रमा। सूर्य प्रथम चक्र में नाभि के पास है और चंद्रमा अन्तिम चक्र के पास तालु में। इन दोनों के योग होने पर ही सहज समाधि की प्राप्ति होती है। चूँकि प्राणवायु के निरोध से हठयोगी इन्हीं सूर्य-चन्द्रों को युक्त करता है इसीलिए उसके साधन-मार्ग को हठयोग कहते हैं।

संस्कृत के साधन-ग्रन्थों में इसी साधना की विधि को विस्तारपूर्वक बताया गया है। गोरक्षनाथ ने एक जगह कहा है कि जो व्यक्ति छ चक्रों, सोलह आधारों, दो लक्ष्यों और पाँच आकाशों को नहीं जानता, वह सिद्धि नहीं पा सकता। हठयोग के सभी ग्रंथ इनमें से एक, दो या अधिक का परिचय कराते हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इन नाना आस, नों मुद्राओं, प्राणायामों का प्रतिपादक साहित्य कितना एकधृष्ट और नीरस होगा।

गोरखनाथ के नाम पर पाए जाने वाले लोकभाषा के ग्रंथों में भी इन विषयों की भूरिशः चर्चा है, फिर भी इन शुष्क विषयों में थोड़ी सरसता लाने का प्रयत्न किया गया है। इन नीरस विषयों को लोकप्रिय बनाने के लिए इन पुस्तकों में तीन उपाय काम में लाए गए हैं—१. प्रश्नोत्तर या गुष्टि (गोष्ठी) का माध्यम, २. गेय पदों के द्वारा वैराग्य भाव का प्रचार और ३. ऊपर-ऊपर से भड़का देने वाली उलटबासियों के द्वारा लोकचित्त की उत्सुकता बढ़ाने के प्रयत्न।

प्रथम श्रेणी का साहित्य बड़ा लोकप्रिय हुआ है। इस शैली के प्रवर्तक नाथ-सिद्ध ही जान पड़ते हैं। नाथों में पहले इस तरह का साहित्य नहीं मिलता। इसमें गोरखनाथ और मच्छन्दरनाथ या गोरखनाथ और दत्तात्रेय या ऐसे ही दो व्यक्तियों में प्रश्नोत्तर करके सिद्धान्त का प्रतिपादन कराया जाता है। 'गोरख मछिंद्र बोध' के सिवा प्रायः सर्वत्र गोरखनाथ ही उत्तर पक्ष अर्थात् सिद्धान्तों के वक्ता होते हैं, अन्य आचार्य या देवता केवल प्रश्नकर्त्ता होते हैं। यह शैली आगे चल कर इतनी लोकप्रिय हुई कि नानक, दादू और कबीर के संप्रदायों में इसी शैली से किसी बड़े ऐतिहासिक या पौराणिक व्यक्ति के साथ इन मतों के प्रवर्तकों का प्रश्नोत्तरमूलक साहित्य बहुत अधिक बना है। मजेदार बात यह है कि इस शैली के आविष्कर्त्ता नाथों के गुरु गोरखनाथ परवर्ती गोष्ठियों में प्रायः सीखने वाले साबित होते हैं। दूसरी शैली भी बहुत प्रभावशाली सिद्ध हुई और तीसरी की माया काटने में भारतीय साहित्य को काफी समय लगा। अन्तिम दोनों शैलियाँ वज्रयानी सिद्धों में भी पाई जाती हैं।

सबदों में मानव रस

यद्यपि गोरखपंथी साहित्य में साधनमूलक विधियों और वैराग्योत्तेजक विचारों का बाहुल्य होने से नीरसता ही अधिक है, तथापि गोरखनाथ के लिखे पदों में एक प्रकार का मानवीय रस भी है जो इन उपदेशों को सरस और सहज ग्राह्य बना देता है। कथनी और कहनी का भेद बताते हुए एक जगह वे कहते हैं कि कहना आसान है, पर करना कठिन। करनी बिना कहनी एकदम थोथी है। तोता पढ़-गुन कर पंडित होता है, पर बिल्ली एक झपट में उसे समाप्त कर देती है। इसी प्रकार पंडित पोथी हाथ में लिए बैठा ही रहता है और माया उसे धर दबोचती है। गुड़ बिना खाए केवल मीठा कहने से कोई रस कैसे पाया जा सकता है? हींग खाकर उसे कपूर कहना झूठा ही तो है। सो गोरक्षनाथ कहते हैं कि कहना सहज है, करना कठिन है—

कहणि सुहेली रहणि दुहेली
　　कहणि रहणि बिण थोथी।
पढ़्या गुणा सुवा बिलाई खाया
　　पंडित के हाथि रहि गई पोथी।
कहणि सुहेली करणि दुहेली
　　बिन खायां गुड़ मीठां।
खाई हींग कपूर बखाणैं
　　गोरख कहै सब झूठा।

लोकसुलभ उपमानों और दृष्टान्तों की योजना से इन उपदेशों को बहुत सहजग्राह्य बना दिया गया है। गोरखनाथ के ये दृष्टान्त और उपमान इतने आकर्षक हुए कि कबीर आदि परवर्ती भक्तों ने उन्हें ज्यों-का-त्यों अपनाया है। एक स्थान पर गोरखनाथ ने कहा है कि हृदय का भाव ही हाथ में उतर आता है (जो मन में होता है, वही कार्य में प्रकाशित होता है), कलियुग बुरा जमाना है। कुछ भी छिपा लेना इस युग में कठिन है, जो चीज करवा (गड़ुवा) में होगी वही तो टोंटी से निकलेगी—

हिरदा का भाव हाथ में जाँणिबे यह कलि आई षोटी।
बदंत गोरष सुणैं रे अवधू करवै होइ सु निकसै टोटी।।

यह दृष्टान्त बड़ा लोकप्रिय सिद्ध हुआ। कबीरदास ने भी इसका प्रयोग किया—

जरिगौ कंथा धज गौ टूटी, भजिगौ डंड खपर गौ फूटी।
कहहि कबीर इ कलि है खोटी, जो रहै करवा सो निकरै टोटी।।

इन पदों के उपमान और दृष्टान्त सहज लोक जीवन से लिए गए हैं। इसीलिए वे सैकड़ों वर्ष बाद भी जनता के बीच बने हुए हैं। लोग उनका मूल भाव भूल गए हैं, पर अभी भी अपने मनोरंजन और मार्गदर्शन के लिए उनका उपयोग किए जा रहे हैं। उनकी कितनी ही उलटबासियाँ जोगीड़ों के काम आती हैं। उनका मर्मार्थ भूला जा चुका है। उनके कितने ही पद खेती गृहस्थी के काम में प्रयुक्त होते हैं। उनकी वाणियाँ नाना रूप में लोकोक्तियों का रूप ग्रहण कर गई हैं। 'अवधू मन चंगा तो कठौती ही गंगा' (गोरखबानी, पृष्ठ ५३), 'बरषैगी कंबली भींजेगो पाणी', 'विषया लुबधी तंत्र न बूझै घरिलै बाघनीं पोषै' (पृष्ठ १४३), 'तलि भौ गगरि उपरि पनिहारि' [तलि गागरि ऊपरि पनिहारी] (पृष्ठ १४२), आदि उक्तियाँ बहुत लोकप्रिय हुई थीं। उन्हें केवल गृहस्थों ने ही नहीं संतों ने भी अपने कार्य में उपयोग किया है। उनके प्रयुक्त दृष्टांत और उपमान अनेक प्रकार से कबीर, दादू, नानक और तुलसीदास, आदि सन्तों की वाणियों में आए हैं। कितने ही पदों को साँप-बिच्छू का मंत्र समझ लिया गया है और कितने ही भूत-प्रेत की बाधाओं को दूर करने के काम में लगाए गए हैं।

यह तो नहीं कहा जा सकता कि बाद में लोगों ने गोरखनाथ की वाणियों को उसी अर्थ में ग्रहण किया जिसके लिए उनका प्रयोग हुआ था, परन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि किसी जमाने में ये वाणियाँ लोकचित्त को प्रभावित करने में पूर्ण सफल हुई थीं। भक्तिकाल में लोगों की धारणाएँ बदल गई और इन वाणियों की स्मृति मात्र रह गई और लोगों ने इस स्मृति का उपयोग नाना भाव से किया। परन्तु यह तथ्य इतना निश्चित रूप से प्रकट करता है कि इन वाणियों में अवश्य ही एक प्रकार का प्रभावशाली मानवीय रस है जो नाना विघ्नों और बाधाओं को अतिशय करके भी जी रहा है।

चौरंगीनाथ

चौरंगीनाथ तिब्बती परंपरा में गोरखनाथ के गुरुभाई आदि मगध देश के रहने वाले माने गए हैं। इनकी लिखी बताई जाने वाली एक सुपुस्तक 'प्राण संकली' मिली है जो पिंडी (लाहौर) के जैन ग्रंथागार में सुरक्षित है। मैंने यह पुस्तक मँगा कर देखी है और इसे संपादित करने का कार्य भी आरंभ कर दिया है। इस पुस्तक में चौरंगीनाथ ने अपने को राजा सालवन (शालिवाहन) का बेटा और मछंद्रनाथ का शिष्य तथा गोरखनाथ का गुरुभाई बताया है। पुस्तक के आरंभ में भाषा पूर्वी संभवतः बंगला जान पड़ती है, पर आगे चल कर भाषा एकदम बदल जाती है और उसमें पूर्वी प्रभाव एकदम नहीं दिखाई पड़ता। इस पुस्तक में ग्रंथकार चौरंगीनाथ ने बताया है कि विमाता ने मेरी साँसत की और हाथ-पैर कटा दिए। इनकी एक पुस्तक 'वायुतत्वभावनोपदेश' है जिसका तिब्बती अनुवाद तनजुर में सुरक्षित है।

पूरन भगत, राजा रसालू और चौरंगीनाथ

सारे पंजाब में सुदूर अफगानिस्तान तक पूरन भगत और राजा रसालू की कहानियाँ प्रचलित हैं। पूरन भगत ही बाद में चलकर चौरंगीनाथ हुए, ऐसी प्रसिद्धि है। पंजाब और पश्चिमी भारत में प्रचलित कहानी का सार यह है कि पूरन भगत स्यालकोट के राजा सालवन (शालिवाहन) की प्रथम रानी के पुत्र थे, जो जन्म के बाद ज्योतिषी के फलादेश के कारण बारह वर्ष एकान्त वास में रखे गए थे। इस बीच राजा ने लूण नामक एक नीच कुलोद्भवा स्त्री से विवाह कर लिया था। एकान्त वास के बाद पूरन जब घर आए तो उन्होंने नई रानी को सहज भाव से माँ कह कर पुकारा जिससे युवती रानी के यौवनमद को आघात पहुँचा। उसने उन पर झूठा दोषारोप कर के पूरन के हाथ पैर कटा लिए और आँखें फुड़वा कर कुएँ में डलवा दिया। संयोगवश उधर से गुरु गोरखनाथ आए और उनकी कृपा से उनके हाथ-पैर भी लौटे और योगमार्ग में निष्ठा भी पैदा हुई। पिता को जब इस छल की बात मालूम हुई तो उसने नई रानी को दंड देना चाहा, पर पूरन ने क्षमा करा दिया और राजपाट ग्रहण करना भी अस्वीकार कर दिया। 'प्राण संकली' से इस कहानी का आंशिक रूप में समर्थन होता है। यद्यपि उसमें कहीं भी नहीं कहा गया कि चौरंगीनाथ का पुराना नाम 'पूरन' था और उद्धार भी वहाँ गोरखनाथ के द्वारा नहीं बल्कि मत्स्येन्द्रनाथ के द्वारा बताया गया है, तो भी कहानी प्रधान रूप में समर्थित ही होती है। इसी कहानी में यह भी कहा जाता है कि पूरन भगत की विमाता के एक पुत्र हुआ था, जो बाद में चल कर बड़ा सिद्ध हुआ। यही राजा रसालू है।

राजा रसालू की कुछ ऐतिहासिकता सिद्ध की जा सकी है। सन १८८४ ई० में टेम्पुल ने खोज कर के देखा था कि राजा रसालू का समय सन ईसवी की आठवीं शताब्दी हो सकता है। सिद्ध नामक जाट जाति अपने को शालिवाहन के पिता राजा गज का वंशधर बताती है। टाड ने लिखा है कि राजा गज के साथ गजनी (मूल नाम गजवनी) के सुलतान से लड़ाई हुई थी। शुरू में गज को हार कर पूर्व की ओर हटना पड़ा था और स्यालकोट को उसने अपनी राजधानी बनाया था, पर अन्त तक वह गजनी पर कब्जा करने में समर्थ हुआ था। यह घटना सातवीं शताब्दी ई० के अन्त्य भाग की है। स्यालकोट का राजा शालिवाहन इसी गज का पुत्र कहा जाता है। इस प्रकार राजा रसालू का समय आठवीं शताब्दी ई० का प्रथम या मध्य भाग होना चाहिए। अरबी इतिहास-लेखकों ने आठवीं शताब्दी ई० के एक प्रतापी हिन्दू राजा की बहुत चर्चा की है जिसका नाम उन लोगों ने नाना भाव से लिखा है पर र, स और ल, अक्षर उसमें आते रहते हैं। एक दूसरा प्रमाण भी इस विषय में संग्रह किया जा सका है। रिसल नामक एक हिन्दू राजा के साथ मुहम्मद बिन कासिम ने सिंध में संधि की थी। संधि का समय आठवीं शताब्दी ई० है। इन बातों पर से टेम्पुल ने अनुमान किया था कि रिसल वस्तुतः राजा रसालू ही है और उसका समय आठवीं शताब्दी ई० है। डा० हचिंसन ने राजा शालिवाहन को पवाँर राजपूत माना है। इनकी राजधानी रावलपिंडी (पुराना नाम गजपुरी) थी। बाद में सीथियनों से लड़ाई में हार जाने के कारण इन्हें पूर्व की ओर हट कर स्यालकोट में अपनी राजधानी बनानी पड़ी थी। यदि यह सारी बातें सत्य हैं तो पूरन भगत और राजा रसालू गोरखनाथ के और मत्स्येन्द्रनाथ के भी पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं। इसीलिए ब्रिग्स ने

(पृष्ठ २३९—४१) इन सारी बातों पर से यह निष्कर्ष निकाला है कि इनसे इतना ही सिद्ध होता है कि जिस समय राजा रसालू स्यालकोट के राजा थे उन दिनों सीमान्त पर हिन्दुओं का किसी विजातीय शत्रु से संघर्ष चल रहा था और यह काल ग्यारहवीं शताब्दी के आस-पास होना चाहिए। इस प्रकार अनुमान करना कहाँ तक न्याय्य है, इसे हम भावी अन्वेषकों के लिए छोड़ देते हैं।

हमने देखा है कि गोरखनाथ के द्वारा प्रवर्तित नाथपंथ में अनेक पुराने मत भी गृहीत हुए थे। बाद में इतिहास की धारणाएँ अस्पष्ट हो गईं और उन पूर्ववर्ती पंथों के आचार्यों को गोरखनाथ से किसी-न-किसी प्रकार संबद्ध कर दिया गया। पुराना शैव लकुलीश मत भी इस संप्रदाय में गृहीत हुआ था। लाकुल लोग ही बाद में चलकर रावल (लाकुल→लाउल→लावल ←रावल) कहलाए। इनकी एक प्रधान शाखा गल या पागल पंथी अपने को चौरंगीनाथ (पूरन भगत) का अनुवर्ती मानती है और ये लोग स्वयं अपने को राजा रसालू के संप्रदाय का समझते हैं। इनका एक प्रसिद्ध स्थान रावलपिंडी में आज भी है। हमारा अनुमान है कि पूरन भगत और राजा रसालू वस्तुतः लाकुल शैव थे और पूरन भगत को बहुत बाद में चौरंगीनाथ के साथ जोड़ दिया गया है। संभवतः पूरन भगत की कहानी और चौरंगीनाथ के नाम और रूप इस कल्पना के आधार हैं।

प्राण संकली

ऊपर बताया गया है कि चौरंगीनाथ की एक रचना प्राप्त हुई है। इसका नाम 'प्राण संकली' है। इस नाम की पुस्तकें गुरु गोरखनाथ और गुरु नानक के नाम छपी पाई गई हैं। 'प्राण संकली' के आरम्भ में इस प्रकार की भाषा है—

सत्य बदंत चौरंगीनाथ आदि अंतरि सुनौ वृत्तान्त
सालबाहन घरे हमारा जनम उत्पति सतिया झुट बोलीला ॥१॥
ह अम्हारा भइला सासत पाप कलपना नहीं हमारे मनै हाथ पांव
कटाइला लाइला निरंजन बने सोष संताप मनै परभेव सनमुष देषीला
श्री मछंद्रनाथ गुरुदेव नमस्कार करिला नमाइला माथा ॥२॥

ऐसा जान पड़ता है कि यह किसी पूर्वी भाषा में लिखित पद का विकृत रूप है। किन्तु पुस्तक में आगे चल कर भाषा बदल जाती है। एक उदाहरण—

सुन्य ब्रह्मांड अंगुली अंतरै अर्कभूत रत ब्रह्मांड बसै, अर्कभूतरत ब्रह्मांड अंतरै निरंजन ब्रह्मांड बसै, निरंजन ब्रह्मांड अंगुली अंतरै निरंतर ब्रह्मांड बसै। इति सप्त ब्रह्मांड बोलीयै ॥६५॥ सप्त ब्रह्मांड ऊपर परम सून्य निरालंब अस्थान बसै तहाँ कौ सिवभवन बोलीयै। तहाँ कौ अनुपम बोलियै ॥६६॥

यह भाषा पहले से भिन्न है। 'योग प्रवाह' में डा० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल ने इनकी यह कविता उद्धृत की है—

मारिबा तो मन मीर मारिबा, लूटिबा पवन भंडारं।
साधिबा तौ पंच तत्त साधिबा, सेइबा तौ निरंजन निराकारं ॥

माली लौ भल माली लौ सींचै सहज कियारी ।
उनमनि कला एक पहूप न पाई, लै आवागवन निवारी ।।

चर्पटीनाथ

इस नाम के एक सिद्ध वज्रयानी सिद्धों में भी गृहीत हैं (सिद्ध सं० ५९)। नाथपंथी परंपरा में इन्हें गोरखनाथ का शिष्य बताया गया है। गुरु नानक साहब की लिखी हुई समझी जाने वाली पुस्तक 'प्राण संकली' में चरपटीनाथ रसेश्वर सिद्ध के रूप में चित्रित हैं। तिब्बती परंपरा में ये मीनपा के गुरु कहे गए हैं। इनकी पुस्तक 'चतुर्भवाभिवासन' का तिब्बती अनुवाद प्राप्य है। दादूदयाल के शिष्य रज्जबदास के 'सर्वांगी' ग्रन्थ में इन्हें चारणी के गर्भ से उत्पन्न बताया गया है। डा० बड़थ्वाल ने लिखा है कि चंबा रियासत की राजवंशावली में इनकी चर्चा है। डा० मोहनसिंह ने इनका बताया जाने वाला एक प्रसिद्ध पद अपनी पुस्तक में छापा है। ऊपर जिस 'प्राण संकली' ग्रन्थ का उल्लेख है उसमें भी यह पद इस प्रकार आया है—

इक पीत पटा, इक लंब जटा
इक सूत जनेऊ तिलक ठटा
इक जंगम कहियै भसम घटा
जउलउ नहि चीन्हैं उलटि घटा
तब चरपट सगले स्वांग नटा।

यद्यपि इस पद की भाषा बदल गई है, तो भी अनेक स्थानों पर यह चर्पटीनाथ के नाम से उद्धृत होने के कारण उनकी ही रचना जान पड़ती है और इस आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि 'प्राण संकली' में उनके मुख से जितने पद कहलवाए गए हैं, वे सब बहुत दूर तक उनकी ही रचना होंगे। डा० बड़थ्वाल ने इनकी कुछ रचनाएँ 'योग प्रवाह' में उद्धृत की हैं। इन सब की भाषा परवर्ती है, इसलिए उनका मूल रूप केवल अनुमान और अटकल का ही विषय है। एक पद इस प्रकार है—

मांगैं भिच्छा भरि भरि खाहिं।
नाथ कहावैं मरि मरि जाहिं ।।
बाकर कूकर कींगुर हाथि।
बाली भोली तरुणी साथि।।
दिन करि भिच्छा रात्यूँ भोग।
चरपट कहै बिगोवैं जोग।।

इन पदों से इनकी रूढ़ि-विरोधिता दृढ़ होती है। इन्होंने बाह्याचार और निरर्थक वेश-भूषा की खबर लेने में न और संप्रदायों को छोड़ा है, न अपने संप्रदाय को। संभवतः इनका काल दसवीं शताब्दी है।

भर्तृहरि (भरथरी) और गोपीचंद

गोरखपंथी संप्रदाय की एक शाखा का नाम बैरागपंथ है। इसके प्रवर्तक भरथरी (भर्तृहरि) माने जाते हैं। कहते हैं, विचारनाथ भी इन्हीं का नाम है। यह एक भ्रम है कि बैरागपंथ

के प्रवर्तक और गोरखनाथ के शिष्य भर्तृहरि वही हैं जो वैराग्य, नीति और श्रृंगार शतकों के कर्त्ता थे। भरथरी के गानों का लोक में बड़ा प्रचार है। सर्वत्र वे उज्जैन के राजा बताए गए हैं। दूधनाथ प्रेस, हवड़ा से एक भरथरी का गान छपा है जो 'विधना क्या कर्तार' का बनाया कहा गया है। इस पुस्तक के अनुसार भरथरी राजा इंद्रसेन का पौत्र और चंद्रसेन का पुत्र था। भरथरी के वैराग्य ग्रहण करने की अनेक दन्तकथाएँ हैं। उनमें साधारण गृहस्थ के हृदय को गला देने वाला द्रावक रस है।

भर्तृहरि या भरथरी मयनामति नामक प्रसिद्ध रानी के भाई बताए जाते हैं। मयनामति का विवाह बंगाल के राजा मानिकचंद्र (माणिक्य चन्द्र) के साथ हुआ था, जो संभवतः पाल वंशीय कोई शासक था। पाल वंश बंगाल में सन १०९५ में शासनारूढ़ हुआ था। ऐसा प्रसिद्ध है कि भर्तृहरि उज्जैन के किसी राजा विक्रमादित्य का भाई था। पाल वंश से यदि भरथरी का संबंध स्थापित किया जाना आवश्यक हो, तो उज्जैन के एक राजा विक्रमादित्य को लिया जा सकता है जो सन १०७६ से ११२६ ई० तक उज्जैन का शासक था। कठिनाई यह है कि बंगाल के पालों और उज्जैन के प्रतिहारों में उन दिनों संघर्ष चल रहा था और परस्पर वैवाहिक संबंध के स्थापन की संभावना बहुत कम जान पड़ती है। जो हो, यदि यह संबंध ऐतिहासिक सिद्ध किया जा सके तो भरथरी का समय ग्यारहवीं शताब्दी में होगा। मयनामती प्रसिद्ध सिद्ध हाडिपा (हालिपाद) या जालंधरनाथ की शिष्या बताई जाती हैं। उन्होंने स्वयं पुत्र को वैराग्य लेने के लिए उपदेश दिया था। समूचे पूर्वी भारत में मयनामती और गोपीचंद तथा उसकी रानियों की मर्मस्पर्शी कहानी नाना भाव से गाई जाती है। गोपीचंद और भरथरी की कहानियाँ काव्य के बहुत सुन्दर उपादान हैं, परन्तु यह आश्चर्य है कि वे केवल लोकचित्त पर अपनी अमिट छाप छोड़ गई हैं। किसी बड़े कवि का ध्यान इन कहानियों की ओर नहीं गया। केवल कुछ सूफी कवियों ने यथाप्रसंग इनकी चर्चा भर कर दी है। उत्तर भारत के योगी आज भी सारंगी के साथ इन वैराग्य और श्रृंगार के द्वंद्वात्मक गीतों को गाते फिरते हैं। गोपीचंद के नाम पर ही सारंगी का नाम 'गोपीयंत्र' पड़ गया है।

गुरु नानक की लिखी समझी जानेवाली 'प्राण संगली' में गोपीचंद और भरथरी के कुछ वचन मिलते हैं। यह कहना कठिन है कि ये कहाँ तक प्रामाणिक हैं। पाठकों की जानकारी के लिए कुछ पद यहाँ उदाहरण के तौर पर दिए जा रहे हैं:—

गोपीचंद—

सो उदासी जो पाले उदासु।
अर्द्ध ऊर्द्ध करै निरंजन बासु॥
चंद्र सूर्ज की पाए गंठि।
तिस उदासी का पड़ै न कंध॥
बोले गोपीचंद सत्त सरूप
परमतत्त महि रेख न रूप॥

भरथरीनाथ—

सो बैरागी जौ उलटै ब्रह्म ।
गगन मंडल महि रोपै थंम ।।

अहि निसि अंतर रहै ध्यान ।।
ते वैरागी सत्त समान ।।

बोले भरथरि सत्त सरूप ।
परम तत्त महि रेख न रूप ।।

नागा अरजन्द (नागार्जुन) और कणेरी

महायान मत के प्रसिद्ध नागार्जुन से ये भिन्न थे। अलबेरुनी ने लिखा है कि एक नागार्जुन उससे लगभग सौ वर्ष पहले हो चुके थे। 'प्रबन्धचिंतामणि' से पता चलता है कि एक नागार्जुन पादालिप्त सूरि नामक जैन आचार्य के सूरि थे और समुद्र में से निकाली हुई पार्श्वनाथ की रत्न-मूर्ति के पास रस सिद्ध करने की साधना करते थे। वे राजा शालिवाहन और उसकी रानी चंद्रलेखा के गुरु माने जाते हैं। प्रसिद्ध महायानी नागार्जुन के नाम के साथ इनके नाम का साम्य होने से अनेक प्रकार की गलत धारणाएँ फैल गई हैं। वस्तुतः नागनाथ नामक एक सिद्ध ग्यारहवीं शताब्दी के आरंभ में या दसवीं शताब्दी के अन्त में वर्तमान थे। चर्पटनाथ की भाँति ये भी रसेश्वर सिद्ध थे और संभवतः गोरखपंथ की पारसनाथी जैन शाखा के मूल प्रवर्तक यही थे। ये पश्चिम भारत के रहने वाले थे।

कणेरी नागा अरजंद (नागार्जुन) नागनाथ के शिष्य थे। इनकी एक सबदी स्व० डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल को मिली थी। डा० बड़थ्वाल ने इन्हें आर्यदेव से अभिन्न समझा है। इन पदों को आधुनिक हिन्दी अनुवाद के साथ उन्होंने 'अशोक' पत्र में छपाया था जो बाद में 'योगप्रवाह' में 'कणेरी पाव' नामक प्रबंध में संगृहीत हुए हैं। यद्यपि डा० बड़थ्वाल इन पदों को आर्यदेव की ही रचना मानते हैं और उनका विश्वास है कि इनमें इतना अधिक परिवर्तन नहीं हुआ होगा कि मूल वस्तु का स्वरूप ही इनमें न रहने पाया हो, परन्तु मूल वस्तु को देखकर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इनका स्वर परवर्ती नाथ-साधना से प्रभावित है और महायान प्रभाव उनमें नहीं है। इन पदों के रचयिता कणेरी महायान सिद्ध कणेरी से निस्संदेह भिन्न और परवर्ती हैं। एक पद यहाँ उदाहरण के लिए उद्‌धृत किया जा रहा है—

सगौ नहीं संसार चीत नहिं आवै बैरी ।
निरभय होइ निसंक हरिष मैं हंस्यौ कणेरी ।।१।।

अकल कणेरी सकलै बंद ।
बिन परचै जोग बिचारै छंद ।।

बिन परचै जोग न होसी रावल ।
भुस कूट्यां क्यों निकसै चावल ।।२।।

रज्जबदास के सरबंगी ग्रंथ में नागार्जुन की कही जानेवाली कुछ सबदियाँ संगृहीत हैं। एक पद इस प्रकार है :—

> पूरब उतपति पछिम निरंतरि। उतपति परलै कथा अभि अंतरि ।।
> प्यंड छाड़ि प्राण भरपूर रहै। ऐसा सिध संकेत नागा अरजन कहै ।।

अन्य सिद्ध

वज्रयान और नाथपंथ के अनेक सिद्ध ऐसे हैं जो दोनों मतों में समान रूप से स्वीकृत हैं। इनमें से कुछ की चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं। कुछ ऐसे हैं जिनकी संस्कृत रचनाओं के तिब्बती अनुवाद प्राप्य हैं, कुछ के लोकभाषा में लिखे पद भी पाए गए हैं। इन सब में वज्रयानी सुर ही प्रधान है। यह विचारणीय है कि वज्रयान के अन्य अनेक सिद्धों को छोड़कर इन २४-२५ सिद्धों को ही नाथ-मत में क्यों स्वीकार किया गया। नाथमार्ग कायायोग, हठयोग का प्रचारक था। जिस किसी पुराने सिद्ध की वाणी से इस कायायोग का किसी प्रकार समर्थन होता था उसे हमारा अनुमान है कि नाथ संप्रदाय ने स्वीकार कर लिया। नाथमत के योगी रस-सिद्धि को भी काया-साधना का उपाय समझने लगे थे, क्योंकि शरीर की त्रुटियों को, प्राणवायु के निरोध से हो या रसायन के सेवन से ही हो, दूर करने के बाद ही इस पिंड में स्थित परमतत्व का साक्षात्कार पाना संभव है।

हिन्दी में घोड़ाचूली, चुणकरनाथ, परबत सिद्ध, देवलनाथ, धुंधली, प्राणनाथ, खिथड़नाथ, गरीबनाथ, पृथ्वीनाथ आदि की रचनाएँ मिलती हैं। इन रचनाओं में और कोई विशेषता नहीं है। केवल हठयोग प्रतिपादित मतों को ही नाना भाव से—विशेषकर वार्तालाप की शैली में—कहा गया है। इन रचनाओं की भाषा बहुत परिवर्तित हो गई है, इसलिए उस पर से न तो रचयिताओं के काल का पता चल सकता है और न देश का। विभिन्न कालों में और विभिन्न देशों में उनमें यथेच्छ परिवर्तन किया जाता रहा है।

नीचे इन संतों की कुछ रचनाएँ संग्रह की जा रही हैं। इन्हें देख कर पाठक स्वयं इनकी भाषा आदि के विषय में अपना मत स्थिर कर सकते हैं :—

घोड़ाचूली—

> रावल ते जे चालै राह, उलटी लहरि समावै मांह।
> पंच तत्त का जाणै भेव, ते तो रावल परतषि देव ।।

चुणकरनाथ—

> साधी सूधी के गुरु मेरे।
> बाई सूँ ब्यंद गगन में फेरे ।।
> मन का बाकुल चुणिया बोलै।
> साधी ऊपर क्यों मन डोलै ।।
> बाई बंध्या सकल जग, बाई किनहुँ न बंध।
> बाइ बिहूणा ढहि पड़ै, जोरै कोइ न संघ ।।

परबतसिद्ध—

धन जोवन की करै ना आसा । पर तिरिया अंग न लावै पासा ।
नार्मबिंदु लै घट भीतर करै । तिसकी सेवा परबत करै ।
बोले परबत सन्त सरूप । परम तत्त महि रेख न रूप ।।

धूंधलीमल—

आईस जी आवो बाबा
आवत जात बहुत जुग दीठा कछू न चढ़िया हाथं
अब का आवरण सूफल फलिया पाया निरंजन सिध का साथ ।

गोरखनाथ—

पाताल की मीड़ की आकास जंत्र बावै ।
चंद सूरज मिलै नहो गंगजमुन गीत गावें ।
सकल ब्रह्मांड तब उलटा फिरै तहां अधर नाचै डीब
सति साति भाषंत ही सिद्ध गरीब ।।

प्राणनाथ—

ब्रह्मांड को लौटि के पिंड में बांधिए ।
कहै प्राणनाथ ऐसा जोग साधिए ।

इत्यादि ।

परवर्ती साहित्य पर प्रभाव

हिन्दी साहित्य के भक्ति-काल के पूर्व नाथमत ही सब से प्रबल लोकधर्म था। परवर्ती काल में भक्ति की प्रचण्ड धारा में यद्यपि बहुत-सी पुरानी स्मृतियाँ बह गईं, परन्तु नाथपंथियों के विश्वास और साहित्य अपना अमिट चिह्न इन पर छोड़ गए हैं। कबीर, दादू, नानक आदि सन्तों के प्रवर्तित संप्रदाय पर और उनके द्वारा लिखित और संग्रहीत साहित्य पर नाथपंथी संप्रदाय का बड़ा प्रभाव है। केवल हिन्दी के साहित्य पर ही नहीं, बंगला, मराठी, उड़िया, नैपाली आदि भाषाओं के साहित्य में भी इस संप्रदाय के विश्वासों की स्मृति रह गई है। कबीर आदि सन्तों के अनेक पद थोड़े परिवर्तन के साथ पूर्ववर्ती नाथ-सिद्धों की रचना हैं। निर्गुण मत के सभी सन्तों के संप्रदाय में गुष्टी या प्रश्नोत्तरमूलक साहित्य का बड़ा प्रचार है। आज जहाँ तक जाना जा सका है, इस प्रकार के साहित्य के आदि प्रचारक नाथ कवि ही हैं। सन्तों के साहित्य में उस मत के प्रवर्तकों का गोरखनाथ, मछंदरनाथ, चर्पटीनाथ, खिथड़नाथ, धोरंगनाथ, प्राणनाथ आदि सन्तों के साथ प्रश्नोत्तरमूलक साहित्य मिलता है। यद्यपि अन्त तक इन सिद्धों को पराजित दिखाना ही उक्त प्रकार के वार्तालाप का उद्देश्य है फिर भी कुछ-न-कुछ ऐसी बातें तो इस प्रसंग में जरूर ही आ गई हैं जिन्हें इन सिद्धों का वास्तविक विश्वास कहा जा सकता है। कभी मूल वचन भी ज्यों का त्यों रख देने का प्रयास किया गया है। भक्ति-काल के पहले निरंजन और धर्म देवता

को परम दैवत समझा जाने वाला संप्रदाय बड़ा प्रभावशाली था। निरंजनियों के साहित्य को अभी प्रकाश में लाने का प्रयास नहीं हुआ है। परन्तु कबीरपंथी साहित्य के अध्ययन से यह निश्चित रूप से सिद्ध हुआ है कि निरंजन दैवत संप्रदाय का एक बहुत बड़ा भाग कबीरपंथ में अन्तर्भुक्त हो गया था। निरंजनी नाथ साधुओं के उत्तराधिकारी थे। हिन्दी साहित्य के प्रेमकथानकों में भी इन नाथ योगियों की बहुत अधिक चर्चा है और सगुण साहित्य में उद्धव-गोपी-संवाद के बहाने एक अच्छा-सा साहित्य इन्हीं का सीधे जवाब देने के उद्देश्य से लिखा गया है। जनता में प्रचलित अनेक मंत्र-तंत्रों में इन योगियों का प्रभाव है और आयुर्वेदिक रसायन औषधियों में से कितनी तो नाथ सिद्धों की आविष्कृत हैं। इस प्रकार जनचित्त पर अवश्य इस संप्रदाय का प्रभाव अक्षुण्ण है।

अध्ययन में सहायक कुछ ग्रंथ

(१) जार्ज वोस्टन ब्रिग्स — गोरखनाथ ऐन्ड दी कनफटा योगीज, कलकत्ता, १९३८ ई० (अंग्रेजी में)

(२) हरप्रसाद शास्त्री, महामहोपाध्याय— बौद्ध गान ओ दोहा, कलकत्ता, १३२३ बंगाब्द (बंगला)

(३) राहुल सांकृत्यायन, महापंडित— (१) पुरातत्व निबंधावली, प्रयाग १९३० ई०, (हिन्दी)
(२) 'गंगा', पुरातत्वांक (हिन्दी)
(३) हिन्दी काव्यधारा, इलाहाबाद, १९४४ ई० (हिन्दी)

(४) पीतांबरदत्त बड़थ्वाल, डाक्टर— योगप्रवाह, काशी २००३ वि०, (हिन्दी)

(५) चंद्रनाथ, योगी— योगिसंप्रदायाविष्कृति, अहमदाबाद, १९२९ ई०

(६) विश्वंभरनाथ रेउ, महामहोपाध्याय— नाथ चरित्र की कथा, जोधपुर, १९३७ ई०

(७) प्रबोधचन्द्र बागची, डाक्टर— कौलज्ञान निर्णय, कलकत्ता १९३४ ई०, (अंग्रेजी)

(८) बलदेव उपाध्याय, प्रो०— (१) भारतीय दर्शन, काशी (हिन्दी)
(२) बौद्ध दर्शन, काशी, १९४५, (हिन्दी)

(९) मोहन सिंह, डाक्टर— (१) गोरखनाथ एन्ड मिडिएवल मिस्टिसिज्म, लाहौर, १९३७ ई० (अंग्रेजी)

(१०) गोपीनाथ कविराज, महामहोपाध्याय— सरस्वती भवन स्टडीज में प्रकाशित अंग्रेजी लेख

(११) हजारीप्रसाद द्विवेदी—डाक्टर (१) कबीर, बंबई, १९४७ ई० (हिन्दी)
(२) नाथ संप्रदाय, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग

(१२) 'कल्याण' गोरखपुर शिव, शक्ति और योग अंक (हिन्दी)

संस्कृत महाकाव्य प्रमुखतः ऐतिहासिक कथानकों पर ही रचे गए हैं। इनमें भी वीर रस का अच्छा परिपाक हुआ है। अश्वघोष शान्त रस के कवि हैं, पर उनमें वीर रस के दर्शन होते हैं। इनके दोनों काव्यों—'बुद्ध-चरित'[1] और 'सौन्दरानन्द'[2] में—रूपक के रूप में वीर रस का अच्छा चित्रण हुआ है। सिद्धार्थ तथा नन्द मार की सेना को जिस सेना तथा युद्ध-सज्जा से पराजित करते हैं, उसका रूपक अलंकार की सहायता से अच्छा वर्णन किया गया है।

कालिदास के काव्यों में शृङ्गार रस की ही प्रधानता है, पर उन्होंने वीर-रस-चित्रण में भी यथेष्ट सफलता प्राप्त की है। 'रघुवंश' के सर्ग ३ और ४ में रघु की युद्धवीरता तथा सर्ग ५ में उनकी दानवीरता का सुन्दर वर्णन हुआ है।

कालिदास के उत्तराधिकारी कवियों ने काव्य की विषय-वस्तु की अपेक्षा वर्णनशैली को अधिक प्रधानता प्रदान की है। इस परम्परा के महाकवि भारवि (५५० ई०=सं० ६०७ वि० के लगभग) का 'किरातार्जुनीय' विशेष उल्लेखनीय है। इसमें शृङ्गार का प्रमुख वर्णन है। इस रचना के पन्द्रहवें सर्ग में किरात और अर्जुन के युद्ध-वर्णन में वीर-रस के सुन्दर कलात्मक चित्रण प्रस्तुत किए गए हैं। इस काव्य में वीर रस प्रमुख है और शृङ्गार इसी वीर का अङ्ग बन कर आया है।

भट्टि कवि (६१० ई०=सं० ६६७ वि० के लगभग) वैयाकरण तथा अलंकार शास्त्री है। इसने 'रावण-वध' की रचना की है। इसका रस वीर है तथा प्रसङ्गवश शृङ्गार रस भी पाया जाता है। भट्टि वीर रस का परिपाक करने में असमर्थ रहा है। भट्टि-काव्य उस महाकाव्य-परम्परा का संकेत करता है, जिसमें महाकाव्यों के द्वारा व्याकरण के नियमों का प्रदर्शन कवि का ध्येय रहा है। आगे चलकर हेमचन्द्र ने 'कुमारपाल-चरित' में इसी परम्परा की प्रवृत्ति अपनाई है।

महाकाव्य-परम्परा का अन्य उल्लेखनीय कवि माघ (६७५ ई०=सं० ७३२ वि०) है। इनकी रचना 'शिशुपाल-वध' है। इस काव्य के १७वें और १८वें सर्गों में सेना की तैयारी और योद्धाओं के सन्नद्ध होने का और १९वें तथा २०वें सर्ग में युद्ध का वर्णन है। 'शिशुपाल-वध' के ये प्रसङ्ग वीर रसपूर्ण इतिवृत्त से परिपूर्ण हैं। उनमें अप्रासङ्गिक रूप से शृङ्गार रस का विस्तृत और आडम्बरपूर्ण वर्णन हुआ है। माघ का शृङ्गार प्रबंध-प्रकृति का न होकर मुक्तक-प्रकृति का अधिक है। इस काव्य का अंगी रस वीर है और शृङ्गार रस इसका अङ्ग बनकर आया है। माघ शृङ्गार और वीर दोनों के सफल चित्रकार हैं। माघ की वीर रस की व्यञ्जना उन वीर रसात्मक रूढ़ियों का संकेत करती है जो चरित-काव्यों में होती हुई हिन्दी के वीरगाथात्मक काव्यों तक आती हुई दिखाई देती हैं। माघ स्वयं दरबारी कवि थे। 'शिशुपाल-वध' का ८वाँ सर्ग चरित-काव्यों के युद्ध-वातावरण के मूल-स्रोत की ओर संकेत करता है। युद्ध-वर्णनों के पूर्व की साज-सज्जा, सैन्य-प्रयाण, तलवारों की चमक, हाथियों की चिंघाड़ आदि का जो वर्णन हिन्दी वीरगाथा-काव्यों में मिलता है, उसकी तुलना माघ के उक्त सर्ग से की जा सकती है। ऐसा प्रतीत होता है

---

१. बुद्ध-चरित, सर्ग १३।

२. सौंदरानंद, सर्ग १७।

कि माघ की शृङ्गार-सम्बन्धी परम्परा से हिन्दी के रीति-कवि प्रभावित हुए हैं। माघ का प्रभाव 'नेमिचरित', 'चन्द्रप्रभचरित' आदि जैन काव्यों पर भी स्पष्टतः परिलक्षित होता है।

माघ के उपरान्त श्रीहर्ष (१२वीं शताब्दी ई० का उत्तरार्द्ध) विशेष उल्लेखनीय है। इसने 'नैषधीयचरित' की रचना की है जिसमें २२ सर्ग हैं। इस ग्रन्थ में शृङ्गार रस की प्रधानता है, पर वीर रस के चित्र भी उसमें देखने को मिलते हैं। इस रस के वर्णन सर्ग ११, १२, १३ में देखे जा सकते हैं। श्रीहर्ष का वीर रस दरबारी कवियों का वीर रस है जिसमें शब्दच्छटा और अतिशयोक्ति का आडम्बर दिखाई देता है।

वीरकाव्य की यह परम्परा संस्कृत के अन्य काव्यों और नाटकों में भी देखी जा सकती है। भवभूति-कृत 'महावीरचरित', वाण-कृत 'हर्षचरित', नारायण-कृत 'वेणीसंहार' आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

संस्कृत साहित्य की विकसित होती हुई यह वीरकाव्य-धारा परवर्ती भाषाओं के साहित्य में भी देखने को मिलती है। पाली साहित्य में बौद्ध धर्म के विविध सिद्धान्तों और दर्शन की प्रधानता है। वीर रसात्मक साहित्य का उसमें सर्वथा अभाव है। उसमें वंस-साहित्य (वंश-साहित्य) अवश्य मिलते हैं, पर उनमें राजाओं की वंशावलियों के वर्णन के साथ संस्कृत के महाभारत और पुराणों के समान धर्म-वृत्त और कथाएँ ही प्रधान हैं। 'जिनालंकार' (११५६ ई०=सं० १२१३ वि०) और 'जिनचरित' आदि महाकाव्यों में बुद्ध भगवान का जीवन-चरित्र ही वर्णित है। इन ग्रन्थों में बुद्ध, अशोक आदि चरित-नायकों को दयावीर, धर्मवीर और दानवीर के आदर्श नायक माना जा सकता है; वैसे, वीर रस को दृष्टि में रखकर कोई भी ग्रन्थ नहीं रचा गया है।

वज्रयान के सिद्धान्तों से भिन्न दृष्टिकोण को अपनाकर दोहों और चर्यापदों में रचा हुआ साहित्य सिद्ध साहित्य कहलाता है। इसमें शृङ्गार रस और शान्त रस की प्रधानता है, पर कहीं-कहीं पर उत्साह भाव के भी दर्शन होते हैं। आचार्यों ने दान, धर्म, युद्ध और दया वीर माने हैं। सिद्धों ने एक अन्य वीर सुरतवीर की कल्पना की है। वह वीर मधुकर रूप में पद्म का मकरन्द पीने में उत्साह दिखलाता है और महाराग के द्वारा विराग के दमन के कारण उसे वीर कहते हैं। काण्हपा (८५० ई०=सं० ९०७ वि०) ने रति के समय वीर कापालिक की वेष-भूषा धारण की है (चर्यापद ११), किन्तु उसकी परिणति रौद्र में होती है।

अपभ्रंश साहित्य के निर्माण में जैनियों और बौद्धों का विशेष योग है। अतः उसमें धार्मिक साहित्य की ही प्रचुरता है। जैन कवियों ने अधिकांश ग्रन्थों की रचना किसी राजा, राजमन्त्री या गृहस्थ की प्रेरणा से की है। अतएव इन कृतियों में उन्हीं की कल्याण-कामना से किसी व्रत का माहात्म्य-प्रतिपादन या किसी महापुरुष के चरित का वर्णन किया गया है। परन्तु धर्म-निरपेक्ष लौकिक कथानक को लेकर लिखे गए प्रबन्ध-काव्यों की संख्या बहुत कम है। इस साहित्य में कुछ रासा ग्रन्थ भी उपलब्ध हैं। प्रायः सभी रासा ग्रन्थों का विषय धार्मिक ही है। इन सब में राजयश के स्थान पर धार्मिकता का अंश है। नायक का चरित-वर्णन शृङ्गार, वीर और शान्त रसों के प्रतिपादन से युक्त है। इन सभी में प्रधानता शान्त रस की ही है। शृङ्गार और वीर दोनों रसों का पर्यवसान शान्त रस में दिखाई देता है। राज-दरबारों में इस साहित्य का विशेष सम्मान रहा है। कुछ ऐसे ग्रन्थ भी मिलते हैं जिनमें किसी राजा के शौर्य अथवा विजय का

वर्णन किया गया है। स्वयम्भू-रचित 'रिट्ठणेमि चरिउ' (रिष्टनेमि-चरित) या 'हरिवंश पुराण' के युद्ध-काण्ड में अनेक प्रसङ्ग योद्धाओं का सजीव चित्र उपस्थित करते हैं। पुष्पदन्त-कृत 'महा-पुराण' या 'तिसरिठ महापुरिस गुणालंकार' में शृङ्गार, वीर और शान्त तीनों रसों की अभिव्यञ्जना है। सभी तीर्थंकर और चक्रवर्ती राजा जीवन-काल में भोग-विलास की सामग्री, स्त्री की प्राप्ति के लिए युद्ध करते हैं। ऐसे स्थलों पर वीर रस का अच्छा परिपाक हुआ है। इनके अतिरिक्त वासुदेवों और प्रतिवासुदेवों के सङ्घर्ष में भी वीर रस के सरस उदाहरण मिलते हैं, किन्तु प्रधानता शान्तरस की ही है। इस कृति में भारतीय वीराङ्गना का वह रूप भी मिलता है जो उत्तरकाल में राजपूत नारी में विशेष रूप से प्रस्फुटित हुआ है। साथ ही सैन्य-प्रयाण, शर-सन्धान आदि के भी उत्तम चित्र मिलते हैं। धनपाल धक्कड़-कृत 'भविसयत्तकहा' के द्वितीय खण्ड में वीर रस का सुन्दर चित्रण हुआ है। इसी प्रकार धवल कवि-रचित 'हरिवंश पुराण' में शृङ्गार, वीर, करुण और शान्त रसों की सुन्दर अभिव्यञ्जना की गई है। युद्ध का वर्णन सजीव है।

अपभ्रंश के कतिपय खण्डकाव्यों में भी वीर रस का चित्रण मिलता है। पुष्पदन्त-कृत 'णाय-कुमार-चरिउ' (नागकुमार-चरित) के नायक नागकुमार को कवि ने वीर रस का आश्रय दिखलाया है। यह वीर रस शृङ्गार से परिपुष्ट है। युद्ध-यात्रा, युद्ध-वर्णन आदि के सुन्दर चित्र मिलते हैं। पुष्पदन्त-कृत 'जसहरचरिउ' में राजाओं और उनके वैभवपूर्ण प्रासादों का वर्णन बड़े ठाठ-बाट से किया गया है। नयनन्दी-रचित 'सकल-विधि-निधान-काव्य' की ३५वीं और ३६वीं सन्धियों में क्रमशः रामायण और महाभारत के युद्ध का वर्णन किया गया है। मुनि कनकामर के 'करकण्डचरिउ' में वीर रस के अनेक प्रसङ्ग मिलते हैं। युद्ध के परिणामस्वरूप पराजित राजाओं की राजपुत्रियाँ करकण्ड के आगे आत्म-समर्पण कर देती हैं और युद्ध की समाप्ति अनेक विवाहों में परिणत हो जाती है। अन्त में वीर रस का पर्यवसान शान्त रस में हुआ है। देवसेण गणि-कृत 'सुलोचनाचरिउ' (सुलोचना-चरित) में युद्ध-वर्णन सजीव है। झर-झर रुधिर का बहना, चर-चर चर्म का फटना, कड़-कड़ हड्डियों का टूटना आदि वाक्य युद्ध के दृश्य का सजीव चित्र उपस्थित करते हैं। विद्यापति ने 'कीर्तिलता' में अपने आश्रयदाता राजा कीर्तिसिंह का यशोगान किया है।

कुछ ऐसे मुक्तक पद्य प्राकृत ग्रन्थों, अथवा व्याकरण एवं छन्द-ग्रन्थों में उदाहरणस्वरूप उपलब्ध होते हैं जिनमें अन्य भावों के अतिरिक्त वीर भाव की तीव्र अभिव्यक्ति मिलती है। हेम-चन्द्र-कृत 'शब्दानुशासन' एवं 'छन्दोऽनुशासन' में वीर, उत्साह एवं ऐतिहासिक व्यक्तियों-विषयक अनेक छन्द मिलते हैं। मेरुतुङ्गाचार्य-कृत 'प्रबन्ध-चिन्तामणि' में कुछ पद्यों का ऐतिहासिक पात्रों से सम्बन्ध है और कुछ वीर, शृङ्गार आदि से सम्बन्धित हैं। 'प्राकृत पैंगल' में रणथम्भौर के राव हम्मीर आदि विषयक वीर रसात्मक पद्य भी संग्रहीत हैं।

जिस प्रकार संस्कृत में चरित्र ग्रंथ लिखे गए वैसे ही अपभ्रंश में भी चरित्र ग्रंथों की रचना हुई है। यह प्रवृत्ति हिन्दी में भी देखने को मिलती है, यथा, 'वीरसिंहदेव चरित', 'सुजान चरित' आदि। अपभ्रंश के चरित ग्रंथों के समान इन वीरकाव्यात्मक ग्रंथों में भी धर्म-भावना के दर्शन होते हैं। संस्कृत काव्यों में रसात्मकता की प्रधानता है, चरित्र गौण है। अपभ्रंश में चरित-नायक के चरित्र को उत्कृष्ट रूप देने का प्रयत्न है। हिन्दी में रसात्मकता के साथ चरित्र-

चित्रण का सम्मिश्रण है। वीरगाथा-काल के रासो काव्यों पर अपभ्रंश रासो साहित्य का प्रभाव है। इस प्रकार वीरकाव्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ संस्कृत और अपभ्रंश के द्वारा हिन्दी वीरकाव्य को प्राप्त हुई हैं।

सिद्धों की वज्रयान की सहज साधना नाथ सम्प्रदाय के रूप में पल्लवित हुई। इस प्रकार नाथ सम्प्रदाय सिद्ध सम्प्रदाय का विकसित और शक्तिशाली रूप ही था। फलतः इस धारा का साहित्य धर्मपरक है। उसमें विशुद्ध वीर रस का एकदम अभाव है। धर्मवीर के चित्र अवश्य अनेक स्थलों पर मिलते हैं।

इस प्रकार संस्कृत, पाली, सिद्ध, अपभ्रंश और नाथ सम्प्रदाय द्वारा विरचित साहित्य में जो धार्मिक, दार्शनिक, सांस्कृतिक और वीर रसात्मक परंपराएँ प्रतिपादित की गईं, वे समस्त लगभग किसी न किसी रूप में हिन्दी साहित्य में अवतरित हुईं। जैन अपभ्रंश साहित्य में धार्मिक और लौकिक दोनों प्रकार का साहित्य निर्मित हुआ, जिसमें वीरकाव्य की विविध प्रवृत्तियों से संयुक्त धारा प्रवाहित हुई, जिसका विकसित रूप हिन्दी वीरकाव्य-धारा में पल्लवित हुआ।

हिन्दी वीरकाव्य के विकास की परिस्थितियाँ

हिन्दी वीरकाव्य-धारा का निकास और विकास भारत की विचित्र राजनीतिक परिस्थितियों में हुआ है। देश छोटे-छोटे राज्यों में विभाजित हो गया था जो एकता अथवा पारस्परिक संपर्क के किसी भी सिद्धांत से सूत्रबद्ध नहीं थे।

ये राज्य परस्पर युद्ध करने में सदैव रत रहा करते थे और अपने राज्य को अपनी मर्यादा के सामने तुच्छ समझते थे। साथ ही वे मुसलमानों से लोहा लेते तथा उनकी सेवा में रहकर साम्राज्य के शत्रुओं के विरुद्ध वीरता प्रदर्शित करते थे। उनके युद्ध पड़ोसी राज्यों का अंत करने, राज्य-विस्तार करने, सुन्दरियों का अपहरण करने और स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए हुआ करते थे। इनके आश्रित कवि आश्रयदाताओं द्वारा युद्ध-भूमि में प्रदर्शित वीरता का चित्रण किया करते थे। साथ ही उनकी दानशीलता का भी गुणगान किया करते थे। इन राजनीतिक परिस्थितियों की छाप समस्त वीरकाव्य पर परिलक्षित होती है।

हिन्दी साहित्य के प्रारम्भ-काल में देश में सिद्ध, नाथ आदि विभिन्न धार्मिक पन्थ वर्तमान थे। बौद्ध धर्म का ह्रास हो चुका था। जैन धर्म सीमित घेरे के अन्दर रहकर सन्तुष्ट था। ब्राह्मण-धर्म पूर्णतया प्रतिष्ठित हो चुका था। कालान्तर में रामानुज, मध्व, रामानन्द, वल्लभ आदि आचार्यों ने धीरे-धीरे सगुण भक्ति का समस्त देश में प्रसार कर दिया था। नामदेव, कबीर, दादू आदि ने हिन्दू और मुस्लिम भावनाओं से समन्वित विचारधारा को अपना लिया था। इन धार्मिक आन्दोलनों का प्रभाव अठारहवीं शती ई० के अन्त तक विभिन्न रूपों में वर्तमान रहा। १७वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में महात्मा प्राणनाथ ने अवतीर्ण होकर छत्रसाल बुन्देला को दीक्षा देकर स्वतन्त्रता का पाठ पढ़ाया। दक्षिण में सन्त तुकाराम (जन्म १६०८ ई०=सं० १६६५ वि०) तथा समर्थ रामदास ने धार्मिक सुधारों का बिगुल बजाया, जिससे प्रभावित होकर वीर-केशरी शिवाजी ने हिन्दू-धर्म के रक्षार्थ सफल प्रयत्न किए।

भक्ति-भावना की प्रबलता के कारण भक्तियुग में वीरकाव्य-धारा कुछ मन्द पड़ गई

थी, परन्तु कालान्तर में उसका रूप फिर से निखर उठा। इस धार्मिक विचारधारा का प्रभाव स्पष्ट रूप से वीरकाव्य धारा के समस्त ग्रन्थों पर वर्तमान है। अधिकांश कवियों ने अपने नायकों को ईश्वरावतार, गो-ब्राह्मण-पालक, हिन्दू-धर्म-रक्षक के रूप में चित्रित करके धर्म-दया-दान-युद्ध-वीर आदि के रूप में उपस्थित किया है। भूषण, लाल मान आदि की रचनाएँ इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था सामन्तशाही पद्धति पर आधारित थी। राज-दरबार वैभव एवं संस्कृति के केन्द्र थे। आमोद-प्रमोदमय जीवन व्यतीत किया जाता था। मदिरा का प्रचार था। मांस-भक्षण का प्रचलन था। अन्तःपुर में स्त्रियों की संख्या अधिक होती थी। द्यूत-क्रीड़ा, आखेट, संगीत एवं नृत्य मनोरञ्जन के प्रमुख साधन थे। अधिक नौकर रखने की प्रथा थी। दासता वर्तमान थी। उत्कोच स्वीकार किया जाता था। मध्यम श्रेणी के लोग सुखी और सम्पन्न थे। निम्न वर्ग का जीवन दुखी और कष्टमय था। हिन्दुओं में सती, बाल-विवाह और पर्दा प्रथाएँ प्रचलित थीं। युद्धों में विविध जातियों के व्यक्ति भाग लिया करते थे। इन समस्त सामाजिक अवस्थाओं का वीरकाव्य के कवियों पर पर्याप्त प्रभाव दिखाई पड़ता है।

वीरकाव्य के आरम्भिक काल में अपभ्रंश भाषा में सिद्ध एवं नाथ साहित्य निर्मित हो रहा था तथा प्राकृत में जैन रचनाएँ लिखी जा रही थीं। लोक-भाषाओं में भी काव्य-सृजन प्रारम्भ हो गया था। ये लोक-भाषा ग्रन्थ अपभ्रंश, प्राकृत आदि की साहित्यिक प्रवृत्तियों से प्रभावित रहते थे। वीर रस के अतिरिक्त भक्ति, शृङ्गार, नीति आदि विविध विषयों की रचनाएँ भी हुआ करती थीं। उस युग में एक ओर संसार-त्यागी कवि थे जो प्रमुखतः धार्मिक साहित्य-साधना को ही अपने जीवन का एकमात्र लक्ष्य बनाए हुए थे, दूसरी ओर राज्याश्रित कवि विभिन्न विषय-परक साहित्य-सृजन कर रहे थे।

इन्हीं परिस्थितियों में हिन्दी-वीरकाव्य का सृजन होता रहा। संस्कृत-काल से प्रवाहित होती हुई वीरकाव्य-धारा, पाली, सिद्ध-परम्परा, अपभ्रंश और नाथकाव्य धाराओं से होती हुई उत्तराधिकार रूप में हिन्दी साहित्य को प्राप्त हुई। इसका विकसित रूप हिन्दी की डिंगल और पिंगल दोनों काव्य-परम्पराओं में पल्लवित हुआ। इन काव्यों के ऊपर तत्कालीन अन्य साहित्यों के प्रभाव वर्त्तमान रहते थे। १४वीं शताब्दी के प्रारम्भ होते ही वीरगाथाओं की रचना क्षीण होने लगी। इसका प्रधान कारण राजनीतिक परिस्थितियाँ थीं। मुसलमानों के प्रभुत्व ने हिन्दू राजाओं को जर्जरित कर दिया था। उनके पास न तो गौरव-गाथा गाने की सामग्री ही थी और न कवियों के हृदय में उत्साह ही रह गया था। मुसलमान अपने राज्य के साथ अपने धर्म का विस्तार भी कर रहे थे। इन परिवर्तित परिस्थितियों में हिन्दू धर्मानुयायियों ने अपने धर्म की रक्षा के लिए ईश्वर की शक्ति पर अधिक अवलम्बित रहना प्रारम्भ कर दिया। परिणामतः ओज और गौरव के तत्वों से निर्मित वीर रस, करुण और दयनीय भावों से ओत-प्रोत होकर शान्त और शृङ्गार रस में परिणत होने लगा। भक्ति-साहित्य में यथावसर वीर रस के वर्णन हो जाया करते थे, पर प्रधानता शृङ्गार, भक्ति और शान्त रस विषयक काव्य की ही रही। परिणाम यह हुआ कि वीरकाव्य की धारा भक्ति-काल में कुछ क्षीण हो गई किंतु रीति-काल में पहुँच कर रीति-ग्रन्थों के समानान्तर पुनः प्रबल वेग से प्रवाहित होने लगी। इसका कारण भी उस युग

की परिवर्तित परिस्थितियाँ ही थीं। इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी तक समस्त प्रवृत्तियों को समेटती हुई वीरकाव्य-परम्परा परिवर्तित परिस्थितियों के रूप में स्वयं को ढालती हुई विकसित होती रही है। आगे इस काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियों का विवेचन किया जा रहा है।

काव्य-रूप

वीरकाव्य धारा के ग्रन्थ प्रबन्ध-काव्य और मुक्तक रूप में मिलते हैं। प्रबन्ध-काव्यों के अन्तर्गत महाकाव्य और खण्डकाव्य दोनों प्रचुर मात्रा में लिखे गए हैं।

महाकाव्यों में केशव-कृत 'वीरसिंहदेव चरित', मान-रचित 'राजविलास', गोरेलाल-कृत 'छत्रप्रकाश', सूदन विरचित 'सुजान चरित' तथा जोधराज-कृत 'हम्मीर रासो' प्रमुख हैं। महाकाव्यों में कथानक-चित्रण करते समय इन कवियों ने अपभ्रंश-काल से चली आती हुई पद्धति का अनुसरण किया है। साथ ही अनेक परिवर्तन भी किए हैं। चरित-नायकों के जीवन की अधिकाधिक घटनाओं का इन कृतियों में समावेश हुआ है। आरम्भ में नायकों के पूर्वजों का उल्लेख हुआ है, जिन पर किंवदंतियों, कल्पनाओं और चारण-परम्पराओं का अधिक प्रभाव होने के कारण उनका मुख्य घटना से विशेष सम्बन्ध नहीं रह गया है। आश्रयदाताओं तथा उनसे सम्बन्धित पात्रों की अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा करके कथानकों को अधिक अस्वाभाविक बना दिया गया है। बारबार ऐसे प्रसङ्ग लाए गए हैं जिनमें पात्रों की दानशीलता, आत्मप्रशंसा, शौर्य आदि के वर्णन का अवसर मिल सके। ऐसे स्थलों पर कथानकों के क्रमिक विकास और पूर्वापर सम्बन्ध को पर्याप्त मात्रा में धक्का लगा है। ऐसे अंश 'राजविलास' और 'हम्मीर रासो' में प्रचुर मात्रा में वर्तमान हैं।

कुछ रचनाओं में विभिन्न विषयों की लम्बी सूचियाँ गिनाने की परिपाटी का अनुकरण किया गया है। यही नहीं, व्यक्तियों और वस्तुओं के नामों की बार-बार आवृत्ति की गई है, जिससे कथानक को भारी ठेस पहुँची है। इस पद्धति को अपनाने के मूल में कवियों की पाण्डित्य-प्रदर्शन की भावना ही है। इस दृष्टि से 'राजविलास' में सरस्वती-वर्णन,[१] वर्षा-वर्णन,[२] उदयपुर वर्णनान्तर्गत विविध विषयों का चित्रण,[३] वीरों की लम्बी सूची[४] सम्बन्धी प्रसङ्ग देखे जा सकते हैं। इनके कारण घटना-प्रवाह में बाधा पड़ गई है। साथ ही अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन के कारण अधिकांश स्थल ऊहात्मक हो गए हैं।

ऐसे वीरकाव्यों का भी निर्माण हुआ है जिनमें ऐतिहासिक वर्णन की वास्तविकता के साथ ही कथानक को निर्दोष एवं काव्योचित गुणों से परिपूर्ण करने का प्रयत्न किया गया है। इस दृष्टि से 'वीरसिंहदेव चरित' तथा 'छत्रप्रकाश' विशेष उल्लेखनीय हैं। केशव का ध्यान कथानक को रोचक बनाने की ओर इतना नहीं गया है जितना कि ऐतिहासिक घटनावली के क्रमानुसार वर्णन की ओर। उन्होंने इस कृति की रचना का उद्देश्य इस प्रकार व्यक्त किया है—

---

१. राजविलास, पृष्ठ १-७।
२. वही, पृष्ठ ८-१०।
३. वही, पृष्ठ ४५-५४।
४. वही, पृष्ठ १९३-१९५।

नवरस मय सब धर्ममय राजनीति मय मान।
वीर चरित्र विचित्र किए केसवदास प्रमान।।[१]

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि कवि का ध्यान प्रबन्ध-निर्वाह की ओर उतना नहीं था जितना कि राजनीतिक अवस्था के वर्णन की ओर। गोरेलाल ने भी 'छत्रप्रकाश' में ऐतिहासिक घटनाओं का यथातथ्य निरूपण करने का ध्यान रक्खा है। उन्होंने अपने आश्रयदाता की पराजय तक का उल्लेख कर दिया है, यथा—

कह्यौ सबनि समुझाइयौ, जिन भजिबे पछिताउ।
भजे कृष्ण अवतार जे, पूरन प्रगट प्रभाउ।।[२]

लाल कवि की प्रबन्ध-पटुता उच्च कोटि की है। वास्तविक ऐतिहासिक घटनाओं पर अवलम्बित होते हुए भी 'वीरसिंहदेव-चरित' तथा 'छत्रप्रकाश' के कवियों ने अपनी पैनी दृष्टि से मार्मिक स्थलों को पहचान कर अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है।

ऐतिहासिक घटनाओं के साथ पौराणिक एवं काल्पनिक घटनाओं का समावेश कर देने से इन कवियों को अपनी काव्य-शक्ति प्रदर्शित करने के लिए अधिक स्वतन्त्र क्षेत्र मिल गया है। 'हम्मीररासो' में सृष्टि और मानव-रचना, चन्द्र और सूर्यवंश का वर्णन पौराणिक आधार पर अवलम्बित है। जोधराज की रचना पर 'पृथ्वीराज रासो' और तुलसी-कृत 'रामचरितमानस' का भी पर्याप्त प्रभाव है। इन प्रयोगों से कहीं-कहीं पर प्रबन्ध-निर्वाह दोषपूर्ण हो गया है और ऊहात्मक वर्णन की प्रधानता हो गई है। प्रकृति-वर्णन, ऋतु-चित्रण, नदी-वर्णन, धार्मिक उपदेश, जी को उबा देने वाले राजनीतिक संवाद, अलौकिक घटना-प्रयोग आदि की कुछ ग्रन्थों में इतनी भरमार है कि कथावस्तु का प्रवाह एकदम मन्द पड़ गया है।

खण्डकाव्यों में कथानक-चित्रण में वे समस्त प्रवृत्तियाँ देखने को मिलती हैं जिनका समावेश महाकाव्यों में हुआ है। कुछ कवियों ने ग्रन्थों को अधिक रोचक बनाने के लिए आकस्मिक एवं विस्मयपूर्ण कथावस्तु की कल्पना की है। ऐसा करने से ऐतिहासिक त्रुटियों का समावेश हो गया है और कथानक का पूर्वापर सम्बन्ध-निर्वाह छिन्न-भिन्न हो गया है। गोरा-बादल की कथा में पद्मिनी की प्राप्ति के लिए अलाउद्दीन का सिंहलद्वीप पर आक्रमण और सागर के किनारे पहुँच कर राघव चेतन द्वारा यह बतलाना कि पद्मिनी चित्तौड़ में है,[३] कवि की असावधानी एवं कथानक-वर्णन-सम्बन्धी अनभिज्ञता का परिचायक है। योगी का आगमन, उसकी सहायता से मृग-चर्म पर उड़ कर सिंहलद्वीप पहुँचना तथा रत्नसेन द्वारा पद्मिनी की प्राप्ति के उपाय, एकदम[४] असम्भव तथा आकस्मिक घटनाएँ हैं। इस प्रकार की घटनाएँ काल्पनिक जगत में ही होती हैं, व्यावहारिक क्षेत्र से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है।

---

१. वीरसिंहदेव-चरित, छंद ६, पृष्ठ २।
२. छत्रप्रकाश, पृष्ठ १४७।
३. गोरा-बादल की कथा, छंद ६४-६९।
४. वही, छंद १६-२७।

ऐसे खण्डकाव्य भी मिलते हैं जिनमें कोरी प्रशंसा, तथा नामावली की आवृत्ति के कारण कथानक का प्रवाह नष्ट और ग्रंथ नीरस हो गया है। 'जंगनामा' और 'हिम्मतबहादुर-विरुदावली' इसके उदाहरण हैं। श्रीधर ने अपनी कृति म अमीरों तथा वीरों के नामों का अनेक बार उल्लेख किया है।[१] परिणामतः कथानक हेय एवं नीरस हो गया है। इसी प्रकार 'हिम्मतबहादुर-विरुदा-वली' का अधिकांश भाग राजपूत-उपजातियों,[२] वाद्य-यंत्रों,[३] हाथियों,[४] घोड़ों,[५] तोपों,[६] बंदूकों,[७] तलवारों[८] आदि के नामों के गिनाने से भरा पड़ा है। परिणामतः कथानक का प्रवाह मंद पड़ गया है।

उक्त काव्यों में संयुक्ताक्षरों और नादात्मक शैली के प्रयोग ने भी घटनावली के लिए घातक कार्य किया है।[९] इस शाखा में कुछ ऐसे रासो खण्डकाव्य लिखे गए हैं जो परम्परागत रासो शैली से भिन्न एक नवीन पद्धति को लेकर चले हैं। इनमें कथानक का चित्रण अत्यंत सफल हुआ है। 'रासा भगवंतसिंह' और 'करहिया कौ रायसौ' उक्त कथन की पुष्टि करते हैं। 'रासा भगवंत सिंह' में युद्ध का सुन्दर चित्रण हुआ है और 'करहिया कौ रायसौ' में वीरों की गर्वोक्तियों तथा युद्ध का सुन्दर वर्णन मिलता है।

मुक्तक शैली में लिखे गए काव्यों में से कुछ ऐसे ग्रंथ हैं जिनमें शिवाजी, छत्रसाल बुन्देला आदि वीरों को आलम्बन बनाया गया है। इन कृतियों म पात्रों के जीवन के विस्तृत कार्य-कलाप के दर्शन होते हैं। इनमें शौर्य, वीरता, प्रताप, युद्ध, तलवार आदि के सजीव चित्रण किए गए हैं जिनमें वीररस का अच्छा परिपाक हुआ है। इसके लिए भूषण की रचनाएँ तथा केशव-कृत 'रत्नावली' विशेष उल्लेखनीय हैं।

केशव ने 'वीरसिंहदेव-चरित' में 'पृथ्वीराजरासो' की सम्वाद वाली पद्धति को अपनाया है जिससे कथानक में नाटकीय त्वरा का सम्मिश्रण हो गया है। दान और लोभ के तर्क-वितर्क इस कथन की पुष्टि करते हैं। प्रायः सभी ग्रंथों में वीरता, रौद्र, शृंगार, दान, दया, धार्मिकता आदि भावनाओं के चित्रण के लिए कथानक का सफल प्रयोग किया गया है।

उपर्युक्त संक्षिप्त परिचय से स्पष्ट है कि ये कवि कथानक प्रयोग के लिए एक बँधी हुई धारा

---

१. जंगनामा, पंक्तियाँ ५२-६०, ७४-८२, १७४-२१२, २३३-३४५, ४१३-५३४, ८६७-१२४६, १२७३-१४२०।

२. हिम्मतबहादुर-विरुदावली, छंद २७-३७।

३. वही, छंद ३९-४१।

४. वही, छंद ४७-५१।

५. वही, छंद ५२-५६।

६. वही, छंद ६३-७०, ८९-९१।

७. वही, छंद ७०-७२।

८. वही, छंद १९३-२०१।

९. जंगनामा, पंक्तियाँ १४२-५०, १५६३-७४, हिम्मतबहादुर-विरुदावली, छंद ४५, ६१, १३०, १८६।

का अनुकरण करते रहे हैं। दरबारी चारण-भाट-परिपाटी उनके सामने थी। रीतिकालीन परम्परा से भी ये कवि प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके ह। प्रलोभन और दान की लिप्सा भी इनको पथ-भ्रष्ट करने में न चूकी। ये ही कारण थे जिनके वशीभूत होकर ये कवि प्रबन्ध-निर्वाह में उतने सफल नहीं हो सके जितना उन्हें होना चाहिए था। पर इनमें कुछ ऐसे प्रतिभा-सम्पन्न कवि भी हुए हैं जिन्होंने कवि-परम्परा से ऊँचे उठकर आशातीत सफलता और मौलिकता का परिचय दिया है। इस दृष्टि से भूषण और लाल कवि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

चरित्र-चित्रण

वीरकाव्य में चरित्र-चित्रण पर बहुत कम ध्यान दिया गया है। ये ग्रंथ ऐतिहासिक काव्य थे इसीलिए अधिकांश स्थलों पर इतिवृत्तात्मक शैली का अनुसरण करके ऐतिहासिक घटनावली, पात्रों, स्थानों, युद्ध-सामग्री की सूची आदि का उल्लेख विशेष कर दिया करते थे। पात्रों की अधिक भरमार, लूटमार तथा युद्ध-सामग्री की विस्तृत सूची, अलंकार-प्रयोग, चमत्कार-प्रियता, पांडित्य-प्रदर्शन, रीति-परम्परा का अनुसरण आदि कुछ ऐसे कारण थे जिनसे ये ग्रंथ वर्णनात्मक अधिक बन गए और उनमें चरित्र-चित्रण के लिए बहुत कम अवकाश रह गया।

इस कथन का यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि उक्त काव्यों में चरित्र-चित्रण का एकदम अभाव है। पर यह निर्विवाद है कि इन ग्रंथकारों ने अधिकतर परंपरागत कुछ विशिष्ट गुणों का ही उल्लेख अपने पात्रों के संबंध में किया है। कुछ प्रबन्धकाव्यों में चरित्रों का अच्छा चित्रण भी हुआ है। रासो-परंपरा के ग्रंथों के चरित्र-चित्रण पर 'पृथ्वीराज रासो' की छाप स्पष्ट रूप से मिलती है, यथा, 'हम्मीररासो'। मुक्तक ग्रंथों में कुछ विशेष बातों को लेकर ही काव्य-रचना की गई है। भूषण की कृतियाँ इसके प्रमाण हैं। स्त्री-पात्रों के विषय में भी एक बँधी हुई धारा का अनुकरण किया गया है।

कुछ अपवादों के साथ प्राय: सभी पात्रों, विशेषकर नायकों, में एक ही प्रकार के गुणों का उल्लेख मिलता है। इन पात्रों का आखेट, मल्ल-युद्ध, गज-युद्ध तथा अश्वारोहण से विशेष प्रेम होता था। अस्त्र-शस्त्र-संचालन में वे अधिक दक्ष होते थे। युद्ध में स्वयं सैन्य-संचालन करके सेना के अग्र भाग में रहकर नायक स्वयं युद्ध की गति-विधि का निरीक्षण करते थे। यही नहीं, वे विजयी वीरों का समुचित आदर करके गुण-ग्राहकता का भी परिचय दिया करते थे।

इस धारा के ग्रंथों के नायक प्राय: युद्धवीर, दानवीर, दयावीर एवं धर्मवीर के रूप में चित्रित किए गए हैं। पर प्रधानता युद्धवीर की ही है। वेद, गौ, ब्राह्मण और हिन्दूधर्म की रक्षा करने के लिए ये नायक सदैव कटिबद्ध रहते थे। इनकी दानशीलता भी उच्चकोटि की हुआ करती थी। चारणों, भाटों, कवियों और ब्राह्मणों को ये पुष्कल धन प्रदान किया करते थे।

कुछ पात्र बड़े यशस्वी तथा कर्मवीर हुआ करते थे। शत्रु से लोहा लेना, अपनी विजय के लिए सर्वस्व न्यौछावर कर देना और हँसते-हँसते अपने प्राणों की बलि चढ़ा देना इन वीर-पुंगवों के लिए साधारण-सी बात थी। इनमें से कुछ वीरों ने अपने बाहुबल पर, साधारण स्थिति से उठकर और दिल्ली राज्य की जड़ें हिलाकर, विस्तृत राज्यों की स्थापना की थी। शिवाजी, छत्रसाल बुंदेला और सूरजमल जाट के नाम इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय हैं। ऐसे पात्रों के

चित्रण में सच्ची वीरता, अदम्य उत्साह, असीम अध्यवसाय और कार्यकुशलता के दर्शन होते हैं। प्राय: सभी नायक शत्रुओं को तंग करने के लिए छिप-छिपकर छापा मारते, राज्यों को लूटते, आग लगा देते, चौथ उगाहते तथा जंगलों एवं अन्य सुरक्षित स्थानों में जा छिपते थे। दिल्ली राज्य के शत्रुओं और विद्रोहियों में परस्पर मित्रता स्थापित हो जाया करती थी। ऐसे मैत्री-भाव द्वारा वे अपने शत्रु को पराजित करने के लिए सदैव प्रयत्न करते रहते थे। 'वीरसिंहदेव-चरित' म सलीम तथा वीरसिंहदेव की मित्रता, 'सुजान-चरित्र' में सूरजमल तथा सफदरजंग की मैत्री, शिवाजी और छत्रसाल-मिलन इसके उदाहरण हैं। अवसर पड़ने पर बिश्वासघात, हत्या आदि कार्य करने से भी ये व्यक्ति नहीं चूकते थे, किन्तु अधिकांश वीर सत्यानुसार आचरण करने वाले और नीतिवान महान व्यक्ति ही थे।

इन वीरों में और विशेषकर नायकों में सच्ची राजपूत वीरता एवं कर्मण्यता के गुण वर्तमान थे। प्रतिद्वन्द्वी से लोहा लेने और करमिट अथवा मरमिट की भावना उनमें रहा करती थी। उनकी वीरता क्रूरता एवं नृशंसता की भित्ति पर अवलंबित नहीं थी। हाहा खाने वाले पर हाथ उठाना, धोखे से शत्रु का संहार करना आदि बातें उन्हें रुचिकर नहीं थीं। प्रार्थना करने पर वे शत्रु को निकल जाने का सुरक्षित मार्ग दे दिया करते थे। वे जितने ही वीर होते थे उतने ही दयालु और जितने ही कठोर उतने ही उदार।

इन वीरों में स्वामिभक्ति, कृतज्ञता आदि गुण वर्तमान थे। सेनापति आदि कर्मचारी अपने स्वामी के कार्य को बड़ी तत्परता और संलग्नता के साथ किया करते थे। यह उनके चरित्र की एक असाधारण विशेषता थी।

इन ग्रंथों में कुछ ऐसे पात्र भी मिलते हैं जो छल, कपट, विश्वासघात एवं धूर्तता के साक्षात अवतार थे। अपने स्वार्थ की पूर्ति करना ही उनका एकमात्र लक्ष्य होता था। नीति-अनीति, उचित-अनुचित का ध्यान रखना उनके लिए आवश्यक न था। कुछ ऐसे भी वीर थे जो आत्म-श्लाघा एवं दूसरों को उपदेश देना ही सच्ची वीरता का आदर्श समझा करते थे।

अधिकांश ग्रंथों के नायकों और उनके पक्ष के पात्रों के गुणों को चढ़ा-बढ़ाकर अंकित किया गया है। उनके प्रतिपक्षी पात्रों के चरित्र को अधिक ऊँचा उठाने का प्रयत्न नहीं किया गया है। ऐसे बहुत कम ग्रंथ हैं जिनमें प्रतिनायक के आतंक, गौरव और वैभव का उदारतापूर्वक वर्णन किया गया हो। इस संबंध में 'राजविलास' में महाराणा राजसिंह के प्रतिद्वन्द्वी औरंगजेब तथा 'सुजान-चरित्र' में सूरजमल के विरोधियों के चरित्र-चित्रण में अधिक उदारता दिखलाई गई है। ऐसा करने से नायकों के शौर्य और बल-पराक्रम अधिक उज्ज्वल हो उठे हैं। पद्माकर ने 'हिम्मतबहादुर-विरुदावली' में नायक के विरोधी नोने अर्जुनसिंह का चित्रण भी अधिक उदारता से किया है। कतिपय ऐसे ग्रंथ भी मिलते हैं जिनमें उपनायक के चरित्र को अत्यधिक गिरा दिया गया है। इस दृष्टि से 'हम्मीर रासो' में अलाउद्दीन का चूहे से भयभीत होने वाला कथन[१] विचारणीय है।

इन कृतियों में नारी पात्रों का उल्लेख अपेक्षाकृत कम मिलता है। इन स्त्री पात्रों के

---

१. हम्मीररासो, छंद २४५, पृष्ठ ५०।

दो रूप देखने को मिलते हैं। प्रथम वह वर्ग है जिसमें नख-शिख और नारी-जाति-भेद-वर्णन सम्मिलित हैं।[1] इस पर स्पष्टतः ही रासो और रीति-परम्परा का प्रभाव है। ये चित्रण शृंगारिक भावना से ओत-प्रोत हैं। नारी का यह रूप उद्दीपक, साधना में बाधक और कर्तव्य-पथ से विमुख कराने वाला है।

दूसरे वर्ग के अन्तर्गत वे स्त्री पात्र आते हैं, जिनका स्वरूप अत्यंत उज्ज्वल एवं महान है। इस रूप में सच्ची क्षत्राणी सती, साध्वी, माता और पत्नी के रूप में आती है। उसका यह रूप अधिक स्थायी, वीरता से परिपूर्ण और वास्तविक है। यह चित्रण रीतिकालीन अश्लील प्रभाव से बचा हुआ है। ऐसे आदर्श नारी पात्र अन्य काव्य-धाराओं में सम्भवतः दुष्प्राप्य हैं। इस शाखा की यह एक महत्वपूर्ण विशेषता है। सच्ची ऐतिहासिक घटनाओं पर अवलम्बित होने के कारण यह चित्रण अधिक सत्य एवं प्रभावोत्पादक बन गया है। नारी का यह रूप चारण, भक्ति और रीतिकालीन साहित्य में अपनी सबसे अलग विशेषता रखता है। सूक्ष्म होते हुए भी यह आदर्श और महान है।

इस प्रकार कुछ कवियों ने अपने काव्यों में इतिहासानुकूल और कतिपय कवियों ने ऊहात्मक शैली के आधार पर अपने पात्रों के चरित्र अंकित किए हैं। अतिशयोक्तिपूर्ण शैली का भी आश्रय लिया गया है। रासो-परम्परा की स्पष्ट छाप भी दृष्टिगोचर होती है। मुक्तक रचनाओं में से कुछ में यशस्वी नायक को लेकर उसकी वीरता, शौर्य आदि का वर्णन किया गया है और कुछ कोरी प्रशस्ति मात्र की गई है। अनेक कवियों ने चरित्र-चित्रण के प्रति उपेक्षा प्रदर्शित की है। साथ ही कुछ विशिष्ट गुणों का अंकन करना ही इन कवियों का मुख्य उद्देश्य रहा है। नारी पात्र, यद्यपि कम आए हैं, पर उनके चरित्र की अपनी निजी विशेषताएँ हैं।

रस-निरूपण

रस-निरूपण की दृष्टि से इस धारा के ग्रंथ निम्न वर्गों में विभक्त किए जा सकते हैं —

(१) रसों के लक्षण और उदाहरण वर्णन करने के विचार से लिखे गए ग्रंथ, जैसे 'ललित-ललाम'।

(२) अलंकारों के रीति-ग्रंथ जिनमें उदाहरण-रूप में विविध छन्दों में रसों का परिपाक हुआ है। इस कोटि में 'शिवराज भूषण' और 'जगदविनोद' आते हैं।

(३) कवित्व की दृष्टि से रचे गए ग्रंथ जिनमें विभिन्न रसों के उदाहरण मिलते हैं। 'वीरसिंहदेव-चरित', 'सुजान-चरित्र' आदि कृतियाँ इसके अंतर्गत आती हैं।

इस धारा में वीर—युद्धवीर, दानवीर, दयावीर तथा धर्मवीर—के चित्रण में शृंगार, वीभत्स, रौद्र तथा भयानक रसों का मिश्रण भी मिलता है, परंतु करुण, हास्य, अदभुत तथा शांत का अपेक्षाकृत कम प्रयोग हुआ है।

युद्ध, दान, दया और धर्म वीर का वर्णन करते हुए इन कवियों का ध्यान प्रधान रूप से युद्धवीर और दानवीर की ओर अधिक रहा है। ऐसा होना स्वाभाविक ही था। ये कवि प्रायः

---

१. गोरा-बादल की कथा, छंद ३८-५५, हम्मीररासो, छंद १३०-१५७।

राजाश्रित थे। आश्रयदाताओं के दान और युद्ध-कौशल की प्रशंसा करना इनके लिए नितान्त स्वाभाविक था। कुछ ऐसी भी रचनाएँ हैं जिनमें चरित-नायकों के वीरत्व एवं शौर्य का वास्तविक अंकन हुआ है। उदाहरणार्थ 'रत्नबावनी' तथा भूषण की रचनाएँ ली जा सकती हैं।

वीर रस के प्रसंग में अस्त्र-शस्त्रादि, युद्ध-सामग्री, वीरों की सजावट, सैन्य-प्रयाण, वीरों की गर्वोक्तियाँ, पौरुषपूर्ण कार्य-कलाप, तुमुल कोलाहल आदि के सजीव चित्र अंकित किए गए हैं जिनसे वीर रस का वास्तविक चित्र पाठक के हृदय-पटल पर अंकित हो जाता है। इस संबंध में केशव, भूषण, मान और सूदन की रचनाएँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

कुछ कवियों ने दानशीलता का वर्णन करने में ऊहा और अतिशयोक्ति से अधिक सहायता ली है। मान, मतिराम और सदानंद के नाम इस प्रसंग में विशेष उल्लेखनीय हैं। ऐसे वर्णनों में अस्वाभाविकता एवं नीरसता का समावेश हो गया है। संयुक्ताक्षरों एवं नादात्मक शैली को ही वीररस-निष्पत्ति का एक मात्र कारण समझने वाले कवि भी इस धारा में हुए हैं। ऐसे कवियों में मान और सूदन प्रमुख हैं।

युद्ध-सामग्री का वर्णन करने में उपमा, उत्प्रेक्षा, सन्देह आदि अलंकारों का सहारा लेकर वाह्य तड़क-भड़क में मग्न रहने वाले केशव, पद्माकर आदि उक्त स्थलों पर वास्तविक वीर रस-निरूपण में असफल रहे हैं।

कुछ कवियों ने युद्ध आदि का विवरण उपस्थित करना ही अपना लक्ष्य बनाया है। परिणामतः वीर रस का समुचित परिपाक नहीं हो सका है। ऐसे कवियों में गोरेलाल तथा श्रीधर विशेष उल्लेखनीय हैं।

वीर रस के साथ एक ही छन्द में अन्य रसों का मिश्रण कर देना भी इस काव्य की प्रमुख प्रवृत्ति रही है।[१]

उपर्युक्त विवेचन से वीर रस की वास्तविक स्थिति स्पष्ट हो जाती है। थोड़े-से हेर-फेर के साथ प्रायः एक ही प्रकार की वीर रसात्मक मान्यताएँ इस धारा में प्रचलित रही हैं। पर आदिकाल की अपेक्षा रीतिकालीन युग का वीर रस अधिक स्वाभाविक है, क्योंकि वह ऐतिहासिक तथ्य के अधिक निकट है।

इस धारा में वीर रस के पश्चात श्रृंगार रस का विशिष्ट स्थान है। श्रृंगारवर्णन में स्त्री-पुरुष-जाति-भेद, नख-शिख-वर्णन, ऋतु-वर्णन आदि का प्रमुख रूप से चित्रण मिलता है। इसके लिए जटमल,[२] मान[३] तथा जोधराज[४] विशेष प्रकार से विचारणीय हैं। इस रस-वर्णन में इन्होंने इतनी तल्लीनता दिखलाई है कि कथावस्तु तथा वीररस-चित्रण का ध्यान ही उन्हें एक प्रकार से विस्मृत हो गया है। कहीं-कहीं पर अश्लीलता के नग्न-चित्र भी प्रस्तुत कर दिए गए हैं।[५]

---

१. भूषण-ग्रंथावली, शिवराज-भूषण, छंद ३२८, पृष्ठ ५८।

२. गोरा-बादल की कथा, छंद ३८-६०, पृष्ठ १०-१५।

३. राजविलास, छंद ४०-५७, पृष्ठ ८-१०।

४. हम्मीररासो, छंद १००-१५७।

५. गोरा-बादल की कथा, छंद ४८।

प्रसन्नता का विषय यही है यह दोष थोड़े ही स्थलों पर आया है। अधिकांश वर्णन रीतिकालीन उच्च शृंगारी कवियों के समकक्ष बन पड़े हैं।

लाल कवि ने लौकिक शृंगार द्वारा अलौकिक शृंगार की ओर संकेत किया है। पद्माकर, जोधराज आदि ने वीर रस में शृंगार का पुट दिया है। कहीं-कहीं पर शृंगार रस के वर्णन में स्ववाचकत्व दोष आ गया है।[1]

उक्त कुछ दोषों के होते हुए भी वीर रस के उपरांत शृंगार रस इस धारा में प्रमुख रूप से और अधिकता से चित्रित हुआ है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

वीर रस के प्रसंग में वीभत्स-रस-चित्रण के दर्शन भी होते हैं। सर्वत्र जोगिनी, गिद्ध, महादेव, कालिका, कंक, मांस, रक्त आदि एक-से ही उपकरणों का उल्लेख मिलता है।

वीर रस के मित्र-रसों, रौद्र तथा भयानक का थोड़ा-बहुत वर्णन सभी रचनाओं में मिलता है। यद्यपि इन रसों का सुन्दर परिपाक करने में इन कवियों को सफलता मिली है, पर उक्त रसों का चित्रण अपेक्षाकृत कम हुआ है।

करुण, हास्य, अद्‌भुत और शांत रसों के बहुत कम उदाहरण मिलते हैं। ये रस प्रायः उपेक्षित रहे हैं।

अलंकार-योजना तथा छंद-प्रयोग

अलंकार-योजना की दृष्टि से आलोच्य काव्य-धारा में दो प्रवृत्तियाँ मिलती हैं। प्रथम वर्ग के अन्तर्गत वे सारे ग्रंथ परिगणित किए जा सकते हैं जो रीति-परम्परानुसार लक्षणों और उदाहरणों की शैली में लिखे गए हैं। 'शिवराज-भूषण' और 'ललित-ललाम' इसके उदाहरण हैं। दूसरे वर्ग के अन्तर्गत वे समस्त रचनाएँ हैं जो शुद्ध कवित्व की शैली में लिखी गई हैं और जिनमें अलंकार-प्रयोग स्वतः हो गया है।

प्रथम कोटि के ग्रंथों में मतिराम-कृत 'ललित-ललाम'[2] में अलंकारों के लक्षण और उदाहरणों का सन्निवेश किया गया है। उक्त ग्रंथ में अधिकांश उदाहरण बूँदी-नरेश भाऊसिंह के सम्बंध में कहे गए हैं। मतिराम ने शब्दालंकारों का वर्णन नहीं किया है। रसवदादि अलंकारों का भी उसमें उल्लेख नहीं हुआ है। केवल अर्थालंकारों के लक्षण और उदाहरण ही दिए गए हैं। मतिराम के लक्षण और उदाहरण प्रायः निर्दोष और स्पष्ट हैं, पर निम्नलिखित अलंकारों के लक्षण और उदाहरण विशेष प्रकार से मनोहर एवं सुन्दर बन पड़े हैं—

उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, दीपक, दृष्टांत, व्यतिरेक, अतिशयोक्ति और यथासंख्य।

मतिराम को अलंकार-वर्णन में रीतिकालीन अन्य कवियों की अपेक्षा अधिक सफलता मिली है।

'शिवराज-भूषण' को निर्दोष रीति-ग्रंथ नहीं कहा जा सकता। उसके अधिकांश लक्षण

---

१. हम्मीररासो, छंद ७४७-८, पृष्ठ १४८।

२. ललितललाम में वर्णित अलंकारों की संख्या विस्तृत है, पर वीरकाव्य से संबंधित अलंकारों के उदाहरणों से ही यहाँ पर हमारा अभिप्राय है।

और उदाहरण दोषपूर्ण हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि भूषण का उद्देश्य अपने चरित-नायक का यशोगान करना था, रीति-ग्रंथ लिखना नहीं। 'शिवराज-भूषण' में दोहा छन्दों में अलंकार-लक्षण देकर उदाहरण देने में वीरकेशरी शिवाजी के शौर्य से संबंधित घटनाओं का वर्णन किया गया है। इस ग्रंथ में कुल १०६ अलंकारों का वर्णन किया गया है, जिनमें १०० अर्थालंकार, ५ शब्दालंकार और १ उपमालंकार है। अर्थालंकारों की संख्या में अधिकांश अलंकारों के भेदों की संख्या भी सम्मिलित है। इन्होंने कुछ अलंकारों के सारे भेदों का वर्णन किया है, कुछ के कुछ भेदों का विवेचन किया है और शेष के भेद एकदम छोड़ दिए हैं। वर्णित अलंकारों में से कुछ के लक्षण छोड़ दिए हैं और केवल उदाहरण ही दिए हैं। कतिपय स्थलों पर भूषण ने एक ही छन्द में दो अलंकारों के लक्षण दे दिए हैं। इनके अधिकांश अलंकारों के लक्षण तथा उदाहरण अस्पष्ट और दोषपूर्ण हैं। लक्षणों की अपेक्षा इनके उदाहरण अधिक अशुद्ध हैं। भूषण ने दो नवीन अलंकार सामान्य-विशेष और भाविक-छवि माने हैं, पर ये दोनों ही क्रमशः विशेष-निबन्धना तथा भाविक के अन्तर्गत आ जाते हैं।

इस प्रकार रीति-ग्रंथ की दृष्टि से 'शिवराज-भूषण' साधारण श्रेणी की कृति है। सच बात तो यह है कि रीति-ग्रंथ-लेखन-प्रणाली ने इस ग्रंथ में भूषण की कविता का स्वतंत्र रूप नहीं विकसित होने दिया है। अन्य कवियों के समान उनकी दृष्टि कविता की ओर अधिक टिकी थी। यही कारण है कि 'शिवराज-भूषण के' अधिकांश पद्यों में अलंकारों के अत्यंत उत्कृष्ट प्रयोग के साथ कवित्व के सुन्दर दर्शन होते हैं। जहाँ इन्हें कोई बंधन नहीं था वहाँ इन्होंने स्वाभाविक रूप से अत्यंत उत्तम अलंकार-योजना की है।

इस धारा में अलंकार-प्रयोग का क्षेत्र व्यापक होते हुए भी निम्नलिखित अलंकार ही विशेष रूप से प्रयुक्त हुए हैं—

(अ) शब्दालंकार—अनुप्रास और यमक।

(आ) अर्थालंकारों में से निम्नांकित सादृश्यमूलक अलंकार—

उपमा, मालोपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा (गम्योत्प्रेक्षा, उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा), अतिशयोक्ति (रूपकातिशयोक्ति, अक्रमातिशयोक्ति), भ्रम तथा सन्देह।

(इ) विरोधमूलक—विरोधाभास।

(ई) लोक-व्यवहार-मूलक अलंकार—लोकोक्ति।

कम प्रयुक्त होने वाले अलंकार —

(उ) शब्दालंकार—श्लेष।

(ऊ) अर्थालंकार—अनन्वय, अपह्नुति, उल्लेख, तुल्योगिता, प्रतिवस्तूपमा, व्यतिरेक, विषम, विशेषोक्ति, परिसंख्या, पर्याय, काव्यलिंग, अनुमान, ललितोपमा, व्यतिक्रम, अप्रस्तुत-प्रशंसा, अत्युक्ति तथा उदाहरण।

उक्त अलंकारों के प्रयोग में इन कवियों ने कुछ विशेष नियमों और मान्यताओं को अपनाया है। यहाँ पर ऐसे ही कुछ अलंकारों की विशेषताओं का उल्लेख किया जा रहा है—

अनुप्रास—अनुप्रास अलंकार का प्रायः सभी कवियों ने प्रचुर प्रयोग किया है। अधिक-

तर इसका प्रयोग कोरे चमत्कार-प्रदर्शनार्थ हुआ है। ऐसे अवसर पर शब्दाडम्बर की भरमार है। केशव, मान, सूदन और पद्माकर इस अलंकार के प्रयोग के लिए विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। अनुप्रास की सहायता से वर्णन में कहीं-कहीं पर सजीवता का समावेश हो गया है।

नायक-नायिका-रूप-वर्णन, ओज, छटा, युद्ध, नामों और सामग्री की सूची तथा युद्ध के उपकरणों के चित्रण के अवसर पर इस अलंकार को विशेष रूप से अपनाया गया है। यह ठीक है कि कहीं-कहीं पर अनुप्रास-प्रयोग से काव्य में सजीवता, ओज और कवित्व का समावेश हो गया है, पर अधिकांश स्थलों पर नीरसता और शुष्कता की इतनी अधिकता हो गई है कि कविता के प्रति अरुचि होने लगती है।

उपमा अलंकार—अर्थालंकारों में उपमालंकार का अत्यधिक प्रयोग मिलता है। गोरेलाल, जोधराज आदि कवियों ने सुन्दर उपमानों का सृजन किया है। सेना-प्रस्थान, युद्ध, हाथी, घोड़े, अस्त्र-शस्त्र आदि के वर्णन में मेघ, बिजली और वर्षा के उपकरणों को उपमानों के रूप में प्रयुक्त किया गया है; यथा—

झरिय सार तिहिं अपार मुख मारु मारु रर।
ज्यों पहार पर जलद धार बरसंत सांग सर।।[1]

कृषि-सम्बन्धी कुछ नवीन उपमानों को भी अपनाया गया है।

रूपक अलंकार—यह अलंकार भी इन कवियों को अधिक प्रिय रहा है। सैन्य-प्रयाण, युद्ध-सामग्री, युद्ध-वर्णन में मेघ, बिजली, बूँदें, नदी, पानी, प्रवाह, वक-पंक्ति आदि के सुन्दर रूपक बाँधे गए हैं। केशव ने सूर्य के लिए अरुन-मुख बानर उपमान का प्रयोग करके अपनी अदूरदर्शिता का परिचय दिया है; यथा—

दिनकर बानर अरुन-मुख, चढ्यौ गगन तरु धाय।
केसव तारा कुसुम बिनु, कीनौ झुकि झहराय।।[2]

उपर्युक्त प्रचलित रूपकों के अतिरिक्त बरात,[3] तीर्थराज प्रयाग,[4] काल की वाटिका,[5] सूरजमल का होता बनकर यज्ञ करना,[6] विराट पुरुष,[7] वसंत,[8] कृष्ण-स्तुति,[9] गोवर्द्धन की कथा[10]

१. सुजान-चरित्र, छंद १०, पृष्ठ ९६।
२. वीरसिंहदेव-चरित, छंद २६, पृष्ठ ६९।
३. वही, छंद ६-३५, पृष्ठ ५०-५२।
४. सुजान-चरित्र, छंद ३, पृष्ठ २१।
५. वही, छंद ११, पृष्ठ ९६-९७।
६. वही, छंद ५१, पृष्ठ १८०।
७. वही, छंद २, पृष्ठ ६२।
८. वही, छंद ७, पृष्ठ ११४।
९. वही, छंद १, पृष्ठ २२४।
१०. वही, छंद ५७, पृष्ठ २३२।

आदि पौराणिक तथा अन्य प्रकार के रूपकों का इन कवियों ने सफल प्रयोग करके काव्य में नवीनता और सजीवता का समावेश किया है।

उत्प्रेक्षा अलंकार—इस अलंकार का प्रयोग वस्तुओं, हाथियों,[1] नगर,[2] वर्षा,[3] घोड़ों,[4] युद्ध[5] आदि के वर्णन में किया गया है।

अतिशयोक्ति अलंकार—अतिशयोक्ति अलंकार तथा इसके भेद रूपकातिशयोक्ति और अक्रमातिशयोक्ति का इन कवियों ने जी खोल कर वर्णन किया है। युद्ध तथा वैभव-वर्णन में इस अलंकार की सहायता से ऊहात्मक उड़ानें भरी गई हैं।[6] 'राजविलास' में गर्वोक्तियों के कथन में अतिशयोक्ति अलंकार द्वारा विशेष छटा एवं सौंदर्य का समावेश हो गया है।[7]

ऊपर दिए संक्षिप्त विवरण से अलंकार-प्रयोग की प्रमुख प्रवृत्तियों का परिचय प्राप्त हो जाता है।

छंद प्रयोग की दृष्टि से इस धारा का एक विशिष्ट स्थान है। छन्दों की इतनी विविधता हिन्दी की अन्य काव्यधाराओं में सम्भवतः कठिनता से मिलेगी। लगभग १३३ प्रकार के छन्द इन कवियों द्वारा प्रयुक्त किए गए हैं। इन छन्दों में से अधिकांश विभिन्न कवियों द्वारा अपनाए गए हैं। केशव ने १५ प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया है। चौपही, दोहा, छप्पय, कवित्त, सवैया (मालती), उनके अधिक प्रिय छन्द हैं। मात्रिक छन्द उन्हें अधिक रुचिकर हैं। छन्दों में नवीनता लाने और परिवर्तन करने की प्रवृत्ति भी दिखाई देती है।

जटमल ने सात प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया है और उनमें से दोहा और छप्पय को विशेष रूप से अपनाया है। इन्होंने केवल एक ही प्रकार के वर्णवृत्त—मोतीदाम—का प्रयोग किया है। इनके द्वारा प्रयुक्त शेष छंद मात्रिक हैं।

मतिराम ने 'ललित-ललाम' में दोहा, कवित्त और मालती सवैया का विशेष और छप्पय का सामान्य रूप से प्रयोग किया है।

भूषण ने १२ प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया है। कवित्त इनका अत्यंत प्रिय छन्द है। अलंकारों की परिभाषा के लिए दोहे का प्रयोग किया है। इन्होंने सवैया के चार भेदों का उपयोग किया है जिनमें से मालती का सबसे अधिक प्रयोग मिलता है।

मान कवि ने २७ प्रकार के छन्दों को अपनाया है। इन्होंने चंदबरदाई के समान छप्पय के लिए कवित्त नाम दिया है। इनके द्वारा प्रयुक्त छन्दों में राजस्थानी छन्दों की संख्या अधिक है। छन्दों के रूप बदलने और परिवर्तन करने की प्रवृत्ति इनमें पर्याप्त मात्रा में वर्तमान है।

---

१. वीरसिंहदेव-चरित, छंद ३४-४०, पृष्ठ ३१।
२. वही, छंद २२, पृष्ठ ५७।
३. वही, छंद १-१३, पृष्ठ ६७।
४. हिम्मतबहादुर-विरुदावली, छंद ५२-५६, पृष्ठ ९-१०।
५. वही, छंद १४७, पृष्ठ २९।
६. छत्रप्रकाश, पृष्ठ ११९, हिम्मतबहादुर-विरुदावली, छंद १४७, पृष्ठ २९।
७. राजविलास, छंद १८९-१९६, पृष्ठ १७९-१८०।

गोरेलाल ने जायसी-कृत 'पद्मावत' और तुलसी-कृत 'रामचरितमानस' के समान केवल दोहे और चौपाई का प्रयोग किया है। इस प्रकार इन्होंने यह सिद्ध कर दिया है कि उक्त छंद अवधी के समान ही ब्रजभाषा में भी सफलता एवं निर्दोषतापूर्वक प्रयुक्त किए जा सकते हैं।

श्रीधर के 'जंगनामा' में १३ प्रकार के छन्द प्रयुक्त हुए हैं, जिनमें मात्रिक छन्दों की संख्या अधिक है।

सदानन्द ने १५ प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया है, जिनमें मात्रिक तथा वर्णिक दोनों प्रकार के छन्द हैं। अधिकांश स्थलों पर इनके छन्द दोषपूर्ण हैं।

सूदन ने १०३ प्रकार के छन्दों का प्रयोग करके इस शाखा में अपने लिए सर्वोपरि स्थान प्राप्त कर लिया है। इन्होंने प्रत्येक जंग के प्रत्येक अंक के अंत में एक हरिगीतिका की आवृत्ति की है। सूदन ने मात्रिक सम, अर्द्ध-सम, विषम तथा वर्णिक सम, वर्ण-मुक्तक आदि सभी प्रकार के छन्दों को अपनाया है तथा आठ मात्रा के छन्दों से लेकर चालीस मात्रा तक के मात्रिक छन्दों और दो वर्ण से लेकर बत्तीस वर्णों तक के वर्ण-वृत्तों का प्रयोग किया है। छन्दों के रूप-परिवर्तन करने और उनके नामों को बदलने की प्रवृत्ति द्वारा इन्होंने अपने पांडित्य एवं आचार्यत्व का परिचय दिया है। इस दृष्टि से सूदन केशव के समकक्ष ही नहीं, वरन कतिपय बातों में उनसे श्रेष्ठ ठहरते हैं।

गुलाब कवि ने १३ प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया है। इनके छन्द प्रायः पिंगल के नियमों पर खरे नहीं उतरते हैं।

पद्माकर ने 'हिम्मतबहादुर-विरुदावली' में ६ प्रकार के छन्द अपनाए हैं। हरिगीतिका इनका सर्वप्रिय छन्द है। 'जगद्विनोद' में कवित्त, छप्पय तथा दोहा अधिक प्रयुक्त हुए हैं। सूदन के समान पद्माकर ने भी हरिगीतिका की यथास्थान आवृत्ति की है।

जोधराज ने १७ प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया है। इन्होंने वचनिका को भी स्थान दिया है। मात्रिक छन्दों के प्रति जोधराज ने अधिक अभिरुचि प्रदर्शित की है।

चौपाई, पद्धरी, हीर (हीरा, हीरक), गीतिका, गीता, हरिगीतिका, लीलावती, त्रिभंगी, रसावल तथा हनूफाल आदि मात्रिक छन्द; दोहा (दोहरा) और सोरठा अर्द्धमात्रिक छन्द; अमृतध्वनि, कुंडलिया तथा छप्पय विषम छन्दों का तीन अथवा अधिक कवियों ने प्रयोग किया है। तोमर, निसानी, पावकुलक (पादाकुलक) तथा विअक्षरी आदि मात्रिक छन्दों को कम से कम दो कवियों ने अपनाया है।

अर्द्धनाराच (लघुनाराच), तोटक (त्रोटक), भुजंगप्रयात, भुजंगी, मोतीदाम (मोतियदाम), नाराच (वृद्धिनाराच), सवैया (विशेषकर मालती और दुर्मिल) वर्ण-सम, कवित्त-मुक्तक का कम से कम तीन कवियों ने तथा संखनारी (संखजारी) नगस्वरूपिनी का कम से कम दो कवियों ने उपयोग किया है।

यह कहना कि विशिष्ट विषय का वर्णन करने के लिए कुछ विशेष छन्दों का ही प्रयोग हुआ है, दुष्कर कार्य है। सच बात तो यह है कि इन छन्दों में प्रतिपादित विषयों का क्षेत्र अधिक विस्तीर्ण है। कुछ छन्द ऐसे अवश्य हैं जिनका प्रयोग कुछ विषयों एवं रसों के चित्रण के लिए ही किया गया है। उनका उल्लेख नीचे किया जा रहा है—

स्तुति, बन्दना आदि के लिए अधिकतर दोहा, सोरठा, छप्पय, अर्द्धनाराच, नाराच तथा कवित्त का प्रयोग किया गया है।

ऋतु-वर्णन, प्रकृति-चित्रण आदि के लिए पद्धरी, दोहा, छप्पय, अर्द्धनाराच, तोटक, भुजंगप्रयात, मोतीदाम, वचनिका; नगर, स्थल आदि की शोभा-वर्णन के लिए मोतीदाम, स्वागता, भुजंगी, सवैया, दंडमाली आदि छंद अधिक प्रयुक्त हुए हैं।

नख-शिख तथा रूप-वर्णन के लिए दौवै, दोहा, चौपाई, छप्पय, अर्द्धनाराच, गुणाबेलि अधिक अपनाए गए हैं। शृंगार, आभूषण आदि के लिए पद्धरी, दोहा, छप्पय तथा कवित्त अधिक प्रचलित रहे हैं।

हाथियों, घोड़ों आदि का वर्णन अधिकतर डिल्ला, त्रिभंगी तथा कवित्त में हुआ है।

युद्ध-सामग्री, युद्ध तथा वीर रस के लिए चौपाई, तोमर, रोला, सोरठा, पद्धरी, निसानी, त्रिभंगी, अमृतध्वनि, कुंडलिया, संजुता, तोटक, भुजंगप्रयात, भुजंगी, मोतीदाम, लछमीधर, सारंग, कंद, चामर, चंचला, नील, नाराच, गंगोदक, नूफा, गीतामालती, हीरक, गगनंगन, छप्पय, कवित्त तथा हनूफाल आदि अधिकतर प्रयुक्त हुए हैं और इन छन्दों में सुन्दर चित्रण किए गए हैं। रौद्र रस तथा आतंक का त्रिभंगी एवं छप्पय में अच्छा वर्णन हुआ है। वीभत्स का वर्णन करने के लिए त्रिभंगी, छप्पय, तोटक, भुजंगप्रयात, भुजंगी और कवित्त अधिक अपनाए गए हैं।

चौपही, चौपाई, सोरठा, दोहा, छप्पय, कवित्त और सवैया प्रायः सभी विषयों के लिए प्रयुक्त हुए हैं।

इनके अतिरिक्त जिन छन्दों का यहाँ पर उल्लेख नहीं किया गया है वे भी प्रयोग की दृष्टि से अपनी प्रमुख विशेषताएँ रखते हैं।

इस धारा में एक ही छन्द के विविध रूप प्रचलित थे। इस से स्पष्ट है कि एक ही छन्द को विभिन्न प्रकार से लिखने तथा मानने की प्रवृत्ति थी, जैसे चौपाही (चौपाई), कड़खा (कषड़ा) आदि। कुछ ऐसे भी छन्द मिलते हैं जिनके शास्त्रसम्मत सभी नामों का उल्लेख हुआ है।

कुछ प्रयोग ऐसे मिलते हैं जिनसे सिद्ध होता है कि छन्दों का नाम परिवर्तित करने की प्रवृत्ति इन कवियों में वर्तमान थी। इसके प्रमाण में जयकरी के लिए करी, मंजुमालिनी के लिए मालिनी, रूपघनाक्षरी के लिए रूपघना आदि नाम देखे जा सकते हैं। अर्थसाम्य का आश्रय लेकर नवीन नाम देने की प्रवृत्ति भी सूदन के कुछ छंदों में वर्तमान है, जैसे विद्युन्माला के लिए चपला, दिग-पाल के लिए दुरद, ईश के लिए हरि तथा हरी। इसके अतिरिक्त सूदन ने मनहंस के लिए कलहंस, पद्म के लिए मानक्रीड़ा, हंस के लिए हंद, बाला के लिए मोहठा का प्रयोग किया है। इससे स्पष्ट है कि छंदों की नवीन नामावली के सृजन में इन कवियों का मन अधिक रम रहा था।

ये कवि छन्दों के प्रचलित शास्त्रीय लक्षणों में भी परिवर्तन कर रहे थे। इनमें से कुछ तो दोषों के अन्तर्गत माने जा सकते हैं और कुछ अवश्य ही छन्दों के रूपों में नवीनता लाने के लिए और छन्द-शास्त्र को नवीन रूप देने के उद्देश्य से किए गए थे।

दो छन्दों के मेल से बने हुए छन्दों का भी प्रयोग प्रचलित था, जैसे अमृतध्वनि (१ दोहा + २ रोला), कुंडलिया (१ दोहा + २ रोला), छप्पय (रोला के चार पद + उल्लाला के दो

पद), दातार (संभवतः छप्पय का अन्य नाम है), अभिराम (छप्पय के समान) और हुलास (पादाकुलक + त्रिभंगी अथवा भुजंगप्रयात + दोहा)। सूदन ने एक ही छंद म कवित्त तथा घनाक्षरी का रूपक बाँधा है।

संस्कृत तथा हिन्दी के प्रचलित छंदों के अतिरिक्त प्राकृत के खंधा, घत्ता, घनानन्द, गाहा, करहंची तथा राजस्थानी के गुणाबेलि, कवित्त और कामुकी बाँताँण छंदों का भी प्रयोग मिलता है। इससे छन्द-संबंधी उदार नीति का आभास मिल जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि छन्द-प्रयोग की दृष्टि से इन कवियों का क्षेत्र अधिक व्यापक रहा है। राजस्थानी, प्राकृत, संस्कृत आदि के छन्दों को इन्होंने बड़ी उदारता से अपनाया है। साथ ही हिन्दी के आदिकाल से बहती हुई चारण-धारा, प्रेममार्गी भक्ति-धारा और रीतिकाल के छन्दों का इन कवियों ने स्वतंत्रतापूर्वक प्रयोग किया है। यहाँ तक कि वार्ता एवं वचनिका को भी स्थान दिया गया है। नवीन नामों का निर्माण एवं लक्षणों में परिवर्तन करके इन्होंने पिंगल-शास्त्र को प्रगति देने का सफल प्रयत्न किया है। इस धारा के कवियों में सूदन का सर्वोत्कृष्ट स्थान होते हुए भी यह कहना अनुचित न होगा कि सभी कवियों ने इस क्षेत्र में उदारता, दूर-दर्शिता एवं समन्वय-भावना का परिचय दिया है।

प्रकृति-चित्रण

हिन्दी साहित्य में प्रकृति का आलंबन रूप अपेक्षाकृत बहुत कम और उद्दीपन तथा अप्रस्तुत स्वरूप प्राचुर्य से मिलता है। गिनी-गिनाई वस्तुओं के नाम लेकर अर्थ-ग्रहण कराना मात्र हिन्दी कवियों का अधिकतर काम रहा है। उन्होंने सूक्ष्म रूप-विवरण और आधार-आधेय की संश्लिष्ट योजना के साथ बिंब-ग्रहण नहीं कराया है।

इसके साथ ही राज-सभाओं में प्रचलित समस्यापूर्ति की परिपाटी के परिणामस्वरूप कवि उपमा, उत्प्रेक्षा आदि की बेसिर-पैर की अद्भुत उक्तियों द्वारा वाहवाही लूटते रहे। जो कल्पना पहले भावों और रसों की सामग्री जुटाया करती थी कालान्तर में वह बाजीगर का खेल-वाड़ करने लगी।

केशव के पीछे रीतिकालीन परम्परा में एक प्रकार से प्रबन्ध काव्यों का बनना बन्द-सा हो गया था। आचार्य बनना प्रमुख समझा जाने लगा, कवि बनना नहीं। अलंकार और नायिका-भेद के लक्षण-ग्रन्थ लिखकर अपने रचे हुए उदाहरण देने में ही कवियों ने अपने कार्य की समाप्ति मान ली थी। ऐसे फुटकर पद्य-रचयिताओं की परिमित कृति में प्राकृतिक दृश्य ढूँढ़ना ही व्यर्थ है। शृङ्गार के उद्दीपन के रूप में षट-ऋतु का वर्णन अवश्य मिलता है, पर उसमें बाह्य प्रकृति के रूपों का प्रत्यक्षीकरण मुख्य नहीं होता, नायक-नायिका का प्रमोद या संताप ही मुख्य होता है। आख्यान काव्य में दृश्य-वर्णन को बहुत कम स्थान दिया गया है। यदि कुछ वर्णन परम्परापालन की दृष्टि से हैं भी तो वे अलंकारप्रधान हैं। उपमा, उत्प्रेक्षा आदि की भरमार इस बात की स्पष्ट सूचना दे रही है कि कवि का मन दृश्यों के प्रत्यक्षीकरण में नहीं लगा है। वह उचट-उचट कर दूसरी ओर जा रहा है। भक्ति-धारा के कवियों में

तुलसी तथा सूर ने जो प्रकृति-चित्रण किए वे भी परम्परा का अनुसरण मात्र समझे जाने चाहिए।[1]

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि हिन्दी में प्रकृति-चित्रण एक बँधी हुई परम्परा के अन्तर्गत चलता रहा है। वीरकाव्य-धारा उसी परिपाटी का अनुकरण करती रही है। परिणाम यह हुआ है कि प्रकृति प्रायः उपेक्षित रही है। उसका जो कुछ भी थोड़ा-बहुत रूप मिलता है वह एक रूढ़िवादी शैली का अनुकरण मात्र है। इन कवियों में केशव, भूषण, पद्माकर आदि आचार्य और रीति-काव्यकार भी थे। अतएव इनके प्रकृति-चित्रण अलंकार, चमत्कार आदि की प्रवृत्ति से आक्रांत हो गए हैं। इस धारा के कवियों ने प्रकृति-चित्रण के पौराणिक ढङ्ग को भी अपनाया है। उन्होंने उसे विचित्र-विचित्र कल्पनाओं से सजाया और सँवारा है। प्रकृति को उद्दीपन रूप से ही उन्होंने देखा है। प्रकृति के सहचर-रूप को प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति को इन कवियों ने बहुत कम स्थान दिया है। संस्कृत काव्य-परम्परा की आप्त शैली के प्रभाव से प्रकृति का उद्दीपन विभाव रूढ़िवादी होकर मध्ययुग की विभिन्न परम्पराओं में उद्दीपन की विभिन्न प्रवृत्तियों से युक्त फैला हुआ है। प्रकृति नितान्त अस्वाभाविक स्थिति तक पहुँची हुई है। इसके प्रभाव से वीरकाव्य-धारा भी अछूती नहीं रह सकी है। ऋतु-वर्णन अपने दोनों रूपों—उत्तापक और उत्तेजक—से युक्त है। ऋतु-चित्रण के अवसर पर विलास एवं ऐश्वर्य-सम्बधी क्रिया-कलाप की योजना की गई है, जिसका प्रकृति से कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता, उदाहरणार्थ, 'हम्मीर रासो' का प्रकृति-चित्रण देखा जा सकता है। साथ ही आरोप के क्षेत्र में स्थूलता तथा वैचित्र्य की ओर अधिक प्रवृत्ति पाई जाती है।

इस क्षेत्र के मुक्तक ग्रन्थों में परिमित सीमा के कारण प्रकृति को अधिक प्रधानता नहीं मिल सकी है। साथ ही प्रबन्ध काव्यों में राजदरबारों के प्रभाव के परिणामस्वरूप प्रकृति-चित्रण को अधिक महत्वपूर्ण स्थान नहीं प्राप्त हो सका है। दोनों ही प्रकार के ग्रन्थों में ऐश्वर्य-विलास, युद्ध-वर्णन, नायक-प्रशंसा, शौर्य-चित्रण, युद्ध-सामग्री, वीरों एवं वस्तुओं की लम्बी सूचियों के कारण भी प्रकृति उपेक्षित रही है। अपभ्रंश-कवियों की धार्मिक और सामन्ती कवियों की शृङ्गारिक भावना के प्रभाव के कारण भी प्रकृति-चित्रण के प्रति ये कवि उदासीन रहे हैं।

अभिप्राय यह है कि आलोच्य धारा में प्रकृति का जो कुछ वर्णन मिलता है, वह एक परम्परा का अनुकरण मात्र है। पर कुछ कवियों ने प्रकृति-चित्रण में अपनी प्रतिभा का यथेष्ट परिचय दिया है। विशेष रूप से सूर्योदय, नदी, ऋतु, नगर तथा वाटिका के चित्रण करने की ओर इन कवियों का ध्यान गया है। केशव ने कहीं पर भी ऋतु सम्बन्धी प्राकृतिक रमणीयता का काव्योचित वर्णन नहीं किया है। वे अप्रस्तुतों की कौतूहलपूर्ण योजना में लगे रहे हैं। विविध अलंकारों, उद्दीपन, नीति आदि की दृष्टि से किए गए भागवत और मानस के समान इनके प्रकृति-चित्रण मिलते हैं। केशव परम्परा के पूरे अनुयायी एवं वाण आदि संस्कृत कवियों से पूर्णरूपेण प्रभावित थे। 'वीरसिंहदेव-चरित' एवं 'रामचन्द्रिका' में अधिकांश प्राकृतिक चित्रणों

---

१. चिन्तामणि, भाग २, पृष्ठ १-४९, हिन्दी काव्य में प्रकृति, पृष्ठ २०-४४, हिस्ट्री ऑव् संस्कृत लिटरेचर, भाग १, भूमिका, पृष्ठ १२६-१२९।

का पारस्परिक साम्य इस बात की पुष्टि करता है कि कवि एक ही परम्परा एवं भावना के वशीभूत था। भूषण ने बहुत कम प्रकृति-वर्णन किया है। इन्होंने केवल परिपाटी-प्रसूत चित्र ही उपस्थित किए हैं। मान कवि ने प्रकृति के कोमल एवं मधुर रूप का वर्णन करने में जितनी कुशलता प्रदर्शित की है, उतनी ही दक्षता उसके उग्र एवं रुक्ष स्वरूप के चित्रण में दिखलाई है। इस प्रकार इन्होंने प्रकृति के विविध रूपों को देखने का प्रयत्न किया है। इनमें संश्लिष्ट योजना की योग्यता थी जिसका इन्होंने यथावसर परिचय भी दिया है। केशव और भूषण ने जिस अलंकृत पद्धति का अनुसरण किया है, उसमें अलंकारों के दुर्वह भार से दब कर प्रकृति का रूप विकृत हो गया है। मान ने इसके विपरीत अपनी सीधी-सादी, सरल शैली द्वारा प्रकृति-चित्रण किया है और ऊहात्मक काल्पनिक उड़ान का प्रायः कम आश्रय लिया है। बहुत सी कमियाँ होते हुए भी मान का इस दृष्टि से एक प्रमुख स्थान है। सूदन ने प्रकृति को अपने काव्य में बहुत कम स्थान दिया है। परम्परागत अप्रस्तुत-योजना तथा नख-शिख-वर्णन में प्रचलित उपमानों को ही 'सुजान-चरित्र' में अपनाया गया है। इनके सभी प्रकृति-वर्णन परम्परागत, स्वाभाविक और रस-विकास में सहायक हैं। जोधराज का प्रकृति-चित्रण 'पृथ्वीराज रासो' से प्रभावित है। इस वर्णन में उद्दीपन-भावना प्रधान है।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन से विदित होता है कि इन कवियों में प्रकृति-चित्रण सम्बन्धी मौलिकता तथा स्वाभाविकता का एकदम अभाव-सा था, पर परम्परा, राजनीतिक उथल-पुथल तथा अन्य परिस्थितियों ने उन्हें ऐसा विवश बना दिया था कि प्रकृति की ओर देखने का उन्हें अवसर ही न मिल सका। इन्हीं कारणों से इस धारा में प्रकृति का यह रूप मिलता है।

शैली और भाषा

आलोच्य धारा में विविध प्रकार की काव्य-शैलियाँ अपनाई गई हैं। एक ही कवि अथवा एक ही ग्रन्थ में विभिन्न पद्धतियों के दर्शन हो जाते हैं।

साधारणतः महाकाव्य, खण्डकाव्य और मुक्तक तीनों प्रकार के ग्रन्थ रचे गए हैं। अधिकांश कवियों ने वर्णनात्मक शैली को अपनाया है, अतः वे स्थल नीरस हो गए हैं। परन्तु संवादों का समावेश करके सरसता प्रदान करने का भी प्रयत्न किया गया है। उदाहरण के लिए 'वीरसिंहदेव-चरित' देखा जा सकता है। केशव ने वर्णनात्मक शैली में संवादों का भी प्रयोग किया है। कुछ वार्तालाप व्यर्थ के तर्क और उपदेश से परिपूर्ण हैं। जहाँ पर कवि ने उपदेशात्मकता का बहिष्कार किया है, वहाँ पर नाटकीय त्वरा का समावेश हो जाने से 'वीरसिंहदेव-चरित' सरस हो गया है।

कुछ कवियों ने शीघ्रातिशीघ्र छन्द-परिवर्तन करके ग्रन्थों को रोचक बनाने की चेष्टा की है। ऐसा करने से कथावस्तु-चित्रण की रक्षा भी कर ली गई है। 'सुजान-चरित्र' तथा 'जंगनामा' इस शैली में रचित प्रमुख ग्रन्थ हैं। जिन कवियों ने ऐतिहासिक घटनावली को सर्वोपरि प्रधानता दी है, उनकी रचनाओं में इतिवृत्तात्मकता और गद्यवत्ता का स्थल-स्थल पर समावेश हो गया है। उदाहरण के लिए 'वीरसिंहदेव-चरित' तथा 'छत्रप्रकाश' का उल्लेख किया जा सकता है।

कतिपय कवियों ने संयुक्ताक्षर एवं नादात्मक शैली का प्रचुर प्रयोग किया है। इसके

लिए 'राजविलास', 'जंगनामा', 'सुजान-चरित्र', 'हिम्मतबहादुर-विरुदावली' विशेष उल्लेखनीय हैं। कहने की आवश्यकता नहीं है कि उक्त रचनाओं में ऐसे अंश नीरस और अरुचिकर हो गए हैं। साथ ही लम्बी-लम्बी सूचियों और नामावलियों की आवृति स्वतन्त्रतापूर्वक की गई है। 'राजविलास', 'छत्रप्रकाश', 'जंगनामा', 'सुजान-चरित्र', 'हिम्मतबहादुर-विरुदावली' में विविध वस्तुओं और व्यक्तियों के नामों की भरमार है। ऐसे स्थल शुष्क हो गए हैं। कुछ ऐसे स्थल भी इन ग्रन्थों में हैं जिनमें आश्रयदाताओं की अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा की गई है। ऐसी रचनाओं में अस्वाभाविकता का अधिक सम्मिश्रण हो गया है। 'राजविलास' और 'हिम्मतबहादुर-विरुदावली' में ऐसे अंश अधिक मिलते हैं।

सिद्ध-धारा के अपभ्रंश साहित्य में होकर आने वाली प्रेममार्गी कवियों की दोहे और चौपाई की पद्धति में गोरेलाल ने 'छत्रप्रकाश' की रचना की है। इन्होंने ब्रजभाषा में उक्त छन्दों का सफलतापूर्वक प्रयोग किया है। इनमें वर्णन की विशदता और प्रसाद गुण की प्रधानता है। सरल और स्वाभाविक शैली द्वारा भावों का समुचित उत्कर्ष दिखलाने में गोरेलाल पूर्णरूप से सफल हुए हैं। इन्हें चौपाइयों की अपेक्षा दोहों में अधिक सफलता मिली है। जोधराज ने 'पृथ्वी-राज रासो' तथा 'रामचरितमानस' की शैली से पूरा-पूरा लाभ उठाया है। इस धारा के कुछ कवियों ने प्रलोभन के वशीभूत होकर साधारण व्यक्तियों को अपने काव्यों का नायक बनाया है। उदाहरणार्थ पद्माकर द्वारा 'हिम्मतबहादुर-विरुदावली' का नायक हिम्मतबहादुर चुना गया है। अतएव इस कृति में न तो रस का समुचित परिपाक हो सका है और न शैली ही प्रभावोत्पादक बन सकी है।

इस धारा के समस्त कवियों ने ब्रजभाषा में ही काव्य-रचना की है। जो कवि जिस स्थान का निवासी था वहाँ के स्थानीय प्रयोगों को उसने स्वतन्त्रतापूर्वक अपनाया है। उदाहरण के लिए केशव, गोरेलाल आदि की भाषा पर बुन्देलखंडी की स्पष्ट छाप है। 'राजविलास' की भाषा में राजस्थानी शब्दों की भरमार है। इसी प्रकार 'गोरा-बादल की कथा' की भाषा कतिपय स्थलों पर राजस्थानी के भार से इतनी दब गई है कि उसके वास्तविक स्वरूप को जानना कठिन हो गया है। सूदन की भाषा साहित्यिक ब्रजभाषा है, पर उसमें अन्य भाषाओं का पुट भी यत्र-तत्र मिलता है। इनके अधिकांश कवित्तों और सवैयों में ब्रजभाषा का सौन्दर्य स्वभावतः निखर आया है, परन्तु भुजंगप्रयात, भुजंगी, कड़खा आदि छन्दों में जहाँ शब्द-नाद की उद्भावना की गई है, वहाँ डिङ्गल और मारवाड़ी के रूप प्रविष्ट हो गए हैं और भाषा की स्वाभाविक मृदुता नष्ट हो गई है।

अधिकांश कवियों ने फारसी, अरबी, तुर्की आदि के शब्दों का उदारतापूर्वक प्रयोग किया है। इन भाषाओं के तत्सम और तद्भव दोनों प्रकार के शब्द प्रयुक्त हुए हैं। इसके अतिरिक्त बोलचाल के स्थानीय शब्दों को भी अपनाया गया है। 'सुजान-चरित्र' में नगीच, लोग बाग, तिस, कुछ ऐसे भी प्रयोग मिलते हैं।

मुहावरों और लोकोक्तियों के प्रचुर प्रयोग लगभग सभी ग्रन्थों में मिलते हैं, पर 'वीर-सिंहदेव-चरित', 'भूषण-ग्रन्थावली' तथा 'सुजान-चरित्र' में इन प्रयोगों की अधिकता है। जहाँ पर संयुक्ताक्षर, नादात्मक तथा प्रशंसात्मक पद्धति अपनाई गई है वहाँ पर भाषा अस्वाभाविक और शब्दों की तड़क-भड़क से ओत-प्रोत है।

कुछ कवियों ने 'सु', 'जु' जैसे निरर्थक शब्दों का प्रयोग करके उसे कृत्रिम बना दिया है। इस दृष्टि से सूदन का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इन्होंने उक्त शब्दों के प्रति इतना मोह दिखलाया है कि नामों के दो खण्ड करके उनके बीच में 'सु' अथवा 'जु' का प्रयोग कर दिया है, यथा—

'फरुक जु सेर', 'मीरा जु साहि', 'सु पाइक'

ऐसे प्रयोगों से इस कृति में शैथिल्य-दोष का समावेश हो गया है और कहीं-कहीं पर तो अर्थ का अनर्थ हो गया है।

भाषा की दृष्टि से भूषण इस काव्य-धारा में एक विशेष स्थान रखते हैं। इन्होंने विदेशी शब्दों का अधिक प्रयोग मुसलमानों के प्रसङ्ग में ही किया है। दरबार के प्रसङ्ग में इनकी भाषा का खड़ा रूप देखने को मिलता है। इन्होंने विदेशी शब्दों से क्रियापद अवश्य बनाए हैं, पर उनके प्रयोग प्रायः परम्परागत हैं। भूषण ने विदेशी शब्दों में भाषा के प्रत्यय लगाए हैं, पर संस्कृत के प्रत्यय बहुत कम दिखलाई देते हैं। मुगलेटे, पठनेटे जैसे शब्द भी उन्होंने बनाए हैं। संस्कृत प्रत्यय लगाकर 'अनचैत' जैसे शब्द भी लिखे हैं। कहीं-कहीं देशी-विदेशी शब्दों में विदेशी प्रत्यय देखे जाते हैं, जैसे दलदार, बेदिल, गैरमिसिल आदि। अरबी-फारसी के शब्द कदाचित मराठी से होते हुए भूषण की कविता में आए हैं।

बहुत से कवियों ने अप्रचलित शब्दों का प्रयोग किया है, साथ ही विदेशी शब्दों का रूप भी विकृत कर दिया है। भूषण की रचना में यह प्रवृत्ति अधिक दृष्टिगोचर होती है, यथा—

तकिया (आश्रय), तनाय (तनाव=डोर), सरजा (शरजः=सिंह), आदि।

शैली और भाषा-सम्बन्धी उपर्युक्त विवेचन से यह परिणाम निकलता है कि इन कवियों ने भाषा-प्रयोग में अधिक उदार नीति अपनाई है। इस धारा पर तत्कालीन प्रचलित सभी साहित्यिक शैलियों का प्रभाव है। दरबारी परम्परा के अनुयायी कवियों की शैली और भाषा बँधी-बँधाई परिपाटी का अनुकरण करती रही है। चमत्कारवादी और पाण्डित्य-प्रदर्शनकारी कवियों की रचनाओं में संकीर्णता, कृत्रिमता और नीरसता वर्तमान है। कुछ ऐसे असाधारण प्रतिभा-सम्पन्न कवि भी थे जो प्रलोभनों और संकीर्णताओं से ऊँचे उठने में समर्थ हो सके। उनकी रचनाओं में शैली और भाषा का अधिक निखरा हुआ, सरस और परिमार्जित रूप दृष्टिगोचर होता है। भूषण, गोरेलाल तथा सूदन इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं।

कवि तथा ग्रंथ-परिचय

प्रस्तुत धारा की साहित्यिक प्रवृत्तियों के अध्ययन के उपरान्त प्रमुख कवियों का विवरण जान लेना आवश्यक है जिससे ऐतिहासिक विकास सरलता से ज्ञात हो सके। नीचे काल-क्रम से उनका उल्लेख किया जा रहा है—

भट्ट केदार (११६८ ई०=सं० १२२५ वि०)—कहा जाता है कि ये कन्नौज के महाराज जयचन्द के आश्रित थे। इनका रचा हुआ ग्रन्थ 'जयचन्द-प्रकाश' बतलाया जाता है। इन्होंने इसमें जयचन्द की वीरगाथा का गान किया है। यह कृति अभी तक अप्राप्य है। इसका केवल निर्देशमात्र 'राठौड़ाँ री ख्यात' नामक ग्रन्थ में मिलता है जिसका लेखक सिंघायच दयालदास नामक चारण था।

जगनिक (११७३ ई० = सं० १२३० वि०)—कहा जाता है कि कालिञ्जर तथा महोबे के राजा परमाल के यहाँ जगनिक नामक एक प्रसिद्ध भाट थे, जिन्होंने महोबे के दो वीरों—आल्हा और ऊदल (उदयसिंह)—के वीर चरित्र का विस्तृत वर्णन किया था। यह काव्य इतना सर्वप्रिय हुआ कि उसके वीर-गीतों का प्रचार समस्त उत्तरी भारत में हो गया था। जगनिक के काव्य का आज कहीं भी पता नहीं है पर उसके आधार पर प्रचलित गीत हिन्दी भाषा-भाषी प्रान्तों में ग्राम-ग्राम में सुनाई पड़ते हैं। ये गीत 'आल्हा' के नाम से प्रसिद्ध हैं और वर्षा-ऋतु में गाए जाते हैं। इसका साहित्यिक महत्व इतना नहीं है जितना जनसाधारण की रुचि के अनुसार वर्णन का महत्व है। मौखिक होने के कारण उसका पाठ अत्यन्त विकृत हो गया है। भावों के विकास के साथ उसकी भाषा में भी परिवर्तन हो गया है। फर्रुखाबाद में १८६५ ई० (सं० १९२२ वि०) में वहाँ के तत्कालीन कलक्टर सर चार्ल्स इलियट ने अनेक भाटों की सहायता से इसे लिखवाया था। 'आल्हखण्ड' 'रासो' के महोबा खण्ड की कथा से साम्य रखते हुए भी एक स्वतन्त्र रचना है। मौखिक परम्परा के कारण उसमें बहुत से परिवर्तनों और दोषों का समावेश हो गया है पर इस रचना में वीरत्व की मनोरम गाथा है, जिसमें उत्साह और गौरव की मर्यादा सुन्दर रूप से निभाई गई है। यह जन-समूह की निधि है और उसी दृष्टि से इसके महत्व का मूल्यांकन होना चाहिए।

मधुकर कवि (११८३ ई० = सं० १२४० वि०)—मधुकर कवि की रचना 'जयमयंक-जसचन्द्रिका' बतलाई जाती है जिसमें जयचन्द की कीर्ति वर्णित है। यह कृति अभी तक अप्राप्य है। इसका भी उल्लेख 'राठौड़ाँ री ख्यात' में मिलता है।

शार्ङ्गधर (१३६३ ई० = सं० १४२० वि० के लगभग)—ये तीन भाई थे। इनके पिता का नाम दामोदर और पितामह का राघव था। परम्परा से प्रसिद्ध है कि शार्ङ्गधर ने 'हम्मीररासो' के अतिरिक्त 'हम्मीरकाव्य' नामक ग्रन्थ की रचना लोकभाषा में की थी। इन रचनाओं का अभी तक पता नहीं लग सका है। इन ग्रन्थों के कुछ पद्य 'प्राकृतपैङ्गल' आदि संग्रहों में उद्धृत मिलते हैं।

श्रीधर (१४०० ई० = सं० १४५७ वि०)—ये ईडर के राठौड़ राजा रणमल के समकालीन थे। इन्होंने 'रणमल-छन्द' काव्य की रचना की है। इसमें कुल ७० छन्द हैं। इसमें पाटण के सूबेदार जफरखाँ और रणमल के युद्ध का वर्णन है। रणमल ने वीरतापूर्वक युद्ध करके अपने प्रतिद्वन्द्वी को पराजित कर दिया था। यह घटना १३९७ ई० (सं० १४५४ वि०) की है। इसमें वीर रस का उत्कृष्ट रूप देखने को मिलता है। भाषा-शैली आलंकारिक और ओजपूर्ण है।

नरहरि (१५०५-१६१० ई० = सं० १५६२-१६६७ वि०)—नरहरि का जन्म रायबरेली जिले की डलमऊ तहसील के पखरौली नामक ग्राम में हुआ था। 'शिवसिंह-सरोज' में इनका जन्म-स्थान असनी माना गया है। हिन्दी के अन्य कई विद्वान भी ऐसा मानते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि नरहरि का जन्म-स्थान तो पखरौली था, जहाँ उनका बाल्यकाल भी व्यतीत हुआ पर कालान्तर में वे असनी में रहने लगे थे। नरहरि ब्रह्मभट्ट जाति के थे। इनका गोत्र 'काश्यप' था। इनकी शिक्षा-दीक्षा के सम्बन्ध में कुछ पता नहीं है। नरहरि कई विशिष्ट व्यक्तियों के सम्पर्क में आए थे। वे बाबर के द्वारा सम्मानित किए गए थे। हुमायूँ, शेरशाह, सलीमशाह (इस्लामशाह), रीवाँ-नरेश वीरभानु के पुत्र महाराज रामचन्द्र, जगन्नाथपुरी के राजा मुकुन्द

गजपति, अकबर (१५५६-१६०५ ई०=सं० १६१३-१६६२ वि०), आदि के ये आश्रित रहे थे। अकबर ने इन्हें 'महापात्र' की उपाधि से विभूषित किया था।

नरहरि ने विविध विषयक कई ग्रन्थ निर्मित किए हैं। इनके अधिकांश छन्द नीति, भक्ति, रूप-सौन्दर्य, विरह-वर्णन आदि से सम्बन्धित हैं। इसके अतिरिक्त नरहरि ने अपने समस्त आश्रयदाताओं की प्रशंसा, दानशीलता, युद्ध, आतंक, वैभव आदि का प्रभावोत्पादक वर्णन किया है। जगन्नाथपुरी के राजा मुकुन्द गजपति का तुलादान, चित्तौड़गढ़-विजय, नरहरि और अकबर की ख्वाजा मुईउद्दीन चिश्ती से पुत्र-फल के लिए प्रार्थना, आदि ऐतिहासिक तथ्यों के वर्णन भी इनकी रचनाओं में मिलते हैं। इस प्रकार नरहरि महापात्र वीरकाव्य-रचयिताओं में एक प्रमुख स्थान रखते हैं।

तानसेन (१५३१-२६ अप्रैल, १५८९ ई०=सं० १५८८-१६४६ वि०)—तानसेन अकबरी दरबार के सर्वश्रेष्ठ संगीतज्ञ और उच्चकोटि के कवि थे। इनका जन्म-स्थान अनिश्चित है। इनकी कब्र ग्वालियर में अब भी वर्तमान है। सम्भव है, इनका यही जन्म-स्थान रहा हो और वहीं पर बाल्यावस्था में अपने गुरु गौस मुहम्मद से उनका परिचय हुआ हो। इनके पिता का नाम मकरन्द पाण्डे बतलाया जाता है। ये ब्राह्मण-वंश में उत्पन्न हुए थे, परंतु कालान्तर में इन्होंने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया था। कहा जाता है कि ये गोस्वामी विट्ठलनाथ, सूरदास तथा गोविन्द-स्वामी के प्रभाव से पुनः वैष्णव बन गए थे।

स्वामी हरिदास और गौस मुहम्मद इनके संगीत-गुरु थे। आरम्भ में तानसेन शेरशाह सूर के पुत्र दौलतखाँ के संरक्षण में रहे। इसके पश्चात ये रीवाँ-नरेश रामचन्द्र के दरबार में रहे। तदुपरान्त अकबर के नवरत्नों में सम्मिलित हुए और अन्तिम समय तक वहीं रहे। इनकी मृत्यु २६ अप्रैल १५८९ ई० (सं० १६४६ वि०) को हुई।

तानसेन ने नवीन राग-रागिनियों का आविष्कार किया। इन्होंने रीवाँ-नरेश रामचन्द्र तथा अकबर के दान, यश, सेना, वीरता, आतंक, गुण-ग्राहकता आदि का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। इनके अतिरिक्त राजा मानसिंह, राजा आसकरण के दान आदि के वर्णन भी मिलते हैं। संगीत-सम्बन्धी ग्रन्थों के अतिरिक्त उक्त विषयक उनके स्फुट पद हिन्दी के संग्रह-ग्रन्थों में मिलते हैं। इनके कुछ पद भक्ति से भी सम्बन्धित हैं। तानसेन के पदों में दान और युद्ध सम्बन्धी वर्णन ही अधिक हुए हैं।

केशव (१५५५-१६२३ ई०=सं० १६१२-१७८० वि०)—आचार्य केशव सनाढ्य जाति में उत्पन्न मिश्र उपनामधारी पण्डित राजकृष्ण दत्त के पुत्र पण्डित काशीनाथ के घर उत्पन्न हुए थे। इनके ज्येष्ठ भ्राता बलभद्र और कनिष्ठ भाई कल्याणदास थे।

केशव का जन्म १५५५ ई० (सं० १६१२ वि०) में टेहरी (बुन्देलखण्ड) में और मृत्यु १६१७ ई० (सं० १६७४ वि०) में हुई थी। लाला भगवानदीन के अनुसार इनका जन्म १५६१ ई० (सं० १६१८ वि०) में और देहान्त १६२३ ई० (सं० १६८० वि०) में हुआ। ये ओड़छाधीश के राजकवि, मन्त्रगुरु एवं मन्त्री थे। महाराजा रामसिंह के लघु भ्राता इन्द्रजीतसिंह ने इनको सम्मानित करके २१ ग्राम प्रदान किए थे। इन्होंने अपने नीति-चातुर्य से इन्द्रजीतसिंह पर अकबर द्वारा किया हुआ एक करोड़ रुपये का दण्ड क्षमा करा दिया था। केशव ने कई ग्रन्थों का प्रणयन किया है।

(१) रामचंद्रिका (१६०१ ई० = सं० १६५८ वि०) में रामचन्द्र जी का चरित-वर्णन है। (२) रसिकप्रिया (१५९१ ई० = सं० १६४८ वि०) में रसों के और (३) कविप्रिया (१६०१ ई० = सं० १६५८ वि०) में आश्रयदाता के वर्णन के उपरान्त काव्यांगों का विधिपूर्वक वर्णन किया गया है। (४) विज्ञानगीता (१६१० ई० = सं० १६६७ वि०) में दार्शनिक विचारों का विवेचन है। वीरकाव्य की दृष्टि से केशव के निम्नलिखित ग्रन्थों का विशेष महत्व है—

(५) रत्नबावनी—इसमें इन्द्रजीतसिंह के ज्येष्ठ भ्राता रत्नसिंह की वीरता का ५२ छन्दों में वर्णन किया गया है। यह मुक्तक रचना है। इसमें वीररस का सुन्दर परिपाक हुआ है। (६) वीरसिंहदेव-चरित (१६०८ ई० = सं० १६६५ वि०)—यह १४ प्रकाशों में विभक्त है। लोभ और दान के संवाद द्वारा ग्रन्थ का आरम्भ हुआ है। बुन्देल-वंशोत्पत्ति, वीरसिंहदेव की प्रारम्भिक विजय, मुराद की मृत्यु, सलीम का मेवाड़ से लौटकर विद्रोह, वीरसिंह और सलीम की भेंट, अबुलफजल की हत्या, वीरसिंहदेव और अकबर में युद्ध, मरीयम मकानी की मृत्यु, अकबर का मरण और जहाँगीर का राज्याभिषेक, जहाँगीर द्वारा वीरसिंहदेव का सम्मान, खुसरो का विद्रोह, अबदुल्लाह खाँ का ओड़छा पर आक्रमण और वीरसिंहदेव का बुन्देलखण्ड में पुनः लौटना आदि घटनाओं का वर्णन है। इतिहास की दृष्टि से यह एक महत्वपूर्ण कृति है। (७) जहाँगीर-जसचन्द्रिका (१६१२ ई० = सं० १६६९)—इसमें जहाँगीर का यश-वर्णन है।

'रत्नबावनी', 'वीरसिंहदेव-चरित' और 'जहाँगीर-जसचन्द्रिका' के अतिरिक्त 'कविप्रिया' का इन्द्रजीतसिंह-विषयक विवरण भी वीरकाव्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

गंग कवि (१५७८-१६१७ ई० = सं० १६३५-१६७४ वि०) गंग कवि का जन्म इकनौर जिला इटावा में हुआ था। इनकी जन्म-तिथि १५७८ ई० (सं० १६३५ वि०) है। ये ब्रह्म-भट्ट जाति के थे और अकबर के विशेष कृपापात्र थे। रहीम, बीरबल, मानसिंह, टोडरमल आदि सम्मानित व्यक्तियों द्वारा इन्हें यथेष्ठ सम्मान मिला था। जहाँगीर के शासनकाल में राजकीय विरोध के कारण इन्हें बुरे दिन देखने पड़े। इनकी मृत्यु सम्भवतः जहाँगीर की आज्ञा से हाथी से कुचलवाकर हुई थी। यह घटना लगभग १६१७ ई० (सं० १६७४ वि०) की है।

गंग कृष्णोपासक कवि थे। इन्होंने कई ग्रन्थों की रचना की थी। अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा में भी कई छन्द लिखे हैं। वीर रस के साथ ही इन्होंने भयानक और रौद्र रसों का भी सुन्दर चित्रण किया है। गङ्ग की रचनाओं में वीरकाव्य का संयत रूप दिखलाई देता है। वीर भाव की ओर कवि की लेखनी उसी द्रुतगति से बढ़ी है जिस गति से अन्य भावों की ओर। ओज और दर्प भाव का इनकी कविता मे अच्छा सम्मिश्रण हुआ है। रहीम, महाराणा प्रताप की युद्धवीरता और बीरबल की दानवीरता का चित्रण करने में इन्हें अधिक सफलता मिली है।

जटमल (१६२३ ई० अथवा १६२८ ई० = सं० १६८० अथवा १६८५ वि०)—मोरछड़ो के शासक पठान सरदार नासिरनन्द अलीखाँ न्याजीखाँ के समय में धर्मसी के पुत्र नाहरखाँ जटमल ने सिबुला ग्राम के बीच 'गोरा-बादल की कथा' की रचना की थी।[1] सम्भवतः नाहरखाँ जटमल की उपाधि थी। यह भी सम्भव है कि वे मुसलमान हो गए हों। ओझाजी के अनुसार ओसवाल

---

१. गोरा-बादल की कथा, छंद १५०।

महाजनों की जाति में नाहर एक गोत्र है, अतएव यदि जटमल जाति के ओसवाल महाजन हों तो आश्चर्य नहीं।[1] कुछ विद्वानों के अनुसार नाहर जटमल की उपाधि और जाट उनकी जाति थी। संवला (सुबुला, सांवेला) गाँव कहाँ था, इसका पता अभी तक नहीं लगा है।

जटमल की कृति की हस्तलिखित प्रतियों में विविध नाम मिलते हैं, यथा—'गोरा-बादल की कथा', 'गोरा-बादल री कथा', 'गोरा-बादल की बात'। जटमल ने इसकी रचना १६२३ ई० (सं० १६८० वि०) अथवा १६२८ ई० (सं० १६८५ वि०) में की थी। इसमें राणा रत्नसेन और अलाउद्दीन के युद्ध का वर्णन है। मंगलाचरण के पश्चात राणा रत्नसेन के वंश का परिचय, पद्मावती की प्राप्ति, चित्तौड़ पर चढ़ाई, गोरा-बादल की वीरता तथा विजय आदि का वर्णन किया गया है। कथा अलग-अलग शीर्षकों में विभक्त है। इसमें पद्य-संख्या १५० है।

डूंगरसी (१६५३ ई० = सं० १७१० वि०)—ये बूंदी-निवासी, जाति के राव थे तथा बूंदी के रावराजा शत्रुसाल हाड़ा के आश्रित थे, जिन्होंने इनको नैणवा नामक एक गाँव जागीर में दिया था। इन्होंने 'शत्रुसाल रासो' की रचना की थी। यह लगभग ११८ पृष्ठों का एक बड़ा ग्रन्थ है। इसमें कवि ने अपने आश्रयदाता के जीवन-चरित्र के संबंध में हाड़ा के दौलताबाद तथा बीदर के दक्षिण-युद्धों, औरङ्गजेब के उत्तराधिकार-युद्ध में धौलपुर के निकट दारा की ओर से लड़ने और मृत्यु होने की घटनाओं का वर्णन किया है। इसमें ५०० से अधिक छन्द हैं। वीर रस की प्रधानता है, पर शृङ्गार आदि भी प्रसङ्गवश आ गए हैं।

मतिराम (१६१७-१७१६ ई० = सं० १६७४-१७७३ वि०)—ये चिन्तामणि तथा भूषण के भाई थे और तिकवाँपुर (जिला कानपुर) में १६१७ ई० (सं० १६७४ वि०) में उत्पन्न हुए थे। इनका स्वर्गवास अनुमानतः १७१६ ई० (सं० १७७३ वि०) में हुआ था। ग्रियर्सन के विचार से इनका समय १६५० से १६८२ ई० (सं० १७०७ से १७३९ वि०) तक रहा था। शिवसिंह सेंगर ने १६८१ ई० (सं० १७३८ वि०) में इनका वर्तमान होना माना है। मतिराम राजा उदोतसिंह कुमाऊँनरेश, भाऊसिंह हाड़ा बूंदीपति तथा शम्भुनाथ सोलंकी आदि के यहाँ बहुत समय तक रहे थे।

मतिराम ने कई ग्रंथों का निर्माण किया है। आलोच्य धारा के लिए इनका 'ललित ललाम' ही विशेष उल्लेखनीय है। यह अलंकार-शास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थ है। इसकी रचना अनुमानतः १६६१ और १६६२ ई० (सं० १७१८ और १७१९ वि०) के बीच बूंदी के राव भावसिंह जी के लिए हुई थी। मतिराम ने अपने उक्त आश्रयदाता और उसके परिवार के व्यक्तियों के सम्बन्ध में जिन पदों को लिखा है वे ही इस अध्ययन के लिए विशेष महत्वपूर्ण हैं।

कुलपति मिश्र (१६६७-१६८९ ई० = सं० १७२४-१७४६ वि०)—ये आगरा-निवासी माथुर चौबे तथा जयपुर के महाराजा रामसिंह (प्रथम) के आश्रित थे। ये तैलङ्ग भट्ट पण्डित-राज जगन्नाथ के शिष्य थे, जिनसे इन्होंने संस्कृत और भाषा का ज्ञान प्राप्त किया था। इनका रचना-काल १६६७-१६८९ ई० (सं० १७२४-१७४६ वि०) है। इनके वंशज जयपुर और अलवर में पाए जाते हैं।

---

१. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग १३, पृष्ठ ४०२।

इनके रचित ५० ग्रन्थ बतलाए जाते हैं, पर अभी तक केवल १० ही मिले हैं। आलोच्य धारा के अन्तर्गत ये ग्रन्थ आते हैं—

(१) रस-रहस्य (१६७० ई०=सं० १७२७ वि०)—में रचा गया था। कुछ विद्वान इसे १६६७ ई० (सं० १७२४ वि०) का मानते हैं। यह एक रीति-ग्रन्थ है। इसमें ८ अध्याय हैं, जिनमें काव्य के विभिन्न अंगों का अत्यन्त मौलिक एवं शास्त्रीय विधि से विवेचन किया गया है। ग्रन्थारम्भ में आश्रयदाता की प्रशंसा की गई है।

(२) संग्राम-सार (१६७६ ई०=सं० १७३३ वि०)—यह महाभारत के द्रोण-पर्व का पद्यानुवाद है। महाराजा रामसिंह की आज्ञा से १६७६ ई० (सं० १७३३ वि०) में इसकी रचना हुई थी। इसमें वीर रस का अच्छा परिपाक हुआ है।

भूषण (१६७३ ई०=सं० १७२० वि०)—भूषण ने 'शिवराज-भूषण' में अपने वंश का परिचय देते हुए लिखा है कि वे कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनका गोत्र कश्यप था। भूषण के पिता का नाम रत्नाकर त्रिपाठी था। वे यमुना के किनारे त्रिविक्रमपुर (तिकवाँपुर) में रहते थे जहाँ बीरबल का जन्म हुआ था और जहाँ विश्वेश्वर के तुल्य देव-बिहारीश्वर महादेव हैं। चित्रकूट-पति हृदयराम के पुत्र रुद्र सोलंकी ने उन्हें 'भूषण' उपाधि से विभूषित किया था।[1] तिकवाँपुर कानपुर जिले की घाटमपुर तहसील में यमुना के बाँएँ किनारे पर है।

कहा जाता है कि वे चार भाई थे—चिन्तामणि, भूषण, मतिराम और नीलकण्ठ (उपनाम जटाशंकर)। भूषण के भ्रातृत्व के सम्बन्ध में विद्वानों में बहुत मतभेद है। कुछ विद्वानों ने उनके वास्तविक नाम पतिराम अथवा मनिराम की कल्पना भी की है, पर यह कोरा अनुमान ही प्रतीत होता है।

भूषण के प्रमुख आश्रयदाता महाराजा शिवाजी और छत्रसाल बुन्देला थे। उनके नाम से कतिपय ऐसे फुटकर छन्द मिलते हैं जिनमें विभिन्न राजाओं की प्रशंसा की गई है। इनके आधार पर भूषण के बहुत से आश्रयदाता नहीं माने जा सकते, क्योंकि ये सभी छन्द भूषण रचित हैं, इसका कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है। मिश्रबन्धुओं ने इनका समय १६१३-१७१५ ई० (सं० १६७०-१७७२ वि०) माना है, शिवसिंह सेंगर ने भूषण का जन्म १६८१ ई० (सं० १७३८ वि०) और ग्रियर्सन ने १६०३ ई० (सं० १६६० वि०) लिखा है। कुछ विद्वानों के मतानुसार भूषण शिवाजी के पौत्र साहू के दरबारी कवि थे, पर यह मत भ्रान्तिपूर्ण है। उनके ग्रन्थों के अन्तःसाक्ष्य से यह सिद्ध हो जाता है कि वे शिवाजी के ही समकालीन थे।

भूषण विरचित चार ग्रन्थों—'शिवराज-भूषण', 'भूषण हजारा', 'भूषण-उल्लास' और 'दूषण-उल्लास' का उल्लेख 'शिवसिंह सरोज' में मिलता है। इनमें से अन्तिम तीन ग्रन्थ अभी तक देखने में नहीं आए हैं। वास्तव में भूषण के बनाए हुए 'शिवराज-भूषण', 'शिवा-बावनी', 'छत्रसाल-दशक' तथा कुछ स्फुट छन्द ही मिलते हैं।

(१) शिवराज-भूषण (२९ अप्रैल, १६७३ ई०=सं० १७३० वि०)—इन्होंने शिवराज-भूषण का रचना-काल संवत १७३० वि०, सुचि (ज्येष्ठ) वदी, १३ भानुवार (रविवार) दिया

---

१. भूषण-ग्रंथावली, शिवराज-भूषण २५-२८।

है ।[1] इसके अनुसार इस काव्य की रचना २९ अप्रैल, १६७३ ई० रविवार को हुई होगी। उक्त रचना-तिथि के अतिरिक्त इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि 'शिवराज-भूषण' में शिवाजी सम्बन्धी जिन घटनाओं का उल्लेख हुआ है वे सब १६७३ ई० (सं० १७३० वि०) तक घटित हो चुकी थीं। इस ऐतिहासिक प्रमाण से भी 'शिवराज-भूषण' का ऊपर बतलाया हुआ रचना-काल ही प्रामाणिक ठहरता है। साथ ही इससे भूषण और शिवाजी (१६२७-१६८० ई०=सं० १६८४-१७३७ वि०) की समसामयिकता सिद्ध हो जाती है।

'शिवराज-भूषण' में अलंकारों की परिभाषा दोहों में तथा कवित्त एवं सवैयों में शिवाजी के कार्य-कलापों को आधार मानकर यशोगान किया गया है।

(२) शिवा-बावनी में ५२ छन्दों में शिवाजी की कीर्त्ति और (३) छत्रसाल-दसक में १० छन्दों में छत्रसाल बुन्देला के यश का वर्णन है। इनकी फुटकर रचनाओं में विविध व्यक्तियों के सम्बन्ध में कहे गए पद्य संग्रहीत हैं।

श्रीकृष्ण भट्ट 'काव्य-कलानिधि' (जन्म १६६८ ई०=सं० १७२५ वि०)—ये तैलंग ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम लक्ष्मण था। इनका जन्म १६६८ ई० (सं० १७२५ वि०) में हुआ था। ये बूंदी के महाराजा राव बुधसिंह (१६९५–१७३९ ई०=सं० १७५२–१७९६ वि०) के आश्रय में रहे। बाद को महाराजा सवाई जयसिंह (१६९९–१७४३ ई०=सं० १७५६–१८०० वि०) के दरबार में रहने लगे। इन महाराजा ने इन्हें 'काव्य-कलानिधि' की उपाधि से विभूषित किया था। वे संस्कृत एवं भाषा के विद्वान तथा मन्त्र-शास्त्र के विलक्षण ज्ञाता थे।

भट्ट जी ने संस्कृत और ब्रजभाषा में कई रचनाएँ की हैं। वीरकाव्य-सम्बन्धी इनकी ये रचनाएँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—

(१) साँभर-युद्ध रचनाकाल लगभग १७३४ ई० (सं० १७९१)। इसमें महाराज सवाई जयसिंह और दिल्ली के सैयद भाइयों के युद्ध का वर्णन है। (२) जाजव-युद्ध, (३) बहादुर-विजय, (४) जयसिंह-गुण-सरिता—महाराजा जयसिंह का यशोगान वर्णित है।

मान कवि (१६७३-१६८० ई०=सं० १७३०-१७३७ वि०)—इनका जीवन-वृत्त अभी तक ज्ञात नहीं हो सका है। कुछ विद्वान इन्हें भाट और कुछ जैन यति बतलाते हैं। ये मेवाड़ के महाराणा राजसिंह (जन्म २४ सितम्बर, १६२९ ई०=सं० १६८६ वि०, राज्याभिषेक १० अक्टूबर, १६५२ ई०=सं० १७०९ वि०, मृत्यु २२ अक्टूबर, १६८० ई०=सं० १७३७ वि०) के राजकवि थे। इन्होंने 'राज-विलास' की रचना २६ जून, १६७७ ई० (सं० १७३४ वि०) को प्रारम्भ करके १६८० ई० (सं० १७३७ वि०) को समाप्त की थी। अतएव इनके सम्बन्ध में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि मान १६७७–१६८० ई० (सं० १७३४–१७३७ वि०) में वर्तमान थे।

शिवसिंह सेंगर ने इनका समय १६९९ ई० (सं० १७५६ वि०) और उनके ग्रन्थ का नाम 'राजदेव-विलास' माना है। ग्रियर्सन के मतानुसार इनका रचना-काल १६६० ई० (सं० १७१७ वि०) तथा मिश्रबन्धुओं के अनुसार १६६३ ई० (सं० १७२० वि०) है। ये सभी तिथियाँ अशुद्ध हैं।

---

१. भूषण-ग्रंथावली, शिवराज-भूषण, छंद ३८२।

'राज-विलास' की निम्नलिखित पंक्तियों के आधार पर कुछ विद्वानों ने मान के मुख्य नाम 'मंडान' होने की कल्पना की है—

'तिन द्यौस मात त्रिपुरा सुतवि कीनौ ग्रन्थ मंडान कवि ।
श्री राजसिंह महाराण कौ रचि यह जस जौ चन्द ।।'[१]

'राज-विलास' में अन्यत्र कहीं भी 'मंडान' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। ऐसी दशा में मान के नाम-सम्बन्धी इस अनुमान को ठीक मानना असङ्गत प्रतीत होता है।

मान ने अपने इस ग्रन्थ में महाराणा राजसिंह के वंश का नाम, बापारावल से महाराणा राजसिंह तक के राणाओं का परिचय, राजसिंह और मुगलों के युद्धों का विस्तृत वर्णन किया है।

दयालदास (१६८०-१६९८ ई० =सं० १७३७-१७५५ वि०)—ये मेवाड़-निवासी जाति के राव थे। इनका लिखा हुआ 'राणा-रासो' नामक एक ग्रन्थ मिला है जिसमें मेवाड़ का इतिहास वर्णित है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति उदयपुर के महता जोधसिंह के पुस्तकालय में वर्तमान है। इसकी पुष्पिका में इसको १६१८ ई० (सं० १६७५ वि०) की लिखी हुई प्रति की प्रतिलिपि बतलाया गया है। इसका निष्कर्ष यह निकलता है कि 'राणा-रासो' १६१८ ई० तक या इससे पूर्व लिखा जा चुका था। यह असम्भव है, क्योंकि इसके अन्तिम भाग में महाराणा कर्णसिंह (१६१९-२७ ई०=सं० १६७६-८४ वि०) का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है और इसके प्रारम्भ में मेवाड़ के महाराणाओं की वंशावली दी हुई है। उसमें महाराणा जगतसिंह (१६२७–१६५२ ई०=सं० १६८४-१७१९ वि०), महाराणा राजसिंह (१६५२–१६८० ई०=सं० १७१९-१७३७ वि०) तथा महाराणा जयसिंह (१६८०–९८ ई०=सं० १७३७-५५ वि०) का नामोल्लेख है, जो सब १६१८ ई० के बाद हुए हैं।

अतः पुष्पिका में जो संवत दिया गया है वह भ्रामक है। वास्तव में यह ग्रंथ महाराणा जयसिंह के शासन-काल में लिखा गया था और इसका रचना-काल १६८० ई० और १६९८ ई० के मध्य में है। मिश्रबन्धु इसकी रचना-तिथि १६२० ई० (सं० १६७७ वि०) मानते हैं जो ठीक नहीं है।

यह 'पृथ्वीराज रासो' की शैली में लिखा गया है। इसमें मेवाड़ का इतिहास वर्णित है, जो ८७५ छन्दों में समाप्त हुआ है। इसके आदि में सृष्टिकर्ता ब्रह्मा से लेकर महाराणा जयसिंह तक के राजाओं की वंशावली दी गई है, जिसमें अनेक नाम कपोल-कल्पित हैं। तदनन्तर बापा, कुंभा, प्रताप आदि कुछ मुख्य-मुख्य राणाओं का सविस्तर वृत्तान्त दिया गया है, विशेषकर इनके युद्धों का विशद वर्णन है। इतिहास की दृष्टि से यह एक भ्रष्ट रचना है, परन्तु साहित्य की दष्टि से यह महत्वपूर्ण कृति है।

हरिनाभ (१६८३–१६९७ ई०=सं० १७४०-१७५४ वि०)—यह जयपुर राज्यांतर्गत खंडेला के निवासी और वहाँ के राजा केसरीसिंह के आश्रित थे। ये जाति के पारीक ब्राह्मण थे। इनका गोत्र शांडिल्य था। रचना-काल १६८३–९७ ई० (सं० १७४०-५४ वि०) है। इन्होंने 'केसरीसिंह-समर' नामक ग्रंथ की रचना की है, जिसमें शेखावत-वंश प्रवर्तक राव शेखाजी से आरम्भ करके राजा केसरीसिंह तक के इतिहास का वर्णन किया गया है। केसरीसिंह के विरुद्ध

---

१. राज-विलास, छंद ३८, पृष्ठ ८।

औरंगजेब का सेनापति नवाब अब्दुल्लाखाँ एक विशाल सेना लेकर आया था। खंडेले के पास हरीपुरा के मैदान में भारी संग्राम हुआ जिसमें केसरीसिंह वीरगति को प्राप्त हुए और उनकी चार रानियाँ उनके साथ सती हो गईं। यह घटना १६९७ ई० (सं० १७५४ वि०) की है। ग्रंथ में इन सारी बातों का विस्तार से वर्णन मिलता है। इसकी पद्य-संख्या ४५९ है। ग्रंथ वर्णनात्मक है, तथापि कवि ने मार्मिक स्थलों के सुन्दर चित्रण किए हैं।

वृन्द कवि (१६४३-१७२३ ई० = सं० १७००-१७८० वि०)—ये शाकद्वीपीय ब्राह्मण थे। इनके पूर्वज बीकानेर के रहने वाले थे, परन्तु इनके पिता श्री रूप जी मेड़ते में जा बसे थे। इनका जन्म १६४३ ई० (सं० १७०० वि०) में हुआ था। इनकी माता का नाम कौशल्या और पत्नी का नवरंगदे था। काशी में तारा जी नामक पंडित से साहित्य, वेदांत आदि की शिक्षा प्राप्त करके लौटने पर जोधपुर के महाराजा जसवंतसिंह ने कुछ भूमि देकर इनकी प्रतिष्ठा बढ़ाई। उक्त महाराजा ने इनका परिचय औरंगजेब के कृपापात्र वजीर नवाब मुहम्मदखाँ से करवा दिया, जिससे आगे चलकर इनका शाही दरबार में प्रवेश हो गया। औरंगजेब ने वृन्द को अपना दरबारी कवि बनाया और अपने ज्येष्ठ पुत्र मुअज्जम (बहादुरशाह) तथा पौत्र अजीमुश्शान का अध्यापक नियुक्त किया। १७०७ ई० (सं० १७६४ वि०) के लगभग किशनगढ़ के महाराजा राजसिंह ने वृन्द को बहादुरशाह से माँग कर किशनगढ़ में अच्छी जागीर दी। वहीं १७२३ ई० (सं० १७८० वि०) में इनका देहांत हुआ। इनके वंशज अभी तक किशनगढ़ में मौजूद हैं। ये डिंगल और पिंगल दोनों में कविता करते थे। इन्होंने लगभग दस ग्रंथ बनाए। इनके वीररसात्मक ग्रंथों का विवरण नीचे दिया जा रहा है—

(१) वचनिका—किशनगढ़-नरेश मानसिंह की आज्ञा से महाराजा रूपसिंह की ख्याति को अमर रखने के लिए वृन्द ने इसकी रचना १७०५ ई० (सं० १७६२ वि०) में की थी। इसमें उस युद्ध का वर्णन है जो धौलपुर के मैदान में शाहजहाँ के पुत्रों में १६५८ ई० (सं० १७१५ वि०) में हुआ था। यह एक ऐतिहासिक ग्रंथ है। प्रारम्भ में कन्नौज के महाराज राव सीहाजी से लेकर महाराजा रूपसिंह तक के राजाओं की वंशावली दी गई है। फिर रूपसिंह के शौर्य का वर्णन किया गया है। रूपसिंह ने दारा का पक्ष लिया था। ये लड़ते-लड़ते वीरगति को प्राप्त हुए। इसमें वीर रस का सुन्दर वर्णन हुआ है।

(२) सत्यस्वरूप—इसकी रचना १७०७ ई० (सं० १७६४ वि०) में हुई थी। इसमें औरंगजेब के मरने पर दिल्ली के सिंहासन के लिए बहादुरशाह आदि की लड़ाई का वर्णन है। इस युद्ध में किशनगढ़ के महाराजा राजसिंह बहादुरशाह की ओर से लड़े थे। उनके हाथ से आजमशाह पक्ष के नबाब व राजा आदि लड़ने वालों के १७ हौदे रिक्त हुए जिनमें दतिया के राजा दलपत और कोटा के महाराव राजा रामसिंह मुख्य थे। इस लड़ाई का विजय-सुयश राजसिंह ही को मिला। यह उच्चकोटि का ऐतिहासिक तथ्यपूर्ण काव्यग्रंथ है। विस्तार में यह ग्रंथ वचनिका से बड़ा है।

लाल कवि (गोरेलाल, १६५८-१७१० ई० = सं० १७१५-१७६७ वि०)—इनके पूर्वज आन्ध्र देश के निवासी थे। भट्ट काशीनाथ के पुत्र गिट्टा के पुत्र नागनाथ हुए, जिनकी दसवीं पीढ़ी में कवि लाल उपनाम गोरेलाल तथा दीनदयाल हुए। इनका गोत्र मुद्गल था। बुंदेलखंड की रानी दुर्गावती (१६५८ ई०=सं० १७१५ वि०) ने नागनाथ को दमोह के पास संकोलि नामक

ग्राम दिया था। उसी समय से ये तथा इनके वंशज बुन्देलखण्ड में आए। इन्हीं नागनाथ के वंश में १६५८ ई० (सं०१७१५ वि०) में लाल कवि का जन्म हुआ था। महाराजा छत्रसाल ने लाल कवि को बढ़ई, पठारा, अमानगंज, सगेरा और दुग्धा नामक पाँच गाँव दिए थे। लाल कवि दुग्धा में रहने लगे थे और अब भी उनके वंशज वहीं रहते हैं। 'छत्र-प्रकाश' की प्राप्त प्रति में वर्णित अंतिम घटना लोहागढ़-विजय है, जिसे छत्रसाल ने १६ दिसम्बर, १७१० ई० (सं० १७६७ वि०) को जीता था। अतएव लाल कवि की मृत्यु इस तिथि के आसपास हुई होगी। मिश्रबन्धु और रामचन्द्र शुक्ल ने इनकी मरण-तिथि १७०७ ई० (सं०१७६४ वि०) मानी है, जो अशुद्ध है।

ग्रियर्सन तथा शिवसिंह सेंगर के अनुसार लाल कवि छत्रसाल के साथ १६५८ ई० (सं० १७१५ वि०) में धौलपुर के निकट होने वाले शाहजहाँ के पुत्रों के उत्तराधिकार-युद्ध में उपस्थित थे। उनके अनुसार इन्होंने नायिका-भेद पर 'विष्णु-विलास' ग्रंथ लिखा है, पर 'छत्रसाल-प्रकाश' अधिक प्रसिद्ध है। वास्तव में उक्त युद्ध में छत्रसाल हाड़ा की मृत्यु हुई थी और उनके साथ बूंदी के लाल कवि थे जिन्होंने 'विष्णु-विलास' की रचना की है। अतः उक्त दोनों विद्वानों की धारणा अमान्य है।

अतएव छत्रसाल हाड़ा की मृत्यु के समय वर्तमान रहने वाले और विष्णु-विलास के रचयिता लाल कवि बूँदी-निवासी थे और मऊवासी छत्रसाल बुन्देला के दरबार में रहने वाले तथा छत्र-प्रकाशकार लाल कवि उपनाम गोरेलाल उनसे भिन्न व्यक्ति थे, जिनका औरंगजेब से कोई सम्बन्ध नहीं था।

लाल कवि विरचित ये ग्रंथ बतलाए जाते हैं—

(१) छत्रप्रशस्ति, (२) छत्रछाया, (३) छत्रकीर्ति, (४) छत्रछन्द, (५) छत्रसाल शतक, (६) छत्र-हजारा, (७) छत्रदंड, (८) राजविनोद, (९) बरवै, (१०) छत्रप्रकाश।

'छत्रप्रकाश' के अतिरिक्त इनके अन्य ग्रंथ अप्राप्य हैं। इनकी वास्तविक कीर्ति का स्तंभ 'छत्र-प्रकाश' ही है। छत्रसाल की आज्ञा से इन्होंने इस ग्रंथ की रचना की थी, यथा—

धन चंपति के औतरो पंचम श्री छत्रसाल।
जिनकी आज्ञा सिर धरि करी कहानी लाल॥

लाल कवि ने इस ग्रंथ में बुन्देल-वंशोत्पत्ति, चंपति-विजय-वृत्तांत, उनके उद्योग और पराक्रम, चंपति के अंतिम दिनों में उनके राज्य का मुगलों के हाथ में जाना, छत्रसाल का थोड़ी सेना लेकर अपने राज्य का उद्धार करना, फिर क्रमशः विजय पर विजय प्राप्त करते हुए मुगलों से अविरत रूप से युद्ध करते रहना, आदि १६ दिसम्बर १७१० ई० (सं० १७६७-वि०) तक की घटनाओं का वर्णन किया है। साहित्यिक और ऐतिहासिक दोनों दृष्टियों से यह ग्रंथ विशेष महत्वपूर्ण है।

श्रीधर—मुरलीधर (जनवरी, १७१३ ई० = सं० १७७० वि०)—ये प्रयाग के रहने वाले थे। ग्रियर्सन ने श्रीधर और मुरलीधर को दो भिन्न कवि मानते हुए लिखा है कि ये दोनों मिलकर कविता किया करते थे, पर वास्तव में ऐसा नहीं है। वस्तुतः श्रीधर का ही अन्य नाम मुरलीधर था, जैसा कि 'जंगनामा' की इस पंक्ति से स्पष्ट है—

श्रीधर मुरलीधर उरुफ, द्विजवर वसत प्रयाग। (पंक्ति ५)

ग्रियर्सन ने इस कवि का समय १६८३ ई० (सं० १७४० वि०) माना है, परन्तु 'जंगनामा' में वर्णित घटना जनवरी, १७१३ ई० (सं० १७७० वि०) की है, अतः श्रीधर इसी तिथि के लगभग (जनवरी, १७१३ ई० = सं० १७७० वि०) वर्तमान रहे होंगे।

मुरलीधर ने कई ग्रंथ लिखे हैं। इनका एक ग्रंथ राग-रागिनियों का, एक नायिका-भेद का, एक जैन के मुनियों के वर्णन का, श्रीकृष्ण-चरित की स्फुट कविता, कुछ चित्र-काव्य, फर्रुखसियर का 'जंगनामा' और उस समय के अमीर कर्मचारियों और राजाओं की प्रशंसा की कविता है। शिवसिंह तथा ग्रियर्सन ने इनके बनाए हुए 'कविविनोद' का भी वर्णन किया है।

'जंगनामा' इनकी प्रमुख रचना है। इसमें १६३० पंक्तियाँ हैं जिनमें फर्रुखसियर और जहाँदारशाह के युद्ध का वर्णन है जो जनवरी, १७१३ ई० (सं० १७७० वि०) में हुआ था। ऐतिहासिक दृष्टि से 'जंगनामा' का एक विशिष्ट स्थान है।

गंजन (१७२८ ई० = सं० १७८५ वि०)—ये काशी के रहने वाले थे। इन्होंने अपने ग्रंथ में अपना परिचय दिया है। इनके प्रपितामह मुकुटराय अकबर के विशेष कृपापात्र थे। मुकुटराय के मानसिंह, उनके गिरिधर, उनके मुरलीधर और मुरलीधर के गंजनराम हुए। यह गुर्जर गौड़ ब्राह्मण थे। गंजन कमरुद्दीनखाँ के आश्रित थे जिनकी आज्ञा से इन्होंने 'कमरुद्दीनखाँ-हुलास' लिखा है। इसमें ३२७ छंद हैं। कमरुद्दीनखाँ दिल्ली के बादशाह मुहम्मदशाह के मंत्री थे। उक्त ग्रंथ के चतुर्थांश में ऐतमादुद्दौला वजीर कमरुद्दीनखाँ का यश-वर्णन है और शेष में भाव-भेद एवं रस-भेद लिखा है। गंजन ने षटऋतु वर्णन अच्छा किया है। भाषा मधुर है। मिलित वर्ण बहुत कम प्रयुक्त हुए हैं। इनकी कविता उत्तम श्रेणी की है।

हरिकेश कवि—१७३१ ई० (सं० १७८८ वि०) के लगभग वर्तमान ये बुन्देलखण्डान्तर्गत सेहुंडा के निवासी थे। इनका रचना-काल १७३१ ई० (सं० १७८८ वि०) के लगभग है। ये छत्रसाल बुन्देला के आश्रित थे। इनके लिखे हुए निम्नलिखित ग्रंथ मिलते हैं—

(१) स्फुट-पद—वीर रस के उत्तम पद हैं। (२) जगत-दिग्विजय (१७२५ ई०-सं० १७८२ वि०)—इसमें जयतपुर के महाराजा जगतसिंह की जीवनी एवं चंदेल आदि राजवंशों का वर्णन किया गया है। (३) ब्रजलीला (१७३१ ई० = सं० १७८८ वि०)—इसमें महाराजा छत्रसाल बुन्देला तथा हृदयशाह की प्रशंसा के उपरांत कृष्ण-राधा-मिलन का वर्णन है।

हरिकेश की कविता में अनुप्रास की अनुपम छटा है। उमंगोत्पादिनी वीर रसात्मक कविता करने में इनके समान बहुत कम कवि हुए हैं।

सदानन्द (नवम्बर, १७३५ ई०=सं० १७९२ वि०)—सदानन्द के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है। इन्होंने अपने विषय में कुछ भी नहीं लिखा है। केवल इतना ही ज्ञात होता है कि वे अपने आश्रयदाता भगवंतराय खीची (अक्टूबर, १७३५ ई०=सं० १७९२ वि०) के समकालीन थे और उन्होंने आँखों देखी घटनाओं का वर्णन किया है।

सदानन्द ने 'रासा भगवंतसिंह' की रचना की है। असोथर (फतेहपुर) के शासक भगवंतराय ने मुसलमानों से युद्ध (नवम्बर १७३५ ई० = सं० १७९२ वि०) किया था। वीरतापूर्वक युद्ध करते हुए ये मारे गए थे। सदानन्द ने अपने ग्रंथ में उसी का वर्णन किया है।

कुँवर कुशल (१७३९ ई०=सं० १७९६ वि०)—ये दो भाई थे—कुँवर कुशल और कनक

कुशल। ये जोधपुर के रहने वाले जैन कवि थे। कच्छ के राजा लखपतिसिंह बड़े गुणग्राही थे। ये १७३९ ई० (सं० १७९६ वि०) में गद्दी पर बैठे। इन्होंने कुँवर कुशल को आश्रय दिया। इन्हीं के लिए कुँवर कुशल ने 'लखपति-यश-सिंधु' नामक एक बहुत बड़ा ग्रंथ बनाया जिसमें आश्रय-दाता की प्रशंसा की गई है।

हम्मीर (१७३९ ई०=सं० १७९६ वि०)—यह रतनू शाखा के चारण थे। कच्छ-भुज के राजा महाराव श्री देशलजी प्रथम (१७१७–१७५१ ई० =सं० १७७४–१८०८ वि०) के महाराज कुमार लखपतजी के आश्रित थे। इनका जन्म जोधपुर राज्य के घड़ोई गाँव में हुआ था। इन्होंने विद्याध्ययन कच्छ-भुज में किया। हम्मीर ने २२ ग्रंथ रचे जिनमें 'लखपत पिंगल' सर्वोपयोगी रचना है। यह डिंगल के छंदशास्त्र का ग्रंथ है। इसकी रचना १७३९ ई० (सं० १७९६ वि०) में हुई थी। इसमें चार प्रकरण हैं जिनमें क्रमशः वर्णिक छन्दों, मात्रिक छन्दों, गाहा छन्द के विविध भेदों और गीतों की विविध जातियों का विस्तार से वर्णन किया गया है। कुल मिलाकर ४६९ छन्द हैं। पहले छन्द का लक्षण देकर फिर उदाहरण दिया गया है जिसमें महाराजकुमार लखपतजी की प्रशंसा की गई है।

नन्दराम (१७४५ ई०—सं० १८०२ वि०)—ये मेवाड़ के महाराणा जगतसिंह (द्वितीय) के आश्रित कवि थे। ब्राह्मण जाति में इनका जन्म हुआ था। इन्होंने दो ग्रंथों की रचना की है जिनका विवरण इस प्रकार है—

(१) शिकार-भाव—इसकी रचना १७३३ ई० (सं० १७९० वि०) में हुई थी। इसमें महाराणा जगतसिंह के शिकार का वर्णन है। (२) जग-विलास—इसका निर्माण-काल १७४५ ई० (सं० १८०२ वि०) है। इसमें महाराणा जगतसिंह की दिनचर्या, राजवैभव तथा जग-विलास महल की प्रतिष्ठा आदि का वर्णन है। कुछ विद्वान इसकी रचना १६२८–'५४ ई० (सं० १६८५–१७११ वि०) में मानते हैं जो अशुद्ध है।

नन्दराम के ये दोनों ग्रंथ साहित्यिक और ऐतिहासिक दोनों दृष्टियों से विशेष महत्वपूर्ण हैं।

देवकर्ण (१७४६ ई०=सं० १८०३ वि०)—ये मेवाड़ के महाराणा जगतसिंह (द्वितीय) के दीवान थे। देवकर्ण जाति के कायस्थ थे। इनके पितामह का नाम महीदास और पिता का हरनाथ था। इन्होंने 'वाराह-पुराण' के काशीखंड के आधार पर एक बहुत बड़ा ग्रंथ रचा जिसका नाम 'वाराणसी-विलास' है। इसकी रचना १७४६ ई० (सं० १८०३ वि०) में हुई थी। इसमें ४०५२ छन्द हैं। ग्रंथ तीस विलासों में विभक्त है। ग्रंथारम्भ में कवि ने मेवाड़ का संक्षिप्त इतिहास और थोड़ा-सा अपना परिचय दिया है। यही विवरण आलोच्य धारा के अन्तर्गत आता है। यह एक प्रौढ़ रचना है।

शंभुनाथ मिश्र (१७९४ ई०=सं० १८०६ वि०)—ये असोथर जिला फतेहपुर के राजा भगवंतराय खीची के यहाँ रहते थे। (१) इन्होंने 'रसकल्लोल' की १७५० ई० (सं० १८०७ वि०) में रचना की। इसमें आश्रयदाता का यश-वर्णन और नायिका-भेद-निरूपण है। (२) रसतरंगिनी में यश-वर्णन और नायिका-भेद-विवेचन है। (३) अलंकार-दीपक की रचना १७४९ ई० (सं० १८०६ वि०) में हुई। इसमें अलंकारों का विवेचन किया गया है। इसमें दोहा छन्द अधिक हैं और

शेष कम। खीची नृप का यश-वर्णन किया है जो उच्चकोटि का है। कवि ने गद्य में टीका भी लिख दी है। खोज-रिपोर्ट में शंभुनाथ मिश्र का समय १७३० ई० (सं० १७८७ वि०) माना गया है जो संदिग्ध प्रतीत होता है।

तीर्थराज (१७४९ ई०=सं० १८०६ वि०)—तीर्थराज लगभग १७४९ ई० (सं० १८०६ वि०) में वर्तमान थे। खोज-रिपोर्ट में इनका समय १७५० ई० (सं० १८०७ वि०) माना गया है। ये डौंडियाखेरे के राजा अचलसिंह के यहाँ थे और बैसवाड़ा इनका निवास-स्थान था। खोज-रिपोर्ट में इन्हें अलीपुर (मध्यभारत) के राजा अचल सिंह का आश्रित माना गया है। इन्होंने 'समरसार' की रचना की है। इनकी कविता प्रौढ़ और उत्तम है।

सोमनाथ (१७३३-१७५३ ई०=सं० १७९०-१८१० वि०)—ये माथुर चतुर्वेदी ब्राह्मण थे और भरतपुर के महाराजा बदनसिंह के आश्रित थे जिन्होंने इनको राज्याचार्य, दानाध्यक्ष आदि के पद दे रक्खे थे। सोमनाथ उनके कनिष्ठ पुत्र प्रतापसिंह के पास रहते थे। संस्कृत-हिन्दी के प्रकांड पंडित होने के अतिरिक्त ये ज्योतिष एवं काव्य-रचना में भी परम प्रवीण थे। इनके पिता का नाम नीलकंठ था। इन्होंने १५ ग्रंथों की रचना की है, जिनमें से वीरकाव्य की दृष्टि से 'सुजान-विलास' विशेष उल्लेखनीय है। इनका रचनाकाल १७३३–१७५३ ई० (सं०१७९०–१८१० वि०) तक माना गया है। 'सुजान-विलास' संस्कृत के प्रसिद्ध ग्रंथ 'सिंहासन द्वात्रिंशिका' का अनुवाद है। इसके आरम्भ में इन्होंने अपने आश्रयदाता राजा बदनसिंह और उनके पुत्र सूरजमल आदि की वीरता का वर्णन किया है। ये शृंगार रस के भी अच्छे कवि और उच्चकोटि के आचार्य थे।

सूदन (लगभग १७५३ ई०=सं० १८१० वि०)—सूदन ने 'सुजान-चरित्र' में आत्म-परिचय के रूप में केवल दो पंक्तियाँ दी हैं—

> मथुरा पुर सुभ धाम, माथुर कुल उतपत्ति वर।
> पिता बसंत सुनाम, सूदन जानहु सकल कवि।[1]

इस उद्धरण से केवल इतना ही ज्ञात होता है कि ये मथुरा-निवासी चौबे थे और इनके पिता का नाम बसंत था। इनके आश्रयदाता भरतपुराधीश महाराजा बदनसिंह के पुत्र सुजानसिंह (सूरजमल) थे। इन्होंने अपने आश्रयदाता की प्रशंसा में 'सुजान-चरित्र' ग्रंथ की रचना की है। इस पुस्तक में सूरजमल के २८ अक्टूबर–२७ नवम्बर १७४५ ई० से १७५३ ई० (सं० १८०२–१८१० वि०) तक की घटनाओं का वर्णन है। अतएव इसकी रचना १७५३ ई० (सं० १८१०-वि०) के आसपास हुई होगी। इससे सूदन के विद्यमानत्व का अनुमान लगाया जा सकता है।

सूदन ने इस ग्रंथ के आरम्भ में १७५ पूर्ववर्ती एवं समकालीन कवियों के नामों का उल्लेख किया है, तत्पश्चात सूरजमल के वंश का वर्णन करके उनके द्वारा लड़ी गई इन ७ लड़ाइयों का उल्लेख किया है—

१. सूरजमल द्वारा फतेह अली खाँ की सहायता, २. ईश्वरीसिंह की सहायता, ३.

---

१. सुजान-चरित्र, छंद १०, पृष्ठ ३।

सलावत खाँ की पराजय, ४. पटानों के विरुद्ध सफदरगंज की सहायता, ५. राजा बहादुर सिंह की पराजय, ६. दिल्ली की लूट, ७. बादशाही तथा मराठों की सम्मिलित सेना से युद्ध। ऐतिहासिक घटनाओं का तथ्यपूर्ण और विस्तृत वर्णन जितना इस ग्रंथ में मिलता है उतना अन्यत्र नहीं। साहित्यिक दृष्टि से भी यह महत्वपूर्ण रचना है।

प्रतापसाहि (१७५५ ई०=सं० १८१२ वि०)—ये बंदीजन रतनेस के पुत्र थे और चरखारी के महाराज विक्रमसाहि के यहाँ रहते थे। इन्होंने कई ग्रंथ बनाए हैं। प्रस्तुत अध्ययन के अंतर्गत इनका 'जयसिंह प्रकाश' ग्रंथ आता है। इसकी रचना इन्होंने १७५५ ई० (सं० १८१२ वि०) में की थी। कुछ विद्वानों के अनुसार यह ग्रंथ १७९५ ई० (सं० १८५२ वि०) में बना था। इसमें किन्हीं महाराजा जयसिंह के यश का वर्णन किया गया है। इनकी भाषा में प्रौढ़ता और अनुप्रास की सुन्दर छटा है।

गुलाब कवि (१५ अगस्त, १७६७ ई०=सं० १८२४ वि०)—ये माथुर चतुर्वेदी ब्राह्मण थे। इनका निवासस्थान आंतरी था। इन्होंने 'करहिया कौ रायसौ' ग्रंथ की रचना की है। इस ग्रंथ की वर्णित घटना के दस मास पश्चात की स्वयं कवि की हस्तलिखित प्रति कवि के वंशज पंडित चतुर्भुज जी वैद्य, आंतरी के यहाँ सुरक्षित है। 'करहिया कौ रायसौ' में कवि के आश्रयदाता प्रमारों और भरतपुराधीश जवाहरसिंह के मध्य हुए युद्ध का वर्णन है। कवि ने इसमें आँखों देखा वर्णन किया है। यह युद्ध १५ अगस्त, १७६७ ई० (सं० १८२४ वि०) को हुआ था। इसी से कवि के विद्यमान होने का अनुमान लगाया जा सकता है।

मंडन भट्ट (१७७३ ई०=सं० १८३० वि०)—ये जयपुर के महाराजा जयसिंह (तृतीय) के आश्रित कवि थे। ये तैलंग ब्राह्मण थे। इनका जन्म १७७३ ई० (सं० १८३० वि०) में हुआ था। इनके पिता का नाम ब्रजलाल था जो ब्रजभाषा के अच्छे कवि थे। मंडन को जयपुर के अतिरिक्त बूंदी आदि राज्यों में भी अच्छा सम्मान मिला था। इन्होंने ११ ग्रंथों की रचना की है। इनमें से निम्नलिखित वीररसात्मक हैं—

(१) राठौड़ चरित्र, (२) रावल-चरित्र, (३) जयसाह-सुजस-प्रकाश।

गणपति भारती (१७७८-१८०३ ई०=सं० १८३५-१८६० वि०)—इनके पिता का नाम मथुरामल था। ये माथुर चतुर्वेदी ब्राह्मण थे तथा जयपुर के महाराजा सवाई प्रतापसिंह के आश्रित तथा काव्यगुरु थे। इनके आश्रयदाता ने इनको एक गाँव, पालकी, पदवी आदि देकर सम्मानित किया था। इन्होंने १० ग्रंथों की रचना की है। इनका 'वीरहजारा' नामक ग्रंथ वीर रस की दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय है।

उत्तमचंद भण्डारी (१७८०-१८०७ ई०=सं० १८३७-१८६४ वि०)—ये जोधपुर के निवासी ओसवाल महाजन थे। मिश्रबन्धुओं के अनुसार ये जोधपुर के महाराजा भीमसिंह और महाराजा मानसिंह के मंत्री रहे थे, परन्तु जोधपुर के इतिहास एवं ख्यातों आदि से इस कथन की पुष्टि नहीं होती। इतिहास-ग्रंथों से केवल इतना ही विदित होता है कि ये जोधपुर के महाराजा मानसिंह के आश्रित थे।

इनका रचनाकाल १७८०–१८०७ ई० (सं० १८३७–१८६४ वि०) है। इन्होंने ६ ग्रंथ लिखे हैं जिनमें से 'रतना हमीर की बात' वीररसात्मक रचना है।

पद्माकर (१७५३-१८३३ ई०=सं० १८१०-१८९० वि०)—पद्माकर तैलंग ब्राह्मण थे। इनके पूर्वज गोदावरी के निकट रहा करते थे। १५५८ ई० (सं० १६१५ वि०) में महारानी दुर्गावती के राज्यकाल में गढ़ा मांडला में पद्माकर के पूर्वज आकर रहने लगे। इनमें से कुछ ने गोस्वामी विट्ठलनाथ जी का आश्रय ग्रहण किया। इनके यहाँ बसने पर इनके समुदाय की दो शाखाएँ हो गईं जो मथुरास्थ और गोकुलस्थ के नाम से प्रसिद्ध हैं। पद्माकर मथुरास्थ शाखा के थे।

इनके पिता मध्यप्रांतान्तर्गत सागर में रहा करते थे। इनके पूर्व-पुरुषों का निवास उत्तर में जाने पर पहले पहल बांदा में हुआ। इसीलिए ये लोग बाँदा वाले भी कहलाए। पद्माकर का जन्म १७५३ (सं० १८१० वि०) में सागर में हुआ था।

इन्होंने अपने पिता से कविता तथा मंत्र-सिद्धि का अभ्यास किया था। तत्कालीन सागर-नरेश रघुनाथराव अप्पा साहब की प्रशंसा में एक कविता सुनाकर एक लक्ष मुद्रा प्राप्त की थी। कुछ समय पश्चात ये बाँदा में आकर रहने लगे, जहाँ इन्होंने महाराज जैतपुर तथा सुगरा-निवासी नोने अर्जुनसिंह को अपना शिष्य बनाया।

वहाँ से पद्माकर दतिया के महाराज परीक्षत के दरबार में गए। दतिया से होकर रज-धान के गोसाईं अनूपसिंह उपनाम हिम्मतबहादुर के यहाँ गए। कहा जाता है कि १७९८ ई० (सं० १८५५ वि०) तक पद्माकर हिम्मतबहादुर के यहाँ रहे। तत्पश्चात सितारा गए और महाराज रघुनाथ राव (राघोबा) के दरबार में पहुँचे। १७९९ ई० (सं० १८५६ वि०) में सागर के रघु-नाथराव ने इन्हें फिर अपने यहाँ बुलाया। इसके अनंतर बाँदा होते हुए जयपुर के सवाई महाराजा प्रतापसिंह के यहाँ पहुँचे। उक्त महाराजा की मृत्यु के उपरांत यह पुनः बाँदा लौट आए। कुछ समय के पश्चात पद्माकर फिर जयपुराधीश जगतसिंह के दरबार में पहुँचे। उक्त महाराजा ने इन्हें अपना राजकवि बनाया। पद्माकर जयपुर से उदयपुर गए। उन दिनों वहाँ महाराणा भीमसिंह राज्य करते थे। एक बार जयपुर से बाँदा जाते समय बूंदी-नरेश ने इनका बड़ा आदर किया था। इसके अनंतर यह तत्कालीन ग्वालियर-नरेश दौलतराव सिंधिया के यहाँ गए। वहाँ दौलतराव के एक मुसाहब ऊदाजी ने भी इनका अच्छा आदर किया था। श्वेत कुष्ठ से आक्रांत होने पर यह गंगासेवन के लिए कानपुर चले गए। कहा जाता है, वहाँ इनका कुष्ठ नष्ट हो गया। इसके बाद केवल छः मास तक यह और जीवित रहे। कानपुर में ही १८३३ ई० (सं० १८९० वि०) को यह स्वर्गवासी हुए।

पद्माकर-रचित ९ ग्रंथ बतलाए जाते हैं, जिनमें से निम्नलिखित प्रस्तुत अध्ययन के अन्तर्गत आते हैं—

(१) हिम्मतबहादुर-विरुदावली—यह रचना पद्माकर की प्रारम्भिक कृतियों में परिगणित की जाती है। इसमें हिम्मतबहादुर के तीन युद्धों का वर्णन किया गया है। अंतिम युद्ध का विस्तारपूर्वक वर्णन हुआ है। यह युद्ध हिम्मतबहादुर और नोने अर्जुनसिंह के बीच हुआ था। यह लड़ाई बुधवार, १८ अप्रैल, १७९२ ई० (सं० १८४९ वि०) को नयागाँव (नौगाँव) और अजयगढ़ के मध्य स्थान पर हुई थी। उस समय पद्माकर हिम्मतबहादुर के साथ थे और उन्होंने आँखों देखा वर्णन किया है। अतः यह पुस्तक १७९२ ई० (सं० १८४९ वि०) के आसपास ही लिखी

गई होगी। (२) जगद्विनोद—यह रस-संबंधी ग्रंथ है। इसकी रचना जयपुराधीश महाराजा जगतसिंह के आदेशानुसार हुई थी। पद्माकर ने अपने आश्रयदाता की प्रशंसा के उपरांत नायिका-भेद तथा रस का निरूपण किया है। इस ग्रंथ के संरक्षक-सम्बन्धी छन्द ही इस अध्ययन की परिधि में आते हैं। (३) आलीजाह-प्रकाश (आलीजाह सागर) पद्माकर ने दौलतराव सिंधिया के नाम पर नायिका-भेद के रस-ग्रंथ की रचना की थी। कहा जाता है कि इस कृति और 'जगद्विनोद' में बहुत कम अंतर है। 'जगद्विनोद' के ही छन्द कहीं-कहीं थोड़े शब्दांतर से और अधिकांश में उन्हीं शब्दों में आलीजाह-प्रकाश में रख दिए गए हैं। वर्णन-पद्धति में भी कोई अंतर नहीं है। हाँ, आरम्भ में दौलतराव की प्रशंसा के छन्द अवश्य रखे हुए हैं। यथास्थान कुछ अन्तर भी पाया जाता है। 'आलीजाह-प्रकाश' की रचना-तिथि १८२१ ई० (सं० १८७८ वि०) है। इनके ग्रंथों में केवल इसी का रचना-काल दिया है। (४) प्रतापसिंह-विरुदावली—कुछ विद्वानों ने इसका नाम सवाई जयसिंह-विरुदावली माना है, पर वास्तव में यह 'प्रतापसिंह-विरुदावली' है। यह पद्माकर के जयपुर-निवासी वंशजों के पास सुरक्षित है। इसे देखने का इस लेखक को अवसर मिला है। यह ६८ पृष्ठों का ग्रंथ है जिसमें सवाई महाराज प्रतापसिंह के यश का रोचक शैली में वर्णन किया गया है। इस प्रकार रीतिकालीन आचार्य पद्माकर आलोच्य धारा के प्रमुख कवियों में से हैं।

चंडीदान (१७९१-१८३५ ई०=सं० १८४८-१८९२ वि०)—यह बूंदी के रहने वाले और मिश्रण शाखा के चारण थे। इनका जन्म १७९१ ई० (सं० १८४८ वि०) में और देहावसान १८३५ ई० (सं० १८९२ वि०) में हुआ था। इनके पिता का नाम बदन जी था जो बूंदी-दरबार के बहुत सम्मानित कवि थे। इनके पुत्र प्रसिद्ध कवि सूर्यमल्ल मिश्रण थे। चंडीदान संस्कृत, पिंगल एवं डिंगल के अच्छे विद्वान थे। बूंदी के रावराजा विष्णुसिंह के यह विशेष कृपा-पात्र थे। इनके आश्रयदाता ने इनका विशेष सम्मान किया था। इन्होंने ५ ग्रंथ लिखे जिनमें से 'वंशाभरण' और 'विरुद-प्रकाश' विशेष उल्लेखनीय हैं। इनकी कविता में गति और प्रवाह है।

मान (खुमान) (१७९५ ई०=सं० १८५२ वि०)—इनका उपनाम खुमान था। यह चरखारी-नरेश राजा विक्रमसाहि के आश्रित छतरपुर राज्यांतर्गत खरगवा निवासी थे। यह बन्दीजन ब्रजलाल के पिता थे। इन्होंने कई ग्रंथ बनाए हैं। इनका 'समरसार' नामक वीर-रसात्मक ग्रंथ है। इसकी रचना १७९५ ई० (सं० १८५२ वि०) में हुई थी। किसी उच्च पदाधिकारी अंग्रेज को राजकुमार धर्मपालसिंह द्वारा वश में किया गया था, इसी घटना का इस कृति में वर्णन किया गया है।

दुर्गाप्रसाद (१७९६ ई०=सं० १८५३ वि०)—यह पंडित राजाराम के आश्रित थे। इनका रचनाकाल १७९६ ई० (सं० १८५३ वि०) के लगभग माना जाता है। इन्होंने 'अजीतसिंह फत्ते-ग्रंथ' अथवा 'नायक रासो' नामक ग्रंथ की रचना की है। रीवाँ के महाराज अजीतसिंह के सरदारों और पेशवा के सरदार जसवंतसिंह के बीच चारहट (रीवाँ) के मैदान में जो युद्ध हुआ था, उसी का इसमें वर्णन किया गया है।

जोधराज (१८२८ ई०=सं० १८८५ वि०)—जोधराज ने 'हम्मीररासो' में अपने परिचय के जो छन्द लिखे हैं उनसे विदित है कि वे अलवर राज्यांतर्गत नीमराणा के चौहान वंशीय राजा चन्द्रभाण के आश्रित थे। इनके पिता का नाम बालकृष्ण था। इनका निवासस्थान

बीजवार था। जोधराज अत्रि गोत्रीय गौड़-वंश कुलोत्पन्न ब्राह्मण थे। इन्होंने अपने आश्रयदाता की आज्ञा से 'हम्मीररासो' की रचना की थी। इसमें रणथंभौर के राव हम्मीर और अलाउद्दीन खिलजी के युद्धों का वर्णन है। इन्होंने अपने ग्रंथ की रचना-तिथि इस प्रकार दी है—

चन्द्र नाग वसु-पंच गिनि संवत् माधव मास।
शुक्ल सुतृतिया जीव जुत ता दिन ग्रंथ प्रकास।। छं० ९६८ ।।

नागों की संख्या सात और आठ दोनों मानी गई है। आठ संख्या मानने से इसका रचना-काल सं० १८८५ वि० वैशाख शुक्ला तृतीया बृहस्पतिवार आता है। गणना करने पर यह तिथि ठीक आती है। अतएव इसकी रचना उक्त तिथ्यनुसार बृहस्पतिवार, १७ अप्रैल १८२८ ई० को हुई थी।

नागों की संख्या ७ मानने पर इसका रचनाकाल सं० १७८५ वि० आता है जो गणना करने पर अशुद्ध ठहरता है। मिश्रबन्धुओं, श्यामसुन्दरदास, लाला सीताराम आदि ने इसकी रचना सं० १७८५ वि० (१७२८ ई०) और शुक्ल जी ने १८१८ ई० (सं० १८७५ वि०) मानी है। इन समस्त विद्वानों द्वारा दिया हुआ रचना-काल अशुद्ध है।

हम्मीररासो में चौहानों की उत्पत्ति के पश्चात हम्मीर और अलाउद्दीन के युद्धों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है।

(ख) नीचे उन कवियों एवं ग्रंथों का उल्लेख किया जा रहा है जिनका विस्तृत विवरण नहीं प्राप्त हो सका है। रचना-काल यथासम्भव दे दिया गया है—

कवि ग्रंथ रचना-काल

१. ऋषभदास जैन—कुमारपाल रासो (१६१३ ई०=सं०१६७० वि०)
२. महाराजा मानसिंह—मानचरित्र (१६१८ ई०=सं० १६७५ वि०)
३. बनवारी—स्फुट छन्द (१६३३ ई०=सं० १६९० वि०)—जसवंतसिंह के भाई अमरसिंह द्वारा सलावत के मारे जाने का विवरण।
४. निधान—जसवंत-विलास (१६४१ ई०=सं० १६९८ वि०) तृतीय त्रैमासिक खोज-रिपोर्ट में इसे १६१७ ई० (सं० १६७४ वि०) की रचना माना है।
५. दलपति मिश्र—जसवंत-उद्योत (१६४८ ई०?=सं० १७०५ वि०?) जोधपुर के महाराजा जसवंतसिंह के आश्रित थे।
६. गंभीरराय—एक ग्रंथ (१६५० ई०=सं०१७०७ वि०) जिसमें मऊवाले जगतसिंह और शाहजहाँ का युद्ध-वर्णन है।
७. रामकवि—जयसिंह-चरित्र (१६५३ ई०=सं० १७१० वि०) ये मिर्जा राजा जयसिंह के आश्रित थे।
८. रत्नाकर—कुछ कविताएँ (१६५५ ई०=सं० १७१२ वि०) इन्होंने शाहशुजा की प्रशंसा में कविता की है।
९. सुखदेव मिश्र—फाजिल अली-प्रकाश (१६७१ ई०=१७२८ वि०) नृप-यश आदि वर्णन।

१०. श्रीपति भट्ट—हिम्मत-प्रकाश (१६७४ ई०=सं० १७३१ वि०) ये बाँदा के नवाब सैयद हिम्मतखाँ के दरबार में थे।

११. कुंभकर्ण—रतन-रासो (१६७५ ई०=सं० १७३२ वि०) ये साँदू शाखा के चारण थे। कुछ विद्वानों के अनुसार इसका रचनाकाल १६७३ ई० (सं० १७३० वि०) है। इस ग्रंथ में शाहजहाँ के विद्रोही पुत्रों के युद्ध का वर्णन है। इसमें राठौर रतनसिंह ने औरंगजेब का वीरतापूर्वक सामना किया था।

१२. घनश्याम शुक्ल—स्फुट कविता (१६८०–१७७८ ई०=सं० १७३७–१८३५ वि०) ये रीवाँ-नरेश के यहाँ थे। उनकी प्रशंसा में कविता की है। सरोज में एक छन्द काशी-नरेश की प्रशंसा में भी लिखा है।

१३. रणछोड़—राजपट्टन (१६८० ई०–सं० १७३७ वि०) मेवाड़ के राजघराने का इतिहास वर्णित है।

१४. निवाज तिवारी—छत्रसाल-विरुदावली (१६८० ई०=सं० १७३७ वि० के लगभग) ये नवाबआजम खाँ के आश्रित थे।

१५. महाराजा जयसिंह—जयदेव-विलास (१६८१–१७०० ई०=सं० १७३८–१७५७ वि०) ये उदयपुर के राणा थे। इस ग्रंथ में अपने वंश का वर्णन किया है।

१६. सतीप्रसाद—जयचंद-वंशावली—जयचंद की वंशावली और उनका परिचय दिया गया है।

१७. उत्तमचंद—दिलीप रंजिनी (१७०३ ई०=सं० १७६० वि०) राजा दिलीपसिंह के आश्रित। आश्रयदाता के वंश का वर्णन किया है।

१८. मूक जी—खीची जाति की वंशावली (१७१८ ई०=सं० १७७५ वि०) खीची राजाओं का वंश-वर्णन किया है। इनके कुछ फुटकर छंद भी मिलते हैं।

१९. केवलराम—बाबी-विलास (१७२६ ई०=सं० १७८३ वि०) मिश्रबन्धु-विनोद में इसका रचनाकाल १६९९ ई० (सं० १७५६ वि०) दिया है। जूनागढ़ के नवाबों की प्रशंसा में यह ग्रंथ लिखा गया है।

२०. रसपुंज—कवित्त श्री माता जी रा (१७३३ ई०=सं० १७९० वि०) ये जोधपुर के महाराजा अभयसिंह के आश्रित थे।

२१. सुजानसिंह—सुजान-विलास (१७३३ ई०=सं० १७९० वि०) करौली के राजघराने से संबंधित थे।

२२. शाहजू पंडित—१. बुंदेलवंशावली ओड़छा निवासी २. लक्ष्मणसिंह-प्रकाश (१७३७ ई०=सं० १७९४ वि०) ये टहरौली के जागीरदार लक्ष्मण सिंह के आश्रित थे।

२३. अनंत फंदी—स्फुट रचना (१७४३ ई०=सं० १८०० वि०) ये महाराष्ट्र के कवि थे। हिंदी में नाना फड़नवीस की प्रशंसा की है।

२४. महताब—नखशिख (१७४३ ई०=सं० १८०० वि०) इन्होंने हिन्दूपति की प्रशंसा की है। आश्रयदाता के लिए इन्होंने राजा के स्थान पर बादशाह शब्द का प्रयोग किया है।

२५. बिहारीलाल—हरदौल-चरित्र (१७५८ ई०=सं०१८१५ वि०)

२६. दत्तू अथवा देवदत्त—ब्रजराज-पंचाशा (१७६१ ई० = सं० १८१८ वि०) राजा ब्रजराजदेव की चढ़ाई का वर्णन किया है।

२७. लालकवि बनारसी—कवित्त (१७७५ ई० = सं० १८३२ वि०) ये गणेश कवि के पितामह और गुलाब कवि के पिता थे। काशी नरेश चेतसिंह के आश्रित थे। महाराजा महीप नारायण सिंह तथा अन्य काशी-नरेशों की प्रशंसा में कवित्त लिखे हैं।

२८. लाल झा मैथिल—कनरपी घाट की लड़ाई (१७८० ई० = सं० १८३७ वि०) ये दरभंगा-नरेश महाराज नरेन्द्रसिंह के आश्रित थे।

२९. श्रीकृष्ण भट्ट—आलीजा-प्रकाश (?) (१७८३ ई० = सं० १८४० विं०) ये अलवर-निवासी तैलंग ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम मुरलीधर भट्ट था। ये जन्मांध बतलाए जाते हैं।

३०. मान कवि—नरेन्द्र-भूषण (१७८८ ई० = सं० १८४५ वि०) राजा रणजोरसिंह के यश का वर्णन है।

३१. शिवराम भट्ट—(१) प्रताप-पच्चीसी (२) विक्रम-विलास (१७९० ई० = सं० १८४७ वि०) ये ओड़छा के महाराजा विक्रमादित्य के दरबार में थे।

३२. शिवनाथ—रासा भैया बहादुरसिंह का (१७९६ ई० = सं० १८५३ वि०) बलरामपुर के राजकुमार बहादुरसिंह द्वारा किसी शरणार्थी की रक्षा करने के लिए किसी शत्रु से युद्ध का इसमें वर्णन है।

वीर-काव्यधारा का विविध दृष्टियों से अध्ययन करने के पश्चात यह निष्कर्ष निकलता है कि यह हिन्दी साहित्य की महत्वपूर्ण धारा है। सुचारु रूप से इसका अनुशीलन करके भारत के अतीत गौरव और शौर्यपूर्ण कार्य-कलाप से युक्त भारतीय इतिहास का नव-निर्माण किया जा सकता है।

१. हिन्दी-वीरकाव्य-सूची

ग्रंथ सं०	कवि	ग्रन्थ	रचना-काल	विवरण
१.	भट्ट केदार	जयचन्द्र-प्रकाश	११६८ ई०	जयचन्द्र के आश्रित; ग्रन्थ अप्राप्य ।
२.	जगनिक	आल्हा-खण्ड	११७३ ई०	आल्हा-ऊदल का वर्णन; मूल ग्रन्थ अप्राप्य ।
३.	मधुकर कवि	जयमयंक-जसचन्द्रिका	११८३ ई०	जयचन्द्र के आश्रित; ग्रन्थ अप्राप्य ।
४.	शार्ङ्गधर	हम्मीररासो	१३६३ ई०	अप्राप्य; प्राकृत-पैंगलम् में कुछ पद्य संगृहीत ।
	,,	हम्मीर-काव्य		
६.	श्रीधर	रणमल-छन्द	१४०० ई०	रणमल और ज़फरखाँ का युद्ध-वर्णन ।
७.	नरहरि	फुटकर रचना	१५०५–१६१० ई०	अकबर आदि आश्रयदाताओं की प्रशंसा ।
८.	तानसेन	फुटकर रचना	१५३१-१५८९ ई०	अकबर आदि की प्रशंसा ।
९.	केशव	कवि-प्रिया	१६०१ ई०	आरम्भ में इन्द्रजीतसिंह की प्रशंसा ।
	,,	रत्न-बावनी	—	रत्नसिंह की वीरता का वर्णन ।
	,,	वीरसिंहदेव-चरित	१६०८ ई०	वीरसिंहदेव की गौरव गाथा ।
	,,	जहाँगीर-जसचन्द्रिका	१६१२ ई०	जहाँगीर-यश वर्णन ।
१३.	ऋषभदास जैन	कुमारपाल रासो	१६१३ ई०	—
१४.	गङ्ग कवि	फुटकर कविता	१५७८-१६१७ ई०	अकबर आदि की प्रशंसा ।
१५.	महाराजा मानसिंह	मान-चरित्र	१६१८ ई०	—
१६.	जटमल	गोरा-बादल की कथा	१६२३ (अथवा १६२८ ई०)	गोरा-बादल की वीरता का वर्णन ।
१७.	बनवारी	स्फुट-छन्द	१६३३ ई०	अमरसिंह राठौर द्वारा सलावतखाँ के वध का वर्णन ।
१८.	निधान	जसवन्त-विलास	१६४१ ई०	—
१९.	दलपति मिश्र	जसवन्त-उद्योत	१६४८ ई० (?)	जोधपुराधीश जसवन्तसिंह के आश्रित ।
२०.	गम्भीर राय	एक ग्रन्थ	१६५० ई०	मऊ के जगतसिंह और शाहजहाँ के युद्ध का वर्णन ।
२१.	डूँगरसी	शत्रुसालरासो	१६५३ ई०	राव शत्रुसाल हाड़ा की वीरता का वर्णन ।
२२.	राम कवि	जयसिंह-चरित्र	१६५३ ई०	मिर्जा राजा जयसिंह के आश्रित ।
२३.	रत्नाकर	स्फुट-कविता	१६५५ ई०	शाहशुजा की प्रशंसा ।

२४. मतिराम	ललितललाम	१६६१-१६६२ ई०	बूंदीपति भावसिंह के परिवार की प्रशंसा के कुछ पद ।
२५. कुलपति मिश्र	रस-रहस्य	१६७० ई०	ग्रन्थारम्भ में रामसिंह प्रथम (जयपुर) की प्रशंसा ।
,,	संग्रामसार	१६७६ ई०	महाभारत के द्रोण-पर्व का पद्यानुवाद ।
२७. सुखदेव मिश्र	फाज़िल अली प्रकाश	१६७१ ई०	नृप-यश वर्णन आदि ।
२८. भूषण	शिवराज-भूषण	२९ अप्रैल, १६७३ ई०	शिवाजी-यश-वर्णन ।
,,	शिवा-बावनी	—	५२ छन्दों में शिवाजी का गुणगान ।
,,	छत्रसाल-दशक	—	१० छन्दों में छत्रसाल बुन्देला का यश-वर्णन ।
,,	फुटकर छन्द	—	विभिन्न आश्रयदाता-विषयक छन्द ।
३२. श्रीपति भट्ट	हिम्मत-प्रकाश	१६७४ ई०	सैय्यद हिम्मत खाँ (बाँदा) के आश्रित ।
३३. कुम्भकर्ण	रतनरासौ	१६७५ ई०	औरङ्गज़ेब के उत्तराधिकार-युद्ध में रतनसिंह की वीरता का वर्णन ।
३४. घनश्याम शुक्ल	स्फुट कविता	१६८०-१७७८ ई०	रीवाँ-नरेश की प्रशंसा ।
३५. रणछोड़	राज-पट्टन	१६८० ई०	मेवाड़ के राजघराने का इतिहास ।
३६. निवाज तिवारी	छत्रसाल-विरुदावली	१६८० ई०	नवाब आजम खाँ के आश्रित ।
३७. महाराणा जयसिंह	जयदेव-विलास	१६८१-१७०० ई०	उदयपुर के महाराणा ।
३८. सतीप्रसाद	जयचन्द-वंशावली	—	जयचन्द के वंश का परिचय ।
३९. मान	राजविलास	१६७७-१६८० ई०	महाराणा राजसिंह की वीरता का वर्णन ।
४०. दयालदास	राणारासौ	१६८०-१६९८ ई०	मेवाड़ का इतिहास-वर्णन ।
४१. हरिनाम	केसरीसिंह-समर	१६८३-१६९७ ई०	राजा केसरीसिंह (खण्डेला) का यश-वर्णन ।
४२. उत्तमचन्द	दिलीप-रंजिनी	१७०३ ई०	दिलीपसिंह के वंश का वर्णन ।
४३. वृन्द कवि	वचनिका	१७०५ ई०	आश्रयदाता का गुणगान ।
,,	सत्यस्वरूप	१७०७ ई०	बहादुरशाह के उत्तराधिकार-युद्ध में राजसिंह (किशनगढ़) की वीरता का वर्णन ।
४५. लाल कवि (गोरेलाल)	छत्र-प्रकाश	१७१० ई०	छत्रसाल बुन्देला का गुणगान ।
४६. श्रीधर (मुरलीधर)	जंगनामा	जनवरी, १७१३ ई०	फर्रुखसियर और जहाँदारशाह का युद्ध-वर्णन ।
४७. मूक जी	खीची जाति की वंशावली	१७१८ ई०	खीची राजाओं का वर्णन ।
४८. केवलराम	वाणी-विलास	१७२६ ई०	जूनागढ़ के नवाबों की प्रशंसा ।

ग्रंथ सं०	कवि	ग्रन्थ	रचना-काल	विवरण
४९.	गञ्जन	कमरुद्दीन खाँ-हुलास	१७२८ ई०	कमरुद्दीन खाँ की प्रशंसा तथा रस-वर्णन।
५०.	हरिकेश	स्फुट पद	—	वीर रस की उत्तम रचना।
	,,	जगत्-दिग्विजय	१७२५ ई०	जगतसिंह (जयपुर) तथा अन्य राजवंशों का वर्णन।
	,,	ब्रजलीला	१७३१ ई०	छत्रसाल तथा हृदयशाह की प्रशंसा के उपरान्त कृष्ण-राधा-मिलन-वर्णन।
५३.	रसपुञ्ज	कवित्त श्रीमाता जी रा	१७३३ ई०	अभयसिंह (जोधपुर) के आश्रित।
५४.	सुजानसिंह	सुजान-विलास	१७३३ ई०	करौली राज-परिवार से संबन्धित।
५५.	श्रीकृष्ण भट्ट (काव्य-कला-निधि)	साँभर-युद्ध	१७३४ ई०	सवाई जयसिंह और सैय्यद भाइयों का युद्ध-वर्णन।
५६.	,,	जाजव-युद्ध	—	—
५७.	,,	बहादुर-विजय	—	
५८.	,,	जयसिंह गुण-सरिता	—	—
५९.	सदानन्द	रासा भगवन्तसिंह	नवम्बर, १७३५ ई०	महाराजा जयसिंह का यशोगान।
६०.	शाहजू पण्डित	बुन्देल-वंशावली	१७३७ ई० }	भगवन्तराय खीची (असोथर) के युद्ध का वर्णन।
	,,	लक्ष्मणसिंह-प्रकाश	१७३७ ई० }	लक्ष्मणसिंह (टहरौली) के आश्रित।
६२.	कुँवर कुशल	लखपति-यश-सिन्धु	१७३९ ई०	लखपतिसिंह (कच्छभुज) की प्रशंसा।
६३.	हम्मीर	लखपत-पिंगल	१७३९ ई०	लखपतिसिंह (कच्छभुज) गुणगान।
६४.	अनन्त फन्दी	स्फुटरचना	१७४३ ई०	महाराष्ट्र के कवि; नाना फड़नवीस की प्रशंसा में हिन्दी कविता।
६५.	महताब	नख-शिख	१७४३ ई०	हिन्दू पति की प्रशंसा।
६६.	नन्दराम	शिकार-भाव	१७३३ ई०	महाराणा जगतसिंह (मेवाड़) के शिकार का वर्णन।
६७.	,,	जगविलास	१७४५ ई०	आश्रयदाता की प्रशंसा।
६८.	देवकर्ण	वाराणसी-विलास	१७४६ ई०	ग्रन्थारम्भ में मेवाड़ का इतिहास-वर्णन।
६९.	शम्भुनाथ मिश्र	अलंकार-दीपक	१७४९ ई०	भगवन्तराय खीची का यश-वर्णन।
७०	,,	रस-कल्लोल	१७५० ई०	आश्रयदाता का यशोगान एवं नायिका-भेद-निरूपण।

७१. ”	रस-तरंगिनी	—	यश-वर्णन और नायिका-भेद-निरूपण।
७२. तीर्थराज	समर-सार	१७४९ ई०	अचलसिंह (डोंडियाखेरे) के आश्रित।
७३. सोमनाथ	सुजान-विलास	१७३३-१७५३ ई०	बदनसिंह आदि (भरतपुर) की ग्रन्थारम्भ में प्रशंसा।
७४. सूदन	सुजान-चरित्र	१७५३ ई०	सूरजमल (भरतपुर) का यशोगान।
७५. प्रतापसाहि	जयसिंह-प्रकाश	१७५५ ई०	महाराजा जयसिंह की प्रशंसा।
७६. बिहारीलाल	हरदौल-चरित्र	१७५८ ई०	—
७७. दत्तू (देवदत्त)	ब्रजराज-पंचाशा	१७६१ ई०	राजा ब्रजराजदेव की चढ़ाई का वर्णन।
७८. गुलाब कवि	करहिया को रायसौ	१५ अगस्त, १७६७ ई०	प्रमारों (आंतरी) और जवाहरसिंह (भरतपुर) का युद्ध-वर्णन।
७९. मण्डन भट्ट	राठौड़-चरित्र	(१७७३ ई० जन्मतिथि)	जयसिंह तृतीय (जयपुर) के आश्रित।
८०. ”	रावल-चरित्र	—	—
८१. ”	जयसाह-सुजस-प्रकाश	—	आश्रयदाता-यश-वर्णन।
८२. लाल कवि (बनारसी)	कवित्त	१७७५ ई०	चेतसिंह के आश्रित; काशी नरेशों का यशोगान।
८३. लाल झा मैथिल	कनरपीघाट की लड़ाई	१७८० ई०	नरेन्द्रसिंह (दरभंगा) के आश्रित।
८४. गणपति भारती	वीर हजारा	१७७८-१८०३ ई०	सवाई प्रतापसिंह (जयपुर) के आश्रित।
८५. उत्तमचन्द भण्डारी	रतना-हमीर की बात	१७८०-१८०७ ई०	मानसिंह (जोधपुर) के आश्रित।
८६. श्रीकृष्ण भट्ट	आली जा प्रकाश (?)	१७८३ ई०	—
८७. मानकवि	नरेन्द्र-भूषण	१७८८ ई०	रणजोरसिंह का यश-वर्णन।
८८. शिवराम भट्ट	प्रताप-पचीसी }	१७९० ई०	विक्रमादित्य (ओड़छा) के आश्रित।
८९. ”	विक्रम-विलास }		
९०. पद्माकर	हिम्मतबहादुर-विरुदावली	१७९२ ई०	हिम्मतबहादुर और अर्जुनसिंह नोने का युद्ध-वर्णन।
९१. ”	जगद्-विनोद	—	जगतसिंह (जयपुर) की ग्रन्थारम्भ में प्रशंसा।
९२. ”	आलीजाह-प्रकाश (आलीजा सागर)	१८२१ ई०	दौलतराव सिन्धिया की ग्रन्थारम्भ में प्रशंसा।
९३. ”	प्रतापसिंह-विरुदावली	—	सवाई प्रतापसिंह (जयपुर) का यशोगान।
९४. चण्डीदान	वंशाभरण }	१७९१-१८३५ ई०	बूंदी-दरबार के आश्रित।
९५. ”	विरुद-प्रकाश }		”

ग्रंथ सं०	कवि	ग्रन्थ	रचना-काल	विवरण
९६.	मान (खुमान)	समर-सार	१७९५ ई०	विक्रमशाह (चरखारी) के आश्रित; राजकुमार धर्मपाल सिंह की वीरता का वर्णन।
९७.	शिवनाथ	रासाभैया बहादुरसिंह	१७९६ ई०	बहादुरसिंह (बलरामपुर) की वीरता का वर्णन।
९८.	दुर्गाप्रसाद	अजीतसिंह फत्ते (नायक रासो)	१७९६ ई०	रीवाँ के सैनिकों और मराठों के युद्ध का वर्णन।
९९.	जोधराज	हम्मीररासौ	१८२८ ई०	चन्द्रभान (नीमराणा) के आश्रित। हम्मीर और अलाउद्दीन का युद्ध-वर्णन।

२. सहायक ग्रंथ सूची

१. अगरचन्द नाहटा, राजस्थान में हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज, भाग २, उदयपुर विद्यापीठ, प्रथम संस्करण, १९४७ ई० ।

२. अगरचन्द नाहटा, राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज, चतुर्थ भाग, साहित्य संस्थान, राजस्थान विश्वविद्यापीठ, उदयपुर, प्रथम संस्करण, १९५४ ई० ।

३. आर्थर ए० मेक्डानेल, डाक्टर, ए हिस्ट्री ऑव् संस्कृत लिट्रेचर, विलियम हेनमेन लन्दन, सेकेण्ड इम्प्रेशन, नवम्बर, १९०५ ई० ।

४. ईश्वरीप्रसाद, डाक्टर, भारतीय मध्ययुग का इतिहास, (१२००–१५२६ ई०), इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद, १९५५ ई० ।

५. उदयसिंह भटनागर, राजस्थान में हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज, तृतीय भाग, उदयपुर, प्रथम संस्करण, १९५२ ई० ।

६. ए० बेरीडेल कीथ, डाक्टर, ए हिस्ट्री ऑव् संस्कृत लिट्रेचर, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, भाग १, १९४१ ई० ।

७. एम० विंटरनिट्ज, डाक्टर, ए हिस्ट्री ऑव् इण्डियन लिट्रेचर, यूनिवर्सिटी ऑव् कलकत्ता, १९२७ ई० ।

८. एस० एन० दास गुप्ता एण्ड के० डी०, ए हिस्ट्री ऑव् संस्कृत लिट्रेचर, भाग १, कलकत्ता यूनिवर्सिटी, १९४७ ई० ।

९. ऋग्वेद-संहिता, वैदिक यंत्रालय, अजमेर ।

१०. केशव, कवि-प्रिया, नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, १९२४ ई० ।

११. केशव, वीरसिंहदेव-चरित, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी

१२. 'गङ्गा' वेदांक, जनवरी, १९३२ ई०, कृष्णगढ़, सुलतानगञ्ज, भागलपुर ।

१३. जटमल, गोराबादल की कथा, तरुण-भारत-ग्रन्थावली कार्यालय, दारागंज, प्रयाग, प्रथमावृत्ति, सं० १९९१ वि० ।

१४. जी० ग्रियर्सन, सर, मॉडर्न वर्नाक्यूलर लिट्रेचर ऑव् हिन्दुस्तान, कलकत्ता, १८८९ ई० ।

१५. जोधराज, हम्मीररासो, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, तृतीय संस्करण, सं० २००५ ।

१६. टीकमसिंह तोमर, डाक्टर, हिन्दी वीरकाव्य (१६००-१८०० ई०), हिन्दुस्तानी एकेडेमी, उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९५४ ई० ।

१७. द्वादश हिन्दी साहित्य सम्मेलन लाहौर, कार्य-विवरण, दूसरा भाग, (निबन्धमाला), सं० १९७९ वि०, स्वागतकारिणी द्वारा प्रकाशित ।

१८. धर्मवीर भारती, डाक्टर, सिद्ध-साहित्य, किताबमहल प्रकाशन, इलाहाबाद, १९५५ ई० ।

१९-३०. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, काशी, नवीन संस्करण, भाग ३, ५, ६, ८, १०-१५, २०, २२ ।

३१. पद्माकर, हिम्मतबहादुर-विरुदावली, भारतजीवन प्रेस, वाराणसी ।

३२. प्राकृत-पैंगलम्, एशियाटिक सोसायटी ऑव बंगाल, कलकत्ता, १९०२ ई० ।

३३. बाबूराम सक्सेना, डाक्टर, कीर्त्तिलता (विद्यापति-कृत), इण्डियन प्रेस, प्रथम संस्करण, सं० १९८६ वि० ।

३४. भगवानदीन, लाला, केशव-पञ्चरत्न, रामनारायणलाल, इलाहाबाद, प्रथम बार, १९८६ वि० ।

३५. भरतसिंह उपाध्याय, डाक्टर, पालि-साहित्य का इतिहास, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग ।

३६. भूरसिंह शेखावत, ठाकुर, मलसीसर (द्वारा संगृहीत), महाराणा यश-प्रकाश, वेंकटेश्वर स्टीम प्रेस, बम्बई, १९०० ई० ।

३७. भूषण ग्रन्थावली, (पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र द्वारा सम्पादित) काशी, द्वितीयावृत्ति, सं० १९९६ वि० ।

३८. भोलानाथ व्यास, डाक्टर, संस्कृत-कवि-दर्शन, चौखम्बा विद्याभवन, चौक, वाराणसी, प्रथम संस्करण, सं० २०१२ वि० ।

३९. माताप्रसाद गुप्त, डाक्टर, हिन्दी पुस्तक-साहित्य, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, १९४५ ई० ।

४०. मान, राज-विलास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ।

४१-४४. मिश्र-बन्धु, मिश्रबन्धु-विनोद, भाग १-४, गङ्गा ग्रन्थागार, लखनऊ ।

४५. मोतीलाल मेनारिया, राजस्थानी भाषा और साहित्य, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सं० २००६ वि० ।

४६. मोतीलाल मेनारिया, राजस्थान का पिङ्गल साहित्य, हितैषी पुस्तक भण्डार, उदयपुर, प्रथम संस्करण, १९५२ ई० ।

४७. मोतीलाल मेनारिया, राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज, प्रथम भाग, उदयपुर, प्रथम बार, १९४२ ई० ।

४८. रामकुमार वर्मा, डाक्टर, हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, रामनारायणलाल, इलाहाबाद, तृतीय बार १९५४ ई० ।

४९. रामचन्द्र शुक्ल, आचार्य, हिन्दी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी । संशोधित और परिवर्द्धित संस्करण, सं० २००३ वि० ।

५०. रामचन्द्र शुक्ल, आचार्य, चिन्तामणि, भाग २, सरस्वती मन्दिर, जतनबर, काशी,

५१-५२. रामनारायण दूगड़ (द्वारा अनूदित), मुहणोत नैणसी की ख्यात, भाग १-२, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ।

५३. लाल कवि, छत्रप्रकाश, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, १९१६ ई० ।

५४-५५. श्यामसुन्दरदास, डाक्टर, हस्तलिखित पुस्तकों का विवरण, भाग १—२, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ।

५६. शिवसिंह सेंगर, शिवसिंह-सरोज ।

५७. सर्च रिपोर्ट्स फॉर हिन्दी मैनुस्क्रिप्ट्स (प्रकाशित तथा अप्रकाशित), नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ।

५८. सरयूप्रसाद अग्रवाल, डाक्टर, अकबरी दरबार के हिन्दी-कवि, लखनऊ विश्वविद्यालय, प्रथम संस्करण सं० २००७ वि०।

५९. सूदन, सुजान-चरित्र, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, दूसरा संस्करण, सं० १९८० वि०।

६०. सूर्यमल्ल मिश्रण, वंशभास्कर, रामश्याम प्रेस, जोधपुर।

६१. हजारीप्रसाद द्विवेदी, डाक्टर, नाथसम्प्रदाय, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, १९५७ ई०।

६२. हजारीप्रसाद द्विवेदी, डाक्टर, हिन्दी साहित्य का आदिकाल, बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना, प्रथम संस्करण, १९५२ ई०।

६३. हरिवंश कोछड़, डाक्टर, अपभ्रंश साहित्य, भारती साहित्य मन्दिर, दिल्ली।

६४. हरप्रसाद शास्त्री, महामहोपाध्याय, प्रेलिमिनरी रिपोर्ट ऑव दी ऑपरेशन इन सर्च ऑव दी मैनुस्क्रप्ट्स ऑव बारडिक क्रॉनीकिल्स, एशियाटिक सोसायटी ऑव बंगाल, कलकत्ता, १९१३ ई०।

६. संतकाव्य

परिचय

हिन्दी साहित्य में भक्ति से सम्बन्ध रखने वाली भावधारा के अन्तर्गत सन्तकाव्य का विशेष महत्व है। यद्यपि भक्ति-सम्बन्धी काव्य की रचना करने वाले सभी कवियों को 'सन्त' कहा जा सकता है, तथापि 'सन्तकाव्य' उन्हीं कवियों की 'बानियों' का नाम है जिन्होंने निर्गुण सम्प्रदाय के अन्तर्गत काव्य-रचना की है। यह निर्गुण सम्प्रदाय भक्ति-युग के पूर्वार्द्ध में उन समस्त परम्पराओं से प्रभावित है, जो उस समय दक्षिण और उत्तर भारत में मान्य हो रही थीं। यह बात दूसरी है कि सन्तकाव्य में अपने समय की प्रचलित सभी परम्पराओं का समावेश नहीं हो सका, उसके द्वारा उनका प्रतिनिधित्व तो हुआ है, किन्तु उसके अन्तर्गत जन-जीवन की स्वाभाविक एवं धार्मिक प्रेरणाओं की सहज अभिव्यक्ति हुई है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि सन्तकाव्य ने प्राचीन परम्पराओं की स्थूल रूपरेखा ग्रहण कर उसमें जीवनगत पवित्रता के आधार पर विश्व-धर्म की स्वाभाविक प्रेरणा का रंग भरा है। हिन्दी के धार्मिक साहित्य में सन्तकाव्य जन-जीवन के धार्मिक उन्मेष का एक नया प्रयोग है। यही कारण है कि सामान्य जीवन की स्वाभाविक भाव-भूमि पर धर्म की जो प्रेरणा उत्पन्न हुई, उसका अभिव्यक्तीकरण जनभाषा द्वारा ही हुआ। यदि यह कहा जाय कि सन्तकाव्य ने जनभाषा का आश्रय लेकर परवर्ती राम और कृष्ण की भक्ति के लिए काव्य का क्षेत्र प्रशस्त किया तो कोई अत्युक्ति न होगी। नाथ सम्प्रदाय भी जनभाषा में अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन कर चुका था, किन्तु उसकी भाषा में दो बातों की कमी थी। पहली यह कि वह भाषा केवल सिद्धान्तसम्मत थी, उसमें काव्यात्मकता का अभाव था और दूसरी यह कि नाथ सम्प्रदाय एक सीमित सम्प्रदाय होने के कारण अपनी भाषा को व्यापक नहीं बना सका था। सन्त सम्प्रदाय ने धर्मतत्व का सहज निरूपण करते हुए भाषा का भी ऐसा रूप प्रस्तुत किया, जो एक ओर व्यापक जन-जीवन को स्पर्श करता था और दूसरी ओर उसमें काव्यात्मकता का प्रयोग भी सम्भव हो सकता था। इस भाँति निर्गुण सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा करते हुए जन-जीवन की स्वाभाविक अनुभूतियों में सामान्य भाषा के माध्यम से सन्तकाव्य हिन्दी के भक्ति-काव्य का एक महत्वपूर्ण अंश बन सका। सन्तकाव्य का रूप निर्धारित करने में अनेक प्रेरणाओं और परिस्थितियों का योग है।

संतकाव्य की ऐतिहासिक स्थिति विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी से मानी जाती है। इसके प्रवर्तक संत कबीर हैं जिनका जन्मकाल सम्वत १४५६ (सन १५१३ ई०) है। संतकाव्य का उन्नयन करने में अनेक प्रेरणाओं और परिस्थितियों का योग है जो पन्द्रहवीं शताब्दी के पूर्व भी वर्तमान थीं। यह अवश्य कहा जा सकता है कि कबीर ने उन प्रेरणाओं और परिस्थितियों का समन्वय इस प्रकार किया कि वे एक नवीन सम्प्रदाय में अंकुरित हो सकीं और उन्होंने एक नए

दृष्टिकोण का निर्धारण किया। जिन परिस्थितियों में संतकाव्य की रूपरेखा साकार हुई, उनमें हमारे देश के धार्मिक, राजनीतिक एवं सामाजिक इतिहास की पृष्ठभूमि है। इनका विश्लेषण करने पर ही स्पष्ट हो सकेगा कि किन क्षेत्रों में संतकाव्य अपने निर्माण के उपकरण एकत्र कर सका और उन्हें किस रूप में नियोजित कर एक नए सम्प्रदाय का रूप देने में समर्थ हुआ। इन पर क्रम से विचार करना आवश्यक है।[५]

(क) धार्मिक पृष्ठभूमि

संतकाव्य की आधार-शिला अनुभव-ज्ञान की है। उसमें जीवन का प्रत्यक्ष दर्शन है, इसलिये यह स्पष्ट है कि उसमें प्राचीन परम्पराओं की शास्त्रसम्मत मान्यता का आग्रह नहीं है। संतकाव्य के मूल में निगम-आगम-पुराण आदि का कोई महत्व नहीं है। कबीर ने स्वयं कहा है—

कबीर संसा दूर करि, पुस्तक देइ बहाइ।

इस कथन की प्रामाणिकता इसलिए है कि कबीर के परवर्ती कवि तुलसीदास ने इस दृष्टिकोण की निन्दा करते हुए कहा था—

'साखी सबदी' दोहरा, कहि कीनी उपखान,
भगति निरूपहिं भगति कलि, निंदहिं वेद पुराण।

अतः यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि संतकाव्य में प्राचीन वैदिक साहित्य की उपेक्षा की गई है। यदि इस दृष्टिकोण से संतकाव्य पर विचार किया जाय तो ज्ञात होगा कि इसका दृष्टिकोण बौद्ध धर्म के दृष्टिकोण के अनुरूप ही है जो शताब्दियों तक वैदिक धर्म से संघर्ष करता रहा। यदि बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास देखा जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि संतकाव्य बौद्ध साहित्य की परम्परा से ही अनुप्राणित हुआ होगा। बौद्ध धर्म से वैपुल्यवाद या महायान का विकास हुआ, महायान से मंत्रयान, मंत्रयान से वज्रयान या तांत्रिक बौद्ध धर्म में परिणत हुआ। इसी वज्रयान की प्रतिक्रिया में नाथ सम्प्रदाय का विकास हुआ और नाथ सम्प्रदाय के प्रेरणामूलक तत्वों को ग्रहण कर संत सम्प्रदाय अवतरित हुआ। यह देखा जा सकता है कि इस विकास की प्रक्रिया में बौद्ध धर्म से लेकर नाथ सम्प्रदाय तक जो जो जीवन के तत्व मनोभावों के धरातल पर उभर सके उन सब का समाहार संत सम्प्रदाय में हुआ। बौद्ध धर्म के शून्यवाद से लेकर नाथ सम्प्रदाय के योग तक तथा वज्रयान के सिद्धों की 'संधा भाषा' की उलटबाँसियों से लेकर नाथ सम्प्रदाय की अवधूत भावना तक संतकाव्य में सभी विचार-सरणियाँ पोषित हो सकीं। बौद्ध धर्म से प्रेरित इस विचार-धारा के विकास में ही यह संभव हुआ कि संतकाव्य उन समस्त वैदिक परम्परा के कर्मकांडों का विरोध कर सका जो कालान्तर में वैष्णव धर्म में भक्ति के साधन थे। इसीलिए अवतार, मूर्ति, तीर्थ, व्रत, माला, आदि संत सम्प्रदाय को ग्राह्य नहीं हो सके जो कर्मकांड के प्रतीक बने हुए थे। दूसरी ओर शून्य, काया-तीर्थ, सहज-समाधि, योग जिसके अन्तर्गत इडा, पिंगला, सुषुम्ना नाड़ियाँ, षटचक्र, सहस्रदल कमल, चन्द्र और सूर्य तथा जीवन के स्वाभाविक और अन्तःकरणजनित श्रद्धा और रागात्मिका वृत्ति की प्रधानता संत-

काव्य में हो सकी। अतः यह स्पष्ट है कि संतकाव्य अपने मौलिक विचारों की कोटि में बौद्ध धर्म की परंपरा के अन्तर्गत है तथा उसका सम्बन्ध बौद्ध धर्म के परवर्ती सम्प्रदायों से होता हुआ प्रत्यक्ष रीति से नाथ सम्प्रदाय से है।"

बौद्ध धर्म की विचारधारा से संत सम्प्रदाय का सम्बन्ध निरूपित हो जाने पर यह भी देखना उचित है कि वैदिक साहित्य की परम्परा में वैष्णव धर्म का प्रभाव कितनी मात्रा अथवा किस रूप में संतकाव्य पर पड़ सका है। विक्रम की चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दी में रामानन्द का प्रभाव उत्तरी भारत में व्यापक रूप से पड़ा। भक्ति का प्रवाह जो दक्षिण से उत्तर तक प्रवाहित हुआ उसने समस्त उत्तरी भारत को धर्म के क्षेत्र में भक्ति के प्रति आकृष्ट किया। यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि भक्ति का जनव्यापी प्रभाव दक्षिण के अलवार गायकों से ही ईसा की छठवीं शताब्दी में आरम्भ हो चुका था। इनके गीतों ने बड़ी लोकप्रियता प्राप्त कर ली थी। जनता के लिए भी वेद-विहित याज्ञिक अनुष्ठान की अपेक्षा भक्ति का रागात्मक रूप अधिक आकर्षक था, किन्तु जब आठवीं शताब्दी के आरम्भ में कुमारिल ने पुनः याज्ञिक कर्मकांड की प्रतिष्ठा की और शंकराचार्य ने मायावाद के आधार पर संसार को मिथ्या प्रमाणित करते हुए ब्रह्म और जीव के बीच अद्वैतवाद का सिद्धान्त प्रतिपादित किया तो इस वैष्णव भक्ति का स्रोत अवरुद्ध-सा हो गया। ब्रह्म और जीव जब एक ही हैं तो भक्ति किसकी किसके प्रति होगी? इसलिए ग्यारहवीं शताब्दी के आरम्भ में नाथ मुनि ने भक्ति की दार्शनिक व्याख्या की और एक शताब्दी बाद रामानुजाचार्य ने अद्वैत के भीतर ही एक नए सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जिसमें जीव को ब्रह्म का एक विशिष्ट रूप माना गया जो ब्रह्म से भिन्न तो नहीं है, किन्तु अपने पार्थक्य से वह भक्ति का अधिकारी है। इस भाँति दर्शन के आधार पर शंकर ने जो भक्ति की महत्ता समाप्त कर दी थी, वह नए ढंग से पुनः प्रतिष्ठित हुई। भक्ति को एक दार्शनिक आधार प्राप्त हो गया जिसकी उस समय बहुत आवश्यकता थी। रामानुज के बाद मध्व और निम्बार्क ने भी भक्ति का पक्ष सबल बनाया और वह शंकर के ज्ञान तथा योग से अधिक शक्तिशाली प्रमाणित हुआ, यद्यपि यह ज्ञान और योग, शैव धर्म का आश्रय लेकर, नाथ सम्प्रदाय के रूप में भारत के अनेक स्थानों में प्रचारित होता रहा। रामानन्द ने रामानुजाचार्य के भक्ति-सिद्धान्तों को उत्तर भारत में अनेक प्रयोगों के साथ प्रस्तुत किया। यह भक्ति-मार्ग ही उत्तर भारत में एक ऐसी ढाल बना सका जिस पर विदेशियों की धर्म-प्रचार की तलवार भी कुंठित हो गई।

दक्षिण से उत्तर की ओर आने में इस भक्ति सम्प्रदाय को अनेक बाधाओं का सामना करना पड़ा। पहली बाधा तो शैव धर्म के ज्ञान और योग की थी जो नाथ सम्प्रदाय की साधना में पोषित हो रही थी। आठवीं शताब्दी में शंकराचार्य का प्रभाव देशव्यापी था और इसलिए वज्रयान की गुह्य साधनाओं की प्रतिक्रिया में जो नाथ सम्प्रदाय नवीं शताब्दी में उठ खड़ा हुआ था, उसने सहज ही शिव को आदि नाथ मान कर ज्ञान और योग में अपनी साधना का रूप निर्धारित कर लिया था। इसलिए अपनी उत्तरी यात्रा में भक्ति की लहर जब महाराष्ट्र में पहुँची तो वहाँ शैव सम्प्रदाय का प्रभाव वर्तमान था। १२९० ई० (सं० १३४७ वि०) में लिखित ज्ञानेश्वरी के रचयिता ज्ञानेश्वर स्वयं नाथ सम्प्रदाय के अनुयायी थे। वे गुरु गोरखनाथ की

परम्परा में हुए थे। यद्यपि ज्ञानेश्वरी भगवद्गीता के आधार पर ही लिखी गई है, तथापि उसमें तत्व-निरूपण की पद्धति अनेकानेक रूपकों और प्रतीकों के आधार पर नाथ सम्प्रदाय की परम्परा के अनुरूप ही है। "जब धृतराष्ट्र ने संजय से महाभारत के परिणाम के सम्बन्ध में पूछा कि विजय किसकी रहेगी तो संजय ने निस्संकोच होकर कहा—'जहाँ कृष्ण हैं, वहीं विजय है; जहाँ चन्द्र है, वहीं चाँदनी है; जहाँ देव शंकर हैं, वहीं देवी अम्बिका हैं; जहाँ संत हैं, वहीं विवेक है; जहाँ राजा है, वहीं सेना है; जहाँ सात्विकता है, वहीं मैत्री है; जहाँ अग्नि है, वहीं जलाने की शक्ति है; जहाँ दया है, वहीं धर्म है; जहाँ धर्म है, वहीं सुख है; जहाँ सुख है, वहीं ब्रह्म है; जहाँ गुरु हैं, वहीं ज्ञान है...' आदि।"

ज्ञानेश्वर के समकालीन नामदेव (जन्म १२७० ई०=सं० १३२७ वि०) ने विट्ठल की उपासना की, जिसमें नाम-स्मरण का अत्यधिक महत्व है। यह विट्ठल सम्प्रदाय सन १२०९ (सं० १२६६ वि०) के लगभग पंढरपुर में प्रचारित हुआ। इसके प्रचारक कन्नड संत पुंडलीक कहे जाते हैं। विट्ठल सम्प्रदाय वैष्णव सम्प्रदाय और शैव सम्प्रदाय का मिश्रित रूप है। इस प्रकार विट्ठल सम्प्रदाय के संत विष्णु और शिव में कोई अन्तर नहीं मानते। विट्ठल की उपासना विष्णु के अवतार वासुदेव कृष्ण की उपासना से ही आरम्भ हुई, पर आगे चल कर विट्ठल और पांडुरंग में कोई अन्तर नहीं रह गया। पांडुरंग वस्तुतः श्वेत अंग वाले शिव ही हैं। इस भाँति विष्णु ही शिव हैं और शिव ही विष्णु हैं। पंढरपुर में विट्ठल की मूर्ति शिवलिंग को शीश पर चढ़ाए हुए विष्णु की ही है। ये विट्ठल इस भाँति एक सर्वव्यापी ब्रह्म के प्रतीक बन कर समस्त महाराष्ट्र में आराध्य मान लिए गए। ऐसा ज्ञात होता है कि आठवीं शताब्दी के शैव धर्म से ग्यारहवीं शताब्दी के वैष्णव धर्म का समझौता विट्ठल सम्प्रदाय के रूप में हुआ जिसके सब से बड़े संत नामदेव हुए। इस भाँति महाराष्ट्र में आते-आते दक्षिण की भक्ति में कुछ संशोधन हुआ और वह एक व्यापक रूप लेकर ज्ञान के आश्रय से आत्मचिंतन के रूप में परिवर्तित हुई और यहीं इस भक्ति में रहस्यवाद की अनुभूति उत्पन्न हुई। ज्ञानेश्वर और नामदेव ने साथ-साथ सारे उत्तर भारत का पर्यटन किया और अपने इस व्यापक धर्म का प्रचार किया। इस विट्ठल सम्प्रदाय के अन्तर्गत अनेकानेक संत हुए जिनमें गोरा कुम्हार, साँवता माली, नरहरि सोनार, चोखा भंगी, जनाबाई दासी, सेना नाई, कान्हो पात्रा वेश्यापुत्री प्रमुख हैं। भक्तों के लिए ज्ञानेश्वर ने 'संत' शब्द का प्रयोग कर ही दिया था—

ज्ञान देव ह्मणें तुम्हीं संत बोलगावेति आम्हीं ।
हें पडविलों जी स्वामी निवृनिदेवी । (ज्ञानेश्वरी १२)
आत्मज्ञानें चोखडी । संत हे माझे रूपडी । (१८, १३५६)

इस भाँति यह स्पष्ट देखा जा सकता है कि महाराष्ट्र में दक्षिण की भक्ति को लेकर तेरहवीं शताब्दी के आसपास ऐसी विचारधारा प्रवाहित हुई जिसमें विट्ठल को ब्रह्म का प्रतीक मान कर उसके प्रेम की पवित्र धारा में जाति और वर्ग का सारा द्वेष बह गया और नाम का संस्कार हृदय में स्थिर हो गया। संभव है कि यह परिस्थिति महानुभाव सम्प्रदाय के प्रच्छन्न प्रभाव के कारण हुई हो जिसकी स्थापना ग्यारहवीं शताब्दी के आरम्भ में हुई थी और जिसमें जाति-बन्धन की शिथिलता के साथ कृष्ण चक्रधर की उपासना प्रबल हो गई थी। इसमें नाथ सम्प्रदाय

की जातिगत उपेक्षा भी, संभव है, सम्मिलित हो गई हो। इस प्रकार भक्ति का यह ऐसा उन्मेष था जिसमें दरजी, कुम्हार, माली, सोनार, भंगी, दासी, नाई और वेश्यापुत्री समान रूप से नाथ-सम्प्रदाय के प्रभावों को लिए हुए वैष्णव भक्ति में लीन हुए। उन्होंने जहां 'अनाहत नाद' के अलौकिक माधुर्य में परमात्मा की अनुभूति प्राप्त की, वहाँ प्रेम के दिव्य आलोक में उन्होंने अपनी वास्तविक सत्ता पहिचानी और उसमें उन्होंने परमात्मा की विभूति देखी। महाराष्ट्र में इस भक्ति का संस्कार दो प्रमुख बातों में हुआ। पहली तो यह कि कर्मकांड की अपेक्षा हृदय की पवित्रता और शुद्धता को महत्व दिया गया और दूसरी यह कि प्रत्येक जाति का व्यक्ति अपने सीमित संस्कारों से मुक्त होकर जीवन्मुक्ति के उस धरातल पर पहुँचा जहाँ उसकी 'संत' संज्ञा हो जाती है।

एक बात और भी है। सन १२९४ ई० (सं० १३५१ वि०) में अलाउद्दीन खिलजी ने देवगिरि के राजा रामदेव राव पर आक्रमण किया। इससे पूर्व दक्षिण में मुसलमानों का प्रभाव नहीं के बराबर था। अलाउद्दीन खिलजी ने देवगिरि के राजा रामदेव राव से प्रचुर धनराशि प्राप्त की। बारह वर्ष बाद सन १३०६ (सं० १३६३ वि०) में उसने अपने सेनापति मलिक काफूर के सेनापतित्व में तीस अश्वारोहियों की जो सेना भेजी उससे देवगिरि राज्य की अपार क्षति हुई। रामदेव राव की मृत्यु (१३०९ ई० = सं० १३६६ वि०) के कुछ दिन बाद ही १३१८ ई० (सं० १३७५ वि०) में देवगिरि राज्य समाप्त हो गया। नामदेव की मृत्यु १३५०ई० (सं० १४०७ वि०) में हुई। इस भाँति नामदेव ने महाराष्ट्र में ५६ वर्ष तक मुसलमानों के आतंक का अनुभव किया। विधर्मी विदेशियों के प्रभाव की यह प्रतिक्रिया भी हो सकती है कि विट्ठल सम्प्रदाय के अंतर्गत होते हुए भी नामदेव ने मूर्तिपूजा पर बल न देकर नाम-स्मरण पर ही अधिक बल दिया। वैष्णव भक्ति सम्प्रदाय में विष्णु के अवतार कृष्ण चक्रधर की मूर्ति और शैव सम्प्रदाय में शिवलिंग की उपासना मान्य थी, इसी प्रकार विट्ठल सम्प्रदाय में विट्ठल की विष्णु और शिव की सम्मिलित एक मूर्ति की उपासना थी। अतः नामदेव की उपासना-पद्धति में भी मूर्ति का स्थान विशेष रूप से होना चाहिए था। किन्तु नामदेव के अभंगों में जीवन की पवित्रता और प्रेम से विट्ठल की अनुभूति करना ही विशेष महत्व का अंग है। विट्ठल की इस आन्तरिक उपासना के तीन उपकरण माने जा सकते हैं—भक्ति का प्रेम-तत्व, नाथ सम्प्रदाय का चिंतन और मुसलमानी प्रभाव से मूर्ति उपासना का वर्जित वातावरण। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि उत्तर भारत में संत सम्प्रदाय का जो उत्थान वैष्णव भक्ति को लेकर हुआ था उसका पूर्वार्द्ध महाराष्ट्र में विट्ठल सम्प्रदाय के संतों द्वारा प्रस्तुत हो चुका था जिनमें ज्ञानेश्वर और नामदेव प्रमुख थे। ज्ञानेश्वर और नामदेव ने उत्तर भारत की यात्रा भी की थी इसलिए यह भी सम्भव है कि उन्होंने अपनी यात्रा में पन्द्रहवीं शताब्दी में प्रचारित होनेवाले संत सम्प्रदाय की भूमिका प्रस्तुत कर दी थी। इस दृष्टि से यदि संत सम्प्रदाय के विकास का इतिहास देखा जाय तो यह कहा जा सकता है कि संत सम्प्रदाय का आरम्भ तेरहवीं शताब्दी में ही हो चुका था। इस पूर्व पक्ष में वह महाराष्ट्र में विट्ठल सम्प्रदाय के रूप में रहा और पन्द्रहवीं शताब्दी में प्रचारित होने वाले उत्तर पक्ष में वह उत्तर भारत में निर्गुण सम्प्रदाय का रूप बना। इस भाँति संत सम्प्रदाय के दो पक्ष दक्षिण और उत्तर में बने जो अपनी विचारधारा में भक्ति के कर्मकांड की उपेक्षा कर मानसिक पवित्रता पर ही अधिक बल देते रहे। ये दोनों पक्ष

एक दूसरे का समर्थन भी करते रहे। जहाँ विट्ठल संप्रदाय की जनाबाई[1] ने कबीर की सिद्धि का उल्लेख किया है, वहाँ निर्गुण संप्रदाय के कबीर ने ज्ञानदेव और नामदेव का उल्लेख ही नहीं वरन विट्ठल को भी अपने ईश्वर के रूप में माना है।

उत्तर भारत में निर्गुण संप्रदाय का जो रूप प्रचारित हुआ उसमें विट्ठल से दो विशेषताएँ अधिक थीं। पहली विशेषता तो यह थी कि पन्द्रहवीं शताब्दी में भक्ति का प्रसार उत्तर भारत में पहुँचने के साथ ही उसे रामानन्द का आश्रय प्राप्त हुआ, जिन्होंने नवीन ढंग से वैष्णव धर्म को उत्तर में पुनर्जीवित-सा कर दिया। दक्षिण से उठने वाली भक्ति की जो धारा उत्तर तक आते-आते अनेक संशोधनों के साथ अपनी शक्ति बहुत कुछ खो चुकी थी, वह फिर अपने नए रूप में व्यवस्थित हो गई। दूसरी विशेषता यह थी कि पन्द्रहवीं शताब्दी तक एक ओर तो मुसलमानी सत्ता उत्तर भारत में अपना धार्मिक प्रभाव यथेष्ट मात्रा में बढ़ा चुकी थी; हिन्दू और मुसलमानों के दो वर्ग अपनी धार्मिक मान्यताओं में खड़े हो गए थे और दूसरी ओर बारहवीं शताब्दी से भारत में आने वाला सूफी संप्रदाय भी अपने विभिन्न वर्गों में व्यवस्थित हो चला था। परिणामस्वरूप एक ओर तो मुसलमानों का मूर्तिपूजा के विरुद्ध 'जिहाद' था और दूसरी ओर सूफियों की प्रेममयी सौम्य मनोवृत्ति थी जो भारत में आकर यहाँ के धार्मिक वातावरण से प्रभावित भी हो रही थी। इस भाँति रामानन्द की वैष्णवी भक्ति के नवीन प्रयोग और मुसलमानों की हिंसा एवं प्रेममयी दोनों प्रवृत्तियाँ इस संत सम्प्रदाय के प्रतिष्ठित होने की भूमिकाएँ प्रस्तुत कर रही थीं।

रामानुजाचार्य की शिष्य-परम्परा में रामानन्द ने जिस भक्ति का प्रचार किया था उसमें बहुत कुछ अंश विट्ठल सम्प्रदाय का भी था। जाति-बन्धन की शिथिलता, नाम की महत्ता, और भक्ति में प्रेम की प्रधानता के बीज उन्हें विट्ठल सम्प्रदाय से ही प्राप्त हुए ज्ञात होते हैं। उन्होंने विष्णु नाम के स्थान पर कृष्ण, चक्रधर या विठ्ठल की अपेक्षा 'राम' को ही अधिक उपयुक्त समझा और उसकी सर्वोपरिता सिद्ध करने के लिए उन्होंने अद्वैत का आश्रय भी लिया। इसीलिए निर्गुण सम्प्रदाय की नवीन प्रयोगशाला में कबीर ने राम को ही अन्य नामों के बीच सर्वाधिक महत्व प्रदान किया। यों राम की उपासना विष्णु के अवतार के रूप में रामानन्द से पहले भी थी पर रामानन्द ने राम के रूप में ही ब्रह्म की उपासना करने की भावना को प्रश्रय दिया। रामानन्द आचार्य थे। अभी तक वैष्णव धर्म के किसी आचार्य ने द्विजातियों के अतिरिक्त अन्य जातियों को भक्ति की दीक्षा नहीं दी थी। रामानन्द ने आचार्य होते हुए भी निम्न जाति के व्यक्तियों को भी वैष्णव धर्म में दीक्षित किया। उनके बारह शिष्यों में कबीर जुलाहे थे, सेन नाई थे और रैदास चमार थे। रामानन्द की यह सार्वजनिक भक्ति इस्लाम से संघर्ष लेने के लिए पर्याप्त थी और उनकी राम-भक्ति के निर्गुण और सगुण दोनों पक्षों ने सामान्य जनता की धार्मिक आस्था को सुदृढ़ कर दिया।

विदेशियों के आगमन से धार्मिक वातावरण में कुछ परिवर्तन अवश्य हुए और मुसलमानी सत्ता की असहिष्णुता ने भक्ति मार्ग के स्वाभाविक विकास का मार्ग अवश्य अवरुद्ध किया

---

१. मिस्टिसिज्म इन महाराष्ट्र, आर० डी० रानाडे, पृष्ठ २०६, २०७।

किन्तु सूफीमत ने उसमें एक नया पार्श्व भी जोड़ा। यों तो सूफीमत अपनी विकासकालीन अवस्था में वेदान्त का ऋणी है, फिर चाहे उसमें कुरान के सात्विक सिद्धान्तों का सम्मिश्रण भले ही हो, किन्तु यह प्रसंग यहाँ विचारणीय नहीं है। प्रस्तुत प्रश्न तो यही है कि सूफीमत ने ऐसी कौन सी विशेषता भक्ति मार्ग में जोड़ दी जो पंढरपुर के विट्ठल संप्रदाय की भक्ति में नहीं थी।

ईसा की बारहवीं शताब्दी में इस देश में सूफीमत का प्रवेश हुआ। यह मत चार संप्रदायों के रूप में आया जिन्होंने समय-समय पर देश में अपना प्रचार किया। ये हैं—

१. चिश्ती संप्रदाय — बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में प्रचारित हुआ।
२. सुहरावर्दी संप्रदाय — तेरहवीं शताब्दी के पूवार्द्ध में संगठित हुआ।
३. कादरी संप्रदाय — पन्द्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पोषित हुआ।
४. नक्शबंदी संप्रदाय — सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में व्यवस्थित हुआ।

ये चारों संप्रदाय अपने मूल सिद्धान्तों में समान थे। धार्मिक और सामाजिक पक्षों में ये सभी संप्रदाय अत्यन्त उदार थे—अनेक देववाद के विपरीत ईश्वर की एकता (यूनिटी ऑफ गॉड) और सर्वोपरिता (ट्रांसेन्डेन्टल गॉडहुड) सर्वमान्य है और केवल आचारात्मक दृष्टिकोण से इन संप्रदायों में नाममात्र का भेद है। कहीं ईश्वर के गुण जोर से कहे जाते हैं, कहीं मौन रूप से स्मरण किए जाते हैं, कहीं गाकर कहे जाते हैं, इत्यादि। चिश्ती और कादरी संप्रदायों में संगीत का जो महत्व है वह सुहरावर्दी और नक्शबंदी संप्रदायों में नहीं है। पिछले संप्रदायों में नृत्य और संगीत धार्मिक भावना की दृष्टि से अनुचित समझे गए हैं, अन्यथा ईश्वर की उपासना के सरलतम मार्ग की शिक्षा सभी संप्रदायों में समान रूप से मुख्य है। इसीलिए सूफी धर्म में एक संप्रदाय के संत सरलता से किसी दूसरे संप्रदाय के सदस्य बन सकते थे।[1]

सूफीमत के सिद्धान्त मूलतः वही थे जो शंकराचार्य के अद्वैतवाद के थे। ब्रह्म (हक) की व्यापकता सर्वत्र है और जीव (बन्दा) उसका अंश (जात) होकर उसी में शाश्वत जीवन (वफा) के लिए अपने इन्द्रियजनित अस्तित्व (नफस) को नष्ट (फना) करता है। इसकी साधना चार स्थितियों (शरीयत, तरीकत, हकीकत, और मारिफत) में होती है। मारिफत में अनलहक (मैं हक—ब्रह्म हूँ) प्रत्यक्ष हो जाता है। यह साधना प्रेम (इश्क) और प्रेम की भावुकता (इश्क के खुमार) द्वारा संभव हो सकती है, जिसको नष्ट करने के लिए शैतान (माया) सदैव प्रयत्नशील है। शैतान का प्रभाव दूर करने के लिए संपूर्ण शुभ आचरणों से पूर्ण और सम्पूर्ण दुराचरणों से युक्त (अबूबक्र हरीरी के अनुसार) अथवा पवित्र जीवन, त्याग और शुभ गुण का आश्रय (शहाबुद्दीन सुहरावर्दी के अनुसार) आवश्यक है। गजाली ने कहा है कि ज्ञान और आचरण के मिश्रण का नाम 'सूफी' धर्म है। शरीयत (कुरानोक्त) के भक्ति मार्ग और सूफी मार्ग में यही अन्तर ह कि शरीयत में ज्ञान के बाद आचरण (कर्म) आता है और सूफी मार्ग के अनुसार आचरण के बाद ज्ञान।[2]

---

१. हिं० सा० आ० इ०, पृष्ठ ३०३।
२. दर्शन दिग्दर्शन, राहुल सांकृत्यायन, पृष्ठ १०२।

यदि भारतीय दृष्टि से देखा जाय तो अद्वैतवाद और विशिष्टाद्वैत का मिश्रण सूफीमत की रूपरेखा है। विशिष्टाद्वैत की प्रेममयी भक्ति ही सूफीमत में इश्क की साधना है, किन्तु उसमें कर्मकांड का स्थान नहीं है। केवल जप (जिक्र) और ईश्वर की तन्मयता में ईश्वरानुभूति (तसव्वुफ) उसका लक्ष्य है। यद्यपि रहस्यवाद के दर्शन हमें विट्ठल संप्रदाय के संत नामदेव के काव्य में होते हैं, तथापि उसमें उस 'खुमार' पर बल नहीं दिया गया है जो सूफीमत की विशेषता है। उसमें तो भक्ति के बल पर ब्रह्मानुभूति का आनन्द और उल्लास ही है।

उत्तर के संत संप्रदाय में जहाँ रामानन्द के प्रभाव से अद्वैत और विशिष्टाद्वैत की संधि में रहस्यवाद की पुष्टि हुई है और उसके द्वारा निर्गुण ब्रह्म से अभिन्नता स्थापित हुई है, वहाँ पवित्र आचरणमयी मानसिक भक्ति में प्रेम की प्रेरणा उत्पन्न हुई और उस प्रेम में मादकता की स्पष्ट व्यंजना हुई है। इसके लिए सूफीमत के रूपकों से मिलते-जुलते रूपक भी ग्रहण किए गए हैं। संत कबीर ने एक स्थान पर लिखा है —

हरि रस पीया जानिए, जे कबहुँ न जाय खुमार।
मैमंता घूमत फिरैं, नाहीं तन की सार॥[1]

संत संप्रदाय में आचरण की पवित्रता तो विशिष्टाद्वैत की भक्ति, नाथ संप्रदाय की सहज साधना और विट्ठल सम्प्रदाय के प्रतिबिम्बित प्रभाव से भी आ सकती थी, किन्तु भक्ति में प्रेम की मस्ती और मादकता सूफीमत से ही आई हुई ज्ञात होती है। इसी प्रकार कबीर ने माया का जैसा मानवीकरण किया है, वह सूफीमत के शैतान से बहुत कुछ साम्य रखता है। इस भाँति यह स्पष्ट हो जाता है कि उत्तर भारत में संत संप्रदाय की भूमि तैयार करने के लिए निम्नलिखित धार्मिक प्रभाव देखे जा सकते हैं—

१. बौद्ध धर्म से विकसित हुई कर्मकांडों के निषेध की प्रवृत्ति लिए हुए वज्रयान की प्रतिक्रिया में उत्पन्न नाथ सम्प्रदाय की आत्मानुभव और योग की परम्परा,

२. विट्ठल सम्प्रदाय की प्रेमासक्ति,

३. रामानन्द के प्रभाव से उत्पन्न अद्वैतवाद और विशिष्टाद्वैत की सम्मिलित विचार-धारा में भक्ति की साधना, और

४. सूफीमत की रूपकों से संपन्न रहस्यवादमयी मादकता और माया के मानवीकरण की एक नई प्रवृत्ति।

इन चारों प्रभावों के समन्वय में ही कबीर की स्वाभाविक सृजनात्मक अन्तर्दृष्टि ने संत संप्रदाय की रूपरेखा निर्मित की। इसमें विट्ठल संप्रदाय की प्रेमासक्ति को अग्रसर करते हुए धर्म की ऐसी भावना-भूमि तैयार हुई जिसमें सामान्य जनता अपने आराध्य को पहचानने में समर्थ हुई।

(ख) राजनीतिक पृष्ठभूमि

संत साहित्य के निर्माण में राजनीतिक परिस्थितियों का भी विशेष हाथ रहा। उत्तर भारत में संत संप्रदाय का आविर्भाव-काल विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी है। उस समय उत्तरी भारत राज-

---

१. कबीर ग्रन्थावली, सं० श्यामसुन्दरदास, पृष्ठ १६।

नीतिक दृष्टिकोण से अत्यन्त अव्यवस्थित था। सन १३९८ (सं० १४५५) में तैमूर के आक्रमण ने दिल्ली की नीवें हिला दी थीं और समस्त राजनीतिक मान्यताएँ पंक के जल की भाँति मलीन हो गई थीं। जो राजवंश दिल्ली में उठे, वे वर्षाकाल के बादलों की भाँति उठे, घुमड़े, गर्जे, और पानी-पानी हो कर भूमि पर गिर पड़े। उनके कुछ काल तक घुमड़ने और गरजने में ही सारी राजनीतिक, सामाजिक, और धार्मिक परिस्थितियाँ अस्त-व्यस्त हुईं और उनके रूपों में परिवर्तन हुए। विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी में तुगलक, सैयद और लोदी राजवंशों ने उत्तरी भारत का शासन किया। मुहम्मद-बिन-तुगलक (सन १३२५—१३५१ ई० = सं० १३८२—१४०८ वि०) से लेकर इब्राहीम लोदी (सन १५१८—१५२६ ई० = सं० १५७५—१५८३ वि०) तक सोलह शासक दिल्ली के तख्त पर बैठे और उन्होंने अपने राज्यकाल में शासन-व्यवस्था के बदले अधिकतर आक्रमण और युद्ध ही किए। ये युद्ध निरन्तर होते रहे और राज्य-लिप्सा के साथ साथ धर्म का प्रचार भी इन युद्धों का कारण बनता रहा। इसीलिए इन युद्धों का स्वाभाविक परिणाम जनता में घोर असंतोष का कारण बना। इसी असंतोष ने समस्त जनता का ध्यान राजनीति से हटाकर धर्म की ओर और धर्म की मान्यताओं पर आधारित समाज की ओर आकृष्ट किया। इस समय राजनीति कटी हुई पतंग की भाँति पतनोन्मुख हो रही थी। जो उसकी घिसटती हुई डोर पकड़ लेता, वही उसे भाग्याकाश की ऊँचाई तक खींच ले जाता। राजनीति में कोई पवित्रता नहीं रही। कूटनीति, हिंसा, छल त्रिशूल की भांति फेंके जाते थे और देश के वक्षस्थल में चुभ कर उसे रक्त से नहला देते थे। स्मशान में घूमते हुए प्रेतों की भाँति दिल्ली के शासक शवों पर बैठ कर आनन्द से खिलखिला उठते थे। जब शासकों की सेवा में रहने वाले हिजड़े और गुलाम भी सिंहासन पर अधिकार कर प्रजा के भाग्य का निर्णय करते थे तो उनके प्रति जनता के हृदय में कितनी श्रद्धा और स्वामि-भक्ति हो सकती थी! इस भांति शासक वर्ग जनता की सहानुभूति खो चुका था, जनता भी 'कोउ नृप होउ' की मनोवृत्ति से राजनीति के प्रति उदासीन थी—उदासीन ही नहीं, आक्रोशमयी भी हो उठी थी, क्योंकि म्लेच्छ और शूद्र उसके आचार-विचार के निर्णायक थे और आज यदि 'क' शासक है, तो कल 'ख' होगा और दोनों ही उसके धर्म और प्राण के गाहक थे। किसके प्रति सहानुभूति और किसके प्रति घृणा, इसके निर्णय की बात ही नहीं थी। इसलिए राज्यों के उत्थान और पतन होते रहे और जनता प्रेक्षक की भाँति सारे दृश्य बिना किसी 'आह' और 'वाह' के देखती रही। दो शताब्दियों बाद भी राजनीति की विगर्हणा करते हुए तुलसीदास ने दोहावली में लिखा था—

> गोंड गंवार नृपाल महि, यवन महा महिपाल।
> साम न दाम न भेद कहुं, केवल दंड कराल॥

जब दो शताब्दियों बाद अकबर के अपेक्षाकृत शान्तिपूर्ण शासनकाल में यह स्थिति थी, तो आलोच्य काल की राजनीतिक स्थिति की अव्यवस्था और आतंक के विषय में सहज ही अनुमान किया जा सकता है। कबीर ने अपने एक पद में आध्यात्मिक रूपक रखते हुए भी तत्कालीन राजनीतिक स्थिति की ओर संकेत किया है—

> एकु कोटु पंच सिकदारा पंचे मागहिं हाला।
> जिमी नाही मैं किसी की बोई, ऐसा देनु दुखाला।

ऊपरि भुजा करि मैं गुर पहि पुकारिआ
तिनि हउ लीआ उबारी ॥१॥
नउ डाडी दस मुंसफ धावहि, रईअति वसन न देही ।
डोरी पूरी माँपहि नाहीं, बहु बिसटाला लेहीं ॥आदि
संत कबीर, रागु सूही ५

राजनीति की ऐसी हिंसापूर्ण प्रवृत्ति के कारण देश की समस्त प्रतिभा जीवन की व्यवस्था की ओर अग्रसर हुई और धर्म एवं समाज के संगठन की ओर उसका ध्यान आकृष्ट हुआ। एक बात और थी। जब मुसलमान शासकों ने अपनी शक्ति का प्रयोग धर्म के प्रचार करने में किया, तो जनता में इसकी मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया स्वाभाविक थी। मुसलमानी राज्य के पूर्व भी राजनीति के साथ धर्म चलता था, चाहे वह धर्म वैदिक हो या बौद्ध। किन्तु यह राजनीति सहिष्णु थी। वैदिक धर्म में विश्वास रखने वाला नरेश बौद्ध धर्म को भी जीवित रहने की सुविधा दे देता था, किन्तु अधिकांश मुसलमान शासक अपने धर्म, इस्लाम का केवल प्रचार ही नहीं करते थे, भारतीय धर्म के प्रतीक, मन्दिरों और विहारों को भी ध्वस्त करते थे। उन आक्रमणकारियों को दो लाभ थे। एक तो मन्दिर में संचित अपार सम्पत्ति उनके हाथ आती थी और दूसरे मूर्तियों को तोड़ने और काफिरों को मारने से उन्हें अपने धर्म में 'गाजी' और 'मुजाहिद' का सम्मान प्राप्त होता था। तैमूर ने सन १३९८ ई० (सं० १४५५ वि०) में भारत पर जो आक्रमण किया था, उसका उद्देश्य भी यही था। उसके संस्मरण में इस बात का स्पष्ट उल्लेख है।[1] तैमूर की शक्ति और उसकी विजय-यात्रा की सफलता बाद के सभी शासकों के लिए आदर्श बन गई और उनका शासन तैमूर के पद-चिह्नों पर ही होने लगा[2]।

---

1. 'My object' he wrote or caused to be written in his memoirs, 'my object in the invasion of Hindustan is to lead a campaign against the infidels, to convert them to the true faith according to the command of Mohammad (on whom and his family be the blessing and peace of god), to purify the land from the defilement of misbelief and polytheism and overthrow the temples and idols, whereby we shall be *ghasis* and *mujahids*, champions and soldiers of the faith before God.

Stanely Lane-poole, Mediaeval India under Mohammadan Rule, page 155 (T. Fisher Unwin. Ltd.).

2. Khizr Khan, the founder of the dynasty of Syyids, who claimed descent from the family of the Arabian Prophet, had prudently cast his lot with Timur when the 'noble Tartarian' invaded India and on taking the command at Delhi, in May 1414, he made no pretention to be more than Timur's deputy.

—Ibid. page 16r.

मुसलमानों के इस धर्म-प्रचार ने प्रतिक्रिया स्वरूप भारतीय धर्म को भी व्यवस्थित होने की प्रेरणा प्रदान की। दक्षिण से धर्म की जो लहर उठी थी वह आचार्यों के हाथ से निकल कर जनता के कवियों के हाथ में आ गई और वे धर्म और समाज की व्यवस्था के लिए जनभाषा में जागरण के गीत गाने लगे। दक्षिण भारत की अपेक्षा उत्तर भारत की परिस्थितियाँ अधिक भयावह थीं, क्योंकि मध्यदेश में मुसलमानी शासन का अधिक प्रभाव था। इसलिए उत्तरी भारत में धर्म के संगठन की जो रूपरेखा बनी वह दक्षिण भारत की धर्म-व्यवस्था से कुछ भिन्न होने लगी। मध्यदेश में इस समय मूर्तिपूजा के लिए सुविधा नहीं थी, यह मुसलमान नरेशों की असहिष्णु नीति से स्पष्ट है। कुछ साहित्यकारों का मत है कि यदि इस देश में मुसलमानों का आगमन न हुआ होता तो हमारा साहित्य नव्वे प्रतिशत उसी भाँति लिखा जाता, जिस भाँति वह वर्तमान रूप में है, क्योंकि धर्म की प्राचीन परम्पराएँ इतनी सुदृढ़ थीं कि उन्हीं के प्रभाव से साहित्य का विकास होता चला गया। इस कथन में संपूर्ण सत्य नहीं है। मैंने इस सम्बन्ध में एक स्थान पर लिखा था—

"जब कि संत सम्प्रदाय के पूर्व नाथमत शिव और शक्ति के व्यक्तित्व से अनुप्राणित था और बाद में वैष्णव संप्रदाय राम और कृष्ण के व्यक्तित्व से स्फूर्तिमय हो उठा था, तब मध्य में स्थित निर्गुण सम्प्रदाय में ब्रह्म को साकार व्यक्तित्व से पूर्ण क्यों नहीं माना गया? न उसका विश्वास मूर्ति में रह सका, न अवतारों में। अन्य छोटे-छोटे कारणों के साथ एक विशेष कारण यह भी है कि संत संप्रदाय का आविर्भाव दिल्ली के लोदी वंश के राज्यकाल में हुआ। लोदी वंश के शासक विशेष रूप से असहिष्णु थे तथा मन्दिर और मूर्तियों को तोड़ने में उनकी राजनीति सक्रिय थी। पठानों के आक्रोश से सुरक्षित रखने के लिए ही संत सम्प्रदाय ने अपने धार्मिक रूप को स्थूल होने से बचाया। अपने आराध्य को 'कँवलाकन्त', 'सारंगपानि', 'रघुनाथ', 'गोपाल' आदि नामों से पुकारते हुए भी संत कबीर ने उनके अवतारों का तथा उनकी मूर्तियों का घोर विरोध किया। तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों की परख कबीर में विशेष रूप से ज्ञात होती है। मुसलमानी धर्म के निराकार और निर्गुण ईश्वरवाद के समकक्ष ही उन्होंने अपने राम की कल्पना की। इसी-लिए उन्होंने राम और रहीम, केशव और करीम को पर्यायवाची बना दिया और तत्कालीन विद्वेष-भावनाओं को समाप्त करने के लिए ही ऐसे विश्व-धर्म की स्थापना की जिसमें हिन्दू और मुसलमान एक साथ सम्मिलित हो सकें। तत्कालीन राजनीतिक क्षेत्र में हिन्दुओं के प्रति मुसलमानों के हृदय में तथा मुसलमानों के प्रति हिन्दुओं के हृदय में जो भयानक विक्षोभ था उसी के निराकरण के लिए कबीर ने अपने साहित्यिक अस्त्र का प्रयोग किया। इस भाँति कबीर की कविता परम्परा से उतनी अनुशासित नहीं है, जितनी अधिक तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों से और फिर कबीर ने परम्पराओं का घोर विरोध किया है। इसलिए यह कहना कि कबीर की कविता परम्परा की एक कड़ी है, सत्य की अवहेलना ही होगी।"[१]

इस भाँति यह स्पष्ट है कि संत संप्रदाय के विकास में राजनीतिक परिस्थितियों का बहुत बड़ा हाथ है।

---

१. साहित्य शास्त्र, रामकुमार वर्मा, पृष्ठ ८१-८२, भारतीय विद्याभवन, इलाहाबाद, १९५५।

ग. सामाजिक पृष्ठभूमि

समाज का सम्बन्ध एक ओर तो राजनीति से है, दूसरी ओर धर्म से। जब राजनीतिक परिस्थितियाँ अव्यवस्थित होती हैं, तो समाज के आचरण और व्यवहार में भी उच्छृंखलता आ जाती है। प्राण और धन-हानि की आशंका सिर के ऊपर झूलती हुई तलवार की भाँति जिस समाज के ऊपर हो, उसकी आचार-प्रवणता कैसे सुरक्षित रह सकती है ? जनता देखती थी कि अधिकांश विदेशी आक्रमणकारी अपार धन-सम्पत्ति लूट कर भोग-विलास में लीन हो जाते थे और अपने चारों ओर विलासिता का वातावरण छोड़ जाते थे, जिसमें समाज पतनोन्मुख हो सकता था। इसीलिए उसे सचेत करने में कबीर ने अनेकानेक साखियों की रचना की —

> कबीर **कंचन के कुंडल बने** ऊपरि **लाल जडाउ।**
> दीसहि दाधे कान जिउ, जिन मनि नाही नाउ ॥४॥
> कबीर संतन की झुँगिआ भली, भठि कुसती गाउ।
> आगि लगउ तिह **धउलहर** जिह नाही हरि को नाउ ॥१५॥
> कबीर तासिउ प्रीति करि, जाको ठाकुर राम।
> पंडित **राजे भूपती,** आवहिं कवने काम ॥२४॥
> कबीर **ऊजल पहिरहि कापरे पान सोपारी खाहिं।**
> एकै हरि के नाम बिनु, बाँधे जमपुर जाहिं ॥३४॥
> कबीर गरबु न कीजीऐ चाम लपेटे हाड।
> **हैवर ऊपर छत्र तर** ते फुनि धरनी गाड ॥३७॥
> को है **लरिका बेचई** लरिकी बेचै कोइ।
> साझा करै कबीर सिउ, हरि सँगि बनजि करेइ ॥४३॥

उपर्युक्त दोहों में तत्कालीन वैभव की आसक्ति के प्रति व्यंग्य है। कनक और कामिनी के विरोध में संत कवियों ने अपनी वाणी में जो प्रखरता उत्पन्न की है, वह साधना-पक्ष के यम और नियम के समर्थन में भले ही हो, साथ ही साथ वह तत्कालीन समाज की विलासिता की ओर भी प्रकारान्तर से प्रकाश डालती है—

> रामु बिसरिओ है अभिमान।
> कनिक कामिनी महा सुन्दरी पेखि पेखि सचु मानि ॥—केदारा ५

आलोच्य काल में वर्ग-भेद का विष भी समाज के अंग अंग में व्याप्त हो रहा था। इसका स्पष्ट प्रमाण कबीर की रचनाओं में मिलता है। जैसा ऊपर कहा गया है कि समाज का सम्बन्ध धर्म से भी है और धर्म ने समाज की व्यवस्था में बड़ा कार्य किया है। धर्म के क्षेत्र में जाति की संकीर्णता हटाने का कार्य बौद्ध धर्म ने किया था। महायान में तो सभी जाति और वर्ग के व्यक्ति सम्मिलित हो सकते थे। बौद्ध धर्म की प्रतिक्रिया में वैदिक धर्म ने समाज की व्यवस्था में जाति-बन्धन को और अधिक दृढ़ कर दिया। कुमारिल और शंकर ने जब यज्ञ की प्रतिष्ठा पुनः स्थापित की तो ब्राह्मणों का महत्व और भी बढ़ गया। किन्तु सनातन धर्म तब तक लोकप्रिय नहीं हो सका, जब तक कि जाति-बन्धन

शिथिल नहीं किया गया। रामानन्द और कबीर ने जाति-बन्धन का कुप्रभाव देख लिया था। उन्होंने यह भी अनुभव किया था कि विदेशियों के धर्म-प्रचार का मुकाबिला करने के लिए हिन्दू धर्म का पुनर्संगठन आवश्यक है तथा जाति-भेद यदि शिथिल न किया गया तो धर्म की रक्षा संभव न हो सकेगी। इसलिए जाति-बन्धन की परम्परा तोड़ने के लिए उन्होंने अभूतपूर्व प्रयत्न किया। "हरि को भजे सो हरि का होई" के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा कर उन्होंने धर्म को सशक्त और सुसंगठित किया। जाति-भेद की संकीर्णता किस सीमा तक पहुँच गई थी, इसका स्पष्ट संकेत कबीर की रचनाओं में मिलता है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित पद देखिए—

गरभ वास महि **कुलु** नही **जाती**।
ब्रहम बिंदु ते सभु उतपाती॥
कहु रे पंडित **बामन कब** के होए।
बामन कहि कहि जनम मत खोए॥
जौ तूँ **ब्राहमणु ब्रहमणी** जाइआ।
तउ आन बाट काहे नहीं आइआ॥
तुम कत **ब्राहमण** हम कत **सूद**।
हम कत लोहू तुम कत दूध॥
कहु कबीर जो ब्रह्मु बीचारै।
सो **ब्राहमणु** कहीअतु है हमारै॥ ——गउडी ७

इस भाँति जाति के नाम पर समाज खंड खंड हो गया था और इस समाज को व्यवस्थित करने की आवश्यकता थी। इस सामाजिक दुर्व्यवस्था का एक दूसरा भी पक्ष था। समाज के एक अंग में मुसलमानों की भी प्रतिष्ठा हो गई थी। शासक वर्ग से सम्बन्ध रखने के कारण मुसलमान अपने को श्रेष्ठ समझते थे और हिन्दुओं को हिकारत की नजर से देखते थे। दूसरी ओर मुसलमानों को विधर्मी होने के कारण तथा अत्याचार का विष रखने के कारण हिन्दू घृणा की दृष्टि से देखते थे। दोनों वर्ग अपने सांस्कृतिक दृष्टिकोण में भी अलग अलग थे। दोनों के आचार भिन्न भिन्न थे। अत: दोनों में समझौता होना कठिन था। कबीर ने जिस भाँति ब्राह्मणों और शद्रों को एक दूसरे के निकट लाने का प्रयत्न किया, उसी भाँति हिन्दू और मुसलमानों के बीच द्वेष की दीवार तोड़ कर उन्हें एक ही परिवार का व्यक्ति घोषित किया। ऐसा करने में कहीं कहीं उन्हें तीव्र व्यंग्य और व्याजोक्ति का आश्रय भी लेना पड़ा, किन्तु उन्होंने पूरे विश्वास के साथ सत्य का प्रतिपादन किया।

उनके निम्नलिखित पद से स्पष्ट होता है कि उस समय समाज में आचार की प्रधानता पर हिन्दू मुसलमानों में कितना भेद था —

अलहु एकु मसीति बसतु है, अवरु मुलखु किसु केरा।
हिन्दू **मूरति** नाम निवासी दुइ महि ततु न हेरा॥
अलह राम जीवउ मेरे नाई।
तू करि मिहरामति साई॥

दखन देस हरी का बासा पछिमि अलह मुकामा।
दिल मह खोजि दिलै दिलि खोजहु एही ठउर मुकामा।। आदि
—रागु विभास प्रभाती २

इसी प्रकार अनेक संप्रदायों में लोग बँटे हुए थे जिनमें पारस्परिक वैमनस्य था—

पंडित जन माते पढि पुराण।
जोगी माते जोग धियान।।
संनिआसी माते अहंमेव।
तपसी माते तप कै भेव।
सभ मदमाते कोऊ न जाग।
संग ही चोर घरु मुसन लाग।। —रागु बसंत २

यह भेद धर्म को आधार मानकर भी किया गया था—

जोगी जती तपी संनिआसी बहु तीरथ भ्रमना।
लुंजित मुंजित मोनि **जटाधर** अंति तऊ मरना।। रागु आसा ५

इस भाँति पन्द्रहवीं शताब्दी में सामाजिक स्थिति अत्यन्त अव्यवस्थित थी। राजनीतिक और धार्मिक परिस्थितियों की विषमता, अव्यवस्था और परम्परा ने समाज को जर्जर कर दिया था। जब तक समाज व्यवस्थित नहीं होता, तब तक किसी भी विचार या सिद्धान्त का प्रसार संभव नहीं है। यही कारण है कि कबीर अनुभूतिसम्पन्न संत और कवि होते हुए भी समाज की अनिश्चित परिस्थितियों के प्रति उदासीन नहीं रह सके और वे भक्ति-आन्दोलन के प्रमुख प्रवर्तकों में होते हुए भी समाज-सुधार के अग्रणी भी बने।

परम्परा और संत साहित्य

सिद्ध संप्रदाय

किसी भी युग के साहित्य का मूल्यांकन करते समय उसके पूर्ववर्ती साहित्य पर दृष्टि डाल लेना आवश्यक है। पूर्ववर्ती साहित्य का प्रभाव किसी न किसी रूप में आगे के साहित्य पर पड़ता ही है।

यह प्रभाव तीन रूप ग्रहण कर सकता है—

(क) पूर्ववर्ती साहित्य का अन्धानुकरण हो,
(ख) उस साहित्य में युगानुकूल कुछ संशोधन हो, अथवा
(ग) उस साहित्य की प्रतिक्रिया भिन्न साहित्य के रूप में हो।

साहित्य किसी सम्प्रदाय विशेष की निधि नहीं है। उसमें जीवन के ऐसे सत्य का प्रतिपादन होता है जो शाश्वत है, चिरंतन है। इसीलिए किसी वृन्त पर खिले हुए अनेक पुष्पों की भाँति विभिन्न युगों के साहित्य में कुछ व्यापक अनुभूतियाँ होती हैं जो समान रूप से प्रत्येक युग के साहित्य में विद्यमान रहती हैं। साहित्य की किसी भी धारा का मूल पूर्ववर्ती साहित्य में खोजा जा सकता

है। किन्तु यह होते हुए भी युग के प्रभाव के कारण साहित्य में कुछ विशेष रंजना होती ही है जो समकालीन परिस्थितियों से अपना रूप ग्रहण करती है।

संत साहित्य की मूल प्रवृत्ति खोजते हुए हमारी दृष्टि सिद्धों और नाथों के साहित्य तक पहुँचती है। वज्रयानी सिद्धों ने जीवन के प्रति सहज अनुभूति को प्रधानता दी। उन्होंने अन्ध-विश्वासों की परंपरा जड़ मूल से उखाड़ने की चेष्टा की। तिल्लोपाद ने लिखा—

[1]**सहजे चीअ** विसोहहु चंग ।
इह जम्महि सिद्धि (मोक्ख भंग) ।।१०।।

सहज से चित्त विशुद्ध करो। इस जन्म में सिद्धि और मोक्ष प्राप्त करोगे।

[2]**तित्थ तपोवण** म करहु सेवा।
देह सुचिहि ण सान्ति पावा।।१९।।

तीर्थ और तपोवन का सेवन मत कर। देह मात्र पवित्र करने से तू शान्ति प्राप्त न कर सकेगा।

[3]आवइ जाइ कहविण णाइ।
गुरु उवएसें हिअहि समाइ।।

इसी प्रकार सरहपाद ने भी सामान्य तर्क से कर्मकांड और परंपराओं का परिहास किया है—

[4]जइ णग्गा विअ होइ मुत्ति ता सुणह सिआलह।
लोमु पाडणें अत्थि सिद्धि ता जुवइ णिअम्बह।।

यदि नग्न रहने से ही मुक्ति होती है तो कुत्ते और सियार की मुक्ति क्यों न होगी? यदि रोमोत्पाटन में सिद्धि है तो युवती के नितम्बों को सिद्धि क्यों न मिलेगी?

संत संप्रदाय के कवियों, विशेषतया कबीर, ने भी यही दृष्टि ग्रहण की है—

नगन फिरत जौ पाइअै जोगु।
बन का मिरग मुकति सभु होगु।।
किआ नागे किआ बाधे चाम।
जब नहीं चीनसि आतम राम।।
मूँड मुँडाए जो सिधि पाई।
मुकती भेड न गईआ काई[5]।।

---

१. दोहाकोश, बागची-संपादित (सन १९३८ ई०), भा० १, पृ० ४।
२. **वही, पृ०** ५।
३. **वही, पृ०** ७।
४. **वही, पृ०** १६।
५. **संत कबीर, पृ०** ६।

अंतर केवल यही था कि सिद्धों का संघर्ष प्रधान रूप से जैनों से था, जो संघर्ष करना नहीं जानते थे तथा कबीर का संघर्ष वैदिक धर्म के अन्तर्गत उत्पन्न विविध संप्रदायों से था, जो पारस्परिक द्वेषाग्नि में ही पोषित हो रहे थे। इसलिए कबीर का स्वर अधिक प्रखर और उत्तेजनापूर्ण था। यों सहज, गुरु, उपदेश, शून्य, निरंजन कबीर ने ज्यों के त्यों सिद्धों की विचारधारा से ही ग्रहण किए हैं, जो नाथ संप्रदाय में भी प्रवेश पा गए थे। शैली की दृष्टि से भी सिद्धों की 'संधा भाषा' में जो 'कूट' और प्रतीक हैं, उन्हीं में कबीर के रूपक और उल्टवासियों का निर्माण हुआ है। डोम्बिपा का चर्यापद है—

गंगा जऊना माँझे रे बहई नाइ।
तहि बुडिली मातंगि पोइया लीले पार करेइ।
वाहुत डोम्बी बाहलो डोम्बी बाटत भईल उछारा।
सद्गुरु पाअ पए जाईव पुणु जिण ऊरा।।[1]

कबीर ने लिखा है—

गंगा के संग सलिता बिगरी।
सो सलिता गंगा होइ निवरी।।
बिगरिओ कवीरा राम दुहाई।
साचु भइओ अन कतहि न जाई।
संतन संगि कबिरा बिगरिओ
सो कबीर रामै होइ निबरिओ।।[2]

इस भाँति यह स्पष्ट है कि सिद्ध साहित्य की विचारधारा का संत साहित्य पर विचार और शैली दोनों ही दृष्टियों से बड़ा प्रभाव है। यह प्रभाव, संभव है, नाथ संप्रदाय के माध्यम से आया हो। नाथ संप्रदाय ने सिद्ध संप्रदाय का सिद्धान्तगत दृष्टिकोण तो स्वीकार किया, किन्तु आचारगत दृष्टिकोण को घृणा की दृष्टि से देखा। सिद्ध संप्रदाय में नारी के प्रति जो आसक्ति थी, वह नाथ संप्रदाय में विरक्ति बन गई और साधना का परम लक्ष्य 'महासुह' शिव और शक्ति की प्राप्ति की 'निरति' और 'महारस' में परिणत हो गया।

नाथ संप्रदाय

शैव संप्रदाय से प्रभावित होने के कारण नाथ संप्रदाय में 'शिव' आदिनाथ के रूप में मान्य हुए। इस उपासना में योग का विशेष महत्व था। इस भाँति सिद्ध संप्रदाय का प्रभाव लेकर नाथ संप्रदाय में कुछ विशेषताएं आईं, जीव और ब्रह्म की स्थिति हुई और उपासना में सदाचार और योग का अभ्यास माना गया।

---

१. दोहाकोश, पृ० १२१।
२. संत कबीर, पृ० २०१।

जीव और ब्रह्म---जीव सीव संगे वासा। बधि न षाइबा रुध्र मासा।
हंस घात न करिबा गोतं। कथंत गोरख निहारि पोतं ।।[1]

योग — इकवीस सहसं षटसां आदू पवन पुरिष जपमाली।
इला प्यंगला सुषमन नारी अहनिसि बहैं प्रनाली ।।[2]

संत सम्प्रदाय का सीधा सम्बन्ध नाथ संप्रदाय से है। संत संप्रदाय ने सिद्ध संप्रदाय से आई हुई नाथ संप्रदाय की विचारधारा मूल रूप से ग्रहण की। भक्ति आन्दोलन के महासागर में भी योग का द्वीप संतों का विश्राम-स्थल बना रहा। नाथ संप्रदाय की आचार-निष्ठा, विवेक-सम्पन्नता, अंधविश्वासों को तोड़ने की उग्रता एवं परम्परागत कर्मकांडों की निरर्थकता संत संप्रदाय में सीधी चली आई। यहाँ तक कि उल्टवासियों की कुतूहलजनक शैली भी संतों को नाथ संप्रदाय से ही प्राप्त हुई। अनेक प्रसंगों और उनकी अभिव्यक्ति में भी साम्य है। उदाहरण के लिए कुछ पंक्तियाँ देखिए—

गोरख	कबीर
१. अठसठि तीरथ समंदि समावै[3]	१. लउकी अठसठ तीरथ न्हाई।[4]
२. अरधै जाता उरधै धरै।[5]	२. अरधइ छाड़ि उरध जउ आवा।[6]
३. प्यंड पड़ै तो सतगुर लाजे।[7]	३. पिंडु परै तउ प्रीति न तोरउ।[8]
४. काचै भांडै रहै न पाणी।[9]	४. कांचे करवै रहइ न पानी।[10]
५. यहु मन सकती यहु मन सीव। यह मन पांच तत्व का जीव। यहु मन ले जै उनमनि रहै। तौ तीन लोक की बातां करै ।।[11]	५. इहु मनु सकती इहु मन सीउ। इहु मनु पंच तत को जीउ। इहु मनु ले जउ उनमनि रहै। तउ तीनि लोक की बातैं कहै ।।[12]

---

१. गोरखबानी, सं० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, पृष्ठ ७३।
२. वही, पृष्ठ ९५।
३. वही, पृष्ठ ५।
४. संत कबीर, पृष्ठ १३७।
५. गोरखबानी, पृष्ठ ७।
६. संत कबीर, पृष्ठ ८१।
७. गोरखबानी, पृष्ठ १२।
८. संत कबीर, पृष्ठ १२५।
९. गोरखबानी, पृष्ठ १४।
१०. संत कबीर, पृष्ठ १४८।
११. गोरखबानी, पृष्ठ १८।
१२. संत कबीर, पृष्ठ ८२।

संभव है, यह साम्य संप्रदायों के शिष्यों के परस्पर सम्बन्ध के फलस्वरूप हो, किन्तु समान विचारों की अभिव्यक्ति में कुछ समानता हो ही सकती है। इसी भाँति उल्टवासी की पंक्तियाँ भी देखिए—

गोरख—

चींट्यां परबत ढाक्यां रे अवधू,
गायां बाघ बिडार्‌या जी।
सुसलै समदां लहर मचाई।
मृघां चीता मार्‌या जी॥[1]

कबीर—

कहत कबीर सुनहु रे संतहु कीटी परबत खाइआ।
कछूआ कहै अंगार भिलोर उलूकी सबदु सुनाइआ॥[2]

संत संप्रदाय की विचारधारा के निर्धारण में नाथ संप्रदाय का विशेष योग है। संत संप्रदाय की भाव-भूमि पर निर्गुण उपासना ने एक सुदृढ़ दुर्ग का निर्माण किया जो विदेशी धर्म-प्रचार के कठिन अस्त्रों से भी नहीं तोड़ा जा सका। कबीर ने नाथ संप्रदाय से स्फूर्ति ग्रहण कर के भी अपनी साधना को एक स्वतन्त्र रूप दिया। उन्होंने नाथ संप्रदाय में मान्य शंकर (शिव) को भी अनेक स्थलों पर स्वीकार नहीं किया। एक उदाहरण देखिए—

मउली धरती मउलिआ अकासु।
घटि घटि मउलिआ आतम प्रगासु॥
राजा रामु, मउलिया अनत आई।
जह देखहु तह रहिआ समाई॥
दुतीआ मउले चारि वेद।
सिम्रिति मउली सिउ कतेव॥
संकरु मउलिओ जोग धिआन।
कबीर को सुआमी सभ समान॥[3]

यहीं नाथ संप्रदाय से भिन्न संत संप्रदाय की निर्गुण उपासना है।

विट्ठल संप्रदाय

ऊपर इस बात का उल्लेख हो चुका है कि यह संप्रदाय दक्षिण में महाराष्ट्र संतों की भक्ति-भावना से समृद्धिशाली बना। इस संप्रदाय में ज्ञानेश्वर और नामदेव का प्रमुख स्थान है। संत संप्रदाय पर नामदेव का विशेष प्रभाव पड़ा। चौदहवीं शताब्दी ई० में दक्षिण में भी अलाउद्दीन खिलजी के सेनापति मलिक काफूर के आक्रमण से मुसलमानों का आतंक बढ़ा। इसी चौदहवीं शताब्दी में नामदेव का आविर्भाव हुआ। उनकी मृत्यु सन १३५० (सं० १४०७) में हुई।

---

१. गोरखबानी, पृष्ठ १५४।
२. संत कबीर, पृष्ठ ९६।
३. वही, पृष्ठ २३०।

नामदेव ने ५६ वर्ष मुसलमानों के आतंक का अनुभव किया। इसलिए उनकी दृष्टि भी मूर्तिपूजा से अधिक मानसिक भक्ति और नाम-स्मरण की ओर रही। नामदेव की विचार-धारा और उनके आराध्य विट्ठल की स्पष्ट छाप संत कबीर पर है। उदाहरण के लिए एक पद लीजिए—

नामदेव—

जत्र जाऊं तत्र वीठुल भैला।
बीठुलियो राजि राम देवा।।

आणिलै कुंभ भराय लै उदिक, बाल गोबिन्दहि न्हाण रचौं।
पहली नीर जु मंछ बिटाल्यौ, जूठनि भैला काइ करौं।।
आंणि लै केसरि सूकडि समसरि, बाल गोबिन्दहि षौलि रचौं।
पहलै वास भव्यंगा लीन्ही, जूठनि भैला कहा करूं।
आंणिलै पहप गुंथाइलै माला, बाल गोविन्दहि माल रचौं।
पहली बास जु भवरा लीन्ही, जूठनि भैला कहा करूँ।।
आंणि लै धृत जोइ लै बाती, बाल गोविन्दहि जोति रचौं।
पहली जोति पतंगौ लीन्ही, जूठनि भैला कहा करौ।।
आंणि लै अग्र ठोइलै धूपा, बाल गोविन्दहि बास रचूं।
पहली बास नासिका आई, जूठणि भैला कहा करौं।
आंणि लै तन्दुल रांधिलै षीरो, बाल गोविन्दहि भोग रचौं।
पहली दूध जो बछा बिटाल्यौ जूठनि भैला कहा करौं।।
आउ तौ **विठुल** जांउ तौ **विठुल वीठुल** व्यापक माया लौ।
नामै का चित्त हरि सौ लागा, तातें परम पद पाया लो।७।१०।।[1]

कबीर—

ग्रिहु तजि बनखंड जाइअै चुनि खाइअै कंदा।
अजहु विकार न छोड़ई पापी मनु मंदा।।
किउ छूटउ कैसे तरउ भव जल निधि भारी।
राखु राखु मेरे **वीठुला**, जनु सरनि तुम्हारी।।[2]

पन्द्रहवीं शताब्दी में उत्तर भारत में नामदेव और ज्ञानेश्वर का नाम विशेष प्रसिद्ध था। दोनों ने साथ साथ उत्तर भारत का पर्यटन भी किया था। कबीर ने अपने एक पद में नामदेव का नाम श्रद्धा से स्मरण किया है—

गुर प्रसादी जैदेउ नामां।
भगति कै प्रेमि इनही है जाना।।[3]

---

१. नामदेव के पद, जोधपुर राज्य पुस्तकालय।
२. संत कबीर, पृष्ठ १५४।
३. वही, पृष्ठ ३९।

विशिष्टाद्वैत का भक्ति संप्रदाय

यद्यपि संत संप्रदाय नाथ संप्रदाय के विकास की एक स्वतंत्र कड़ी था और योग का अभ्यास.ही उसकी साधना का अंग बन गया था, तथापि इस युग में भक्ति की जो धारा उत्तर भारत में लहरा उठी थी, वह संत संप्रदाय की साधना का अंग बन कर ही रही। यही नहीं, भक्ति का महत्व इतना अधिक बढ़ गया था कि योग की कष्टसाध्य क्रियाएँ नाम मात्र के लिए साधना के अन्तर्गत रह गई थीं। एकमात्र भक्ति और उसके अन्तर्गत प्रेम की विश्वासमयी अनुभूति ही साधना की प्रमुख मान्यता बन गई थी। रामानन्द के प्रभाव से राम और उनकी भक्ति का प्रसार इतना अधिक था कि संत संप्रदाय में भी राम और उनकी भक्ति का रूप स्वीकार किया गया। यह बात दूसरी है कि राम का नाम ही संत संप्रदाय में मान्य हुआ, राम का व्यक्तित्व नहीं। राम के ब्रह्म रूप को विस्तार देने के लिए एक ओर अवतार और मूर्ति का खंडन किया गया और दूसरी ओर राम के अनेकानेक नाम तथा उनके निर्गुण रूप पर अधिक बल दिया गया। यह कुतूहल की बात अवश्य है कि कबीर ने अपने ब्रह्म के लिए ऐसे नाम भी स्वीकार किए जिनका सम्बन्ध ब्रह्म के सगुण रूपों या अवतारों से है, किन्तु उनसे उनका अभिप्राय एकमात्र निर्गुण ब्रह्म से है—

उदाहरण के लिए: सारिंग पानी,[१] माधउ,[२] हरि,[३] रघुराइआ,[४] बनवारी,[५] मधुसूदन,[६] मुकुन्द,[७] नारायण,[८] गोपाल[९] आदि अनेक नाम पदों में प्रयुक्त किए गए हैं। इसका एकमात्र कारण भक्ति का प्रवाह था जिससे ये नाम जन-जीवन में रत्न-राशियों की भाँति बिखर गए थे और संत संप्रदाय उन नामों की अवहेलना नहीं कर सका। संत संप्रदाय द्वारा भक्ति ग्रहण करने के तीन प्रमुख कारण हो सकते हैं—

१. नाथ संप्रदाय से आया हुआ योग मार्ग केवल संप्रदाय के शिष्यों तक सीमित था। वह धार्मिक दृष्टि से गोपनीय और रहस्यमय होने के कारण सर्वसाधारण को सुलभ नहीं था। साथ ही उसकी क्रियाएँ कष्टसाध्य भी थीं।

२. सूफी संप्रदाय की 'इश्क' (प्रेम) की साधना पीरों और संतों द्वारा प्रचारित की जा रही थी, जो भक्ति के समकक्ष ही थी।

३. विट्ठल संप्रदाय तथा राम और कृष्ण संप्रदायों की भक्ति भावना, जो जन-जन में व्याप्त हो रही थी।

इस भाँति संत संप्रदाय निर्गुण ब्रह्म का समर्थक होते हुए भी भक्ति की, जो सगुण ब्रह्म की अपेक्षा रखती है, प्रेममयी आसक्ति की अवहेलना नहीं कर सका। कबीर ने एक स्थान पर योग की निन्दा करते हुए भक्ति की इस प्रेममयी अनुभूति का संकेत किया है—

जोगी कहहिं जोगु भल मीठा, अवरु न दूजा भाई।
रुंडित मुंडित एकै सबदी, एइ कहहिं सिधि पाई ॥

१—८. देखो संत कबीर, क्रमशः रागु गउडी ३३, २, ३, ६, १८, २८, ५८, ५८।
९. रागु आसा १५।

हरि बिनु भरमि भुलाने अंधा।
जा पहि जाउ आपु छुटकावनि ते बाधे बहु फंधा॥
तजि बावे दाहने विकारा, हरि पदु द्रिडु करि रहिअै।
कहु कबीर गूँगे गुड़ खाइआ, पूछे ते किआ कहीअै॥[1]

इसी भक्ति की प्रेमासक्ति में कबीर का रहस्यवाद पोषित हुआ।

सूफी संप्रदाय

संत साहित्य के प्रवर्तक कबीर मुसलमान थे, साथ ही साथ वे पर्यटनशील भी थे। मुसलमान होते हुए भी वे हिन्दू और मुसलमानों में कोई भेद नहीं मानते थे। इसलिए जब मुसलमानों के असहिष्णु समाज ने सूफीमत को प्रश्रय दिया, तो कबीर ने भी भावानुकूल सूफीमत के तत्वों को ग्रहण किया और उन्हें अपनी साधना-पद्धति में जोड़ दिया। मेरी दृष्टि में सूफी विचारधारा के जो तत्व संत संप्रदाय को प्रभावित कर सके, उनमें प्रमुख निम्नलिखित हैं—

१. आचार की पवित्रता, 'सुफ' (ऊन) की भाँति पवित्र जीवन जिस पर आध्यात्मिकता का पूर्ण रंग उभर सके।

२. प्रेम और उसकी मादकता, जिससे प्रतीकों के माध्यम में रहस्यवाद (तसव्वुफ) की अवतारणा हो सके।

३. माया का मानवीकरण, जो शैतान के समकक्ष ही है। जिस प्रकार शैतान बन्दे को सही रास्ते से हटा कर 'नफ्सपरवरी' (इन्द्रियासक्ति) की ओर ले जाता है, उसी प्रकार माया भी भक्त को ईश्वरीय प्रेम से हटा कर संसार के क्षणिक आकर्षणों के जाल में फँसा देती है।

सूफीमत की जो विचार,-शैली थी उसका स्पष्ट प्रभाव कबीर की अनेक रचनाओं पर है। एक रचना देखिए—

वेद कतेब इफतरा भाई, दिल का फिकरु न जाइ।
टुकु दम करारी जउ करहु, हाजिर हुजूर खुदाइ॥
बंदे खोजु दिल हर रोज ना फिरु परेसानी माहि।
इह जु दुनीआ सिहरु मेला दसतगीरी नाहि॥
दरोगु पड़ि पड़ि खुसी होइ बेखबर बादु बकाहि।
इकु सचु खालकु खलक मिआने सिआम मूरति नाहि॥
असमाने म्याने लहंग दरीआ गुसल करदन बूद।
करि फकरु दाइम लाइ चसमे जहा तहा मउजूद॥
अलाह पाकं पाक है सक करउ जे दूसर होइ।
कबीर करम करीम का उहु करै जानै सोइ॥[2]

सूफी संप्रदाय ने कबीर को अनेकानेक प्रतीक दिए जिनसे कबीर का तत्व-चिंतन और रहस्यवाद पुष्ट हुआ।

उपर्युक्त संप्रदायों और उनके साहित्य के विवेचन से यह स्पष्ट है कि कबीर पर परंपरागत

---

१. संतकबीर, पृ० ५४।   २. वही, पृ० १४६।

विचारधारा का प्रभाव तो अवश्य पड़ा, किन्तु वह प्रभाव युगानुकूल संशोधनों के साथ था। कबीर ने किसी संप्रदाय का अन्धानुकरण नहीं किया। उन्होंने जहाँ अनेक परम्पराओं को विवेक के साथ संशोधित रूप में ग्रहण किया, वहाँ उन्होंने अनेक परम्पराओं पर कठोर आघात भी किए। अत: संत साहित्य में परम्परा वहीं तक है, जहाँ तक जीवन में कर्मकांडरहित निर्मल प्रेम से ईश्वर की सहजानुभूति प्राप्त होती है।

संतकाव्य का आविर्भाव

राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक परिस्थितियों तथा परंपरागत प्रभावों पर विचार कर लेने पर संत साहित्य के आविर्भाव की संभावनाएँ स्पष्ट हो जाती हैं। परंपराओं के उचित संचयन तथा परिस्थितियों की प्रेरणा में धर्म ऐसा रूप खोज रहा था कि वह केवल आचार्यों की वाणियों में सीमित न रह कर जन-जीवन की व्यावहारिकता में उतर सके और ऐसा रूप ग्रहण करे कि वह अन्य धर्मों के प्रसार में समानान्तर बहते हुए अपना रूप सुरक्षित रख सके। वह रूप सहज और स्वाभाविक हो तथा अपनी विचारधारा में सत्य से इतना प्रखर हो कि विविध वर्ग और विचार वाले व्यक्ति अधिक से अधिक संख्या में उसे स्वीकार कर सकें और उसे अपने जीवन का अंग बना लें। स्वामी रामानन्द ने ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करने में धर्म को बहुत बड़ी सुविधा दे भी दी थी। उन्होंने प्रमुख रूप से बारह शिष्य बनाए—

अनंतानंद, कबीर, सुखा, सुरसुरा, पद्मावति, नरहरि।
पीपा, भावानन्द, रैदासु, धना, सेन, सुरसरि की धरहरि॥[1]

इन शिष्यों में कबीर, पीपा, रैदास, धना और सेन संत और कवि दोनों रूपों में प्रसिद्ध हैं। इनमें कबीर अग्रणी हैं। अधिकांश शिष्य समाज के निम्नवर्ग में से थे जिनका शास्त्रीय ज्ञान 'नहीं' के बराबर था, किन्तु जो जीवन के अनुभव और संघर्षों से जीवित हो उठे थे। ये धर्म को ऐसा रूप दे सकते थे जिसमें समाज के निम्न से निम्न स्तर के लोग विश्वासप्रवण बन सकते थे और अपने जीवन में धर्म के मूल तत्वों की प्रतिष्ठा कर सकते थे।

एक बात और भी थी कि स्वामी रामानन्द अपनी धार्मिक दृष्टि में इतने उदार थे कि उन्होंने अपने शिष्यों को स्वतंत्र दृष्टिकोण अपनाने की पूरी छूट दे दी थी। यह आवश्यक नहीं था कि उनके शिष्य साकारोपासना में ही विश्वास रक्खें। शिष्यों के लिए यही पर्याप्त था कि वे धर्म के वास्तविक महत्व को हृदयंगम कर लें और भक्ति की सहज अनुभूति प्राप्त कर लें। उदाहरण के लिए, पीपा (सं० १४८२ वि० = १४२५ ई०) जो प्रथम दुर्गा के उपासक थे और बाद में रामानन्द के शिष्य हुए, अपनी साधना में निर्गुणोपासना की ही दृष्टि रखते हैं—

हरि का मरम न जानै कोई।
जैसा भाव तिसी सिध होई॥
घर बैठा तीरथ कूँ ध्यावै, तीरथ जाइ पाछें पछितावै।
तिहि तीरथ कूँ चलि मेरी जीइरा पुनरपि जन्म न आवै॥

---

१. भक्तमाल, नाभादास, पृष्ठ ४६१-४६२।

तीरथ करि करि जगत भुलाना षोज्या तिन हरि पाया।
काष्ट पषान सबन में कैसो, अैसा त्रिभुवनराया।।
विद्या अषिर देव दिज पूजा इहि बेसास बिगूता।
पीपा कहै प्रगट प्रमेस्वर जन जागै जग सूता।।[१]

कबीर के सिवाय रामानन्द के ये शिष्य उत्तर भारत में निर्गुण संप्रदाय के अग्रदूत थे। किन्तु निर्गुणोपासना का कटा-छँटा सिद्धान्त और विवेचन उनके पास नहीं था। रैदास, पीपा, धना, आदि निर्गुणोपासना का समर्थन करते हुए भी कभी कभी मूर्ति-पूजा, छापा, तिलक-चंदन आदि में विश्वास रखते थे। हम उन्हें निर्गुणोपासना और सगुणोपासना की संधि के संत मान सकते हैं। उनके पास भक्ति की ही भावुकता है। रैदास कहते हैं —

जो तुम तोरौ राम मैं नहीं तोरौं।
तुम सूँ तोरि कौन सूँ जोरौं।।
तीरथ बरत न करूं अदेसा। तुम्हारे चरन कँवल क भरोसा।
जहां जहां जाउँ तुम्हारी पूजा। तुम से देव और नहीं दूजा।।
मैं अपनौ मन हरच सूँ जोरचौं। हरि सूं जोरि सबन सूं तोरचौं।
सब परिहरि तुम्हही से आसा। मन क्रम बचन कहै रैदासा।।[२]

इन संतों की वाणियों में धर्म अथवा साधना की शास्त्रीय व्याख्या नहीं है, जीवन में डूबी हुई विवेकसंपन्नता अवश्य है। इस भाँति लौकिक और धार्मिक दृष्टिकोण का युक्तिसंगत संतुलन इस संतकाव्य के आरंभिक साहित्य में है। जीवन के सत्य की अभिव्यक्ति सीधी-सादी अलंकार-विहीन भाषा में है। उसमें वाटिका-सौन्दर्य नहीं, वनराजि की प्रकृति-श्री है।

इस वर्ग के साहित्य की प्रमुख विशेषता यह है कि वह किसी विशिष्ट धार्मिक संप्रदाय से मान्यता लेकर अग्रसर नहीं हुआ। फिर भी इस साहित्य में विचारगत साम्य और एकता है। इस वर्ग के सभी कवि पारिवारिक जीवन व्यतीत करने वाले व्यक्ति थे, नाथपंथियों की भाँति योगी नहीं। यही कारण है कि इन कवियों में जीवनगत अनुभव की सर्वांगीणता है। यद्यपि इनकी वाणियों में कहीं-कहीं नाथ संप्रदाय से आए हुए हठयोग के प्रतीकों की योजना है, तथापि वह केवल तत्व-निरूपण के लिए ही है। सामान्य दृष्टि से यह साहित्य जनसाधारण के लिए सरल भाषा में लिखा गया है। उसे समझने के लिए पुस्तक ज्ञान की उतनी आवश्यकता नहीं, जितनी वास्तविक अनुभूति की है। यह स्मरणीय है कि नाथ संप्रदाय की पद्धति शास्त्रीय थी और साधना व्यक्तिगत थी। संत संप्रदाय की पद्धति स्वतंत्र और साधना सामाजिक थी।

संत संप्रदाय और उससे सम्बन्धित साहित्य का आविर्भाव संत कबीर से माना जाता है। कबीर के पूर्ववर्ती या समकालीन संत या तो अहिन्दी भाषा-भाषी थे या अत्यन्त साधारण कोटि

---

१. वाणी गुटिका नौ हजार (हस्तलिखित पोथी, संवत १८४२, पृष्ठ १८८)।
२. वही, रैदास की वाणी।

के थे। अतः उत्तर भारत में संत संप्रदाय को प्रतिष्ठित करने का श्रेय इतिहास और साहित्य ने कबीर को ही दिया है। संत साहित्य का आविर्भाव-काल विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी है।

कबीर का महत्व

कबीर के जीवन वृत्त पर प्रकाश डालने वाली सामग्री दो वर्गों में विभाजित की जा सकती है। एक तो कवि द्वारा आत्म-निर्देश तथा संतों द्वारा कबीर के उल्लेख, जिनमें पीपा, रैदास, जगजीवनदास आदि की 'बानियाँ' तथा संत अनन्तदास कृत 'कबीर परची' और संत चंददास कृत 'भक्त विहार' आदि सम्मिलित हैं, दूसरे वर्ग में ऐतिहासिक प्रमाणों एवं इतिहास-लेखकों के निष्कर्ष हैं। इनके अनुसार जो तथ्य हमें प्राप्त होते हैं, वे हैं—

१. वे जुलाहे थे और काशी में निवास करते थे।

२. वे गुरु रामानन्द के शिष्य तथा बघेल राजा वीरसिंह देव के समकालीन थे।

३. सिकन्दर लोदी का काशी में आगमन हुआ था और सम्भवतः उसने कबीर को दंडित किया था।

इनके जन्म और मृत्यु की तिथियों में अभी तक मतभेद है। जन्म तिथि सम्भवत: सं० १४५५ वि० (सन १३९८ ई०) और मृत्यु तिथि सं० १५५१ वि० (सन १४७४ ई०) प्रामाणिकता के अधिक पक्ष में है।

इस देश के प्रमुख संतों में संत कबीर की मान्यता असंदिग्ध है। उन्होंने जीवन के चिरंतन सत्य को इतनी सरल और सुबोध वाणी में व्यक्त किया है कि वह हमारे प्रतिदिन के अनुभव का सहज रूप हो गया है। उन्होंने इतने व्यापक दृष्टिकोण से धर्म के मर्म को समझा है कि उसमें संप्रदाय या वर्ग की विभाजक रेखाएँ मिट गई हैं और मानवता अपने छिन्न-भिन्न हुए जाति-विभेदों को भूल कर सम्बद्धता से जीवन की इकाई बन गई है। उसमें हिन्दू, मुसलमान, एवं ब्राह्मण और शूद्र अपने कर्मकांड और आडम्बर को छोड़कर एक पंक्ति में खड़े हो गए हैं और अपनी व्यक्तिगत महानता या हीनता का परित्याग कर पारस्परिक समता और एकता के प्रेम-पाश में आबद्ध हो गए हैं। कबीर ने धर्म के मूल सिद्धान्तों की तुला पर मानवता को तौल कर सृष्टि के मध्य में उसका वास्तविक मूल्य निर्धारित किया है।

कबीर ने सांस्कृतिक दृष्टि से जो सब से प्रमुख कार्य किया, वह यह कि उन्होंने विचारों के प्रतिपादन की शैली सहज और सुबोध रक्खी। धर्म के गूढ़ और जटिल सिद्धान्त जो भाषा और साहित्य के कठोर नियंत्रण में सरलता से समझ में नहीं आते थे और जिनके लिए सतत अभ्यास करना पड़ता था तथा जो केवल पंडितों और विद्वानों के विचार-सम्पत्ति बने रहते थे, उन्हें कबीर ने जनता की भाषा और भाव-राशि में सजाकर बोधगम्य बना दिया। कोई भी आन्दोलन या धार्मिक अभियान तब तक सफल नहीं हो सकता जब तक कि वह जनता का मनोबल प्राप्त नहीं कर लेता। जनता का जागरण ही राष्ट्र का जागरण है। जनसाधारण की बातों में तत्व की बड़ी बात कह देना महाकवियों का ही काम है।

ईश्वर संसार के कण-कण में व्याप्त है। भौतिकवाद का बड़े से बड़ा आलंबन लेकर भी इस ईश्वर की अनुभूति प्राप्त नहीं की जा सकती। उसके समझाने के लिए तो सूक्ष्म बुद्धि की

आवश्यकता है। अहंकार के विनाश की अपेक्षा लघु होने में है। जो अपने को जितना छोटा समझेगा, वह ईश्वर के उतने ही समीप होगा, वही उस रस को जान सकता है जो रसिक है। यह बात कबीर ने जिस सरल ढंग से कही है, वह निम्नलिखित साखी में है—

हरि है खांडु रेतु महि बिखरी, हाथी चुनी न जाई।
कहि कबीर गुरि भली बुझाई, कीटी होइ कै खाई।।[1]

हरि तो खांड़ की तरह है जो संसार रूपी रेत में बिखर गया है। मद से उन्मत्त मन रूपी हाथी उसे चुन नहीं सकता। कबीर कहते हैं कि गुरु ने मुझे अच्छी युक्ति बतला दी है। मैं सूक्ष्म और सहज शक्ति से चींटी बनकर उस खाँड़ को खा रहा हूँ।

हाथी, चींटी और खाँड़ प्रतिदिन के अनुभव के विषय हैं, जिन्हें अशिक्षित ग्रामीण भी समझ सकता है। एक बात और है। कबीर ने धर्म और जीवन में कोई भेद नहीं रहने दिया। जीवन की सात्विक अभिव्यक्ति ही धर्म का सोपान है। जिस धर्म के लिए जीवन की स्वाभाविक और सात्विक गति एवं यति में परिवर्तन करना पड़े, उसे हम धर्म की संज्ञा नहीं दे सकते। अतः धर्म के नाम पर जो आडम्बर और कर्मकांड से परिपूर्ण दम्भ फैला हुआ है, वह धर्म नहीं है। धर्म तो जीवन की सहज और पवित्र अनुभूति का ही दूसरा नाम है। अतः धर्म जीवन में ही है, हृदय में ही है, उसकी पूर्ति के लिए हमें तीर्थाटन की आवश्यकता नहीं है। माला तो हमारी साँस की है, जिसमें न काठ है, न गाँठ। वह तो स्वाभाविक क्रम से चलती है, उसी में हम ईश्वर का नाम पिरो सकते हैं और यही माला जीवन भर चलती है, कभी पुरानी नहीं होती, टूटती भी नहीं। अगर टूटती है तो जीवन के साथ ही टूटती है। इस भाँति कबीर ने जनता में जिस धर्म का प्रतिपादन किया वह मानव-जीवन का स्वाभाविक धर्म है। उसके लिए धर्म के अभिचार की आवश्यकता नहीं। जीवन और धर्म एक है, उसमें शास्त्र की मध्यस्थता नहीं है।

धर्म का प्रधान अंग विश्वास और भक्ति है। विश्वास का सम्बन्ध ईश्वर की सर्वव्यापकता और सर्वशक्तिमत्ता से है और भक्ति का संबन्ध भक्त की निश्चल प्रेरणा और प्रेमानुरक्ति में है।

पन्द्रहवीं शताब्दी वि० में जब संत कबीर का आविर्भाव हुआ, उस समय काशी में रामानन्द का प्रभाव अधिक था। यों तो श्रीरामानुजाचार्य की शिष्य-परम्परा में होने के कारण रामानन्द श्री संप्रदाय के अंतर्गत विशिष्टाद्वैत के समर्थक थे, किन्तु स्वयं अपने संप्रदाय में मान्य 'अध्यात्म-रामायण' के दृष्टिकोण से वे अद्वैतवाद में भी विश्वास रखते थे। इस प्रकार रामानन्द जी से विशिष्टाद्वैत और अद्वैतवाद दोनों को बल मिल रहा था। पूर्व में गोरखनाथ का शैव संप्रदाय भी हठयोग की क्रियाओं में प्रतिफलित हो रहा था। झूँसी, मानिकपुर और जौनपुर में सूफियों की प्रधान शाखाएँ सूफीमत के कादरी संप्रदाय का प्रचार कर रही थीं। समकालीन होने के कारण कबीर की विचारधारा भी व्यक्त और अव्यक्त रूप से इन संप्रदायों से प्रभावित हो रही थी, किन्तु इन प्रभावों के होते हुए भी कबीर की विचार-दृढ़ता और मौलिकता में कोई अन्तर नहीं आ सकता था।

---

१. संत कबीर, पृष्ठ २८२।

इसका कारण था। कबीर शास्त्रीय ज्ञान की अपेक्षा अनुभव-ज्ञान को अधिक महत्व देते थे। उनका विश्वास संतों के सत्संग में था और वे संतों की अनुभवगम्य विचारधारा में अवगाहन करना अधिक उचित और विश्वसनीय समझते थे। जो कोई भी धर्म उनके समक्ष आता था उसे वे अपने अनुभव और सत्य की तुला पर तौलते थे और उसके अनुभूति-सत्य को ग्रहण कर अपनी विचारधारा के अनुसार उसका प्रतिपादन करते थे। उन्होंने अद्वैत से तो इतना ग्रहण किया कि ब्रह्म एक है, द्वितीय नहीं और जो कुछ भी दृश्यमान है, वह माया है, मिथ्या है; पर उन्होंने माया का मानवीकरण कर उसे कंचन और कामिनी का पर्याय माना और सूफीमत के शैतान की भाँति पथभ्रष्ट करने वाली समझा। उनका ईश्वर एक, निराकार और निर्विकार है, वह अजन्मा है, अरूप है। उसे मूर्ति और अवतार में सीमित करना उस ब्रह्म की सर्वव्यापकता पर प्रश्न-चिह्न लगाना है। किन्तु ऐसे ईश्वर की, जो अरूप और निर्गुण है, भक्ति कैसे हो सकती है? भक्ति तो व्यक्तित्व की अपेक्षा रखती है। वह साकार की भावना चाहती है, किन्तु कबीर का ब्रह्म तो निराकार है। अद्वैतवाद के निराकार ब्रह्म के प्रति भक्ति की संभावना कैसे हो सकती है? किन्तु कबीर को तो जनता में इस निराकार, सर्वव्यापी अनन्त ब्रह्म का उपदेश करना था, लोगों के मन में उसके प्रति अनुरक्ति और भक्ति जागरित करना था। इस कठिनाई को किस प्रकार हल किया जाय! कबीर ने इसके लिए प्रतीकों का—जीवनगत संबन्धों के प्रतीकों का आश्रय लिया। वे कर्मकांड में विश्वास तो रखते नहीं थे, अतः मूर्ति और अवतार के लिए उनके हृदय में कोई आस्था नहीं थी। उन्होंने अपने ब्रह्म से मानसिक सम्बन्ध जोड़ा और ब्रह्म को अनेक प्रकार से अपने समीप लाने की विधि सोची। उन्होंने ब्रह्म को गुरु, राजा, पिता, माता, स्वामी, मित्र और पति के रूप में मानने की शैली अपनाई। ब्रह्म का **गुरु रूप** देखिए—

> **गुरु** गोविंद तो एक है, दूजा यहु आकार।
> आपा मेटि जीवत मरै, तो पावै करतार॥[1]

राजा रूप

> **राजा** राम कवन रंगे, जैसे परिमल पुहुप संगे॥[2]
>
> अथवा
>
> अब मैं पायो **राजा** राम सनेही।
> जा बिन दुख पावै मेरी देही॥[3]

पिता रूप

> **बाप** राम सुनि बीनती मोरी।
> तुम्ह सूँ प्रगट लोगनि सों चोरी॥[4]

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३।
२. वही, पृष्ठ १४३।
३. वही, पृष्ठ १८४।
४. वही, पृष्ठ २०७।

जननी रूप

हरि जननी मैं बालिक तोरा।
काहे न औगुन बकसहु मोरा।।[1]

स्वामी रूप

कबीर प्रेम न चाखिया, चखि न लीया साव।
सूने घर का पाहुणा, ज्यूं आया त्यूं जाव।।[2]

मित्र रूप

देखो कर्म कबीर का, कछू पूरब जनम का लेख।
जाका महल न मुनि लहै, दोसत (दोस्त) किया अलेख।।[3]

पति रूप

हरि मोरा पीव माई हरि मेरा पीव।
हरि बिन रहि न सकै मेरा जीव।।[4]

इन प्रतीकों में पति या प्रियतम का रूप प्रधान है। इसी प्रतीक में कबीर के रहस्यवाद का रूप निखरा है। रहस्यवाद में साधक और साध्य में इस प्रकार की अभिन्नता हो जाती है कि दोनों में किसी प्रकार का अन्तर नहीं रह जाता। यह अभिन्नता प्रेम पर ही आश्रित है। अतः कबीर ने अपने प्रतीकों की सार्थकता के लिए प्रेम को ही साधना का प्रमुख अंग माना है। यह प्रेम जहाँ एक ओर विशिष्टाद्वैत की भक्ति का प्राण है, वहाँ दूसरी ओर यह सूफीमत के इश्क का रूपान्तर मात्र है। इस भाँति कबीर ने अपने प्रेम-तत्व से वैष्णवी भक्ति और सूफीमत दोनों की प्रमुख भावनाओं का प्रतिनिधित्व किया है। इसीलिए इस प्रेम को कभी कबीर ने 'भक्ति' कहा है और कभी 'इश्क' या उसका प्रतीक 'मदिरा' या मादकता उत्पन्न करने वाला। इस प्रेममयी भक्ति का रूप इस प्रकार है—

चरन कंवल चित लाइए राम नाम गुन गाइ।
कहै कबीर संसा नहीं, भगति मुकति गति पाइ।।[5]

और मदिरा या रस का रूप इस प्रकार है—

हरि रस पीया जाणिए, जे कबहुं न जाय खुमार।
मैमंता घूमत फिरै, नांहीं तन की सार।।[6]

---

१. क० ग्रं०, पृ० १२३।
२. वही, पृष्ठ ६।
३. वही, पृष्ठ ७।
४. वही, पृष्ठ १२५।
५. वही, पृष्ठ ८९।
६. वही, पृष्ठ १६।

प्रेम में आडम्बर नहीं होता, अतः कबीर ने अपनी भक्ति को एकमात्र मानसिक रूप ही दिया है। वैष्णवों की नवधा भक्ति के पाद-सेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य और सख्य भक्ति का कर्मकांडसम्मत रूप कबीर की भक्ति में नहीं है। इनमें से यदि कहीं किसी रूप का संकेत है भी, तो वह प्रतीकात्मक मात्र है। कबीर की भक्ति में केवल श्रवण, कीर्तन, स्मरण और आत्म-निवेदन हैं जिनका सम्बन्ध एकमात्र मानसिक पक्ष से है। इस भाँति कबीर की भक्ति ने पन्द्रहवीं शताब्दी वि० के अव्यवस्थित साधना-मार्ग को एक अत्यन्त व्यावहारिक पक्ष प्रदान किया। संक्षेप में उनकी भक्ति से जितनी आवश्यकताओं की पूर्ति हुई, उनका विवरण निम्न-लिखित है—

१. ब्रह्म को रूप और गुण में सीमित न करते हुए उसे प्रतीकों द्वारा मानसिक धरातल पर लाने में सफलता,

२. प्रेम के माध्यम से आडम्बर और कर्मकांड की आवश्यकता दूर करना,

३. अशिक्षित और अर्ध-शिक्षित जनता के हृदय में ब्रह्म की अनुभूति उत्पन्न करने के लिए विविध संबंधों की अवतारणा और गुरु, राजा, पिता, माता, स्वामी, मित्र और पति के रूपकों के सहारे उससे नैकटच स्थापित करना,

४. सूफीमत के प्रेम-तत्व और वैष्णव धर्म के भक्ति-तत्व को मिलाकर हिन्दू और मुसलमानों के बीच सांप्रदायिकता दूर करना,

५. विश्वव्यापी प्रेम से विश्व-धर्म की स्थापना करना जिसमें वर्ग-भेद और जाति-भेद के लिए कोई स्थान नहीं है, और

६. इस प्रेम के माध्यम से आत्मसमर्पण की भावनाओं को जागरित करना जिसमें पति-पत्नी के प्रेम की पूर्णता से रहस्यवाद की व्यावहारिक परम्परा का सूत्रपात हो।

इस भाँति कबीर की मानसिक भक्ति में प्रेम की प्रधानता है। यह प्रेम इतना व्यापक है कि इसमें ब्रह्म अनेक नामों से संबोधित हुआ है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, परंपरा से आने वाली भक्ति में ब्रह्म के जिन नामों का प्रयोग होता चला आया है, उन नामों को कबीर ने निस्संकोच स्वीकार किया। ब्रह्म के तो अनेक नाम हैं। समस्त सृष्टि में वह जल में नमक की भाँति व्याप्त है, तो उसके नामों की संख्या भी अनंत है। सृष्टि में जितने नाम हैं, वे सभी ब्रह्म के नाम हैं। इसलिए सगुण भक्ति में प्रचलित ब्रह्म के सभी नामों को कबीर ने स्वीकार किया। जनता की रुचि को कोई आघात न लगे इसलिए भी कबीर को सगुणवाची नाम ग्राहय थे। कबीर ने न केवल वैष्णव धर्म के नाम ग्रहण किए वरन उन्होंने ब्रह्म की सर्वव्यापी सत्ता की दृष्टि से मुसलमानों में प्रचलित ईश्वरवाची नामों को भी स्वीकार किया। इसलिए उनकी रचना में 'राम' के साथ 'रहीम', 'केशव' के साथ 'करीम', 'रघुनाथ' के साथ 'रहमान', 'अलख' के साथ 'अल्लाह' आदि नामों का प्रयोग हुआ है।

कबीर की यह मानसिक भक्ति आनन्द और शान्ति से सम्पन्न अन्तःकरण की स्वाभाविक शक्ति है। अतः इसे सहज का नाम भी दिया गया है। कबीर की इस सहज भक्ति ने हमारे धार्मिक जीवन में एक नवीन मार्ग का अन्वेषण किया, इसमें कोई संदेह नहीं।

संतकाव्य के अन्य प्रारंभिक कवि

यह ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि रामानन्द ने जिन शिष्यों को भक्ति में दीक्षित किया था वे अपनी विचार-निष्ठा में स्वतंत्र थे। परम्परा और युग के प्रभाव को लेकर वे सगुण और निर्गुण उपासना के संधि-स्थल पर खड़े थे। यह अवश्य सत्य है कि क्रमशः उनका झुकाव निर्गुणोपासना की ओर होता जा रहा था। इनमें कबीर के अतिरिक्त सेन, धना, पीपा और रैदास विशेष प्रसिद्ध थे। इन पर संक्षेप में विचार करना उचित है।

सेन—इनका आविर्भाव-काल विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी माना गया है। ये जाति के नाई थे और बांधोगढ़ नरेश राजाराम की सेवा में रहते थे। इनकी भक्ति के सम्बन्ध में अनेक कथाएँ प्रचलित हैं। साधु संतों की सेवा में व्यस्त रहने पर स्वयं भगवान ने इनका रूप ग्रहण कर राजा की सेवा की, आदि। इनके सम्बन्ध में अधिक विवरण ज्ञात नहीं है। इनका एक पद गुरु ग्रन्थ साहब में दिया गया है—

धूप दीप घृत साजि आरती।
बारने जाउ कमलापति।।
मंगला हरि मंगला।
नित मंगलु राजा राम राइ को।।
ऊतम दिअरा निरमल बाती।
तुंही निरंजनु कमलापती।।
रामा भगति रामानंदु जाने।
पूरनु परमानंदु बखाने।।
मदन मुरति मै तारि गोविंदै।
सैणु भणै भजु परमानंदे।।रागु धनासरी—१

विशेष द्रष्टव्य है रामानन्द का नाम तथा कमलापति की आरती। यह पद स्पष्ट करता है कि सेन रामानन्द के समकालीन थे तथा उनके शिष्य थे।

धना—इनका जन्म सं० १४७२ (१४१५ ई०) में हुआ था। ये जाति के जाट थे और धुवान (राजपूताना) के निवासी थे। ये आरम्भ में मूर्तिपूजक थे। इनके सम्बन्ध में अनेक अलौकिक कथाएँ हैं। ये रामानन्द से दीक्षित हुए और निराकारोपासना में प्रसिद्ध हुए। गुरु-ग्रन्थ साहिब से एक पद उदाहरण के लिए देखिए—

भ्रमत फिरत बहु जनम बिलाने तनु मनु धनु नहीं धीरे।
लालच बिखु काम लुबध राता मनि बिसरे प्रभु हीरे।।
बिखु फल मीठ लगे मन बउरे चार विचार न जानिआ।
गुन ते प्रीति बडी अनभांती जनम मरन फिरि तानिआ।।
जुगति जानि नही रिदै निवासी जलत जाल जम फंद परे।
बिखु फल संचि भरे मन ऐसे परम पुरख प्रभ मन बिसरे।।

गिआन प्रवेशु गुरहि धनु दीआ धिआनु भानु मन एक भए।
प्रेम भगति मानी सुख जानिआ तृपति अघाने मुकति भए।।
जोति समाए समानी जाकै अछली प्रभु पहिचानिआ।
धनै धनु पाइया धरणी धरु, मिलि जन संत समानिआ।।

—रागु आसा ।।१।।

संत धना की कविता में उपदेश की प्रवृत्ति अधिक है ।

पीपा—इनका जन्म सं० १४८२ वि० (१४२५ ई०) में हुआ था। ये गगरौनगढ-नरेश थे। पहले भगवती दुर्गा के उपासक थे, बाद में रामानन्द से दीक्षित होकर वैष्णव हो गए। पीपा की भक्ति उत्कृष्ट कोटि की थी। इनके सम्बन्ध में भी अनेक अलौकिक चमत्कार कहे जाते हैं। इनकी कविता का उदाहरण भी गुरु ग्रंथ साहब से लिया गया है—

कायउ देवा, काइअउ देवल काइअउ जंगम जाती।
काइअउ धूप दीप नइवेदा काइअउ पूजउ पाती।।
काइया वहु खंड खोजते नव निधि पाई।
ना कछु आइबो ना कछु जाइबो राम की दोहाई।।
जो ब्रह्मंडे सोई पिंडे जौ खोजै सो पावै।
पीपा प्रणवै परम ततु है सति गुरु होइ लखावै।।

——राग, धनासरी ।।१।।

पीपा ने अपने काव्य से अधिक लोकप्रियता प्राप्त की थी। इनका दृष्टिकोण अन्य समकालीन संतों से निर्गुण उपासना की ओर अधिक देखा जाता है ।

रैदास—इनका आविर्भाव-काल सं० १४४५ वि० (१३८८ ई०) से सं० १५७५ (सन १५१८ ई०) तक माना जाता है। यद्यपि इनका जन्म चमार के घर में हुआ था, तथापि संत रूप में इनकी प्रसिद्धि दूर-दूर स्थानों तक थी। ये काशी में ही निवास करते थे। इनकी कविता भावपूर्ण और सरल थी। उदाहरण देखिए—

प्रानी किआ मेरा किआ तेरा।
जैसे तरवर पंखि बसेरा।।
राखहु कंध उसारउ नीवां। साढे तीन हाथ तेरी सीवां।।
बंक बाल, पाग सिर डेरी। इहु तन होइगो भसम की ढेरी।
ऊंचे मंदर सुंदर नारी। राम नाम बिनु बाजी हारी।।
मेरी जाति कमीनी पांति कमीनी ओछा जनम हमारा।
तुम सरनागति राजा रामचंद्र कहि रविदास चमारा।।

उपर्युक्त चारों संतों की कविता भक्ति और उपदेश पूर्ण है। इन संतों की रचनाएँ कबीर के संतसंप्रदाय की भूमिका मात्र हैं। हिन्दी काव्य की इस पृष्ठभूमि को लेकर कबीर ने निर्गुण संप्रदाय का उत्तरी भारत में सूत्रपात किया। इस निर्गुण संप्रदाय को पुष्ट करने वालों में नामदेव, त्रिलोचन, बेनी, सधना आदि संत कवि हैं।

संत कबीर के दृष्टिकोण को आदर्श मान कर निर्गुण संप्रदाय में अनेक संत हुए हैं जिन्होंने अपने काव्य से संतकाव्य के रूप में यथेष्ट साहित्य की रचना की। यदि इस काव्य पर भाव-पक्ष की दृष्टि से विचार किया जाय तो चार कोटियाँ दृष्टिगत होंगी। ये कोटियाँ संतों की विशिष्ट अनुभूतियों को लेकर निर्धारित की जा सकती हैं, अन्यथा सामान्य रूप से निर्गुण संप्रदाय के आदर्श सभी संतों की रचनाओं में पाए जा सकते हैं। संतसंप्रदाय की इन कोटियों और कवियों का वर्गीकरण निम्न प्रकार से है—

प्रथम कोटि : तत्वदर्शी—कबीर, नानक, दादू, सुन्दरदास, चरणदास, गरीबदास और तुलसी साहब।

द्वितीय कोटि : भावनासंपन्न—जगजीवनदास, गुलाल साहब, दूलनदास, दरिया साहब (बिहार वाले), यारी साहब, सहजोबाई और दयाबाई।

तृतीय कोटि : स्वच्छन्द—मलूकदास, धरनीदास, दरिया साहब (मारवाड), गुलाल साहब और भीखा साहब।

चतुर्थ कोटि : सूफी—बुल्लेशाह, पल्टू साहब।

प्रथम कोटि : तत्वदर्शी कवि

कबीर—तत्वदर्शी कोटि के कवियों में कबीर अग्रगण्य हैं। इन्होंने पूर्ववर्ती परम्परा को परिमार्जित कर युगानुकूल विचारधारा का प्रवर्तन किया। इनकी रचनाओं में शास्त्रीय मान्यताओं के लिए उतना स्थान नहीं है जितना जीवनगत अनुभूतियों के लिए है। अतः कबीर की दृष्टि में शास्त्रीय दर्शन का महत्व नहीं है। वे तत्वदर्शी हैं, सिद्धांतदर्शी नहीं। इसीलिए वे निर्गुण संप्रदाय के प्रमुख संत और कवि हैं।

सहज अनुभूतियों के आधार पर संत कबीर ने अपनी वाणी में जिस दर्शन का संकेत किया है वह जितना सत्य के निकट है, उतना ही व्यावहारिक भी है। कबीर जनता के कवि थे, इसलिए उन्होंने ऐसे दर्शन की उद्‌भावना की जो जनता द्वारा सहज ही समझा जा सके। जैसा ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, मानसिक पवित्रता को धर्म का आधार मान कर उन्हें वे अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, नाथ संप्रदाय और सूफी संप्रदाय की ब्रह्म, जीव, माया और साधना संबन्धी उपर्युक्त और बोधगम्य बातें लेकर उन्हें अपनी सीमा और संप्रदायरहित धर्म में स्थान दिया और निर्गुण और सगुण से परे ब्रह्म की योग भक्तिमयी उपासना का दर्शन प्रस्तुत किया। भक्ति में प्रेम की प्रधानता थी और यही प्रेम अपनी चरम सीमा में सहज का रूप ग्रहण कर सका। इसी प्रेम के प्रतीकों से उनका रहस्यवाद पुष्ट हुआ। ये प्रतीक जब जीवनगत सम्बन्धों में आए तो वे भक्ति के आधार बने, जब हठयोग की क्रियाओं में आए तो योग के आधारभूत साधन बने। जीवन और स्वाभाविक धर्म के युग में ही कबीर का दर्शन बना जिसकी अनुभूति में गुरु का विशेष महत्व है। कविता के उदाहरण में इनकी दो साखियां दी जाती हैं—

> कबीर तूं तूं करता तूं हुआ, मुझ में रही न हूं।
> जब आपा पर का मिटि गइआ, जउ देखउ तत तूं ॥[1]

---

1. संत कबीर, पृष्ठ २७८।

ऊच भवन कनकामिनी सिखरि धजा फहराइ।
ताते भली मधूकरी, संत संग गुन गाइ ॥[1]

गुरु नानक—श्री गुरु नानक सिख धर्म के प्रवर्तक थे। इनका जन्म सं० १५२६ वि० (१४६९ ई०) में तलबंडी—पंजाब में हुआ था। इनके दार्शनिक सिद्धान्त संत कबीर से बहुत मिलते-जुलते हैं। इन्होंने एकेश्वरवाद, मूर्तिपूजा-विरोध तथा हिन्दू मुसलमानों में अभिन्नता का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। सिख संप्रदाय में गुरु का स्थान सर्वोपरि है। इनकी रचनाएँ गुरु ग्रंथ साहब के पहले महले में संकलित हैं। जपुजी इनकी सर्वोत्कृष्ट रचना है। उससे एक उदाहरण देखिए—

तीरथ नावा जे तिसु भावा विणु भाणे की नाइ करी।
जेती सिरठि उपाई बेखा विणु करमा कि मिलै लई॥
मति विच रतन जवाहर माणिक जे इक गुरु की सिख गुणी।
गुरा इक देहि बुझाई।
सभना जीआ का इकु दाता सो मैं बिसरि न जाई॥[2]

दादू—इनका जन्म सं० १६०१ वि० (१५४४ ई०) में अहमदाबाद (गुजरात) में हुआ था। स्वानुभूति और प्रेम की व्यञ्जना करने में दादू की रचनाएँ सफल हुई हैं। इन्होंने अपने सिद्धान्त-पक्ष का निर्धारण कबीर की रचनाओं को आदर्श मान कर किया है। इनकी सबसे बड़ी विशेषता एकेश्वर के प्रति अनन्य भक्ति की है जो इन्होंने प्रेम और विरह के माध्यम से कही है। इनकी भाषा सरल और मिश्रित है—

सब लालौ सिरि लाल है, सब खूबौं सिर खूब।
सब पाकौं सिरि पाक है, दादू का महबूब।[3]
लोहा पारसि परसि करि, पलटै अपना अंग।
दादू कंचन ह्वै रहै, अपने सांई संग॥[4]

सुन्दरदास—इनका जन्म सं० १६५३ वि० (१५९६ ई०) में द्यौसा (जयपुर) में हुआ। ये दादू के शिष्य थे। इन्होंने काशी में विद्याध्ययन विशेष रूप से किया। इनकी रचनाओं का सर्वश्रेष्ठ गुण अनुभव-तत्व और काव्य-चमत्कार है। संत कवियों में सब से सुन्दर कविता संत सुन्दरदास की है। भक्तियोग, पंचेन्द्रिय-निर्णय तथा सहजानन्द इनके प्रिय विषय हैं। इनके उपदेशों में शक्ति का चमत्कार भी है। उदाहरण देखिए—

ग्रेह तज्यो अरु नेह तज्यो पुनि खेह लगाइके देह संवारी।
मेघ सहे सिर सीत सह्यो तनु धूप समै जु पंचागिन वारी॥

---

१. संत-कबीर पृ० २७०।
२. गुरु साहब, पृ० २।
३. संत सुधासार, श्री वियोगी हरि, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, पृष्ठ ४८८।
४. वही, पृ० ४८९।

भूख सही रहि रुख तरे परि सुन्दरदास सहे दुख भारी।
डांसन छाडि कै कांसन ऊपर आसन मार्‍यो पै आस न मारी ।।[1]

चरनदास—चरनदास का जन्म सं० १७६० (१७०३ ई०) में देहरा (अलबर) में हुआ। यद्यपि इनकी रचना साधारण है, किन्तु उसमें योग, भक्ति, ज्ञान आदि की समीक्षा बहुत विस्तार से की गई है। संत कबीर की विचारधारा में इन्होंने मूर्तिपूजा का घोर तिरस्कार किया है। तन्मयता इनकी भक्ति का विशेष गुण है।

अब घर पाया हो मोहन प्यारा।
लखो अचानक अज अविनासी, उघरि गये दृग तारा।
झूमि रह्यौ मेरे आंगन में टरत नहीं कहुं टारा।
रोमरोम हिय मांही देखो, होत नहीं छिन न्यारा।
भयो अचरज चरनदास न पैये खोज कियो बहु बारा।।

गरीबदास—इनका जन्म सं० १७७४ (१७१७ ई०) में छुडानी (रोहतक) में हुआ था। ये जाति के जाट थे। संत कबीर की भाँति इनकी प्रतिभा भी तत्वदर्शन में बहुमुखी थी। इनकी भाषा स्वाभाविक और मिश्रित है और इसमें अरबी-फारसी के शब्द स्वतन्त्रता से लिए गए हैं। इन्होंने गुरु, देव और स्मरण पर बहुत बल दिया है—

नाम जपा तो क्या हुआ, उर में नहीं यकीन।
चोर मुसै घर लूटहीं, पांच पचीसो तीन ।।
कोटि गऊ जे दान दे, कोटि जज्ञ जेवनार।
कोटि कूप तीरथ खनै, मिटै नहीं जम भार।।

तुलसी साहब—इनका जन्म सं० १८८५ वि० (१८२८ ई०) में हुआ। इनका समस्त जीवन हाथरस (अलीगढ़) में व्यतीत हुआ। ये अपने को रामचरितमानसकार तुलसीदास का अवतार मानते थे। इन्होंने प्रत्येक विषय का शास्त्रीय विवेचन किया है, किन्तु निर्गुण ब्रह्म की व्याख्या विशेष विस्तार से की है। शब्दयोग की गहरी साधना को ही इन्होंने अपना लक्ष्य बनाया था। इनका 'शब्दावली' शीर्षक ग्रंथ सरस और लोकप्रिय है। इन्होंने शृंगार के प्रतीकों से ब्रह्मसाधना का संकेत किया है—

सोहागिन सुन्दरी, तुम बसहु पिया के देस।
नैहर नेह छाड़ि देवो री, सुन सतगुर उपदेस।।
कोटि करो इहां रहन न पैहो, क्या धनि रंक नरेस।
प्रभु के देस परम सुख पूरन, निरभय सुनत संदेस।।
जरा मरन तन एकन व्यापै, सोक मोह नहि लेस।
सब से हिल मिल बैर विषन तज, परम प्रतीत प्रवेस।
दम पर दम हरदम प्रीतम सँग, तुलसी मिटा कलेस ।।

---

१. वही, पृ० ६२३।

द्वितीय कोटि : भावना सम्पन्न कवि

इस कोटि के कवियों ने भक्ति की तल्लीनता ही अधिक प्रदर्शित की है। ज्ञान-विज्ञान की विवेचना में उनकी रुचि नहीं रही। इस सम्बन्ध में यदि उन्होंने कुछ लिखा भी तो वह केवल परम्परागत ही है। प्रेम, दीनता, क्षमा, आदि मानसिक सत्प्रवृत्तियों पर उनकी विशेष आस्था है। ऐसे कवियों में निम्नलिखित अधिक प्रसिद्ध हुए हैं—

जगजीवनदास—इनका जन्म सं० १७२७ वि० (१६७० ई०) में खरदहा (बाराबंकी) में हुआ था। इन्होंने जाति-बंधन तोड़ने में अधिक रुचि दिखलाई। इनकी साखियाँ सरल और उपदेशमय हैं—

भूलु फूलु सुखकर नहीं, अबह्यूँ होहु सचेत।
सांई पठवा तोहिं कां, लावो तेहि के हेत॥[1]

यारी साहब—इनका जन्म सं० १७२५ वि० (१६६८ ई०) में दिल्ली में हुआ। इन्होंने कबीर की भांति प्रतीकों का भी उपयोग किया है। इनकी रचना सरस और हृदयग्राही—

बिरहिनी मंदिर दियना बार।
बिन बाती बिन तेल जुगति सों बिन दीपक उजियार।
प्रानप्रिया मेरे गृह आयो रचि रचि सेज सँवार॥
सुखमन सेज परम तत रहिया पिया निरगुण निरकार।
गावहु री मिलि आनन्द मंगल, यारी मिलि के यार॥[2]

दरिया साहब (बिहारवाले)—इनका जन्म अनुमानतः सं० १७३० वि० (१६७३ ई०) में हुआ। इनका निवास घरकंधा (आरा) था। निर्गुण की भक्ति में इन्होंने दोहे-चौपाई में बड़ी सरस रचना की है—

दूजा दुबिधा जेहि नहिं सोई। भगत सुनाम कहावै सोई॥
ब्राह्मन सो जो ब्रह्महिं चीन्हा। ध्यान लगाइ रहै लवलीना॥
क्रोध मोह तृष्णा नहि खोई। पंडित नाम सदा है सोई॥
दरिया भव जल अगम अति, सतगुरु करहु जहाज।
तेहि पर हंस चढाइकै, जाइ करहु सुखराज॥[3]

गुलाल साहब—इनका जन्म सं० १७५० वि० (१६९३ ई०) भुरकुडा ग्राम (गाजीपुर) में हुआ था। प्रेम, भक्ति और अनुभव इनकी कविता की प्रमुख विशेषताएँ हैं। इनकी भाषा पूर्वी ढाँचे में ढली हुई है, जैसे—

कोउ नहि कहल मोरे मन कै बुझरिया।
घरि घरि पल पल छिन छिन डोलत, डोलत साफ अँगरिया॥

---

१. संत सुधासार, वियोगी हरि, दूसरा खंड, पृष्ठ ७०।
२. वही, पृ० ७३।
३. वही, पृ० ९९।

अब की बेर सुनो नर मूढो बहुरि न ल्यो अवतरिया।
कह गुलाल सतगुरु बलिहारी भवसिंध अगम राम तरिया॥[1]

दूलनदास—इनका आविर्भाव-काल सं० १७८० वि० (१७२३ ई०) के लगभग है। इनका जन्म समैसी (लखनऊ) में हुआ था। चेतावनी, उपदेश, प्रेम और विनय ने इनकी रचना में विशेष रूप से स्थान पाया है—

राम नाम दुइ अच्छरै, रटै निरंतर कोई।
दूलन दीपक बरि उठै, मन परतीति जो होई॥
चारा पील पिपीलकौ, जो पहुंचावत रोज ।
दूलन ऐसे नाम की, कीन्ह चाहिए खोज॥[2]

सहजोबाई—इनका आविर्भाव सं० १७४० वि० से १८२० (सन १६८३ से १७६३ ई०) तक माना जाता है। इनका जन्म देहरा राज्य (राजस्थान में) हुआ था। ये चरणदास की शिष्या और बाल ब्रह्मचारिणी थीं। इनकी साधना उच्च कोटि की थी और ये गुरु को सर्वोपरि महत्व देती थीं।

हरि ने कर्म भर्म भरमायो। गुरु ने आतम रूप लखायो।
हरि ने मोसूँ आप छिपायो। गुरु दीपक दै ताहि दिखायो॥
फिर हरि बंध मुक्ति गति लाए। गुरु ने सबही भरम मिटाए।
चरनदास पर तन मन वारूं। गुरु न तजूं हरि कूं तजि डारूं॥[3]

दयाबाई—इनका आविर्भाव-काल भी सं० १७४० से १८२० वि० (१६८३ से १७६३ ई०) तक माना जाता है और ये सहजोबाई के साथ चरणदास की शिष्या थीं। ये भी बाल ब्रह्मचारिणी थीं। तन्मयता इनमें अधिक थी और ये गुरु के अतिरिक्त निर्गुण, निरंजन और अजपा जाप पर विशेष ध्यान रखती थीं—

पदमासन सूं बैठ करि अंतर दृष्टि लगाव ।
दया जाप अजपा जपौ, सुरति साँस में लाव॥
चरणदास गुरु कृपा तें, मनुवा भयो अपंग ।
सुनत नाद अनहद दया, आठो जाम अभंग ॥[4]

तृतीय कोटि : स्वच्छन्द कवि

इस कोटि के कवियों ने किसी विशिष्ट विचारधारा का प्रवाह अपनी रचनाओं में नहीं किया। ज्ञान, वैराग्य, उपदेश, भक्ति, विश्वास में भी जो विषय इन्हें परिस्थितियों के अनुकूल

---

१. वही, पृ० १२२।
२. वही, पृ० ८५।
३. वही, पृ० १८१।
४. वही, पृ० २०५।

जान पड़ा उस पर उन्होंने रचना की। चेतावनी पर इन कवियों ने विशेष बल दिया है। इस कोटि के कुछ प्रमुख कवियों का विवरण इस प्रकार है—

मलूकदास—इनका जन्म सं० १६३१ वि० (सन १५७४ ई०) में कड़ा (इलाहाबाद) में हुआ था। ये निर्गुण के साथ ही सगुण की भक्ति भी करते थे। यह इनकी स्वच्छंदता का प्रमाण है। प्रेम और विश्वास का परिचय इनकी रचनाओं में स्थान-स्थान पर मिलता है. यहाँ तक कि ये हरि को भी अपना भक्त मानते थे—

माला जपो न कर जपो, जिभ्या कहौ न राम।
सुमिरन मेरा हरि करै, मैं पाया विसराम।
राम राय असरन सरन, मोहि आपन करि लेहु।
संतन सँग सेवा करौं, भक्ति मंजूरी देहु।।[1]

धरनीदास—अन्तर्राक्ष्य से इन्होंने शाहजहां के उत्तराधिकारियों के युद्ध का संकेत किया है। इन्होंने अपना सांसारिक वैभव छोड़कर सहसा वैराग्य ले लिया। ये माफी गाँव (छपरा) के निवासी थे अतः इनकी भाषा पर भोजपुरी का प्रभाव है। वैराग्य, विरह और मिलन के अनेक चित्र इनकी कविता में दृष्टिगत होते हैं—

ज्ञान को बान लगो धरनी जन सोवत चौकी अचानक जागे।
छूटि गयो विषया विष बन्धन पूरन प्रेम सुधारस पागे।।
भावत वाद विवाद निषाद, न स्वाद जहां लगि सों सब त्यागे।
मूंदि गईं अखियां तब तें जब तें हिये में कछु हेरन लागे।।[2]

दरिया साहब (मारवाड़)—इनका जन्म सं० १७७३ वि० (१७१५ ई०) में जैतारण (मारवाड) में हुआ। ये जाति के धुनियाँ (मुसलमान) थे और कबीर साहब को अपना आदर्श मानते थे। इन्होंने कबीर की **उलटवासियों** का भी अनुसरण किया है। अन्य स्थलों पर भाषा सजीव और सरल है—

बड के बड लागै नहीं, बडके लागै बीज।
दरिया नान्हा होय कर, राम नाम गह चीज।
नारी जननी जगत की, पाल पोष दे पोष।
मूरख राम बिसार कर, ताहि लगावै दोष।।[3]

गुलाल साहब—इनका जन्म अनुमानतः सं० १७५६ वि० (१६९३ ई०) माना जाता है। ये भुरकुडा (गाजीपुर) के जमीन्दार थे, बाद में बड़े प्रसिद्ध भक्त हो गए। भाषा सहज और स्वाभाविक है। प्रेम और विरह के बड़े सुन्दर चित्र इन्होंने उपस्थित किए हैं। भाषा पर पूर्वीपन की छाप है—

---

१. वही, पृ० ३७।
२. वही, पृ० ४७।
३. वही, पृ० ११३।

सबद सनेह लगावल हो, पावल गुरु रीती।
पुलकि पुलकि मन भावल हो, ढहली भ्रम भीती ।।
संतन कहल पुकारी हो, जिन सूनल बानी।
सो जन जम तें बाचल हो, मन सारंगपानी ।।[१]

भीखा साहब—इनका जन्म संवत १७७० वि० (१७१३ ई०) के लगभग है। ये गुलाल साहब के शिष्य थे। इनकी रचना कोमल और मधुर है, किन्तु शब्दों के प्रयोग में ये बड़े स्वतंत्र थे। प्रेम, परिचय और उपदेश इनकी रचना में विशेष रूप से स्पष्ट हुए हैं—

प्रीति यह रीति बखानौ।
कितनौ दुख सुख परै देह पर चरन कमल कर ध्यानौ।
हो चैतन्य बिचारि तजो भ्रम, खांड धूरि जनि सानौ ।।
जैसे चात्रिक स्वाति बिन्दु बिन प्रान समर्पण ठानै।
भीखा तेहि तन राम भजन नहिं काल रूप तेहि जानै।।[२]

चतुर्थ कोटि : सूफी

इस कोटि के कवियों ने संतसंप्रदाय के सभी तत्वों को तो ग्रहण किया, किन्तु उन तत्वों का निरूपण सूफी सिद्धान्तों के आधार पर ही किया। सूफी संप्रदाय की शब्दावली भी अनेक स्थलों पर आ गई है। ऐसे दो प्रमुख कवियों का विवरण निम्नलिखित है—

बुल्ले शाह—इनका आविर्भाव-काल सं० १७६० से १८१० वि० (१७०३–१७५३ ई०) तक माना जाता है। यों तो इनका जन्मस्थान रूम कहा जाता है, किन्तु इन्होंने अपनी वाणी का प्रचार कुसूर (लाहौर) में किया। ये एक प्रसिद्ध सूफी थे। इनकी वाणी में प्रेम और उपदेश विशेष रूप से स्थान पा सके हैं। इनकी भाषा पर पंजाबी प्रभाव है—

बुल्ला हिजरत बिच अलाह दे, मेरा नित है खास अराम।
नित नित मरां ते नित जिया, मेरा नित नित कूच मुकाम।।
बुल्ला आसिक हो यों रब्ब दा, मुलामत होई लाख।।[३]
लोग काफर काफर आखदे, तू आहो आहो आख।।

पलटू साहब—इनका आविर्भाव सं० १८५० वि० (१७९३ ई०) के लगभग समझा जाता है। ये अवध के नवाब शुजाउद्दौला के समकालीन थे। इनका जीवन अधिकतर अयोध्या में ही व्यतीत हुआ। इन्होंने कुंडलियों की रचना अधिकतर की है। ये कुंडलियाँ कबीर की साखियों के आधार पर ही हैं। इन्होंने सूफीमत के नासूत, मलकूत, जबरूत, लाहूत, हाहूत आदि का भी वर्णन बड़े विस्तार से किया है। आशिक का वर्णन देखिए—

---

१. वही, पृ० १३३-१३४।
२. वही, पृ० १४२।
३. वही, पृ० १५२।

जीते जी मर जाय, करै ना तन की आसा।
आसिक का दिन रात, रहै सूली पर बासा।।
मान बड़ाई खोय नींद भर नाहीं सोना।
तिल भर रक्त न मांस, नहीं आसिक को रोना ।।
पलटू बड़े बेकूफ वे आसिक होने जांहि।
सीस उतारै हाथ सें सहज आसकी नांहि ।।

इन कवियों के अतिरिक्त संत साहित्य में अनेक संतों का योग है जिनकी रचनाएँ आज भी देश के विविध स्थानों में श्रद्धा और भक्ति से कही और सुनी जाती हैं। इन संतों में धनी धरमदास, सुथरादास, वीरभान, लालदास, बाबादास, हरिदास, स्वामी प्राणनाथ, रज्जब जी, बषानजी, वाजिद जी, बुल्ला साहब, बालकृष्ण, सहजानन्द और गाजीदास विशेष प्रसिद्ध हैं। अधिकतर इन संतों के संप्रदाय भी स्थापित हो गए हैं और कबीरपंथ से लेकर आवापंथ तक कम से कम बीस संप्रदाय आज भी विविध केन्द्रों में ज्ञान और भक्ति का प्रचार कर रहे हैं। सब से बड़ी बात यह है कि इन संप्रदायों से देश की वह जनता धार्मिक बनी हुई है जो समाजशास्त्रियों की दृष्टि में निकृष्ट, दलित और अछूत है। उपर्युक्त संतों की रचनाओं को दृष्टि में रखते हुए अब संत संप्रदाय के भाव-पक्ष और शैली पक्ष पर विचार करना आवश्यक है।

संतकाव्य का भाव पक्ष

संत संप्रदाय अपने भाव पक्ष में विशेष संगठित है। इसके तीन विभाग किए जा सकते हैं— धार्मिक, दार्शनिक और सामाजिक।

धार्मिक—संत संप्रदाय का धर्म विश्वधर्म है। इसमें न तो किसी प्रकार का कर्मकांड है न वर्ग और वर्ण का भेद है। मानवमात्र का स्वाभाविक और सात्विक आचरण ही धर्म है। इस धर्म का मूलाधार हृदय की पवित्रता है। जब तक हृदय संसार की वासनाओं से मुक्त होकर पवित्र नहीं होता तब तक वह ईश्वरानुभूति के योग्य नहीं हो सकता। मैले कपड़े पर किसी प्रकार रंग नहीं चढ़ सकता। कपड़े पर गहरा रंग चढ़ाने के लिए उसे धोने की आवश्यकता है। इसलिए संत संप्रदाय में मन को चुनरी (कपड़ा) कहा गया है और सद्गुरु को रंगरेज —

सत्गुरु हैं रंगरेज, चुनरि मेरी रंग डारी।

(क) विधि और निषेध—इसी हृदय की पवित्रता के लिए विधि और निषेध की आवश्यकता है। हृदय को शुद्ध रखने के लिए कुछ कार्य विधेय हैं, कुछ वर्ज्य हैं। उदाहरण के लिए उदारता, शील, क्षमा, संतोष, धीरज, दीनता, दया, विचार, विवेक ग्रहण करने योग्य हैं और काम, क्रोध, लोभ, कपट, तृष्णा, कनक और कामिनी, निन्दा, मांसाहार, तीर्थव्रत आदि छोड़ने योग्य हैं। संत संप्रदाय में इस पक्ष पर विशेष बल दिया गया है। बार बार हृदय की पवित्रता के लिए विधि-निषेध के अन्तर्गत गुण-ग्रहण और दोष-परिहार पर उपदेश दिए गए हैं।

(ख) गुरु—विधि-निषेध का वास्तविक ज्ञान तब तक नहीं होता जब तक कि गुरु का मार्ग-दर्शन प्राप्त न हो। इस संप्रदाय में गुरु का स्थान सर्वोपरि है। वह ब्रह्म से भी ऊँचा है, क्योंकि

बलिहारी गुरु आपने जिन गोविंद दिया बताय।

गुरु के बिना ज्ञान अधूरा है, वही ज्ञान का दीपक हाथ में देकर सन्मार्ग की ओर अग्रसर कराता है। ब्रह्म की अनुभूति उसी के इंगित मार्ग से होती है। इस भाँति साधना में गुरु का स्थान अद्वितीय है।

(ग) नाम-स्मरण—इस धर्म में किसी कर्मकांड के लिए स्थान नहीं है, न मूर्तिपूजा, न तीर्थ-व्रत, न जप-माला, न छापा-तिलक के लिए ही। इसका आचार एक मात्र नाम-स्मरण, श्रवण और कीर्तन है। इस मानसिक भक्ति में सत्संग का विशेष स्थान है। साधु पुरुषों के साथ मन की पवित्रता बढ़ती है और नाम-स्मरण, श्रवण और कीर्तन की ओर मन आकृष्ट होता है।

इस भाँति संत संप्रदाय का धर्म विधि-निषेध, गुरु और नाम-स्मरण के आधार पर ही संगठित है।

दार्शनिक—संत संप्रदाय का दर्शन किसी विशेष शास्त्र से नहीं लिया गया। शास्त्रों में कबीर की आस्था नहीं थी, क्योंकि शास्त्र एक दृष्टिकोण विशेष से लिए या कहे जाते हैं और वे साम्प्रदायिकता के आधार पर ही टिके होते हैं। यह तो स्पष्ट हो ही चुका है कि कबीर ने धर्म और दर्शन को संप्रदाय की सम्पत्ति नहीं समझा, क्योंकि वे अपने धर्म और दर्शन में किसी प्रकार की संकीर्णता नहीं लाना चाहते थे। शास्त्र और दर्शन के अध्ययन से अहंकार भी बढ़ता है और दर्शन में अहंकार के लिए स्थान नहीं है, उसमें तो अनुभूति और विश्वास ही होना चाहिए। शास्त्रीय जटिलताओं से अनुभूति सुसाधित नहीं होती। अतः संत संप्रदाय का दर्शन उपनिषद, भारतीय षट दर्शन, बौद्ध धर्म, सूफी संप्रदाय, नाथ संप्रदाय की विश्वजनीन अनुभूतियों के तत्वों को मिला कर सुसंगठित हुआ है। ये तत्व सीधे शास्त्र से नहीं आए, वरन शताब्दियों की अनुभूति-तुला पर तुल कर महात्माओं की व्यावहारिक ज्ञान की कसौटी पर कसे जाकर सत्संग और गुरु के उपदेशों से संग्रहीत हुए। यह दर्शन स्वार्जित अनुभूति है, जैसे सैकड़ों पुष्पों की सुगन्ध मधु की एक बूँद में समाहित है, किसी एक फूल की सुगंध मधु में नहीं है। उस मधु-निर्माण में भ्रमर की अनेक पुष्पतीर्थों की यात्राएँ सन्निविष्ट हैं, अनेक पुष्पों की क्यारियाँ मधु के एक एक कण में निवास करती हैं। उसी प्रकार संत संप्रदाय का दर्शन अनेक युगों और साधकों की अनुभूतियों का समुच्चय है।

संत दर्शन में चार तत्वों की प्रधानता है—ब्रह्म, जीव, माया और जगत। इन पर संक्षेप में विचार करना है।

ब्रह्म—संत संप्रदाय का ब्रह्म एक है, उसका रूप और आकार नहीं है। वह निर्गुण और सगुण से परे है। वह संसार के कण कण में है। वह मूर्ति अथवा तीर्थ में नहीं है, वह हमारे शरीर में ही है, हमारी प्रत्येक साँस में है। वह अवतार लेकर नहीं आता, वरन संसार की प्रत्येक वस्तु में प्रच्छन्न रूप से वर्तमान है। इसका न तो वर्णन हो सकता है न कल्पना के द्वारा ग्रहण होता है। वह अनुभवगम्य है। गूँगे का गुड़ है। उसके अनेक नाम हैं। प्रत्येक संप्रदाय के ईश्वर संबंधी नाम उसके नाम हैं। वह न वर्गों में बाँटा जा सकता है, न जातियों में। ब्राह्मण, शूद्र और मुसलमान का एक ही ब्रह्म है। इस प्रकार ब्रह्म एक, अनादि, अनन्त और निर्गुण-सगुण से परे है। वह शून्य है, निरंजन है, अक्षय है। उसकी प्राप्ति भक्ति के अन्तर्गत प्रेम और अनुभूति से तथा योग के अंतर्गत समाधि से हो सकती है। इस साधना में गुरु मार्ग-दर्शक है। शिष्य को परमात्मा से मिलाने के कारण गुरु का स्थान स्वयं परमात्मा से ऊँचा है।

जीव—ब्रह्म और जीव में वस्तुतः कोई अन्तर नहीं है, दोनों की एक ही सत्ता है, किन्तु माया द्वारा दोनों में अन्तर भासित होता है। माया को दूर करने के लिए साधना की आवश्यकता है। इस साधना से ब्रह्म और जीव पुनः एक दृष्टिगत होते हैं।

जीव माया से आक्रान्त होकर अविद्या के वशीभूत होता है। यह अविद्या गुरु द्वारा दूर की जाती है और वह जीव को भक्ति का मार्ग बतलाता है। जीवन के लिए ब्रह्म का रूप जानना, अर्थात आत्मबोध करना कठिन होता है। इसलिए उसी के माध्यम से ब्रह्म को प्रतीकों के रूप में अनुभव की भूमि मर लाने की आवश्यकता होती है। ये प्रतीक माता-पिता, स्वामी-मित्र अथवा पति का संबंध निरूपित करते हैं। इन प्रतीकों में पति या प्रियतम का प्रतीक सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि दाम्पत्य भाव ही में प्रेम की पूर्णता है। इस प्रतीक में ब्रह्म प्रियतम बन जाता है और जीव विरहिणी, जो प्रियतम के विरह में संतप्त है। इस विरह में प्रेम कंचन की भाँति निर्मल हो जाता है। इस दाम्पत्य रति का अनुसरण कर प्रियतमा के रूप में जीव अपने प्रियतम ब्रह्म में आत्मसमर्पण कर देता है। इस आत्मसमर्पण में आनन्द की जो अनुभूति है उसी का नाम रहस्यवाद है। तत्वदर्शी कोटि के संतों ने रहस्यवाद का आश्रय ग्रहण कर ब्रह्म और जीव के मिलन का मार्ग स्पष्ट किया है, अन्यथा माया के प्रभाव से जीव और ब्रह्म में मिलाप होने की संभावना ही नहीं होती। यदि इन प्रतीकों की स्थापना न होती तो रहस्यवाद की भी सृष्टि नहीं हो सकती थी। योग के नाड़ी-साधन तथा षटचक्र वेधन से सहस्रदलकमल-स्थित ब्रह्म की अनुभूति समाधि द्वारा संभव है, किन्तु जीव के लिए सरल मार्ग प्रतीकों द्वारा ब्रह्म का नैकट्य प्राप्त करना ही है।

ब्रह्म और जीव का यह मिलन कभी रहस्यवाद के अंतर्गत है कभी अद्वैतवाद के अन्तर्गत। वस्तुतः रहस्यवाद और अद्वैतवाद में विशेष अन्तर नहीं है। जो अन्तर है, वह यही कि अद्वैतवाद में ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य सत्ता का निषेध है—

ज्यों जल में जल पैसि न निकसै, यों ढुरि मिला जुलाहा।

किन्तु रहस्यवाद में जीव की सत्ता ब्रह्म में स्थित होते हुए भी अलग है। जीव की यह स्थिति विशिष्टाद्वैतवाद के अन्तर्गत भक्ति की चरम सिद्धि के अनुरूप ही है। नारद भक्तिसूत्र के अनुसार भक्त ब्रह्म में स्थित होता हुआ भी ब्रह्म से अलग सत्ता का अधिकारी है। यही स्थिति रहस्यवाद की है। यदि जीव की अलग सत्ता न होगी तो वह ब्रह्म के मिलाप की आनन्दानुभूति कैसे कर सकेगा; आनन्द का केन्द्र कहाँ होगा? 'मैं' के अहंकार का विनाश तो होता है, किन्तु 'मैं' की स्थिति रहनी आवश्यक है—

लाली मेरे लाल की, जित देखों तित लाल।
लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल।।

यदि ब्रह्म और जीव की स्थिति एक हो जाती तो 'मैं भी' कहने की आवश्यकता ही न रहती।

ब्रह्म और जीव एक ही सत्ता के दो रूप भासित होते हैं। जल-लहर की भाँति दोनों कहने को तो अलग हैं, किन्तु वस्तुतः दोनों एक ही हैं। उनमें अन्तर नहीं है।

माया—संत संप्रदाय में माया अद्वैतवाद की माया की भांति भ्रमात्मक और मिथ्या तो है ही, किन्तु इसके अतिरिक्त वह सक्रिय रूप से जीव को सत्पथ से हटाने वाली भी है। इस

दृष्टि से संत संप्रदाय में माया का मानवीकरण है। यह मानवीकरण एक नारी के रूप में है, जो ठगिनी है, डाकिनी है, सब को खाने वाली है। सम्भवतः यह सूफीमत के शैतान का ही प्रतिरूप है। इस माया की सत्ता समस्त सृष्टि में है। पाँच इन्द्रियों और पचीस प्रकृतियों का इसको सहारा है। इन्हीं से वह जीव को संसार के मिथ्या उपभोगों में नष्ट करती है। कामिनी और कंचन ही संसार को ईश्वर की दिशा में जाने से रोकते हैं।

इस भांति माया का मानवीकरण निम्न प्रकार से हुआ है—

१. वह निर्गुणात्मक है।

२. वह सत्य के विपरीत भ्रम का जाल फैलाने वाली है।

३. वह कंचन और कामिनी के आकर्षणसूत्र से जीवों को सत्पथ से हटाने वाली है।

४. वह खाँड़ की तरह मीठी है, किन्तु उसका प्रभाव विष के समान है।

५. संसार में जितनी ही आकर्षक और मोह में आबद्ध करने वाली वस्तुएँ हैं, वे सब माया की रस्सियाँ हैं।

६. इसके प्रतिकार के लिए दो युक्तियाँ हैं—

(क) **ब्रह्म का विरह**—जिसमें मन को कुछ अच्छा नहीं लगता। फलस्वरूप माया के समस्त आकर्षण समाप्त हो जाते हैं।

(ख) **ब्रह्म से होली**—जिसमें मिलन की आकांक्षा बलवती हो जाती है, जिसके आगे अन्य आकर्षण तुच्छ हो जाते हैं।

ये दोनों युक्तियाँ रहस्यवाद के अन्तर्गत हैं जो अनुभूतिसम्पन्न हैं।

७. इसका विनाश दो प्रकार से होता है—

(क) **भक्ति**—जिससे ब्रह्म के प्रति प्रेम उत्पन्न होता है।

(ख) **सत्संग**—जिससे मन के विकार दूर होते हैं।

ये दोनों प्रकार साधना के अन्तर्गत हैं, जो अभ्यास की अपेक्षा रखते हैं। कबीर ने माया के सम्बन्ध में कड़ी चेतावनी दी है। वह विश्वासघातिनी है, अस्थिर है, उसने संसार को ठगा है। वह केवल अज्ञान नहीं है वरन अज्ञान में ले जाने वाली अहेरिन है—

सगल मांहि नकटी का वासा, सगल मारि अउहेरी।
सगलिआ की हउ बहिन भानजी, जिनहि बरी तिसु चेरी॥
हमरो भरता बड़ो बिबेकी आपै संतु कहावै।
ओहु हमारे माथे काइमु, अउरु हमरै निकटि आवै॥[1]

जगत—संतसंप्रदाय में जो कुछ दृष्टि में आता है वह जगत है। वह चंचल है, गतिशील ह। उसमें स्थिरता नहीं है, वह नश्वर है। माया ने ही उसका निर्माण किया है, इसलिए वह भ्रमात्मक है। धन, वैभव, आडम्बर, विलास, सुख, दुख ये सब जगत के रूप हैं। यह जगत चार दिनों की चाँदनी है। दिन की हाट है, जो शाम होने पर उठ जाती है। इस पर विश्वास करना अपने आप से छल

---

१. संत कबीर, पृष्ठ ९४।

करना है। संत कवियों ने जगत की निस्सारता के संबंध में विस्तार से उपदेश दिया है। ब्रह्म, जीव, माया और जगत का निरूपण हो चुकने पर साधना पर विचार करना चाहिए। यह साधना गुरु द्वारा स्पष्ट की जाती है। इस साधना के दो रूप हैं—

साधना—

१. भक्ति—जिसके अन्तर्गत रहस्यवाद है, और

२. योग—जिसके अन्तर्गत एक ओर तो नाड़ी साधन और षटचक्र हैं, दूसरी ओर वह सहज समाधि है, जो अन्ततः रहस्यवाद के समीप पहुँचती है।

(१) **भक्ति**—यह भक्ति निश्चल और निर्विकार होनी चाहिए। विधि-निषेध से जब मन शुद्ध हो जाता है तभी उसमें नाम स्मरण की भावना उत्पन्न होती है। नाम-स्मरण, श्रवण और कीर्तन से मन संपुष्ट होता है, कीर्तन से प्रेम की स्थिति होती है, फिर इस प्रेम में मादकता आती है। जब प्रेम की मादकता आ चुकती है, तब प्रतीकों का आविर्भाव होता है। दाम्पत्य प्रेम में आत्मसमर्पण की भावना का उदय होता है। आत्मसमर्पण में जो ब्रह्मानुभूति होती है उसी आनन्द में रहस्यवाद की स्थिति आती है। विकास का रेखाचित्र निम्न प्रकार से है—
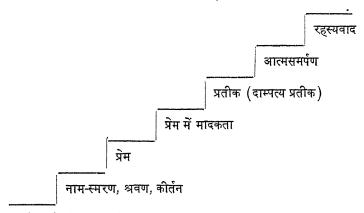
विधि-निषेध से हृदय-शुद्धि

ऐसा ज्ञात होता है कि संत संप्रदाय के रहस्यवाद में वैष्णव भक्ति के प्रेम का उत्कर्ष और सूफीमत के इश्क की मस्ती का योग है। इसमें कर्मकांड का निषेध है और आनन्द की अनुभूति है।

(२) **योग**—संत संप्रदाय का नाथ संप्रदाय की शृंखला में विकास होने के कारण योग की साधना संत कवियों को सहज ही प्राप्त हो गई। किन्तु इसका महत्व स्थिर नहीं रह सकता। इसके तीन कारण थे।

१. योग की क्रियायें सहज साध्य नहीं थीं। नाथ संप्रदाय में योग संबंधी बहुत सी बातें थीं जो केवल संप्रदाय के मान्य शिष्यों को ही बतलाई जाती थीं, सामान्य रूप से उनका प्रचार नहीं था। वे गुप्त और साम्प्रदायिक थीं।

२. संत संप्रदाय के साधक समाज के सामान्य या निम्न वर्ग के व्यक्ति थे जिनके पास शास्त्र की कोई परम्परा नहीं थी।

३. भक्ति का प्रचार उत्तर भारत में जिस तीव्र गति से हुआ उसके समक्ष योग संबंधी आस्था डगमगा चुकी थी और संत संप्रदाय के कवि अपने निराकार ब्रह्म के लिए भी भक्ति का आधार खोजने लगे थे।

इस भाँति संत संप्रदाय में योग का और वह भी, हठयोग का परंपरागत रूप ही ब्रह्मानन्द के मिलन का आनन्द स्पष्ट करने के लिए प्रतीक रूप से सुरक्षित रह गया था। इडा, पिंगला (इंगला-पिंगला), सुषुम्णा (सुखमन) नाडियाँ, कुंडलिनी, षटचक्र, त्रिकुटी, सहस्रदलकमल का चन्द्र, ब्रह्मरन्ध्र, उससे द्रवित होने वाला अमृत, कुंडलिनी द्वारा षटचक्र वेध होने तथा सहस्रदलकमल तक पहुँचने पर अनहद नाद और अजपा जाप की सिद्धि यही विविधि शब्दों, रूपकों और प्रतीकों में स्पष्ट हुआ है। उदाहरण के लिए कबीर का एक पद लीजिए—

बंधचि बंधनु पाइआ। मुकतै गुरु अनलु बुझाइआ।
जब नखसिख इहु मन चीन्हा। तब अन्तरि भजनु कीन्हा।
पवन पति उन्मनि रहनु खरा। नही मिरतु न जनमु जरा॥१॥
उलटीले सकति सहारं। पैसीले गगन मझारं।
वेधीअले चक्र भुअंगा। भेटीअले राइ निसंगा॥२॥
चूकीअले मोह मइआसा। ससि कीनो सूर गिरासा।
जब कुंभ कु भरि पूरि लीणा। तह बाजे अनहद बीणा।
बकतै बकि सबदु सुनाइआ। सुनतै सुनि मनि बसाइआ।
करि करिता उतरसि पारं। कहै कबीरा सारं॥[1]

इस योग का महत्व केवल एक दृष्टि से संत संप्रदाय में मान्य है। वह दृष्टि है अजपा जाप की और उससे संबंध रखने वाली सहज या सहज समाधि की।

जब प्राणायाम साधन से मूलाधार चक्र में स्थित कुंडलिनी सुषुम्णा नाड़ी के अन्तर्गत ऊपर चढ़ती हुई इडा और पिंगला के वर्तुल मिलन केन्द्रों को (जिन्हें चक्रों की संज्ञा दी जाती है) पार कर चुकती है और सहस्रदलकमल में स्थित ब्रह्मरन्ध्र का द्वार खोलती है तो मस्तिष्क में अनाहत नाद होने लगता है और रोम रोम से शब्द ब्रह्म की झंकृति होने लगती है। इस झंकृति को ही अजपा जाप कहते हैं जिसके लिए किसी प्रयास की आवश्यकता नहीं होती, वह सांस के आवागमन की भाँति स्वाभाविक रूप से होने लगता है—

सहजै ही धुन होत है, हरदम घट के मांहि।
सुरत शब्द मेला भया, मुख की हाजत नांहि॥

इस अजपा जाप का ही विकसित रूप सहज समाधि है। जब अजपा जाप का यह स्वाभाविक आयासरहित क्रम जीवन के प्रत्येक कार्य-व्यापार में अवतरित हो जाता है तब वह अवस्था सहज समाधि की है। यह समाधि जाग्रत समाधि है। कबीर ने इसका विस्तार से वर्णन किया है—

---

१. संत कबीर, पृष्ठ १८६।

संतों सहज समाधि भली है।
सांई से मिलन भयो जा दिन तें, सुरत न अन्त चली है।
आंख न मूँदूं कान न रूंधूं, काया कष्ट न धारूं।
खुले नैन मैं हंस हंस देखूं, सुन्दर रूप निहारूं।
कहूं सो नाम सुनूं सो सुमिरन, जो कछु करूं सो पूजा।
गिरह उद्यान एक सम देखूँ, भाव मिटाऊं दूजा।
जंह जंह जाऊं सोइ परिकरमा, जो कछु करौं सो सेवा।
जब सोऊं तब करूं डंडवत, पूजूं और न देवा।
सब्द निरंतर मनुआ राता, मलिन वासना त्यागी।
ऊठत बैठत कबहुं न बिसरै, ऐसी तारी लागी।
कहै कबीर यह उन्मुनि रहनी, सो परगट कर गाई।
सुख दुख के इक परे परम सुख, तेहि में रहा समाई।[1]

इस सहज समाधि के दो रूप हैं। पहला रूप तो हठयोग की सिद्धि के फल स्वरूप है जिसमें अजपा जाप की स्फूर्ति इन्द्रियों में भी अवतरित होकर उन्हें विशुद्ध कर देती है और दूसरा रूप वह है जब जीवन के समस्त कार्य-व्यापार इन्द्रियों के प्रभाव से मुक्त होकर अपने विशुद्ध रूप में आ जाते हैं। दूसरे शब्दों में जब चित्त-वृत्तियों का साधारणीकरण हो जाता है। माया-मोह से मुक्त होकर जीवन विशुद्ध हो जाता है और तभी उसमें परमात्मा के दर्शन होते हैं। संत कबीर ने इस सहज का वर्णन करते हुए लिखा है—

सहज सहज सब कोई कहै, सहज न चीन्है कोइ।
जिन्ह सहजै **विषया तजी**, सहज कहीजै सोइ।
सहज सहज सब कोई कहै, सहज न चीन्है कोई।
पांचू राखे परसती, सहज कहीजै सोइ।
सहज सहज सब कोइ कहै, सहज न चीन्है कोइ।
जिन्ह सहजै **हरि जी मिलें**, सहज कहीजै सोइ॥[2]

वास्तव में चित्त-वृत्तियों को विषय से मुक्त करना बहुत ही कठिन है, इसीलिए सहज अवस्था प्राप्त करना भी अभ्यास-साध्य है।

श्री परशुराम चतुर्वेदी इस सहज को उस स्वाभाविक अनुराग का नाम देते हैं जो एक परकीया नायिका का अपने प्रेम-पात्र या प्रेमी के प्रति हुआ करता है। बौद्ध दर्शन में महासुख के रूप में और वैष्णव सहजिआ में राधा-कृष्ण के नित्य प्रेम में इस सहज का प्रयोग चतुर्वेदी जी मानते हैं।[3] सम्भव है, बौद्ध साहित्य और वैष्णव सहजिआ साहित्य में सहज का यही तात्पर्य हो, किन्तु

---

१. शब्दावली, कबीरचौरा, पृ० ५, बेलवेडियर प्रे०, भा० १ पृ० १८।
२. कबीर ग्रन्थावली : सहज को अंग, पृष्ठ ४१-४२, सम्पादक श्यामसुन्दरदास, नागरी प्रचारिणी सभा काशी।
३. उत्तरी भारत की संत-परम्परा, पृष्ठ ९२।

संत संप्रदाय में सहज का यह अर्थ नहीं हो सकता। इसका कारण यह है कि संत कबीर ने सहज का प्रयोग जहाँ कहीं किया है, अधिकतर योग से संबंध रखने वाले शब्दों के साथ ही किया है। उपर्युक्त पद में सहज के साथ समाधि शब्द का प्रयोग हुआ है। कहीं-कहीं सहज के साथ शून्य का प्रयोग है—

अबरन बरन घाम नहीं छाम।
अबरन पाइअ गुर की साम।
टारी न टरै आवै न जाइ।
सुंन सहज महि रहिओ समाय॥[1]

इस भाँति कबीर की चरम साधना के दो मुख्य रूप हैं—भक्ति के अन्तर्गत रहस्यवाद तथा योग के अन्तर्गत सहज समाधि।

सामाजिक—संत संप्रदाय ने सामाजिक दृष्टि के निर्माण में आध्यात्मिक दृष्टि का ही आश्रय लिया है। आध्यात्मिक दृष्टि से ब्रह्म की सत्ता कण कण में वर्तमान है। जब समस्त सृष्टि ही ब्रह्ममय है तो वस्तु और व्यक्ति में भेद कैसा! कबीर ने कहा है—

लोका जानि न भूलो भाई।
खालिक खलक खलक में खालिक सब घट रह्यो समाई।
अला एकै नूर उपनाया ताकी कैसी निन्दा।
ता नूर थें सब जग कीया, कौन भला कौन मन्दा।
ता अला की गति नहिं जानी गुरि गुड़ दीया मीठा।
कहै कबीर मैं पूरा पाया, सब घटि साहब दीठा॥[2]

समाज की व्यवस्था तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि विविध व्यक्तियों और वर्गों का समुचित संगठन न हो। संत संप्रदाय में जो विधि-निषेध का आग्रह है वह इसलिए कि व्यक्ति गुणों के ग्रहण और दोषों के त्याग से अपने जीवन को सात्विक बना सके। यह सात्विकता जहाँ एक ओर धार्मिक जीवन की संभावनाएँ उपस्थित करती है वहाँ दूसरी ओर वह समाज में नैतिकता का प्रसार भी करती है। नीति की नींव पर जिस समाज का संगठन होता है, वह स्थायी और दृढ़ होता है। संत संप्रदाय ने समाज की व्यवस्था में पवित्र जीवन को अधिक महत्व दिया है।

समाज में जितने कम वर्ग होंगे—जितनी कम जातियाँ होंगी, सामाज की एक रूपता उतनी ही अधिक होगी। संत संप्रदाय ने वर्ग और जाति में अपना विश्वास नहीं रखा। यहाँ तक कि ब्राह्मण और शूद्र तथा हिन्दू और मुसलमान के भेद को हटाने का प्रयत्न शताब्दियों तक संत संप्रदाय द्वारा होता रहा। यही कारण है कि समाज पर बाहर और भीतर से अनेकानेक आक्रमण होते रहे, किन्तु यह समाज नष्ट-भ्रष्ट नहीं हो सका। आज भी निम्न जातियाँ जो धर्म में आस्था रखती हैं तथा समाज के अन्तर्गत हैं, वह अधिकांश में संत संप्रदाय का ही प्रभाव है। आज

---

१. संत कबीर, पृष्ठ २२६।

२. क० ग्र०, ना० प्र० स०, पृ० १०४।

धर्म और समाज अलग अलग हैं किन्तु शताब्दियों ने यह सिद्ध कर दिया है कि जिस समाज की नींव धर्म पर होगी वह समाज स्थिर रहेगा। धर्मरहित होकर समाज छिन्न-भिन्न हो जायगा।

संतकाव्य का शैली पक्ष

संतकाव्य भाव तथा अनुभूतिप्रवण था। उसमें सिद्धान्त-कथन का आग्रह नहीं था। कथनी की अपेक्षा करनी का विशेष महत्व था। इसलिए भक्ति द्वारा जीवन का जो परिष्कार हुआ वह आचरण द्वारा ही संभव हो सका। जो आनन्द रहस्यवाद में गूंगे का गुड़ है, वह किस मुख से कहा जा सकता है! यदि उसे स्पष्ट करने की आवश्यकता भी हुई तो वह टेढ़े-मेढ़े रूप से ही स्पष्ट हुआ। उपदेश और चेतावनी के रूप में यदि कुछ कहने का प्रसंग आया तो वह ऐसे रूप में कहा गया जो सरलता से समझ में आ सके। इसलिए संत काव्य का शैली पक्ष साहित्यिक मान्यताओं के पीछे नहीं चला। संक्षेप में कारण निम्नलिखित हैं——

१. संप्रदाय ने किसी शास्त्र या सिद्धान्त ग्रन्थ का आधार नहीं लिया, इसलिए शास्त्रसम्मत शैली का अनुसरण नहीं किया जा सका।

२. संत संप्रदाय के संत अधिकतर समाज के सामान्य या निम्न वर्ग के थे जिनमें साहित्यिक अध्ययन और अनुशीलन की प्रवृत्ति अधिक नहीं मानी जा सकती।

३. संत संप्रदाय के पूर्व भाषा में साहित्यिक आदर्शों की वैसी स्थापना नहीं हुई थी, जैसी परवर्ती साहित्य में। जैन साहित्य, चारण साहित्य और नाथ साहित्य में जो उपदेशात्मक शैली थी, वही संतकाव्य को उत्तराधिकार में प्राप्त हुई। पूर्व में विद्यापति के पदों ने संतकाव्य की पद-शैली का मार्ग प्रशस्त किया।

४. संत संप्रदाय में काव्य की जो रचना हुई उसका लक्ष्य सामान्य जनता के बीच सत्य का निरूपण करना था और सामान्य जनता के लिए सरल भाषा और सुबोध शैली की ही आवश्यकता थी।

५. नाथ संप्रदाय में प्रतीक शैली तथा उल्टबाँसियों की जो शैली थी उसी के अनुकरण में संतकाव्य ने प्रतीक शैली अपनाई, जो कुतूहल जनक और अस्पष्ट थी।

६. संत संप्रदाय के कवि भारत के विविध स्थानों में जनता के बीच संत साहित्य के आदर्शों पर काव्य रचना कर रहे थे। अतः जो जिस स्थान का था उसने स्थानीय प्रभाव और वातावरण को ही ग्रहण किया।

७ संत पर्यटनशील थे, अतः स्थान स्थान की भाषा और मुहाविरे उनकी शैली में आप से आप आ जाते थे, इस भाँति उनकी भाषा मिश्रित हो जाती थी और उसमें काव्यगत सौष्ठव नहीं आ पाता था।

शैली के अन्तर्गत रस, अलंकार, छन्द, और भाषा की समीक्षा होनी चाहिए। यहाँ हम उन पर संक्षेप में विचार करेंगे।

रस——जिस अर्थ और विशेषता के साथ काव्य में रस की सृष्टि होती है, वैसी विशेषता संतकाव्य में रस की नहीं है। रस का जो विशेष गुण साधारणीकरण है, वह इस काव्य में अवश्य है। वस्तुस्थिति का सौंदर्यबोध भी संतों द्वारा ग्रहण किया गया है, किन्तु स्थायी भाव, विभाव,

अनुभाव और संचारी भावों की सम्मिलित अनुभूति से रस-निष्पत्ति में संतों का काव्य नहीं लिखा गया। अपनी अनुभूति के चित्रण की विह्वलता में उनके पास इतना अवकाश भी नहीं था कि वे रस के उपकरण खोजते। दूसरी बात यह है कि संतों ने मुक्तक या गीतिकाव्य ही लिखा है, जिसमें वे अपनी प्रमुख भावना अपने आराध्य के अथक जिज्ञासु के समक्ष रख देते थे। प्रबन्ध काव्य में कथा या परिस्थिति के सूत्रों में रस-निर्वाह के लिए पर्याप्त स्थान मिलता है। यदि कोई कवि रस-सृष्टि करना चाहे तो वह मुक्तक और गीतिकाव्य में भी कर सकता है, किन्तु संत कवियों के समक्ष काव्यगत दृष्टि से अपनी रचना प्रस्तुत करने का ध्येय ही नहीं था। संत सुन्दरदास, दरिया साहब (बिहारवाले) या चरणदास में ही काव्य का निखरा हुआ रूप मिलता है।

भक्तों ने काव्य की रस-निष्पत्ति की चिन्ता नहीं की। उनकी समझ में तो भक्ति ही रस था और उसमें लीन होकर साधारणीकरण से ओतप्रोत एक वाक्य कह देना ही, उनके भक्तिरस की चरम सिद्धि थी। इस एक वाक्य में चाहे स्थायी भाव हो, चाहे विभाव, चाहे अनुभाव या चाहे संचारी भाव मात्र हो।

जिन कवियों ने रहस्यवाद में दाम्पत्य प्रतीक ग्रहण किया है, उनमें संयोग और वियोग श्रृंगार के बड़े सरस और हृदयग्राही चित्र मिलते हैं। यह बात अवश्य है कि उसमें उनकी व्यञ्जना परोक्ष या अलौकिक प्रेम की है। इसी प्रकार, जहाँ उन्होंने नश्वर शरीर के विनाश की चर्चा की है, वहाँ चित्रण कहीं-कहीं वीभत्सता के निकट पहुँच गया है। यदि स्थायी भावादि की दृष्टि से रस की मीमांसा न कर तीव्रानुभूति की दृष्टि से रस की मीमांसा करें तो निष्कर्ष इस भाँति निकलेगा——

१. चेतावनी और उपदेश——शान्तरस।
२. ब्रह्म की विराट कल्पना——अद्भुत रस।
३. प्रेतादि और शरीर का विनाश——वीभत्स रस।
४. कर्मकांड और परंपरा का परिहास——हास्य रस।
५. प्रतीक द्वारा विरह और मिलन——श्रृंगार रस।

वीर, रौद्र, भयानक और करुण रस की व्यंजना संत साहित्य में इसलिए नहीं है कि वे क्रोध के स्थान पर प्रेम और अनुराग को अपनी भावनाओं का माध्यम बनाना चाहते थे और अपने दृष्टिकोण में वे आशावादी थे। प्रधान रसों की दृष्टि से संतकाव्य में शान्त और श्रृंगार रस माने जा सकते हैं।

अलंकार——जब संत कवियों में काव्योत्कर्ष ही नहीं था तो अलंकारों का साभिप्राय प्रयोग उनकी रचनाओं में आ ही नहीं सकता। किन्तु उन्होंने अलंकारों का प्रयोग अपने विचार-निरूपण में अवश्य किया है। जिस विचार को वे जनता के सामने करना चाहते थे अथवा किसी वस्तु-स्थिति से उसका साम्य उपस्थित करते थे तो उनके इस प्रयोग में उपमा, रूपक, यमक, दृष्टांत, अर्थांतरन्यास आदि अलंकार सहज ही आ जाते थे। किन्तु वे इन अलंकारों में काव्य सौंदर्य देखने की अपेक्षा अपने भावों का स्पष्टीकरण ही देखते थे। भावों के स्पष्टीकरण की दृष्टि से ही उन्होंने प्रतीक पद्धति का आश्रय लिया। जब कि रचनाकार समझता है कि उसकी तत्वानुभूति सामान्य भाषा से प्रकट नहीं हो पाती तब वह प्रतीक का आश्रय ग्रहण करता है। यह प्रतीक शैली भिन्न-भिन्न रूपों में भारतीय साहित्य में स्थान पाती रही है। कहीं कहीं इसे 'कूट-काव्य' भी कहा गया

है। वेद कालीन साहित्य में भी अनेकानेक ऋचाएँ देवताओं और देवियों की शक्तियों के संबंध में प्रतीकात्मक ढंग से कही गई हैं। 'रात्र्या वत्सो अजायत'[१], अर्थात रात्रि ने एक पुत्र उत्पन्न किया, जिसका संकेत सूर्योदय से है। ऐसे अनेक अवतरण संहिताओं में प्राप्त होते हैं। उपनिषदों की दार्शनिक चिन्ताधारा में तो ब्रह्म का संकेत अश्वत्थ वृक्ष के रूप में उपस्थित किया गया है, जिसकी जड़ें ऊपर और शाखाएँ नीचे की ओर हैं—

ऊर्ध्वमूलो वाक् एकोश्वत्थः सनातनः।
तदेव शुक्लं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ॥[२]

महाकाव्य साहित्य में महाभारत तो प्रतीकों से भरपूर है, जिनकी संख्या लगभग आठ सौ है। रामायण में अनेक अलंकारों के साथ प्रतीकों का प्रयोग हुआ है। यही परम्परा भागवत पुराण में भी है, जहाँ दार्शनिक तत्वों का निरूपण प्रतीकों द्वारा हुआ है। अपभ्रंश भाषा के परवर्ती काल में तथा हिन्दी के आदि काल में इन प्रतीकों को 'संधा भाषा' की प्रमुख शैली के रूप में स्थान दिया गया है। चौरासी सिद्धों के वज्रयानी सिद्धान्तों में इनका यथेष्ट प्रयोग हुआ है। उदाहरण के लिए, भुसुकिपा के एक चर्यापद में कहा है—अंधकारमयी रजनी है जिसमें मृत्यु चूहे की भाँति जीवन का आहार कर रही है—

निसि अंधारी मूसा अचारा।
अमिअ भखअ मूसा करअ अहारा॥
मार रे जोइआ मूसा पवणा।
जेण टूटअ अवणा गवणा।[३]

ये प्रतीक दो प्रकार के हैं। पहला प्रकार तो मान्यता के आधार पर किन्हीं विशिष्ट शब्दों के विशिष्ट अर्थों की व्यंजना में है, जैसे संत संप्रदाय में सिंह शब्द ज्ञान के लिए, चींटी शब्द सूक्ष्म बुद्धि के लिए, पनिहारी शब्द इन्द्रियों के लिए प्रयुक्त होता है। इसे हम अर्थ रूपकों की कोटि में रख सकते हैं। दूसरा प्रकार उल्टवाँसियों का है जिन्हें हम प्रतीक रूपक या अर्थविपर्यय रूपक कह सकते हैं। संत संप्रदाय में तत्व-चिंतन की दिशा में इन दोनों का प्रयोग हुआ है।

अर्थ रूपक—ये रूपक सामान्य जीवन की घटनाओं पर आधारित हैं। किन्हीं विशिष्ट परिस्थितियों की गूढ़ व्यंजना आध्यात्मिक अर्थ में घटित करने का उद्देश्य ही इन रूपकों की रचना का कारण है। उदाहरण के लिए कबीर की एक साखी लीजिए—

कबीर ऐसा काई न जनमिओ, अपने घर लावै आगि।
पांचउ लरिका जारिकै, रहै राम लिव लागि॥१॥[४]

इस रूपक का स्पष्टीकरण है—

---

१. ऋग्वेद, प्रथम मंडल, १६४, २६।

२. बृहदारण्यक, २, ३, १।

३. चर्यापद, मणींद्रमोहन बसु सम्पादित, पृ० १०९।

४. संत कबीर, पृष्ठ २५४।

घर=शरीर

आगि=ब्रह्मज्ञान

पांचउ लरिका=पंचेन्द्रियाँ

इन अर्थ रूपकों से जहाँ काव्य का सौंदर्य बढ़ता है, वहाँ अर्थ की अनुभूति भी सरलता से हो जाती है। इनके द्वारा दर्शन और धर्म की गम्भीर से गम्भीर बातें अत्यन्त सरल और सुबोध ढंग से कह दी जाती हैं। इन रूपकों में आटा, आम, ओला, कसौटी, किसान, कुत्ता, कुम्हार, खांड, गगरी, गाँव, गाय, गूँगा, चन्दन, चक्की, चोर, चौपड़, जुलाहा, थैली, दही, दीपक, नट, नाव, पनिहारी, बनजारा, बाजीगर, बीज, बूँद, मंखी, मछली, लकड़ी, विवाह, वैद्य, साँप, सवार, हल्दी, हाँडी, हाथी आदि अनेक प्रकार से उपयोग में लाए गए हैं।

इन जाने-पहिचाने हुए रूपकों से तत्व-दर्शन की कठिन बातें भी आसानी से समझ में आ जाती हैं।

उल्टवाँसी—प्रतीक रूपक अथवा धर्म विपर्यय रूपक को ही उल्टवाँसी कहते हैं। प्राकृतिक परिस्थितियों को उलट कर विपरीत निरूपण करना ही इस शैली का उद्देश्य है। ऐसा वर्णन प्रथम दृष्टि में तो असंभव-सा लगता है, किन्तु जब आध्यात्मिक दृष्टि से उसका विश्लेषण किया जाता है तो उसमें चमत्कारपूर्ण अर्थ निहित रहते हैं। उल्टवाँसी की अस्पष्टता भाषा या वर्ण्य विषय की नहीं है, वह अस्पष्टता शैली की है। केवल संत साहित्य के कवियों ने ही नहीं, संसार के सभी रहस्यवादी कवियों ने अपने आनन्द की अनुभूति स्पष्ट करने में इस शैली का आश्रय लिया है। बड़े से बड़ा विद्वान उल्टवाँसी का अर्थ स्पष्ट नहीं कर सकता। उसे तो वही समझ सकता है जो आध्यात्मिक संकेतों से परिचित है। इन प्रतीक रूपकों की सृष्टि गंभीर मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक अनुभवों द्वारा ही संभव है। इसीलिए ये सामान्य और सरल भाषा द्वारा व्यक्त नहीं किए जा सकते। फारसी के कवि इजुलफरीद ने अपने ३९६ वें गीत में कहा है कि इन प्रतीक रूपकों का भाव सामान्य भाषा में कैसे कहा जा सकता है। मुस्कान शब्दों में कैसे बाँधी जा सकती है। आर० ए० निकल्सन ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा कि एक हो जाने का हर्ष तो रूपक द्वारा ही व्यक्त हो सकता है। सामान्य कथन तो अर्थ को छू भी नहीं सकता। जो रहस्य अनुभव से प्राप्त हुआ है, वह विद्वत्ता से कैसे व्यक्त किया जा सकता है ?

उल्टवाँसी का अर्थ विपरीत-कथन है। इसमें कार्य अथवा वस्तु की स्वाभाविक क्रिया को उलट कर असम्भव-सी स्थिति उत्पन्न करना है। यह स्थिति परिहासमयी हो उठती है। 'पहले पुत्र हुआ, पीछे माता हुई' का सामान्य अर्थ समझ में नहीं आता, किन्तु यदि पुत्र को जीव मान लिया जाय और माया को माता तो यह सरलता से समझ में आ जाता है कि जीव के उत्पन्न होने पर माया उसे चारों ओर से घेर लेती है।

आधार—इस उल्टवाँसी की कल्पना का एक विशिष्ट आधार है। हठयोग के आठ अंग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। इन आठ अंगों में प्रत्याहार का विशेष महत्व है। प्रत्याहार में साधक को अपनी इन्द्रियों को विषय-वासना में विचरण करने के बदले भीतर की ओर ले जाने की आवश्यकता है। दूसरे शब्दों में इन्द्रियों के बहिर्मुखी होने की अपेक्षा अन्तर्मुखी होने की आवश्यकता है, अर्थात उन्हें अपनी गति में उलट जाना है। इन्द्रियों

के उलट जाने से इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य विषय भी उलट जाते हैं। सांसारिकता उलट कर आध्यात्मिकता में परिणत हो जाती है। इस उलट लेने की क्रिया का परिणाम कबीर ने अपने एक शब्द में अत्यन्त विस्तार से किया है—

जम ते उलटि भये हैं राम।
दुख बिनसे सुख कीओ बिसराम।।
बैरी उलटि भए हैं मीता।
साकत उलटि सुजन भये चीता।।
अब मोहि सरब कुसल करि मानिआ।
सांति भई जब गोबिंद जानिआ।।
तन महि होती कोटि उपाधि।
उलटि भई सुख सहज समाधि।।
आपु पछानै आपै आप।
रोगु न बिआपै तीनौ ताप।।
अब मन उलटि सनातन हुआ।
तब जानिआ जब जीवत मूआ।
कहु कबीर सुखि सहजि समावउ।
आपि न डरउ न अवर डरावउ।।[१]

प्रत्याहार में इन्द्रियों के विषय अन्तःकरण को स्पर्श नहीं कर पाते, इसलिए उनका कोई प्रभाव भी नहीं होता। प्रभाव न होने पर अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है। वह जीवन्मुक्त हो जाता है और इन्द्रियों की गति अन्तर्मुखी होने के कारण वह अपने आप को पहिचानने लगता है। इन्द्रियों के इसी विपर्यय में उल्टवाँसी का निर्माण होता है।

दूसरी बात यह भी है कि आध्यात्मिक दृष्टि और सांसारिक दृष्टि में विरोध है। जो सांसारिक दृष्टि से सत्य है वह आध्यात्मिक दृष्टि से मिथ्या है। यह संसार, जो हमें प्रतिक्षण सत्य भासित होता है, दार्शनिक दृष्टि से देखने पर मिथ्या ही है। अतः सत्य को मिथ्या और मिथ्या को सत्य रूप देते समय भी उलटने की क्रिया हो जाती है।

तीसरी बात यह भी हो सकती है कि आध्यात्मिक सत्य का सौंदर्य सामान्य व्यक्ति ग्रहण ही नहीं कर सकता। अतः अपात्र या कुपात्र के हाथों से इस सौंदर्य की रक्षा करने के लिए ही उसे प्रच्छन्न रूप से प्रस्तुत किया जाता है।

सामान्य व्यक्ति उसे समझ ही नहीं सकेगा। जो उस तत्व का जानकार है और जिसके पास उस रहस्य की कुंजी है वही सरलता से वास्तविक सत्य को ग्रहण कर लेगा।

चौथी बात कुतूहल उत्पन्न करने की हो सकती है। जिज्ञासु का आकर्षण इस शैली के प्रति अधिकाधिक तीव्र होगा और वह धर्म में दीक्षित होकर अथवा उपदेश का सत्पात्र बन कर उस उल्टवाँसी का अर्थ समझ कर ही रहेगा।

---

१. संत कबीर, रागु गउडी, १७, पृष्ठ १९।

इस भाँति निम्नलिखित उद्देश्यों से प्रेरित होकर उल्टवाँसियों का प्रयोग संत साहित्य में हुआ है —

(१) प्रत्याहार की सिद्धि,

(२) आध्यात्मिक दृष्टिकोण की प्रतिष्ठा,

(३) दुरुपयोग से बचाने के लिए प्रच्छन्न कथन,

(४) कुतूहल और जिज्ञासा की शांति।

संत काव्य की रचना सामान्य रूप से जनसाधारण की स्वाभाविक भाषा में ही हुई है, किंतु कहीं कहीं तत्वनिरूपण या विशिष्ट उपदेश के लिए रूपक-प्रतीकों और उनके अन्तर्गत उल्टवाँसियों का भी प्रयोग किया गया है।

छन्द—संत संप्रदाय के विस्तार में छंदों का विशेष हाथ है। संतकाव्य में प्रमुख रूप से साखी और शब्द का प्रयोग हुआ। साखी वस्तुतः दोहा ही है, किंतु उसे आध्यात्मिक नाम 'साखी' दे दिया गया है। जो कथन सत्य के साक्षी स्वरूप हैं वही साखी हैं। इसी प्रकार पदों को 'शब्द' संज्ञा दी गई है—जो कथन शब्द ब्रह्म के रूप में है अथवा जो उपदेश शब्द रूप में पद का ही रूप है, जो संगीत के स्वरों में गाया जाता है।

साखी और शब्द सरल और संगीतात्मक छंद हैं। इनके द्वारा संतों की वाणी न केवल उपदेश रूप में सामान्य जनता को सुनाई जा सकती है, वरन सहज ही कंठस्थ भी हो जाती है। इसी कारण संत काव्य का प्रचार शताब्दियों तक जनता ग्रहण करती रही। आज भी कबीर, नानक, दादू, रैदास आदि के पद जनता की स्मृति में सुरक्षित हैं।

साखी और शब्द के अतिरिक्त चौपाई (जिसका प्रयोग अधिकतर आरती में हुआ है), कवित्त, सवैया, हंसपद (जिसका प्रयोग अधिकतर ककहरा में हुआ है), झूलना, आदि भी संतकाव्य में प्रयुक्त हुए हैं। राग-रागिनियों में गाए जाने के कारण इन छंदों की ओर जनता सरलता से आकृष्ट हुई।

भाषा—संतकाव्य की भाषा सामान्य जनता की भाषा है। उसमें न तो पद-सौष्ठव की दृष्टि से कोई परिष्कार हुआ और न उसमें संस्कृत के कठिन शब्द ही रक्खे गए। विचारधारा शास्त्रीय न होने के कारण भी भावों के लिए विशिष्ट शब्दों के प्रयोग की आवश्यकता नहीं जान पड़ी। संतकाव्य जनसमुदाय के लिए ही लिखा गया था, अतः भावों के प्रचार एवं प्रसार के लिए भाषा का सरल होना आवश्यक था। यदि कठिन भाषा का प्रयोग किया जाता तो उसके द्वार ईश्वर संबंधी कठिन और दुरूह विषय जनसमाज तक कैसे पहुँच सकता था?

संतकवि भिन्न भिन्न समय पर भिन्न भिन्न स्थानों पर होते रहे। वे सामान्य समाज के व्यक्ति थे ही। ऐसी स्थिति में जिस स्थान पर उनका आविर्भाव हुआ उसी स्थान की सामान्य भाषा उनके काव्य का माध्यम बनी। उन्होंने जिस प्रदेश में पर्यटन किया, वहाँ की भाषा के भी कुछ शब्द उनकी रचनाओं में आ गए। उनकी रचना जनता के मुख की निवासिनी थी, अतः जितनी बार वह दुहराई गई उतनी बार उसमें कुछ न कुछ अन्तर आता गया। गेय होने के कारण उनके पदों की भाषा में भी परिवर्तन होता रहा।

ये रचनाएँ बहुत समय तक लिपिबद्ध भी नहीं हुई, अतः जिस स्थान पर ये प्रचलित रहीं

वहाँ का प्रभाव धीरे-धीरे उन पर बढ़ता गया। जब ये रचनाएँ लिपिबद्ध हुईं तो लिपिकर्ता जिस स्थान का था, उस स्थान की भाषा का प्रभाव कवि की रचना पर अज्ञात रूप से पड़ता रहा। इस प्रकार संतकाव्य की भाषा का रूप अत्यन्त अस्थिर और अप्रामाणिक बन गया। पन्द्रहवीं शताब्दी में कही हुई संत कबीर की रचना वर्तमान भाषा के रूप में भी कहीं कहीं पढ़ने को मिल जाती है।

अधिकांश संत पूर्वी क्षेत्रों, राजस्थान तथा पंजाब में हुए। अतः संतकाव्य की भाषा के रूप हमें उन प्रांतों की भाषा में ही अधिकतर मिलते हैं।

अवधी, भोजपुरी, राजस्थानी, पंजाबी भाषाओं में संतकाव्य प्रचुर मात्रा में मिलता है। ये भाषाएँ पारस्परिक रूप से प्रभावित हुईं। अवधी पर भोजपुरी का या पंजाबी का प्रभाव स्पष्ट देखा जाता है। इसी प्रकार राजस्थानी पर अवधी या भोजपुरी का प्रभाव देखा जा सकता है। जब तक संतकाव्य के प्रामाणिक संस्करण उपलब्ध नहीं होते, तब तक उसकी भाषा के संबंध में निश्चित निष्कर्ष नहीं निकाले जा सकते।

उपसंहार

इस देश के इतिहास में जहाँ संत संप्रदाय ने जनता में नैतिक बल का विकास किया, वहाँ संतकाव्य ने हिन्दी काव्यधारा को देश के कोने-कोने में प्रवाहित कर दिया। जब धर्म के मानदण्डों में नवीन परिवर्तन हो रहे थे और उसे अनेक परिस्थितियों से संघर्ष करना पड़ रहा था उस समय संत संप्रदाय ने धर्म का ऐसा स्वाभाविक, व्यावहारिक और विश्वासमय रूप उपस्थित किया कि वह विश्वधर्म बन गया और शताब्दियों के लिए जन-जागरण का संदेश लेकर चला। उसने अंधविश्वासों को तोड़ कर समाज का पुनःसंगठन किया, जिसमें ईर्ष्या-द्वेष के लिए कोई स्थान नहीं था। समाज के जिस स्तर तक देववाणी नहीं पहुँच सकती थी तथा धार्मिक ग्रंथों की गहराई की थाह जिनके द्वारा नहीं ली जा सकती थी, उन्हें धर्मप्रवण बनाकर आशा और जीवन का संदेश सुनाना संत संप्रदाय द्वारा ही संभव हो सका था। पुरातन का संशोधन और नवीन का संचयन करने में संत संप्रदाय ने विशेष अन्तर्दृष्टि का परिचय दिया। राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक दिशाओं में इस संप्रदाय ने जो कार्य किया है उसे इतिहास कभी भुला नहीं सकेगा।

संतकाव्य ने हमारी जन-भाषाओं को बड़ा बल दिया है। उन भाषाओं में जो काव्य लिखा गया, वह साहित्य का स्थायी अंश है। लगभग चार शताब्दियों से संतों की वाणी ने जो जनता को आस्तिकता का संबल दिया है वह अभी तक उसी रूप में वर्तमान है। आचरण की पवित्रता का जो उपदेश संतवाणी में है, उसका सांस्कृतिक मूल्य कितना अधिक है।

काव्य की दृष्टि से भी संतवाणी का महत्व है। सत्य का ओजस्वी निरूपण निर्भीकता के साथ होते हुए भी बहुत कोमल भावनाओं और कल्पनाओं से संपन्न है। ये संत वास्तविक अर्थ में कवि थे। उनमें भाषा का लालित्य और रस-अलंकार का निर्वाह सम्यक रूप से भले ही न हो, किन्तु उनमें जो सौंदर्य-दृष्टि है, वह वस्तुवाद को छूती हुई भी उससे परे है। यह सौंदर्य इन्द्रियों का विषय न होकर अंतःकरण का विषय है। इसीलिए जो संतवाणी में उपदेश हैं, वे निरे आदेश-सूत्र न होकर जीवन की सरसता से ओतप्रोत हैं। उनमें जीवन का संदेश है, अनुभूति की तन्मयता

है। जीवन के विश्लेषण में एक-एक अंग की सूक्ष्मातिसूक्ष्म परख है। उसमें निहित रहस्य की सूचना है। आत्म-विश्वास, आशावाद और आत्माभिव्यक्ति की जीवंत शक्तियाँ संतों की वाणी में हैं। इसीलिए सौंदर्य के साथ सत्य को लेकर संत कवियों ने हिन्दी काव्य को सम्पन्न किया है।

परिशिष्ट

संतकाव्य में अंग-क्रम

संतकाव्य में धर्म की विवेचना विविध अंगों में की गई है, जैसे गुरुदेव को अंग, सहज को अंग आदि। कवियों ने अपना वर्ण्य विषय जब साखियों और शब्दों में लिखा तब उनका वर्गीकरण उन्होंने विशिष्ट कोटियों में किया। इसमें तीन विशेषताएँ थीं :—

१. किसी विषय विशेष पर उनका कथन एक ही स्थान पर प्राप्त हो जाय।

२. विषय को समान विचार-कोटियों की उलझन से बचा कर स्पष्टता दी जा सके।

३. सरलता से उसे स्मृति में सुरक्षित किया जा सके।

विचारधारा के ये अंग अनेक विषयों से संबंध रखते हैं। उनमें कहीं धर्म, कहीं दर्शन, कहीं आचार, कहीं विधि-निषेध, और कहीं नीति है। कहीं कहीं स्पष्ट उपदेश भी हैं। इनमें भी अनेक भेद-उपभेद हैं। स्थान-स्थान पर परंपरागत और समकालीन विचारधाराओं का खंडन-मंडन भी है। इन विचार-कोटियों के संबंध में कुछ निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं—

१. विचार कोटियों का समुचित विस्तार तो है किन्तु विषय-कोटियों का विस्तार नहीं है।

२. इनमें शास्त्रीय पद्धति न होकर अनुभवगम्य जीवन का सत्य है।

३. विश्वास का अनुपात तर्क से अधिक है।

४. भाव-प्रतिपादन के लिए उदाहरण स्वरूप उपमा, रूपक, और दृष्टान्त ग्रहण किए गए हैं।

५. साधारणतः भाषा सरल और स्वाभाविक है।

नीचे उद्धृत की गई तालिका यह स्पष्ट करने के लिए बनाई गई है कि संतकाव्य में किस विषय का महत्व कितना है। काव्य में मान्य विषयों के क्रम से यह सूची है जिससे यह स्पष्ट हो सकेगा कि संत कवियों ने किस अनुपात में अपने वर्ण्य विषय को प्रधानता दी है, किस विषय पर उन्होंने सब से अधिक बल दिया है और किस पर कम।

सामान्य रूप से विचारधारा का निर्धारण करने के लिए एक ही स्थान से प्रकाशित संतवाणी संग्रह[1] का उपयोग किया गया है।

यद्यपि इस ग्रंथ की प्रामाणिकता संदिग्ध है तथा काव्य-संग्रह में भी रुचि वैचित्र्य से भेद पड़ सकता है, तथापि संतकाव्य की प्रवृत्तियों के निरूपण में कुछ सामान्य निष्कर्ष तो निकाले ही जा सकते हैं। संतकाव्य की प्रवृत्तियों का संकेत करना ही यहाँ अभीष्ट है।

---

१. प्रकाशक बेलवेडियर प्रेस, इलाहाबाद।

इस संबंध में निम्नलिखित कवियों की रचनाएँ (शब्द और साखियाँ) गणना में रक्खी गई हैं—

(अकारादि क्रम से) कबीर, काष्ठ जिह्वा स्वामी, गरीबदास, गुरुनानक, गुलाल साहब, चरनदास, जगजीवन साहब, तुलसी साहब, दयाबाई, दरिया साहब (बिहार), दरिया साहब (मारवाड़), दादूदयाल, दूलनदास, धनी धर्मदास, धरनीदास, नरसी मेहता, नामदेव, पलटू साहब, पीपाजी, बुल्ला साहब, बुल्ले शाह, भीखा साहब, मलूकदास, यारी साहब, रैदास, सदना जी, सहजोबाई और सुन्दरदास। इस भाँति अट्ठाईस संत कवियों की संग्रहीत बानियों को मिलाकर निर्गुण संप्रदाय की विचारधारा के विविध अंगों का सापेक्ष्य महत्व कितना है इसका निष्कर्ष निम्नलिखित तालिका से ज्ञात होगा। अंगों के सामने जो अंक दिए गए हैं वे शब्द और साखी की संख्या के हैं—

१	विनय या विनती	२८०	२८	कपट या कपटी	१६
२	उपदेश	२६८		करम धरम	,,
३	चेतावनी	२३५		दया	,,
४	गुरुदेव	१९९		नन्हा महा उत्तम	,,
५	प्रेम	१९८		निन्दा	,,
६	विरह या विरह उराहना	१४२		पारख	,,
७	नाम	१२८		सारगहनी	,,
८	साधु या साधु के लक्षण	१०८		होली	,,
९	सुमिरन	७३	२९	मूर्तिपूजा और तीर्थ	१५
१०	सूरमा	६६		सूक्ष्म मार्ग	,,
११	सत्संग	४६	३०	बैराग	१४
१२	भेद या भेदवानी	४४		भक्तजन	,,
१३	घटमठ	४३		मवांस अहार	,,
१४	मन	४२		लव	,,
१५	पतिव्रत (ता)	३८		सेवक और दास	,,
१६	अनहद शब्द	३६	३१	दुर्जन	१२
१७	साच	३३		सत्त बैराग जगत मिथ्या	,,
१८	भेष या भेष की रहनी	३२	३२	दीनता	११
१९	परिचय भक्ति और लय	३१		दुष्ट	,,
२०	माया	२९		सच्चिदानन्द	,,
२१	विश्वास	२८	३३	काम	१०
२२	कनक कामिनी	२७		तीर्थ व्रत	,,
२३	मान और हुंगता	२३		संत या साध	,,
२४	शब्द या सुरत शब्द योग	२२	३४	अजपा जाप	९
	जीवन मृतक	,,		निर्गुण सगुण निवारण	,,
२५	बेहद	१९		मौन भक्ति	,,
२६	कुसंग	१८	३५	क्रोध	८
	विचार सामर्थ या सर्व समरथ	,,		गुरु शिक्षा खोज	,,
२७	जरना	,,		निज कर्ता निर्णय	,,
	निद्रा	१७		कभिचारिन	,,

७. सूफी प्रेमाख्यानक साहित्य

परिचय

सूफी प्रेमाख्यान वा सूफी प्रेमगाथा वाला 'सूफी' शब्द एक मत विशेष के अनुयायियों का सूचक है, जिनका बहुत-कुछ परिचय इसकी व्युत्पत्ति के विषय में किए गए विविध अनुमानों के आधार पर भी उपलब्ध किया जा सकता है। 'सूफी' शब्द को कुछ लोगों ने 'सफा' (पवित्रता) से बना हुआ बतलाया है, तो दूसरों ने इसका 'सफ्फ' (आगे की पंक्ति) से निर्मित होना स्वीकार किया है तथा इसी प्रकार यदि किसी-किसी ने 'सोफिस्त' (ज्ञानी) शब्द का एक विकृत रूप समझ रखा है, तो अन्य लोगों ने इसे 'सूफा' (अरब की एक जाति विशेष) वा 'सुफ्फाह' (भक्त विशेष) का एक रूपांतर मान लिया है। किंतु स्पष्ट है कि इन जैसे अनुमानों द्वारा प्रस्तावित शब्दों में से किसी के भी सहारे 'सूफी' शब्द की व्युत्पत्ति का निर्णय नहीं किया जा सकता और तदनुसार, इतना और भी कहा जा सकता है कि यहाँ पर केवल अटकल मात्र से ही काम लिया गया है जिस-से इनमें कुछ न कुछ खींचातानी भी अवश्य आ गई है। इनसे कहीं अधिक तर्कसंगत अनुमान, कदाचित, उन लोगों का ही कहा जा सकता है जिनके अनुसार 'सूफी' शब्द 'सूफ़' (ऊन) के आधार पर निर्मित ठहराया जाता है। कहते भी हैं कि पहले के सूफी लोग केवल मोटे ऊनी वस्त्रों को ही अपने उपयोग में लाया करते थे और यह, संभवतः, उन कतिपय ईसाई संतों के अनुकरण में था जो संसार का त्याग कर संन्यासियों जैसा जीवन व्यतीत करने का व्रत लिए रहते थे और जिनका आचरण भी अत्यन्त सीधा-सादा और पवित्र था। ऐसी रहन-सहन के कारण इन सूफियों की पहले निंदा भी की गई, किंतु इन्होंने इस बात की कोई परवा नहीं की, प्रत्युत इस पहनावे को इन्होंने एक विशिष्ट प्रकार का रूप भी दे दिया।

अतएव, 'सूफी' शब्द मूलतः उन अरब और ईराक देशों के कतिपय व्यक्तियों को ही सूचित करता जान पड़ता है जो मोटे ऊनी वस्त्रों का चोगा पहना करते थे, जो विरक्तों वा संन्यासियों का-सा पवित्र जीवन यापन करते थे तथा जो अपनी महत्वपूर्ण साधनाओं के कारण मुस्लिमों की अगली पंक्ति में खड़े होने के अधिकारी थे। पता चलता है कि उन दिनों ऐसे सूफियों का कोई विशिष्ट संप्रदाय नहीं था और इनमें स्वभावतः उन लोगों की गणना कर ली जाती थी जो न केवल हजरत मोहम्मद, अपितु उनके सहयोगी और कुछ उत्तराधिकारी खलीफाओं तक के सात्विक जीवन का आदर्श स्वीकार करते थे तथा जो, इसके साथ ही, प्रचलित अंधविश्वासों में आस्था न रखते हुए ईश्वर के प्रति प्रगाढ़ प्रेमभाव रखना अपना परम कर्तव्य समझते थे। इस्लाम धर्म के इतिहासों में प्रारंभिक युग के सूफी केवल इन्हीं विशेषताओं के लिए प्रसिद्ध बतलाए गए हैं और ईस्वी सन की आठवीं शताब्दी तक की सूफी-साधना भी प्रमुखतः आचरण-प्रधान ही रही

है। परन्तु नवीं शताब्दी के सूफियों ने क्रमशः गंभीर चिंतन और अध्यात्मवाद की चर्चा का भी अभ्यास आरंभ कर दिया और सूफी मत में दार्शनिकता का प्रवेश हो गया। इस प्रकार, उसका मूल इस्लामी विचारधारा से भिन्न दिशा की ओर जाना देखकर ग्यारहवीं शताब्दी से उसे सँभाल कर सुव्यवस्थित रूप देने का भी प्रयत्न होने लगा। सूफीमत का प्रचार उन दिनों इधर ईरान तक हो चुका था और संभवतः वहीं से सांप्रदायिक रूप ग्रहणकर यह भारतवर्ष की ओर भी अग्रसर हुआ। उसी शताब्दी में यहाँ प्रसिद्ध सूफी अलहुज्विरी का भी अफगानिस्तान से आगमन हुआ जिसने सर्वप्रथम इसके लिए यहाँ ग्रन्थ-प्रणयन एवं प्रचार-कार्य की बुनियाद डाली।

सूफी साहित्य

अलहुज्विरी ने सूफीमत के प्रचार में अच्छी सफलता पाई और वे यहाँ पर 'हजरत दाता गंज' कहलाकर प्रसिद्ध हो गए। उन्होंने अपनी रचना 'कुश्फुलमहजूब' द्वारा अपने संप्रदाय की अनेक बातों का स्पष्टीकरण बड़े विशद रूप में किया और अपने समय तक विकसित इसके रूप का एक सांगोपांग विवरण तक उपस्थित कर दिया। उनका यह ग्रंथ बहुत कुछ उसी आदर्श पर लिखा गया था जिसका अनुसरण उनके पहले से होता आ रहा था। वास्तव में सूफीमत के प्रचार-कार्य में फारसी साहित्य के तत्कालीन निर्माताओं ने अपना हाथ बहुत कुछ अंशों तक बँटाने की चेष्टा की। इसकी जो बातें केवल नीरस उपदेशों से भरी प्रतीत हो सकती थीं उन्हें फारसी के योग्य कवियों ने अपनी रोचक शैली द्वारा आकर्षक रूप देकर सर्वसाधारण तक के लिए स्वीकार्य बना दिया और इस प्रकार सूफीमत के शुष्क वैराग्य में भी सरसता आ गई तथा सूफियों के जीवना-दर्श वाली सादगी पर भी एक अपूर्व मस्ती का रंग चढ़ गया। फारसी कवियों की एक बहुत बड़ी विशेषता यह भी थी कि वे अपनी रचनाओं के वर्ण्य विषय से अधिक ध्यान उसकी वर्णन-शैली की ओर दिया करते थे तथा घटनाओं के वर्णनों को विवरणपूर्ण भी बना देते थे। इस कारण उन्होंने अपने लिए ऐसे छंद और काव्य-प्रकार भी अपनाए जिनके द्वारा उन्हें इस ओर कुछ अधिक सफलता मिल सकती थी। 'रुबाई' छंदों की रचनाओं द्वारा जहाँ एक ओर उन्होंने अपनी चमत्कारपूर्ण व्यंजना का कौशल दिखलाया तथा इसी प्रकार अपनी 'गजलों' के सहारे जहाँ गूढ़ातिगूढ़ रहस्यों के भी उद्घाटन का सफल प्रयत्न किया, वहाँ दूसरी ओर उन्होंने अपनी 'मसनवी' कही जाने वाली रचनाओं के निर्माण द्वारा किसी विषय को विस्तारपूर्वक चित्रित करने की कला में भी कमी नहीं आने दी। इस मसनवी रचना-पद्धति के प्रयोग से उन्होंने न केवल धार्मिक वा उपदेशपूर्ण ग्रंथों का ही प्रणयन किया, अपितु ऐसे सुन्दर प्रेमाख्यानों की भी रचना कर डाली जिनके कारण उनमें से कई-एक, आज अनेक शताब्दियों के बीत जाने पर भी, अमर बने हुए हैं। सूफीमत की दृष्टि से प्रेम-साधना को विशेष महत्व दिया जाता है और सूफी लोग ईश्वर के प्रति अनुभूत प्रेम-भाव अथवा 'इश्क हकीकी' का वर्णन बड़े चाव के साथ किया करते हैं। मसनवी काव्यों के रचयिता सूफी कवियों ने एक ऐसी वर्णन-शैली अपनाई जिसके सहारे इस आध्यात्मिक प्रेम का स्पष्टीकरण 'इश्क मजाजी' वा लौकिक प्रेम की कहानियों के साधारण व्यापारों द्वारा भी किया जा सकता था।

प्रेमाख्यानों की परम्परा

प्रेमाख्यानों के निर्माण की परम्परा केवल फारसी साहित्य की ही विशेषता नहीं है, इसके

उदाहरण अन्यत्र भी पाए जाते हैं। इनके अविकसित रूप का पता हमें भारत के प्राचीन ग्रंथ 'ऋग्वेद' के कतिपय संवादों तक में मिलता है। प्रेमाभिव्यक्ति का विषय ही इतना रोचक है कि वह न केवल 'आपबीती' के रूप में होने पर, अपितु किन्हीं अन्य दो व्यक्तियों की प्रेम-कहानी बन जाने पर भी, कथन एवं श्रवण दोनों प्रकार से ही, आनन्दप्रद हो जाता है। तदनुसार प्रेमाख्यानों की संख्या, प्राय: प्रत्येक साहित्य के अंतर्गत, बहुत बड़ी पाई जाती है और कभी-कभी तो अन्य प्रकार के भी आख्यानों में प्रेमात्मक प्रसंग आ जाते हैं। संस्कृत साहित्य की पौराणिक रचनाओं में जिनका प्रमुख विषय विविध युगों और मन्वन्तरों का वर्णन करना रहता है, इन प्रेमाख्यानों का बाहुल्य दीख पड़ता है और कथा एवं काव्य कहे जाने वाले उसके अंगों में तो इसकी इतनी प्रचुरता है कि यदि उन्हें हम प्रेमप्रधान भी कह दें तो कोई अत्युक्ति न होगी। इसी प्रकार बौद्ध साहित्य के 'जातक' संज्ञक अंश में तथा जैन साहित्य की धर्मकथा एवं उपमिति कथाओं में भी हमें इनके अनेक उदाहरण मिल जाते हैं। बौद्ध एवं जैन प्रेमाख्यानों में तो यह बात भी उल्लेखनीय है कि यहाँ पर इनके द्वारा धार्मिक बातों के प्रचार का भी काम लिया जाता है। प्रमुख अंतर केवल यही प्रतीत होता है कि सूफी प्रेमाख्यानों में जहाँ किसी लौकिक प्रेम-व्यापार का वर्णन उसके आध्यात्मिक रूप का प्रतिपादन करने के उद्देश्य से किया जाता है, वहाँ वौद्ध एवं जैन प्रेमाख्यानों की कथाओं द्वारा इसका चित्रण इस प्रकार किया जाता है जिससे चरम धार्मिक उद्देश्य की दृष्टि से इसका महत्व अति नगण्य सिद्ध हो जाय। संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश के कथा-साहित्य अथवा काव्य-साहित्य के अन्य प्रकार वाले प्रेमाख्यानों में ऐसे किसी उद्देश्य का कोई संकेत नहीं मिलता।

प्रेमाख्यान का स्वरूप

प्रेमाख्यान का 'आख्यान' शब्द मूलत: आख्यायिका का ही एक रूपान्तर-सा प्रतीत होता है और इसके अर्थ में कथा शब्द का भी प्रयोग होता है। परन्तु आख्यायिका के लिए जहाँ कहा गया है कि वह केवल नायक द्वारा ही वर्णित गद्य के रूप में होती है वहाँ कथा स्वयं नायक वा किसी अन्य पात्र द्वारा भी कथित हो सकती है और साहित्य-शास्त्र के पंडितों ने आख्यानादि को इन दोनों के ही अंतर्भूत मान लिया है।[1] फिर भी, जैसा 'पुराणमाख्यानम्' से प्रकट होता है, 'आख्यान' शब्द का प्रयोग किसी समय पुराणों के लिए भी किया जाता था और उनके अंतर्गत पाई जाने वाली अंतर्कथाओं को 'उपाख्यान' की संज्ञा दे दी जाती थी। 'महाभारत' को कदाचित इसी के अनुसार कहीं-कहीं 'भारताख्यान' कहा गया मिलता है और उसकी कुछ अंतर्कथाओं को 'शकुन्तलोपाख्यानम्' वा 'नलोपाख्यानम्' आदि कहा गया है। आख्यानों का रूप स्वभावत: वर्णनात्मक हुआ करता है और उनमें आई हुई कथा को इतिवृत्तात्मक रूप में दिया जाता है। उनके कथानकों का किसी रचयिता द्वारा कल्पित कर लिया जाना ही आवश्यक नहीं, क्योंकि वे साधारणत: लोक-प्रचलित वा ऐतिहासिक भी हो सकते हैं। इनमें मुख्य अंतर केवल इसी बात का रहता है कि प्रथम

---

१. दण्डी : काव्यादर्श १।२३–८ तथा विश्वनाथ : साहित्यदर्पण (न० कि० प्रेस लखनऊ), पष्ठ ३२५–६।

वर्ग वालों के पात्र कल्पनाप्रसूत ही होते हैं तथा उनसे संबंधित घटनाओं के परिवर्तन वा विकास में जहाँ कवि को किसी प्रकार के बंधन का अनुभव नहीं करना पड़ता, वहाँ दूसरे वर्ग वाली रचनाओं में ऐसी कम गुंजायश रहा करती है। इसके सिवा प्रेमाख्यानक साहित्य में बहुधा यह भी देखा जाता है कि उनकी कहानियों के अंतर्गत हमें किन्हीं धर्मगत, समाजगत, परम्परागत अथवा योनिगत भेदों तक का भी कोई विचार किया गया नहीं मिलता और इसी कारण, उनमें प्रसंगवश आए हुए सभी पात्र लगभग एक ही स्तर पर व्यवहार करते हुए प्रतीत होते हैं। यहाँ तक कि उनमें अवसर आ जाने पर अनेक प्राकृतिक व्यापारों तक का हाथ स्पष्ट रूप में काम करता हुआ दीख पड़ता है तथा अनेक देवी-देवता तक पात्रों से सहयोग करते हैं।

प्रेमाख्यानों में प्रधानतः किसी पुरुष का किसी स्त्री के प्रति अथवा किसी स्त्री का ही किसी पुरुष के प्रति प्रेमासक्त हो जाना दिखलाया जाता है। इस प्रकार की घटना या तो प्रत्यक्ष दर्शन द्वारा घटित होती है अथवा इसे चित्र-दर्शन, स्वप्न-दर्शन, गुण-श्रवण अथवा किसी आभूषणादि की प्राप्ति से भी प्रेरणा मिल जाती है। इस प्रकार प्रभावित प्रेमी वा प्रेमिका प्रेमपात्र को अपनाने के प्रयत्न करने लग जाते हैं और उनमें इतनी एकांतनिष्ठा आ जाती है कि उनके लिए सभी कुछ गौण बन जाता है। वे अपने समक्ष आ पड़ने वाली किसी भी प्रकार की बाधा को तुच्छ मान कर उसे दूर करने लग जाते हैं और केवल अपनी सफलता के नाम पर ही जिया करते हैं। वे अपने प्रेमपात्र के किसी क्षणिक वियोग को भी सहन नहीं करते और कभी-कभी इसके कारण पूरे बावले तक भी बन जाते हैं। पुरुष प्रेमी न केवल विकट यात्रादि में निकल पड़ते हैं और अनेक प्रकार के कष्ट झेलते हैं, अपितु अपनी प्रेमिका की उपलब्धि के लिए वे घोर संग्रामों तक में जुट जाते हैं। बहुत से प्रेमाख्यानों में तो छल-कपट, षड्यन्त्र अथवा मंत्र, योग वा जादू-टोने के प्रयोगों तक के अनेक उदाहरण देखने को मिलते हैं। भारतीय प्रेम-कथाओं का अंत बहुधा प्रेमी एवं प्रेमपात्री के बीच विवाह-संबंध के घटित हो जाने पर ही अवलंबित रहता है और इसके संबंध में कर्मविपाक एवं पुनर्जन्म की कथाएँ तक जोड़ दी जाती हैं, किंतु कभी-कभी प्रेमाख्यानों का रूप दुःखान्त भी बन जाया करता है जिसके अधिक उदाहरण ऐसी सूफी रचनाओं में ही मिलते हैं। सूफी प्रेमाख्यानों में, और विशेषकर उनमें जिनके कथानक अभारतीय स्रोतों से लिये गए रहते हैं, ऐसे प्रेम-संबंध की कहानी प्रचुर मात्रा में मिलती है जिसके लिए वैध या अवैध का कोई प्रश्न नहीं उठा करता और जहाँ प्रायः प्रत्येक कार्य पूर्ण स्वच्छंदता के साथ किया जाता है। परन्तु भारतीय कथानकों में अधिकतर ऐसी नारियों का ही समावेश रहा करता है जो पातिव्रत धर्म का पालन अत्यंत आवश्यक समझती हैं तथा जो पति के अभाव में प्रायः 'सती' भी हो जाती हैं।[1]

प्रेमाख्यानों का वर्गीकरण

सूफियों के मसनवीबद्ध प्रेमाख्यानों का वास्तविक रूप निर्धारित करते समय हमारा ध्यान प्रसंगवश उस पूरे प्रेमाख्यान-साहित्य की ओर भी चला जाता है जिसका विकास भारतीय

---

१. परशुराम चतुर्वेदी : भारतीय प्रेमाख्यान की परम्परा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ १—३।

वातावरण में हुआ है और जिसकी रचनाओं के वर्गीकरण द्वारा हम उसकी विशेषताओं को भी समझ सकते हैं। भारतीय प्रेमाख्यानों का अध्ययन करने पर पता चलता है कि उनके प्राचीनतम रूपों के निर्माण-काल में कदाचित इसका कोई निश्चित उद्देश्य न रहा होगा। ये उन दिनों संभवतः योंही कह दिए जाते थे और इनका विस्तार भी केवल यहीं तक सीमित था कि अमुक दो व्यक्तियों के बीच प्रेम-संबंध स्थापित हो गया, इस प्रसंग में उन्होंने अमुक प्रकार की चेष्टाएँ कीं तथा अमुक प्रकार की घटनाएँ घटीं और फिर अमुक परिणाम निकला। अतएव, वे इतिवृत्तात्मक मात्र होते थे और इस प्रकार की प्रेम-कथाओं के अंतर्गत हम उन सभी की गणना कर सकते हैं जो वैदिक, पौराणिक वा ऐतिहासिक कहलाकर प्रसिद्ध हैं। परंतु इनके अतिरिक्त हमें यहाँ बहुत-से ऐसे प्रेमाख्यान भी मिलते हैं जिनका कथन करने वालों वा जिनके रचयिताओं का विशेष उद्देश्य दूसरों का मनोरंजन करना रहता है। ऐसी रचनाओं के अंतर्गत वे प्रेम-कथाएँ आती हैं जो या तो लोक-गाथाओं के रूप में प्रचलित हैं अथवा जिनका निर्माण कथा-साहित्य वा काव्य-साहित्य के अंगरूप में हुआ है तथा जिनका प्रमुख उद्देश्य किसी का मनवहलाव ही कहा जा सकता है। इसी प्रकार इन रचनाओं में से अनेक हमें इस बात के उदाहरण में भी मिल सकती हैं कि उनके निर्माण का उद्देश्य सदा केवल मनोरंजन ही नहीं रहा करता। वे या तो इसलिए बनी हैं कि उनके द्वारा किसी धार्मिक मत-विशेष का महत्व प्रतिष्ठित किया जाय अथवा उनकी प्रतीकात्मक रचना-शैली के आधार पर किसी साधना का स्वरूप निश्चित किया जाय। ये प्रेमाख्यान, इसीलिए, अधिक मनोरंजनात्मक ही न रहकर बहुत-कुछ व्याख्यात्मक वा प्रचारात्मक तक बन गए सिद्ध होते हैं और इनके अंतर्गत हम उनकी गणना कर सकते हैं जिनका निर्माण बौद्धों, जैनियों, संतों, सूफ़ियों और भक्तों द्वारा हुआ है।[1]

परन्तु इस वर्गीकरण के आधार पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि किसी भी एक वर्ग के प्रेमाख्यान दूसरे वर्ग वालों से नितान्त भिन्न ठहरते हैं। जिस प्रकार इतिवृत्तात्मक प्रेम-कथाओं द्वारा हमारे मनोरंजन का होना कोई असंभव बात नहीं, उसी प्रकार उनकी किसी धार्मिक व्याख्या द्वारा हम उनमें किसी न किसी मत-विशेष की बातों का स्पष्टीकरण भी पा सकते हैं और, इसी प्रकार, कोरे मनोरंजनात्मक से दीख पड़ने वाले प्रेमाख्यानों में भी हमें किसी मत-विशेष के प्रचार की गंध मिल सकती है अथवा विशुद्ध प्रचार की दृष्टि से रचे गए ऐसे ग्रंथों में भी इतिवृत्तात्मकता बनी रह सकती है। प्रेम-संबंध एवं प्रेम-व्यापार की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं जिनका वर्णन, अत्यन्त सीधासादा होता हुआ भी, कुछ न कुछ काल्पनिक-सा रूप अवश्य ग्रहण कर लेता है और, जिनके प्रति स्वभावतः स्वयं भी आकृष्ट हो जाने के कारण, प्रेमाख्यानों के रचयिताओं को न्यूनाधिक बहक जाना भी पड़ता है। वे इसलिए कभी-कभी प्रासंगिक घटनाओं का चित्रण अधिक विस्तार के साथ करने लग जाते हैं, उनके साथ विभिन्न कथोपकथनों का समावेश कर देते हैं और सदा इस बात के लिए प्रयत्नशील रहते हैं कि किस प्रकार, एक सर्वथानुकूल वातावरण उपस्थित करके सारे वर्णन में ही सजीवता और स्वाभाविकता ला दी जाय। तदनुसार ठेठ से ठेठ ऐतिहासिक प्रेम-कथाओं में भी पौराणिकता वा लोकोत्तरता का रंग भर दिया जा सकता है और विशुद्ध काल्पनिक

---

१. वही, पृष्ठ १४८।५२।

रचनाओं में भी यथार्थता लाई जा सकती हैं। सूफियों के प्रेमाख्यान इस नियम के अपवाद नहीं कहे जा सकते, केवल इतना हो सकता है कि जिन ऐसी रचनाओं का निर्माण फारसी मसनवियों की प्रचलित परंपरा के अनुसार तथा उनके विशिष्ट आदर्शों को ध्यान में रखते हुए किया गया है उनमें परिस्थिति-वैविध्य के कारण कुछ विलक्षणता भी आ गई हो। भारतीय प्रेमाख्यान की परंपरा का अनुकरण करने वाले सूफी कवियों ने भरसक यहीं की रचना-पद्धति को अपना कर चलने का प्रयत्न किया है।

सूफी प्रेमाख्यान

सूफी प्रेमाख्यानों की रचनाएँ सदा सोद्देश्य होती आई हैं और वे, इसी कारण, धर्मकथाओं के अंतर्गत भी गिनी जा सकती हैं। परन्तु जैसा इसके पहले भी कहा जा चुका है, इनमें तथा जैन कवियों की ऐसी धर्मकथाओं में बहुत-कुछ अंतर भी दीख पड़ता है। जैन धर्मकथा के रचयिता का प्रमुख उद्देश्य मोक्ष की उपलब्धि है जिसके लिए वह किसी प्रेम-साधनाजनित सिद्धि वा ईश्वरीय संयोग की दशा को स्वभावतः महत्व नहीं दे सकता। उसकी दृष्टि में प्रेम का उपयोग केवल उसके लौकिक पक्ष में ही किया जा सकता है जहाँ सूफी के लिए लौकिक व अलौकिक दोनों पक्ष हो सकते हैं तथा उन दोनों में कोई मौलिक अंतर भी नहीं है। यदि पहला वास्तविक और विशुद्ध है तो वह दूसरे में परिणत हो सकता है तथा, इसी कारण, उसे दूसरे की पूर्ण परिणति का एक दृढ़ साधन भी बनाया जा सकता है। अतएव सूफियों ने जिन प्रेम-गाथाओं को धर्मकथाओं का महत्व दिया है वे जैन कवियों की दृष्टि में केवल 'संकीर्ण कथा' ही कही जा सकती हैं, 'सत्कथा' नहीं हो सकतीं। जैन धर्मकथाओं में उदाहृत प्रेम-संबंध को बहुधा, इसीलिए, मोहपरक बंधन के रूप में भी स्वीकार किया गया जान पड़ता है जिसका ज्ञान द्वारा भंग हो जाना ही मोक्ष है। बौद्ध प्रेम-कथाओं में भी, इसी प्रकार, कहीं-कहीं शारीरिक सौन्दर्य को अंत में उपेक्षणीय कहा गया है और एक सुन्दरी की आँखों तक को सारे अनर्थों की जड़ सिद्ध किया गया है। परन्तु सूफियों के यहाँ ऐसा सौन्दर्य वस्तुतः उस 'नूर' (ईश्वरीय ज्योति) का प्रतिनिधित्व करता है जिसकी एक साधारण-सी झलक भी ऐसे साधकों की अभीष्ट है। फारसी मसनवी साहित्य के कवियों ने सदा इसी प्रकार की धारणा के साथ अपनी रचनाएँ प्रस्तुत की हैं और भारतीय सूफी कवियों ने भी उनका अनुसरण किया है।

भारतीय सूफी कवियों ने भी अपने प्रेमाख्यानों की रचना पहले-पहल फारसी भाषा के ही माध्यम से आरंभ की थी तथा मसनवी-पद्धति को ही अपनाया था। उदाहरण के लिए प्रसिद्ध कवि अमीर खुसरो (१२५५–१३२५ ई०=सं० १३१२–१३८२ वि०) ने ईरान के फारसी कवि निजामी के 'पंजगंज' नामक 'खम्स' (अर्थात पाँच मसनवियों के संग्रह) के जवाब में एक अपना भी 'खम्स' तैयार किया था जिसकी 'शीरीं-खुसरू' एवं 'मजनू-लैला' नामक दो का संबंध दो प्रसिद्ध प्रेम-कहानियों से था। उसने, इसी प्रकार, एक तीसरी भी मसनवी, 'दुवलरानी खिज्रखाँ' के नाम से प्रत्यक्षतः किसी ऐतिहासिक प्रेम-व्यापार का आधार लेकर लिखी थी जिसे, कदाचित, सूफी प्रेमाख्यान का नाम नहीं दिया जा सकता और न जिसे ऐतिहासिक दृष्टि से भी वैसा महत्व प्रदान किया जा सकता है। उसकी प्रेम-कहानी निरी कल्पित और मनगढ़ंत है क्योंकि, तथ्य है कि बहुत

से इतिहासज्ञों के मत से खुसरो द्वारा निर्दिष्ट समय म कोई देवलरानी जैसी प्रसिद्ध राजपूत बाला ही नहीं थी।[१] खुसरो के अनन्तर उसकी मसनवी रचना-पद्धति का अनुसरण कई अन्य सूफी कवियों ने भी किया, किंतु इसके लिए उन्होंने केवल फारसी भाषा क ही माध्यम को अनिवार्य नहीं समझा, प्रत्युत जहाँ कुछ ने वैसी प्रसिद्ध रचनाओं का हिन्दवी वा पुरानी उर्दू में रूपांतर कर डाला, वहाँ दूसरों ने उसी में मौलिक प्रेमगाथाएँ भी लिखीं। वास्तव में उस समय तक हिंदी अथवा उर्दू का भी स्पष्ट रूप निखर नहीं पाया था और जहाँ तक उनके छंदों वा 'बहरों' के प्रयोग का प्रश्न है, इसके विषय में भी उस समय तक कोई ऐसा निभ्रान्ति निर्णय नहीं किया जा सकता था जिसके अनुसार प्रेम-कहानियों वाली मसनवियों की रचना आगे बढ़ सके। फलतः उस काल के सूफी कवियों ने अपने यहाँ की स्थानीय भाषा को ही अपनाया और या तो पुरानी अवधी का माध्यम स्वीकार करते हुए, अपनी प्रेम-कहानियाँ प्रचलित चौपाई-दोहों में रच डालीं अथवा, हिंदवी- या पुरानी उर्दू (दक्खिनी हिंदी) के माध्यम से, उन्हें फारसी बहरों में निर्मित किया। दोहों-चौपाइयों के प्रयोग का आदर्श उनके लिए अपभ्रंश की प्रबन्ध-रचनाओं ने बहुत पहले से ही प्रस्तुत कर रखा था और मसनवी का फारसी रूप भी उनके सामने वर्तमान था।

प्रेमाख्यानों की रचना करते समय भारतीय सूफी कवियों को हम, इसी कारण, ईस्वी सन की चौदहवीं शताब्दी से ही दो भिन्न-भिन्न मार्गों को अपनाते हुए पाते हैं। इनमें से एक, जिसके अनुसार अवधी को प्रधानता दी जाती है और जिसके लिए दोहा-चौपाई जैसे छंदों का प्रयोग होता है, भारतीय भावना एवं भारतीय संस्कृति से अधिक संपर्क रखता हुआ चलता है तथा उसकी पद्धति पर निर्मित रचनाओं को पीछे हिंदी साहित्य का एक महत्वपूर्ण अंग भी समझ लिया जाता है, किंतु दूसरा, जो प्रधानतः हिंदवी के तत्कालीन दकनी उर्दू (दक्खिनी हिंदी) को अपनाकर आगे बढ़ता है और जिसके लिए फारसी बहरों का प्रयोग भी किया जाने लगता है, अधिकतर ईरानी वा शामी परम्परा की ही ओर उन्मुख रहना पसंद करता है तथा उसकी शैली में रचित प्रेमाख्यानों का झुकाव परवर्ती उर्दू साहित्य की दिशा में हो जाता है। इसमें संदेह नहीं कि हिंदवी अथवा दकनी उर्दू (दक्खिनी हिंदी) कही जाने वाली भाषा, मूलतः उत्तर की खड़ीबोली हिंदी का ही एक रूप उद्धृत करती है और फारसी एवं अरबी से अधिक प्रभावित होती हुई भी, उसकी रचनाएँ उतनी विलक्षण नहीं प्रतीत होतीं। किंतु इसके साथ ही इतना और भी कह दिया जा सकता है कि सूफी कवियों एवं लेखकों की इन रचनाओं के ही कारण वह पीछे क्रमशः अपना रंगरूप बदलती भी दीख पड़ी तथा अंत में, उसे उर्दू का वर्तमान वेश मिल गया। जब तक ऐसे साहित्य की रचना का लगाव दक्षिण के बीजापुर एवं गोलकुंडा वाले राज्यों तक सीमित रहा, ऐसा अंतर उतना स्पष्ट न हो सका था, किंतु पीछे दिल्ली जैसे नगरों के भी साथ संबंध दृढ़ हो जाने पर उसके आमूल परिवर्तित हो जाने तक का समय आ गया। इस कारण ईस्वी सन की सत्रहवीं शताब्दी तक रचे गए सूफी प्रेमाख्यानों का न्यूनाधिक समावेश यदि हिंदी साहित्य के अंतर्गत भी कर लिया जाय तो उतना अनुचित नहीं कहा जा सकता। इस समय तक दक्षिण में मसनवी रचनाओं का निर्माण

---

१. प्रो० के० आर० कानूनगो : ए क्रिटिकल एनालिसिस आव द पद्मिनी लीजेंड, माडर्न रिव्यू, नवम्बर, १९५६, पृ० ३६१—८ और विशेषतया पृ० ३६५ की पादटिप्पणियाँ।

प्रचुर मात्रा में हो गया था और दकनी निजामी ने 'कदमराव ओ पदम' (सन १४६०–६२ ई०=सं० १५१७–१५१९ वि०), शाह हुसेनी ने 'वशीरतुल अनवर' (सन १६२३ ई०=सं० १६८० वि०), गवासी ने 'सैफुल्मुल्क व वदीपुज्जमाल' (सन १६२६ ई०=सं० १६८३ वि०), मुल्ला वजही ने 'सबरस' (सन १६३६ ई०=सं० १६९३ वि०), मुकीमी ने 'चादर वदन व महियार' (सन १६४० ई०=सं० १६९७ वि०), नुसरती ने 'गुलशने इश्क' (सन १६५७ ई०=सं० १७१४ वि०), तवई ने 'किस्सा बहराम ओ गुलअंदाज' (सन १६६० ई० =सं० १७१७ वि०), गुलामअली ने 'पद्मावत' (सन ६६६ ई=सं० १७२३ वि०) तथा हाशिमी ने 'यूसुफ ओं जुलेखा' (सन १६८० ई०=सं०१७३७ वि०) जैसे प्रसिद्ध प्रेमाख्यानों को उक्त प्रथम शैली के अनुसार प्रस्तुत कर दिया था। परन्तु हम देखते हैं कि उत्तर की ओर उसी के समानान्तर उपर्युक्त दूसरा मार्ग भी निकल चुका था और तदनुसार प्रेमगाथाएँ अवधी भाषा वाले साँचे में भी ढाली जा रही थीं। यह दूसरी पद्धति पहली की अपेक्षा प्रायः सौ वर्ष पहले से ही अपनाई जाती आ रही थी और लगभग उसी से मिलती-जुलती इधर एक अन्य ऐसी परंपरा भी चलती आ रही थी जिसका लगाव विशुद्ध भारतीय आदर्शों के साथ कुछ और भी अधिक मात्रा में था और जिसे, इसी कारण, हम 'असूफी प्रेमाख्यान-परंपरा' भी कह सकते हैं।

उक्त दूसरी रचना-पद्धति वाली सूफी प्रेमाख्यान-परंपरा का आरंभ अभी तक ज्ञात रचनाओं के आधार पर मुल्ला दाऊद के प्रेमाख्यान 'चंदायन' वा 'नूरक चंदा' से समझा जाता है जिसकी एक उपलब्ध प्रति के अनुसार उसका रचना-काल हिजरी सन ७८१ बतलाया गया है[1] जो ईस्वी सन १३७९ (सं० १४३६ वि०) भी कहा जा सकता है। परन्तु एक अन्य ऐसे ही स्रोत से[2] पता

---

१. श्री अगरचन्द नाहटा ने इसकी तद्विषयक पंक्तियों को इस प्रकार उद्धृत किया है—

बरस सात सै होइ इक्यासी। तिहि माह कविसर सेउ भासी॥
साहि पीरोज ढिली सुलताना। जोना साहि जीत बखाना॥
दल्यौं न यह बसे नवरंगा। उपरि कोट तले बहे गंगा॥

(नागरी प्रचारिणी पत्रिका वर्ष ५४ अंक १ पृ० ४२)

२. डा० त्रिलोकीनारायण दीक्षित, प्रोफेसर, लखनऊ यूनीवर्सिटी को निम्नलिखित पंक्तियां मिली हैं—

बरस सात सै हते उन्यासी। तहिया यह कवि सरस अभासी॥
शाह फिरोज देहली सुलतानू। ज्योना शाह वजीर भा खानू॥
डलमउ नगर बसे नवरंगा। ऊपर खोट तरे बह गंगा॥
धरमी लोए बसे भगवंता। गुनग्राहक नागर चितवन्ता॥ इत्यादि

(डा० दीक्षित के सौजन्य से उनके एक पत्र द्वारा प्राप्त)

चलता है कि यह समय कदाचित हि० सन ७७९ रहा होगा जो तदनुसार ईस्वी सन १३७७ (सं० १४३४ वि०) में पड़ सकता है। इस रचना की ही एक खंडित प्रति उसे भी कहा जा सकता है जो पटना के प्रो० हसन अस्करी को उसी के निकट वर्तमान 'मनेर शरीफ खानकाह पुस्तकालय' से मिली है, किंतु जिसमें रचना-काल नहीं है।[1] 'चंदायन' वा 'नूरक चंदा' की एक पूरी एवं सचित्र प्रति का लाहौर के 'सेंट्रल म्यूजियम' में होना भी कहा जाता है,[2] किंतु उसके विषय में इससे अधिक बातें अब तक विदित नहीं हैं। आज तक की गई खोजों के अनुसार इस रचना के अनन्तर लगभग सवा सौ वर्ष व्यतीत हो जाने पर इस प्रकार का एक सूफी प्रेमाख्यान लिखा गया जो 'मिरगावती' के नाम से प्रसिद्ध है। इसका रचयिता शेख कुतबन था जिसने इसका निर्माण, अब तक उपलब्ध खंडित प्रतियों के अनुसार, हिजरी सन ९०९ अर्थात् सन १५०३ ई० (सं० १५६० वि०) में किया था। उसने इसकी आरम्भिक पंक्तियों द्वारा जिस शाहेवक्त की प्रशंसा की है उसका नाम 'हुसेन साह' दिया हुआ है। यह हुसेन शाह कौन रहा होगा इसके संबंध में मतैक्य नहीं दीख पड़ता। लोग इसे शेरशाह का पिता समझते हैं जिसका वास्तविक नाम 'हसन खाँ' था और जो अपनी किसी योग्यता के लिए वैसा प्रसिद्ध भी नहीं था। हुसेन शाह नाम द्वारा निश्चित रूप से विदित उस समय केवल दो ही शासक थे जिनमें से एक हुसेन शाह शर्की जौनपुर का शासन करता था और दूसरा, उसी प्रकार, बंगाल में राज्य करता था। पहले को बहलोल खाँ लोदी ने सन १४८८ ई० (सं० १५४५ वि०) में हरा दिया और वह फिर अपने यहाँ से भाग कर बंगाल वाले हुसेन शाह की शरण में रहने लगा। उसकी मृत्यु भी हि० सन ९०५ अर्थात सन १४९९ ई० (सं० १५५६ वि०) में ही हो गई जो 'मिरगावती' के रचना-काल वा सन १५०३ ई० (सं० १५६० वि०) से चार साल पहले पड़ता है[3]। अतएव अधिक संभव यही जान पड़ता है कि 'मिरगावती' की रचना वस्तुतः बंगाल के शासक हुसेन शाह (सन १४९३–१५१९ ई० = सं० १५५०–१५७६ वि०) की छत्रछाया में ही हुई होगी, क्योंकि वह एक धर्मपरायण पुरुष भी था तथा हिंदू-मुस्लिम ऐक्य के उद्देश्य से उसने 'सत्यपीर' नामक एक संप्रदाय भी चलाया था जिसका प्रचार उधर के क्षेत्रों में बहुत दिनों तक होता रहा। इस 'मिरगावती' वा 'मृगावती' प्रेमाख्यान की भी आज तक कोई ऐसी प्रति नहीं मिल सकी जो सभी प्रकार से पूर्ण कही जा सके तथा जिसका पाठ भी पूर्णरूपेण असंदिग्ध हो। सबसे अधिक उल्लेखनीय दो प्रतियाँ क्रमशः 'अनूप संस्कृत पुस्तकालय, बीकानेर' की तथा 'एकडला' वाली हैं, किन्तु इनके भी उपलब्ध विवरणों द्वारा कोई संतोषजनक परिणाम नहीं निकाला जा सकता।[4]

---

१. एस० एच० अस्करी : 'रेयर फ्रैगमेण्ट्स आव चन्दायन एण्ड मृगावती', पृष्ठ ७–८।

२. देखिए, 'भोजपुरी' (आरा, सन १९५४ ई० के सावन अंक) में प्रकाशित डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का लेख।

३. हाफिज मुहम्मदखाँ शीरानी : 'पंजाब में उर्दू', पृष्ठ २१२।

४. दे० 'राजस्थान भारती' (बीकानेर, मार्च सन १९५५ ई०) में पृष्ठ ३९–४४ पर दीनानाथ खत्री, एम० ए० का लेख तथा १३ सितम्बर सन १९५५ ई० के 'भारत', प्रयाग में डा० रामकुमार वर्मा का वक्तव्य और उसका 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' (सं० २०१२) के पृ० १६३ पर उल्लेख।

'चंदायन' एवं 'मृगावती' वाले आदर्श पर पीछे और भी अनेक सूफी प्रेमाख्यानों की रचना हुई और उनकी यह परंपरा ईस्वी सन की बीसवीं शताब्दी तक भी प्रचलित रही है। सोलहवीं तथा सत्रहवीं से लेकर अठारहवीं शताब्दी तक इस प्रकार के साहित्य का निर्माण विशेष उत्साह के साथ किया गया प्रतीत होता है और बीसवीं शताब्दी की ऐसी उल्लेखनीय रचना जो अभी तक उपलब्ध है वह सन १९१७ ई० (सं० १९६४) में रचित शेख नसीर का 'प्रेमदर्पण' नामक प्रेमाख्यान है। संभव है कि बहुत सी ऐसी प्रेम-कहानियाँ उसके अनंतर भी लिखी गई हों, किंतु अभी तक उनका कोई प्रामाणिक उल्लेख प्राप्य नहीं है। इतना अवश्य जान पड़ता है कि 'चंदायन' के निर्माण के लगभग साथ ही कतिपय ऐसे प्रेमाख्यानों की रचना भी आरंभ हो गई थी जो सूफी परंपरा का अनुसरण न करते हुए भी महत्वपूर्ण कहे जा सकते थे और जिनका सूफी प्रेमाख्यानों के साथ किया गया तुलनात्मक अध्ययन बहुत मनोरंजक और उपयोगी भी सिद्ध हो सकता है। इन असूफी प्रेमाख्यानों में से जो आज तक उपलब्ध हो सके हैं उनमें से सब से अधिक प्राचीन दामो कवि की रचना 'लखमनसेन पदमावत' है जो सं० १५१६ वि० वा सन १४५९ ई० की है। इसके केवल चौदह वर्ष पीछे रची गई राजस्थानी की वह प्रसिद्ध प्रेम-कहानी भी कही जा सकती है जो 'ढोलामारू रा दूहा' के नाम से प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि इसके रचयिता ने अपना नाम स्वयं 'कल्लोल' बतला दिया है और इसका रचना-काल भी उसने सं० १५३० वि० वा सन १४७३ ई० सूचित किया है।[१] इस प्रकार का एक अन्य प्रेमाख्यान, जिसे पौराणिक आख्यान का भी नाम दे सकते हैं, इन दोनों रचनाओं का समकालीन बतलाया गया है और वह प्रेमानन्द का 'उषाहरण' है।

सूफी प्रेमाख्यानों के आधारभूत कथानक

सूफी प्रेमाख्यानों के रचयिता कवियों ने जो प्रारंभिक रचनाएँ प्रस्तुत की थीं वे फारसी भाषा में थीं और उनके आधारभूत कथानक भी प्रधानतः अभारतीय स्रोतों से ही लिए गए थे तथा उनका रचनात्मक ढाँचा भी यथासंभव मनसनवी पद्धति पर ही खड़ा किया गया था। अमीर खुसरो के 'दुवलरानी खिज्रखाँ' जैसे प्रेमाख्यान, जिनकी मूल कथा काल्पनिक रखी गई थी, वस्तुतः सूफी प्रेम-गाथाओं में नहीं गिने जा सकते हैं। पीछे दक्खिनी हिंदी में लिखने वाले कवियों ने भी, जिन्होंने उन फारसी रचनाओं के आदर्श को अपनाया, अधिकतर इसी नियम का पालन किया। इन्होंने न केवल अभारतीय कथानकों को ही अधिक महत्व दिया, अपितु, भारतीय प्रेम-कहानियों की कल्पना करते हुए भी उन्हें उसी रंग में विकसित करना अधिक उपयुक्त माना तथा उनके अंतिम परिणाम का भी चित्रण करते समय भरसक उसी रचना-शैली को निभाया। उदाहरण के लिए गवासी ने अपने प्रेमाख्यान 'सैफुल्मुल्क व वदीयुज्जमाल' के अंतर्गत जिस प्रकार 'अलिफलैला' की एक प्रसिद्ध कहानी को अपनाया उसी प्रकार इब्ननिशाती ने भी अपने 'फूलवन' में उसी आदर्श को स्वीकार किया तथा अपनी रचना के अंतर्गत कुछ भारतीय जैसे नाम देते हुए भी उन्होंने उक्त

---

१. पं० मोतीलाल मेनारिया : 'राजस्थानी भाषा और साहित्य', पृष्ठ १०१ पर उद्धृत दोहा—

पनरहसै तीसे बरस, कथा कही गुण जांण।
ब्रदि बैसाखे बार गुरु, तीज जांण सुभ वांण।।

शैली नहीं छोड़ी। मुकीमी ने तो अपने प्रेमाख्यान 'चंदरबदन ओ माहयार' में प्रत्यक्षतः एक भारतीय कहानी को ही प्रश्रय दिया और उसकी कल्पना करते समय, खुसरो की भाँति, एक हिन्दू प्रेमिका एवं एक मुस्लिम प्रेमी की प्रेम-कहानी तैयार कर दी, किंतु इन दोनों के प्रेम-व्यापार का रूप उन्होंने इस प्रकार चित्रित किया जिससे अरब के लैला व मजनू जैसे किस्सों का ही आदर्श सामने आ गया। नुशरती के 'गुलशने इश्क' एवं गुलाम अली के 'पद्मावत' भी, यद्यपि ये दोनों भारतीय प्रेम-कहानियों की छाया लेकर चलते हैं, यथार्थतः अभारतीय रंगों में ही चित्रण उपस्थित करने वाले प्रेमाख्यान कहे जा सकते हैं और 'यूसुफ ओ जुलेखा' के रचयिता हाशिमी ने तो अपनी मूल कहानी ही बाहर से ली है। इसके सिवाय मुल्ला वजही ने अपने 'सबरस' वाले हुस्न व दिल के कथानक को वस्तुतः फारसी कवि 'फताही' के 'दस्तूरे इश्क' से लिया है और उसे केवल विस्तार मात्र दे दिया है।

परन्तु अवधी के माध्यम से लिखे गए दोहा-चौपाई वाले सूफी प्रेमाख्यानों में, अथवा उनके आदर्श को अपनाने वाली अन्य रचनाओं के विषय में भी, हम ऐसा नहीं कह सकते। उनमें हमें ऐसे उदाहरण भी मिल सकते हैं जिनमें भारतीय कथा-साहित्य एवं लोक-गाथाओं तक का आश्रय ग्रहण किया गया है। हिन्दी में उपलब्ध प्रथम सूफी प्रेमगाथा 'चंदायन' एक ऐसी लोकप्रिय प्रेम-कहानी पर आश्रित है जिसका प्रचार यहाँ पर उसके बहुत दिनों पहले से होता आया था। मिथिला के ज्योतिरीश्वर ठाकुर ने अपनी रचना 'वर्णनरत्नाकर' के प्रथम अंश में नगर का वर्णन करते समय जिन 'लोरिक नाचों' का उल्लेख किया है उससे अनुमान किया जा सकता है कि लोरिक वाली इस कथा का कोई न कोई रूप उनके यहाँ, ईस्वी सन की तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी में भी, रहा होगा। इसके अतिरिक्त, आजकल के लोकगीत-विषयक अनुसंधानों द्वारा यहाँ तक प्रमाणित किया जा सकता है कि इसका प्रचार-क्षेत्र लगभग सारे उत्तरी भारत तक विस्तृत रहता आया है। लोरिक एवं चंदा तथा लोरिक एवं मैनावती अथवा इन तीनों ही प्रेमी-प्रेमिकाओं की सम्मिलित कथा के कुछ न कुछ परिवर्तित रूप बंगाल, बिहार, उत्तरप्रदेश आदि से लेकर छत्तीसगढ़ तक अच्छी संख्या में मिलते हैं और रायपुर जिले के आरंग नामक स्थान पर तो लोरिक एवं चंदैनी वा चंदा के स्मारक-रूप में एक इमारत भी वर्तमान है।[1] जिस प्रकार 'लोरिक' शब्द कहीं-कहीं 'लोर' बन गया है उसी प्रकार 'चंदा' का भी 'चंदैनी वा चंद्राली' हो गया है और 'मैना' वा 'मैनावती' का रूप 'मंजरी' वा 'मंझरिया' तक में परिवर्तित हो गया है। कहीं-कहीं पर तो ऐसा भी हुआ है कि कथा के अंतर्गत कुछ अन्य प्रान्तों का भी समावेश हो गया है तथा घटना-संबंधी विवरणों में कुछ फेरफार हो गया है।

'चंदायन' की प्रति के अभी तक अपूर्ण रूप में ही मिल सकने के कारण उसके आधारभूत कथानक का स्पष्ट रूप निर्धारित कर लेना सरल नहीं है। किन्तु उपलब्ध पृष्ठों के अनुसार जो संकेत मिल पाते हैं उनसे अनुमान किया जा सकता है कि वह अधिकतर बिहार व बंगाल की कहानियों से ही मिलता-जुलता रहा होगा। इस रूप के अनुसार लोरिक गौरा वा गौरनगर (गुआरनगर) का निवासी भगवती दुर्गा का प्रिय पात्र था और उसकी पत्नी का नाम मंजरी (मैना) था।

---

१. एलविन : फोक सांग्स ऑव छत्तीसगढ़, पृ० ४१–८।

मंजरी तथा उसकी सास को लोरिक की, किसी सहदीप की पुत्री चैना (चंदा) के प्रति, प्रेमासक्ति के कारण बहुत दुःख था जिससे वह चंदा के साथ हरदी की ओर निकल पड़ा। किंतु मार्ग में रात के समय किसी पेड़ के नीचे सोई हुई चंदा को साँप ने डँस लिया और उसकी मृत्यु से शोकाकुल हो लोरिक भी उसकी चिता पर जा बैठा। इस पर भगवती दुर्गा ने आकर फिर चंदा को जिला दिया और दोनों प्रेमी अपने मार्ग पर अग्रसर हुए। आगे फिर किसी रोहिनी नगर के राजा महापात्र सोनार से लोरिक जुए में हार कर किसी प्रकार चंदा की सहायता द्वारा अपने को बचा सका। वहाँ से जब वे हरदी पहुंचे तो यहाँ पर भी लोरिक को एक राजा के साथ सात दिन एवं सात रातों तक युद्ध करना पड़ गया और जब चंदा ने भगवती को अपनी प्रथम संतान के बलिदान की मनौती की तो विजय मिल सकी। अंत में हुँडवार के राजा को भी पराजित कर लोरिक हरदी का राजा बन सका जहाँ उसने १२ वर्षों तक राज्य किया और फिर, अपनी पूर्वपत्नी की स्मृति के किसी प्रकार जाग्रत हो जाने पर, वह चंदा के साथ पुनः अपने जन्मस्थान गौरा लौट आया।[१] अन्य उपलब्ध कथाओं में से कुछ केवल चंदा एवं लोरिक के भाग कर जाते समय झेली जाने वाली उनकी कठिनाइयों का वर्णन अधिक विस्तार के साथ करती हैं और उनमें चंदा के पूर्व पति बावन वा शिवधर के विरोध की भी चर्चा आती है। परन्तु कुछ का संबंध अधिकतर लोरिक एवं मैना के ही प्रेम-व्यापार तथा मैना के सतीत्व-पालन से जान पड़ता है। मैना की इस पवित्र धर्म के प्रति प्रगाढ़ निष्ठा का विशेष विवरण अधिकतर उन रचनाओं में मिलता है जिनका निर्माण 'मैनासत' वा 'मैना सतवंती' जैसे नामों से पृथक रूप में हुआ है।[२] 'चंदायन' जैसी ही किसी रचना की छाया पर, मुल्ला दाऊद के पीछे, बँगला के कवि दौलत काजी ने भी अपनी 'लोरचंद्राणी' नामक रचना प्रस्तुत की और उसमें उसने स्पष्ट शब्दों में कथन कर दिया कि "मैं इस कथा के पूर्वरूप के, चौपाई-दोहे के साथ 'गोहरि' (गँवार अवधी) भाषा में अवोध रहने के कारण, उसे अपनी भाषा के पांचाली छंद में दे रहा हूँ[३]।" दौलत काजी की यह रचना 'सती मयना' नाम से भी प्रसिद्ध जान पड़ती है और इसे सन १६५९ ई० (सं० १७१६) में पीछे अलाओल कवि ने पूरा किया है। वास्तव में मुल्ला दाऊद की रचना 'चंदायन' भी अपने निर्माण-काल से ही बहुत प्रसिद्ध हो चली थी और जैसा अलबदायूनी ने लिखा है, इसके 'ईश्वरीय सत्य' का हृदय पर बड़ा प्रभाव पड़ता था।[४]

'चंदायन' का मूलाधार कथानक, इस प्रकार, विशुद्ध लोकगाथात्मक ही प्रतीत होता है। मुल्ला दाऊद का इसे किसी अन्य रचना से लेना अभी तक सिद्ध नहीं है, और न अभी तक यह पता चलता है कि इसके प्रधान पात्रों के नामों का समावेश करके कभी किन्हीं ऐसे अन्य प्रेमा-

---

१. प्रो० अस्करी, रेयर फ्रैगमेन्ट्स ऑव चन्दायन ऐण्ड मृगावती, पृष्ठ ९।

२. दे० विशेष कर 'मैनसत' का 'मैनासत' जो किसी साधन कवि की रचना है और जिसकी एक प्रति हस्तलिखित रूप में श्री उदयशंकर शास्त्री, वाराणसी के पास है।

३. "ठेठा चौपाइया दोहा कहिला सदने, ना बूझे गोहारि भाषा कोन कोन जने।
देशी भाषे कहताक पांचालीर छन्द, सकले शुनिया येन बुझिये सानन्द।"
(बंगला साहित्येर इतिहास, पृष्ठ ५६६ पर उद्धृत)

४. जार्ज एस० ए० रैंकिंग, मुंतखबुत्तवारीख, कलकत्ता १८९७ पृ० ३३३।

ख्यानों की भी सृष्टि की गई होगी। परन्तु ठीक यही बात हम शेख कुतबन की 'मृगावती', जायसी की 'पद्मावत', शेख मंझन की 'मधुमालती' जैसे सूफ़ी प्रेमाख्यानों के विषय में भी नहीं कह सकते। 'मृगावती' के रचयिता ने इस विषय में जो स्वयं कथन किया है उससे प्रकट होता है कि इसका कोई न कोई रूप पहले से ही विदित था। वह योग, शृंगार एवं विरह रस से पूर्ण था, किन्तु उसका वास्तविक अर्थ स्पष्ट नहीं था और उसके 'अरथ' को खोलकर कहने का कार्य शेख कुतबन ने कर दिया।[1] मृगावती नाम की एक सती स्त्री की चर्चा जैन धर्मग्रन्थों में भी की गई मिलती है जो वैसी ही सोलह सती स्त्रियों में से एक थी और जो नाते में भगवान महावीर की मौसी भी होती थी। अतएव, संभव है कि उसकी कथा के आधार पर भी शेख कुतबन के पहले एकाध ऐसी कहानियों की रचना हो चुकी हो। परन्तु, जैसा समयसुन्दर-कृत 'मृगावतीरास' के कथानक द्वारा स्पष्ट है[2] उनकी प्रेम-कथा इस सूफी प्रेमाख्यान की कथावस्तु से नितान्त भिन्न रही होगी और यही बात इसके पीछे लिखी गई अन्य ऐसी रचनाओं के विषय में भी कही जा सकती है। वास्तव में जब तक शेख कुतबन की रचना के पहले निर्मित किसी वैसी प्रेम-कथा का पता नहीं चलता तब तक यह कहना कठिन है कि इस कवि ने जिस 'कथा' का उल्लेख अपनी पंक्तियों द्वारा किया है वह कोई साहित्यिक प्रेमाख्यान था अथवा उसका रूप केवल लोकगाथात्मक मात्र ही था।

जायसी की 'पद्मावत' की कथावस्तु का निर्माण करते समय हमारे सामने दो प्रकार के प्रश्न उठते हैं। एक तो यह कि क्या इस कवि के पहले भी किसी ने ठीक इसी रचना की कथा को लेकर कोई प्रेमाख्यान लिखा था? और दूसरा यह कि क्या यह रचना किसी ऐतिहासिक आधार पर भी आश्रित कही जा सकती है? इसमें संदेह नहीं कि पद्मावती नाम की एक नायिका की चर्चा प्रधानतः दामो-कृत 'लखमनसेन पद्मावती' में भी आती है जो सन १४५९ ई० (सं० १५१६ वि०) की रचना है और एक दूसरी पद्मावती राजवल्लभ कवि की संस्कृत रचना 'पद्मावतीचरित्र' की है। किंतु 'पद्मावत' का नायक जहाँ 'रतनसेन' है वहाँ इन दोनों में क्रमशः 'लखमनसेन' एवं 'चित्रसेन' की कथाएँ कही गई हैं जो उसकी कथा से बहुत भिन्न ठहराई जा सकती हैं। इसके सिवाय यदि 'पृथ्वीराजरासो' के 'पद्मावती-समय' की नायिका की ओर ध्यान दें अथवा 'कल्किपुराण' (प्रथम खंड अ० ३–७ एवं द्वितीय खंड अ० १–३) की पद्मावती का विचार करें तो वे भी इससे कई बातों में भिन्न पाई जाती हैं। 'रासो' की पद्मावती के साथ इसका इस बात में साम्य है कि जहाँ एक 'समुद्र शिखरगढ़' के राजा की कन्या है, वहाँ दूसरी 'सिंहल द्वीप' के राजा की पुत्री है और दोनों ही कथाओं की प्रेमिकाओं को अपने प्रेमी के साथ संयोग स्थापित करने में किसी सूए से ही सहायता मिलती है। परंतु 'कल्किपुराण' वाली कथा की पद्मावती न केवल सिंहल देश की राजकुमारी है और उसे इसकी भाँति सूए की सहायता भी मिलती है, अपितु उसका प्रेमी भी सर्वप्रथम उसे सोने की दशा में ही मिलता है। दामो की रचना वाली पद्मावती भी 'गढ़ समोर' के राजा की कन्या है, किंतु यहाँ उसके लिए एक स्वयंवर का आयोजन होता है जैसा

---

१. सूफी काव्य संग्रह (सम्मेलन, प्रयाग) पृष्ठ ९७ पर उद्धृत पंक्तियों के अनुसार।

२. अगरचन्द नाहटा : 'भारती', ग्वालियर, सितम्बर सन १९५५ ई०, पृ० २२६–३२।

'कल्किपुराण' में भी हुआ है और जायसी तथा चंदबरदाई की नायिकाओं का गुण-श्रवण जहाँ उनके नायकों के हृदय में प्रेम जाग्रत करता है, वहाँ राजवल्लभ का नायक चित्रसेन पद्मावती की एक सुन्दर पुत्तलिका वा प्रतिमूर्ति देखकर ही उसके प्रति आसक्त हो जाता है और उसके विरह में मरने तक की आशंका कर बैठता है।[1] वास्तव में, कथानकों के प्रत्यक्षतः कुछ न कुछ भिन्न होते हुए भी ये सभी प्रेमाख्यान प्रायः एक ही प्रकार के अभिप्रायों वा रूढ़ियों द्वारा संवलित हैं और किसी विशिष्ट परंपरा की ओर संकेत करते हैं।

परंतु जहाँ तक पद्मावत की कहानी के ऐतिहासिक होने का प्रश्न है, इस बात का निर्णय केवल असंभावना के रूप में ही दिया जा सकता है। इस संबंध में जो सबसे प्रमुख बात है वह यह है कि इस रचना के पहले, एवं इसमें वर्णित तथाकथित रतनसेन की सिंहल-यात्रा वा पद्मावती के उस द्वीप में अस्तित्व के होने के अनंतर वाली अवधि में, लिखे गए किसी भी प्रामाणिक ऐतिहासिक ग्रंथ में इसकी ओर संकेत भी किया गया नहीं जान पड़ता। उस काल के किसी ऐसे सिंहल द्वीप का भी पता नहीं जिसका राजा कोई गन्धर्वसेन रहा हो और न चित्तौड़गढ़ के ही किसी रतनसेन की पद्मावती नामक रानी का कहीं उल्लेख मिलता है। राजस्थान के प्रसिद्ध वीर गोरा एवं बादल की युद्ध-कथाओं के साथ जहाँ-जहाँ इस पद्मावती की भी कथा के प्रसंग मिलते हैं, उन रचनाओं का निर्माण-काल जायसी की इस प्रेमगाथा के पीछे ही ठहरता है जिसके आधार पर यह कथन अधिक युक्ति-संगत हो सकता है कि इनके रचयिताओं ने भी जायसी का ही अनुकरण किया होगा। इस संबंध में यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय ह कि सिंहलद्वीप, पद्मिनी नारी, प्रेमी का जोगी बन जाना वा किसी जोगी से सहायता लेना, शिव-पार्वती एवं दुर्गा जैसी दैवी शक्तियों की कृपा से सफलता उपलब्ध करना और अपने प्रयत्नों में सूए जैसे पक्षियों का सहयोग प्राप्त करना आदि बातें केवल किसी विशिष्ट प्रेमगाथा के ही प्रसंगों में आती नहीं पाई जातीं, प्रत्युत इनके विविध प्रयोग एक से अधिक ऐसी रचनाओं में आपसे आप मिल जाया करते हैं। इतिहासज्ञों ने इसी कारण, बहुत छानवीन करने के उपरांत, 'पद्मावत' के कथानक को प्रधानतः काल्पनिक ही ठहराया है।[2] अतएव, जान पड़ता है कि जायसी ने भी इसकी कथा का ढाँचा खड़ा करते समय कदाचित उसी मार्ग का अनुसरण किया है जिसे उनके दो सौ वर्ष पहले अमीर खुसरो ने देवलदेवी के विषय में अपनाया था। संभव है, जायसी के समय में इस कल्पित कहानी का कल्पित रूप सर्वसाधारण में प्रचलित भी रहा हो, किंतु इस संबंध में अभी निश्चित रूप में नहीं कहा जा सकता।

सूफी प्रेमाख्यानों के कथानकों पर विचार करते समय हमें शेख मंझन की रचना 'मधुमालती' का भी महत्व कुछ कम नहीं जान पड़ता। इसके नायक एवं नायिका के नाम भी ऐसे हैं जिनके, अथवा जिनसे मिलते-जुलते नामों के, आधार पर लिखी गई अनेक प्रेमगाथाएँ उपलब्ध

---

१. वही, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, संवत २०११, पृष्ठ ५०-७।

२. दे० 'माडर्न रिव्यू' (नवम्बर, १९५०, पृष्ठ ३६१-८), 'हिन्दी अनुशीलन' (वर्ष ६ अंक ३, पृष्ठ २६-३१), 'साहित्य सन्देश' (भाग १३ अंक ६, पृष्ठ २४९-५०) तथा इन्द्रचन्द्र नारंग की पुस्तक 'पद्मावत का ऐतिहासिक आधार' (इलाहाबाद, १९५६) आदि।

हैं। जायसी ने अपनी रचना 'पद्मावत' के अन्तर्गत एक स्थल पर[1] कुछ प्रेम-कहानियों की ओर संकेत किया है जिससे अनुमान किया जा सकता है कि वे उसके पहले से ही चली आती होंगी और वहाँ पर 'मधुमालती' शब्द का भी स्पष्ट प्रयोग मिलता है, यद्यपि इतने मात्र से ही उसकी कहानी का भी पता नहीं लगाया जा सकता। मंझन की रचना के कथानक को लेकर पीछे फारसी में 'किस्सः कुँवर मनोहरमालती' तथा 'मेह्र व माह' एवं 'हुस्न व इश्क' का निर्मित होना बतलाया जाता है ।[2] परंतु, संभवतः इसके पहले की समझी जाने वाली रचना, चतुर्भुजदास की 'मधुमालती' की कथा की कथावस्तु इससे नितांत भिन्न है। इस दूसरे कथानक पर आश्रित प्रेमकथा संबंधी कुछ प्रेमाख्यानों का राजस्थानी और गुजराती के माध्यम से भी निर्मित होना बतलाया जाता है ।[3] परंतु मंझन की मधुमालती वाले कथानक का साम्य जान कवि की रचना 'मधुकर मालती' वा 'बुद्धिसागर' की कहानी के साथ भी सिद्ध नहीं हो पाता। 'मधुमालती' की पूर्ण रचना अभी तक प्रकाश में नहीं आ सकी है और न इस विषय में कोई तुलनात्मक अध्ययन ही हो पाया है। ऐसी दशा में इसके कथानक को भी यदि बहुत कुछ कल्पना-प्रसूत अथवा किसी लोकगाथा पर ही न्यूनाधिक आश्रित मान लें तो कदाचित सत्य से दूर जाना नहीं कहा जा सकता। इसके सिवाय, इसी प्रकार का अनुमान हम शेख उसमान की 'चित्रावली', शेख नवी के 'ज्ञानदीपक', जान कवि की ऐसी रचनाओं, नूर मुहम्मद की 'इन्द्रावती', कासिम शाह के 'हंस जवाहर', ख्वाजा अहमद की 'नूरजहाँ' तथा शेख रहीम की रचना 'भाषा प्रेमरस' के कथानकों के विषय में भी कह सकते हैं। शेख वसार की 'यूसुफ जुलेखा' एवं नसीर की रचना 'प्रेमदर्पण' का आधार एक पुरानी प्रेम-कहानी है, जिसे फारसी के सूफी कवियों ने भी अपनी रचनाओं के लिए बहुत पहले से ही चुन रखा था और नूर मुहम्मद की 'अनुराग बाँसुरी' में तो स्पष्ट ही कोरी कल्पना से काम लिया गया है। इसके विरुद्ध असूफी प्रेमाख्यानों के कथानक बहुधा ऐसे ही जान पड़ते हैं जो या तो संस्कृत के पौराणिक उपाख्यान अथवा कथा-साहित्य से लिए गए हैं वा अपभ्रंश के जैन साहित्य से किसी न किसी प्रकार आ गए हैं। इनमें विशुद्ध कल्पना-प्रसूत अथवा लोकगाथात्मक कहानियों पर आश्रित रचनाएँ अपेक्षाकृत कम दीख पड़ती हैं और सामी कथाओं वाली प्रेमगाथाओं का भी यहाँ प्रायः अभाव है।

प्रेमाख्यानों का अध्ययन करते समय हमें उनमें न केवल पूर्व प्रचलित विविध कथा-रूढ़ियों वा अभिप्रायों के ही उदाहरण मिलते हैं, अपितु कभी-कभी हमें यह भी प्रतीत होता है कि ऐसे साहित्य के अंतर्गत कई कथानक-चक्र भी चला करते हैं जिनका प्रचार प्रायः किसी एक ही भाषा के वाङ्मय तक सीमित भी नहीं जान पड़ता। सूफी प्रेमाख्यानों की उपलब्ध प्रथम चार प्रसिद्ध रचनाओं की चर्चा करते समय हम देख चुके हैं कि उनके मूल स्रोत क्या रहे होंगे तथा इसी प्रसंग में हमें इस बात का भी कुछ न कुछ संकेत मिल गया है कि किस प्रकार संभवतः किसी एक ही सूत्र को पकड़ कर विभिन्न कवियों ने अपनी-अपनी पृथक रचनाएँ की होंगी। लोरिक एवं चंदा की प्रेम-कहानी अधिकतर लोकगाथाओं के ही रूपों में प्रचलित रह गई। कम से कम उसके इस अंश का

---

१. दे० 'पद्मावत' (डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का संस्करण, प्रकरण २३३, पृष्ठ २२३)।
२. दे० 'उर्दू' (हैदराबाद), जनवरी, १९३४ ई०, पृष्ठ १३।
३. दे० 'भारती' (ग्वालियर), जून १९५६, पृष्ठ २८७–८।

अधिक प्रचार नहीं हो पाया। जहाँ तक लोरिक एवं मैना वा मयनावती के प्रेमाख्यान का संबंध है उसके विभिन्न रूप कतिपय साहित्यिक रचनाओं में भी दीख पड़े। इसका कारण कदाचित यह रहा हो कि इस कथा के नायक एवं नायिका ग्वाल अथवा धोबी होने के कारण निम्न श्रेणी के व्यक्ति थे और उनकी संस्कृति भी बहुत-कुछ ग्रामीण थी। फिर भी जान पड़ता है कि तद्विषयक एकाध प्रेमाख्यान का बंगाल तक प्रचार हुआ और वहाँ पर उसकी छाया पर एक से अधिक रचनाएँ निर्मित हुईं। कहीं-कहीं तो ऐसा करते समय लोरिक को किसी राजकुमार वा धनी व्यक्ति जैसा व्यक्तित्व प्रदान कर दिया गया और चंदा 'शाहजादी' तक में परिणत कर दी गई। परंतु शेख कुतबन की 'मृगावती', जायसी के 'पद्मावत' एवं शेख मंझन की 'मधुमालती' के प्रमुख पात्र प्रत्यक्षत: राजन्यवर्ग के थे और तदनुसार उनके उच्च सांस्कृतिक स्तर का प्रेम-व्यापार उनकी साहित्यिक रचनाओं में चित्रित किया जाकर शिक्षित लोगों के लिए भी आकर्षक बन सकता था। अतएव, हम देखते हैं कि इन प्रेमाख्यानों के कथानकों को अपेक्षाकृत कहीं अधिक लोकप्रियता मिल सकी और इनके आधार पर बने कथानक-चक्रों ने, पूर्णत: वा अंशत: अनेक रूप धारण कर विविध भाषाओं का भी साहित्य-भंडार भरने में सहयोग प्रदान किया। उदाहरण के लिए जायसी के 'पद्मावत' का वह अंश, जिसमें गोरा-बादल की युद्ध-योजना द्वारा पद्मावती के पति रतनसेन को बंधन-मुक्त करने की कथा आती है, एक पृथक साहित्य का ही उपकरण बन गया। इसमें प्रसंगवश कतिपय ऐसी रचनाएँ भी सम्मिलित हो गईं जिनके कवियों ने प्रेम-भाव को गौण स्थान देकर उक्त दोनों वीरों के युद्ध-कौशल को ही विशेष महत्व दे दिया। इसी प्रकार मंझन की 'मधुमालती' के कथानक का जहाँ नुसरती के 'गुलशने इश्क' की कथा के साथ बहुत-कुछ साम्य है वहाँ यह चतुर्भुजदास की रचना की प्रेम-कहानी से भिन्न है और इस तीसरी रचना की कथा जान कवि की 'मनोहर मधुमालती' वा 'बुद्धिसागर' के कथानक से मिलता-जुलता जान पड़ता है। 'मधुमालती' और 'मधुकरमालती' की कथा वाले फारसी, उर्दू व बंगला, गुजराती एवं नेपाली भाषा तक में प्रेमाख्यान वर्तमान हैं जिनके कथानकों का तुलनात्मक अध्ययन करके देखा जा सकता है कि इसके कितने भेद-प्रभेद हो गए होंगे तथा ऐसी कितनी रचनाओं में केवल नाम-साम्य ही आ गया होगा।

सूफी प्रेमाख्यानों की मूल प्रेरणा

सूफी कवियों की दृढ़ धारणा है कि परमात्मा हमारा प्रियतम है जिससे हमारा वियोग हो चुका है तथा जिसके साथ पुनर्मिलन की स्थिति को किसी प्रकार उपलब्ध करना ही हमारे जीवन का चरम उद्देश्य हो सकता है। वे इसीलिए सदा विरहाकुल बने रहकर प्रेम-साधना में निरत होना तथा नित्यश: यही चेष्टा करना कि हम क्रमश: उसके मार्ग में अग्रसर हों, अपना परम कर्तव्य समझते हैं। परंतु उनका यह ईश्वरीय प्रेम वा 'इश्क हकीकी' सच्चे सांसारिक प्रेम वा 'इश्क मजाजी' से बहुत विलक्षण नहीं है, प्रत्युत, अंत में उसका एक महत्वपूर्ण साधन भी बन सकता है। कहते हैं कि सूफी अपने उस प्रियतम को एक परम शुभ्र ज्योतिष्पुंज के रूप में वर्तमान समझते हैं और वे यह भी मानते हैं कि वह अखिल सौंदर्य का निधान भी है इसीलिए उनका विश्वास है कि इस जगत में जहाँ कहीं भी हमें इस उत्कृष्ट गुण का आभास मिलता हो वहाँ सर्वत्र हमारे प्रियतम का ही

प्रतिनिधित्व उदाहृत हो सकता है। उसके बिना किसी सुन्दर वा मनोहर वस्तु की कभी कल्पना तक नहीं की जा सकती और इसीलिए हमारा उसकी ओर आपसे आप आकृष्ट हो जाना भी परम स्वाभाविक है। एक सूफी कवि के ही शब्दों में किसी बुलबुल का गुलाब का सौंदर्य देखकर चहक उठना, किसी पतिंगे का दीपक के प्रकाश की ओर स्वभावतः आकृष्ट होकर उसकी ओर लपक पड़ना तथा कमलों का सूर्य के उगते ही उसके प्रभाव में आकर खिल जाना, ये सभी उस नियम को ही उदाहृत करते हैं। उसने इसी आधार पर यह भी बतलाया है कि लैला प्रेमपात्री की ओर मजनूँ का हृदय किस प्रकार आपसे आप खिंच गया था, किस प्रकार फरहाद ने अपनी प्रेमपात्री शीरीं के लिए इसी धुन में अपने प्राण दे दिए थे। यह बात केवल एक प्रेमपात्री के प्रति किसी प्रेमी में ही देखने को नहीं मिलती, प्रत्युत जुलेखा जैसी प्रेमिका भी इसी नियमानुसार यूसुफ के लिए बेचैन हो पड़ती है। वास्तव में जहाँ कहीं भी सौंदर्य की ओर आकर्षण हो एवं प्रेमभाव की जागृति हो वहाँ उसका मूल कारण उस पात्र में ईश्वरीय ज्योति का निहित होना मात्र ही होगा। सूफियों ने इस नियम की व्यापकता का आशय वा परिणाम इस प्रकार भी निर्धारित किया है कि इस सौंदर्य-प्रेम द्वारा ही हम एक न एक दिन उस प्रियतम को उपलब्ध भी कर सकते हैं।

परंतु तथ्य यह है कि ऐसी दृढ़ धारणा के होते हुए भी, हमें अपनी प्रेम-साधना में सदा सफलता नहीं मिल पाती जिसका कारण भी सूफियों ने बतला दिया है। सूफी दार्शनिकों के अनुसार ईश्वरीय ज्योति के सर्वत्र वर्तमान रहते हुए भी, उस पर एक विचित्र 'हिजाब' (पर्दा) पड़ा रहता है जिसका दूर होना आवश्यक है। सौंदर्य के प्रति प्रेमानुभूति में कोरा मानसिक आकर्षण ही नहीं रहा करता, प्रत्युत उस दशा में सदा हमारा हृदय भी प्रयत्नशील हो पड़ता है और, यदि वह सर्वथा स्वच्छ और विशुद्ध रहा तो उसमें एक ऐसी अनुपम शक्ति भी आ जाती है जिससे अपने चरम उद्देश्य का पाना सुकर हो जाता है। जब तक अपने हृदयाकाश में कलुषता के बादल घिरे रहते हैं अथवा जब तक हमारे हृदय-दर्पण पर किसी मलिनता को, 'मुर्चे' की भाँति, स्थान मिला रहता है, उक्त प्रकार का पर्दा काम करता है और हम लाख प्रकार के बाहरी प्रयत्न करने पर भी कभी कृतकार्य नहीं हो पाते। इस प्रकार ये विकार ही हमारी बाधाएँ हैं जिन्हें क्रमशः टालते हुए अपने प्रेम-मार्ग में अग्रसर होना पड़ता है और जैसे-जैसे ये क्षीण पड़ती जाती हैं हमारे हृदय को नवीन जीवन और नवशक्ति का प्रश्रय मिलता है। सूफियों के अनुसार इसमें संदेह नहीं कि जब तक परमात्मा स्वयं हमारे प्रति अनुग्रह का भाव प्रदर्शित नहीं करता, हम सफल नहीं हो पाते, किंतु यह भी तभी संभव है जब हमारी प्रेम-निष्ठा उसके प्रति एकांत भाव की हो तथा जब हमारे भीतर ऐसा दृढ़ संकल्प भी हो जाय कि इसके लिए हम अपना सर्वस्व निछावर कर देंगे। प्रेमभाव की प्रगाढ़ता, सतत प्रयास तथा सिद्धि-प्राप्ति के लिए स्वीकृत कठोर व्रत एवं दृढ़ निश्चय एक साथ मिलकर हमें उक्त पर्दे के व्यवधान से मुक्त करा देते हैं और हम अपने प्रियतम की उपलब्धि का साक्षात अनुभव करके कृतकृत्य हो जाते हैं। इस प्रकार सूफियों की प्रेम-साधना उस यात्रा के समान समझी जा सकती है जिसके मार्ग में अनेक विघ्न-बाधाएँ आ जाती हैं और उन्हें दृढ़तापूर्वक झेले बिना निर्दिष्ट स्थान तक पहुँच पाना संभव नहीं।

सूफी कवियों ने अपने प्रेमाख्यानों की रचना करते समय इस बात को सदा ध्यान में रखा है। उन्होंने अपने चुने हुए कथानकों की घटनाओं का विकास आरंभ करते समय सर्व-

प्रथम प्रेमभाव की उत्पत्ति का आधार सौंदर्य को ही माना है और दिखलाया है कि किस प्रकार वह प्रत्यक्ष दर्शन, चित्र-दर्शन, स्वप्न-दर्शन, गुण-श्रवण अथवा प्रेम-पात्र संबंधी किसी वस्तु के दृष्टि में आने मात्र के माध्यम से भी अपना काम करने लग जाता है। उसका प्रभाव फिर क्रमशः एक प्रेमी के हृदय पर इतना गहरा होता चला जाता है कि वह अपने जीवन की सारी अन्य बातों के प्रति उपेक्षा प्रदर्शित करते हुए केवल अभीष्ट व्यक्ति को अपना बनाकर संतोष की साँस लेने के सिवाय और कोई बात पसंद नहीं करता तथा तब तक वह अत्यंत व्याकुल और बेचैन भी रहा करता है। इसलिए जब उसे अपने घर पर रहते किसी सफलता की आशा नहीं रह जाती, वह किसी परामर्शदाता की सहायता से उसे छोड़ बाहर निकल पड़ता है। वह या तो जोगी बन जाता है, कठिन मार्गों से होकर भूलता-भटकता फिरता है, बीहड़ वनों, समुद्री लहरों, मरुस्थलों की यात्रा करता है वा गली-कूचों की खाक छानता फिरता है अथवा दानवों या परियों के क्षेत्रों में भी पहुँच कर अपने प्राणों को संकट में डालता रहता है। उसे अनेक प्रकार से युद्ध करने पड़ जाते हैं, कभी बंदी-जीवन व्यतीत करना पड़ता है, कभी दासता स्वीकार करनी पड़ जाती है और कभी-कभी लंबी अवधियों तक व्रतोपवास और मंत्र-साधना तक का उपचार करना पड़ता है और देवी-देवताओं की सहायता से अथवा किसी महापुरुष के सदुपदेश के द्वारा ही वह अंत में, फिर सफल होता है। सूफियों के अनुसार प्रेम-साधना में निरत 'सालिक' वा साधक की दशा बार बार तपाए जाने वाले स्वर्ण की जैसी हुआ करती है और वह अंत तक सँभलता व निखरता ही जाता है। संकटों से होकर निकलना और यंत्रणाओं का झेलना उसकी अग्नि-परीक्षा के साधन हैं और उनकी अनुभूति के बिना अंतिम सिद्धि की उपलब्धि असंभव है।

सूफी प्रेमाख्यानों के रचयिताओं ने इन जैसी बातों का वर्णन करते समय इसे सदा अपने ध्यान में रखा है कि कहानी की प्रतीकात्मकता बराबर बनी रहे। उसके प्रेमी नायक के हृदय में प्रेमासक्ति जाग्रत कर उन्होंने उसमें यथाशीघ्र विरह की आग भी सुलगा दी है जिससे यह प्रकट हो जाय कि उसकी प्रेमपात्री उसके लिए अपरिचित नहीं है। जिस प्रकार अपने प्रियतम परमात्मा से वियुक्त होने की स्थिति का अनुभव कर एक सूफी बेचैन हो सकता है, ठीक उसी प्रकार एक प्रेमी अपनी प्रेमपात्री नायिका के प्रति आकृष्ट होते ही उसकी जुदाई के कारण पूरा विरही भी बन जाता है और उसे ऐसा लगता है जैसे अपनी सदा की संगिनी ही उससे दूर पड़ गई हो। इसी प्रकार जैसे फिर, किसी सूफी सालिक के अपने प्रियतम परमात्मा के लिए अधीर हो जाने पर उसे किसी पीर द्वारा मार्ग-प्रदर्शन मिला करता है और उसे कुछ न कुछ सांत्वना भी मिल जाती है, ठीक उसी प्रकार इस प्रेमी को भी किसी सूए वा अन्य ऐसे माध्यम से सुझाव मिलने लग जाते हैं और वह कुछ संभल-सा जाता है। परंतु एक सूफी की प्रेम-साधना का मार्ग कभी सरल नहीं होता और उसे उस पर चलते समय विपथ करने वाले अनेक अंतराय आ उपस्थित हो जाते हैं जिन्हें वह किसी प्रकार सावधान बन कर ही, दूर कर पाता है। वैसे ही यहाँ पर प्रेमी नायक को भी विभिन्न प्रकार से जूझने एवं बाल-बाल बचते जाने की स्थिति में दिखाया जाता है। जैसे-जैसे कठिनाइयों से मुक्ति मिलती जाती है, इन दोनों प्रकार के साधनों का उत्साह बढ़ता जाता है और इनकी विरहाग्नि भी अधिकाधिक प्रज्वलित होती चली जाती है और इसके बीच में कभी-कभी इनकी दशा उन बावलों की सी भी हो जाती है जिन्हें अपने जीवन संबंधी किसी भी अन्य व्यापार से कोई लगाव नहीं रह

जाता और जो अंत तक अपनी धुन में एकरसता ही बनाए रह जाते हैं तथा जो, इसी कारण, दूसरों की दृष्टि में हास्यास्पद-से भी लगा करते हैं। सूफियों के अनुसार प्रेम द्वारा उपलब्ध परमात्मानुभूति को, उसकी प्रथम दशा में भी, 'मारिफत' का नाम दिया गया है जो इन्द्रियज वा विचार-बुद्धि-प्रसूत ज्ञान से कहीं भिन्न ठहरता है। इसे हम 'इल्म' कह सकते हैं, क्योंकि इसका मूल क्षेत्र हृदय है और इसका कोरी जानकारी से नहीं, प्रत्युत गहरी अनुभूति के साथ अधिक लगाव है। इसकी दशा में जिस समय भावावेग की तीव्रता आ जाती है तो यह 'इश्क' कहलाने लगता है और उसमें भी अधिक उन्माद के आ जाने पर इसे 'वजद' वा समाधि भी कहा जाता है। सूफी कवियों ने अपनी रचनाओं के प्रेमी नायकों में क्रमशः इन सभी दशाओं को उदाहृत करने की चेष्ठा की है और तब कहीं उन्हें 'वस्ल' (संयोग) की अंतिम स्थिति तक पहुँचकर अपने अभीष्ट की प्राप्ति अथवा पूर्ण सफलता का अवसर प्रदान किया है।

सूफी प्रेमाख्यानों का क्रमिक विकास

उपलब्ध सूफी प्रेमाख्यानों में से, कालानुसार, सर्वप्रथम रचना 'चंदायन' ही समझी जाती है। इसकी कोई पूरी प्रति अभी तक प्रकाश में नहीं आ सकी है, किंतु जितना अंश मिल सका है उसके आधार पर इसका रचनाकाल सन १३७९ वा १३७७ ई० (सं० १४३६ वा १४३४ वि०) जान पड़ता है। तब से अर्थात ईस्वी सन की १४वीं शताब्दी से लेकर आज तक लगभग छः सौ वर्षों का समय होता है और, इस लंबी अवधि के भीतर, ऐसी अनेक रचनाएँ निर्मित हुई होंगी जिन्हें हम भारतीय साहित्यिक परम्परा के आदर्शों पर निर्मित सूफी प्रेमाख्यान का नाम दे सकते हैं। जो अब तक मिल सकी हैं उनकी सूची के देखने से विदित होता है कि इस दीर्घ काल के प्रथम सवा सौ वर्षों में केवल दो ही रचनाएँ प्रस्तुत की जा सकीं और इन दोनों अर्थात 'चंदायन' (मुल्ला दाऊद) एवं 'मृगावती' (शेख कुतबन) को हम इस विचार से ऐसे साहित्य की प्रारम्भिक रचनाएँ भी कह सकते हैं। इनमें से प्रथम का कथानक एक प्रचलित लोकगाथा है जिसे उसके रचयिता ने मलिक नाथन से सुनकर यह रूप दिया है। इसके पात्र एवं प्रमुख घटनाओं का संबंध प्रधानतः निम्नवर्गीय समाज के साथ है जिसमें शुभाशुभ शकुन-विचार, मंत्र-प्रयोग आदि की सहायता ली जाती है और इसकी प्रेम-कहानी एक ऐसे युग की ओर भी संकेत करती है जब कि अपनी प्रेमिका को युद्ध करते हुए भगा ले जाना स्वाभाविक था। यहाँ पर वर्ण्य विषय एवं घटना-प्रवाह की ओर जितना ध्यान दिया गया है उतना रचना-शैली के सँवारने का प्रयत्न नहीं लक्षित होता। इसकी भाषा भी सीधी-सादी और तद्भव-बहुल अवधी है जिसमें मुहावरों का प्रयोग भी कम नहीं है। इसके सिवाय 'मनेर शरीफ' वाली उपलब्ध खंडित प्रति में, उसके प्रायः प्रत्येक पृष्ठ पर, उसमें वर्णित कथा की ओर फारसी शीर्षकों द्वारा निर्देश भी कर दिया गया है जो, यदि इसकी मूल प्रति के भी अनुसार हो तो, एक विशिष्ट रचना-पद्धति की ओर संकेत भी करता है। शेख कुतबन की 'मृगावती', जिसकी भी अभी तक कोई पूरी प्रति देखने में नहीं आई, एक ऐसी प्रेम-कहानी को लेकर चलती है जिसका नायक राजकुमार है और जिसकी नायिका भी उसी कोटि की है, किंतु जिसमें इस राजकुमारी को उड़ने की विद्या में निपुण भी बतलाया गया है। वह न केवल अपने प्रेमी को धोखा दे

सकती है, अपितु अपने पिता का देहांत हो जाने पर, उसकी जगह राज्य का भार भी सँभालने लग जाती ह। इस प्रकार इस कथा में भी विशेष आग्रह घटनाओं को महत्व देकर उनके प्रति कुतूहल जाग्रत करने का ही प्रतीत होता है। इसके रचयिता ने हमें यहाँ पर यह भी सूचित कर दिया है कि वह किसी रहस्यमयी बात को खोलकर कहने जा रहा है और इसके लिए उसने गाहा, दोहा, अरेल, अरल, सोरठा, चौपाई[१] आदि का प्रयोग करके तथा बहुत-कुछ चुने हुए 'देसी' शब्दों के भी माध्यम से उसे 'सरल' बना दिया है। अतएव, शेख कुतबन का कुछ न कुछ ध्यान अपनी इस कृति की रचना-शैली की ओर भी गया हुआ जान पड़ता है और पता चलता है कि उसने 'येक येक बोल मोती जस पुरवा, इकठा भव चित लाय'।[२] फिर भी ऐसा नहीं कि मुल्ला दाऊद ने भी इस प्रकार कथन न किया हो और वह अपनी प्रशंसा करने से विरत रह गया हो। वह तो विनीत होकर भी कहता है—

अउर गीत मैं करूं वीनती, सिर नामे कर जोर।
एक एक बोल मोत जस पुरवा, कहूँ जो हीरा तोर॥[२]

और इस पद्य का तीसरा चरण ठीक शेख कुतबन का आदर्श भी प्रतीत होता है।

'मृगावती' के रचना-काल (सन १५०३ ई०=सं० १५६०) से केवल सत्रह वर्ष ही पीछे लिखी गई, हमें फिर से एक ऐसी रचना मिलती है जो इन दोनों से कहीं उच्चतर कोटि की है तथा जिसमें न केवल प्रबंध-कल्पना की दृष्टि से, अपितु काव्य-सौन्दर्य का समावेश करने के विचार से भी, पूरा प्रयत्न किया गया जान पड़ता है। जायसी का 'पद्मावत' काव्य-ग्रंथ एक प्रौढ़ रचना है जिसमें 'चंदायन' से कहीं अधिक 'मृगावती' के आदर्श का पालन किया गया है। इसका नायक किसी काल्पनिक नगर का राजकुमार ही न होकर प्रसिद्ध 'चित्तउरगढ़' का नरेश हो गया है और इसकी नायिका भी कोई साधारण-सी सुन्दरी न रहकर स्वयं सिंहलद्वीप जैसे एक अलौकिक प्रदेश की 'पद्मिनी' स्त्री भी ठहरती है। इसका प्रेमी नायक 'चंदायन' के लोरिक-सा किसी जोगी से सहायता पाने की जगह 'मृगावती' के राजकुमार की भाँति स्वयं जोगी भी बनकर निकलता है। 'चंदायन' का 'तोता' भी यहाँ हीरामन 'सुआ' है। इसके सिवाय कुतबन एवं जायसी ने जो 'बारहमासे' के वर्णन किए हैं उनकी तुलना करने पर भी पता चलता है कि 'पद्मावत' का रचयिता 'मृगावती' द्वारा सूचित होने वाले प्रायः प्रत्येक आदर्श से न्यूनाधिक परिचित रहा होगा और उसने वैसे स्थलों में अभिवृद्धि लाने का भी प्रयत्न सजगतापूर्वक किया होगा। 'पद्मावत' के अन्य वर्णन भी 'मृगावती' की अपेक्षा कहीं अधिक विशद, विस्तृत और सजीव हैं तथा इसमें जायसी का पूर्ण पांडित्य भी दीख पड़ता है। इसके सिवाय जायसी की रचना में जहाँ किसी धार्मिक भाव से की गई प्रतीक-योजना का भी परिचय मिलता है वहाँ 'मृगावती' की खंडित प्रति में यह बात उतनी स्पष्ट नहीं हो पाती और उसमें अधिकतर 'चंदायन' का कहानीपन ही विवृत होकर रह जाता है।

परन्तु 'पद्मावत' के रचना-काल (सन १५२० ई०=सं० १५७७) के पीछे सन १५४५ ई० (सं० १६०२ वि०) में निर्मित मंझन की 'मधुमालती' में हम फिर उक्त दोनों प्रकार की बातों

---

१. सूफी काव्य संग्रह, पृ० ९०।

२. रेयर फ्रैगमेण्ट्स आव चन्दायन ऐण्ड मृगावती, पृष्ठ १२।

का सामंजस्य देखते हैं। इस रचना का नायक एक राजकुमार है और इसकी नायिका भी राजकुमारी ही जान पड़ती है, किंतु इन दोनों का प्रेम-संबंध परियों के कारण आरंभ होता है। वे मनोहर को उसके सोते समय मधुमालती की चित्रसारी में स्वयं रातोरात जाकर पहुँचा देती हैं और उन्हें प्रेमासक्त पाकर फिर वे ही राजकुमार को लौटा भी लाती हैं। इस प्रेम-कहानी में फिर एक प्रसंग ऐसा भी आता है जहाँ मधुमालती की माँ उसे शाप देकर एक चिड़िया के रूप में परिवर्तित कर देती है। इसी प्रकार यहाँ मनोहर पहले रतनसेन की भाँति राजपाट छोड़कर 'जोगी' बन जाता है और समुद्री लहरों के प्रभाव में आकर दूसरों से बिछुड़ भी जाता है, किंतु दूसरी ओर वह फिर 'मृगावती' के नायक की भाँति, किसी पहाड़ी पर न सही एक जंगल में ही, एक राक्षस के फंदे में पड़ी कन्या को मुक्त भी करता है। इस रचना में भी किसी तोते की सहायता अपेक्षित नहीं जान पड़ती, किंतु बारहमासे के माध्यम से विरह-वर्णन की परम्परा को निभाया गया है। मंझन कवि की रचना में एक यह विशेषता भी लक्षित होती है कि उसने यहाँ केवल शृंगार एवं अद्‌भुत रसों के ही संयोग को अधिक प्रश्रय दिया है और वीर, वीभत्स एवं करुण रस तक के प्रसंगों की ओर से अपनी उदासीनता प्रकट करते हुए, इसे जानबूझ कर दुःखान्त बनने से भी बचा लिया है। इसके सिवाय 'मधुमालती' की प्रेम-कथा में हम दो विभिन्न प्रेमियों और ऐसी ही दो प्रेमिकाओं की भी प्रेम-कहानी को एक में जोड़ी गई-सी देखते हैं जिस कारण यहाँ पर एक छोटी-सी अंतर्कथा का भी समावेश हो जाता है। परन्तु जहाँ तक अलौकिक बातों का वर्णन, कुतूहल जाग्रत करने की चेष्टा तथा, इसी प्रकार, रचना-शैली से अधिक घटना-प्रवाह की ओर ध्यान देने का प्रश्न है, 'मधुमालती' के रचयिता ने जायसी की अपेक्षा कुतबन के ही आदर्श का पालन विशेष रुचि के साथ किया है।

उसमान की 'चित्रावली' में, जिसकी रचना 'मधुमालती' के अनन्तर ६८ वर्ष पीछे सन १६-१३ ई० (सं० १६७० वि०) में हुई, हम उक्त घटना-विस्तार-पद्धति का और भी विकास होता हुआ पाते हैं। इस कवि ने कथा का आरंभ शीघ्र ही न करके पहिले उसके नायक के जन्म लेने, बल्कि इसके लिए उसके पिता के शिव-पूजनादि का अनुष्ठान करने तक की चर्चा छेड़ दी है। फिर यहाँ उसके प्रेम-संबंध का किसी 'देव' तथा उसके साथी की सहायता से होना भी लगभग उसी प्रकार दिखलाया है जिस प्रकार 'मधुमालती' की 'अप्सराओं' द्वारा। किंतु 'मधुमालती' का कुँवर जहाँ चित्रसारी में अपनी प्रेमपात्री का प्रत्यक्ष दर्शन करता है वहाँ 'चित्रावली' का नायक ठीक वैसे ही स्थान में उसके केवल चित्र को ही देखकर प्रेमासक्त हो जाता है तथा वहाँ पर स्वयं एक अपना चित्र भी बना देता है। इसी प्रकार उसमान की इस रचना के अंतर्गत दोनों प्रेमियों के बीच एक दूत भी काम करता है जिसका नाम 'परेवा' दिया गया है और जो, इसी कारण, जायसी के 'सुआ'-सा लगता है। जायसी के अनुकरण का अनुमान हम इस रचना के उस प्रसंग के आधार पर भी कर सकते हैं जिसमें प्रेमी अपनी प्रेमिका के लिए एक शिव-मन्दिर में ठहरता है, परन्तु अपनी प्रेम-कहानी की घटनाओं में विस्तार लाने का आग्रह इस कवि में इतना प्रबल है कि प्रेमी नायक को वहाँ से हटाकर एक बार फिर जंगल में पहुँचा देता है, जहाँ वह अंधा कर दिया जाता है, उसे एक अजगर निगल लेता है तथा जहाँ पर अंजन द्वारा ज्योति के पुनः पा लेने पर भी उसे किसी हाथी की चपेट में भी पड़ना पड़ता है। इसके सिवाय 'चित्रावली' के नायक को एक अन्य प्रेमिका के फेर में पड़कर उससे विवाह तक कर लेना आवश्यक होता है और फिर यहाँ भी 'परेवा' के ही समान

कोई 'हंस मिश्र' नामक दूत संवाद लाने का काम करता हुआ दीख पड़ता है। उसमान के इस प्रेमाख्यान की नायिका चित्रावली की उसके पितृगृह से की गई विदाई तथा वहाँ से लौटते समय की विकट यात्रा को पूर्ण महत्व दिया गया है और अंत में, मंझन की भाँति कथा को सुखांत भी बना दिया है। 'चित्रावली' एवं 'मधुमालती' के नायकों में एक महान अंतर यह है कि प्रथम का 'सुजान' एक वीर पुरुष भी है तथा वह अपने पराक्रम से उन्मत्त हाथी को पछाड़ देता है।

फलतः 'चित्रावली' के रचना-काल तक निर्मित क्रमशः 'चंदायन', 'मृगावती', 'पद्मावत' एवं 'मधुमालती' के साथ उसकी तुलना करते समय, यदि केवल कथानकों के विकास और घटनाओं के विस्तार पर ही ध्यान दिया जाय तो, एक बहुत बड़ी अभिवृद्धि हो गई प्रतीत होती है। एक ओर जहाँ इन रचनाओं के नायक-नायिकाओं के सामाजिक स्तर, उनकी सांस्कृतिक तथा उनके साधारण व्यापारों में परिवर्तन होता गया है, वहाँ दूसरी ओर न केवल इनके पात्रों की संख्या बढ़ती गई है अपितु, इनकी घटनाओं की प्रगति एवं विस्तार में नवीनता भी आ गई है और इनमें अंतर्कथाएँ तक जुड़ने लग गई हैं। 'चंदायन', जहाँ तक उसकी उपलब्ध खंडित प्रति के आधार पर कहा जा सकता है, एक सीधी-सादी और घटना-प्रधान रचना है। उसमें वर्ण्य विषय को भरसक स्वाभाविक ढंग से कह देने की प्रवृत्ति देखी जाती है और उसमें जो भी पौराणिकता आ गई है वह उसकी रचना-शैली की न होकर विशेषतः उसके कथानक से ही संबंधित है, परन्तु 'मृगावती" के रचना-काल तक आते-आते हमें ऐसा दीखने लगता है कि मूल वर्ण्य वस्तु के साथ-साथ कतिपय बाहरी बातें भी दी जाने लगी हैं। उनमें ऐसे पात्र लाए जाते हैं जिनके द्वारा कुछ न कुछ अलौकिकता की सृष्टि हो तथा ऐसे प्रसंगों की भी योजना कर दी जाती है जिनके आधार पर सारा वातावरण ही अद्भुत और कुतूहलजनक प्रतीत होने लग जाय। इसमें संदेह नहीं कि इसका बीज स्वयं 'चंदायन' में ही वर्तमान है तथा जिन रचनाओं के आदर्श पर इसका निर्माण हुआ है उनके भीतर भी इसकी कमी न होगी। परन्तु यदि केवल सूफी प्रेमाख्यानों की इस रचना-पद्धति पर ही विचार किया जाय तो यही कहना उचित होगा कि इसकी प्रारंभिक सादगी में पीछे क्रमशः वैविध्य और जटिलता का अधिकाधिक समावेश होता चला गया है तथा इस परिवर्तन के उदाहरण हमें विषय-विस्तार से लेकर काल्पनिक चित्रणों तक में बराबर मिलते जाते हैं।

परन्तु 'चित्रावली' के अनन्तर निर्मित अथवा उसके कतिपय समकालीन भी उपलब्ध प्रेमाख्यानों के देखने से पता चलता है कि उस समय तक ऐसी रचनाओं के अंतर्गत कुछ न कुछ नवीन बातों का भी आने लगना आरंभ हो गया था। उस काल तक के प्रायः सभी ऐसे सूफी कवि उत्तरी भारत और प्रधानतः उत्तरप्रदेश के ही निवासी हुआ करते थे और वे विशेष कर यहाँ की ही परम्पराओं द्वारा न्यूनाधिक प्रभावित भी होते थे। उन दिनों तक इधर अभी ऐसी कोई नवीन साहित्यिक रचना-पद्धति भी नहीं आरंभ हो पाई थी जिससे वे किसी भिन्न प्रकार की प्रेरणा ग्रहण करते तथा जिसके किसी आदर्श को अपनाते, परन्तु, जैसा इसके पहले भी संकेत किया जा चुका है, ईस्वी सन की सत्रहवीं शताब्दी का आरंभ हो जाने तक दक्षिण की ओर, और विशेषतः बीजापुर के आदिलशाही एवं गोलकुंडा के कुतुबशाही शासकों के संरक्षण वा प्रोत्साहन में, एक नए ढंग के सूफी साहित्य की रचना-पद्धति का सूत्रपात हो गया। वहाँ के प्रचार-क्षेत्रों में काम करने वाले सूफी कवियों और लेखकों ने अपनी सांप्रदायिक बातों का उपदेश, न केवल हिंदवी वा दक्खिनी हिंदी

के साधारण फुटकर पद्यों वा गद्यमयी रचनाओं द्वारा देना आरंभ कर दिया, अपितु उन्होंने उस काल तक प्रचलित फारसी मसनवी पद्धति के भी आदर्श को अपना लिया। इन रचनाओं के अंतर्गत वे या तो विशुद्ध सामी परम्परा का अनुगमन करने लगे या उन्होंने यहाँ की स्थानीय बातों को भी लेकर उन पर ऐसे रंगों का चढ़ाना आरंभ कर दिया। फलत: उनकी प्राय: सारी कृतियाँ फारसी एवं अरबी साहित्यों द्वारा किसी न किसी प्रकार प्रभावित रहने लगीं और उनके वाङमय से प्रेरणा ग्रहण कर पीछे एक ऐसी साहित्य-रचना-प्रणाली भी चल निकली जिसका अंतिम परिणाम वर्तमान उर्दू साहित्य के रूप में दीख पड़ा। जिन सूफी कवियों ने प्रेमाख्यानों की रचना करते समय इस नवीन शैली को नहीं अपनाया, उनमें से कुछ को उस समय इतना अवश्य पसंद आया कि जहाँ तक संभव हो, अपने कथानकों के क्षेत्रों, घटनाओं तथा प्रसंगों को अधिक व्यापक रूप दिया जाय। अभी तक लिखी गई कथाओं में अधिकतर नेपाल से लेकर सिंहल द्वीप तक का ही क्षेत्र सीमित जान पड़ता था जो पीछे बढ़कर चीन, बलख, फारस, मिस्र जैसे देशों तक भी विस्तृत हो गया। समुद्री यात्रा, वाणिज्य-व्यापार, दास-प्रथा आदि का अधिक समावेश होने लगा तथा सरायों के पड़ाव, खिज्र के साथ भेंट एवं परियों के बीचबिचाव जैसी बातों की भी विशेष चर्चा होने लग गई। इसके सिवाय फारसी साहित्य के आदर्श पर की गई प्रतीकात्मक योजना की पद्धति क्रमश: अधिक अपनाई जाने लगी और वैसी ही उपमित कथाएँ भी रची गईं। इन बहुत से सूफी कवियों की ओर से इस समय ऐसे भी प्रयत्न होने लगे जिनसे इस्लाम धर्म के सांप्रदायिक रूप का भी महत्व सूचित किया जा सके।

जहाँ तक अपनी रचनाओं के अंतर्गत भारत से बाहर वाले सुदूर देशों की चर्चा करने का प्रश्न है, इस बात का आरंभ सर्वप्रथम कवि उसमान ने ही कर दिया था। उसने अपनी 'चित्रावली' के कतिपय पात्रों के ऐसे नाम भी रख दिए थे जिनसे उनकी विशेषताओं का परिचय सुगमता के साथ पा लिया जा सकता था। परन्तु अन्य अनेक बातों में उसने अधिकतर अपने समय तक प्रचलित परम्परा का ही अनुसरण किया। इसके विपरीत उसके समसामयिक जान कवि ने भिन्न-भिन्न प्रकार के अनेक छोटे-बड़े प्रेमाख्यानों की रचना की और उन्होंने उनमें से किसी-किसी में उक्त नवीन बातों का भी समावेश कर दिया। उन्होंने अपनी 'रतनावली' की रचना के संबंध में बतलाया है कि वह किसी रूम निवासी 'महागुनीराय' द्वारा महमूद गजनवी के लिए कही गई अद्वितीय कथा का भारतीय रूप है और अपने 'मधुकरमालति' नामक प्रेमाख्यान में तो उसने दास-प्रथा, हारूँरशीद, तुर्किस्तान, अरमनी आदि के भी उल्लेख किए हैं। इसी प्रकार जहाँ इस कवि ने एक ओर 'नल दमयन्ती' के प्रसिद्ध भारतीय प्रेमाख्यान को अपनी एक रचना का विषय बनाया है वहाँ दूसरी ओर उसने 'ग्रंथ लैले मजनूं' और 'कथा खिजरखाँ साहिजादे की' वा 'देवलदे की चौपाई' की भी रचना कर डाली है। जान कवि फतेहपुर (जयपुर) के निवासी थे और उन्होंने कहानी-रचना में इतनी निपुणता प्राप्त कर ली थी कि उन्हें उनकी कथावस्तु के सोचने तथा फिर उन्हें लिख डालने में भी अधिक समय नहीं लगा करता था। कवि उसमान के ही एक अन्य समकालीन सूफी रचयिता शेख नबी भी थे जिनका प्रेमाख्यान 'ज्ञानदीप' नाम से प्रसिद्ध है। इस रचना के अंतर्गत सारी बातें भारतीय परम्परा के ही अनुकूल कही गई जान पड़ती हैं और इसमें प्रेमभाव नायक की अपेक्षा पहले नायिका में ही जाग्रत होना तक दर्शाया गया है। परन्तु ऐसा करते

समय भी कवि ने ज्ञान एवं योग-साधना से कहीं बढ़कर प्रेमतत्व का महत्व सिद्ध करके तथा एक सौन्दर्यमुग्धा रमणी का, 'यूसुफ-जुलेखा' वाली प्रेम-कहानी की स्त्रियों की भाँति अपनी अंगुली में चोट पहुँचाने पर भी उससे अप्रभावित रहना दिखला कर उसमें शामी अंतर्भावों को भी स्थान दे दिया है।

इन सूफी कवियों के पीछे लगभग सौ वर्षों तक की रची हुई किसी ऐसी कृति का पता नहीं चलता जो इनके मूल आदर्शों के अनुसार प्रस्तुत की गई हो, परन्तु हिंदवी अथवा दक्खिनी हिंदी साहित्य के इतिहास से पता चलता है कि यही समय उधर की प्रेमाख्यान-रचना के लिए 'स्वर्णयुग' बन गया था। इसी समय वहाँ के प्रसिद्ध कवि गवासी, वजही, तवई और हाशिमी ने सामी कथाओं को लेकर अथवा उनके आदर्शों पर अपनी प्रसिद्ध मसनवियाँ लिखीं तथा मुकीमी, नुसरती और गुलाम अली ने भी इसी कार्य को, अन्य आधारों में न्यूनाधिक परिवर्तन लाकर पूरा किया जिसका एक बहुत बड़ा प्रभाव यह पड़ा कि इनके पीछे आने वाले उत्तरी भारत के कई सूफी कवियों की रचनाएँ भी उनका अनुसरण करती हुई जान पड़ने लगीं। उदाहरण के लिए 'अनुराग-बाँसुरी' की रचना करते समय नूर मुहम्मद ने सँभवतः मुल्ला वजही के 'सबरस' का अनुकरण किया, कासिमशाह ने अपने 'हंस-जवाहर' नामक प्रेमाख्यान को बहुत-कुछ गवासी के 'सैफुलमुल्क और बदीयुज्जमाल' के साँचे में ढाला तथा शेख निसार ने भी ठीक उसी यूसुफ और जुलेखा की कथावस्तु को अपनाया जिसे उनसे लगभग १०० वर्ष पहले दक्खिनी हाशिमी ने अपनी रचना के लिए चुना था। इसमें संदेह नहीं कि इन दोनों वर्गों की रचनाओं में बाह्य सादृश्य के बहुत कुछ होते हुए भी महत्वपूर्ण अंतर दिखलाया जा सकता है, किंतु केवल इसी एक बात के कारण यह अनुमान भी कभी निराधार नहीं कहला सकता कि इधर सूफी कवियों में एक नई प्रवृत्ति काम करने लग गई थी। इतना ही नहीं, नूर मुहम्मद ने तो अपनी 'अनुराग-बाँसुरी' की रचना ही इसलिए प्रस्तुत की कि उसके द्वारा वह कदाचित 'संखवाद की रीति मिटाने' में समर्थ हो। उसका स्पष्ट शब्दों में कहना है कि "मेरी इस हिंदी रचना का कोई विपरीत अर्थ न लगाए, क्योंकि मैं इसके द्वारा 'हिंदू मार्ग पर' नहीं चल रहा हूँ।"

सूफी प्रेमाख्यानों की इस रचना-पद्धति के उदाहरण फिर लगभग एक सौ वर्षों तक उपलब्ध नहीं होते। अब तक जो ऐसी उल्लेखनीय रचनाएँ मिल सकी हैं उनका निर्माण-काल ईस्वी सन की बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में पड़ता है। ये रचनाएँ तीन हैं, जिनमें से प्रथम अर्थात 'नूरजहाँ' की प्रेम-कहानी कल्पित है और उसके पात्रों के नाम भी भरसक विदेशी घटना-स्थलों के ही अनुसार रखे गए हैं। इसकी एक अन्य विशेषता यह भी है कि इस प्रेमाख्यान के रचयिता ने भी अपनी प्रेम-कहानी का आध्यात्मिक अभिप्राय अंत में स्पष्ट करके रख दिया है। इस युग की दूसरी प्रेम-कहानी 'भाषा-प्रेमरस' की भी कथावस्तु कल्पित है, किंतु इसमें नायक से पहले नायिका के ही जन्मादि की बातें भूमिका-रूप में कह दी गई हैं। इन दोनों के अतिरिक्त, जो ऐसा तीसरा प्रेमाख्यान है उसका नाम 'प्रेमदर्पण' होते हुए भी उसके कथानक का मूल स्रोत 'यूसुफ जुलेखा' की सामी प्रेमगाथा है। कहते हैं कि इसी तीसरी रचना को उसके कवि ने उर्दू कवि फिजार की किसी मसनवी के आधार पर लिखा है, किंतु फिर भी यह उसका ठीक-ठीक अनुवाद नहीं है, इसके सिवाय इस प्रेमाख्यान की एक यह भी विशेषता है कि इसमें किसी गुरु, पीर, सुआ वा परेवा जैसे मार्ग-

दर्शक की आवश्यकता नहीं पड़ी है, जो कदाचित इस कारण है कि इसकी मूल कथा में भी उसके लिए कोई गुंजायश नहीं थी। इस रचना का निर्माण-काल हि० सन १३०५ अर्थात सन १९१७ ई० (सं० १९७४ वि०) बतलाया गया है, जिस समय यहाँ पर अंग्रेजों का शासन चल रहा था और योरपीय साहित्य एवं संस्कृति का पूरा प्रभाव भी पड़ने लग गया था, किंतु इस बात का कोई भी स्पष्ट प्रभाव इस रचना के अंतर्गत नहीं दीख पड़ता और इसका कवि इसे लगभग पुरानी ही धारणाओं के अनुसार पूरा कर देता है। वास्तव में हम इन उत्तरकालीन प्रेमाख्यानों में वैसा कलात्मक चमत्कार भी नहीं पाते जिसकी संभावना हमें अबतक लिखी गई रचनाओं के उत्तरोत्तर विकास का अध्ययन करते समय होने लगी थी, प्रत्युत इधर की कृतियाँ भी अधिकतर फिर उसी घटनाप्रधान आदर्श को स्वीकार करती दीखती रही हैं जो इनकी प्रारंभिक विशेषता थी।

सूफी प्रेमाख्यानों का वर्गीय विभाजन

सूफी प्रेमाख्यानों का किसी दृष्टि-विशेष के अनुसार वर्गीकरण करना उतना सरल नहीं जान पड़ता। इनके रचयिताओं ने जिन स्थूल आदर्शों को सर्वप्रथम अपना लिया था उनका सर्वथा परित्याग करने में वे आज तक भी सफल वा समर्थ न हो सके। उनके वैसे ही कथानक हैं, वैसी ही रचनापद्धति है और प्रायः वही उद्देश्य भी है जिसे ध्यान में रखकर उन्होंने इन रचनाओं का निर्माण आरंभ किया था। फिर भी, जैसा कि इनके रचना-विकास-क्रम पर विचार करने से विदित होता है, इस साहित्य को हम कम से कम तीन युगों में विभाजित कर सकते हैं और उन्हें क्रमशः आदिकाल, मध्यकाल एवं उत्तरकाल के पृथक-पृथक नाम देते हुए, उनकी कतिपय मोटी-मोटी विशेषताओं की ओर कुछ संकेत भी कर सकते हैं। तदनुसार हम कह सकते हैं कि सूफी प्रेमाख्यानक साहित्य का आदिकाल, ईस्वी सन की चौदहवीं शताब्दी के लगभग उत्तरार्द्ध से आरंभ होकर उसकी पंद्रहवीं के अंत तक चलता है और इन डेढ़ सौ वर्षों में प्रस्तुत की गई एकमात्र उपलब्ध रचना 'चंदायन' के आधार पर केवल इतना ही अनुमान किया जा सकता है कि उन दिनों विशेषकर घटनाओं के विवरण को ही महत्व दिया जाता होगा तथा नायकों के अलौकिक बल-वीर्य, दैवी शक्ति की सहायता एवं चमत्कारपूर्ण प्रसंगों का समावेश भी किया जाता रहा होगा। परन्तु मध्यकालीन प्रेमाख्यानों का अध्ययन करते समय हमारा ध्यान इनकी कुछ अन्य विशेषताओं की ओर भी गए बिना नहीं रहता। मध्ययुग ईस्वी सन की सोलहवीं शताब्दी के आरंभ से लेकर कम से कम उसकी अठारहवीं के अंत तक पहुँचता प्रतीत होता है और इसे हम निश्चित रूप से इसका स्वर्णयुग भी कह सकते हैं। इस काल के भी प्रथम सौ वर्षों में हमें वस्तुतः पूर्वकालीन बातों की ही आवृत्ति, उन पर आश्रित काव्य-सौन्दर्य एवं रचना-चातुर्य की विविध अभिव्यक्तियों के साथ, दीख पड़ती है। फिर इसके दूसरे सौ वर्षों में हमें इनके घटना-क्षेत्रों के अंतर्गत कुछ अधिक व्यापकता आ गई लक्षित होती है, इनके पात्रों के स्वभावादि में आ गए कुछ न कुछ परिवर्तनों के दर्शन होने लगते हैं तथा, इसी प्रकार, कभी-कभी इनमें फारसी साहित्य से उधार ली गई कतिपय बातों का अंतर्भाव भी प्रकट होने लग जाता है। इसके अंतिम सौ वर्षों में तो हमें इस बात के भी प्रमाण अच्छी मात्रा में मिलने लगते हैं कि सूफियों की इस रचना-पद्धति का मूल उद्देश्य वस्तुतः सांप्रदायिक ही रहा होगा। परन्तु उत्तरकालीन प्रेमाख्यानों के निर्माण-काल अर्थात उन्नीसवीं ईस्वी शती से लेकर बीसवीं तक

की अवधि में इस प्रकार की सारी उमंगें प्रायः ठंढी पड़ती-सी प्रतीत होती हैं। इस अंतिम युग की ऐसी रचनाओं में न तो कहीं जायसी की प्रतिभा है, न मंझन वा उसमान की सहृदयता है, न जान की योग्यता है, न नबी का पांडित्य है, न नूर मुहम्मद की कट्टरता है, न निसार की धार्मिकता है और न कासिमशाह की उदारता ही पाई जाती है। इस खेवे के सूफी कवियों की यदि कोई विशेषता है तो यह कदाचित इस बात से भिन्न नहीं कि उन्होंने अपनी रचनाएँ न्यूनाधिक व्यक्तिगत रुचि वा आग्रह के कारण प्रस्तुत की हैं तथा उन्हें भरसक व्यर्थ के आडम्बरों से भी बचाया है।

इस प्रकार का वर्गीकरण प्रायः रचना-कालीन परिस्थितियों तथा कवियों को प्रभावित करने वाले उनके विशिष्ट वातावरणों के अनुसार किया जाता है। इस विभाजन-पद्धति के वैज्ञानिक होने में संदेह नहीं किया जा सकता और इसे विभिन्न साहित्यों के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान भी मिलता आया है। परन्तु इसके अतिरिक्त कई अन्य ऐसे भी मानदंड हो सकते हैं जिन्हें दृष्टि में रखकर ऐसी रचनाओं का वर्ग-विभाजन किया जाय। उदाहरण के लिए हम ऐसा करते समय इस बात पर भी ध्यान रख सकते हैं कि अमुक प्रेमाख्यान प्रत्यक्षतः सोद्देश्य लिखा गया है अथवा उसकी रचना यों ही कर दी गई है। इसके सिवाय हम कभी-कभी इस बात को भी महत्व दे सकते हैं कि अमुक रचना अपने परिणामानुसार सुखांत है वा दुःखांत कही जा सकती है। सूफी प्रेमगाथाओं का वर्गीकरण करते समय यदि हम इन दोनों में से किसी भी पद्धति को अपनाएँ तो हमें इसके बहुत स्पष्ट उदाहरण मिल सकेंगे। परन्तु एक अन्य वर्गीकरण-प्रणाली जिसे हम इस संबंध में बहुत उपयोगी कह सकते हैं, इन रचनाओं के, इनके कथानकों के स्वरूपानुसार किए गए, वर्गीकरण की पद्धति है जिसका प्रयोग हम प्रसंगवश इनके विकास की चर्चा करते समय भी करते आए हैं। इसके अनुसार विचार करने पर हमें पता चलेगा कि 'चंदायन', 'मिरगावती' तथा 'मधुमालती' लोकगाथात्मक हैं और 'पद्मावत' का भी एक बहुत बड़ा अंश इस वर्ग को ही सूचित करता है। परन्तु 'यूसुफ जुलेखा', 'प्रेमदर्पण', 'नलदमयन्ती' अथवा 'लैलामजनूँ' की कथावस्तुओं में अधिकतर पौराणिकता भी पाई जा सकती है और ये उनसे भिन्न हैं। इसी प्रकार 'चित्रावली', 'ज्ञानदीपक,' 'हंसजवाहर', 'इन्द्रावती', 'नूरजहाँ', 'रतनावती', 'कामलता', 'भाषा-प्रेमरस' और 'कुँवरावत' आदि के लिए कहा जा सकता है कि इनके कथानक पूर्णतः काल्पनिक हैं तथा इसी कारण इन्हें हम एक भिन्न श्रेणी में रख सकते हैं। 'पद्मावत' और 'छीता' में, और विशेषकर पहली रचना के अंतर्गत, कुछ ऐसे पात्रों और प्रसिद्ध स्थलों के नाम आते हैं जिनसे उनकी ऐतिहासिकता का भ्रम हो सकता है। यह कथन कुछ अंशों में ठीक भी कहा जा सकता है, किन्तु वर्ण्य विषय तथा उनके प्रासंगिक उल्लेखों द्वारा भी उनके अधिकतर काल्पनिक अथवा अधिक से अधिक लोकगाथात्मक होने में संदेह नहीं किया जा सकता। इस बात की ओर इसके पहले भी ध्यान दिलाया जा चुका है।

इस प्रसंग में यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि जहाँ तक असूफी प्रेमाख्यानों का प्रश्न है, उनकी रचना के लिए भी 'स्वर्णयुग' वही कहला सकता है जिसे सूफी प्रेमाख्यानों के लिए अनुमान किया गया है और यहाँ पर भी उस अवधि में, अर्थात सोलहवीं से अठारहवीं ईस्वी शताब्दी तक सर्वांगीण प्रौढ़ता दीख पड़ती है। इसके सिवाय ऐसी रचनाओं का वर्गीकरण

करते समय हम उन्हीं लोकगाथात्मक, पौराणिक एवं काल्पनिक नामक, तीन प्रमुख श्रेणियों का प्रयोग यहाँ पर भी कर सकते हैं तथा कतिपय रचनाओं को अर्द्ध ऐतिहासिक भी ठहरा सकते हैं। परन्तु इस प्रकार के साहित्य में एक विशेषता यह भी पाई जाती है कि इसमें उक्त तीनों वर्गों की रचनाएँ लगभग एक ही संख्या में उपलब्ध हैं तथा उनके निर्माण-कार्य में कभी विशेष बाधा भी नहीं पड़ी है।

प्रबन्ध-कल्पना

सूफियों के प्रेमाख्यानों का स्वरूप, प्रेम-कहानियों का कोरा कथन मात्र ही न होकर प्रबन्ध-काव्यों की कोटि का है जिस कारण उनके वर्ण्य विषय तथा घटना-विधान एवं क्रम-योजना आदि के सम्बन्ध में कुछ विस्तृत विवेचन भी किया जा सकता है। जहाँ तक उनके कवियों द्वारा कथानकों के चुनने का प्रश्न है इसके संबंध में हम अन्य प्रकरणों के अंतर्गत भी थोड़ी-बहुत चर्चा कर चुके हैं। प्रेम-कथाओं में प्रेमभाव का निरूपण वा निदर्शन भिन्न-भिन्न प्रकार की पद्धतियों के अनुसार किया गया दीख पड़ता है और प्रायः सभी उदाहरण हमें अपने भारतीय साहित्य में मिल जाते हैं। वैदिक साहित्य के अंतर्गत एवं पुराणों में भी हमें ऐसी कहानियां मिलती हैं जिनमें प्रेम का उदय स्वच्छंद रूप में होता है और उसमें प्रायः वासना की प्रधानता भी रहती है। इसका कारण विशेषकर प्रेमी एवं प्रेमिका का एक दूसरे के आमने-सामने आ जाना और रूप-सौन्दर्य द्वारा परस्पर आकृष्ट हो जाना रहा करता है। फिर एक की ओर से दूसरे को अपनाने के प्रयत्न होने लगते हैं अथवा, यदि दोनों समान रूप से प्रभावित हों किन्तु उनके एक साथ रहने में किसी प्रकार की बाधा आजाती हो तो भी,दोनों की ओर से उसे दूर कर मिल जाने की चेष्टाएँ आरम्भ हो जाती हैं और यदि परिस्थिति अनुकूल रही तो दोनों का संयोग भी हो जाता है। परन्तु पुराणों के ही अन्तर्गत हमें कतिपय ऐसी प्रेम-कथाएँ भी मिलती हैं जिनमें प्रेमभाव कभी-कभी स्वप्न-दर्शन, चित्र-दर्शन वा गुण-श्रवण के आधार पर जाग्रत होता है जिनमें न केवल मिलन, अपितु पहले प्रत्यक्ष दर्शन के लिए भी आकुलता होने लग जाती है। शेष बातें पीछे उसी प्रकार चलती हैं जिस प्रकार साक्षात दर्शन-जन्य प्रेम के विषय में देखी जाती हैं, किन्तु कभी-कभी यहाँ वासना की मात्रा बहुत कम प्रदर्शित की गई मिलती है। इसका प्रधान कारण कदाचित यह हो कि इस दूसरे प्रकार के माध्यमों द्वारा उत्पन्न प्रेम विशेषकर उच्च स्तरों के ही विकसित समाजों में देखा जाता है जहाँ प्रचलित नियमों और परम्पराओं के विविध बन्धन भी काम करते रहते हैं और जहाँ पर इसी कारण मर्यादा-रक्षा की प्रवृत्ति, उसे स्पष्ट बनकर उभरने नहीं देती। प्रत्यक्ष दर्शन-जनित प्रेम के उदाहरण हमें उर्वशी एवं पुरूरवा तथा शकुन्तला एवं दुष्यन्त के प्रसिद्ध प्रेमाख्यानों में मिलते हैं, जहाँ दूसरे प्रकार के लिए हम क्रमशः उषा एवं अनिरुद्ध तथा दमयन्ती एवं नल की प्रेम-कथाओं का उल्लेख कर सकते हैं। सूफी प्रेमगाथाओं के अन्तर्गत हमें इसी प्रकार प्रत्यक्ष दर्शन वाले प्रेम का उदाहरण 'मधुमालती', 'ज्ञानदीपक' आदि में मिलता है, स्वप्न-दर्शन का 'इन्द्रावती', 'यूसुफ जुलेखा' आदि में दीख पड़ता है। चित्र-दर्शन-विषयक प्रेमासक्ति की कहानी 'चित्रावली', 'रतनावली' आदि में देखने को मिलती है और गुण-श्रवण-जन्य प्रेम 'पद्मावत', 'कँवलावती' आदि कहानियों द्वारा उदाहृत पाया जाता है।

'अनुराग-बाँसुरी' एक ऐसी प्रेम-कहानी है जिसका नायक सर्वप्रथम एक सुन्दरी द्वारा प्रदत्त किसी मणिमाला को ही देखकर उसकी ओर आकृष्ट होता है और फिर उसके प्रेम की पुष्टि उसके सौन्दर्य के वर्णन द्वारा भी हो जाती है। भारतीय साहित्य के अन्तर्गत दो अन्य प्रकार की प्रेम-पद्धतियों के भी उदाहरण मिलते हैं जिन्हें क्रमशः विवाहोत्तर उत्पन्न दाम्पत्य प्रेम एवं अंतःपुर की नारियों के प्रति जाग्रत किसी नरेश के प्रेम से सम्बद्ध कह सकते हैं, किन्तु इनके उदाहरणों को सूफी कवियों की रचनाओं में उतना महत्व नहीं मिलता है।

सूफियों को अपने प्रेमाख्यानों की रचना करते समय इस बात की ओर भी सदा ध्यान देना पड़ता है कि हम केवल कोई प्रेम-कहानी ही नहीं लिखते, हमें अपनी इस रचना द्वारा प्रेम-तत्व का निरूपण करना है तथा प्रेम-साधना का स्वरूप भी निर्धारित करना है जिससे हम उनके महत्व का दूसरों के लिए समुचित रूप से प्रतिपादन कर सकें तथा जिससे वे हमारी स्वीकृतियों को सर्वथा उपयोगी एवं हितकर समझते हुए उसकी ओर आकृष्ट हो जायँ। तदनुसार एक ओर जहाँ वे किसी प्रेम-कथा के प्रबंध-संघटन एवं घटना-प्रवाहादि को दृष्टि में रखते थे, वहाँ दूसरी ओर उन्हें इस बात में पूरा सावधान भी रहना पड़ता था कि यह सभी कुछ उनके अपने उद्देश्य के अनुकूल पड़े तथा उनकी रचना उसके सर्वथा अनुरूप उतर सके। कोरी प्रेम-कहानी आदि से अन्त तक केवल घटना-प्रवाह के अनुसार भी कही जा सकती है, जिस दशा में पाठकों वा श्रोताओं का ध्यान विभिन्न व्यक्तियों तथा उनके प्रेम-व्यापारों की ओर ही जाता है और वे उसे एक तथ्य के रूप में स्वीकार करते हुए, उस पर प्रायः टीका-टिप्पणी भी कर देते हैं। परन्तु जब कभी वह किसी उद्देश्य-विशेष से कही जायगी तो उसे कहने वाले के लिए यह आवश्यक होगा कि वह उसके विभिन्न स्थलों और प्रसंगों के आने पर यथावसर कतिपय आकर्षणों की योजना करके तथा, यदि ठीक जान पड़े तो उसमें अपनी ओर से कुछ परिवर्तन और परिवर्द्धन भी कर दे। मूल प्रेम-कथा का रूप तो केवल इतना ही होगा कि उसमें किन्हीं दो प्रेमी और प्रेमिकाओं का एक-दूसरे के प्रति आकर्षण हो, इस कार्य में उन्हें आवश्यक सहायता मिले, वे अपने प्रेमपात्र को अपना बना लेने के लिए प्रयत्नशील हों, इस कार्य में उन्हें आवश्यक सहायता मिले और अंत में, वे कृतकार्य भी हो जायँ। परन्तु एक सूफी कथाकार को केवल इतने कथन मात्र से ही स्वभावतः संतोष नहीं हो सकता, क्योंकि इसके द्वारा वह केवल किसी इतिवृत्त का एक विवरण मात्र ही उपस्थित कर पाता है जो उसके लिए तब तक अधूरा ही कहलाएगा जब तक उसके आधार पर वह उसमें प्रदर्शित लौकिक प्रेम अपने अभीष्ट ईश्वरीय प्रेम के साथ सुसंगत भी न सिद्ध कर दे और इस प्रकार, अपनी उस कृति की रचना का प्रमुख उद्देश्य पूरा होता देख ले। सूफी कवियों को इसीलिए अपने प्रेमाख्यानों के अंतर्गत प्रेमपात्र के सौन्दर्य को किसी प्रकाश वा ज्योतिष्पुंज के रूप में चित्रित करना पड़ता है। उसके प्रेमी वहाँ पर उससे आकृष्ट होते ही उसकी ओर तत्क्षण उन्मुख हो पड़ते हैं, उसके विरह में तड़पने लग जाते हैं, अपना सर्वस्व न्योछावर करते हुए उसकी प्राप्ति के लिए अग्रसर होते हैं तथा इस मार्ग में कठिन से कठिन विघ्नों को भी तृणवत तुच्छ मानते हुए, दृढ़व्रत बन कर सिद्धि प्राप्त करते हैं। एक साधारण लौकिक जीवन में यह अनिवार्य नहीं कि प्रत्येक प्रेमी अपने प्रेमपात्र के लिए ठीक इसी प्रकार का आचरण करे, किंतु एक सूफी प्रेमाख्यान के नायक वा नायिका तथा कभी-कभी उन दोनों के लिए यह स्वाभाविक हो

जाता है कि वे उक्त दोनों नियमों का पालन प्रायः यंत्रवत करते चलें। अतएव प्रायः प्रत्येक ऐसे प्रेमाख्यान में हमें कतिपय घटना और प्रसंगों की एक आवृत्ति-सी होती हुई भी जान पड़ती है।

सूफी कवियों को अपने उपर्युक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिए बहुत-कुछ आवश्यक समझ कर नए-नए दृश्यों, वातावरणों, परिस्थितियों वा पात्रों, प्रसंगों एवं घटनाओं की भी सृष्टि करनी पड़ती है और कभी-कभी तो कथा में वैचित्र्य लाने की दृष्टि से उसमें अंतर्कथाओं का अंतर्भाव भी करना पड़ जाता है। आध्यात्मिक साधना के लिए जिस प्रकार किसी सूफी 'सालिक' को किसी पीर वा परामर्शदाता की आवश्यकता पड़ा करती है जो उसे विघ्नों द्वारा विचलित होने की स्थिति में भी उचित सुझाव तथा सांत्वना देकर सँभाल लेता है, उसी प्रकार इन कहानियों में भी हमें उपयुक्त सहायक मिल जाते हैं। ये उसे न केवल प्रेमपात्र का प्रारंभिक परिचय देकर उसके हृदय में प्रेमभाव जाग्रत करते हैं, कभी-कभी उन दोनों के बीच संबंध-स्थापन का कार्य भी करते हैं। इन माध्यमों को सूफी कवियों ने अधिकतर पक्षी के रूप में अथवा कभी-कभी देवों वा अप्सराओं के नाम देकर चित्रित किया है, जिसका एक प्रधान कारण यह हो सकता है कि ऐसे प्राणी दूर देशों तक भी पहुँच कर सारा कार्य अपेक्षाकृत सरलता के साथ कर सकते हैं। इन कहानियों के अन्तर्गत हमें ऐसे प्राणी वा साधारण पदार्थ तक कम मिलेंगे जिन्हें प्रेम-व्यापार के क्रम-विकास में किसी न किसी प्रकार अनावश्यक ठहरा दिया गया हो। यदि कोई इसमें प्रत्यक्ष रूप से सहायता करता है तो दूसरा केवल गौण बन कर ही काम में आ जाता है और इसी प्रकार, यदि किसी के द्वारा नायक-नायिकाओं को पूरा प्रोत्साहन मिला करता है तो दूसरे उनके मार्ग में बाधक बन कर भी कुछ न कुछ कर देते हैं। बीहड़ वन, भयंकर तूफान, विषैले साँप, सुदीर्घ अजगर, विशालकाय हाथी, बलशाली गरुड़ पक्षी और मनुष्यभक्षी राक्षस तथा यंत्र, मंत्र, जादू-टोना और अनेक विद्याओं के जानकार मानवों की ओर से जब कभी कोई बाधा उपस्थित की जाती है तो उससे बचकर आगे बढ़ना प्रायः असंभव-सा जान पड़ता है। परंतु जब अंत में, इनसे मुक्ति मिल जाती है तो हमें ऐसा प्रतीत होता है कि इनका समावेश केवल प्रेम-परीक्षा के लिए किया गया है। प्रेमी एवं प्रेमिका का एक दूसरे से पुनः-पुनः वियुक्त होते रहना भी केवल इसीलिए प्रदर्शित किया जाता है कि उनके प्रेमभाव में अधिकाधिक दृढ़ता आती जाय। सूफी साधकों को अपने ईश्वरीय प्रेम की साधना में विभिन्न सांसारिक अंतरायों का सामना करना पड़ता है और वे अनेक उलझनों के कारण उसमें शीघ्र कृतकार्य नहीं हो पाते। इन कवियों ने अपनी प्रेम-कहानियों की रचना करते समय इस बात को सदा अपने ध्यान में रखा है और तदनुसार ऐसे ही प्रसंगों के चित्रण भी किए हैं।

काव्य-प्रकार

सूफी प्रेमाख्यानों को प्रबंध-काव्य की कोटि में रखते समय हमारा ध्यान उनकी प्रमुख विशेषताओं की ओर गए बिना नहीं रहता। प्रबंध-काव्य का एक रूप महाकाव्य भी हो सकता है जिसके लक्षण साहित्यशास्त्र के ग्रंथों में गिनाए गए हैं। परन्तु यह स्पष्ट है कि उसकी सारी बातें यहाँ नहीं पाई जातीं। इन प्रेमाख्यानों के लिए न तो यही आवश्यक है कि ये सर्गबद्ध हों और न यह कि इनका नायक किसी उच्च कुल की ही संतान हो। वास्तव में यहाँ पर कवि का उद्देश्य

किसी महान चरित्र की अवतारणा मात्र न होकर प्रेमतत्व का प्रतिपादन भी रहा करता है जो महाकाव्यों की दृष्टि से अनिवार्य नहीं। इसके सिवाय महाकाव्यों की रचना जहाँ अधिकतर शिष्ट समाज से ही संबंध रखती है वहाँ प्रेमाख्यानों का क्षेत्र इससे कहीं अधिक व्यापक है। इसका विषय किसी साधारण कोटि के समाज से भी ग्रहण किया जा सकता है जहाँ उच्च बौद्धिक स्तर का प्रायः अभाव-सा रहा करता है। प्रेमाख्यानों की एक बहुत बड़ी विशेषता इस बात में भी पाई जाती है कि इनकी रचना करते समय पात्रों की वास्तविक जीवन-पद्धति की ओर उतना ध्यान नहीं दिया जाता। उसके संबंध में विविध काल्पनिक घटनाओं का समावेश कर दिया जाता है तथा आकर्षक प्रसंगों की सृष्टि कर उन पर आश्चर्य-तत्व का गहरा रंग भी चढ़ा देते हैं। ऐसे आश्चर्य-तत्व का अतिरंजन हमें प्रायः जैन चरित-काव्यों में भी दीख पड़ता है, किंतु वहाँ पर कवियों की कल्पना उतने अनियंत्रित ढंग से नहीं काम करती। उन रचनाओं के प्रमुख पात्र जैन पुराणों से चुने हुए रहते हैं और उनके चरित की रूपरेखा बहुत-कुछ पहले से ही निश्चित रहा करती है। उनके विविध जन्मों की कथाएँ आती हैं जिनमें उनकी अलौकिक शक्ति का चमत्कारपूर्ण वर्णन रहा करता है तथा उनमें किसी वैराग्यमूलक परिणाम की ओर संकेत भी दे दिया जाता है, परन्तु सूफी प्रेमाख्यानों की कथाओं के बहुधा दुःखान्त होते हुए भी हमें उनमें कभी शांत रस की प्रधानता नहीं लक्षित होने पाती। इसके अतिरिक्त जैन चरित-काव्यों तथा सूफी प्रेमाख्यानों का सादृश्य हमें उन दोनों के किसी न किसी धार्मिक उद्देश्य से लिखे जाने में भी दिखलाई देता है। परन्तु पहले वाले वर्ग की रचनाएँ इसकी ओर सदा संकेत भी नहीं किया करतीं। फिर भी, जहाँ तक सूफी प्रेमाख्यानों के बाह्य रूप एवं रचना-शैली का प्रश्न है, इसमें संदेह नहीं कि उसके लिए बहुत-कुछ जैन चरित-काव्यों की ही परम्परा का अनुसरण किया गया होगा।

सूफी प्रेमाख्यानों की रचना करते समय फारसी साहित्य की रचना-परम्परा से भी प्रेरणा ग्रहण की गई है, किंतु उसका अंधानुसरण नहीं किया गया है। फारसी भाषा में लिखे गए प्रबंध-काव्यों को प्रायः 'मसनवी' का नाम दिया जाता है जिसकी रचना-शैली के लिए कतिपय रूढ़ियाँ भी निर्धारित हो चुकी हैं। मसनवी पद्धति के अनुसार लिखित बड़े-बड़े काव्य-ग्रंथों में भी कभी उनके सर्गों जैसे अंगों में विभाजित होने के उदाहरण नहीं मिलते। उनमें अधिक से अधिक विभिन्न प्रसंगों वा घटनाओं के अनुसार उपयुक्त शीर्षक मात्र दे दिए जाते हैं। सूफ़ी प्रेमाख्यानों के उस वर्ग में जिसकी रचना अधिकतर बीजापुर एवं गोलकुंडा के हिंदवी-कवियों ने आरंभ की थी और जिसकी एक परम्परा उर्दू साहित्य में प्रचलित है, इस पद्धति का अनुसरण किया गया है। उन प्रेमाख्यानों का प्रायः 'मसनवी' नाम तक भी दे दिया गया दीख पड़ता है और उनमें फारसी 'बहरों' के ही प्रयोग किए गए हैं। परन्तु हिंदी में लिखे गए उत्तरी भारत के सूफी प्रेमाख्यानों में यह बात नहीं पाई जाती और, यद्यपि वे कभी सर्गबद्ध भी नहीं होते तथा उनकी उपलब्ध हस्तलिखित प्रतियों में से किसी के अंतर्गत उक्त शीर्षक वाली परिपाटी का पालन भी दीख पड़ता है, तथापि वे उसके बहुत ऋणी नहीं समझे जा सकते। इन रचनाओं का सर्गबद्ध न होना इस कारण भी संभव है कि वैसी रचनाएँ पहले प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषाओं में भी कर दी जाती थीं। वाक्पतिराज का प्रसिद्ध प्राकृत महाकाव्य 'गउडवहो' सर्गबद्ध नहीं है और न हरिभद्र कवि की ऐसी अपभ्रंश रचना 'णेमि-णाह-चरिउ' के लिए ही हम वैसा कह सकते हैं। ऐसे महाकाव्य अपवाद-स्वरूप भले ही मान

लिए जाएँ, किंतु इनके द्वारा कम से कम इतना अवश्य सिद्ध होता है कि इस प्रकार की रचना-शली का भी यहाँ अभाव नहीं था। इसके सिवाय सूफी प्रेमाख्यानों के इस वर्ग की एक विशेषता इस बात में भी लक्षित होती है कि इनके रचयिताओं ने अपने कथानकों के लिए या तो लोकगाथाओं को विशेष महत्व दिया है अथवा पौराणिक वा ऐतिहासिक प्रेम-कहानियों को ही चुना है और जहाँ कहीं उन्होंने कोरी कल्पना से काम लिया है अथवा मुस्लिम धर्मकथाओं का आश्रय ग्रहण किया है वहाँ पर भी उन्होंने उस पर भरसक भारतीय रंग चढ़ाने के ही प्रयत्न किए हैं। जहाँ तक इन कवियों द्वारा अपनी रचनाओं का आरंभ करते समय मंगलाचरण जैसे प्रसंगों के लाने का प्रश्न है, हम यहाँ पर भी इन्हें केवल 'मसनवी' के रचयिताओं का ही अनुकरण करते नहीं पाते, क्योंकि इसका भी एक रूप हमें जैन-चरित-काव्यों में दीख पड़ता है। यहाँ पर हमें पैगंबरों व नबियों की स्तुति की जगह तीर्थंकरों की वन्दना मिलती है, 'शाहेवक्त' की प्रशंसा की जगह आश्रयदाता के लिए कहे गए देव-भक्ति सूचक शब्द दीख पड़ते हैं तथा प्रायः एक ही प्रकार से वतलाए गए वे आत्म-परिचय भी उपलब्ध होते हैं जिनमें अपनी विनम्रता सूचित की गई रहती है।

सूफी प्रेमाख्यानों को हम कथा-साहित्य के अंतर्गत गिना करते हैं और इन दोनों को प्रधानतः इस बात में ही पृथक करते हैं कि कथाओं अथवा आख्यायिकाओं का रूप जहाँ विशुद्ध घटना-प्रधान ही हुआ करता है वहाँ इन रचनाओं में ऐसे स्थलों की भी कमी नहीं रहती जहाँ पर साहित्यिक चमत्कार भी आ गया हो। यहाँ पर कल्पना का काम केवल वर्ण्य विषयों तक ही सीमित न रहकर वर्णन-शैली तक भी आगे बढ़ जाता है और पूरी कृति में रसात्मकता का समावेश हो जाता है। फिर भी प्रेमाख्यानों का यह अंश उतनी मात्रा में नहीं पाया जाता जितनी किसी महाकाव्य वा खंडकाव्य के लिए अपेक्षित होती है। बहुत से ऐसे प्रेमाख्यानों में तो हमें वैसे वर्णन भी मिल जाते हैं जिनका उल्लेख महाकाव्य के लक्षणों की चर्चा करते समय किया गया है। उदाहरण के लिए हमें यहाँ प्रायः वनों, नगरों, सागरों, पर्वतों, विभिन्न कालों तथा ऋतुओं के वर्णन मिलते हैं और युद्धों, उत्सवों, यात्राओं तथा भोग-विलास एवं विरह-वेदना के स्पष्ट चित्रण भी उपलब्ध होते हैं। परन्तु इनमें से अधिकांश की चर्चा यहाँ केवल प्रासंगिक रूप में ही कर दी जाती है। प्रेमियों की विकट यात्रा, उनका विघ्न-बाधाओं के साथ संघटित संघर्ष, उनकी विरह-यातना आदि ही कुछ ऐसी बातें हैं जिनका इनमें आ जाना प्रायः अनिवार्य समझा जाता है। ये इन रचनाओं के लिए उसी प्रकार रूढ़िगत बन गई हैं जिस प्रकार लोक-गाथाओं से आकर इनमें स्थान पा लेने वाली विभिन्न कथा-रूढ़ियों के विषय में कहा जा सकता है। सूफी प्रेमाख्यानों के नायक सदा साहसिक कार्यों की क्षमता रखते हैं और उनमें इसी कारण अपने को जोखिम में डालते रहने की भी प्रवृत्ति पाई जाती है। उनका यह स्वभाव उनके भीतर अपार उत्साह की अपेक्षा रखता है जो किसी सच्चे वीर पुरुष के लिए भी अत्यन्त आवश्यक होता है। अतएव महाकाव्यों एवं सूफी प्रेमाख्यानों का बहुत-कुछ सादृश्य उनके नायकों के वीर, साहसी और पराक्रमी होने में भी पाया जा सकता है। परन्तु महाकाव्यों के नायक जहाँ अपने शौर्य-पराक्रम का प्रदर्शन अपने उदात्त स्वभाव अथवा यशोलिप्सा के कारण करते देखे जाते हैं वहाँ इन प्रेमाख्यानों के नायकों को यह कार्य प्रायः विवश होकर तथा अपने प्रेम-मार्ग का कंटक दूर करने के ही लिए

पूरा करना पड़ता है। इसीलिए प्रेमाख्यानों के कवि बहुत-से विकट युद्धों का भी वर्णन केवल थोड़ी-सी ही पंक्तियों में कर डालते हैं जहाँ महाकाव्यों में इन्हें कभी-कभी बहुत विस्तार दे दिया जाता है।

अतएव बड़े-बड़े सूफी प्रेमाख्यानों को 'महाकाव्य' तथा छोटी-छोटी रचनाओं को 'खंड-काव्य' की संज्ञा देते समय इसका ठीक आशय भी प्रकट कर देना हमारे लिए आवश्यक हो सकता है, क्योंकि केवल उसी दशा में उनके वास्तविक स्वरूप का निश्चित ज्ञान भी हम प्राप्त कर सकते हैं। महाकाव्यों की जो परिभाषा पहले दी जाती थी अथवा जो लक्षण, उनका परिचय देते समय, गिनाए जाते थे उनकी उपयुक्तता स्वभावतः सभी प्रकार के प्रबंध-काव्यों के लिए सिद्ध नहीं की जा सकती और न, कम से कम, उन सभी को हम कभी स्थायी रूप में चिर काल के लिए स्वीकार ही कर सकते हैं। महाकाव्य-संबंधी धारणा का आज तक, पिछली कई शताब्दियों से, विकास होता आया है और इसमें संदेह नहीं कि उसमें और भी परिवर्तन वा परिमार्जन की आवश्यकता होगी। इसके सिवाय सूफी प्रेमाख्यानों के वर्ण्य विषय तथा उनके विकास-क्रम को प्रभावित करने वाले आदर्शों की ओर ध्यान देने से पता चलता है कि उनके स्वरूप-निर्माण में अनेक प्रकार के कारणों ने सहयोग प्रदान किया होगा और इसी कारण इनका महाकाव्यत्व भी बहुत भिन्न लक्षणों पर आश्रित हो सकता है। सूफी प्रेमाख्यान एक ऐसी रचना है जिसमें किसी प्रबंध-काव्य के प्रायः सभी तत्व वर्तमान हैं, किंतु, जिसमें इसके साथ ही, कथा-आख्यायिका, जैन-चरित-काव्य, धर्मकथा, महाकाव्य एवं मसनवी की भी विशेषताओं का समन्वय हो गया है और यही इसकी सबसे बड़ी विशेषता है। सभी उपलब्ध सूफी प्रेमाख्यानों का आकार-प्रकार ठीक एक समान नहीं कहला सकता और न ऐसा एक भेद उनके रचना-कलानुसार भी ठहराया जा सकता है। परन्तु इसमें भी संदेह नहीं कि उनमें कुछ ऐसी विलक्षणता है जो उन्हें असूफी प्रेमाख्यानों से भी पृथक कर देती है।

क्रम-योजना

सूफी प्रेमाख्यानों की रचना-पद्धति में प्रबंध-रूढ़ियों की प्रधानता है। इनके रचयिताओं ने एक विशेष आदर्श का पालन अपना कर्तव्य-सा समझ लिया है और भरसक प्रयत्न किया है कि उसमें किसी प्रकार की त्रुटि न आ सके। वर्ण्य विषय के क्रमानुसार वे अपनी रचनाओं को पर-मात्मा की स्तुति से आरंभ करते हैं और अधिकतर उसके सृष्टिकर्ता-रूप का वर्णन भी कर दिया करते हैं। वे उसकी सर्वशक्तिमत्ता का परिचय देकर फिर बहुधा हजरत मुहम्मद और उनके सहयोगियों की चर्चा करते हैं और उनकी प्रशंसा भी कर देते हैं। यहाँ तक उनके मंगलाचरण का अंश रहा करता है, इसके अनंतर वे साधारणतः 'शाहेवक्त' के विषय में अपना कथन आरंभ करते हैं और उसका नाम निर्देश करते हुए, उसके गुणों का उल्लेख भी कर देते हैं। यह उल्लेख प्रायः अतिशयोक्तिपूर्ण रहा करता है और कदाचित इसलिए किया जाता है कि अपने ऊपर उसकी कृपा-दृष्टि बनी रहे। 'शाहेवक्त' की प्रशंसा करके फिर कवि अपने पीर तथा कभी-कभी उसके संप्रदाय के अन्य प्रमुख लोगों के नाम लेता है और उनके प्रति भक्ति-प्रदर्शन करता है। फिर अंत में वह स्वयं अपना नामोल्लेख करता है और बहुधा प्रसंगवश अपने जन्म-स्थान एवं पूर्वजों

का एक संक्षिप्त परिचय देकर, अपनी रचना के निर्माण-काल का पता भी दे देता है और इस प्रकार उसकी कृति का यह प्रथम अंश पूरा हो जाता है। आत्मपरिचय देते समय कवि को कभी-कभी अपने विषय में कुछ नम्र निवेदन भी करना पड़ता है तथा यह भी सूचित कर देना पड़ता है कि उसकी रचना का आधार क्या है।

इस प्रकार, मंगलाचरण तथा परिचयात्मक उल्लेखों के आ जाने पर प्रेमाख्यानों की कथा का सूत्रपात किया जाता है। यहाँ पर या तो कवि पहले कथा-नायक के देश, कुल, प्रारंभिक जीवन आदि की चर्चा करके फिर नायिका का भी परिचय देने लग जाता है अथवा वह पहले ऐसी ही बातों का वर्णन नायिका के ही संबंध में कर लेता है और तब नायक का परिचय देता है। इस दूसरे ढंग पर लिखी गई रचनाओं की संख्या कम है और इनमें विशेषकर जायसी की 'पद्मावत' एवं जान कवि की 'छीता' जैसी कुछ प्रेमकथाओं की ही चर्चा की जा सकती है। परन्तु नायिका के पहले नायक का परिचय आरंभ कर देने वाले प्रेमाख्यानों की संख्या अपेक्षाकृत कहीं अधिक है। इस संबंध में 'मधुमालती', 'इंद्रावती', 'अनुराग-बांसुरी', 'यूसुफ जुलेखा' आदि के नाम लिए जा सकते हैं तथा उनके भी उल्लेख किए जा सकते हैं जिनके कवियों ने नायकों के माता-पिता को पहले निःसंतान के रूप में दिखलाकर तथा पुत्र-प्राप्ति के लिए उनसे बहुत-कुछ प्रयत्न भी कराकर फिर वैसे नायकों का परिचय दिया है। इस प्रकार की रचनाओं में 'चित्रावली', 'हंस-जवाहर', 'ज्ञान-दीपक', 'रतनावती', 'नूरजहाँ' और 'भाषा-प्रेमरस' के नाम विशेष रूप में उल्लेखनीय हैं। इन नायक-नायिकाओं में एक यह बात भी देखी जाती है कि वे अधिकतर एक-दूसरे से दूर के निवासी रहते हैं, केवल कुछ कथाओं में ही वे एकस्थानीय पाए जाते हैं। दूसरे प्रकार के उदाहरण में जान कवि की रचना 'मधुकरमालति' का नाम लिया जा सकता है जिसमें दोनों एक ही चटसार में पढ़ते हैं।

प्रेमी एवं प्रेमपात्र को सुन्दर तथा उन दोनों के बीच बहुत बड़ी दूरी अथवा विकट व्यवधान चित्रित करके सूफी कवियों ने अपनी कथाओं में गति ला दी है। जब कोई नायक वा नायिका वा दोनों एक-दूसरे के सौन्दर्य द्वारा आकृष्ट होते हैं और उन्हें अपने उद्देश्य की सिद्धि में इस प्रकार की किसी बाधा का भान हो जाता है कि वे विरह के कारण अधीर-से हो उठते हैं और उसी क्षण से उनमें एक अपूर्व ढंग की क्रियाशीलता भी आ जाती है। अतः सौन्दर्याकर्षण के लिए उपयुक्त अवसर तव आता है जब दोनों एक-दूसरे को देखते हैं अथवा उनमें से कोई एक दूसरे को चित्र-दर्शन, स्वप्न-दर्शन वा गुण-श्रवण के माध्यम से भी जान कर प्रभावित होता है। इन साधनों में से भी चित्र-दर्शन एवं गुण-श्रवण के लिए किसी अन्य की भी अपेक्षा होती है, जहाँ स्वप्न-दर्शन और साक्षात दर्शन अपने आप भी हो जाते हैं। चित्र-दर्शन के पहले मंझन की 'मधुमालती' में कुछ अप्सराएँ नायक मनोहर को नायिका की चित्रसारी में पहुँचा आती हैं, उसमान की 'चित्रावली' में वही काम किसी देव द्वारा किया जाता है तथा जान की 'रतनावती' में उसका नायक ऐसे चित्र द्वारा प्रभावित होता है जो राजा के दिए हुए जामा पर अंकित रहता है। इसी प्रकार गुण-श्रवण के साधन रूप में भी जायसी के 'पद्मावत' में, रतनसेन के प्रति पद्मावती की प्रशंसा करने के लिए, हीरामन तोते की आवश्यकता पड़ती है, जान की 'छीता' में उसकी नायिका के रूप-गुण की प्रशंसा राजाराम के प्रति किसी व्यक्ति से करा दी जाती है और नूर मोहम्मद की 'अनुराग-

बाँसुरी' में भी अंतःकरण के प्रति सर्वमंगला के रूपादि की प्रशंसा एक ब्राह्मण आकर कर देता है।

प्रेमासक्ति के भाव जाग्रत हो जाने पर फिर प्रेमियों की ओर से विविध प्रयास आरंभ होते हैं। 'पद्मावत' का नायक रतनसेन, सिंहल की पद्मावती को प्राप्त करने के लिए, सोलह सहस्र अन्य राजकुमारों के साथ जोगी बनकर निकल पड़ता है और तोता उसका पथ-प्रदर्शक बनता है। 'मधुमालती' का मनोहर अपना सारा राजपाट छोड़कर जंगलों में भटकने लग जाता है और उसकी नायिका को भी अपनी माता के शापवश एक पक्षी के रूप में घूमने-फिरने लगना पड़ता है, 'कनकावती' का राजकुमार जोगी का वेष धारण करके एक सेना के साथ सिघलपुरी की ओर प्रस्थान करता है और इसी प्रकार 'इंद्रावती' का राजा भी गुरुनाथ नामक तपी को गुरु-रूप में स्वीकार कर जोगी का वेष धारण कर लेता है और अपने मार्ग में सात बीहड़ वनों को लाँघता हुआ अगमपुर की ओर बढ़ता है। सूफी कवियों ने इन प्रेमियों के प्रेम की दृढ़ता सिद्ध करने के लिए उनकी बहुत कड़ी परीक्षा ली है और कभी-कभी उनके प्राणों तक को जोखिम में डाल दिया है। इस प्रेम-परीक्षा का रूप कहीं पर ऐसा भी देखा जाता है कि प्रेमी नायक के सामने कई अन्य सुन्दरियों के संपर्क में आ पड़ने की समस्या खड़ी हो जाती है। उसमान की 'चित्रावली' के सुजान को, अपने प्रेम-पथ पर रहते समय ही, बीच में कौलावती के साथ विवाह तक करना पड़ जाता है किंतु वह चित्रावली को नहीं भूलता। 'अनुराग-बाँसुरी' में तो यह समस्या, प्रेमी अंतःकरण के सामने 'स्नेहनगर' की यात्रा में दो भिन्न-भिन्न मार्गों की कल्पना द्वारा भी लाई गई है। परन्तु सर्वत्र यही सिद्ध किया गया प्रतीत होता है कि इन प्रेमियों को अपने उद्देश्य की सिद्धि में अटूट विश्वास है और उन्हें इस ओर से कोई भी शक्ति डिगा नहीं सकती। इस संबंध में यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि इन प्रेमाख्यानों के अंतर्गत पुरुष प्रेमियों द्वारा जहाँ विभिन्न साहसिक कार्य कराए गए हैं वहाँ नारी प्रेमिकाओं की स्त्री-सुलभ अधीरता, विरह-वेदना एवं बेचैनी में कमी लाने के लिए कतिपय साधनों की योजना कर दी गई है। रतनसेन के विरह में जब नागमती अत्यन्त घबरा उठती है तो एक 'पंछी' की सहायता द्वारा उसकी दशा का परिचय सिंहल द्वीप में कराया जाता है। 'इन्द्रावती' की नायिका जब अत्यन्त व्याकुल हो जाती है तो उसे धीरज बँधाने के लिए दो प्रेम-कहानियाँ कही जाती हैं और इसी प्रकार उसकी प्रतिनायिका को भी एक वैसी ही सुनानी पड़ती है। ऐसे प्रसंगों को ला कर सूफी कवि एक ओर जहाँ विरह-दशा का विस्तृत चित्रण कर देता है वहाँ दूसरी ओर इनके द्वारा प्रेम पंथ का स्वरूप भी स्पष्ट करता है।

सूफ़ी कवियों ने अपनी प्रेमगाथाओं में प्रतिनायकों की सृष्टि करके, उनके नायकों की शक्ति और योग्यता को कसौटी पर कस लिया है, और इसी प्रकार उसमें प्रतिनायिकाओं की अवतारणा करके उनकी दृढ़ता की भी परीक्षा ले ली है। इसी के लिए उन्होंने कभी-कभी अत्यन्त कष्टप्रद अथवा अन्यत्र मृत्युदायी साधनों तक की योजना कर डाली है, किंतु, कहीं-कहीं संयोगवश तो कहीं दैवी सहायता द्वारा भी उन्हें सर्वथा नष्ट हो जाने से बचा लिया है। इसके सिवाय इष्ट फल की प्राप्ति के लिए देवताओं की आराधना कराई जाती है, मंत्र-साधना का उपयोग किया जाता है, वरदान और आशीर्वाद दिलाए जाते हैं, दूतों, दूतियों तथा पराक्रमी नरेशों तक की सहायता को साधन का रूप दिया जाता है और जो बात जहाँ के लिए उपयुक्त ठहरे उससे आवश्यक

काम लिया जाता है। इस प्रकार प्रेममार्ग की विकट से विकट परिस्थितियों में भी परिवर्तन लाकर, अंत में, प्रेमी-प्रेमिकाओं का पारस्परिक मिलन संभव करा दिया जाता है; परन्तु इन दोनों का संयोग भी सदा एक ही बार घटित होकर स्थायी रूप नहीं ग्रहण कर लेता। रतनसेन और पद्मावती सिंहल-द्वीप में एक दूसरे के बन जाते हैं और कुछ काल तक सुखमय जीवन भी व्यतीत करते हैं, किंतु वहाँ से चित्तौरगढ़ लौटते समय मार्ग में उनका एक बार बिछोह हो जाता है। 'चित्रावली' का नायक कुंवर भी जब अपनी प्रेमपात्री को लेकर घर की ओर चलता है, मार्ग में तूफान के चक्कर में पड़ जाता है और फिर किसी-किसी प्रकार जगन्नाथपुरी तक आ पाता है और इसी प्रकार 'हंस-जवाहर' का हंस भी जब अपनी जवाहर के साथ रूम की ओर लौटने लगता है,, वीरनाथ के चेले का षड्यन्त्र उन दोनों को अलग-अलग कर देता है और फिर उसे जोगी हो कर घूमते-घामते भोलाशाह की शरण लेनी पड़ती है तथा अन्त में 'शब्द' की सहायता पाकर ही वह अपने देश लौटता है। परन्तु अपनी प्रेमिकाओं को पाकर तथा कभी-कभी उनके साथ बहुत दिनों तक आनन्दपूर्वक रह कर भी सभी प्रेमी स्वाभाविक मृत्यु से नहीं मरा करते। 'पद्मावत' का रतनसेन देवपाल के साथ युद्ध करता हुआ मरता है, 'मृगावती' का नायक आखेट के अवसर पर किसी हाथी पर से ही गिर कर मर जाता है। 'हंसजवाहर' का हंस छुरी से मार दिया जाता है और 'इन्द्रावती' का राजकुँवर भी अन्त में दुखित होकर ही मरता है और प्रायः ऐसी सभी कथाओं की प्रेमिकाएँ या तो सती हो जाती हैं या यों ही मर जाती हैं। सूफी कवियों ने सुखांत रचनाएँ भी प्रस्तुत की हैं, किन्तु उन्हें अन्त तक पहुँचाते समय प्रेमी और प्रेमिका के सुखमय संयोग तक ही ले जाकर छोड़ दिया है।

चरित्र-चित्रण

सूफियों के प्रेमाख्यानों को पहले कथा-आख्यायिकाओं की भाँति घटनाप्रधान कह देने की ही प्रवृत्ति होती है। एक प्रेम-कहानी में हमें जितना ध्यान उसके घटनाचक्रों और प्रसंगों के विवरण तथा वातावरणों के चित्रण की ओर देना पड़ता है उतना उसके पात्रों की ओर नहीं। हम ऐसे पात्रों और विशेषकर नायक और नायिकाओं के साथ उनके वियुक्त हो जाने पर सहानुभूति प्रकट करते हैं और उनके मिल जाने पर प्रसन्न होते हैं। परन्तु हम ऐसे व्यक्तियों को अधिकतर प्रेमाभिव्यक्ति के लिए निर्मित किसी सजीव यंत्र से बढ़कर महत्व नहीं देना चाहते। वास्तव में, प्रेमकथाओं के अंतर्गत उनके नायकों और नायिकाओं के जीवन का केवल उतना ही अंग प्रदर्शित भी किया गया है जितना उनके प्रेम-व्यापारों से संबंध रखता है। ये रचनाएँ मानव-जीवन के पूर्ण दृश्यों के चित्रण का वैसा प्रयास नहीं किया करतीं, जैसा महाकाव्यों के संबंध में कहा जा सकता है। इनके अन्य पात्रों में हमें कभी-कभी स्वभाव-वैविध्य की भी झलक दीख पड़ती है, किंतु उसके विकास को पूरा अवसर नहीं दिया जाता, जिस कारण उनका भी क्षेत्र प्रायः सीमित ही हो जाता है। बहुत-से ऐतिहासिक पात्र भी यहाँ आकर प्रसंगानुसार नितान्त भिन्न रंग पकड़ते दीख पड़ते हैं और उनकी स्थिति भी किसी साधन से अधिक नहीं रह जाती। सूफी कवियों द्वारा किए गए चरित्र-चित्रण को इसी कारण उतना महत्व नहीं दिया जा सकता। परन्तु जिस समय हम इनके उद्देश्य की ओर भी ध्यान देने लगते हैं तथा जब हमें इस बात का स्मरण हो आता है कि ये रचनाएँ वस्तुतः प्रबंध-काव्यों के रूप में भी निर्मित की गई हैं तो हमें इन कवियों द्वारा किए गए उन प्रयत्नों के

ऊपर भी विचार करना पड़ जाता है जो उन्होंने इन पात्रों को, कम से कम, एक स्पष्ट व्यक्तित्व प्रदान करने के लिए किए हैं।

सूफी कवियों का प्रधान उद्देश्य अपने प्रेमाख्यानों द्वारा उस ईश्वरीय प्रेम के स्वरूप का परिचय देना रहता है जिसके आधार पर ही हम परमात्मा को पा सकते हैं। उनके अनुसार परमात्मा ही हमारा प्रियतम प्रेमपात्र है और उसका मिलन ही हमारे जीवन का चरम लक्ष्य होना चाहिए। अतएव, इस दृष्टि से, प्रेम के क्षेत्र से अन्यत्र कहीं मानव-जीवन की सार्थकता ही नहीं रह जाती और न इस प्रकार विचार करने पर हम प्रेम-प्रभावित जीव को कभी एकांगी ही ठहरा सकते हैं। इन प्रेमाख्यानों के नायक प्रत्यक्षतः लौकिक प्रेम के अनुसार आचरण करते हैं और उनका उद्देश्य किसी प्रेमपात्री की उपलब्धि रहा करता है, परन्तु, यदि इन रचनाओं द्वारा की गई उनकी जीवन-पद्धति को देखा जाय तो उसके आरंभ से ही हमें इनमें कुछ न कुछ विलक्षणता भी प्रतीत होगी। ये अधिकतर या तो अपनी माता की इकलौती संतान हुआ करते हैं और इन्हें वे बड़ी पूजा वा आराधना के अनन्तर प्राप्त करते हैं अथवा ये ऐसे वातावरण में पाले-पोसे ही गए रहते हैं जिससे इनमें भावुकता स्वभावतः आ जाती है और ये अभीष्ट-सिद्धि के सामने किसी दूसरी बात की परवा नहीं किया करते। इनका जगत इनके आदर्शों का जगत हुआ करता है जिसमें तथ्य वा यथार्थता की कहीं गुंजायश नहीं रहा करती, इनके प्रत्येक व्यापार के साथ सर्वस्व-त्याग की भावना बनी रहती है और वह किसी एकांतनिष्ठ साधक द्वारा सम्पन्न की जाने वाली साधना का महत्व भी रखता है। उसके जीवन में अन्य लक्ष्य को सामने रखकर की गई किसी प्रकार की भी चेष्टा का सर्वथा अभाव दीखता है। ये नायक राजा वा राजकुमार होने के नाते संस्कारतः वीर पुरुष भी होते हैं और अवसर आ जाने पर दानवों तथा राक्षसों को मारते, हाथियों को पछाड़ते तथा भयंकर युद्धों में सक्रिय भाग लेकर विजयी भी हो जाते हैं। परन्तु उनके उस पराक्रम को प्रेमाख्यानों के अंतर्गत केवल गौण स्थान ही दिया जा सकता है। इनके किसी साहसिक कार्य का भी कोई पृथक महत्व नहीं है। सूफी कवियों ने इन प्रेमी नायकों के शील-विकास का किसी क्रमिक रूप में प्रदर्शन किया हो, ऐसा नहीं जान पड़ता; परन्तु इतना अवश्य है कि सभी प्रेमाख्यानों के नायकों को हम ठीक एक ही प्रकार के आदर्श प्रेमी की कोटि में नहीं रख सकते और न सभी कवियों को इस कार्य में एक समान सफल ही ठहरा सकते हैं। मंझन की 'मधुमालती' का नायक मनोहर कुँवर तथा शेख रहीम के 'भाषा प्रेमरस' का प्रेमसेन दो ऐसे पात्र हैं जिन्हें हम विशुद्ध प्रेमी कह सकते हैं, किन्तु 'इन्द्रावती' के राजकुँवर को हम उस कोटि में नहीं रख सकते क्योंकि उसमें, सर्वस्व-त्याग की भावना होते हुए भी, वैसी गहरी भावुकता का अभाव है तथा इसी प्रकार न ही हम प्रसिद्ध यूसुफ को ही वैसे प्रेमी का नाम दे सकते हैं और न 'ज्ञानदीप' के नायक के विषय में ही ऐसा कह सकते हैं। नायिकाओं में जुलेखा उस आदर्श के सर्वाधिक निकट है।

सूफी कवियों ने नायक-नायिकाओं के अतिरिक्त जिन अन्य पात्रों का चित्रण किया है उनमें अधिकतर काल्पनिक हैं, किन्तु उनमें कुछ ऐतिहासिक भी हैं। काल्पनिक पात्रों में से भी जो देवताओं वा नबियों के रूप में हैं उनपर अलौकिकता का रंग इतना गाढ़ा चढ़ गया है तथा उनका स्वरूप इतना अधिक रूढ़िबद्ध-सा बन गया है कि उनके विषय में किसी प्रकार का विवेचन करना कभी उपयोगी नहीं हो सकता। उसी प्रकार जहाँ मानवेतर प्राणियों का मनुष्यवत चित्रण

कर दिया गया है और उन्हें अतिप्राकृतिक बना दिया गया है वहाँ पर भी हम ऐसा ही कह सकते हैं। परन्तु जहाँ तक वैसे पात्रों का प्रश्न है जो विशेषकर प्रेमियों के निकटवर्ती रहते हैं और जिन्हें उनकी यथावसर सहायता प्रदान करके सफल बनाने की चिंता रहती है, उन्हें प्रायः सभी कवियों ने स्वभावतः सहृदय बनाया है तथा उनसे 'मधुमालती' की प्रेमा की भाँति अथक परिश्रम भी करवाया है। इन प्रेमाख्यानों में जो पात्र चीन, बलख, रूम जैसे देशों के निवासी कहे गए हैं उनका भी चित्रण अधिकतर उसी रूप में हुआ है जैसा कि किसी भारतीय का हो सकता है। ऐतिहासिक पात्रों में हमारे सामने राघवचेतन, रतनसेन, अलाउद्दीन, हारूँरशीद आदि कई नाम आते हैं। इनमें से राघवचेतन से अलाउद्दीन का भेदिया बनने का काम 'पद्मावत' में जायसी ने तथा 'छीता' में जान कवि ने लिया है और दोनों ही स्थलों पर उसका ऐतिहासिक व्यक्तित्व संदिग्ध-सा प्रतीत होता है। रतनसेन का जो चित्रण जायसी ने किया है वह भी किसी इतिहास द्वारा प्रमाणित नहीं होता। उस पर कवि ने बहुत-कुछ काल्पनिक रंग-चढ़ा दिया है। अलाउद्दीन तथा राघवचेतन इन दोनों के चरित्र का चित्रण जान कवि ने संभवतः जायसी के अनुकरण में किया है। परन्तु जहाँ उसने अलाउद्दीन के परिचित स्वभाव में परिवर्तन लाकर उसे छीता की विदाई के समय एक सहृदय व्यक्ति के रूप में चित्रित किया है, वहाँ कदाचित उसने केवल नवीनता भर दिखलाई है।

वस्तु व घटना-वर्णन

जिस प्रकार सूफी कवियों ने चरित्र-चित्रण करते समय प्रायः प्रबन्ध-रूढ़ियों की शरण ली है उसी प्रकार उन्होंने वस्तु-वर्णन करते समय भी किया है। इन प्रेमाख्यानों को पढ़ते समय जान पड़ता है कि सर्वत्र वे ही समुद्र हैं, वैसा ही तूफान है, वैसे ही वन-वनान्तर हैं तथा वे ही मकान एवं फुलवारियाँ तक हैं। उनकी विशालता, भयंकरता, बीहड़पन अथवा बनावट और सुरम्यता के प्रदर्शन में बहुत कम परिवर्तन किया गया दीख पड़ता है। ये सभी स्थल हमें वैसे ही परिचित लगते हैं और विभिन्न घटनाओं का प्रवाह, उन्हें लेकर, वैसे ही चलता हुआ मिलता है। उसमान, जान और नूर मोहम्मद ने कहीं-कहीं नवीन कल्पनाओं से काम लेने का प्रयत्न किया है, किंतु कासिमशाह, शेख निसार और नसीर से उतना भी नहीं बन पड़ा है। जायसी और शेख नबी ने अधिकतर वर्णन-विस्तार का आश्रय लिया है और मंझन ने प्रायः सब कहीं पाठकों का ध्यान रमाने की ओर भी प्रयत्न किया है। कथा-आख्यायिका अथवा लोकगाथाओं की रचना-परम्परा में कुतूहल-वृद्धि को विशेष महत्व दिया जाता रहा है और घटनाओं के वर्णन की शैली ऐसी कर दी जाती रही है जिससे कहीं शिथिलता का बोध न हो सके। परन्तु फारसी साहित्य की रचना-पद्धति के अनुसरण में कभी-कभी यह बात अपने सामने से ओझल हो पड़ती है और जिस समय ये कवि किसी वस्तु की गिनती वा रूढ़िबद्ध-वर्णन तक उतर आते हैं तो औत्सुक्य-वर्द्धन में कोई भी प्रगति नहीं हो पाती और न लक्ष्य के प्रति उनका आकर्षण ही रह जाता है। इन कवियों ने एक ओर जहाँ सारी सृष्टि को ईश्वरीय ज्योति द्वारा आलोकित पाया है और उसम सर्वत्र परमात्मा का दर्शन पाने की आकांक्षा भी प्रदर्शित की है, वहाँ दूसरी ओर उन्हें एक प्रेमी के मार्ग में चारों ओर विघ्न-बाधाओं का भी आयोजन करना पड़ गया

है। ये विघ्न-बाधाएँ न केवल मानवेतर प्राणियों अथवा प्राकृतिक वस्तुओं की ओर से पहुँचती हैं अपितु इनके लिए मूल स्रोत स्वयं मानव-वर्ग के भी सदस्य बनते आए हैं। सूफी कवि इनका वर्णन करते समय बहुधा अतिशयोक्तिपूर्ण शैली से काम लेता है और प्रेमी नायक के साथ सहानुभूति रखने के कारण उनके द्वारा पड़ने वाले उत्कट से उत्कट प्रभाव को भी सरलतया नगण्य सिद्ध कर देने में कभी संकोच नहीं करता। इसी कारण हमें किसी वैसे नायक के वास्तविक शौर्य वा पराक्रम का ठीक पता नहीं चल पाता और हम उसके विषय में कोरी अलौकिकता का ही अनुभव करके रह जाते हैं।

प्रकृति का वर्णन करते समय इन कवियों ने या तो उसे उपमानों के रूप में देखा है अथवा उसके दृश्यों को उद्दीपन का साधन बना दिया है। परन्तु इन दोनों ही वर्णन-शैलियों में उन्होंने अधिकतर परम्परागत रूढ़ियों का ही अनुसरण किया है। बारहमासे का वर्णन करते समय इन्हें अच्छा अवसर मिला था कि ये प्रसंगवश विभिन्न प्राकृतिक तथ्यों को उनके स्वाभाविक रूप में चित्रित कर दें। परन्तु ऐसे स्थलों पर उन्होंने जितना ध्यान किसी वैसी वस्तु द्वारा पड़ने वाले प्रभाव की ओर दिया है उतना उस के यथातथ्य वर्णन की चेष्टा नहीं की है। 'ज्ञानदीप' के रचयिता शेख नबी ने तो विरह-वर्णन करते समय सुरज्ञानी द्वारा कुछ ऐसे उपचार तक कराए हैं जिनके कारण विरह-यातना में कुछ कमी आ जाय, किन्तु जिनमें मोर को डराने के लिए मार्जार, चंद्र-ज्योत्स्ना के प्रभाव को दूर करने के लिए राहु आदि का केवल अंकन कर देना मात्र ही पर्याप्त माना गया है। इन कवियों ने नगरों का वर्णन करते समय वहाँ के सरोवर, वाटिका, महल, चित्रशाला आदि का विवरण कभी-कभी कुछ विस्तार के साथ किया है तथा वहाँ के घाटों का भी उल्लेख कर दिया है। इसी प्रकार उन्होंने वहाँ के लोगों के वैभव-विलास की चर्चा करते समय उनके आखेट एवं जल-क्रीड़ा तक का विशद चित्रण कर डाला है। इस प्रकार के वर्णनों में विशेष कर जायसी, उसमान एवं नूर मोहम्मद को अच्छी सफलता मिली है। रूप-सौंदर्य और स्वभावगत विशेषताओं का परिचय देते समय भी इन कवियों ने काव्य-रूढ़ियों का ही अधिक प्रयोग किया है। इन्होंने वस्तुस्थिति के नग्न चित्रण का कदाचित कोई प्रयास ही नहीं किया है। यह बात वहाँ पर और भी अधिक स्पष्ट हो जाती ह जहाँ पर नखशिख-वर्णन का भी प्रयत्न किया गया रहता है। इसके सिवाय इन कवियों में से कुछ ने अपनी बहुज्ञता प्रकट करने के फेर में पड़कर विभिन्न रागों अथवा रोगों तक का विवरण प्रस्तुत कर दिया है जो प्रत्यक्षतः अनावश्यक जान पड़ता है।

भाव-व्यंजना

सूफी कवियों की इन रचनाओं का प्रधान विषय प्रेमतत्व का निदर्शन एवं प्रेम-व्यापारों का वर्णन होने के कारण उनकी भाव-व्यञ्जना-पद्धति की सीमा भी स्वभावतः वहीं तक पहुँचती है जहाँ तक उसके अनुकूल वा समर्थक भावों का प्रश्न आ सकता है। सूफियों ने सब कहीं प्रेम के विरह-पक्ष को विशेष महत्व दिया है और इसी कारण, उन्होंने जितना ध्यान प्रेमी एवं प्रेमिकाओं के वियोग, उसकी अवधि में झेले जाने वाले विविध कष्टों तथा उसका अंत करने के उद्देश्य से किए गए विभिन्न प्रयत्नों के वर्णन की ओर दिया है उतना उनके अंतिम

मिलन को भी नहीं दिया है। विरह की दशा वस्तुतः वह मनःस्थिति है जिसमें रहते समय अपने सारे जीवन को ही अपने प्रेमपात्र के प्रति नितांत एकनिष्ठ बना देना पड़ता है। संयोग वा मिलन के अनुभव में उतनी तीव्रता नहीं रह जाती और न इसी कारण उसमें किसी प्रकार की गति लक्षित होती है। विरह के भाव में एक विचित्र अंतःप्रेरणा निहित रहती है जो प्रेमी वा प्रेमिका को कभी चैन की साँस नहीं लेने देती और सतत उद्योगशील बनाकर ही छोड़ती है। वह इसीलिए किसी अवरुद्ध जल-प्रवाह की भाँति अपने आगे बढ़ने की चेष्टा करने लग जाता है और तद-नुसार उसे नित्य नए-नए विरोधों का सामना भी करना पड़ता है। उसके इस संघर्षमय जीवन में अनेक प्रकार के कष्ट हो सकते हैं, किंतु उसे इसकी चिंता नहीं रहा करती। उसके हृदय में अपने प्रिय के साथ मिलने की इच्छा इतनी तीव्र हो गई रहती है कि तज्जन्य उत्साह उसे किसी दूसरी ओर देखने तक नहीं देता और उसके शारीरिक कष्ट भी वस्तुतः मानसिक रूप ग्रहण कर लेते हैं। एक प्रेमी की दृष्टि में बाह्य संकटों पर विजय पाना उतना महत्व नहीं रखता जितना उस अवधि में कमी का लाना।

सूफी कवियों ने विरहावस्था का वर्णन करते समय बरहमासे के वर्णन को बहुत महत्व दिया है। उन्होंने प्रत्येक मास के आगमन और उसके व्यतीत होते समय के ऋतुपरक प्रभाव का निदर्शन किया है और प्रायः इतना और भी बतला देने की चेष्टा की है कि किस प्रकार सुखद वस्तुएँ तक विरह में दुःखद बन जाती हैं। इस बारहमासे के वर्णन में इन कवियों ने भारतीय वातावरणों की ही चर्चा की है परन्तु जहाँ कहीं वे फारसी साहित्य की प्रचलित रूढ़ियों द्वारा प्रभावित हो गए हैं, उन्हें इन वर्णनों को अतिरंजित भी कर देना पड़ा है। इनके द्वारा किए जाने वाले 'रकत के आँसू' जैसे प्रयोगों की मात्रा इतनी अधिक बढ़ जाती है कि प्रायः स्वाभावि-कता का उल्लंघन हो जाता है और कहीं-कहीं वीभत्सता तक आ जाती है। इन सूफ़ी कवियों में ऐसे बहुत कम होंगे जिन्होंने विरह का वर्णन करते समय उचित अनुपात एवं मर्यादा की ओर भी पूरा ध्यान दिया हो। वे इस अवसर पर अपने को कदाचित कहीं भी सँभाल नहीं पाए हैं और प्रायः उच्छृंखल-से बनकर यथारुचि बहकते चले गए हैं। मंझन कवि तक, जिसे हम इस विषय में अपेक्षाकृत अधिक सावधान रहने वाला समझते हैं, केवल प्रारम्भिक दशाओं तक ही अपने को सँभाल सका है। विरह के वर्णनों में नायक एवं नायिका दोनों की ओर ध्यान देना पड़ा है और दोनों के शारीरिक कष्टों तथा मानसिक व्यथाओं का उल्लेख भी करना पड़ा है। परन्तु 'यूसुफ जुलेखा ' के अंतर्गत यह बात इस रूप में नहीं दीख पड़ती और वहाँ पर केवल नायिका की ही अवस्था अत्यन्त दयनीय चित्रित की जाती है। इस प्रेमाख्यान में एक दूसरी उल्लेखनीय बात यूसुफ के वियोग में उसके पिता याकूब का संताप भी बन जाता है। इसी प्रकार एकाध कवियों ने अपनी रचनाओं के अंतर्गत कुछ न कुछ नवीनता लाने के भी प्रयत्न किए हैं। उदाहरण के लिए, कासिमशाह ने 'हंसजवाहर' में उसकी विरहिणी की ओर से विरह-वेदना की अभिव्यक्ति कराते समय उसके प्रति पपीहे से भी कुछ उत्तर दिला दिया है तथा रहीम ने बारहमासे में 'मलमास' द्वारा आशा दिला दी है।

संयोगावस्था का वर्णन करते समय सूफी कवि कभी-कभी अश्लीलता की ओर भी बहक जाते हैं। मिलनपरक आनंदानुभूति का वे कोई उत्कृष्ट परिचय नहीं दे पाते। इन कवियों

ने संयोगावस्था को या तो भोग-विलास के लिए उपयुक्त वातावरण मान लिया है अथवा कभी-कभी उसका रहस्यात्मक अर्थ भी कर डाला है। मंझन का वर्णन इस प्रसंग में भी बहुत-कुछ संयत जान पड़ता है, किंतु उसमान जैसे अन्य कवियों ने इस अवसर पर वाक्चातुर्य का प्रदर्शन तक करा दिया है। नूर मोहम्मद ने अपनी 'इन्द्रावती' के अंतर्गत संयोगावस्था के वर्णन में षड्ऋतु जैसे उद्दीपनों का भी सहारा लिया है, किंतु इस कवि की वर्णन-शैली में रहस्य-भावना का भी रंग चढ़ जाता है और कवि निसार ने तो ऐसे अवसर पर ईश्वरीय प्रेम का निरूपण तक आरंभ कर दिया है। प्रेम-तत्व की व्याख्या प्रायः सभी सूफ़ी कवियों ने की है और उन्होंने, इस प्रसंग में, सौन्दर्य के स्वरूप एवं प्रभाव पर भी बहुत-कुछ कह डाला है। जहाँ तक प्रेम-तत्व के स्वरूप का प्रश्न है, इन सभी कवियों ने उसे अपूर्व, अखंड एवं सर्वव्यापी सिद्ध करने की चेष्टा की है और जायसी तथा नूर मोहम्मद ने इसके विरह-पक्ष को विशेष रूप से लक्षित करते हुए अपने साम्प्रदायिक सिद्धांतों का भी पूरा परिचय करा दिया है। नूर मोहम्मद ने सौन्दर्य-तत्व की भी अच्छी व्याख्या की है। परमात्मा को एक अखंड ज्योति के रूप में स्वीकार कर चुकने के कारण, ये सूफी कवि इस विषय के, स्वभावतः, रूपगत पक्ष का ही विवेचन करते हैं। इसी प्रकार प्रेमपात्र को परम्परानुसार प्रधानतः स्त्री-रूप में ही प्रदर्शित करते आने के कारण उनका ध्यान केवल ऐसे अंगों की ही ओर आकृष्ट होता है जिन्हें हम रमणी-शरीर में विकसित पाया करते हैं। प्रेम एवं विरह के अतिरिक्त प्रसंगवश उत्साह, द्वेष, ईर्ष्या, वैर, कपट, दया, सहृदयता और सौजन्य-परक भावों की भी व्यंजना यहाँ प्रचुर मात्रा में दीख पड़ती है, किंतु उसमें केवल वे ही सूफी कवि अधिक सफल हो सके हैं जिनका ध्यान यथार्थता की भी ओर गया है। जिन लोगों ने, केवल प्रेमी एवं प्रेमिका के प्रेम-व्यापारों को ही विशेष महत्व देते हुए, इन प्रेमाख्यानों के प्रतिनायकों, प्रतिनायिकाओं तथा उनके सहयोगियों अथवा सहायकों के प्रति न्यूनाधिक उपेक्षा का भाव रखा है, उनका चित्त, वास्तविक जीवन की इन प्रवृत्तियों में उतना रम नहीं पाया है।

प्रतीक विधान

सूफियों का उद्देश्य एक ऐसे गहन विषय का स्पष्टीकरण करना था जिसे साधारण शब्दों द्वारा प्रकट नहीं किया जा सकता। एक तो उनके अनुसार परमात्म-तत्व ही ऐसा है जिसके संबंध में सर्वव्यापी जैसे शब्दों का व्यवहार किया जाता है, किंतु जिसका प्रत्यक्ष अनुभव करा पाना संभव नहीं है। हम सदा उसके अनेकानेक गुणों की चर्चा करते हैं, उसे ही सभी कुछ का कर्ता-धर्ता बतलाते हैं और उसके सिवाय किसी अन्य का न होना तक कह डालते हैं, परन्तु जब कभी उसके रूपरंग, उसके प्रत्यक्ष व्यापार वा व्यवहार का प्रश्न आता है, हम उसका पूरा ब्योरा नहीं दे पाते। सूफियों की प्रेम-साधना उसी अनिर्वचनीय सत्ता के साथ तादात्म्य उपलब्ध करने के उद्देश्य से की जाती है, इसलिए उसका विवरण देना और भी कष्टसाध्य है। सूफी साधक जो इस ओर प्रवृत्त होते हैं उसकी पीर-साधना के स्वरूप का परिचय देना चाहते हैं और इस मार्ग में होने वाले विघ्नों तक का पता दे देना चाहते हैं, उनका प्रयत्न रहता है कि किस प्रकार सारी बातें समझा दी जा सकें जिससे उसे बीच मार्ग में घबराकर बैठ जाने का अवसर न आ पाए। इसके सिवाय सूफियों की यह भी धारणा है कि जो प्रेमभाव परमात्मा के प्रति जाग्रत होता है वह तत्वतः उससे विलक्षण नहीं जो

हमारे लौकिक जीवन में दीख पड़ता है। दोनों के उदय, क्रम-विकास एवं परिणाम तक में पूरा साम्य है और इसी कारण एक का दूसरे में परिवर्तित हो जाना तक असंभव नहीं कहा जा सकता। सूफी कवियों ने, विशेष कर इसी विश्वास के आधार पर, प्रेमाख्यानों की रचना की है और उन्हें अपने सिद्धांतों के स्पष्टीकरण का साधन बनाया है। परन्तु प्रेम-कहानी का संबंध साधारण व्यक्तियों के ही साथ होने के कारण इन्हें सुनते वा पढ़ते समय वास्तविक रहस्य और भी गुप्त बन जा सकता है। अतएव इनके रचयिताओं ने कभी-कभी यह भी चेष्टा की है कि इनके अंतर्गत प्रयुक्त शब्दों में से कुछ को सांकेतिक रूप भी दे दिया जाय। जहाँ कहीं ऐसा नहीं किया गया है वहाँ पर भी इन कवियों ने अपनी रचना के अंत में पूरी कथा के वास्तविक रहस्य को समझाया है। ख्वाजा अहमद ने अपनी 'नूरजहाँ' के अंत में तथा इसी प्रकार कवि नसीर ने भी अपने 'प्रेमदर्पण' को समाप्त करते समय कुछ ऐसी पंक्तियाँ लिख दी हैं जिनसे बातें प्रकट हो जाती हैं। जायसी के 'पद्मावत' में भी इस प्रकार की कुछ पंक्तियाँ जोड़ी गई कही जाती हैं, किंतु उसके प्रामाणिक संस्करणों में यह अंश नहीं दीख पड़ता।

प्रेमाख्यानों के अंतर्गत प्रयुक्त शब्दों को सांकेतिक रूप देने अथवा किसी वस्तु वा व्यक्ति का साभिप्राय नामकरण करने के कुछ उदाहरण हमें उसमान कवि की 'चित्रावली' के रचना-काल से मिलने लग जाते हैं और पीछे इस पद्धति का अनुकरण अन्य अनेक सूफी कवि भी करते हैं। उसमान कवि ने अपनी उक्त रचना में कथा-नायक का नाम 'सुजान' दिया है और उसकी नायिका के निवास-स्थान का नाम भी 'रूपनगर' दिया है जिससे प्रतीत होता है कि प्रेम-साधना में प्रवृत्त होने वाला व्यक्ति वास्तव में बुद्धिमान होगा और उसका प्रेमपात्र भी वहीं का होगा जो स्थान सौन्दर्य का आकर हो। परन्तु फिर भी यह 'रूपनगर' कोई ऐसी जगह नहीं जहाँ पर सीधे पहुँच सकते हैं और वहाँ तक जाते समय बीच में कई अन्य स्थलों को भी पार करना पड़ता है जिसका अभिप्राय यह है कि परमात्मा के निकट पहुँच पाने के पहले अपनी दशा में क्रमशः विकास भी होता जा सकता है। इन स्थलों वा पड़ावों के नाम कवि ने, इसी कारण, क्रमशः 'भोगपुर', 'गोरखपुर' एवं 'नेहनगर' दिए हैं और नामानुसार ही उनमें से प्रत्येक का वर्णन भी कर दिया है। उदाहरण के लिए 'भोगपुर' में भोग-विलास का आकर्षण रहा करता है जहाँ से आगे बढ़ना केवल उसी के लिए संभव है जो नियमानुसार संयत जीवन स्वीकार कर सके और इसी प्रकार 'गोरखपुर' का निवास भी उस दशा का सूचक है जिसमें केवल बाह्य साधना वा बाह्य शुद्धि पर ही अधिक बल दिया जाता है। उसमान के अनुसार 'नेहनगर' तक पहुँचने की दशा भी हमारे लिए आदर्श स्थिति नहीं कहला सकती, क्योंकि वहाँ तक भी अभी पूर्ण त्याग का भाव नहीं आया रहता। वहाँ से आगे बढ़ने पर ही, अर्थात् जब हमें अहंभाव के सर्वथा परित्याग की दशा प्राप्त हो जाय तभी हम 'रूप-नगर' में प्रवेश पाने के अधिकारी हो पाते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि ये भिन्न-भिन्न पड़ाव केवल अपने सांकेतिक नामों द्वारा भी प्रेम-साधना के विभिन्न स्तरों का परिचय दिला देते हैं। इसी प्रकार, कासिमशाह की रचना 'हंसजवाहर' में नायक का नाम जानबूझकर 'हंस' रखा गया है जो जीवात्मा का बोधक हो सकता है और उसे सुन्दरी प्रेमपात्री का सर्वप्रथम परिचय देने वाली परी को 'शब्द' की संज्ञा दी गई है जो बहुत ही उपयुक्त ठहरती है।

परन्तु इन दोनों कवियों से भी इस बात में कहीं अधिक कुशल नूर मोहम्मद जान पड़ता

है जिसने 'इन्द्रावती' और 'अनुराग-बाँसुरी' की रचना की है। इस कवि ने 'इन्द्रावती' के नायक द्वारा नायिका के निवास-स्थान 'अगमपुर' की यात्रा कराई है जो परमात्मपद के लिए भी बहुत उपयुक्त नाम कहला सकता है। वहाँ तक पहुँचने वाले मार्ग वा प्रेम-साधना को फिर नूर मोहम्मद ने कई अंतरायों वा विघ्नों से पूर्ण सिद्ध करने के लिए उसमें विभिन्न वनों की कल्पना की है। इन वनों में से प्रथम पाँच को उसने इस प्रकार चित्रित किया है जैसे उनमें रूप,शब्द,सुगंध, स्वाद एवं स्पर्श के आकर्षणों द्वारा बाधा पहुँचती हो और फिर अन्य दो के लिए बतलाया है कि उनका हार्दिक अभिलाषा एवं नाम-स्मरण के साथ संबंध है। ये सातों ही वन बहुत गहन गंभीर हैं जिस कारण उनसे होकर गुजर सकना सरल नहीं है। इसका अभिप्राय यह हो सकता है कि इंद्रियज सुखों का उपभोग करना मायाजाल में फँस जाना मात्र है। इससे उद्धार तभी हो सकता है जब हम 'देहंतपुर' तक पहुँच जायँ जहाँ शारीरिक सुखों का कोई महत्व न रह जाय और फिर जहाँ से संयम के साथ आगे बढ़ने पर वास्तविक 'जिउपुर' की ओर अपनी अंतर्दृष्टि भी रमने लग जाय। साधक राज-कुँवर यहाँ पर अपने साथी बुद्धसेन वा सभी प्रकार के तर्क-वितर्कादि का साथ छोड़ देता है और श्रद्धापूर्वक 'प्रेमपुर' की फुलवारी में जाकर ठहर जाता है जहाँ से उसके प्रयत्न फिर कुछ नए ढंग से होने लग जाते हैं। अंत में जब वह 'कृपा' राजा की सहायता से प्रोत्साहन पाकर 'जगपति' राजा के निकटवर्ती 'आनन्द' का साथ पकड़ता है तथा उसे प्रसन्न भी कर पाता है, तब कहीं उसे सफलता मिलती है और वह अपनी उस प्रेमपात्री को पाने में समर्थ होता है जिसके लिए उसने अपनी सारी चेष्टाएँ आरंभ की थीं। इसी प्रकार उस कवि ने अपनी 'अनुराग-बाँसुरी' में, संभवतः मुल्लावजही की रचना 'सबरस' का अनुकरण करते हुए किंचित भिन्न शैली का भी उपयोग किया है। उसने यहाँ पर प्रायः सारे प्रतीकों का विधान मानव-शरीर से संबंध रखनेवाली इंद्रियादि के क्षेत्र में ही पूरा कर देने का प्रयत्न किया है। यहाँ पर शरीर को 'मूर्तिपुर' का नाम देकर उसके राजा का नाम 'जीव' बतलाया गया है और उसके पुत्र का नाम भी 'अंतःकरण' रखा गया है। इस 'अंतःकरण' के भी, जो वास्तव में यहाँ केवल मन की ही ओर संकेत करता जान पड़ता है, दो साथी 'संकल्प' और 'विकल्प' नामधारी हैं और इसके तीन अन्य भी सहयोगी हैं जिन्हें 'बुद्धि' 'चित्त'और 'अहंकार' कहा गया है। 'अंतःकरण' ही इस प्रेमाख्यान का नायक है जो किसी श्रवण नामक ब्राह्मण से उसके मित्र 'ज्ञातस्वाद' द्वारा प्रदत्त एवं 'सर्वमंगला' की माला पाकर इसकी ओर आकृष्ट हो जाता है, जिसका अभिप्राय यह हो सकता है कि यह सुन्दरी जो 'स्नेहनगर' की निवासिनी है, मन को वाणी एवं श्रवणेन्द्रिय के माध्यमों द्वारा प्रभावित कर देती है। तत्पश्चात 'अंतःकरण' प्रेम-साधना में प्रवृत्त हो जाता है और 'स्नेहनगर' की ओर प्रस्थान भी कर देता है। इस कार्य में उसे उसके साथी 'बुद्धि'एवं 'विकल्प'पहले बाधा पहुँचाते हैं, किंतु पीछे 'स्नेह गुरु' द्वारा प्रोत्साहन भी मिल जाता है और वह अंत में, 'संकल्प' की सहायता से कृतकार्य हो जाता है। इस प्रेमाख्यान की नायिका का 'सर्वमंगला' नाम भी बहुत उपयुक्त जान पड़ता है क्योंकि यह मानव-जीवन के अंतिम उद्देश्य, परम कल्याण का बोधक है।

रस और अलंकार

प्रेमाख्यानों के अंतर्गत प्रधानतः शृंगार रस की ही व्यंजना की गई है। इनके नायक सुन्द-

रियों की ओर आकृष्ट होते हैं, उन्हें प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करते हैं और, अपने कार्य में सफल होने के पहले तक, निरंतर विरह-वेदना द्वारा व्यथित रहा करते हैं। नायकों के हृदय में पूर्वराग जाग्रत करने का काम नायिकाओं के प्रत्यक्ष दर्शन, चित्र-दर्शन वा गुण-श्रवण के माध्यम से लिया जाता है। ये नायक बहुधा राजा वा राजकुमार अथवा धनी सेठ हुआ करते हैं जिनका पालन-पोषण आरंभ से ही सुख व समृद्धि के वातावरण में हुआ करता है जिस कारण भोग-विलास की ओर ये बहुत-कुछ स्वभावतः प्रवृत्त हो जा सकते हैं और इसलिए रूप-सौन्दर्य की ओर इनके सहसा आकृष्ट हो पड़ने में हमें विशेष आश्चर्य का अनुभव नहीं होता। जहाँ प्रत्यक्ष दर्शन की योजना की गई है वहाँ इनके सामने कोई न कोई ऐसी बाधा भी डाल दी जाती है जिससे इनके अनुराग में अधिक तीव्रता आ जाय। परन्तु जहाँ पर इन्हें रूप-सौन्दर्य की केवल एक परोक्ष झलक मात्र दिखला दी गई है वहाँ इनके लिए पहले से ही विकट समस्याओं की पूरी व्यवस्था कर दी गई मिलती है। फलतः इनके पूर्वराग में किसी साधारण विरह का ही परिचय नहीं मिलता, प्रत्युत ये कथारंभ से ही अत्यंत व्याकुल और बेचैन बनकर व्यवहार करते पाए जाते हैं। इनके कष्टों में फिर उत्तरोत्तर वृद्धि होती चली जाती है और जब इन्हें कभी यह पता चल जाता है कि उनकी प्रेमपात्री भी लगभग इन्हीं की भाँति विकल हो रही है तो ये प्रायः अधीर तक हो उठते हैं और अपने सर्वस्व का त्याग कर केवल उसके मिलन को ही अपने जीवन का एक मात्र ध्येय स्वीकार कर लेते हैं। इन प्रेमाख्यानों के नायकों के जीवन का अधिकांश केवल पारस्परिक मिलन के लिए नियोजित विविध प्रयत्नों में ही व्यतीत होता है। इस अवधि में जो कुछ भी दृश्य इनके सामने आते हैं वे या तो इनके लिए उद्दीपन का काम करते हैं अथवा इनके कार्य में अवरोध डालकर इनकी मनोदशा को और भी सुस्थिर तथा एकांतनिष्ठ बन जाने में सहायता पहुँचाते हैं और इस प्रकार, इन्हें उनके द्वारा भी अप्रत्यक्ष उत्तेजना ही मिल जाती है। जहाँ तक अनुभवों का प्रश्न है, ये हमें इन दोनों ही प्रधान पात्रों में प्रचुर मात्रा में दीख पड़ते हैं। जायसी और विशेष कर नूर मोहम्मद ने अपनी-अपनी रचनाओं के अंतर्गत इस प्रकार के बहुत से वर्णन किए हैं जिनमें ऐसी सारी बातों के उदाहरण मिल जाते हैं। उद्दीपन विभाव के अनुकरणों की तो प्रायः सभी कवियों ने सखा, सखी, वन, उपवन, ऋतु-परिवर्तन आदि रूपों में चर्चा की है और फिर उन्होंने प्रासंगिक ढंग से अनेक अनुभावों का भी दिग्दर्शन करा दिया है। वे स्वभावतः विप्रलंभ शृंगार के ही वर्णन में अपनी रुचि का अधिक प्रदर्शन करते हैं। संभोग शृंगार की दशाओं का कभी विस्तृत विवरण नहीं देते। इसी प्रकार हमें ऐसा भी लगता है कि उन्होंने नायकों एवं नायिकाओं के विविध भेदों को उद्धृत करने की ओर भी उतना ध्यान नहीं दिया है।

सूफी प्रेमाख्यानों के कवियों ने शृंगार रस के अतिरिक्त अन्य रसों का वर्णन स्वभावतः बहुत कम किया है। वीर रस के वर्णन उन स्थलों पर आ जाते हैं जहाँ पर उनके नायकों को अपना साहसिक कार्य दिखलाते समय कभी-कभी अपने विरोधियों वा शत्रुओं का सामना करना पड़ता है। मुल्ला दाऊद की 'चंदायन' रचना का नायक लोरिक अपनी प्रेयसी को भगा कर लाते समय कई शत्रुओं से भिड़ता है और उन्हें परास्त भी कर देता है। वह अवसर आ पड़ने पर किसी की ललकार से संत्रस्त नहीं होता, प्रत्युत निर्भीक बन कर उनके साथ अकेला भी लड़ पड़ता है। वीर रस की भावना के लिए सर्वथा उपयुक्त हमें 'पद्मावत' के रतनसेन की वह उक्ति लगती है जिसे उसने

पद्मावती के लिए किए गए अलाउद्दीन के प्रस्ताव पर व्यक्त किया है और इस संबंध में उसी रचना का वह स्थल भी द्रष्टव्य है जहाँ पर गोरा ने अपने विषय में गर्वोक्ति प्रकट की है। युद्धों की तैयारी अथवा वास्तविक युद्ध-व्यापार के वर्णन इन रचनाओं में उतने नहीं पाए जाते, किंतु फिर भी इनके कुछ उदाहरण 'पद्मावत', 'हंसजवाहर' तथा 'इन्द्रावती' आदि से भी दिए जा सकते हैं। इसी प्रकार, ऐसी रचनाओं के अंतर्गत हमें एकाध ऐसे प्रसंग भी मिल सकते हैं जहाँ पर करुण, शांत एवं वीभत्स जैसे रसों की किंचित अभिव्यक्ति हो गई हो। परन्तु इनके कवियों का प्रधान उद्देश्य निश्चित एवं सीमित रहने के कारण इनकी शृंगारेतर रसों के परिपाक की ओर की गई विशेष चेष्टा नहीं लक्षित होती। काव्य-चमत्कारों की ओर केवल उन्हीं कवियों का ध्यान गया है जो या तो स्वभावतः प्रतिभाशाली रहे हैं अथवा जो कभी किसी कारणवश इस ओर सचेष्ट हो गए हैं। इनमें से जायसी और नूर मोहम्मद के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

सूफी प्रेमाख्यानों के अंतर्गत हमें अलंकार-विधान के उतने उल्लेखनीय उदाहरण नहीं मिलते। इनके कवियों ने बहुधा प्रचलित परम्परा का ही अनुसरण किया है और उन्होंने अपनी ओर से कोई विशेषता लाने का प्रयत्न नहीं किया है। फारसी साहित्य द्वारा बहुत-कुछ प्रभावित रहने पर भी उन्होंने अधिकतर भारतीय क्षेत्रों से ही उपमानादि ग्रहण किए हैं तथा उनके प्रयोग भी भरसक यहीं की पद्धति के अनुसार किए हैं। जिन लोगों ने कतिपय बाहरी उपकरणों को भी काम में लाने की चेष्टा की है उनमें नूर मोहम्मद का नाम विशेष रूप से लिया जा सकता है। परन्तु इनकी रचनाओं में भी हमें अधिक उदाहरण नहीं मिल सकते और न वे ऐसे हैं जिनके आधार पर कोई निश्चित मत प्रकट किया जा सके। इसके सिवाय जिन-जिन सूफी कवियों ने नायक-नायिकाओं की विरहावस्था का वर्णन करते समय अत्युक्तिपूर्ण कथन किए हैं उनकी रचनाओं से भी हमें उतने स्पष्ट उदाहरण नहीं मिल पाते और न वे इतने अधिक संख्या में ही उपलब्ध होते हैं जिससे उन पर उक्त साहित्य का कोई विशेष प्रभाव माना जा सके। किसी रमणी के विरह-पीड़ित शरीर को नितांत रूप से गला वा जला हुआ बतलाना अथवा उसके रूप-सौन्दर्य की प्रशंसा करते समय उसके गले से उतरती हुई पीक को बाहर से स्पष्ट झलकती हुई कह डालना फारसी रचनाओं की वर्णन-शैली का स्मरण अवश्य दिला देता है, किंतु ऐसे कथन भी यहाँ प्रायः उपयुक्त स्थलों पर ही पाए जाते हैं और वे उतने हास्यास्पद भी नहीं बन जाते। सूफी प्रेमाख्यानों को हम रूपकात्मक रचनाओं में गिना करते हैं जिसका कारण यह है कि एक ओर जहाँ इनमें हमें कोई प्रेम-कहानी दीख पड़ती है वहाँ दूसरी ओर इनके अंतर्गत हमें विशिष्ट सूफी प्रेम-साधना के विविध अंगों का स्पष्टीकरण भी मिल जाता है। यहाँ पर प्रस्तुत का वर्णन किसी ऐसे ढंग से किया गया रहता है जिससे केवल दो-चार शब्दों के ही संकेतों से हमें किसी अप्रस्तुत का भी बोध होने लगे और इस प्रकार हमें उससे कवि का आशय भी स्पष्ट हो जाय। ऐसे प्रासंगिक वर्णनों को प्रायः समासोक्ति की संज्ञा दी जाती है और सूफियों के प्रेमाख्यानों में इनका उपयोग बड़े सुन्दर ढंग से किया गया है। सूफी कवियों में समासोक्ति का सबसे अधिक सफल प्रयोगकर्ता जायसी है, जिसकी उत्प्रेक्षामूलक उक्तियों को भी हम कम महत्व नहीं दे सकते।

छंद-योजना

सूफी प्रेमाख्यानों को हम प्रबंध-काव्यों की श्रेणी में रखते हैं और इनमें से कई-एक को कुछ

लोग महाकाव्य तक कह डालने में संकोच न करेंगे। परन्तु प्रबंध-काव्यों के सभी लक्षणों को ध्यान में रखते हुए हमें उन्हें बहुत-कुछ भिन्न भी ठहराना पड़ता है। इस विभिन्नता के आधारों में कुछ तो विषयगत हैं जिनकी ओर इसके पहले भी संकेत किया जा चुका है और शेष का संबंध उनकी रचना-पद्धति से है जिसमें छन्द-योजना भी आ जाती है। जिन सूफी कवियों ने ऐसी रचनाओं को प्रस्तुत करते समय फारसी की बहरों को नहीं अपनाया उन्होंने अपभ्रंश के चरित-काव्यों, धर्मकथाओं तथा सहजयानी सिद्धों के कतिपय फुटकर पदों में उपलब्ध चौपाई-दोहों को अपने लिए उपयुक्त समझा। अपभ्रंश रचनाओं में प्रायः ऐसे छंद वे ही आया करते थे जिनके अंत में गुरु का होना आवश्यक नहीं था, किंतु चौपाइयों के अंत में दीर्घ मात्रा का आ जाना नियम-जैसा था। इसके सिवाय अपभ्रंश काव्यों में अर्धालियों की संख्या भी अपेक्षाकृत अधिक हुआ करती थी। अपभ्रंश के ये छंद 'अरिल्ल' कहे जाते थे। चरित-काव्यों में इनका प्रयोग करने के अनन्तर फिर बीच-बीच में प्रायः घत्ता छंद की कोई एक रचना दे दी जाती थी जिससे वर्णन-शैली में किसी प्रकार की शिथिलता न जान पड़े। हिंदी में इस नियम का पालन चौपाइयों के अनंतर दोहे के प्रयोग द्वारा किया गया। जहाँ तक अर्धालियों की संख्या का प्रश्न है, अपभ्रंश की रचनाओं के अंतर्गत अधिकतर सम ही दीख पड़ती थी, किंतु हिंदी के काव्य-ग्रंथों में यह विषम भी होने लग गई। इसका कारण क्या था और चौपाई शब्द के चार पदों वा चरणों से युक्त अर्थ लगाने पर भी ऐसा परिवर्तन क्यों किया गया इसका ठीक पता नहीं चलता। सूफी रचनाओं के लिए यह अनुमान किया जा सकता है कि उनके कवियों ने प्रत्येक अर्धाली को ही मसनवी की द्विपदियों की भाँति स्वतन्त्र मान लिया होगा। परन्तु यह समाधान ऐसी अन्य रचनाओं पर भी विचार करते समय संतोषजनक नहीं कहा जा सकता जब तक यह भी न मान लिया जाय कि वहाँ इनका अनुकरण हुआ होगा। सूफी प्रेमाख्यानों के कवियों में से दाऊद, कुतबन, मंझन और नूर मोहम्मद (इन्द्रावती में) ने ५–५ अर्धालियों के अनन्तर दोहा दिया है जहाँ जायसी, उसमान, शेख नबी, कासिमशाह और नसीर ने यह क्रम ७–७ अर्धालियों के अनुसार निबाहा है और शेख निसार ने ९–९ अर्धालियाँ तक दे दी हैं। केवल शेख रहीम ने अपने 'भाषाप्रेम रस' में तथा नूर मोहम्मद ने अपनी 'अनुराग-बाँसुरी' के अन्तर्गत क्रमशः ६–६ व ४–४ अर्धालियाँ रखी हैं जिसके अनुसार कहा जा सकता है कि इन दोनों कवियों ने क्रमशः तीन-तीन और दो-दो चौपाइयों की ही योजना की होगी। इन दोहों-चौपाइयों अथवा द्विपदियों के अतिरिक्त सूफी प्रेमाख्यानों में केवल सोरठे, सवैये, प्लवंगम और बरवै जैसे छंदों के ही प्रयोग कभी-कभी किए गए हैं। नूर मोहम्मद ने अपनी 'अनुराग-बाँसुरी' में ३–३ चौपाइयों के अनन्तर १–१ बरवै दिया है, दोहा नहीं दिया है।

भाषा

सूफी प्रेमाख्यानों की भाषा प्रायः सर्वत्र अवधी दीख पड़ती है और उसमें भी अधिकतर ठेठ रूप का ही प्रयोग हुआ है। केवल उसमान और नसीर पर कुछ भोजपुरी का भी प्रभाव लक्षित होता है और नूर मोहम्मद की 'इन्द्रावती' में भी हमें इसके कुछ उदाहरण मिल सकते हैं। नूर मोहम्मद ने तो कहीं-कहीं ब्रजभाषा के भी प्रयोग किए हैं और इस प्रकार, अपनी पंक्तियों में एक विभिन्न भाषा का रूप खड़ा कर दिया है। इन कवियों ने विशेष कर तद्भवबहुल शैली को ही अपनाया

है और तत्सम शब्दों के प्रयोग प्रायः वहीं किए हैं जहाँ नामों का प्रश्न आया है। इन तत्सम शब्दों में केवल संस्कृत भाषा के ही शब्दों की गिनती नहीं की जा सकती, क्योंकि किसी-किसी कवि ने फारसी और अरबी को भी अपनाया है। भाषा की दृष्टि से प्रारंभिक सूफी प्रेमाख्यानों की अवधी अधिक ठेठ और मिश्रित जान पड़ती है। कुतबन की 'मृगावती' में तो हमें ऐसे बहुत कम शब्द मिलेंगे जिन्हें फारसी, अरबी अथवा तुर्की-जैसी भाषाओं का ठहरा सकते हैं। संस्कृत के तत्सम शब्दों की भी यहाँ पर बड़ी कमी जान पड़ेगी। सूफी कवियों ने अवधी भाषा के मुहावरों का भी अच्छा प्रयोग किया है और कुछ ने तो अपनी कृतियों में लोकोक्तियों तक को विशिष्ट स्थान दिया है। सूफी प्रेमाख्यानों के इन रचयिताओं में केवल एक जान कवि ही ऐसा है जो अवधी के क्षेत्र से अधिक दूर का निवासी है और कदाचित इसीलिए उसकी भाषा पर अन्य कवियों की अपेक्षा ब्रजभाषा का प्रभाव कहीं अधिक दीख पड़ता है। इस कवि ने अपनी रचना 'कनकावती' के अंतर्गत एक स्थल पर भाषा-प्रयोग-संबंधी अपने आदर्श पर भी कुछ प्रकाश डाला है और वहाँ पर बतलाया है कि अच्छी भाषा को इतना सरल और स्पष्ट होना चाहिए कि उसे लिखते, पढ़ते वा बोलते समय किसी प्रयास का अनुभव न हो और जो गँवारों तक के लिए भी बोधगम्य हो सके।

मूल्यांकन—सूफी और असूफी प्रेमाख्यान

आज तक उपलब्ध सामग्रियों के आधार पर कहा जा सकता है कि हिंदी के सूफी प्रेमाख्यानों की रचना का आरंभ ईसा की चौदहवीं शताब्दी में हुआ था और ऐसी सर्वप्रथम कृति मुल्ला दाऊद की 'चंदायन' वा 'नूरक चंदा' थी। उस काल तक रचे गए किसी असूफी प्रेमाख्यान का पता नहीं चलता, यद्यपि यह कहना भी हमें युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता कि सूफी प्रेमाख्यान ही पीछे इनके भी आदर्श बने होंगे। प्रेमाख्यानों की रचना, उसके पहले से ही होती आ रही थी और वे अपभ्रंश के जैन चरित-काव्यों, रासो-ग्रन्थों तथा संस्कृत के पौराणिक आख्यानों, काव्य-ग्रंथों और प्रचलित लोकगाथाओं के रूपों में अच्छी संख्या में विद्यमान थे। तदनुसार उस समय तक इसके लिए अनेक प्रबंध रूढ़ियाँ प्रचलित हो चुकी थीं, कथानक-रूढ़ियों का प्रचार हो चुका था और ऐसे साहित्य को पूरी लोकप्रियता भी मिल चुकी थी। इन्हें न तो किसी सर्वथा नवीन शैली की सृष्टि करनी पड़ी और न अपने विषय के ही लिए कहीं अन्यत्र भटकना पड़ा। इनके मूल स्रोतों के आदर्श का काम उन कथानकों ने दिया जो बहुत पहले से ही प्रसिद्ध थे और इन्हें अपनी रचना-शैली का आदर्श भी उपलब्ध रचनाओं में ही मिल गया। अतएव अधिक संभव यही है कि इन दोनों वर्गों की रचनाओं ने मूलतः किन्हीं सामान्य आदर्शों से ही प्रेरणा ग्रहण की होगी। पीछे चलकर इनमें से एक को दूसरे से प्रभावित होने का भी अवसर अवश्य मिला होगा, किन्तु ऐसा होते हुए भी इनकी अपनी-अपनी विशेषताएँ बनी रह गई होंगी। सूफी प्रेमाख्यानों के संबंध में यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि उन्हें इस ओर अनुप्राणित करने के लिए फारसी साहित्य का भी आदर्श विद्यमान था तथा उस काल तक स्वयं भारत के भी सूफी कवियों ने प्रेम-कथात्मक मसनवियों की रचना आरंभ कर दी थी। परन्तु हिंदी के सभी सूफी कवियों ने उनका अंधानुसरण करना उचित नहीं समझा और जिन लोगों ने ऐसा किया उनकी एक पृथक उर्दू रचना-शैली ही चल पड़ी।

जहाँ तक असूफी प्रेमाख्यानों की विशेषताओं का प्रश्न है, इस विषय में प्रसंगवश कतिपय

बातों का उल्लेख पहले भी हो चुका है। मूल स्रोतों की दृष्टि से इन दोनों के विभिन्न कथानकों में कोई वैसा अंतर नहीं लक्षित होता। केवल इतना कहा जा सकता है कि दोनों वर्गों की रचनाओं का तुलनात्मक अध्ययन करने पर हमें ऐसा लगता है कि सूफी प्रेमाख्यानों की कथावस्तु में काल्पनिकता का अपेक्षाकृत अधिक समावेश हुआ है। इसके विपरीत असूफी प्रेमाख्यानों के रचयिताओं ने पौराणिक आख्यानों को कहीं अधिक मात्रा में अपनाया है। परन्तु इसके कारण इन दोनों की प्रबंध-शैली में भी उतना अंतर नहीं आ सका है और कम से कम अनेक स्थूल बातों में ये प्रायः एक ही समान निर्मित हुई हैं। दोनों का आरंभ मंगलाचरणों से होता है और तत्पश्चात कतिपय परिचयात्मक उल्लेख कर दिए जाते हैं। इनमें जो कुछ विभिन्नता दीख पड़ती है वह प्रधानतः कवियों के मत-विभेद एवं व्यक्तिगत विशेषताओं के कारण आ गई है और कभी-कभी तो इनके एकाध अपवाद तक मिल जाते हैं। इसी प्रकार मूल कथा का आरंभ करते समय, दोनों वर्गों के कवि प्रायः एक ही ढंग से नायक वा नायिका के जन्मादि के वर्णन आरंभ करते हैं। इस प्रसंग में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि असूफी प्रेमाख्यानों में उनके माता-पिता का पहले निःसंतान होना भी बतलाना विशेष रूप से द्रष्टव्य है। शेख नबी जैसे एकाध सूफ़ी कवियों ने अपनी रचनाओं में इस बात को भी सम्मिलित कर लिया है, किंतु इसकी संख्या उतनी बड़ी नहीं कही जा सकती। सूफी कवियों में से अनेक ने हिन्दू-जन्मान्तरवाद के भी उदाहरण प्रस्तुत किए हैं जो उनकी स्वीकृतियों के साथ कोई मेल नहीं खाता और उनका परमात्मा-विषयक वर्णन भी कभी-कभी वेदान्त के अद्वैतवाद की कोटि तक पहुँचने लग जाता है। किन्तु उनके ऐसे कथन बहुधा प्रासंगिक रूप में ही आ गए हैं। उदाहरण के लिए, जिस जन्मांतरवाद का प्रसंग हमें मंझन की 'मधुमालती' में मिलता है वह केवल कथा-विशेष के कारण है और उसे हम वैसा महत्व नहीं दे सकते जैसा आलम के 'माधवानल कामकंदला' वाले ऐसे उल्लेख को दिया जा सकता है। इसी प्रकार असूफी कवियों में से कई ने अपने गुरु की वंदना को भी आवश्यक समझा है, किन्तु उनका यह वर्णन सूफियों द्वारा किए गए पीरों वा औलिया के प्रति भक्ति-प्रदर्शन के ढंग का नहीं है।

सूफी एवं असूफी प्रेमाख्यानों में एक बहुत बड़ा अंतर इस बात में दीख पड़ता है कि प्रथम वर्ग के कवियों का ध्यान जहाँ नायक वा नायिकाओं के वियोग-पक्ष का वर्णन करने की ओर विशेष रूप से जाया करता है और वे संयोग-पक्ष के प्रति प्रायः उपेक्षा तक प्रदर्शित करते हैं, वहाँ द्वितीय वर्ग में यह बात नहीं पाई जाती और उनके कवि अधिकतर दोनों पक्षों के ही वर्णन की ओर लगभग समान भाव से प्रवृत्त होते जान पड़ते हैं। पुहकर के असूफी प्रेमाख्यान 'रसरतन' में तो अंत में सूरसेन राजा के गोलोक सिधारने पर सोम का राज्य करना, अपने ज्येष्ठ पुत्र के उसके नाना का राज्य मिल जाने पर प्रसन्नता के कारण नाटक-प्रदर्शन की व्यवस्था कराना तथा इसी प्रकार, उससे बहुत प्रभावित होकर चारों पुत्रों में राज्य बाँटकर संन्यास लेना जैसी बातों का भी समावेश कर दिया गया है जिनका उस प्रेमकथा के साथ कोई भी संबंध नहीं जान पड़ता। इसके सिवाय सूफी कवियों ने अपनी प्रेमगाथा में जितने उदाहरण प्रेम के, नायक-नायिकाओं के अविवाहित रूप में उत्पन्न होने के प्रस्तुत किए हैं उतने उनके विवाहोपरांत वाली दशा के भी नहीं दिए हैं। इनका प्रमुख उद्देश्य यह रहा है कि किन्हीं पुरुषों और युवतियों के बीच रागात्मक संबंध स्थापित कर उसके उत्तरोत्तर दृढ़तर होते जाने का वर्णन किया जाय तथा उन दोनों का मिलन हो चुकने पर उस दशा

को केवल फलप्राप्ति समझ कर वहीं से छोड़ दिया जाय। परन्तु असूफी कवियों ने प्रायः प्रेमी नायक एवं नायिका के उस जीवन को भी वही महत्व दिया है जिसे वे मिलनोपरांत व्यतीत करते हैं। इनकी दृष्टि में स्वभावतः वह वैवाहिक जीवन का आदर्श रहा होगा जो भारतीय समाज की एक विशेषता है और जिसके विशिष्ट अंग दाम्पत्य सुख व पातिव्रत धर्म हैं। सूफी कवियों के प्रेमी इस प्रकार के गार्हस्थ्य जीवन के प्रति प्रायः उपेक्षा तक प्रदर्शित करते दीख पड़ते हैं और उनकी सामी परम्परा से ली गई प्रेम-कहानियों की नायिकाओं ने तो कभी-कभी किसी एक पुरुष से ब्याही जाने पर भी अन्य युवकों के प्रति प्रेमासक्ति का प्रदर्शन किया है। मुल्ला दाऊद की 'चंदायन' की मैना अथवा जायसी के 'पद्मावत' की नागमती-जैसी कुछ प्रेमिकाएँ सूफी प्रेमगाथाओं में भी मिल सकती हैं, किंतु वे वहाँ पर वस्तुतः प्रधान नायिका बनकर नहीं आतीं और उनके प्रेम और विरह का वर्णन बहुत-कुछ उत्कृष्ट होने पर भी गौण बन जाता है।

सूफी कवियों ने अपनी रचना में प्रकृति-वर्णन एवं नखशिख-वर्णन की शैली प्रायः वही रखी है जो भारतीय साहित्य में दीख पड़ती है। उन्होंने कभी-कभी प्रसंगवश कामशास्त्र, साहित्यशास्त्र, योगशास्त्र तथा आयुर्वेदशास्त्र तक की बातों का समावेश ठीक उसी परम्परा के अनुसार किया है। उन्होंने सर्वसाधारण में प्रचलित अंधविश्वासों तथा परम्परागत उपचारों के विवरण देते समय भी किसी प्रकार की नवीनता नहीं दिखलाई है। इस प्रकार के वर्णनों में हमें सूफी एवं असूफी प्रेमाख्यानों में कोई प्रत्यक्ष अंतर नहीं लक्षित होता। परन्तु जिस समय कोई सूफी कवि अपने प्रेमी नायक के विविध प्रयत्नों का वर्णन करने लग जाता है और उसका ध्यान अपनी सांप्रदायिक प्रेम-साधना की ओर भी चला जाता है, हमें ऐसा लगता है कि उसके सामने प्रस्तुत की गई वस्तु वा घटना भी उसकी दृष्टि से कुछ न कुछ ओझल हो गई है और वह किसी अप्रस्तुत आदर्श के फेर में पड़ गया है। असूफी कवियों के ऐसे वर्णनों में उस कठिनाई का अनुभव नहीं हो सकता और वे ऐसी भूलें तभी करते हैं जब अत्यधिक अनुकरण करते हैं। अनुकरण करते समय तो कभी-कभी यहाँ तक बढ़ जाते हैं कि उन्हें पता नहीं चलता कि जिस वातावरण का चित्रण करना है उनका उन दृश्यों के साथ कुछ भी संबंध नहीं जो 'अलिफलैला' जैसी रचना में, सामी परम्परा के प्रभाव में आकर, सम्मिलित कर लिए गए हैं। उदाहरण के लिए सामुदायिक दुर्घटना का जो वर्णन मृगेंद्र कवि की रचना 'प्रेम-पयोनिधि' में मिलता है वह भारतीय कथा-साहित्य की प्राचीन परंपरा के साथ उतना मेल नहीं खाता जितना उन विवरणों के साथ जो फारसी साहित्य की प्रसिद्ध मसनवियों में दीख पड़ते हैं और जिनका अनुकरण जायसी आदि सूफी कवियों ने स्वभावतः अपने विशिष्ट संस्कारों के कारण ही कर दिया होगा।

जहाँ तक भाषा-प्रयोग एवं छंद-योजना का प्रश्न है—दोनों प्रकार की रचनाएँ लगभग एक ही आदर्श का पालन करती हुई जान पड़ती हैं। फिर भी सूफी कवियों का झुकाव जितना अवधी को अपनाने, दोहा-चौपाइयों का प्रयोग करने तथा ठीक एक ही प्रकार के ढाँचे में पूरी कहानी को रख देने की ओर दीख पड़ता है उतना असूफी कवियों का नहीं। इन कवियों में से 'ढोला मारू रा दूहा' तथा 'छिताई वार्ता' के कवियों एवं 'माधवानल कामकंदला' के रचयिता कुशललाभ ने जहाँ राजस्थानी का प्रयोग किया है, वहाँ बोधा के 'विरहवारीश' एवं नन्ददास की 'रूपमंजरी' में ब्रजभाषा दीख पड़ती है। 'रसरतन', 'नल-दमन', दुखहरन की

'पुहुपावती' और चतुर्भुजदास की 'मधुमालती' की अवधी का भी रूप एक ही प्रकार का नहीं है। 'रसरतन' और 'पुहुपावती' में जहाँ उसका चलता रूप दीख पड़ता है, वहाँ 'मधुमालती' के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता और 'नल-दमन' में तो कहीं-कहीं पंजाबी तक आ गई है। इसी प्रकार छन्द-प्रयोग के सम्बन्ध में भी सभी असूफी कवि, सूफियों की भाँति, केवल दोहे-चौपाइयों को ही सर्वाधिक महत्व देते नहीं जान पड़ते। 'ढोला मारू रा दूहा' में जहाँ केवल दूहे हैं (और 'छिताई वार्ता' में इसके साथ दूहरे भी आ गए हैं), वहाँ कुशललाभ की रचना में चौपाई की प्रधानता है और गाहा, दूहा, सोरठा आदि को गौण स्थान दिया गया है। केवल 'नल-दमन' एवं 'रूपमंजरी' में ही दोहा-चौपाई के प्रयोग की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। 'पुहुपावती', 'मधुमालती' एवं 'प्रेमपयोनिधि' में इनके साथ कई अन्य छंदों के भी प्रयोग किए गए हैं तथा 'रसरतन' एवं 'विरह वारीश' में तो इन सभी की भरमार कर दी गई है।

सूफी कवियों की देन

सूफी कवियों ने अपने प्रेमाख्यानों की रचना द्वारा जिस एक महत्वपूर्ण प्रश्न की ओर हमारा ध्यान दिलाया है वह मानव-जीवन के सर्वांगपूर्ण विकास के साथ संबंध रखता है और जो प्रधानतः उसके एकोद्दिष्ट और एकांतनिष्ठ हो जाने पर ही संभव है। इनका कहना है कि यदि हमारी दृष्टि विशुद्ध प्रेम द्वारा प्रभावित हो सके और हम उसके आधार पर अपना संबंध परमात्मा से जोड़ लें तो हमारी संकीर्णता सदा के लिए दूर हो जा सकती है। ऐसी दशा में हम न केवल सर्वत्र एक व्यापक विश्वबंधुत्व की स्थापना कर सकते हैं, प्रत्युत अपने भीतर भी अपूर्व शांति एवं परम आनन्द का अनुभव कर सकते हैं। इनके प्रेमाख्यानों का मुख्य संदेश मानव-हृदय को विशालता प्रदान करना, उसे सर्वथा परिष्कृत बना देना तथा अपने भीतर दृढ़ता और एकांतनिष्ठा की शक्ति लाना है। सूफियों के इस प्रेमाधारित जीवनादर्श के मूल में उनका यह सिद्धांत भी काम करता है कि वास्तव में ईश्वरीय प्रेम तथा लौकिक प्रेम में कोई अंतर नहीं है। 'इश्कमजाजी' को हम तभी तक सदोष कह सकते हैं जब तक उसमें स्वार्थ-परायणता की संकीर्णता जान पड़े और आत्म-त्याग की उदारता न लक्षित हो। जब तक वह अपने विशुद्ध रूप में नहीं रहा करता तभी तक उसमें वासना के संयोग की आकांक्षा भी की जा सकती है। व्यक्तिगत सुख-दुख अथवा लाभ-हानि के स्तर से ऊपर उठते ही वह एक अपूर्व रंग पकड़ लेता है और फिर क्रमशः उस रूप में ही आ जाता है जिसे 'इश्कहकीकी' के नाम से अभिहित किया जाता है। सूफियों ने उसे यह रंग प्रदान करने के ही उद्देश्य से प्रत्येक प्रेमी को विभिन्न संकटों और बाधाओं की आग में तपाने की भी चेष्टा की है।

सूफियों की इस व्यापक नियम की अटलता में बहुत बड़ी आस्था है और इसके कारण उनमें हम कभी-कभी एक विचित्र अंधविश्वास अथवा सांप्रदायिकता तक की गंध पाकर उन पर कट्टरता और हठधर्मिता का आरोप करने लग जाते हैं। कभी-कभी तो इसमें हमें उनके इस्लाम धर्म के प्रचार के उद्देश्य से दिए गए किसी ऐसे प्रलोभन का भी संदेह होने लगता है जो मनोहर कहानियों के प्रति आकर्षण उत्पन्न कराकर प्रतिफलित किया जाय। परन्तु सूफियों के प्रेमाख्यानों द्वारा ही इस प्रकार की शंकाएँ निर्मूल होती जान पड़ती हैं। इन कवियों ने अपनी

ऐसी रचनाओं में इसकी ओर कभी कोई संकेत नहीं किया और न इनके कथानकों से लेकर उनके क्रम, विकास अथवा अंत तक भी कोई ऐसा प्रसंग छेड़ा जिससे उनका कोई सांप्रदायिक अर्थ लगाया जा सके। यह अवश्य है कि जहाँ तक घटनाओं की क्रम-योजना का प्रश्न है, उसे इस प्रकार निभाया गया है जिससे सूफी प्रेम-साधना का भी मेल बैठ जाय। परन्तु फिर भी ऐसी बातें, अधिक से अधिक, केवल दृष्टांतों के ही रूप में पाई जाती हैं जिस कारण उनमें सांप्रदायिक आग्रह का भी रहना अनिवार्य नहीं है। इसके सिवाय इन प्रेमाख्यानों के नायक-नायिका, उनके दैनिक व्यापार-वातावरण तथा उनके सिद्धांत वा संस्कृति में भी कोई परिवर्तन नहीं लाया जाता और न कहीं पर यही चेष्टा की जाती है कि कथा-प्रवाह के किसी भी अंश में किसी धर्म वा संप्रदाय-विशेष के महापुरुषों द्वारा कोई मोड़ ला दिया जाय। इनमें प्रसंगतः यदि कोई हिंदू जोगी वा तपी आता है तो ख्वाजा खिज्र भी आ जाते हैं और दोनों लगभग एक ही उद्देश्य से काम करते पाए जाते हैं। जैनियों द्वारा लिखे गए प्रेमाख्यानों में भी कभी-कभी हम इसके विपरीत, किसी ऐसे महापुरुष का भी समावेश कर दिया गया पाते हैं जो अत्यन्त गंभीर प्रेम वाले दो व्यक्तियों के जीवन में एक नया मोड़ घटित कर देते हैं और इस प्रकार, उन्हें उस आदर्श की ओर आकृष्ट भी कर लेते हैं जो जैन धर्म पर आश्रित है।

सूफी प्रेमाख्यानों की एक बहुत बड़ी विशेषता इस बात में भी देखी जा सकती है कि इनकी प्रेम-कहानियों के कवियों ने प्रेमपात्र का स्थान प्रधानतः नारी को ही दिलवाया है और उसी के द्वारा भरसक उस परमात्म-तत्व का प्रतिनिधित्व कराने की भी चेष्टा की है जो उनके ईश्वरीय प्रेम का लक्ष्य है। नारी ही यहाँ पर उस 'नूर' का प्रतीक है जो सारे विश्व का मूल स्रोत है और वही यहाँ वस्तुतः उस पूरक का भी काम करती है जिसके अभाव में सारा मानव-जीवन ही सूना है। नारियों के प्रति पुरुषों के प्रेमाकर्षण के अनेक उदाहरण हमें असूफी प्रेमाख्यानों में भी मिलते हैं और यहाँ भी ऐसी प्रेम-कथाओं का अभाव नहीं जहाँ पर एक प्रेमी नायक अपनी प्रेमपात्री के लिए अपने सर्वस्व का त्याग करके विविध प्रेम-व्यापारों में प्रवृत्त होता है। इसके सिवाय सूफी प्रेमाख्यानों में ही हमें इस बात के भी उत्कृष्ट उदाहरण मिलते हैं, जहाँ स्वयं नारियों ने ही पुरुषों के प्रति प्रेमासक्ति का भाव, सर्वप्रथम, प्रदर्शित किया हो। इनमें तो कभी-कभी वैसी पत्नियाँ मिल जाती हैं जो अपने पति के विरह में विभिन्न प्रकार की यातनाएँ भोगा करती हैं। अतएव इन दोनों प्रकार के प्रेमाख्यानों की उक्त दृष्टि के अनुसार तुलना करते समय हमारा ध्यान केवल ऐसे उदाहरणों की संख्या मात्र पर ही नहीं जाया करता। इस संबंध में हम इन सूफी कवियों के उस विशिष्ट आदर्श को महत्व देते हैं जिससे अनुप्राणित हो कर इन्होंने इस प्रकार का वर्णन अधिक पसंद किया है। सूफी कवियों ने नारी को यहाँ अपनी प्रेम-साधना के साध्य रूप में स्वीकार किया है, जिस कारण वह इनके यहाँ किसी प्रेमी के लौकिक जीवन की निरी भोग्य वस्तु मात्र नहीं रह जाती। वह उस प्रकार की साधन-सामग्री भी नहीं कहला सकती जिस रूप में उसे, बौद्ध सहजयानियों ने मुद्रा नाम दे कर सहज-साधना के लिए अपनाया था। वह उन साधकों की दृष्टि में स्वयं एक सिद्धि बन कर आती है और इसी कारण, इन प्रेमाख्यानों में उसे प्रायः अलौकिक गुणों से युक्त भी बतलाया जाता है।

नारी को सूफी कवियों ने इसी कारण, बहुत-कुछ स्वतंत्र रूप दे कर भी चित्रित किया है

और उसे भरसक वैवाहिक जीवन के प्रभावों से मुक्त ठहराया है। इनकी रचनाओं की नायिका केवल स्वकीया भाव के ही सीमित क्षेत्र में अपना प्रेम-व्यापार नहीं करती और इसीलिए इन प्रेमाख्यानों में हमें उस आदर्श दाम्पत्य जीवन के दृश्य भी नहीं मिला करते जिन्हें असूफी कवियों ने अपनी प्रेम-कहानियों में स्थान देकर विशिष्ट भारतीय रुचि का परिचय दिया है। सूफी प्रेमाख्यानों में नायक एवं नायिका का विवाह-संबंध अवश्य करा दिया जाता है, किंतु वह इसलिए कि वे अधिकतर हिंदू पात्र ही रहा करते हैं। इसके द्वारा उनके पास मिलन वा संयोग को केवल एक वैध रूप प्रदान कर दिया जाता है जो उनका अंतिम ध्येय रहा है। हिंदू-समाज की दृष्टि से चाहे इस विवाह-प्रथा को जो भी महत्व दिया जाय और असूफी कवियों के द्वारा चाहे इसे पूरी प्रेम-कहानी का अंतिम लक्ष्य तक समझ लिया जाय, किंतु सूफियों की दृष्टि से इसे केवल एक गौण महत्व ही प्रदान किया जा सकता है। उनके आदर्श मिलन वा संयोग के लिए विवाह की मुहर अनिवार्य नहीं है। सूफी कवियों की रचनाओं में, इसी कारण, हमें वैसी नायिकाओं का भी अभाव नहीं जान पड़ता जिन्हें 'परकीया' का नाम दिया जाता है। वास्तव में जिन कथानकों को इन कवियों ने अभारतीय स्रोतों से लिया है उनमें इस बात के उदाहरण प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं। परकीया का वर्णन भारतीय साहित्य के अंतर्गत भी आया है और उसके उदाहरण में गोपी प्रेमिकाओं का उल्लेख भी किया जा सकता है। परंतु यहाँ पर वैसी नायिका का जितना किसी सुंदर पुरुष के प्रति आकृष्ट होना दिखलाया गया है उतना उसका स्वयं किसी पुरुष के लिए उसके जीवन का लक्ष्य बन जाना भी नहीं ठहराया गया है और यही एक प्रमुख विशेषता है जिसके कारण हमें इन सूफी कवियों की यह देन स्वीकार करनी पड़ जाती है।

सूफी कवियों ने अपने प्रेमाख्यानों द्वारा ठेठ लौकिक जीवन के प्रसंगों को भी महत्व दिया है। अन्य प्रकार की प्रेम-गाथाओं में प्रायः ऐसे नायक-नायिकाओं की ही चर्चा की गई मिलती है जो या तो पौराणिक परम्परा से संबंध रखते हैं अथवा जिन्हें अवतारी व्यक्तियों में भी गिना जाता है। इस कारण उनके प्रेम-व्यापारों पर कथारंभ से ही एक विचित्र प्रकार की अलौकिकता का रंग चढ़ा हुआ प्रतीत होता है। उनमें जो कुछ भी अपूर्वता दीख पड़ती है उसका कारण प्रेमासक्ति का विशिष्ट प्रभाव नहीं समझा जाता, प्रत्युत वहाँ इसके लिए प्रायः उनके व्यक्तित्व को ही श्रेय दे दिया जाता है। परन्तु सूफी प्रेमाख्यानों के अंतर्गत सर्वत्र केवल इसी एक बात पर विशेष बल दिया जाता हुआ दीख पड़ेगा कि ऐसी सारी विचित्रताओं की जड़ प्रेम की अपार शक्ति अथवा प्रेम-तत्व की महिमा को ही समझना चाहिए जिसके सामने बड़े से बड़े नरेशों तक को झुक कर अपना सर्वस्व अर्पित कर देना पड़ता है। प्रेम के प्रभाव में पूर्णरूप से आ जाने पर सामाजिक स्तर-भेद की भावना भूल जाया करती है, यहाँ तक कि प्रेमी नायक-नायिकाओं के लिए मानवेतर प्राणियों तथा कभी-कभी प्राकृतिक पदार्थों तक का महत्व उतना ही बड़ा हो जाता है जितना कि अपने समाज के समरूप व समशील सदस्यों का। ये सभी, एक समान ही, किसी एक सामान्य धरातल पर खींचकर एकत्र कर दिए जाते हैं और फिर प्रसंगवश प्रेम-शक्ति के प्रदर्शन की पृष्ठभूमि भी बन जाते हैं। प्रेमाभिनय के रंगमंच पर इन सभी को अपने-अपने गुणों के अनुसार भाग लेना पड़ता है जिससे प्रधान पात्रों का प्रेम-व्यापार क्रमशः अग्रसर होता चला जाता है और इन सभी के सामूहिक प्रयत्नों का अंतिम परिणाम उनकी कार्य-सिद्धि के रूप में प्रकट होता है।

प्रेमाभिभूत राजकुमार न तो राजकुमार की कोटि का रह जाता है और न किसी धनी सेठ वा व्यापारी का ही पूर्व गौरव अक्षुण्ण बना रहता है। वे सामान्य वर्ग के सदस्य बन कर अधिकतर उसके समान ही व्यवहार करते दीख पड़ते हैं। वे निर्जन वनों में भटकते फिरते हैं, साधारण व्यक्तियों तक के यहाँ आश्रय ग्रहण करते हैं, लुक-छिप कर व्यवहार करने के लिए विवश रहते हैं तथा किंचित आशा के भी सहारे अपने प्राणों को जोखिम में डाल देते हैं। उनकी दयनीय दशा देख कर किसी को भी इस बात का भान नहीं हो पाता कि वे कभी कोई प्रभावशाली व्यक्ति भी रहे होंगे। एक ओर तो वे इस प्रकार परिस्थितियों का शिकार बने चित्रित किए जाते हैं और दूसरी ओर उनके भीतर एक अदम्य उत्साह प्रदर्शित किया जाता है, एक ऐसी दृढ़ निष्ठा का बल प्रदान किया जाता है तथा अंत में, उनके लिए ऐसे सुंदर संयोगों की व्यवस्था कर दी जाती है कि उनकी अपूर्व सफलता देख कर दंग रह जाना पड़ता है। उनके न केवल पिछले दिन ही फिर जाते हैं, प्रत्युत वे कभी-कभी सब के लिए आदर्श मानवों का रूप ग्रहण कर लेते हैं। सूफी कवियों के प्रेमाख्यानों में प्रधान नायकों के इस प्रकार होने वाले चरित-विकास की ओर विशेष ध्यान दिया गया प्रतीत होता है। प्रेम-कथा के अंतिम छोर पर पहुँच कर वे हमारे सामने ऐसे तपे-तपाए और अनुभव-सिद्ध रूप में आ जाते हैं कि हमें उनके भावी जीवन की भी एक झाँकी लेने की स्वभावत: प्रबल इच्छा हो पड़ती है, परन्तु कथाकार उनका साथ हमसे ऐसे ही महत्वपूर्ण अवसर पर छुड़ा देता है और उनके विषय में बढ़ती आई जिज्ञासा प्राय: अतृप्त बन कर ही रह जाती है।

सूफी प्रेमाख्यानों की एक विशेषता उनके द्वारा लोक-पक्ष का सजीव चित्रण किया जाना भी है। इनमें सर्वसाधारण का अंधविश्वास, उनकी मनौती, उनका यंत्र-तंत्र-प्रयोग, जादू-टोना, डाइनों की करतूत, विभिन्न लोकोत्सव और लोक-व्यवहार ऐसी सफलता के साथ अंकित किए गए मिलते हैं कि पूरी कथा का घटना-प्रवाह विशुद्ध लौकिक वातावरण में ही आगे बढ़ता दीख पड़ता है और हमें उसके महत्व का परिचय मिलते भी विलंब नहीं लगता। इसका स्वाभाविक रंग उस समय और भी निखर आता है जब हमें उनमें प्रचलित लोक-गाथाओं की कथा-रूढ़ियाँ भी नजर आने लगती हैं तथा जब कभी उनमें व्यक्तियों वा प्रसंगों के ऐसे अतिरंजित चित्र प्रस्तुत कर दिए जाते हैं जिनको समझ पाना केवल कल्पना के ही सहारे संभव हो सकता है। इस कोटि की वर्णन-शैलियाँ इन सूफी कवियों की ही मौलिक देन नहीं कहला सकतीं, क्योंकि इसके लिए वे अपने अन्य पूर्ववर्ती कवियों के भी ऋणी ठहराए जा सकते हैं। जैन चरित-काव्यों में हमें इसके प्रयोग के अनेक उदाहरण मिलते हैं और संस्कृत के कथा-साहित्य में भी इसका अभाव नहीं है। इस रचना-शैली का जन्म, कदाचित ईसा-पूर्व छठी-पाँचवीं शताब्दी में ही हो चुका था और बौद्ध जातकों के रचना-काल तक यह बहुत विकसित एवं प्रौढ़ हो चुकी थी। पीछे की संस्कृत, प्राकृत और विशेषकर अपभ्रंश की रचनाओं में जब इसे पूर्ण प्रोत्साहन मिला तो यह और भी लोकप्रिय बन गई। सूफी कवियों को इस संबंध में केवल इतना ही विशेष श्रेय दिया जा सकता है कि काल्पनिक कथानकों के बल पर इन्होंने इस अपभ्रंश-परम्परागत शैली के निर्वाह में कुछ अधिक दक्षता दिखलाई है।

सूफी प्रेमाख्यानों का हिन्दी साहित्य में स्थान

सूफी प्रेमाख्यानों की रचना का आरंभ उस समय हुआ जब हिंदी साहित्य के इतिहास का

आदिकाल प्रायः बीत चुका था और वीरगाथा के नाम से अभिहित किए जाने वाले रासो साहित्य का आदर्श बहुत-कुछ फीका-सा पड़ने लग गया था। उस काल की रचनाओं में जिस प्रेम-पद्धति का वर्णन अधिक विस्तार के साथ किया गया मिलता था वह उन राजाओं का वासनात्मक प्रेम था जो किसी सुंदरी को अपने लिए केवल एक भोग्य वस्तु समझा करते थे और जो उसे उसके माता-पिता के यहाँ से अपहरण कर के अथवा युद्ध में जीत कर लाने का ही प्रयत्न किया करते थे। उनके यहाँ अपनी पत्नियाँ भी रहा करती थीं जिनसे उनके दाम्पत्य प्रेम का निर्वाह भली भाँति हो सकता था, किंतु अधिक सुंदरियों की उपलब्धि उनके लिए एक गौरव की बात भी थी। सुंदरियों के लिए किए जाने वाले युद्धों में उस काल के वीरों को अपना पराक्रम दिखलाने का अवसर मिला करता था तथा उन्हें प्राप्त कर के अपनी पत्नी बना लेने पर उनके महलों की श्री-वृद्धि भी हो जाती थी और ये दोनों ही बातें उन दिनों के सामंती समाज के लिए बहुत उपयुक्त कहला सकती थीं। अपभ्रंश के चरित-काव्यों में इससे किंचित भिन्न एक प्रेम-पद्धति का भी चित्रण किया गया मिलता था और उसमें वीरों का पराक्रम-प्रदर्शन उतना आवश्यक अंग नहीं समझा जाता था। वहाँ सुंदरियों का राजकुमारी की श्रेणी का होना भी अनिवार्य नहीं था और न प्रेमी नायक ही ऐसा होता था जिसे प्रायः यशोलिप्सा से ही प्रेरणा मिलती हो। लोक-गाथाओं में तो प्रेमी एवं प्रेमिका उच्च सामाजिक स्तरों के होते हुए भी सर्वसाधारण की स्थिति में आ जाते दिखलाए जाते थे। प्रारंभिक सूफी प्रेमाख्यानों पर कदाचित इन सभी बातों का कुछ न कुछ प्रभाव पड़ा होगा और उनके रचयिताओं ने उस समय की उपलब्ध पृष्ठभूमि पर ही उनका निर्माण-कार्य सम्पन्न कर उसके द्वारा अपने उद्देश्य की पूर्ति का भरसक प्रयत्न भी किया होगा। सब से प्रथम उपलब्ध सूफी प्रेमाख्यान 'चंदायन' वा 'नूरक चंदा' में हमें एक ओर जहाँ उसके नायक लोरिक के शौर्य-पराक्रम का प्रदर्शन मिलता है वहाँ दूसरी ओर उसे एक प्रेमाभिभूत व्यक्ति की साधारण श्रेणी में भी रखा गया दीख पड़ता है और इन दोनों के साथ इसमें बहुत-सी वे विशेषताएँ भी ला दी जाती हैं जिनके कारण ऐसी रचनाओं को अलग स्थान दिया जाता है। वर्ण्य विषय के लगभग पूर्ववत रहते हुए भी उसकी वर्णन-शैली में परिवर्तन आ जाता है और एक घटना-प्रधान रचना उद्देश्य-प्रधान-सी जान पड़ने लग जाती है।

हिंदी साहित्य के इतिहास का मध्यकाल आ जाने पर हमें उसमें अनेक नवीन प्रवृत्तियों के उदाहरण मिलने लगते हैं। सर्वप्रथम उसमें हमें उस भक्ति-धारा का प्रभाव लक्षित होने लगता है जो कुछ दिनों पहले से अन्य माध्यमों का भी आश्रय ग्रहण करती हुई उमड़ती चली आ रही थी। उस काल की हिंदी-रचनाएँ उससे आप्लावित-सी हो गई और उक्त युग के कम से कम पूर्वार्द्ध अंश को इसी कारण यहाँ भक्ति-काल का नाम दिया जाता है। भक्ति का भाव वस्तुतः प्रेम के ही व्यापक रूप का एक अंग मात्र है और वह इसके साथ केवल श्रद्धा का संयोग हो जाने पर किसी हृदय में उदय होता है। सूफीमत का प्रेम भी मूलतः परमात्मा के प्रति उद्दिष्ट समझा जाता था, जिस कारण उसे भक्ति-भाव से अधिक भिन्न भी नहीं ठहराया जा सकता। मुख्य अंतर केवल तभी लक्षित होता है जब हम देखते हैं कि एक श्रद्धालु भक्त, अपने दैन्य के प्रभाव में आकर, अपने इष्टदेव में अखिल ऐश्वर्य का आरोप करता है तथा उसे अपने से एक नितांत भिन्न स्तर पर समझने लग जाता है, किंतु सूफी उसे

केवल अपनी आत्मीयता के बल पर ही उपलब्ध करना चाहता है। जहाँ भक्त अपने भगवान से अपने ऊपर कृपा चाहता है वहाँ सूफी को केवल उसके अपने प्रति स्नेह-भाव की ही आवश्यकता रहती है। हिंदी के भक्ति-कालीन कवियों में से कुछ ने परमात्मा के श्रीकृष्ण-रूप को विशेष महत्व दिया, कुछ ने उसके राम-रूप के प्रति अपनी निष्ठा व्यक्त की तथा दूसरों ने उसकी उस गुणातीत सत्ता के ही अनुभव का प्रयत्न किया जिसे, अपने से पृथक न समझने के कारण, कभी कोई श्रद्धा का भाव किसी प्रकार प्रदर्शित भी नहीं कर सकता था। हिंदी काव्यों में उस समय श्रीकृष्ण के प्रति प्रेम-भाव के प्रदर्शन का भी विषय लाया गया, किंतु उसका माध्यम उन गोपियों को ही बनाया गया जो उनके साथ क्रीड़ाओं में भाग लेने वाली प्रेमिकाएँ समझी जा सकती थीं और उन्हें भक्तों के रूप में भी स्वीकार कर लेना उतना स्वाभाविक न था। इसके सिवाय उस प्रेमी की भी एक यह विशेषता थी कि उसकी जितनी घनिष्ठता उन स्त्रियों से दिखलाई गई उतनी श्रीकृष्ण में नहीं और, इसी कारण, उसे सूफियों की उन प्रेम-पद्धतियों से कुछ पृथक भी रखा जा सकता है जिसके अनुसार इसके लिए स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों को ही कहीं अधिक प्रयत्नशील होना चाहिए। इसी प्रकार रामकाव्य में कभी-कभी प्रदर्शित प्रेम भाव भी बहुत-कुछ सीमित एवं मर्यादित ही कहला सकता था। सीता एवं राम के पूर्वराग में भी एक ऐसे अपूर्व नियंत्रण का प्रभाव चित्रित किया गया जो सूफी प्रेमाख्यानों की दृष्टि से उतना महत्व नहीं रखता। निर्गुणिया संतों का प्रेम-भाव किसी अन्य प्रेमी-प्रेमिकाओं के माध्यम से उदाहृत किए जाने की अपेक्षा स्वयं उन कवियों की ही बानियों में प्रस्फुटित हुआ। उसमें विरह की पीर की और उन्माद की भी कमी नहीं थी, किंतु वह कभी उन साधकों के यहाँ अपनी सिद्धि के रूप में नहीं स्वीकार किया गया जैसा सूफियों के यहाँ देखा जाता था। संतों का ईश्वरीय प्रेम उनके आध्यात्मिक जीवन का एक महत्वपूर्ण अंग मात्र बन सकता था, जहाँ सूफियों के लिए उसके अतिरिक्त और कुछ भी किसी काम का न था। कुछ संतों ने पीछे प्रेमाख्यान-रचना का भी प्रयास किया, किंतु वहाँ पर उन्हें सूफियों की ही शैली का अनुकरण करना पड़ गया।

हिंदी साहित्य के इतिहास का मध्यकाल पीछे वर्ण्य विषय से कहीं अधिक वर्णन-शैली की ओर ध्यान देने के कारण विशेष प्रसिद्ध हो चला। उसके उत्तरार्द्ध वाले कवियों के लिए भक्ति का महत्व कम हो गया और जिस प्रेम ने उसका स्थान लिया वह ईश्वरोन्मुख भी नहीं कहला सकता था। सूफियों ने नायक-नायिकाओं के प्रेम का वर्णन करते समय उनके सभी वैसे व्यापारों को केवल दृष्टांतों का-सा ही महत्व दिया था और उन्होंने ऐसी चेष्टा भी की थी कि उनके प्रत्यक्षतः लौकिक रूप को किसी अलौकिक ईश्वरीय प्रेम के रूप में घटा दिया जाय। परंतु इस युग के कवियों ने अपने नायक-नायिकाओं को क्रमशः कृष्ण एवं राधा के नाम देते हुए भी उन्हें उल्टे, लौकिक प्रेम का ही माध्यम बना डाला। सूफियों के प्रेमाख्यान इस समय भी रचे जाते थे और यह युग असूफी प्रेमाख्यानों की रचना के लिए भी कम महत्व का नहीं था, परंतु फिर भी इसकी प्रसिद्धि जितनी फुटकर शृंगारी रचनाओं के कारण हुई उतनी किसी अन्य प्रकार के साहित्य के आधार पर न हो सकी और उस काल के अनेक प्रबंध-काव्यों पर भी उनका प्रभाव पड़े बिना न रह सका। प्रेमाख्यानों के कवियों ने भी नायिका-भेद, नख-शिख, ऋतु-परिवर्तन आदि संबंधी वर्णनों के लिए इस युग में प्रचलित शैलियों का ही अनुकरण किया और अपनी रचनाओं के अंतर्गत

रची गई ऐसी प्रेम-कहानियों का आरंभ और घटना-विकास प्रायः उसी ढंग पर किया गया मिलता है जो उसकी चौदहवीं शताब्दी में दीख पड़ा था।

सूफी प्रेमाख्यानों की रचना केवल हिंदी में ही नहीं हुई और न इन्हें केवल इसी भाषा के साहित्य में कोई महत्वपूर्ण स्थान दिया जा सकता है। फारसी की मसनवियों से प्रेरणा ग्रहण कर तथा कभी-कभी उनके एवं हिंदी प्रेमाख्यानों के अनुवाद-रूप में भी बँगला के सूफी कवियों ने, ईसवी सन की सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी से ही, अपनी सुंदर 'पांचाली' रचनाओं का निर्माण आरंभ कर दिया था। दौलत काजी की 'लोर चन्द्राणी' अलाओल की 'पद्मावती', अमीरहमजा की 'मनोहर-मालती' तथा मुहम्मदखान की 'मृगावती' एवं 'लयलामजनूँ' आदि कुछ ऐसी रचनाएँ हैं जिन्हें कम महत्व नहीं दिया जाता। इन कवियों ने भी अपनी रचनाओं के अंतर्गत लगभग उसी प्रकार प्रेम-साधना की व्याख्या की है, जैसे अन्य सूफियों ने की थी और इन्होंने भी उनके कथानकों के घटना-विकास तथा प्रसंगों के विविध चित्रणों में प्रायः परम्परागत रचना-शैली का ही अनुकरण किया है। इसी प्रकार सूफी प्रेमाख्यानों के उदाहरण हमें पंजाबी साहित्य के अंतर्गत मिलते हैं जहाँ 'ससीपून्', 'हीररांझा', 'सोहिनीमहेवाल' जैसी प्रेम-कहानियों के आधार पर पंजाबी मुस्लिम कवियों ने अत्यंत रोचक रचनाओं की सृष्टि की है तथा उन्हें कभी-कभी काव्य-रूपकों का भी रूप दे दिया है। इनकी 'लैला-मजनूँ' एवं 'शीरीं-फरहाद' की प्रेम-कहानियों में उक्त शैली के उदाहरण और भी अधिक स्पष्ट बन कर दीख पड़ते हैं। इसके सिवाय उर्दू साहित्य में गिने जाने वाले सूफी प्रेमाख्यानों की संख्या भी कम नहीं कही जा सकती। बीजापुर एवं गोलकुंडा की ओर दक्षिण में लिखी गई हिंदवी की रचनाओं की चर्चा इसके पहले की जा चुकी है और वहाँ हमने देखा है कि किस प्रकार उन्होंने उर्दू साहित्य के निर्माण में आदर्श का काम किया। इनकी सब से बड़ी विशेषता यह है कि इन्होंने फारसी में रचे गए प्रेमाख्यानों का, न केवल वर्ण्य विषय की दृष्टि से अपितु रचना-शैली एवं छंदों के प्रयोग तक में, अनुकरण किया है और भरसक ऐसा प्रयत्न किया है कि उनकी मूल प्रकृति की भी सुरक्षा की जा सके। उर्दू साहित्य के अंतर्गत इन प्रेमाख्यानों को इसलिए भी विशेष महत्व दिया जा सकता है कि इनके कारण प्रेमतत्व का विषय सारे वाङमय के लिए सामान्य बन गया। दक्षिण की हिंदवी में इसे सर्वप्रथम केवल सूफी मत के प्रचारार्थ रची गई कहानियों में ही देखा जाता था, किंतु पीछे इसे उत्तर भारत में निर्मित होते जाने वाले विशाल उर्दू साहित्य में प्रमुख स्थान मिल गया और इसके कारण उसके शृंगारिक रंग में पूरी अभिवृद्धि हो गई।

परंतु हिंदी साहित्य के अंतर्गत हम इन सूफी प्रेमाख्यानों को उतना अधिक महत्व नहीं दे सकते। यहाँ इन रचनाओं के विषय में हम यही कह सकते हैं कि इनका आरंभ केवल एक प्रवृत्ति विशेष के परिचायक रूप में हुआ और ये पीछे भी यहाँ दूसरे प्रकार की रचनाओं के समानान्तर, बीसवीं शताब्दी तक, लगभग एक ही शैली के अनुसार निर्मित होती चली गईं। इनका विषय फारसी साहित्य की मसनवियों के आदर्शानुसार चुना गया और इनकी रचना का उद्देश्य भी वही रखा गया जो ईरान में रची गई प्रेम-कहानियों का रह चुका था। परंतु हिंदी के सूफी कवियों ने, इन सभी कुछ के होते हुए भी, इन्हें एक पूर्व परम्परागत भारतीय साँचे में ही ढालना अधिक पसंद किया। उन्होंने इनकी रचना के लिए अवधी बोली का प्रयोग किया जो सर्वसाधारण के समाज में

लोकप्रिय बन चुकी थी; दोहा-चौपाई-छंदों के एक निश्चित क्रम को अपनाया जिसका आदर्श अपभ्रंश के जैनचरित-काव्यों के लिए बहुत पहले से ही स्वीकृत हो चुका था; उन कथानक-रूढ़ियों को स्थान दिया जो प्रचलित लोकगाथाओं के भीतर न जाने किस काल से प्रवेश कर चुकी थीं और, सबसे बढ़कर, उस भारतीय वातावरण को भी सुरक्षित रखने की चेष्टा की जो सबके लिए परिचित था। इन रचनाओं के समानान्तर यहाँ भक्ति-काव्य का निर्माण होता रहा, शृंगार रस एवं वीर रस की कविताएँ लिखी जाती रहीं तथा बहुत से ऐसे प्रेमाख्यान भी निर्मित होते रहे जिन्हें, अन्य उपयुक्त नाम न होने के कारण, हमने असूफी कहकर परिचित कराया है। परन्तु सूफी प्रेमाख्यानों की यह विशेषता थी कि इनके द्वारा हमें प्रेमतत्व के व्यापक रूप को समझ पाने में अधिक सहायता मिली और इनके कारण धर्म, संप्रदाय अथवा वर्गगत भेदभावों को दूर कर एक सर्वमान्य समाज की स्थापना के लिए प्रेरणा भी प्राप्त हुई। अतएव, हिंदी-साहित्य के अंतर्गत हम इन्हें इसलिए भी एक विशेष स्थान दे सकते हैं कि इनकी रचना द्वारा लोक-रंजन के साथ लोक-मंगल की भी सिद्धि हुई है।

परिशिष्ट

(१) हिन्दी के उपलब्ध सूफी प्रेमाख्यानों की सूची

१. मुल्ला दाऊद	चंदायन (नूरक चंदा)	हि० स० ७७९ (१३७७ ई०) वा ७८१ (१३७९ ई०)	अप्रकाशित
२. शेख कुतबन	मृगावती	हि० स० ९०९ (१५०३ ई०)	,,
३. मलिकमुहम्मद जायसी	पद्मावत	हि० स० ९२७ (१५२० ई०)	प्रकाशित
४. मंझन	मधुमालती	हि० स० ९५२ (१५४५ ई०)	,,
५. शेख उसमान	चित्रावली	हि० स० १०२२ (१६१३ ई०)	,,
६. जान कवि	कनकावती	सं० १६७५ (१६१८ ई०)	अप्रकाशित
७. शेख नबी	ज्ञानदीप	हि० स० १०२६ (१६१९ ई०)	,,
८. जान कवि	कामलता	सं० १६७८ (१६२१ ई०)	,,
९. ,,	मधुकरमालती	सं० १६९१ (१६३४ ई०)	,,
१०. ,,	रतनावती	सं० १६९१ (१६३४ ई०)	,,
११. ,,	छीता	सं० १६९३ (१६३६ ई०)	,,
१२. हुसेन अली	पुहुपावती	हि० स० ११३८ (१७२५ ई०)	,,
१३. कासिमशाह	हंसजवाहर	हि० स० ११४९ (१७३६ ई०)	प्रकाशित
१४. नूरमुहम्मद	इन्द्रावती	हि० स० ११५७ (१७४४ ई०)	,,
१५. ,,	अनुराग-बाँसुरी	हि० स० ११७८ (१७६४ ई०)	,,
१६. शेखनिसार	यूसुफ-जुलेखा	हि० स० १२०५ (१७९० ई०)	अप्रकाशित
१७. ख्वाजा अहमद	नूरजहाँ	हि० स० १३१२ (१९०५ ई०)	,,
१८. शेख रहीम	भाषाप्रेमरस	सन् १९१५ ई०	प्रकाशित

१९. कवि नसीर प्रेमदर्पण हि० स० १३३५ (१९१७ ई०) प्रकाशित
२०. अली मुराद कथा कुँवरावत अज्ञात अप्रकाशित

(२) सहायक साहित्य

१. कमल कुलश्रेष्ठ हिन्दी प्रेमाख्यान काव्य (१५००–१७५० ई०) (१९५३ ई०) अजमेर
२. श्रीराम शर्मा दक्खिनी का पद्य और गद्य (हैदराबाद, १९५४ ई०)
३. विमलकुमार जैन सूफीमत और हिंदी साहित्य (दिल्ली, १९५५ ई०)
४. हरिकान्त श्रीवास्तव भारतीय प्रेमाख्यान-काव्य (बनारस, १९५५ ई०)
५. परशुराम चतुर्वेदी भारतीय प्रेमाख्यान की परम्परा (दिल्ली, १९५६ ई०)
६. ,, सूफी काव्य-संग्रह द्वि० सं० (प्रयाग, १९५६ ई०)
७. सरला शुक्ल जायसी के परवर्ती हिन्दी सूफी कवि और काव्य (लखनऊ, १९५६ ई०)
८. शिवसहाय पाठक पद्मावत का काव्य-सौन्दर्य (बम्बई, १९५६ ई०)
९. इन्द्रचन्द्र नारंग पद्मावत का ऐतिहासिक आधार (इलाहाबाद, १९५६ ई०)
१०. सुकुमार सेन इस्लामि बाङ्ला साहित्य (बंगला) (कलिकाता, १३५८ ई०)
११. सैयद एहतिशाम हुसेन उर्दू साहित्य का इतिहास (अलीगढ़, १९५४ ई०)
१२. हाफिज मुहम्मद खाँ शीरानी पंजाब में उर्दू
१३. मोतीलाल मेनारिया राजस्थानी भाषा और साहित्य
१४. जी० ए० एस० रैमरिंग मुन्तखबुत्तवारीख (कलकत्ता, १८९९ ई०)
१५. सुकुमार सेन बंगला साहित्येर इतिहास (बंगला) (कलिकाता, १९४० ई०)
१६. हरनाम सिंघसान ससी हाशम (पंजाबी) (लुधियाना, १९५६ ई०)
१७. मॉडर्न रिव्यू (कलकत्ता, नव० १९५०)
१८. नागरी प्रचारिणी पत्रिका (काशी, वर्ष ५४, अंक १०, सं० २०११)
१९. अस्करी रेयर फ्रैगमेंट्स ऑफ चन्दायन ऐण्ड मृगावती
२०. भोजपुरी (आरा, सावन अंक, १९५४ ई०)
२१. राजस्थान भारती (बीकानेर, मार्च, १९५५ ई०)
२२. भारती (ग्वालियर, सितंबर, १९५५ ई०; जून, १९५६ ई०)
२३. साहित्य संदेश (आगरा, भा० १३, अंक ६)
२४. उर्दू (हैदराबाद, जनवरी, १९३४ ई०)
२५. जर्नल ऑफ बिहार रिसर्च सोसाइटी (वॉल्यूम ३९, खंड १–२, १९५३)

८. रामकाव्य

राम-साहित्य का विकास

भारतीय साहित्य के इतिहास में सब से प्रथम वैदिक संहिताएँ आती हैं। तुलसीदास ने प्रायः लिखा है कि राम की गुणगाथा का गान वेद करते हैं, उन्होंने 'रामचरितमानस' के उत्तर-कांड में वेदों से राम की स्तुति कराई है (७. १३), किन्तु वेदों में रामकथा नहीं पाई जाती। वेदों में और वैदिक साहित्य में राम का नाम अवश्य आता है, किन्तु ईश्वर के लिए नहीं, और न दाशरथि राम के लिए, और न किसी रूप में वह कथा पाई जाती है जो रामायण में है।

वैदिक साहित्य में एक राम का नाम कुछ प्रतापी असुर राजाओं के नामों के साथ आता है[१]; एक राम भार्गवेय हैं, जो ब्राह्मण हैं[२]; एक और राम औपतस्विनि हैं, जो आचार्य हैं[३]; इसी प्रकार एक अन्य राम क्रातुजातेय हैं, वे भी आचार्य हैं[४]। प्रकट है कि इनमें से कोई भी राम दाशरथि नहीं है, और न कोई ईश्वर के रूप में आया है।

सीता नाम की स्थिति भी इससे विशेष भिन्न नहीं है। वैदिक साहित्य में 'सीता' शब्द का प्रयोग साधारणतः हल से जोतने पर बनी हुई रेखा के लिए हुआ है। किन्तु एक सीता कृषि की अधिष्ठात्री देवी भी है। ऐसा ज्ञात होता है कि यह पिछला रूप दैवीकरण की प्रवृत्ति से निर्मित हुआ है। एक अन्य सीता सूर्य की पुत्री है।[५] जनक अथवा विदेहतनया सीता वैदिक साहित्य में नहीं है।

रामकथा के कुछ अन्य प्रमुख पात्रों के नाममात्र वैदिक साहित्य में अवश्य मिलते हैं। दशरथ का नाम उसमें योद्धा राजाओं की पंक्ति में आता है[६], इसी प्रकार अश्वपति कैकेय[७] तथा जनक वैदेह[८] का नाम विद्वान राजाओं के रूप में आता है। किन्तु इनमें से किसी के साथ वह कथा नहीं मिलती जो इन नामों के साथ रामायण में आती है।

---

१. ऋग्वेद १०, ९३, १४।

२. ऐतरेय ब्राह्मण ७, २७, ३४।

३. शतपथ ब्राह्मण ४, ६, १, ७।

४. जैमिनीय उपनिषद ब्राह्मण ३७, ३२, ४, ९, १, १।

५. तैत्तिरीय ब्राह्मण २, ७, १०।

६. ऋग्वेद १, १२६, ४।

७. शतपथ ब्राह्मण १०, ६, १, २; छांदोग्य उपनिषद ५, ११, ४।

८. तैत्तिरीय ब्राह्मण ३, १०, ९; शतपथ ब्राह्मण ११, ३, १, २, ४; ११, ४, ३, २०; ११, ६, २, १, १०; ११, ६, ३, १ आदि।

फलतः अधिकतर विद्वानों का विचार है कि रामकथा वैदिक आर्यों को अज्ञात थी। यद्यपि वैदिक साहित्य में रामकथा का न पाया जाना इस बात का निश्चयात्मक प्रमाण नहीं हो सकता, फिर भी यह कल्पना की जा सकती है कि यदि वैदिक आर्यों को राम और भरत जैसे असामान्यशील और शक्ति-संपन्न चरित्रों का ज्ञान होता तो विस्तृत ैदिक साहित्य में अवश्य किसी न किसी अंश में उनका समावेश मिलता। पिता के सत्य की रक्षा के लिए उनकी इच्छा के विरुद्ध भी राज्य-त्याग और वनवास-ग्रहण और उस राज्य को बड़े भाई की वस्तु समझ कर छोटे भाई द्वारा उसका परित्याग किसी भी युग के सांस्कृतिक इतिहास में असाधारण घटनाएँ होतीं।

फिर भी, रामकथा ऐसे ही युग की वस्तु प्रतीत होती है जब कि वैदिक युग के जीवन के आदर्श बने हुए थे, जब कि आर्य पुरुषों और ललनाओं के नाम वैदिक नामों को ले कर रखे जाते थे, जब कि वैदिक देवताओं का प्राधान्य बना हुआ था, जब कि यज्ञों का प्रचलन समाप्त नहीं हुआ था, अर्थात संक्षेप में, जब कि आर्य संस्कृति का रूप प्रायः वही था जो वैदिक युग में था। राम और रावण का युद्ध भी आर्य-अनार्य-संघर्ष की ही घटना है, जिसमें आर्यों की विजय हुई। पुनः, जिस रामकथा के जिस आदिम रूप की कल्पना की गई है, उसी में नहीं, वाल्मीकि की कृति का जो मूल रूप विद्वानों ने स्थिर किया है उसमें भी राम का रूप अवतार का नहीं, महापुरुष का ही है। इसलिए रामकथा यदि वैदिक युग की वस्तु नहीं तो उसके कुछ ही पीछे की है, यह कदाचित माना जा सकता है।

वाल्मीकि रामायण के तीन पाठ हैं—पश्चिमोत्तरीय, गौड़ीय और दाक्षिणात्य। किन्तु इन तीनों पाठों में अन्तर अधिक नहीं है और बालकांड तथा उत्तरकांड की कथाएँ एवं अवतार-वाद के अनेक स्थल तीनों पाठों में समान रूप से पाए जाते हैं। प्रायः इस बात की संभावना यथेष्ट रूप से हो सकती है कि तीनों पाठों में इन अंशों में पाई जाने वाली समानता का कारण यह हो कि तीनों पाठों के सामान्य पूंज में ये अंश इसी रूप में विद्यमान रहे हों।

महाभारत में जो रामोपाख्यान दिया हुआ है[९] वह वाल्मीकि रामायण के इस पिछले रूप के भी बाद का माना गया है, क्योंकि रामोपाख्यान और रामायण के अनेक स्थलों पर शाब्दिक साम्य है, किन्तु रामोपाख्यान के कुछ स्थल ऐसे हैं जो वाल्मीकि रामायण के इस रूप की सहायता के बिना पूर्णतः स्पष्ट नहीं होते हैं।[१०]

रामकथा का एक अन्य रूप हमें बौद्ध जातकों में मिलता है। 'दशरथ जातक'[११] के अनुसार वाराणसी के राजा दशरथ की तीन सन्तानें हैं—राम, लक्ष्मण और सीता। इनकी माता के देहान्त के अनन्तर राजा दूसरा विवाह करते हैं, जिससे भरत का जन्म होता है। भरत की माता राम के स्थान पर अपने पुत्र के लिए राज्य चाहती हैं, इसलिए अन्य सन्तानों के अनिष्ट की आशंका

---

९. महाभारत ३, २५७ तथा बाद के अध्याय।

१०. वी० एस० सुकथांकर : रामोपाख्याब ऐण्ड महाभारत, कमेमोरेशन वाल्यूम, पृ० ४७२-८८।

११. फॉसबॉल : दि जातक, भाग ४, १२३, ४६१।

भारत के बाहर भी विभिन्न वातावरणों में पोषित होने के कारण रूप में किंचित भिन्न रामकथा लंका, जावा, बाली, मलय, हिंद-चीन, श्याम, ब्रह्मदेश, तिब्बत, काश्मीर, चीन आदि अनेक देशों में पाई जाती है। इन बहिर्गत रामकथाओं की रामायण की कथा से किंचित भिन्नता का एक कारण यह हो सकता है कि रामकथा इन विभिन्न देशों में उसी समय गई होगी जब वाल्मीकीय रामायण की रचना हो चुकी होगी; अथवा भारतवर्ष में ही रामकथा के एक से अधिक रूप पाए गए हैं, इन विभिन्न रूपों से संबद्ध होने के कारण भी उक्त बहिर्गत रामकथाओं के रूपों में कुछ विभिन्नता हो सकती है।

हिंदी के राम-भक्त कवियों के सम्मुख यह विशाल और सम्पन्न राम-साहित्य था। अपने मूल रूप में ही रामकथा ऐसी आदर्श कथा थी कि उसमें कुछ अधिक परिष्कार संभव नहीं था। वाल्मीकि की रचना के अनंतर तो परिष्कार की यह संभावना प्रायः और नहीं रह गई थी। इसके अतिरिक्त राम की कथा किसी लौकिक नायक की कथा नहीं थी, अवतारी परमपुरुष की कथा थी, उसमें कोई विशेष परिवर्तन करने का साहस भी अभिनन्दनीय नहीं माना जा सकता था। मुख्यतः इन्हीं कारणों से हिंदी के राम-भक्त कवियों ने भी कथा में कोई विशेष सुधार या परिवर्तन नहीं किया।

हिंदी राम-भक्ति धारा में अनेक कवि हुए, किंतु राम-भक्ति धारा का साहित्यिक महत्व अकेले तुलसीदास के कारण है। धारा के अन्य कवियों और तुलसीदास में अंतर तारागण और चंद्रमा का नहीं है, तारागण और सूर्य का है। तुलसी की अपूर्व आभा के सामने वे साहित्याकाश में रहते हुए भी चमक न सके। इसलिए इस धारा का अध्ययन मुख्यतः तुलसीदास में ही केन्द्रित करना होगा।

तुलसीदास के पूर्व का हिंदी का राम-साहित्य प्रायः अप्रकाशित है। अतः उसके संबंध में नीचे संक्षेप में वे सूचनाएँ दी जा रही हैं जो खोज-विवरण से प्राप्त हैं।

इस सूची में सबसे पहले रामानंद का नाम आता है। स्वामी रामानंद का समय पूर्णतया निश्चित नहीं है, किन्तु सामान्यतः सं० १४०० वि० (सन १३४३ ई०) के लगभग माना जाता है। रामानंदी संप्रदाय की परम्परा के अनुसार उनका जन्म सं० १३५६ वि० (सन १२९९ ई०) में हुआ था। उनकी एकमात्र प्राप्त हिंदी रचना 'रामरक्षास्तोत्र' है। इसमें विभिन्न शारीरिक और मानसिक व्याधियों को दूर करने के लिए मंत्र और योगिनी को आदेश तथा हनुमान, सीता और राम की स्तुति है।[१६] साहित्यिक दृष्टि से इस रचना का कोई महत्व नहीं है।

रामानन्द का महत्व इस कारण है कि उन्होंने उत्तरी भारत में भक्ति-आन्दोलन का नेतृत्व किया। उनकी शिष्य-परम्परा का एक बहुत कुछ विश्वसनीय इतिवृत्त हमें नाभादास के 'भक्तमाल' में प्राप्त होता है। नाभादास के अनुसार उनके अनंतानंद, कबीर, सुखानंद, सुरसुरानंद, पद्मावति, नरहरि, पीपा, भावानंद, रैदास, धना, सेना, सुरसुरानंद की स्त्री आदि अनेक शिष्य-प्रशिष्य हुए।[१७] इन भक्तों में से पद्मावति और भावानंद के अतिरिक्त उपर्युक्त

---

१६. दे० नागरी प्रचारिणी सभा का खोज विवरण (१९००) संख्या ७६।

१७. भक्तमाल, छप्पय ३६।

समस्त संतों के परिचयात्मक उल्लेख भी नाभादास ने किए हैं।[१८] किन्तु इनमें से किसी की रचना में राम का अवतारी रूप हमारे सामने नहीं आता। इन भक्तों में से जिनकी भी रचनाएँ हमें प्राप्त हुई हैं, उनके राम निर्गुण ब्रह्म हैं। इसलिए इस 'रामरक्षास्तोत्र' के कर्ता उपर्युक्त संत-परंपरा के प्रवर्तक स्वामी रामानंद ही हैं, इसमें यदि सन्देह किया जाय तो अनुचित न होगा। किन्तु, दूसरी ओर रचना में भाषा की प्राचीनता के निश्चित तत्व मिलते हैं, इसलिए एक संभावना यह भी है कि 'रामरक्षास्तोत्र' के रामानंद उक्त संत-परंपरा के प्रवर्तक रामानंद से भिन्न रहे हों और कालांतर में नाभादास के समय (सं० १६५० वि०=सन १५९३ ई०) तक दोनों महात्माओं का व्यक्तित्व एक मान लिया गया हो।

दूसरा नाम इस सूची में विष्णुदास का आता है। इन्हें वाल्मीकीय रामायण के किसी हिंदी रूपान्तर का कर्ता बताया गया है।[१९] विष्णुदास नाम के भक्त एक से अधिक हुए हैं। एक विष्णुदास महाभारत के एक संक्षिप्त रूपान्तर के कर्ता हैं और उनका समय सं० १४९२ वि० (सन १४३५ ई०) माना गया है।[२०] यदि वे ही वाल्मीकीय रामायण के इस रूपान्तर के भी कर्ता हों तो कुछ असंभव नहीं है।

इस सूची में तीसरा नाम ईश्वरदास का आता है। इनकी एक रचना 'भरतमिलाप' बताई गई है।[२१] भरत और शत्रुघ्न ननिहाल में हैं, उसी समय राम का वनगमन होता है और उनके विरह में दशरथ का स्वर्गवास। भरत ननिहाल से लौट कर यह देखते हैं तो वे बड़े दुखी होते हैं और विलाप करते हैं। उनके साथ सारी अयोध्या बिलखने लगती है। इस पुस्तक में यही दिखाया गया है। ईश्वरदास की एक रचना 'सत्यवतीकथा' है, जिसका रचना-काल सं० १५५८ वि० (सन १५०१ ई०) है।[२२] उसी के लगभग इसका भी रचना-काल माना जा सकता है।

इन्हीं ईश्वरदास की एक अन्य रचना 'अंगद पैज' भी है।[२३] रावण की सभा में अंगद ने जो प्रतिज्ञा की थी, उसी का इसमें वर्णन किया गया है। इसकी तिथि ज्ञात नहीं है। किन्तु ईश्वरदास की 'सत्यवतीकथा,' जैसा ऊपर हम देख चुके हैं, सं० १५५८ वि० (सन १५०१ ई०) की रचना है, इसलिए यह भी इसके आसपास की होनी चाहिए।

उपर्युक्त रचनाएँ राम-भक्ति-परंपरा में आती हैं। कुछ रचनाएँ जैन रामकथा की परंपरा में भी आती हैं, जिनका संक्षिप्त उल्लेख नीचे किया जा रहा है।

इस परंपरा की एक प्राचीन रचना मुनि लावण्य की 'रावण-मंदोदरी-संवाद' है, जिसका

---

१८. वही, छप्पय ५९-६७।
१९. नागरी प्रचारिणी सभा का खोज विवरण (१९४१-४३) संख्या ५४।
२०. वही (१९०६-०८), संख्या २४८।
२१. वही (१९४४-४६), संख्या २१।
२२. हिन्दुस्तानी, भाग ७ (१९३७)।
२३. नागरी प्रचारिणी सभा खोज विवरण (१९००) संख्या ८५।

विषय सीताहरण की कथा है।[२४] इसकी निश्चित तिथि अज्ञात है, किन्तु भाषा का रूप पुरानी पश्चिमी राजस्थानी का है, इसलिए यह रचना सं० १५०० वि० (सन १४४३ ई०) के लगभग की लगती है।

इसी नाम और विषय की एक अन्य रचना जिनराज सूरि की है। इसकी तिथि ज्ञात नहीं है। भाषा का रूप सत्रहवीं शती का प्रतीत होता है।

इस सूची में दूसरा उल्लेखनीय नाम ब्रह्मजिनदास का है जिनकी दो रचनाएँ इस परंपरा में आती हैं—'रामचरित या रामरास'[२५] और 'हनुमंतरास'[२६]। इन रचनाओं की निश्चित तिथियाँ ज्ञात नहीं हैं, किन्तु इसी लेखक की एक कृति 'श्रीपालरास' की प्राप्त प्रति सं० १६१६ वि०(सन १५५९ ई०) की है। इसलिए इन रचनाओं का समय अनुमानतः विक्रमीय सोलहवीं शती होना चाहिए।

इस प ंपरा में अन्य दो उल्लेखनीय नाम ब्रह्मराय मल्ल तथा सुंदरदास के हैं जिनकी रचनाएँ 'हनुवंतगामीकथा'[२७] तथा 'हनुमानचरित'[२८] संवत १६१६ वि०(सन १५५९ है) की रची हुई हैं।

सूरदास के साथ हम हिंदी भक्ति-धारा के मध्य में पदार्पण करते हैं। सूरदास सामान्यतः वल्लभ के पुष्टि संप्रदाय के कहे जाते हैं, किंतु उनमें हमें वह सांप्रदायिकता बिलकुल नहीं मिलती जो उस संप्रदाय के शेष सभी भक्तों में मिलती है। उस संप्रदाय के और किसी प्रमुख भक्त ने राम-चरित्र का गान नहीं किया, किंतु सूरदास की एक अनल्प पदावली राम-चरित्र का गान करती है। तुलसीदास में भी हम वहुत कुछ यही बात देखते हैं। तुलसीदास के रामकाव्य और कृष्णकाव्य में आकार-प्रकार विषयक जो अनुपात है, लगभग वही सूरदास के कृष्णकाव्य और रामकाव्य में दिखाई पड़ता है और सूरदास ने राम का गुण-गान और उनकी लीलाओं का वर्णन उतनी ही तन्मयता के साथ किया है, जितना तुलसीदास ने कृष्ण की लीलाओं का किया है। इसमें सन्देह नहीं कि अपने अपने इष्ट स्वरूपों के प्रति उनका जितना अधिक उत्कट अनुराग है, उतना अन्य स्वरूप के प्रति नहीं है, फिर भी उनकी पूरी श्रद्धा अन्य स्वरूपों के प्रति है। सूरदास के राम-चरित के संबंध के भी अनेक पद कला की दृष्टि से सुंदर बन पड़े हैं। इसलिए राम-साहित्य में सूरदास का योग उपेक्षणीय नहीं है। यही नहीं, वह उल्लेखनीय भी है।

ठीक इसी समय राम-भक्ति-धारा में एक नवीन विकास दिखाई पड़ता है जिसके आदि प्रवर्तक के रूप में अग्रदास आते हैं, जिन्होंने अग्रअली के नाम से रचनाएँ की हैं। अग्रदास ने जानकी की एक सखी की भावना से राम-भक्ति की है। इनकी इस भावना की दो प्रसिद्ध रचनाएँ

---

२४. ऐलक पन्नालाल दिगंबर जैन सरस्वती भवन, बंबई (अनेकांत, वर्ष ५, किरण १-२, पृष्ठ १०३)।

२५. जैन पंचायती मंदिर, दिल्ली (अनेकांत, वर्ष ४, किरण १०, पृ० सं० ५६६)।

२६. वही।

२७. वही।

२८. नागरी प्रचारिणी पत्रिका का खोज विवरण (१९३२-३४)।

'रामाष्टयाम' तथा 'रामध्यानमंजरी' हैं। इधर एक तीसरी रचना 'रामज्योनार' का भी पता लगा है।

'रामध्यानमंजरी' में माधुर्य भाव के उपासक भक्तों के लिए राम के स्वरूप, धाम आदि का विस्तृत वर्णन किया गया है, राम की धनुष-वाण की वंदना कर कवि ने साकेत धाम, रत्न-सिंहासन, राम के परिकरों का वर्णन करते हुए सीता की सुरति, विमला आदि सखियों की सेवाओं का भी वर्णन किया है।

'रामाष्टयाम' में सियप्रिय राम की आह्निक लीला का सविस्तर वर्णन है। राम के ऐश्वर्य के साथ द्वादशलीला, संयोग-वियोग, मधुर रति आदि का विस्तृत वर्णन किया गया है। नाभादास का जो 'अष्टयाम' मिलता है, वह इसी रचना को लेकर पल्लवित किया गया प्रतीत होता है।

उपर्युक्त के अतिरिक्त अग्रदास के कुछ स्फुट छप्पय भी हैं जो राम-भक्ति से संबंधित हैं।

अग्रअली की यह मधुर उपासना-धारा तुलसीदास के मर्यादावाद के सामने बहुत दिनों तक दबी रही, किंतु प्रायः सौ वर्ष पीछे, जैसा हम आगे देखेंगे, बड़े वेग से बह निकली और तदनंतर हिंदी का प्रायः सारा राम-भक्ति-साहित्य उससे सराबोर हो गया। इस मधुर धारा का सूत्रपात निस्सन्देह कृष्ण-भक्ति-धारा के प्रभाव और उसी के अनुकरण में हुआ था।

तुलसीदास का जीवन-वृत्त

तुलसीदास की जीवनियाँ अनेक मिलती हैं। किंतु वे प्रायः आधुनिक लेखकों की लिखी हुई हैं। प्राचीन लेखकों की लिखी हुई जीवनियाँ इनी-गिनी हैं, वे प्रायः सुनी-सुनाई बातों पर आधारित हैं और प्रामाणिक नहीं मानी जा सकतीं।[२९]

पुनः राजापुर तथा सोरों से—विशेष रूप से सोरों से—बहुत-सी जीवन-सामग्री प्रकाश में आई है, किंतु उसकी प्रामाणिकता विवाद-ग्रस्त है।[३०] अन्य सूत्रों से भी कोई उल्लेखनीय प्रकाश कवि के जीवन पर नहीं पड़ता। ऐसी दशा में तुलसीदास के जीवन-वृत्त का निर्माण बहुत-कुछ उनकी रचनाओं के आधार पर करना होगा।

तुलसीदास का जन्म कहाँ हुआ था, यह अभी तक अनिश्चित है। भिन्न-भिन्न आधारों पर राजापुर और सोरों उनके जन्म-स्थान कहे गए हैं, किन्तु वे आधार दृढ़ नहीं हैं।

तुलसीदास का जन्म प्रायः सं० १५८९ वि० (सन १५३२ ई०) में माना जाता रहा है। संत तुलसी साहब ने इस तिथि का पूरा विस्तार दिया है (संवत १५८९, भादो शु० ११, मंगलवार) और यह विस्तार गणना से शुद्ध आता है। अन्य किसी तिथि का पूरा विस्तार नहीं प्राप्त है।[३१] अन्तःसाक्ष्य के आधार पर इतना ही कहा जा सकता है कि सं० १६२१ वि० (सन १५६४ ई०)

---

२९. विस्तृत विचार के लिए दे० लेखक का 'तुलसीदास' (हिन्दी परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय), तृतीय संस्करण, पृ० ३९-६४।

३०. वही, पृ० ८८-१२७।

३१. घट रामायण, पृ० ४१५।

(रामाज्ञा प्रश्न), सं० १६३१ वि० (सन १५७४ ई०) (रामचरितमानस), सं० १६४२ वि० (सन १५८५ ई०) (पार्वती मंगल) में रचना करने वाले कवि का जन्म अनुमानतः सं० १५८०-९० वि० (सन १५२३-१५३३ ई०) के लगभग हुआ होना चाहिए। इसलिए विरोधी साक्ष्य के अभाव में सं० १५८९ वि० (सन १५३२ ई०) कवि की जन्म-तिथि मानी जा सकती है।[३२]

तुलसीदास की जाति-पाँति के संबंध में अनेक दावे किए गए हैं, किंतु स्पष्ट आत्मोल्लेखों का अभाव है। केवल 'कवितावली' के एक छंद में कवि को संबोधित करते हुए कहा गया है—

ब्राह्मन ज्यों उगिल्यो उरगारि हौं त्यौं ही तिहारे हिए न हितैहौं।

इस कथन से इस प्रकार की ध्वनि ली जा सकती है कि तुलसीदास ब्राह्मण थे।

तुलसीदास की जीवन-लीला का प्रारंभ बड़ी संकटपूर्ण परिस्थितियों में हुआ। जन्म ग्रहण करने के कुछ ही क्षणों के अनंतर उन्हें माता-पिता के संरक्षण से वंचित होना पड़ा। उन्होंने कहा है—

मात पिता जग जाय तज्यो........।[३३]
तनु जन्यो कुटिल कीट ज्यों तज्यो मातु पिताहू।[३४]

पर्याप्त साक्ष्य के अभाव में इस परित्याग के कारण का निश्चयपूर्वक कथन संभव नहीं है। अनाथ तुलसीदास उसके अनंतर भिक्षा-याचना द्वारा उदर-पूर्ति करने लगे थे—

बारे ते ललात बिललात द्वार द्वार दीन
जानतहौं चारि फल चारि ही चनक को।[३५]

इसके कुछ ही अनंतर तुलसीदास को हनुमदाश्रय प्राप्त हो गया था—कदाचित किसी हनुमान-मन्दिर से उनके भोजन-भरण की व्यवस्था हो गई थी—

टूकनि को घर घर डोलत कंगाल बोलि
बाल ज्यौं कृपाल नित पालि पालि पोसो है।
कीन्हीं है संभार सार अंजनीकुमार बीर
आपनो बिसारिहैं न मेरे हूँ भरोसो है।[३६]

हनुमान-मन्दिरों के लिए प्रायः खोंची—मंडियों में आए हुए धान्यादि की राशि में से कुछ उगाहने—की परंपरा लगी रहती है, जिसे 'महाबीरी' कहते हैं। इसी से मंदिर के भोग तथा

---

३२. कवितावली, उत्तरकांड, १०२।
३३. वही, उत्तरकांड, ५७।
३४. विनय पत्रिका, २७५।
३५. कवितावली, उत्तरकांड, ७३।
३६. बाहुक, २९।

पुजारी आदि के निर्वाह का प्रबन्ध होता है। इस प्रकार की खोंची उगाहने का भी उल्लेख तुलसी-दास ने किया है—

खायो खोंची माँगि तेरो नाम लिया रे।
तेरे बल बलि आजु लौं जग जागि जिया रे॥[३७]

हनुमान-पूजा मध्ययुग की सगुण रामोपासना का एक अनिवार्य अंग थी। इसलिए उन्होंने अन्यत्र जो लिखा है—

बालपने सूधेपन राम सनमुख गयो
राम नाम लेत माँगि खात टूकटाक हौं।[३८]

वह उपर्युक्त कथन के विरुद्ध नहीं माना जा सकता।

प्रायः इसी समय तुलसीदास ने गुरु की शरण में जाकर उनसे रामभक्ति की दीक्षा ली और गुरु ने लगन के साथ सूकरखेत में तुलसीदास को अनेक वार राम-कथा सुनाई और उसका मर्म स्पष्ट किया—

मैं पुनि निज गुरु सन सुनी, कथा सो सूकरखेत।
समुझी नहिं तसि बालपन, तब अति रहेउँ अचेत॥[३९]
तदपि कही गुरु बारहिं बारा। समुझि परी कछु मति अनुसारा॥

इन गुरु का नाम ज्ञात नहीं है। नीचे लिखी पंक्तियों के आधार पर कुछ लोग इन्हें नरहरि या नरहरिदास कहते हैं—

बंदौं गुरु पद कंज, कृपा सिंधु नर रूप हरि।
महामोह तम पुंज, जासु बचन रविकर निकर॥[४०]

किंतु इनसे उक्त नाम की ध्वनि निश्चयपूर्वक नहीं ली जा सकती।

अपने विवाहित जीवन के संबंध में तुलसीदास ने स्पष्ट नहीं लिखा है, केवल बाल्यावस्था में राम-नाम लेते हुए भिक्षा-याचना करके उपर्युक्त कथन के साथ ही उन्होंने कहा है—

पर्‌यो लोकरीति में पुनीत प्रीत राम राय,
मोहबस बैठ्‌यो तोरि तरक तराक हौं॥[४१]

इससे ज्ञात होता है कि अवस्था प्राप्त करने पर उन्होंने कदाचित विवाह किया और फिर कुछ दिनों के लिए दुनियादारी में ऐसे लग गए कि उनका राम-प्रेम शिथिल पड़ गया।

---

३७. विनयपत्रिका, ३३।
३८. बाहुक, ४०।
३९. रामचरितमानस, बाल० ३१।
४०. रामचरितमानस, बालकांड, वंदना।
४१. बाहुक, ४०।

किंतु अधिक दिनों तक वे दुनियादारी में फँसे न रह सके। पूर्व के संस्कारों ने पुनः बल दिया और वे उससे पीछा छुड़ा कर पुनः अंजनीकुमार की शरण—हनुमान-सेवा—में आ गए और राम-भक्ति में दत्तचित्त हो गए—

> खोटे खोटे आचरन आचरत अपनायो
> अंजनीकुमार सोध्यों राम पावि पाक हौं।।[४२]

'रामाज्ञाप्रश्न' (सं० १६२१ वि० = सन १५६४ ई०) में उन्होंने विषय से विरक्त होकर चित्रकूट-सेवन का उपदेश किया है, जिससे यह प्रकट है कि सं० १६२१ वि० (सन १५६४ ई०) के पूर्व ही किसी समय वे विरक्त हो चुके थे और कदाचित सं० १६२१ वि० (सन १५६४ ई०) में उन्होंने चित्रकूट की यात्रा भी की थी—

> पय पावनि बन भूमि भलि, सैल सुहावनि पीठि।
> रागिहि सीठि बिसेषि थलि, विषय बिरागिहिं मीठि।।
> सगुन सकल संकट समन, चित्रकूट चलि जाहु।
> सीताराम प्रसाद सुभ, लघु साधन बड़ लाहु।।[४३]

तिथियुक्त रचना 'रामचरितमानस' (सं० १६२१ वि० = सन १५७४ ई०) है। अयोध्या में उसके प्रणयन के प्रारंभ तथा काशी-सेवन के उल्लेख मिलते हैं—

> संबत सोरह सै इकतीसा। करौं कथा हरिपद धरि सीसा।
> नौमी भौमवार मधुमासा। अवधपुरी यह चरित प्रकासा।।[४४]

> मुक्ति जन्म महि जानि, ज्ञान खानि अघहानिकर।
> जहं बस संभु भवानि, सो कासी सेइय कस न।।[४५]

कदाचित इसके अनन्तर ही तुलसीदास काशी में स्थायी रूप से रहने लगे थे, यद्यपि यात्राओं के लिए अन्य स्थानों को जाते रहते थे।

'मानस'-रचना के अनन्तर तुलसीदास जी की प्रतिष्ठा बहुत बढ़ी थी, यहाँ तक कि वे अपने जीवन-काल में ही वाल्मीकि के अवतार माने जाने लगे थे। सत्रहवीं शती विक्रमी के उत्तरार्द्ध में लिखे गए अपने 'भक्तभाल' में तुलसीदास के विषय में नाभादास ने तो यह कहा ही है—

> कलि कुटिल जीव निस्तार हित बालमीक तुलसी भयो।[४६]

स्वतः तुलसीदास ने भी इसका उल्लेख किया है—

---

४२. वही, ४०।

४३. रामाज्ञाप्रश्न, २, ६, १ तथा २, ६, ३।

४४. रामचरितमानस, बालकांड, ३४।

४५. रामचरितमानस, किष्किन्धा कांड, प्रारंभ।

४६. भक्तमाल, छप्पय १२८।

राम नाम के प्रभाउ पाऊँ महिमा प्रताप,
तुलसी से जग मानियत महामुनी सो।।[४७]

किंतु इस प्रतिष्ठा-वृद्धि के साथ द्वेष-वृद्धि भी हुई—

माँगि मधुकरी खात जे, सोवत गोड़ पसारि।
पाप प्रतिष्ठा बढ़ि परी, ताते बाढ़ी रारि।।[४८]

इस विरोध के दो रूप हमें उनकी रचनाओं में मिलते हैं, एक तो उनकी जाति-पाँति के संबंध में—

धूत कहौ अवधूत कहौ रजपूत कहौ जोलहा कहौ कोऊ।
काहू की बेटी सों बेटा न ब्याहब काहू की जाति बिगार न सोऊ।।[४९]

मेरे जाति-पाँति न चहौं काहू की जाति-पाँति
मेरे कोऊ काम को न हौं काहू के काम को।
साधु क असाधु कै भलो कै पोच सोच कहा
का काहू के द्वार परौं जो हौं सो हौं राम को।।[५०]

लोग कहैं पोच सो न सोचु न सँकोच मेरे
ब्याह न बरेखी जाति पाँति न चहत हौं।।[५१]

साधु जानैं महासाधु खल जानैं महाखल
बानी झूठी साँची कोटि उठत हबूब है।।[५२]

ठेठ शिव की पुरी में राम-भक्ति की जो तीव्र धारा तुलसीदास के द्वारा प्रवाहित हुई होगी, उसी को रोकने की असफल चेष्टा कदाचित इन विरोधों के रूप में व्यक्त हुई। किंतु तुलसीदास इन सब से प्रभावित होने वाले नहीं थे, उन्होंने फटकार कर कहा—

कौन की त्रास करै तुलसी जो पै राखिहै राम तो मारिहै को रे ?[५३]

यद्यपि तुलसीदास ने स्पष्ट कहा नहीं है, किंतु अनुमान से कहा जा सकता है कि उपर्युक्त विरोध धीरे-धीरे ठंडा पड़ गया।

तुलसीदास ने जीवन के अन्तिम बीस-पचीस वर्षों में काशी में होनेवाले उत्पातों का उल्लेख किया है।

---

४७. **कवितावली, उत्तरकांड, ७२।**

४८. **दोहावली, ४९४।**

४९. **कवितावली ?**

५०. **वही, उत्तरकांड, १०६।**

५१. **विनयपत्रिका, ७६।**

५२. **कवितावली, उत्तरकांड, १०८।**

५३. **कवितावली, उत्तरकांड, ४८।**

इनके अतिरिक्त उन्होंने एक महामारी का भी वर्णन किया है[५४] जो इसी अवधि में आई थी। सं० १६७३ वि० (सन १६१६ ई०) में ताऊन का प्रकोप पहले पहल भारत में हुआ, जो लगातार आठ वर्षों तक देश के विभिन्न भागों में बना रहा। असंभव नहीं कि तुलसीदास ने जिस महामारी का वर्णन किया है, वह ताऊन की ही हो।

इसके अतिरिक्त अपनी एक रचना 'हनुमानबाहुक' में उन्होंने बाहु-पीड़ा, तथा पुनः शरीर के अंग-प्रत्यंग की पीड़ा का वर्णन किया है, जो उन्हें वर्षा ऋतु में हुई थी और कई महीने तक बनी रही। किंतु उसी के एक छंद में तुलसीदास ने कहा है कि इन पीड़ाओं का शमन हो गया।[५५] कुछ लोगों ने कहा है कि यह ताऊन की महामारी थी, किंतु यह मानने के लिए पर्याप्त कारण नहीं है।

'हनुमानबाहुक' के कुछ छंदों में शरीर भर में बरतोड़ के फोड़ों के निकलने का उल्लेख हुआ है, जिनसे तुलसीदासजी को अपार कष्ट था।[५६] एक किंवदंती है कि उनका देहान्त इन्हीं फोड़ों से हुआ। उनकी रचनाओं में इनके शमन का कोई उल्लेख नहीं है, इसलिए यह असंभव भी नहीं माना जा सकता।

उनके देहान्त का संवत सर्वसम्मति से सं० १६८० वि० (सन १६२३ ई०) माना जाता है, किंतु तिथि विवादग्रस्त है। साधारण रूप से श्रावण शुक्ल सप्तमी निधन-तिथि मानी जाती है, किंतु श्रावण कृष्ण तृतीया को उनके मित्र टोडर चौधरी के वंशज आज तक उनकी वर्षी मनाते आ रहे हैं, इसलिए यह अधिक प्रामाणिक ज्ञात होती है।

तुलसीदास इन शारीरिक व्याधियों का कारण भी प्रायः आध्यात्मिक मानते थे और अपनी अन्तिम व्याधि का कारण उन्होंने गोसाईं बन जाने के अनन्तर स्वामी राम के उपकारों का विस्मरण हो जाना बताया है—

तुलसी गोसाईं भयो भोंड़े दिन भूलि गयो
ताको फल पावत निदान परिपाक हौं॥[५७]

साधारणतः तुलसीदास नाम के साथ लगी हुई 'गोसाईं' उपाधि को लोग केवल आदरार्थक विशेषण के रूप में लेते हैं, किंतु वस्तुतः ऐसा नहीं ज्ञात होता। गोसाईं एक उपाधि है जो असी-घाट, तुलसीदास के स्थान, पर होने वाले प्रत्येक महंत की उनके अनंतर भी कई पीढ़ियों तक बराबर रही है। सं० १८३२ वि० (सन १७७५ ई०) के एक चेतसिंह के फर्मान में स्थान के महंत को गोसाईं तुलाराम और इसी प्रकार सं० १८४८ वि० (सन १७९१ ई०) के एक दानपत्र में स्थान के महंत को गोसाईं पीतांबर बैस्नो कहा गया है। उक्त स्थान भी बहुत दिनों तक तुलसीदास-मठ प्रसिद्ध था, क्योंकि सं० १७८७ वि० (सन १७४० ई०) की लिखी हुई 'न्यायसिद्धांतमंजरी' की प्रति के नाम से प्राप्त हुई है, जिसकी पुष्पिका में उसके लिपिकर्ता जयकृष्णदास ने लिपि-स्थान 'लोलार्के तुलसीदासमठे' लिखा है। अतः यह भलीभाँति प्रकट है कि तुलसीदास को असी घाट

५४. वही, १७३-७६।
५५. बाहुक, ३९।
५६. वही, ४०, ४१।
५७. वही, ४०।

के उक्त मठ के महंत बनने पर गोसाईं उपाधि प्राप्त हुई। तुलसीदास के समकालीन केशवदास ने सं० १६५८ वि० (सन १६०१ ई०) में लिखी गई 'रामचन्द्रिका' में मठधारियों की जो निन्दा की है, उसकी पृष्ठभूमि में यदि हम इसे देखें, तो स्पष्ट हो जाएगा कि अपने अंतिम दिनों में बरतोड़ से पीड़ित होने पर उन्होंने अपने गोसाईं होने पर जो पश्चात्ताप किया है वह क्यों किया है।

ऊपर तुलसीदास के जीवन-वृत्त के संबंध में कुछ विस्तार के साथ जो विचार किया गया है उससे ज्ञात होगा कि काव्य में जीवन के मधुर और कोमल पक्ष का जो अभाव-सा दिखाई पड़ता है उसका एक बड़ा कारण उनके अपने जीवन में इनका अभाव है। असंभव नहीं है कि भिन्न परिस्थितियों में से होकर गुजरे हुए तुलसीदास प्राप्त तुलसीदास से बहुत भिन्न होते।

रचनाएँ—

तुलसीदास के नाम निम्न रचनाएँ मिलती हैं—

(१) रामललानहछू, (२) रामाज्ञाप्रश्न, (३) जानकीमंगल, (४) रामचरितमानस, (५) पार्वतीमंगल, (६) गीतावली, (७) कृष्णगीतावली, (८) विनयपत्रिका, (९) बरवै, (१०) दोहावली, (११) कवितावली, (१२) हनुमानबाहुक, (१३) वैराग्यसंदीपनी, (१४) सतसई, (१५) कुंडलिया रामायण, (१६) अंकावली, (१७) बजरंगबाण, (१८) बजरंग-साठिका, (१९) भरतमिलाप, (२०) विजय दोहावली, (२१) बृहस्पतिकांड, (२२) छंदावली रामायण, (२३) छप्पय रामायण, (२४) धर्मराय की गीता, (२५) ध्रुवप्रश्नावली, (२६) गीताभाषा, (२७) हनुमान स्तोत्र, (२८) हनुमानचालीसा, (२९) हनुमानपंचक, (३०) ज्ञानदीपिका और (३१) राममुक्तावली।

इनमें से केवल प्रथम बारह रचनाएँ प्रामाणिक रूप से तुलसीदास की मानी जा सकती हैं, शेष समस्त रचनाएँ संदिग्ध हैं। केवल इन्हीं एक दर्जन रचनाओं का संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जा रहा है।

रामललानहछू—इसके मुख्यतया दो विभिन्न पाठ प्राप्त हैं—एक वह जो नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित है और दूसरा एक अन्य जिसकी केवल एक हस्तलिखित प्रति प्राप्त हुई है और वह प्रस्तुत लेखक के संग्रह में है। सभा के पाठ में २० चतुष्पदियाँ अथवा ४० द्विपदियाँ हैं, जब कि इस प्रति के पाठ में केवल २६ द्विपदियाँ हैं। दोनों में लगभग समान रूप से पाई जाने वाली द्विपदियाँ केवल १३ हैं, शेष द्विपिदियाँ दोनों में भिन्न-भिन्न हैं। विषय दोनों का एक है—राम का नहछू जो विवाह के अवसर का है। दोनों पाठों में एक महत्व का अंतर यह है कि 'सभा' के पा में इस अवसर पर आई हुई प्रजागण की स्त्रियों के—लोहारिन, अहीरिन, मोचिनि आदि के—हाव-भाव-कटाक्ष का वर्णन किया गया है और वर के पिता दशरथ को इनमें से एक के यौवन पर मुग्ध तक कहा गया है। लेखक की प्रति का पाठ इस दोष से सर्वथा मुक्त है। साथ ही उसमें एक विशेषता यह है कि नाइन का अपने नेवछावर के लिए झगड़ने का बड़ा ही यथातथ्य वर्णन है, यथा—

मड़वहि झगरै नउनिया एहि सब निहछावर थोर हे।
रघुवर के निहछावर लेबु नए घोर हे।
काहे झगरै नउनिया एहि सब लेहु हे।
राम बिआहि घर आएव देबु नए घोर हे॥

और एक दूसरी विशेषता यह है कि इसमें लोकगीतों के प्रश्नोत्तर की शैली का बड़ा मनोरम रूप मिलता है, यथा—

के दिहल चुटकी मुदरिया के दीहल रूप हे।
के दिहल रतन पदारथ भेरि गएउ सूप हे॥
केकइ दिहल चुटकी मुदरिया सोमित्रा दीहल रूप हे।
कौसिला दीहल रतन पदारथ भरि गएउ सूप हे॥

प्रति के पाठ में पूर्वी हिंदी का प्रभाव स्पष्ट है, किंतु वह इसलिए भी संभव है कि वह गया जिले की लिखी हुई है; अन्यथा दूसरे पाठ की अपेक्षा यह कवि की परिमार्जित रुचि और लोकगीत परंपरा के अपेक्षाकृत कहीं अधिक निकट है। वस्तुतः 'रामललानहछू' का वैज्ञानिक पाठ-निर्णय आवश्यक है।

रामाज्ञाप्रश्न—इस रचना की प्रतियाँ अनेक नामों से मिलती हैं, यथा—रामायण सगुनौती, सगुनावली, रामशलाका, रघुवरशलाका तथा सगुनमाला। इसकी एक पूर्ण प्रति सं० १६५५ वि० (सन १२९८ ई०) की थी जिस पर तुलसीदास के हस्ताक्षर भी थे। यह प्रति प्रह्लाद घाट पर काशी में एक पंडित के पास थी जो पीछे गुम हो गई। पंजाब की खोज में इसी प्रकार की एक अन्य प्रति का पता लगा है। उसे भलीभाँति देखने की आवश्यकता है।

'रामाज्ञाप्रश्न' की समस्त प्रतियाँ पाठ के विषय में परस्पर अभिन्न हैं। रचना सात सर्गों में विभक्त है और प्रत्येक सर्ग में सात सप्तक और प्रत्येक सप्तक में सात दोहे हैं, इस प्रकार कुल ७×७×७=३४३ दोहे इस रचना में हैं। इसमें पूरी रामकथा कही गई है, किंतु विशेषता यह है कि प्रत्येक दोहा किसी मानसिक प्रश्न के संबंध में शुभ या अशुभ परिणाम की सूचना देता है। इसमें प्रथम तीन सर्गों में राम-जन्म से लेकर संपाती-वानरयूथ मिलन तक की कथा देने के अनन्तर चौथे सर्ग में पुनः राम-जन्म से कथा प्रारंभ की गई है, जो छठे सर्ग में समाप्त हुई है। छ े सर्ग में सीता-अवनि-प्रवेश तक की अनेक कथाएँ हैं, जो 'रामचरितमानस' में नहीं हैं। कवि ने इस रचना का समय भी दिया है—

समय सत्य ससि[१] नयन[२] गुन,[६] अवधि अधिक नय बान[१]।
होई सुफल सुभ जासु जस, प्रीति प्रतीति प्रबान॥

यह संवत १६२१ वि० (सन १५६४ ई०) है। इस रचना की तिथि ज्ञात होने से कवि की अनेक रचनाओं के समय-निर्धारण में यथेष्ट सहायता मिलती है।

जानकीमंगल—इस रचना के भी दो पाठ प्राप्त हुए हैं। एक वह है जो नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित है और दूसरा एक अन्य जिसकी एकमात्र प्रति पटुवा डाँगर, नैनीताल के डा० भवानीशंकर याज्ञिक के पास है। दोनों पाठ एक दूसरे से नितांत भिन्न हैं। यदि साम्य है तो

विषय के बारे में ही—दोनों में सीता-राम-विवाह का वर्णन किया गया है। ऐसा कोई भी अंश नहीं है जो दोनों में समान हो। किंतु 'सभा' का पाठ कथा और शब्दावली की दृष्टियों से 'रामचरितमानस' के अधिक निकट है, इसलिए वह अधिक प्रामाणिक ज्ञात होता है। फिर भी इस रचना का वैज्ञानिक पाठ-निर्धारण आवश्यक है।

'सभा' के पाठ की एक प्रति अयोध्या में है, जिसके प्रारम्भ में सिरे पर संवत १६३२ वि० (सन १५७४ ई०) दिया हुआ है। किंतु वह प्रतिलिपिकार से भिन्न व्यक्ति की लिखावट में है, इसलिए विश्वसनीय नहीं है।

रामचरितमानस—इस रचना की समस्त प्रतियों में प्रायः एक-सा पाठ मिलता है—केवल प्रक्षिप्तांशों के कारण उनमें परस्पर अंतर हो गया है। किंतु इन प्रतियों के सूक्ष्म अध्ययन से पता लगा है कि तुलसीदास अपनी इस रचना में संशोधन प्रायः करते ही रहे थे, जिसके परिणामस्वरूप विभिन्न समयों पर मूल प्रति से की गई प्रतिलिपियों में पाठ के चार स्तर मिलते हैं।

'मानस' की सब से प्राचीन प्रति अयोध्या की है, जिस पर यद्यपि सं० १६६१ वि० (सन १५०४ ई०) की तिथि दी हुई है, किंतु जो वास्तव में सं० १६९१ वि० (सन १६३४ ई०) की है, और केवल बालकांड की है। अन्य महत्वपूर्ण प्रतियाँ सं० १७०४ वि० (सन १६४७ ई०), १७२१ (सन १६६४ ई०), १७६२ (सन १७०५ ई०) की हैं, जो काशी में हैं। राजापुर, जिला बाँदा की 'अयोध्याकांड' की प्रति स्वतः तुलसीदासजी के हाथ की लिखी कही जाती है। किंतु प्रति के अंत में पुष्पिका का सर्वथा अभाव है, और पाठ में इस प्रकार की अशुद्धियाँ हैं कि उक्त प्रति कवि-लिखित नहीं हो सकती।

'रामचरितमानस' का विषय राम का पावन चरित्र है। यह कवि के समस्त अध्ययन और जीवन-दर्शन का प्रौढ़तम रूप प्रस्तुत करता है और अपने अनेकानेक गुणों के कारण इतना लोकप्रिय हुआ है कि संसार का कोई भी ग्रन्थ कभी भी कदाचित ही इतना लोकप्रिय हुआ होगा।

कवि ने इसकी रचना-तिथि स्वतः दी है—

> संवत सोरह सै इकतीसा। करौं कथा हरि पद धरि सीसा।।

किंतु तिथि का जो विस्तार उसने दिया है, गणना करने पर उसमें एक दिन का अंतर पड़ता है। जिन पंक्तियों में यह तिथि-विस्तार दिया गया है, वे स्पष्टतया कवि द्वारा कुछ पीछे बढ़ाई गई हैं। असंभव नहीं कि उस समय दिन के स्मरण करने में कवि से भूल हो गई हो।

पार्वतीमंगल—इसकी प्रतियाँ भी एक ही पाठ की मिलती हैं। विषय है शिव-पार्वती-विवाह, जो 'मानस' के शिव-पार्वती-विवाह से किंचित भिन्न है। इसका मुख्याधार कालिदास का 'कुमारसंभव' है, जब कि 'मानस' के शिव-पार्वती-विवाह की कथा का मुख्याधार 'शिवपुराण' है।

कवि ने स्वतः रचना की तिथि दी है—

> जय संवत फागुन सुदि, पाँचै गुरु दिन।
> अस्विनि बिरचेउँ मंगल सुनि, सुख छिनु छिनु।।

यह तिथि सं० १६४३ वि० (सन १५८६ ई०) फाल्गुन, मंगल शुक्ल पंचमी, गुरुवार है।

गीतावली—'गीतावली' के दो पाठ उसकी प्रतियों में मिलते हैं—एक पाठ का नाम

'पदावलीरामायण' है, और दूसरे का 'गीतावली'। 'पदावलीरामायण' की केवल एक प्रति प्राप्य है और वह सब से प्राचीन और महत्वपूर्ण प्रति है। यद्यपि उसका अंतिम पत्र नष्ट हो जाने से उसकी पुष्पिका प्राप्त नहीं है, किंतु वह सं० १६६६ वि० (सन १६०९ ई०) की 'विनयपत्रिका' की एक प्रति के साथ की है और पाठ की दृष्टि से उसी के समकक्ष है, इसलिए वह भी सं० १६६६ वि० (सन १६०९ ई०) के लगभग की है। कवि के जीवन-काल की होने के कारण यह तुलसी-ग्रन्थावली की सब से महत्वपूर्ण प्रतियों में से है। किंतु दुःख का विषय यह है कि यह प्रति बुरी तरह से खंडित है। 'सुंदर' और 'उत्तर' कांडों के अतिरिक्त—और वे भी संपूर्ण नहीं हैं—और कोई कांड उसमें शेष नहीं हैं। किंतु जितना अंश हमें प्राप्त है उससे हमें 'पदावलीरामायण' के पाठ के विषय में यह ज्ञात होता है कि वह 'गीतावली' से पूर्व का था और आकार-प्रकार में 'गीतावली' पाठ से किंचित भिन्न था। जितना अंश हमें प्राप्त है, उतने में 'पदावलीरामायण' में 'गीतावली' की तुलना में कुछ कम पद हैं और वे भी किंचित भिन्न क्रम में संग्रहीत हैं। 'गीतावली' पाठ की समस्त प्रतियाँ आकार-प्रकार में एक हैं।

'गीतावली' में रामकथा संबंधी पदावली है। यह पदावली कांड-क्रम से संकलित है। कुल पद-संख्या ३२८ है। 'गीतावली' के गीतों में कथा की पुनरावृत्तियाँ भी प्रायः मिलती हैं, जिससे ज्ञात होता है कि गीतों की रचना किसी क्रम से नहीं हुई। इस पदावली की रचना कदाचित महात्मा सूरदास के 'सूरसागर' के अनुकरण पर हुई। इसके कुछ पद तो थोड़े अंतर के साथ 'सूर-सागर' में पाए भी जाते हैं। यद्यपि यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि किस रचना में यह किससे आए, किंतु 'गीतावली' पाठ की समस्त प्रतियों में उनके पाए जाने से, जब तक यह न हो कि 'सूरसागर' की समस्त प्रतियों में भी वे समान रूप से पाए जाते हैं, यह मानना पड़ेगा कि वे मूलतः तुलसीदास के हैं, कारण यह है कि 'सूरसागर' की पाठ-परंपरा के मूल में कवि-लिखित पाठ नहीं था।

'गीतावली' के पद गीति कला की दृष्टि से निस्संदेह सफल हैं, किंतु उतने सफल नहीं जितने 'विनयपत्रिका' के हैं—कारण मुख्यतः कदाचित यह है कि कथा के प्रमुख पात्रों में यहाँ भी उसी संयम, मर्यादावाद और विवेकवाद की प्रधानता है जो 'मानस' में दिखाई पड़ती है, और गीतिकाव्य की सफलता में ये बाधक हुए हैं।

विनयपत्रिका—'गीतावली' की भाँति ही 'विनयपत्रिका' के भी दो पाठ उसकी प्रतियों में प्राप्त हैं—एक 'रामगीतावली' और दूसरा 'विनयपत्रिका'। 'रामगीतावली' पाठ की केवल एक प्रति प्राप्त है और वह कवि की रचनाओं की जितनी भी प्रतियाँ हमें इस समय प्राप्त हैं, उन सब में सब से अधिक महत्वपूर्ण है। कारण यह है कि न केवल वह अपने पाठ की एक मात्र प्रति है, वह सं० १६६६ वि० (सन १६०९ ई०) की—कवि के जीवन-काल की—है और पाठ की दृष्टि से अत्यंत शुद्ध प्रति है। यह प्रति भी खंडित है, जिसके कारण इसके गीतों के संबंध में हमें कुछ भी ज्ञात नहीं है। किंतु अंतिम पन्ना शेष है जिससे उसके आकार-प्रकार के विषय में बहुत-कुछ ज्ञात हो जाता है। 'रामगीतावली' पाठ में १७५ पदों पर ग्रंथ की समाप्ति होती है जब कि 'विनयपत्रिका' पाठ में २७९ पर और 'रामगीतावली' पाठ के पाँच गीत 'विनयपत्रिका' पाठ में नहीं हैं, वे 'गीतावली' पाठ में मिलते हैं—उसके 'पदावलीरामायण' पाठ में वे नहीं हैं, यही

ध्यान देने योग्य है। गीतों के संग्रह-क्रम में भी किंचित अंतर है और सब से बड़ा अंतर यह है कि 'रामगीतावली' के पदों में 'विनयपत्रिका' प्रस्तुत करने और राम के मुसाहिबों से उसके लिए समर्थन प्राप्त करके उसकी स्वीकृति कराने की कल्पना नहीं है। विभिन्न पदों में पाठ-संबंधी अंतर भी कुछ हैं, यद्यपि अधिक नहीं।

'विनयपत्रिका' तुलसीदास की दूसरी सर्वाधिक महत्वपूर्ण रचना है। तुलसीदास की भावनाओं का जितना सहज रूप हमें उनकी इस रचना में मिलता है, किसी अन्य रचना में नहीं मिलता। 'मानस' यदि उनकी साधना का आदर्श प्रस्तुत करता है, तो 'विनयपत्रिका' उन आदर्शों की अपने जीवन में साधना। अन्यथा भी 'विनयपत्रिका' का महत्व उल्लेखनीय है। हिंदी के ही नहीं, कदाचित संसार के सर्वश्रेष्ठ आत्मनिवेदनात्मक साहित्य में 'विनयपत्रिका' के अनेक गीतों की गणना होगी।

कृष्णगीतावली—'कृष्णगीतावली' की समस्त प्राप्त प्रतियाँ एक ही पाठ देती हैं। इसमें कुल केवल ६१ पद हैं, जो कृष्ण-चरित्र संबंधी हैं। 'गीतावली' की अपेक्षा तुलसीदास को यहाँ गीति-काव्य के अधिक अनुकूल क्षेत्र मिला था, इसलिए आकार में इसके कम होते हुए भी परिमाण में गीतितत्व इस रचना में 'गीतावली' की तुलना में कदाचित ही कम होगा। इस पदावली की भी रचना तुलसीदास ने कदाचित 'सूरसागर' के अनुकरण पर की थी और 'गीतावली' की भाँति इसके भी कुछ पद 'सूरसागर' में पाए जाते हैं। किंतु इस रचना पर तुलसीदास के व्यक्तित्व की छाप स्पष्ट है। यद्यपि कृष्ण का संपूर्ण चरित्र प्रायः इस रचना में आ गया है, किंतु उसमें मर्यादा का वह अतिक्रमण नहीं है, जो प्रायः अन्य सभी कृष्ण-भक्तों की रचनाओं में पाया जाता है।

बरवै—'बरवै' के भी दो पाठ प्राप्त हुए हैं। एक पाठ तो वह जो मुद्रित प्रतियों में मिलता है और एक दूसरा सं० १७९७ वि० (सन १७४० ई०) की प्रति में मिलता है। इसमें मुद्रित पाठ के प्रथम बयालीस बरवै जो 'बाल' से लेकर 'लंका' कांडों के हैं और अंतिम ग्यारह बरवै, जो 'उत्तर-कांड' के हैं, नहीं मिलते, केवल 'उत्तरकांड' के प्रथम सोलह बरवै मिलते हैं और इनके पूर्व ऐसे पच्चीस बरवै और आते हैं जो मुद्रित पाठ में नहीं मिलते। इनमें से कुछ रामकथा के और कुछ राम-भक्ति के हैं। फलतः इस ग्रंथ के भी पाठ की समस्या लगभग वैसी ही है जैसी ऊपर हमने 'रामललानहछू' के पाठ की देखी है और इस रचना का भी वैज्ञानिक पाठ-निर्धारण आवश्यक है। 'बाल' से लेकर 'लंकाकांड' तक आए हुए मुद्रित पाठ के अनेक बरवै के संबंध में उस मर्यादावाद की शिथिलता का अनुभव पाठक को होता है जो 'रामलालानहछू' के अतिरिक्त अन्यत्र कवि की रचनाओं में नहीं पाई जाती। मुद्रित पाठ के इस प्रकार सन्देहपूर्ण होने की अवस्था में पाठ-निर्धारण और भी आवश्यक हो जाता है। रचना छोटी होने पर भी कलापूर्ण है।

दोहावली—'दोहावली' की अनेक प्रतियाँ मिलती हैं, किंतु इन सभी में छंद-संख्या में परस्पर बहुत भेद है, उदाहरणार्थ, मुद्रित प्रति में ५७३ दोहे हैं तो एक अत्यंत प्राचीन प्रति में केवल ४७८ दोहे हैं और इन ४७८ में से भी ६ ऐसे हैं जो मुद्रित पाठ में नहीं हैं। ऐसी दशा में इस रचना का भी वैज्ञानिक पाठ-निर्धारण आवश्यक प्रतीत होता है।

'दोहावली' तुलसीदास के दोहों का संकलन-ग्रंथ है। इसमें उनकी अन्य रचनाओं—यथा 'रामाज्ञाप्रश्न' और 'मानस'—के भी अनेक दोहे मिलते हैं, यद्यपि अनेक दोहे ऐसे भी हैं जो केवल

'दोहावली' में ही मिलते हैं। 'रामाज्ञाप्रश्न' और 'मानस' से लिए हुए दोहे कभी कभी विशिष्ट प्रसंगों के हैं और स्वतंत्र रूप से स्फुट काव्य के लिए उपयुक्त नहीं हैं। इसलिए इस बात में सन्देह प्रतीत होता है कि वे तुलसीदास द्वारा इस संकलन में संकलित हुए हैं। शेष दोहे प्रायः भक्ति, नीति, वैराग्य तथा आत्मचरित विषयक हैं। वे निस्संदेह भावपूर्ण और सुन्दर हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि तुलसीदास के स्फुट दोहों का भी संग्रह था, उसमें किसी व्यक्ति ने उनके प्रबन्ध ग्रंथों से भी कुछ दोहे चुनकर रख लिए। आशा है कि वैज्ञानिक पाठ-निर्धारण से इस समस्या पर यथेष्ट प्रकाश पड़ेगा, अन्यथा 'दोहावली' तुलसीदासजी की सफल कृतियों में से है। चातक की एकनिष्ठा के चौंतीस दोहे तथा कुछ अन्य अंश निस्संदेह कला की दृष्टि से सुंदर हैं।

कवितावली (सबाहुक)—इसके भी मुख्यतः दो पाठ अभी तक मिले हैं। एक वह जो मुद्रित है, दूसरा सं० १८२० वि० (सन १७६३ ई०) की एक प्रति में मिलता है। अंतर दोनों में यह है कि सं० १६२० वि० (सन १५६३ ई०) की प्रति के पाठ में छंद-संख्या कम है और छंद-क्रम भी किंचित भिन्न है। यह अंतर 'कवितावली' और 'हनुमानबाहुक' के अंतिम अंशों में है, जिनमें कवि के आत्मचरित संबंधी अनेक छंद आते हैं। छूटे हुए प्रसंगों में सब से प्रमुख महामारी, बाँह के अतिरिक्त शरीर के अन्य अंगों की पीड़ा, बरतोड़ के फोड़े तथा प्रयाण समय के प्रसंग हैं। अन्य साक्ष्यों से भी यह प्रमाणित है कि ये प्रसंग कवि के जीवन के अंतिम अंश के हैं, जिससे ज्ञात यह होता है कि मुद्रित पाठ कदाचित कवि के जीवन-काल के बाद का है और सं० १८२० वि० (सन १७६३ ई०) की प्रति का पाठ जीवन-काल का। कवि के जीवन-वृत्त के लिए 'कवितावली' से अधिक अनिवार्य कोई दूसरी रचना नहीं है, इसलिए इसके भी वैज्ञानिक पाठ-निर्धारण की आवश्यकता प्रकट है।

कला की दृष्टि से 'कवितावली' का स्थान तुलसीदास की रचनाओं में प्रायः 'गीतावली' के समकक्ष ही है। 'कवितावली' के प्रारंभिक छंद अपनी मधुर शैली के लिए अत्यंत प्रसिद्ध हैं, और अंतिम छंद आत्म-व्यंजना की प्रभावपूर्णता के लिए और उनकी यह सर्वप्रियता उचित भी है।

तुलसीदास की कला

ऊपर हम देख चुके हैं कि हिन्दी राम-भक्त कवियों के सामने एक अत्यंत संपन्न राम-साहित्य संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में था। तुलसीदास ने 'अध्यात्मरामायण' को आधार मानते हुए कुछ पुराणों तथा नाटकों से भी 'रामचरितमानस' की रचना में यथेष्ट सहायता ली। उनकी अन्य रचनाओं में वाल्मीकीय 'रामायण' का प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक दिखाई पड़ता है। इस विषय में मौलिकता का उन्होंने कोई दावा नहीं किया है, प्रत्युत उन्होंने लिखा है कि उपर्युक्त समस्त ग्रंथों के प्रमाण पर उन्होंने अपना काव्य प्रस्तुत किया है—

नानापुराण-निगमागम-सम्मतं यद्
रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।
स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा-
भाषानिबद्धमतिमंजुलमातनोति ॥

अतः प्रश्न यह है कि तुलसीदास की विशेषता किस बात में है। वे संसार के गिने-चुने कलाकारों में माने जाते हैं। उनकी कला किस बात में है ? क्या वे इसलिए महान हैं कि उन्होंने अपने समय में प्रचलित अनेक शैलियों में सफलतापूर्वक रचनाएँ प्रस्तुत कीं अथवा इसलिए कि उनका प्रकृति-चित्रण, अलंकार-विधान, उक्ति-प्रयोग और भाषा पर अधिकार अपूर्व था ? अथवा, इसलिए कि उनके समय में 'पाश्चात्य रहस्यवाद'—सूफी साधना आदि से प्रभावित जो अनेक साधना-संप्रदाय इस देश में चल पड़े थे, जिनमें इस देश के प्राचीन धर्मग्रंथों और धर्मशास्त्रों के आधार पर निर्मित वर्णाश्रम धर्म की उपेक्षा और इस कारण सामाजिक अव्यवस्था के बीज सन्निहित थे, सफल निराकरण करके उन्होंने लोकधर्म की प्रतिष्ठा की ? तुलसीदास का यह महत्वांकन काव्य, रीति और धर्म विषयक संकुचित धारणाओं का परिणाम है। अपनी इन्हीं या इसी प्रकार की विशेषताओं के कारण तुलसीदास महान कलाकारों में अपनी गणना नहीं करा सकते।

कला की उपयोगिता इस बात में है कि वह मानवता को ऊँचा उठा सके। मानव में सब प्राणिमात्र के समान पशुता है, किंतु वह निरा पशु नहीं है, उसमें कुछ ऐसी विशेषता भी है जिसके कारण वह पशुमात्र से भिन्न भी है और इसी के आधार पर देवत्व की कल्पना हुई है। बहुतेरे तथाकथित कलाकार मानव की पशुता का चित्रण करने में अपनी प्रतिभा का उपयोग करते हैं और मानवता को पशुता की ओर ढकेलने का प्रयास-सा करते हैं। दूसरे कलाकार मानव-प्रवृत्ति के दूसरे पक्ष पर बल देते हैं और अपनी प्रतिभा का प्रयोग मानवता को देवत्व की ओर ले चलने में करते हैं। वास्तव में इन्हीं को कलाकार कहना चाहिए। पहले प्रकार के कलाकारों को विस्मृति के गर्त में जाते अधिक समय नहीं लगता, किंतु दूसरे प्रकार के कलाकारों को मानवता शीघ्र भुला नहीं सकती।

तुलसीदास इन्हीं दूसरे प्रकार के कलाकारों में अग्रगण्य हैं। यह नहीं कि कला का प्रथम पक्ष—अभिव्यक्ति पक्ष—तुलसीदास में हीन हो, प्रत्युत वह अत्यंत सबल है—इतनी सशक्त अभिव्यक्ति कम ही मिलेगी। उनका शब्द-चयन, उनका भावानुबंध, उनका कथा-प्रबंध, उनका छंद-विधान, उनकी उक्ति-योजना, उनका अलंकार-प्रयोग, उनका चरित्र-चित्रण, उनकी भाषा शैली, सभी सुरुचिपूर्ण हैं और सभी में उनकी अपनी छाप दिखाई पड़ती है। किंतु ये विशेषताएँ प्रत्येक देश के प्रथम श्रेणी के कवियों में दिखाई पड़ेंगी जिनका कुछ भी समृद्ध साहित्यिक इतिहास है। अपने ही देश में यदि संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य को लिया जाय तो एक बड़ी संख्या ऐसे कवियों की मिलेगी जिनमें ये सारी या इनमें से अधिकतर विशेषताएँ पाई जाती हैं। इसलिए इनके आधार पर तुलसीदास को अन्य कलाकारों की अपेक्षा विशेष सम्मान देना इनके प्रति अन्याय होगा।

तुलसीदास की विशेषता इस बात में है कि सत्य, अहिंसा, धैर्य, क्षमा, अनासक्ति, इंद्रिय-निग्रह, शुचिता, निष्कपटता, त्याग, नि र्भ रता, उदारता आदि अपने जिन दिव्य गुणों के कारण मानवता पशुता से पृथक है, उनका जैसा समाहार तुलसीदास ने राम, भरत, कौशल्या, जनक और जानकी आदि अपनी कथा के अनेक पात्रों में किया है, वैसा अन्यत्र नहीं मिल सकता। रामकथा भारतीय संस्कृति के प्रभात काल से मानवता के इस दिव्य रूप की खोज का एक

इतिहास प्रस्तुत करती है, तुलसीदास ने उस साधना के इतिहास में अपने असाधारण योगदान से अपने लिए एक अमिट स्थान निर्मित कर लिया है। अतः तुलसीदास और उनके द्वारा हिंदी की राम-भक्ति-धारा ने इस प्रकार का जो योग प्रदान किया है, उसी को समझना पर्याप्त होगा।

हम ऊपर देख चुके हैं कि वाल्मीकि से लेकर 'अध्यात्मरामायण' तक निरंतर रामकथा का विकास होता रहा है। फिर भी कथा के पात्रों में कुछ तत्व ऐसे चले आ रहे थे—और वे भी कथा के सतोगुण-संपन्न पात्रों में—जो रामकथा की उस सात्विक चरित्र-धारा में उत्कट रूप से विषम प्रतीत हो रहे थे। तुलसीदास ने इन तत्वों को दूर करके उक्त चरित्र-धारा को समता प्रदान की। उदाहरण के लिए, उन पात्रों में अनावश्यक रूप से जहाँ-तहाँ जो आवेश, अविचार और अधीरता के स्थल थे, उनको तुलसीदास ने सुधारने की चेष्टा की। इस संबंध में नीचे कुछ उदाहरण 'अध्यात्मरामायण' से दिए जा रहे हैं—वाल्मीकीय 'रामायण' तथा अन्य कृतियों में भी इस विषय में अधिक अंतर नहीं है।

कौशल्या राम को भय दिखाती हैं कि यदि वे उनकी आज्ञा का उल्लंघन कर वन चले जाएँगे तो वे अपने जीवन का अंत कर लेंगी (२. ४, १२-१३)। लक्ष्मण (२. ४, ५१-५२), सीता (२. ४, ७८) और निषाद (२. ६, २४) राम से कहते हैं कि यदि वे उन्हें अपने साथ वन को नहीं ले जाएँगे, तो वे अपने जीवन का अंत कर डालेंगे। अयोध्या का राज्य ग्रहण करने के लिए कैकेयी के कथन पर भरत कहते हैं कि वे अग्नि-प्रवेश, विष-भक्षण अथवा खड्ग द्वारा आत्मघात कर के यमलोक चले जाएँगे (२. ७, ८०-८१)। चित्रकूट में भरत राम से कहते हैं कि वे अन्न-जल छोड़ कर प्राण-त्याग कर ेंगे, यदि राम उन्हें अपने साथ रहने की आज्ञा न देंगे और इतना ही नहीं, वे इसके अनन्तर उसके लिए पूर्व की ओर मुख करके धूप में बै भी जाते हैं (२. ९, ४०)। पुनः चित्रकूट से लौटते समय वे राम से कहते हैं कि यदि अवधि के समाप्त होते ही राम अयोध्या नहीं लौटेंगे तो वे आत्मघात कर लेंगे (२. ९, ५३)। स्वर्णमृग के पीछे गए हुए राम को विपत्ति में मान कर सीता लक्ष्मण से कहती हैं कि वे आत्मघात कर लेंगी, यदि लक्ष्मण राम की सहायता के लिए तुरंत प्रस्थान नहीं करेंगे (३. ७, ३२-३३)। तुलसीदास ने रामकथा के सात्विक पात्रों को इस आवेशवाद से मुक्त किया है।

इसके अतिरिक्त कथा के मुख्य पात्रों को अलग-अलग भी अपनी भावनाओं की उदात्तता प्रदान की है और उन्हें अधिक उदात्त बनाया है। इस प्रसंग में केवल राम, भरत और कौशल्या के चरित्रों पर विचार कर लेना पर्याप्त होगा।

राम—वाल्मीकीय 'रामायण' से 'अध्यात्मरामायण' तक की यात्रा में राम का चरित्र बहुत कुछ परिष्कृत हो चुका था। उदाहरण के लिए वाल्मीकीय 'रामायण' में कौशल्या से बिदा लेने के लिए गए हुए राम उनसे कहते हैं : "देवि, आप जानती नहीं हैं, आपके लिए, सीता के लिए और लक्ष्मण के लिए बड़ा भय उपस्थित हुआ है। इससे आप लोग दुखी होंगे। अब मैं दंडकारण्य जा रहा हूँ—महाराज युवराज का पद भरत को देते हैं" (२. २०, २५-३०)। पुनः सीता से बिदा लेने के लिए जाने पर राम उनसे कहते हैं : "तुम भरत के सामने मेरी प्रशंसा मत करना, क्योंकि समृद्धिवान लोग दूसरों की स्तुति नहीं सह सकते। भरत के आने पर उनके सामने तुम मुझे श्रेष्ठ न बतलाना, ऐसा करना भरत का प्रतिकूलाचरण कहा जाएगा,

और अनुकूल रहकर ही भरत के पास रहना संभव हो सकता है (२. २६, २६-२९)।" सीता-हरण के अनंतर व्यथित राम लक्ष्मण से पूछते हैं, "लक्ष्मण, सीता के वियोग में मेरे मरने और तुम्हारे अकेले अयोध्या लौटने पर क्या कैकेयी अपने मनोरथों के पूर्ण होने पर सुखी होगी?" (३.५८, ७) किंतु 'अध्यात्मरामायण' में भरत और कैकेयी के संबंध में ऐसे स्थल नहीं रह गए थे।

तुलसीदास ने 'अध्यात्मरामायण' के इसी परिष्कृत रूप को लिया और उसे और भी ऊँचा उठाने का प्रयास किया। इस प्रसंग में ऊपर की भूमिका में केवल अयोध्या के राज्य, भरत तथा कैकेयी के विषय की राम की भावनाओं और चेष्टाओं का 'मानस' में उल्लेख पर्याप्त होगा। युवराज-पद पर अभिषेक के विषय में राम की प्रतिक्रिया देखिए—

गुरु सिख देइ राउ पहँ गयऊ। राम हृदय अस बिसमय भयऊ।
जनमे एक संग सब भाई। भोजन सयन केलि लरिकाई।
करनबेध उपवीत बिबाहा। संग संग सब भएउ उछाहा।
बिमल बंस यह अनुचित एकू। बंधु बिहाइ बड़ेहिं अभिषेकू।

भरत की प्रशंसा में चित्रकूट में वशिष्ठ से कहे गए निम्नलिखित वाक्य देखिए—

नाथ सपथ पितु चरन दोहाई। भएउ न भुवन भरत सम भाई।
जे गु पद अंबुज अनुरागी। ते लोकहुँ बेदहुँ बड़ भागी।
राउर जा पर अस अनुरागू। को कहि सकइ भरत कर भागू।
लखि लघु बंधु बुद्धि सकुचाई। करत बदन पर भरत बड़ाई।

और चित्रकूट में राम का अपनी माता को छोड़कर पहिले कैकेयी के पैरों में पड़ना और उनके सारे कुकृत्यों के लिए काल, कर्म और विधि को दोषी ठहराना देखिए—

देखी राम दुखित महतारी। जनु सुबेलि अवली हिम मारी।
प्रथम राम भेंटी कैकेयी। सरल सुभाय भगति मति भेई।
पा परि कीन्ह प्रबोधु बहोरी। काल करम बिधि सिर धरि खोरी।

राम के संबंध में इतना पर्याप्त होगा।

भरत—यदि आधार ग्रन्थों में कोई ऐसा चरित्र है जो सर्वथा उज्ज्वल है, तो वह भरत का चरित्र है। राम का शूर्पणखा को कुरूप करना और छिप कर बालि-वध करना शुद्ध नैतिक दृष्टि से अनुमोदनीय नहीं माने जा सकते। मारीच की बनावटी कातर ध्वनि सुनने पर राम की सहायता के लिए लक्ष्मण को भेजते समय सीता के मुख से उनके प्रति निकले हुए अपमानपूर्ण शब्द भी समर्थनीय नहीं कहे जा सकते। लक्ष्मण में तो आदि से अंत तक आवेश और अविचार-प्रमुखता है। मृत्यु-शय्या पर पड़े हुए दशरथ के प्रति कौशल्या ने जो व्यंग्य किए हैं, वे उनके महान चरित्र को बहुत छोटा बना देते हैं। भरत के चरित्र के विषय में आधार ग्रन्थों में इस प्रकार की कोई त्रुटियाँ नहीं दिखाई पड़तीं। तुलसीदास भरत के इस उज्ज्वल चरित्र को उज्ज्वलतर बना कर उन्हें इतना ऊँचा उठाते हैं कि वे राम से भी अधिक सराहनीय हो जाते हैं—

लखन राम सिय कानन बसहीं। भरत भवन बसि तपि तनु कसहीं।
दोउ दिसि समुझि करत सब लोगू। सब विधि भरत सराहन जोगू।

तुलसीदास ने जिस प्रकार राम में समता—समत्व-बुद्धि—का चरमोत्कर्ष उपस्थित किया है, उसी प्रकार भरत में उन्होंने प्रेम और भक्ति की पराकाष्ठा प्रस्तुत की है—

भरत अवधि सनेह ममता की।
जद्यपि राम सीवँ समता की।

'मानस' के 'अयोध्याकांड' का उत्तरार्द्ध इसी प्रेमी की प्रेम-गाथा है। राम-भक्ति की सुधा को तुलसीदास ने इन्हीं भरत के द्वारा वसुधा के लिए सुलभ कर दिया है—

राम भरत अब अमिय अघाहू।
कीन्हिहु सुलभ सुधा बसुधाहू।

उन्होंने भरत के चरित्र-सिन्धु से प्रेमामृत को प्रकट किया है—

पेम अमिअ मंदर बिरहु, भरत पयोधि गँभीर।
मथि प्रगटेउ सुर साधु हित, कृपासिंधु रघुबीर।।

भरत के इस प्रेम को तुलसीदास ने विधि-हरि-हर के लिए भी कल्पनातीत बताया है—

अगम सनेह भरत रघुबर को।
जहँ न जाइ मनु बिधि हरि हर को।।

और कहा है कि भरत की इस महत्ता को केवल राम जानते हैं, यद्यपि वे भी पर्याप्त रूप में उसका बखान नहीं कर सकते—

भरत अमित महिमा सुनु रानी।
जानहि रामु न सकहिं बखानी।।

कौशल्या—इसी प्रकार रामकथा के स्त्री पात्रों में तुलसीदास का सब से अधिक महत्वपूर्ण योग कौशल्या के विषय में है। पूर्ववर्ती सभी रामकथा-कृतियों में कौशल्या एक मानवी हैं, किंतु 'रामचरितमानस' में वे देवी हैं। वाल्मीकीय 'रामायण' से लेकर 'अध्यात्मरामायण' तक की कथा-यात्रा में राम तो मानव से देव बन गए थे, किंतु राम-माता जहाँ की तहाँ बनी हुई थीं। उनको मानवी से देवी बनाने का श्रेय तुलसीदास को है। पूर्ववर्ती कौशल्या के साथ तुलसीदास की कौशल्या से तुलना करने पर तुलसीदास का योग स्पष्ट हो जाएगा।

'अध्यात्मरामायण' में राम से उनके निर्वासन का समाचार सुनकर कौशल्या कहती हैं, "हे राम, जिस प्रकार पिता तुम्हारे गुरु हैं, उसी प्रकार मैं भी तो उनसे अधिक तुम्हारी गुरु हूँ। यदि पिता ने तुमसे वन जाने के लिए कहा है, तो मैं तुम्हें रोकती हूँ। यदि तुम मेरी आज्ञा का उल्लंघन कर वन चले जाओगे, तो मैं अपने जीवन का अंत कर यमपुर चली जाऊँगी।"

तुलसीदास ने इस स्थल पर कौशल्या के चरित्र में धर्म और स्नेह के बीच अन्तर्द्वन्द्व दिखाते हुए बड़ी योग्यतापूर्वक स्नेह पर धर्म की विजय अंकित की है—

धरम सनेह उभय मति घेरी। भइ गति साँप छछुंदर केरी ।।
बहुरि समुझि तिय धरमु सयानी। राम भरत दोउ सुत समजानी ।।
सरल सुभाउ राम महतारी। बोली बचन धीर धरि भारी ।।
तात जाउँ बलि कीन्हेहु नीका। पितु आयेसु सब धरम क टीका ।।

राजु देन कहि दीन्ह बनु, मोहिं न सो दुख लेसु।
तुम्ह बिनु भरतहि भूपतिहि, प्रजहि प्रचंड कलेसु।

जौं केवल पितु आयेसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता।
जौं पितु मात कहेउ बन जाना। तौ कानन सत अवध समाना।

तुलसीदास की कौशल्या मातृत्व के अपने अधिकारों का ध्यान करके दशरथ की आज्ञा का उल्लंघन करने के लिए राम को भले ही कह सकती हों, किंतु राम पर कैकेयी का—निर्वासित करने वाली कैकेयी का—भी अपने ही समान अधिकार समझ कर उसकी आज्ञा को सहर्ष शिर पर धारण करना ही राम का कर्तव्य मानती हैं।

'अध्यात्मरामायण' में सुमंत्र के प्रत्यागमन पर उनके मुख से राम, सीतादि के वन-गमन की गाथा सुन कर रोते हुए दशरथ से कौशल्या ने कहा है, "राजन, आपने यदि प्रसन्न होकर अपनी प्रिया कैकेयी को वर दिया, तो भले ही आपने उसी के पुत्र को राज्य दिया होता, किंतु मेरे पुत्र को निर्वासन क्यों दिया ?" इसका उत्तर देते हुए दशरथ ने ठीक ही कहा है, "मैं तो आप ही दुःख से मर रहा हूँ, फिर इस प्रकार मुझे और दुःख क्यों देती हो ? इससे क्या लाभ है ? इसमें सन्देह नहीं कि मेरे प्राण अभी निकलने वाले हैं।" और इसके अनंतर दशरथ ने अंध मुनि के शाप की कथा सुनाकर अपने प्राण त्याग कर दिए।

तुलसीदास की कौशल्या ने इस अवसर पर जो कुछ किया है, उसे देखिए—

कौसल्या नृप दीख मलाना। रबिकुल रबि अथएउ जिय जाना ।।
उर धरि धीर राम महतारी। बोली बचन समय अनुसारी ।।
नाथ समुझि मन करिअ बिचारू। राम बियोग पयोधि अपारू ।।
करनधार तुम्ह अवध जहाजू। चढ़ेउ सकल प्रिय पथिक समाजू ।।
धीरज धरिउ त उतरिअ पारू। नाहिं त बूड़िहि सब परिवारू ।।
जौं जिय धरि अबिनय पिय मोरी। राम लखनु सिय मिलहिं बहोरी ।।

और दशरथ पर इन वचनों का जो प्रभाव हुआ है, उसे देखिए—

प्रिया बचन मृदु सुनत नृप, चितएउ आँखि उघारि।
तलफत मीन मलीन जनु, सींचेउ सीतल बारि ।।

दोनों में कितना विशाल अंतर है।

'अध्यात्मरामायण' में यद्यपि गुरु ने भरत से राज्य ग्रहण करने के लिए आग्रह किया है, किंतु कौशल्या की ओर से इस प्रकार की किसी चेष्टा का उल्लेख नहीं है। तुलसीदास ने यहाँ कौशल्या से भी उक्त विषय में कहलाया है और कितनी योग्यतापूर्वक उन्होंने कौशल्या से यह कार्य कराया है—

कौसल्या धरि धीरजु कहई। पूत पथ्य गुरु आएसु अहई।।
सो आदरिअ करिअ हित मानी। तजिअ विषाद कालगति जानी।।
बन रघुपति सुरपुर नरनाहू। तुम्ह एहि भाँति तात कदराहू।।
परिजन प्रजा सचिव सब अंबा। तुम्हही सुत सब कहँ अवलंबा।।
लखि विधि बाम काल-कठिनाई। धीरजु धरहु मातु बलि जाई।।
सिर धरि गुरु आयेसु अनुसरहू। प्रजा पालि पुरजन दुख हरहू।।

कौशल्या के इन वचनों में हृदय की कितनी विशालता प्रतिबिंबित हो रही है।

केवल एक और प्रसंग अपेक्षित होगा। यह भी 'अध्यात्मरामायण' में नहीं है और यह तुलसीदास की उद्भावना का परिणाम है। चित्रकूट में तुलसीदास जनक और जनक-भार्या का आगमन भी दिखाते हैं और जनक-भार्या और राम-माता की भेंट कराते हैं। इस अवसर पर जब जनक-भार्या राम के निर्वासन और उसके परिणामस्वरूप दशरथ के स्वर्ग-प्रयाण की चर्चा चलाती है, कौशल्या कैसे विवेक और महानता के साथ अपनी भावनाएँ उक्त सारे प्रसंगों के विषय में प्रकट करती हैं—

कौसल्या कह दोष न काहू। करम बिबस सुख दुख छति लाहू।।
के बिमोह बस सोचिय बादी। बिधि प्रपंच अस अचल अनादी।।
भूपति जिअब मरब उर आनी। सोचिय सखि लखि निज हित हानी।।

कौशल्या के इसी चरित्र को देखकर यह विश्वास हो सकता है कि स्वतः भगवान ने उनके गर्भ से अवतार ग्रहण किया था। राम-माता का ऐसा चरित्र और चित्र उपस्थित करना मानो 'रामचरितमानस' के अमर कलाकार के लिए ही छोड़ दिया गया था।

जनक, सीता, हनुमान, अंगद, बिभीषण आदि अन्य सात्विक चरित्रों के संबंध में भी तुलसीदास ने इसी प्रकार विशेषता उपस्थित की है। निस्संदेह तुलसीदास का यह योगदान असाधारण है।

एक बार पुनः उसी बात को कहने की आवश्यकता है जो ऊपर कही जा चुकी है। तुलसीदास एक पूर्ण कलाकार हैं, उनमें अनेकानेक गुण हैं—कला का अभिव्यक्ति पक्ष उनका अत्यंत सबल है और इसी प्रकार उसका अनुभूति-पक्ष भी अत्यंत सशक्त है। किंतु वे महान कलाकार अपने अभिव्यक्ति पक्ष के कारण नहीं हैं—उसके नाते वे एक कुशल कलाकार अवश्य हैं। महान कलाकार वे अपने उस अनुभूति पक्ष के कारण ही हैं, जिसके द्वारा उन्होंने मानवता का वह उदात्त रूप प्रस्तुत किया है जिसकी खोज में वह उनके पूर्व एक दीर्घ काल से लगी हुई थी और इसीलिए वह शीघ्र उन्हें भुला भी न सकेगी।

तुलसीदास का तत्वदर्शन

कुछ लोग तुलसीदास को अद्वैतवादी और कुछ उनको विशिष्टाद्वैतवादी कहते हैं। कुछ कहते हैं कि उन्होंने इन दोनों का समन्वय किया था और कुछ कहते हैं कि दोनों के परस्पर विरोधी सिद्धान्त भी उनकी रचनाओं में पाए जाते हैं। कुछ यह भी कहते हैं कि उनके आध्यात्मिक विचार

उनके अपने हैं और इसलिए उनके सिद्धान्तों को तुलसी-मत या तुलसी-दर्शन नाम देना चाहिए। किन्तु वास्तव में इनमें से एक भी विचार ग्राह्य नहीं है और सभी भ्रमात्मक हैं। इस भ्रम का कारण यह है कि तुलसीदास के पूर्व राम-भक्ति धारा का दर्शन क्या था, इसे जानने और समझने की यथेष्ट चेष्टा नहीं हुई है।

वास्तविकता यह है कि तुलसीदास ने जिस प्रकार अपनी रामकथा का निर्माण पूर्ववर्ती रामकथा के उस अन्तिम रूप की नींव पर किया था जो 'अध्यात्मरामायण' में मिलती है, उसी प्रकार उन्होंने अपने राम-भक्ति-दर्शन का निर्माण भी राम-भक्ति-दर्शन के उस अंतिम रूप की नींव पर किया था जो 'अध्यात्मरामायण' में मिलता है।

राम परमात्मा हैं, वे ही निर्गुण और सगुण ब्रह्म हैं, वे अपनी माया का आश्रय लेकर अवतार धारण करते हैं, मायाश्रित राम के सगुण रूप की लीलाओं को देखकर ज्ञानी भी भ्रम में पड़ जाते हैं और उस भ्रम से प्रेरित होकर राम में कर्मों का आरोप करने लगते हैं और इस प्रकार केवल अपने ही भ्रम या अज्ञान का आरोप राम पर करते हैं। अपनी माया के द्वारा ही राम सृष्टि की रचना, पालन और संहार करते हैं।

राम विष्णु भी हैं, विष्णु ने राम के रूप में अवतार धारण किया है।

लक्ष्मण शेष हैं, वे विश्व के कारण—उपादान कारण—हैं, वे समस्त जगत के आधार हैं।

सीता मल प्रकृति, योगमाया और परम शक्ति हैं। समस्त जगत राम और सीता से व्याप्त है।

सीता लक्ष्मी भी हैं, लक्ष्मी ने ही सीता के रूप में अवतार धारण किया है।

माया त्रिगुणात्मिका है। वही मूल प्रकृति है। अखिल विश्व, एवं ब्रह्मादि देवासुर भी इसके वशवर्ती हैं। माया स्वतः जड़ है तथा राम के आश्रय से ही क्रियाशील होती है। यह माया राम के अधीन है।

माया का एक और रूप भी है, वह है उसका अविद्या रूप जो जीव को भव-चक्र में डालने वाला और समस्त दुःखों का कारण है।

जीव ईश्वर का अंश है और इसलिए वह भी सच्चिदानंद है। ईश्वर के, माया के और अपने स्वरूप को न जानने के कारण ही उसको जीव कहा जाता है। वह पंचभौतिक शरीर से भिन्न है और नित्य है। किंतु उसमें ज्ञान के साथ अज्ञान और हर्ष के साथ विषाद आदि हैं, इसलिए वह द्वन्द्वधर्मी है। फलतः ईश्वर जब कि मायाधीश है, जीव माया के वशवर्ती है। इसी कारण वह अपने को कर्मों का कर्ता-भोक्ता समझता है और उन कर्मों से उत्पन्न गतियों का अधिकारी बनने के कारण संसार-चक्र में पड़ जाता है।

इस भव से मुक्ति कर्म-मार्ग द्वारा नहीं होती, क्योंकि समस्त अच्छे-बुरे कर्मों के अनुसार अच्छी-बुरी गतियाँ जीव को प्राप्त होती हैं और उसे भव-चक्र में बना रहना पड़ता है।

ज्ञान मोक्षप्रद अवश्य है। ईश्वर का ज्ञान प्राप्त करते ही जीव ईश्वर हो जाता है।

भव से मुक्ति के लिए भक्ति अमोघ साधन है। राम-भक्ति से मुक्ति स्वतः प्राप्त हो जाती है। भक्ति से विमुख प्राणियों के लिए मुक्ति अत्यंत दुर्लभ है।

राम-भक्ति से अंतःकरण में अविद्या के स्थान पर विद्या का प्रादुर्भाव होता है, जिसके कारण दास का नाश नहीं होता।

संत-समागम प्रथम प्रकार की भक्ति है, कथा में अनुराग दूसरे प्रकार की भक्ति है, गुरु-सेवा तीसरे प्रकार की भक्ति है, निष्कपट भाव से हरिगुण-गान चौथे प्रकार की भक्ति है, मंत्र-जप पाँचवें प्रकार की, इंद्रिय-दमन और परोपकार-परता छठे प्रकार की, जगत को ब्रह्ममय देखना सातवें प्रकार की, संतोष और परदोष-दर्शन से दूर रहना आठवें प्रकार की, मन की सरलता, निष्कपटता और भगवदाश्रय बुद्धि नवें प्रकार की भक्ति है। भक्ति के ये नव रूप सबसे प्रमुख हैं।

शिव-भक्ति राम-भक्ति की एक स्वतंत्र भूमिका है।

उपर्युक्त समस्त विषयों में 'अध्यात्मरामायण' और 'रामचरितमानस' का पूर्ण साम्य है। अंतर मुख्यतः निम्नलिखित विषयों में है—

१. 'अध्यात्मरामायण' के अनुसार विष्णु परमात्मा हैं, ब्रह्म हैं, आदि नारायण हैं और त्रिगुणात्मिका माया का आश्रय लेकर जगत की उत्पत्ति, पालन और लय करते हैं। तुलसीदास इसे नहीं स्वीकार करते हैं। तुलसीदास वह पद केवल राम के लिए सुरक्षित रखते हैं और कहते हैं कि राम के अंशमात्र से नाना विष्णु उत्पन्न होते हैं, राम विष्णु को नचाने वाले हैं, राम करोड़ों विष्णुओं के समान संसार का पालन करने वाले हैं, विष्णु राम के चरणों की सेवा करते हैं।

२. 'अध्यात्मरामायण' के अनुसार लक्ष्मी ही मूल प्रकृति, योगमाया अथवा शक्ति हैं। तुलसीदास यह पद केवल सीता को देते हैं और कहते हैं कि सीता के अंशमात्र से अगणित रमा उत्पन्न होती हैं, वे रमा द्वारा वंदिता भी हैं।

३. 'अध्यात्मरामायण' के अनुसार परमात्मा ने दशरथ के घर में चार अंशों में अवतार ग्रहण किया था। तुलसीदास के अनुसार परमात्मा राम ने स्वतः अपने अंशों के साथ दशरथ के घर में अवतार ग्रहण किया था।

४. 'अध्यात्मरामायण' के अनुसार वानरादि विष्णु के पार्षद देवता हैं। तुलसीदास के अनुसार वे सगुण ब्रह्म के उपासक भक्त हैं, जो मोक्ष-सुख छोड़ कर सदैव उनके साथ रहा करते हैं।

५. 'अध्यात्मरामायण' के अनुसार भक्ति विज्ञान रूपी राजभवन के लिए एक सीढ़ी के तुल्य है, मुक्ति उसी विज्ञान से प्राप्त होती है। किंतु तुलसीदास भक्ति को ही चरम साध्य मानते हैं, उसी को समस्त पारमार्थिक साधनों का सुंदर फल बताते हैं और तुलसीदास के समस्त राम-भक्त अपनी समस्त साधनाओं का फल राम को अर्पित कर उनसे केवल उनकी भक्ति की याचना करते हैं। तुलसीदास के भक्त भक्ति की तुलना में मुक्ति को हेय समझते हैं।

इस अंतर के मूल में भावनाओं का अंतर है—'अध्यात्मरामायण' राम और राम-भक्ति का प्रतिपादन करते हुए अपने को विष्णु-भक्ति और ज्ञान की प्रभुता से मुक्त नहीं कर सकी थी। तुलसीदास ने दोनों से अपने को मुक्त कर राम और राम-भक्ति की महत्ता का प्रतिपादन किया। राम की तुलना में विष्णु को और सीता की तुलना में लक्ष्मी को जैसा हीन स्थान तुलसीदास ने दिया है, वैसा कोई भी निरा विष्णु-भक्त नहीं कर सकता था। यह तुलसीदास जैसे राम-भक्त के ही लिए संभव था। तुलसीदास अपने आराध्य का स्थान पूर्ण रूप से विष्णु को नहीं दे सकते थे।

तुलसीदास की राम-भक्ति में स्थान ग्रहण करने के लिए विष्णु को राम-सेवक के ही रूप में आना पड़ा। ठीक यही परिस्थिति ज्ञान और भक्ति की भी है। भक्त तुलसीदास को ज्ञान से कोई विरोध नहीं था, किंतु ज्ञान के साथ वे उस प्रकार का समझौता नहीं कर सकते थे, जैसा 'अध्यात्मरामायण' में हुआ है। भक्त होने के नाते स्वभावतः भक्ति को उन्होंने ज्ञान-विज्ञानादि सभी के ऊपर महत्व दिया है और उसी को साध्य भी माना है।

फलतः यहाँ भी हम तुलसीदास के व्यक्तित्व की वह महानता स्पष्ट रूप से देखते हैं जो अन्यत्र देखी है। जिस प्रकार राम-साहित्य के इतिहास में उनका स्थान अमर है, उसी प्रकार उन्होंने राम-भक्ति के इतिहास में भी अपना स्थान अमिट बना लिया है।

तुलसीदास की राम-भक्ति

तुलसीदास की राम-भक्ति के स्वरूप पर हम विचार करते हैं तो स्पष्ट देखते हैं कि वह मानवता की एक महान कल्पना पर आधारित है। यही कारण है कि उनके पात्र, जैसा हम पहले देख चुके हैं, पहले मानव हैं और फिर राम-भक्त हैं और यह हम ऊपर तुलसीदास की कला के विवेचन में देख चुके हैं। इस विषय में वे कृष्ण-भक्त कवियों से ही नहीं, अग्रदासादि राम-भक्ति की मधुरधारा के कवियों से भी वहुत पृथक हैं। इस संबंध में यदि उनकी तुलना कुछ की जा सकती है तो कबीर आदि निर्गुण उपासक भक्तों से। किंतु एक बात में वे उनसे भी भिन्न हैं, निर्गुण धारा के भक्त अपनी भक्ति की निष्पत्ति के लिए हठयोग का आश्रय लेते हैं, ज्ञान का आश्रय लेते हैं, मुक्ति की कल्पना करते हैं। तुलसीदास का साधन-साध्य सभी कुछ राम-भक्ति है—वह है निष्केवल प्रेम और वह प्रेम जिस राम से करने का वे उपदेश करते हैं, वे राम हैं मानवता के सब से बड़े प्रतीक। इसलिए तुलसीदास की राम-भक्ति निरी आध्यात्मिक साधना ही नहीं है, वह उतना ही एक नीतिमूलक जीवन-दर्शन भी है।

परवर्ती राम-साहित्य

केशवदास—जैसा ऊपर कहा जा चुका है, तुलसीदास के 'रामचरितमानस' की रचना के प्रायः एक सौ वर्ष बाद तक रामभक्ति-धारा में राम का मर्यादा-पुरुषोत्तम रूप ही प्रधान रहा, उसमें मधुर भाव की भक्ति नहीं पनप सकी। इस एक सौ वर्षों की अवधि में सब से पहले केशवदास आते हैं, जिन्होंने सं० १६५८ (सन १६०१ ई०) में 'रामचन्द्रिका' की रचना की। ग्रंथ के प्रारंभ में उन्होंने लिखा है कि उन्होंने स्वप्न में वाल्मीकिजी के दर्शन किए और उन्हीं की प्रेरणा से उन्होंने 'रामचंद्रिका' की रचना की। इससे ज्ञात होता है कि उन्होंने वाल्मीकीय 'रामायण' का आधार विशेष रूप से ग्रहण किया। अधिकांश में यह ठीक भी है, क्योंकि उसमें राम विषयक परमात्म-भावना कुछ उसी प्रकार दबी हुई है जिस प्रकार वाल्मीकीय 'रामायण' में वह दबी हुई है। किंतु शेष बातों में दोनों की तुलना करना ठीक न होगा। वाल्मीकि ने रामादि के चरित्र में महामानव की जो झाँकी दिखाई है, केशवदास उसकी छाया को भी अपनी रचना में नहीं ला सके। न उनमें वह भक्ति की ही भावना मिलती है, जो सूर-तुलसी में मिलती है।

कहीं-कहीं पर तो केशवदास में सामान्य विवेक की भी कमी दिखाई पड़ती है—माता से विदा होते समय राम का उन्हें नारी-धर्म और पुनः वैधव्य-धर्म का उपदेश करना इसी

प्रकार की बातें हैं। राम के राज्याभिषेक के अवसर पर राज्यश्री की निंदा भी कुछ ऐसी ही लगती है।

केशवदास की यह रचना प्रबंध की दृष्टि से भी त्रुटिहीन नहीं है। प्रारंभ में राम-जन्म की कथा नहीं है; दशरथ-परिवार का परिचय देकर विश्वामित्र आगमन से कथा प्रारंभ की गई है। ताड़का और सुबाहु-वध की कथाएँ अत्यंत संक्षिप्त हैं। पुनः सीता-स्वयंवर का वर्णन बड़े विस्तार से किया गया है। कैकेयी की वर-याचना का प्रसंग केवल दो छंदों में समाप्त कर दिया गया है। इसी प्रकार ग्रंथ भर में अन्यत्र भी प्रबंधतत्व का यथेष्ट निर्वाह नहीं किया गया है।

केशवदास का बल वर्णन पर है, अलंकार पर है, उक्ति पर है और छंद पर है। अवसर-अनवसर पर वे इनके विषय में अपना कौशल प्रदर्शित करने में नहीं चूकते, इसीलिए बहुत से रीति-प्रेमी पाठकों को वे प्रभावित भी करते हैं, किंतु उनकी शैली में प्रायः कृत्रिमता मिलती है—भाषा में अव्यवस्था और तोड़मोड़ और कल्पना में क्लिष्टता। कला की सहज साधना उनकी इस रचना में बहुत-कुछ नहीं दिखाई पड़ती।

केशवदास के कुछ संवाद अवश्य अच्छे बन पड़े हैं। इन पर 'प्रसन्नराघव' तथा 'हनुमन्नाटक' का प्रभाव यथेष्ट है, फिर भी ये संवाद केवल अनुवाद नहीं हैं और इनकी रचना केशवदास ने प्रायः कुशलता और विवेक के साथ की है।

केशवदास वास्तव में भक्ति-धारा के कवि नहीं थे, वे रीति-धारा के कवि थे। उनके इस काव्य को रीति-धारा की कसौटियों पर ही कसने पर कुछ हाथ लग सकता है।

नाभादास—ये तुलसीदास के उत्तर समसामयिकों में दूसरे प्रमुख कवि हैं। ये अग्रदास के शिष्य और स्वामी रामानंद के संप्रदाय के थे। इनके 'अष्टयाम' की चर्चा ऊपर अग्रदास के 'रामाष्टयाम' के प्रसंग में की जा चुकी है। इन्होंने राम-भक्ति संबंधी कुछ रचना भी की है, किंतु इनकी ख्याति 'भक्तमाल' (रचना-काल सं० १६५३ वि० ?=सन १५९६ ई०) के कारण हैं, जो मध्य युग के वैष्णव-आन्दोलन की रूपरेखा समझने के लिए सब से अधिक प्रामाणिक और महत्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करता है। यह सारी रचना केवल ३१६ छप्पयों में है, किंतु पूर्ववर्ती तथा समकालीन संतों का बिना किसी प्रकार के पक्षपात अथवा विरोध के और सांप्रदायिक संकीर्णता से मुक्त हो कर जैसा सारपूर्ण परिचय इस रचना में मिलता है, अन्यत्र नहीं मिलता। 'भक्तमाल' के छप्पयों का एक-एक शब्द सारगर्भित है और इसी कारण 'भक्तमाल' की टीकाओं और टिप्पणियों की एक अत्यंत समृद्ध परंपरा हिंदी साहित्य में मिलती है। इस समस्त परंपरा का अध्ययन अत्यंत रोचक और उपादेय विषय होगा। इन टीकाओं में सब से अधिक निकट की टीका प्रियादास की है, जिसका रचना-काल सं० १६६९ वि० (सन १६१२ ई०) है।

सेनापति—ये इस धारा के अन्य सुकवि हैं। इनका 'कवित्तरत्नाकर' अपने प्रकृति-वर्णन —विशेष रूप से ऋतु-वर्णन—के लिए बहुत प्रसिद्ध है। 'कवित्तरत्नाकर' की दो तरंगें 'रामायण-वर्णन' और 'रामरसायनवर्णन' शीर्षक हैं जिनमें रामकथा और राम-भक्ति संबंधी सेनापति के मुक्तक छंदों का संकलन हुआ है। शैली की दृष्टि से सेनापति रीति-परंपरा के कवि थे और श्लेष और यमक विषयक चमत्कार में हिंदी साहित्य में ऐसे सफल कवि कम ही हुए हैं। उनकी रामकथा का आधार प्रायः वाल्मीकीय 'रामायण' है। भक्ति-सिद्धांत की दृष्टि से सेनापति तुलसीदास की

परंपरा में आते हैं, उन्होंने राम के लोकोपकारी गुणों का वर्णन विस्तार से किया है और उनके पराक्रम का वर्णन तन्मयता के साथ; राम के सौंदर्य-चित्रण का प्रयत्न उन्होंने बहुत कम किया है। वे राम के वीरत्व और उनकी भक्तवत्सलता से ही विशेष रूप से प्रभावित दिखाई पड़ते हैं और उनकी भक्ति भी सहज प्रतीत होती है।

उपर्युक्त सौ वर्षों की अवधि के बीच आने वाले शेष कवियों में उल्लेखनीय निम्नलिखित हैं—

महाराज पृथ्वीराज जिन्होंने प्रसिद्ध डिंगल काव्य 'कृष्णरुक्मिणीवेलि' की रचना की है, 'दशरावउत' नामक राम-भक्ति काव्य की भी रचना की। इसमें राम की स्तुति के लगभग ५० दोहे हैं। रचना-तिथि अज्ञात है, किंतु महाराज पृथ्वीराज का देहान्त सं० १६-५७ वि० (सन १६०० ई०) में हुआ था, इसलिए इस कृति की रचना उससे पूर्व हुई होनी चाहिए।

प्राणचंद चौहान ने सं० १६६७ वि० (सन १६१० ई०) में 'रामायणमहानाटक' की रचना की, जिसमें संवादों के रूप में रामकथा कही गई है।

माधवदास चारण ने 'गुणरामरासो' नामक एक सुंदर काव्य राम-चरित्र के विषय का प्रस्तुत किया जो विविध छंदों में है। इसकी रचना उन्होंने सं० १६७५ वि० (सन १६२८ ई०) में की थी। सं० १६८१ वि० (सन १६२४ ई०) की रची हुई 'अध्यात्मरामायण' नाम की एक रचना भी इनकी मिलती है जो संस्कृत की 'अध्यात्मरामायण' पर आधारित है।

हृदयराम ने सं० १६८० वि० (सन् १६२३ ई०) में 'हनुमाननाटक' की रचना की जो संस्कृत के 'हनुमन्नाटक' पर आधारित है। यह रचना कवित्त-सवैया में है और बहुत लोकप्रिय रही है। इसके अनेक संस्करण उन्नीसवीं शती ईसवी में हुए थे।

मलूकदास ने इसी समय के लगभग 'रामअवतारलीला' नामक ग्रंथ की रचना की।

लालदास ने सं० १७०० वि० (सन १६४३ ई०) में 'अवधविलास' नामक राम-कथा-ग्रंथ दोहा-चौपाई में लिखा। आकार में यह रचना बड़ी है, यद्यपि साहित्यिक दृष्टि से साधारण है।

इन्हीं की एक दूसरी रचना 'भरतजी की बारहमासी' भी है, जिसकी तिथि अज्ञात है। अनुमान से उसका समय भी सं० १७०० वि० (सन १६४३ ई०) के लगभग माना जा सकता है।

नरहरिदास चारण का 'अवतारचरित्र' १६०० से अधिक छंदों का एक विशाल ग्रंथ है, जिसमें विष्णु के विभिन्न अवतारों की कथाएँ हैं। इसकी रचना-तिथि अज्ञात है, किंतु कवि का देहांत सं० १७३३ वि० (सन १६७६ ई०) में हुआ कहा गया है, इसलिए इसकी रचना सं० १७०० वि० (सन १६४३ ई०) के आसपास मानी जा सकती है। रामचरित वाले अंश में तुलसी और केशव का प्रभाव प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है।

रायचंद ने सं० १७१३ वि० (सन १६५६ ई०) में 'सीताचरित्र' की रचना की।

विक्रमीय अठारहवीं शती के दूसरे चरण में यह धारा पुनः मधुर भाव की भक्ति की ओर मुड़ जाती है।

बालकृष्ण नायक बाल अली की 'ध्यानमंजरी' (सं० १७२६ वि०=सन १६६९ ई०)

में नव दंपति के रूप में सीता-राम का ध्यान, नगजड़ित वेदिका, राजसिंहासन तथा सीता की सखियों आदि का वर्णन है। सीता-राम के सौन्दर्य का विशेष विस्तार किया गया है।

उनकी 'नेहप्रकाशिका' (सं० १७४९ वि०=सन १६९२ ई०) में सीता को राम की आह्लादिनी शक्ति रस-राशि के रूप में दिखाई गई है। अष्टयाम का वर्णन करते हुए दंपति की विलास-क्रीड़ा, सीता-सौभाग्य, उनके नखशिख तथा उनकी सखियों का वर्णन हुआ है।

रामप्रियाशरण के 'सीतायन' (सं० १७६० वि०=सन १७०३ ई० के लगभग) में विवाह तक का सीता का चरित्र वर्णित हुआ है। यह वर्णन बड़े विस्तार से हुआ है, इसमें प्रमुखता उनकी बाल-क्रीड़ाओं की है। सीता के अतिरिक्त जनक के भाइयों की कन्याओं का भी इसी प्रकार वर्णन किया गया है।

यमुनादास ने संस्कृत के 'गीतगोविंद' के अनुकरण पर सीता-राम-केलि संबंधी 'गीत-रघुनन्दन' नाम की रचना अठारहवीं शती विक्रमी के मध्य में की।

जानकीरसिकशरण के सं० १७६० वि० (सन १७०३ ई०) के लगभग रचे हुए 'अवधीसागर' में राम-सीता के अष्टयाम और उनके विहार का वर्णन है।

प्रेमसखी के 'सीताराम नखशिख' (सं० १७९१ वि०=सन १७३४ ई०) का विषय स्वतः प्रकट है। सीता के नखशिख का वर्णन करते हुए उनके नितंब, कटि, उरोज तक का वर्णन किया गया है। नखशिख वर्णन के अतिरिक्त कवि ने उनके प्रमोदवन-विहार, चन्द्रकला, चारुशिला आदि सखियों के साथ उनकी विविध क्रीड़ाओं, होलिकोत्सव आदि का वर्णन किया है।

प्रेमसखी के 'होरी छंदादि प्रबंध' तथा 'कवित्तादि प्रबंध' (सं० १७९१ वि०=सन १७३४ ई० के लगभग) भी इसी प्रकार के हैं, जिनमें दंपति के नखशिख तथा उनकी होलिकोत्सव आदि क्रीड़ाओं का वर्णन है।

रामसखे के 'राघवमिलन' (सं० १७०४ वि०=सन १६४७ ई०) में सीता-राम-विहार का वर्णन है। उनकी रचना (सं० १८०४ के लगभग) में उनके राम-भक्ति संबंधी पद हैं।

महाराज विश्वनाथ सिंह रीवाँ-नरेश ने सं० १७९० वि० (सन १७३३ ई०) के लगभग 'आनन्दरघुनन्दन नाटक', 'संगीतरघुनन्दन', 'आनन्दरामायण', 'रामचंद्र की सवारी', और 'रामायण' नामक राम-भक्ति परक रचनाएँ कीं। 'आनन्दरघुनंदन' हिंदी का प्रथम नाटक माना गया है। इसके संवाद ब्रजभाषा गद्य में हैं, यद्यपि बीच बीच में पद्य भी आए हैं। इसमें पात्रों के नाम अवश्य बदले हुए हैं, यद्यपि विषय रामकथा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि राम-भक्ति की सहज धारा धीरे-धीरे कृष्ण-भक्ति और रीति धाराओं से प्रभावित होकर उन्हीं की सजातीय बन गई और वाल्मीकि से लेकर तुलसीदास ने लोक-कल्याण के जो आदर्श उसमें प्रतिष्ठित किए थे, वे सब विलीन हो गए।

सहायक ग्रंथ-सूची

१. माताप्रसाद गुप्त : तुलसीदास (हिंदीपरिषद, प्रयाग विश्वविद्यालय, तृतीय संस्करण, १९५३)

२. माताप्रसाद गुप्त : तुलसी (साहित्यकुटीर, प्रयाग, १९४९)
३. कामिल बुल्के : रामकथा का विकास (हिंदी-परिषद, प्रयाग वि० वि०, १९५०)
४. सी० एच० वौदवील : स्टडी आन दि सोर्सेज इन कंपजीशन आफ तुलसीदासज रामायण (फ्रेंच में, पेरिस, १९५५)
५. रामचंद्र शुक्ल (संपा०) : गोस्वामी तुलसीदास (नागरीप्रचारिणी सभा, काशी)
६. ,, : तुलसीग्रंथावली (नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, १९३७)
७. श्यामसुंदर दास : तुलसीदास (हिंदुस्तानी एकेडेमी, उत्तरप्रदेश, प्रयाग, १९३२)
८. बलदेवप्रसाद मिश्र : तुलसीदर्शन (हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, १९३८)
९. श्रीकृष्णलाल : मानसदर्शन (काशी, १९४९)
१०. राजपति दीक्षित : तुलसीदास और उनका युग (ज्ञानमंडल लि० काशी, १९५३)
११. जे० एम० मेकफी : दि रामायण आव तुलसीदास (टी० ऐंड डी० क्लार्क, एडिनबरा, १९३०)
१२. जे० एन० कारपेंटर : दि थियालोजी आव तुलसीदास (क्रिश्चियन लिटरेचर सोसाइटी, मद्रास, १९१८)

(पूर्ण सूची के लिए देखिए माताप्रसाद गुप्त : 'तुलसीदास'—भूमिका तथा सहायक ग्रंथसूची)

९. कृष्ण-भक्ति साहित्य

कृष्णाख्यान की प्राचीनता

हमारे देश की संस्कृति जिन उपकरणों से मिल कर बनी है उनमें कृष्ण-वार्ता और कृष्ण-कथा का अद्वितीय स्थान है। मूर्ति, स्थापत्य, चित्र, साहित्य और संगीत ही नहीं, वस्त्र, आभूषण, प्रसाधन, भोजन और मनोरंजन के विविध रूप और प्रकार भी कृष्ण के अद्भुत व्यक्तित्व और उनके प्रति लोक-मन की अनुरागमयी पूजा-भावना से प्रभावित हुए हैं। यह प्रभाव पंद्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी ईसवी से जितना गहरा और लोकव्यापी होता गया है, कदाचित पहले उतना नहीं था। उसी समय उसका रूप पूर्णतया धार्मिक हो गया और वह भाषा-साहित्यों का प्रधान विषय बन कर इतना विविध-रूप हो गया कि हमारे जीवन का कोई अंग उससे अछूता न बचा। परंतु कृष्ण-वार्ता का उससे पहले भी संस्कृति और साहित्य में कम महत्वपूर्ण स्थान नहीं था। वस्तुतः उसकी परंपरा अत्यंत प्राचीन है और इसी कारण सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन की प्रेरक शक्तियों में उसका इतना महत्वपूर्ण स्थान रहा है। अतः उचित है कि हम प्राचीनतम काल से कृष्णाख्यान के सूत्रों का अन्वेषण करने की चेष्टा करें।

'ऋग्वेद' के स्तोताओं में कृष्ण आंगिरस नाम के भी एक ऋषि हैं जो सोमपान के लिए अश्विनीकुमारों का आह्वान करते हैं[1] तथा अहिंसनीय गृह प्रदान करने की उनसे प्रार्थना करते हैं।[2] इन्हीं अश्विद्वय की स्तुति में कक्षिवान ऋषि ने कहा है कि तुमने स्तुति करने पर ऋजुता-तत्पर कृष्ण-पुत्र विश्वकाय को उनका मृत पुत्र दिखा दिया था। इस मृत पुत्र का नाम विष्णापु बताया गया है।[3] कृष्ण के पुत्र विश्वक (विश्वकाय ?) के नाम से भी एक सूक्त है जिसमें उन्होंने अश्विनीकुमारों का सन्तान के लिए आह्वान किया है और दूरस्थ विष्णापु को लाने की प्रार्थना की है।[4] इन संदर्भों से सूचित होता है कि कदाचित विष्णापु आहत हो गया था और कृष्ण आंगिरस और उनके पुत्र ने उसके जीवन के लिए आरोग्य के देवता अश्विनीकुमारों की स्तुति की थी। परन्तु प्रसिद्ध कृष्णाख्यान का इन संदर्भों से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं जान पड़ता।

'ऋग्वेद' में कृष्ण नाम के एक असुर का भी उल्लेख हुआ है जो अपने दस सहस्र योद्धाओं के साथ अंशुमती तटवर्ती प्रदेश के एक गूढ़ स्थान में रहता था। इन्द्र ने मरुतों का आह्वान करके

---

१. ऋग्वेद ८।८५।१-९।

२. वही ८।८५।५।

३. वही १।११६।७, २३।

४. वही ८।८६।१-५।

बृहस्पति की सहायता से उसे हराया और उसकी सेना का संहार किया था।[१] एक अन्य स्थल पर इन्द्र को कृष्णासुर की गर्भवती स्त्रियों का वध करने वाला कहा गया है।[२] आंगिरस कृष्ण और कृष्णासुर एक ही हैं, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। परन्तु दोनों हिंसा से पीड़ित जान पड़ते हैं। प्रसिद्ध कृष्णाख्यान में कृष्ण के सम्मुख वैदिक देवता इन्द्र को जो हीन और निर्वीर्य चित्रित किया गया है, उसे इस वैदिक कृष्णासुर के संदर्भ की प्रतिक्रिया समझा जाए तो असंगत न होगा।

'छांदोग्य उपनिषद' में घोर आंगिरस के शिष्य, देवकी-पुत्र कृष्ण के विषय में कहा गया है कि गुरु ने उन्हें ऐसा ज्ञान दिया था कि उन्हें फिर ज्ञान की पिपासा नहीं हुई तथा उन्हें यज्ञ की एक ऐसी सरल रीति बताई थी जिसकी दक्षिणा तप, दान, आर्जव, अहिंसा और सत्य थी।[३] 'कौशीतकि ब्राह्मण' में भी कृष्ण आंगिरस का उल्लेख मिलता है।[४] वैदिक कृष्ण के व्यक्तित्व के साथ अहिंसा, सत्य आदि का सम्बन्ध होना उन्हें गीता के उपदेष्टा और भागवत-धर्म के पूज्य कृष्ण के अत्यंत निकट ले जाता है।

'महाभारत' से कृष्ण के ऐतिहासिक व्यक्तित्व की सूचना मिलती है और विदित होता है कि प्रारम्भ में कृष्ण सात्वत जाति के कोई पूज्य पुरुष थे। 'घत जातक' में वर्णित देवगब्भा और उपसागर के बलवान, पराक्रमी, उद्धत, क्रीड़ाप्रिय पुत्र वासुदेव कण्ह (वासुदेव कृष्ण) की कथा कदाचित इन्हीं ऐतिहासिक कृष्ण की कथा है जो सम्भवतः पर्याप्त लोकप्रिय हो चली थी।[५] इस कथा का 'श्रीमद्भागवत' में वर्णित कृष्ण-कथा से अद्भुत साम्य है। वासुदेव कण्ह ने भी कुबलया-पीड, मुष्टिक, चाणूर और कंस तथा अन्य बैरियों का नाश करके द्वारका में अपना राज्य स्थापित किया था। 'घत जातक' में ये वासुदेव कण्ह पुत्र-शोक में दुखी चित्रित किए गए हैं। 'महा-उमग्ग जातक' में भी वासुदेव कृष्ण का उल्लेख है और कहा गया है कि उन्होंने कामासक्त होकर चांडाल-कन्या जांबवती को महिषी बनाया था।[६]

गोपाल कृष्ण के आख्यान की परंपरा

कदाचित 'महाभारत' और पुराणों ने कृष्ण के जिस चरित का विकास किया वह ऐतिहासिक वासुदेव कृष्ण से भिन्न था, इसी कारण उन्हें बारंबार यह बताने की आवश्यकता हुई हो कि यही कृष्ण वासुदेव हैं, यही द्वितीय वासुदेव हैं। 'महाभारत' और 'पुराणों' में कृष्ण द्वारा मिथ्या वासुदेव—पौंड्र-राज पुरुषोत्तम और करवीरपुर के राजा शृगाल—को मार कर अपना एक मात्र वासुदेवत्व प्रमाणित करने का उल्लेख है। 'महाभारत' में कृष्ण-सम्बन्धी अनेक

तयों तथा
र्म एक खंडित

१. ऋग्वेद ८।९६।१३-१५।
२. वही १।१०१।१।
३. छांदोग्य उपनिषद, ३।१७।४-६।
४. कौशीतकि ब्राह्मण ३०।९।
५. जातव, फॉसबोॅल,सं० ४२१।
६. वही, सं० ४२१।

वृत्तान्त हैं। भारत-युद्ध में कृष्ण का प्रमुखतम स्थान और उनके व्यक्तित्व में पराक्रम, ऐश्वर्य और ीर्य ही नहीं, देवत्व का भी प्रचुर समन्वय पाया जाता है। सभापर्व में भीष्म ने उन्हें समस्त वेद-वेदांग के ज्ञाता, राजनीति में निपुण, बलवान योद्धा कह कर उनकी प्रशंसा की है।

उद्योग प ं में कहा गया है कि अर्जुन वज्रपाणि इन्द्र की अपेक्षा कृष्ण को अधिक पराक्रमी समझकर उन्हें युद्ध में अपनी ओर करने में अपना सौभाग्य मानते हैं, क्योंकि कृष्ण ने दस्युओं को मारा था, भोज राजाओं को नष्ट किया था, रुक्मिणी का हरण किया था, नगजित के पुत्रों को जीता था, सुदर्शन राजा को मुक्त किया था, पाण्ड्य का संहार किया था, काशी नगरी का उद्धार किया था, निषादों के राजा एकलव्य का वध किया था, उग्रसेन के पुत्र सुनाम को मारा था, इत्यादि। देवताओं ने प्रसन्न होकर कृष्ण को अवध्यता का वरदान दिया था। उन्होंने बाल्यावस्था में ही इन्द्र के घोड़े, उच्चैःश्रवा के समान बली, यमुना के वन में रहने वाले हयराज को मारा था तथा वृष, प्रलंब, नरक, जुंभ, मुर, कंस आदि का संहार किया था। उन्होंने जलदेवता व ण को हराया था तथा पातालवासी पंचजन को मारकर वे पांचजन्य ले आए थे। सत्यभामा की प्रसन्नता के लिए वे महेन्द्र की अमरावती से पारिजात लाए थे।

'हरिवंश', और कुछ पुराणों में भी, कृष्ण द्वारा पारिजात-आनयन की कथा विस्तार से दी गई है। 'महाभारत', 'हरिवंश', तथा 'विष्णु', 'वायु', 'वामन', 'भागवत' आदि पुराणों में कृष्ण की अपेक्षा इन्द्र की हीनता सिद्ध करने के लिए अनेक आख्यान दिए गए हैं। फिर भी, कृष्ण इन्द्र की ज्येष्ठता को स्वीकार करते हैं और वे इन्द्र द्वारा ही गोलोक में गोविन्द रूप से अभिषिक्त होते हैं। वे महेन्द्र के छोटे भाई होने के नाते 'उपेन्द्र' कहे जाते हैं।[१] पुराणों में कृष्ण के ऐश्वर्य और वीर्य की उत्त ोत्तर जितनी वृद्धि होती गई, उसी अनुपात से इन्द्र की हीनता भी बढ़ती गई और 'भागवत' तक आते आते इन्द्र इतने हीन हो गए कि भाषाओं के ैष्णव भक्ति-साहित्य ने उन्हें सरलता से निकृष्टता की पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया।

परन्तु 'महाभारत' तथा पुराणों में वर्णित कृष्ण का ऐश्वर्य और पराक्रमपूर्ण चरित ललित-साहित्य का विषय नहीं बना। मध्यकालीन भाषा-कवियों ने भी कृष्ण-चरित के इस पक्ष पर अधिक ध्यान नहीं दिया। कदाचित इसका कारण यह है कि कृष्ण की मधुर और ललित कथाएँ ही लोकगीतों और लोककथाओं के माध्यम से अधिक प्रचलित थीं और वे ही लोक-मन को अधिक मुग्ध भी करती थीं। 'महाउमग्ग' जातक के काम-पीड़ित वासुदेव कृष्ण के उल्लेख से भी यह सूचित होता है कि उनके श्रृंगारी जीवन से सम्बन्धित कथाएँ लोक-प्रचलित रही होंगी। परन्तु 'महाभारत' में उनके जीवन के इस पक्ष का सभापर्व के उस प्रसंग में भी कोई संकेत नहीं है जिसमें पाल ने उनकी निन्दा करते हुए उनके द्वारा पूतना, बकासुर, केशी और वत्सासुर की हत्या, के साथ तथा गोवर्धन-धारण का उल्लेख किया है।[२] 'महाभारत' का यह अंश प्रक्षिप्त कहा जाता —— इसमें शिशुपाल द्वारा कृष्ण के गोपी-प्रेम का कोई संकेत नहीं है। इससे यह भी अनु- सकता है कि गोपाल कृष्ण का चरित मूलतः 'महाभारत' के कृष्ण से भिन्न था।

१. ऋग्वेद ८।८६

२. वही ८।८५।५।

३. वही १।११६।७, २।१९।३७–४०

४. वही ८।८६।१-५।

जो हो, 'हरिवंश' और पुराणों में कृष्ण के श्रृंगारी रूप के द्विविध चरित मिलते हैं—एक उनका राजसी वैभव-विलास का ऐश्वर्यपूर्ण चरित तथा दूसरा उनका गोपाल रूप में ग्रामीण क्रीड़ाकेलि का माधुर्यपूर्ण चरित। कृष्ण के ऐश्वर्य रूप की विलास-क्रीड़ा 'हरिवंश' तथा कुछ पुराणों में अत्यन्त नग्न रूप में वर्णित है। गोवर्धन की पूजा तक में दूध, घी, चावल, आदि के साथ मेष, महिषादि की बलि चढ़ाने का उल्लेख हुआ है।[1] मदिरा प्रेमी बलराम तो भोग-प्रवृत्त हैं ही, स्वयं श्रीकृष्ण पिंडारयात्रा में बलराम, नारद, अर्जुन और समस्त यादवों तथा सहस्रों वेश्याओं और अपनी सोलह सहस्र स्त्रियों के साथ जल-क्रीड़ा और नग्न भोग-विलास में लिप्त दिखाए गए हैं।[2] इसे देखते हुए यह एक कुतूहल की बात लगती है कि 'हरिवंश' और 'विष्णुपुराण' में गोपाल कृष्ण की लीला 'भागवत', 'पद्म' और 'ब्रह्मवैवर्त' की अपेक्षा बहुत संक्षिप्त रूप में दी गई है। उसमें कृष्ण के गोपी-विहार और कुंज-केलि-विलास के वैसे वर्णन नहीं हैं, जैसे आगे चल कर मिलते हैं। फिर भी, कृष्ण-गोपी-लीला के श्रृंगारी वातावरण का सूत्र 'हरिवंश'-वर्णित पारिजात-आनयन की कथा में सत्यभामा के मान-मनुहार संबंधी वर्णनों से जोड़ा जा सकता है।[3]

पुराणों में सब से पहले 'भागवत' में ही गोपाल कृष्ण का जन्म से लेकर द्वारका-प्रवास तक का सम्पूर्ण चरित विस्तार के साथ दिया गया है, जिसमें कृष्ण के ऐश्वर्य और माधुर्य रूपों का अद्भुत मिश्रण है। ऐसा जान पड़ता है कि पुराणकार धार्मिक उपयोग के उद्देश्य से गोपाल कृष्ण की लोक-विश्रुत ललित लीलाओं को उत्तरोत्तर अधिकाधिक रूप में ग्रहण करते गए। परन्तु उन लीलाओं को पुराण—यहाँ तक कि 'पद्म' और 'ब्रह्मवैवर्त' भी—निःशेष कभी न कर सके। वस्तुतः उन्हें निःशेष किया भी नहीं जा सकता था, क्योंकि वे लोक-कवि की उर्वर कल्पना का विषय बन गई थीं और निरन्तर वृद्धि पाती जाती थीं। स्वयं पुराणकारों की कल्पना-शक्ति इस विषय में अधिक उदासीन नहीं थी। 'पद्म' और 'ब्रह्मवैवर्त' पुराण तथा 'गोपालतापनी' और 'राधातापनी' आदि अर्वाचीन पौराणिक उपनिषद इस तथ्य के साक्षी हैं।

ग्रियर्सन, केनेडी, वेबर आदि पाश्चात्य विद्वानों ने अनुमान किया था कि गोपाल कृष्ण का बाल-चरित जिसे वैष्णव भक्तों ने प्रेम-भक्ति के आलंबन रूप में अपनाया क्राइस्ट के बाल-चरित का अनुकरण है। परन्तु पूतना को 'वर्जिल' तथा प्रसाद को 'लव फीस्ट' मानने का विचार सर्वथा अमान्य हो चुका है। संभावना यह है कि गोपाल कृष्ण मूलतः शूरसेन प्रदेश के सात्वत-वृष्णि वंशी पशुपालक क्षत्रियों के कुलदेव थे और उनके क्रीड़ा-कौतुक की मनोरंजक कथाएँ मौखिक रूप में लोक-प्रचलित थीं। कुछ जातियों में आज तक बाल और किशोर कान्ह की ललित लीलाएँ जातीय उत्सवों का विषय बनी हुई हैं। छोटा नागपुर के अहीर ग्वालों में 'वीर कुँवर' की पूजा इसका उदाहरण है।

गोपाल कृष्ण की ललित कथा के लोक-प्रचलित होने के प्रमाण कुछ पाषाण मूर्तियों तथा शिलापट्टों पर उत्कीर्ण चित्रों में भी मिले हैं। कृष्ण की जन्म और लीला भूमि मथुरा में एक खंडित

---

१. हरिवंश, विष्णुपर्व १६।१४, १५, १८।
२. वही, अध्याय ८८, ८९।
३. वही, अध्याय ६७।

शिलापट्ट मिला है जो प्रथम शताब्दी ईसवी का अनुमान किया गया है । इस पर नवजात कृष्ण को एक सूप में सिर पर रखे हुए वसुदेव यमुना पार करते हुए चित्रित किए गए हैं ।[१] मथुरा में ही एक दूसरा खंडित शिलापट्ट मिला है जो अनुमानतः पाँचवीं शताब्दी ईसवी का है । इस पर कालिय-दमन का दृश्य अंकित है । कृष्ण की मूर्ति मुकुट, कुण्डल, हार तथा कटक युक्त है ।[२] यहीं पर एक तीसरी कृष्ण-मूर्ति मिली है जिसमें गोवर्धन-धारण का दृश्य दिखाया गया है । यह छठी शताब्दी ईसवी की अनुमान की गई है । सुदूर पूर्व बंगाल के पहाड़पुर नामक स्थान में अनुमानतः छठी शताब्दी ईसवी की ही कुछ मिट्टी की मूर्तियाँ मिली हैं जिनमें धेनुकासुर-वध, यमलार्जुन-उद्धार तथा मुष्टिक-चाणूर के साथ मल्ल-युद्ध के दृश्य दिखाए गए हैं । यहीं से किसी गोपी, संभवतः राधा, के साथ प्रसिद्ध मुद्रा में खड़े हुए कृष्ण की एक अन्य मूर्ति भी प्राप्त हुई है । राधा की प्राचीनता का यह सर्वप्रथम मूर्तिगत प्रमाण कहा जा सकता है ।[३] राजस्थान के मंडोर नामक स्थान में प्राप्त दो द्वारपाटों पर गोवर्धन-धारण, नवनीत-चौर्य, शकट-भंजन और कालिय-दमन के चित्र उत्कीर्ण हैं । इनका समय चौथी-पाँचवीं शताब्दी ई० माना गया है ।[४] राजस्थान में बीकानेर के पास सूरत-गढ़ नामक स्थान पर गोवर्धन-धारण और दानलीला का दृश्यांकन करने वाले कुछ सुन्दर मिट्टी के खिलौने मिले हैं । दक्षिण भारत के बादामी के पहाड़ी किले पर कृष्ण-जन्म, पूतना-वध, शकट-भंजन, प्रलंब-वध, धेनुक-वध, अरिष्ट-वध, कंस-वध आदि के अनेक दृश्य गुफाओं में उत्कीर्ण मिले हैं, जो छठी-सातवीं शताब्दी ईसवी के माने जाते हैं ।[५]

परन्तु जिस प्रकार कृष्णाख्यान की प्राचीनता के उपर्युक्त स्फुट प्रमाण प्राप्त हुए हैं, वैसे प्रमाण राधा या राधा-कृष्ण के संबंध में नहीं मिलते । सब से प्राचीन पुरातत्व का प्रमाण पहाड़पुर की उपर्युक्त मृण्मूर्ति का ही कहा जा सकता है । साहित्य में प्रथम शताब्दी ईसवी की 'गाथा सप्त-शती' के संदर्भ अवश्य उपलब्ध हैं जिनका उल्लेख आगे किया गया है ।

किस प्रकार शूरसेन प्रदेश के सात्वत-वृष्णि वंशीय क्षत्रियों के कुलदेव गोपाल कृष्ण सम्पूर्ण देश के भावुक जनों की कल्पना और पूजा के आलंबन बन गए और किस प्रकार उनके द्वारा साहित्य, संगीत, धर्म और अध्यात्म सभी क्षेत्रों का जन-जीवन अद्वितीय रूप में प्रभावित हो गया यह एक अत्यन्त कुतूहलजनक प्रश्न है । पुराणों की तरह ललित साहित्य में भी गोपाल कृष्ण की कथा उत्तरोत्तर वृद्धि पाती गई है, यह बात कृष्णकाव्य के सामान्य सिंहावलोकन से भली भाँति प्रमाणित हो जाती है ।

कृष्णकाव्य की परंपरा

काव्य में गोपाल कृष्ण की लीला का प्रथम संदर्भ अश्वघोष (प्रथम शताब्दी ई०) के

---

१. आर्कियालाजिकल सर्वे रिपोर्ट, १९२५-२६ ई०।
२. मथुरा पुरातत्व संग्रहालय में सुरक्षित।
३. आर्कियालाजिकल सर्वे रिपोर्ट, १९२६-२७।
४. वही, १९०५-०६ ई०।
५. आर्कियालाजिकल मेमॉयर, १९२८-२९ ई०।

'बुद्धचरित' (१-५) में पाया जाता है। परन्तु वास्तव में संस्कृत के महाकवियों की अपेक्षा इस ललित कथा की ओर प्राकृत के मुक्तक गाहाकारों ने अधिक ध्यान दिया। अनुमानतः प्रथम शताब्दी ई० में हाल सातवाहन ने 'गाहासत्तसई' नाम से जिन प्राकृत गाथाओं का संग्रह कराया वे निश्चय ही बहुत पहले से लोक-प्रचलित रही होंगी। यही नहीं, उस प्रकार की और भी अनेक गाथाएँ और गीतियाँ मौखिक रूप में प्रचलित रही होंगी, यह अनुमान भी सहज ही लगाया जा सकता है। 'गाहासत्तसई' की शृंगार और नीति संबंधी सुन्दर गीत्यात्मक मुक्तक कविताओं में बड़ी सरसता और वचन-विदग्धता है। उसकी कई गाथाओं में कृष्ण, राधा, गोपी, यशोदा आदि का उल्लेख हुआ है। एक गाथा में कृष्ण को मुख-मारुत से राधिका के गोरज का अपनयन करके दूसरी वल्लभियों और नारियों के गौरव-हरण का लांछन लगाया गया है,[1] तो एक दूसरी गाथा में उन्हें सलाह दी गई है कि यदि वे महिलाओं के गुण-दोष परखने में समर्थ हों तो इसी प्रकार सौभाग्य-गर्वित हो कर गोष्ठ में भ्रमण क ।[2] एक गाथा में कृष्ण की अचगरी का संकेत है और जब यशोदा कहती है कि दामोदर आज भी बालक है, तो व्रज-वधुएँ कृष्ण के मुख की ओर निहार कर ओट में हँसती हैं।[3] एक निपुण गोपी को नृत्य की प्रशंसा के बहाने बगल में आकर अन्य गोपियों के कपोलों पर प्रतिबिम्बित कृष्ण-मुख के चुम्बन का वर्णन करते हुए[4] एक गाथा रास-नृत्य का संकेत करती है। इन उल्लेखों में गोपाल कृष्ण की प्रेम-कीड़ाओं के वे अनेक संदर्भ हैं जिनका कृष्ण-भक्ति में उपयोग हुआ है, यद्यपि 'गाहासत्तसई' में भक्ति-भावना का संकेत नहीं मिलता। परन्तु, इसके विपरीत, तमिल प्रदेश के आलवार संतों द्वारा रचित गीत भक्ति-भावना से ही प्रेरित और अनुप्राणित हैं। इन संतों का समय पाँचवीं से नवीं शताब्दी ई० माना जाता है। 'प्रबन्धम्' नाम से संग्रहीत उनके चार हजार भावपूर्ण गीतों में विष्णु, नारायण या वासुदेव तथा उनके अवतारों—राम और कृष्ण—के प्रति अनन्य भाव का प्रेम प्रकट किया गया है। अतः दक्षिण के इस कृष्णकाव्य की प्रकृति पूर्णतया धार्मिक है और उसमें गोपाल कृष्ण की ललित लीलाओं के वे अनेक प्रसंग वर्णित हैं जो उत्तर भारत के मध्यकालीन कृष्ण-भक्ति काव्य के उपजीव्य रहे हैं। इन तमिल गीतों में वर्णित कृष्ण की प्रेम-लीलाओं में जिन गोपियों का सहयोग है उनमें नाप्पिन्नाइ नामक गोपी उसी प्रकार प्रमुख है, जैसे उत्तर भारत के कृष्णकाव्य में राधा। वही कृष्ण की प्रियतमा तथा विष्णु की अर्धांगिनी, लक्ष्मी की अवतार है। इससे यह स्पष्ट सूचित होता है कि पाँचवीं-छठी शताब्दी में राधा-कृष्ण की लीला की निश्चित रूप में धार्मिक परिणति हो गई थी। आलवार संतों की भक्ति प्रपत्ति की भावना और भगवान के अनुग्रह पर आधारित है। उनके कृष्ण-लीला-गायन में दास्य, वात्सल्य और माधुर्य भाव की सरस अभिव्यक्ति हुई है।

भट्ट नारायण ने 'वेणीसंहार' नाटक के नांदी श्लोक में रास के अन्तर्गत राधा के केलि-कुपित होने और कृष्ण के अनुनय करने का उल्लेख किया है। प्रसिद्ध है कि भट्टनारायण कान्य-

---

१. गाहासत्तसई १।२९।
२. वही ५।४७।
३. वही २।१२।
४. वही २।१४।

कुब्ज ब्राह्मण थे और उन्हें बंगाल के राजा आदिशूर (राज्यारोहण ७१५ ई० सं० ७७२ वि०) ने वैदिक धर्म के प्रचार के लिए कन्नौज से बुला भेजा था। आठवीं शताब्दी ई० में कान्य-कुब्ज के राजा यशोवर्मा के सभाकवि वाक्पतिराज द्वारा लिखित प्राकृत महाकाव्य 'गउड़वहो' में देवता-स्तुति विषयक मंगलाचरण के चार श्लोकों में कृष्ण की स्तुति की गई है। इनमें कृष्ण के लक्ष्मीपति, विष्णुस्वरूप होने के साथ-साथ यशोदा के वात्सल्यभाजन बालरूप और राधा तथा गोपियों के द्वारा नख-क्षतयुक्त किशोर कृष्ण का पूज्य भाव से उल्लेख किया गया है।[1]

नवीं शताब्दी ईसवी में आनन्दवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' में एक पुराना श्लोक उद्धृत किया है जिसमें कृष्ण पूछ रहे हैं कि हे भद्र, उन गोप-वधुओं के विलास-सुहृद और राधा के गुप्त साक्षी कलिंदराजतनया के तट वाले लता-गृह क्षेम से तो हैं? अब अनंग सजाने के लिए तोड़े जाने की आवश्यकता न रहने के कारण शायद वे पत्ते सूख कर जरठ हो रहे हैं।[2] यह पद्य दसवीं शताब्दी ईसवी के 'कवीन्द्र वचन समुच्चय' में भी पाया जाता है।[3] 'ध्वन्यालोक' में उद्धृत एक अन्य श्लोक में मधुरिपु कृष्ण के द्वारावती चले जाने के बाद राधा के विरह का वर्णन[4] किया गया है। निश्चय ही ये दोनों श्लोक नवीं शताब्दी ईसवी के पहले के हैं। 'सदुक्तिकर्णामृत' में संकलित कृष्ण-लीला संबंधी श्लोकों में दो श्लोक अभिनंद नामक कवि के हैं जो अनुमानतः नवीं शताब्दी का था।[5]

'कवीन्द्रवचनसमुच्चय' नामक कविता-संग्रह भी दसवीं शताब्दी ईसवी का माना गया है। इसमें संकलित कविताएँ निश्चय ही उससे पहले की होंगी। इनमें कई कविताएँ कृष्ण की गोपी और राधा संबंधी लीला विषयक हैं।[6]

दसवीं शताब्दी ईसवी (सं० १०३१ भाद्रपद सुदि १४) के मालवाधीश वाक्पति मुंज परमार के एक अभिलेख में श्रीकृष्ण की स्तुति में कहा गया है कि जिन्हें लक्ष्मी के वदनेन्दु से सुख नहीं मिलता, जो वारिधि के जल से आर्द्रित नहीं होते, जिन्हें अपनी नाभि के कमल से शांति नहीं मिलती, जो शेषनाग के सहस्र फणों के मधुर श्वास से आश्वस्त नहीं होते, उन राधा-विरहातुर मुररिपु का कंपित वपु तुम्हा ी रक्षा करे।[7]

बारहवीं शताब्दी में हेमचन्द्र ने अपने प्राकृत व्याकरण में राधा-कृष्ण संबंधी दो पद्य उद्धृत किए हैं तथा 'द्वयाश्रयकाव्य' में गोपगीत का उल्लेख किया है। बारहवीं शताब्दी के पहले भी राधा-कृष्ण संबंधी सपूर्ण ग्रंथ रचे गए थे इसका प्रमाण रामचन्द्र गुणचन्द्र (बारहवीं शताब्दी ई०) के 'नाट्यदर्पण' में उल्लिखित राधा विप्रलम्भ तथा शारदातनय (बारहवीं शताब्दी ई०) के 'भावप्रकाशन' में उल्लिखित 'रामाराधा' नामक नाटकों से मिलता है। इसी प्रकार कवि

---

१. गउड़वहो—मंगलाचरणं देवतास्तुतयः २०-२३।

२. ध्वन्यालोक, २।६।१०, २।५।९।

३. कवीन्द्रवचनसमुच्चय, ५०१।

४. श्री राधा का क्रम विकास—शशिभूषणदास गुप्त, पृष्ठ ११९ पर उद्धृत।

५. वही तथा सदुक्तिकर्णामृत, ५३।२, ५४।२।

६. कवीन्द्रवचनसमुच्चय, २१, २२, ३४, ४१, ४२, ५१२।

७. इंडियन एंटिक्वेरी ५, पृ० ५१ तथा एपिग्राफिका इंडिका, २३, १०८, ३।

कर्णपूर ने 'अलंकार कौस्तुभ' में 'कंदर्पमंजरी' नामक नाटक का उल्लेख किया है। यह नाटक भी राधा-कृष्ण विषयक बताया गया है।[1]

प तु बारहवीं शताब्दी में कृष्णकाव्य अपेक्षाकृत अधिक परिमाण में लिखा गया। साथ ही उसकी प्रकृति भी जो 'गाहासत्तसई' में नितांत शृंगारिक थी, उत्तरोत्तर धार्मिक होते होते बारहवीं शताब्दी तक और अधिक भक्ति-भाव-समन्वित हो गई। लीलाशुक का 'कृष्णकर्णामृत' स्तोत्र उसी शताब्दी की रचना मानी जाती है। कहा जाता है कि चैतन्य महाप्रभु उसे दक्षिण से अपने साथ लाए थे और अत्यन्त प्रेमभाव से उसे सुना करते थे। ईश्वरपुरी द्वारा रचित 'श्रीकृष्ण-लीलामृत' का शृंगार रस निश्चित रूप से माधुर्य भक्ति है। इसी प्रकार महाकवि जयदेव का 'गीतगोविन्द' राधा-माधव के उद्दाम शृंगार का वर्णन करते हुए भी एक धार्मिक काव्य है। स्वयं कवि ने उसे हरि-स्मरण के द्वारा मन को सरस रखने तथा विलास कलाओं के प्रति कुतूहल की तृप्ति करने के दुहरे उद्देश्य से रचा था। वस्तुतः कृष्णकाव्य की यह विलक्षणता न्यूनाधिक रूप में निरंतर देखी जा सकती है कि जहाँ एक ओर वह लोक-रंजन की रस-पेशल, ललित सामग्री जुटाता रहा है, वहाँ दूसरी ओर पूजा और भक्ति की लोक-भावना को भी आबद्ध करता आया है।

संस्कृत साहित्य में 'गीतगोविन्द' एक अनूठी काव्य कृति है। आधुनिक आलोचकों ने उसे गीतिकाव्य, गीतिनाट्य, संगीत रूपक, यात्राकाव्य आदि विविध नामों से अभिहित किया है। उसमें राधा-कृष्ण की निकुंज-लीला का विस्तारपू क वर्णन किया गया है। वसंत के मनोरम वातावरण में विरहाकुल राधा गोपीवल्लभ केशव की मुग्ध माधुरी के ध्यान में लीन हैं। वे अपनी सखी के द्वारा कृष्ण के पास संदेश भेजती हैं। उधर श्रीकृष्ण भी राधा से मिलने को आतुर हैं और दूती के द्वारा उनके पास संदेश भेजते हैं। कवि विप्रलब्धा राधा को क्रमशः वासकसज्जा, खण्डिता, कलहांतरिता, मानिनी और अभिसारिका के रूप में चित्रित करता हुआ अंत में उनके कृष्ण-मिलन और केलि-विलास का वर्णन करता है। 'गीतगोविन्द' सर्गबद्ध काव्य है। उसके बारह सर्गों के नाम ही—सामोद दामोदर, मुग्ध मधुसूदन, साकांक्ष पुंडरीकाक्ष, विलक्ष्म लक्ष्मी, सुप्रीति पीतांबर आदि—कवि की कांत कल्पना और ललित पदावली का परिचय देते हैं।

काव्य-लालित्य के कारण ही कदाचित 'गीतगोविन्द' इतना लोकप्रिय हुआ कि उसके अनुकरण में अनेक कवियों ने अपनी कल्पना-शक्ति को आजमाया। 'संगीतमाधव' (प्रकाशानन्द सरस्वती), 'गीतगोपाल' (चतुर्भुज) और 'अभिनव गीतगोविन्द' (राजा प्रतापरुद्रदेव) में शैली ही नहीं, वर्ण्य वि य में भी 'गीतगोविन्द' का अनुकरण किया गया है।

'सदुक्तिकर्णामृत' का उल्लेख किया जा चुका है। यह मुक्तक संग्रह श्रीधरदास ने बारहवीं और तेरहवीं शताब्दियों की संधि में तैयार किया था, जिसमें बारह शीर्षकों में गोपालकृष्ण की लीला के साठ श्लोक हैं। संग्रह में स्वयं राजा लक्ष्मणसेन, उनके पुत्र केशवसेन और जयदेव के श्लोकों से सूचित होता है कि संभवतः श्रीधरदास उनके समकालीन और जयदेव की तरह लक्ष्मणसेन के सभाकवि थे। वैष्णवमतानुयायी सेन राजाओं की काव्य-रसिकता के फलस्वरूप कृष्णकाव्य को जो प्रगति मिली वह कदाचित अभूतपूर्व थी। समसामयिक कवियों

१. श्री राधा का क्रम विकास, पृ० १२३।

की कविताओं के अतिरिक्त 'सदुक्तिकर्णामृत' में अनेक श्लोक पूर्ववर्ती संग्रह 'कवीन्द्रवचन-समुच्चय' के भी पाए जाते हैं, जिससे उनकी प्राचीनता प्रमाणित होती है।

बारहवीं शताब्दी ई० के बाद कृष्णकाव्य प्रबन्धों के रूप में भी रचा गया प्रतीत होता है। बोपदेव की 'हरिलीला' तथा वेदान्तदेशिक की 'यादवाभ्युदय' रचनाएँ तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी ई० की हैं। पन्द्रहवीं शताब्दी ई० की जिन रचनाओं की सूचना मिली है, वे हैं— 'व्रजविहारी' (श्रीधरस्वामी), 'गोपलीला' (रामचन्द्र भट्ट), 'हरिचरित काव्य' (चतुर्भुज), 'हरिविलास काव्य' (व्रजलोलिम्बराज), 'गोपालचरित' (पद्मनाभ), 'मुरारिविजय नाटक' (कृष्ण भट्ट) और 'कंसनिधन महाकाव्य' (श्रीराम)।[1] सोलहवीं शताब्दी में गौड़ीय वैष्णवमत के विद्वान् रूपगोस्वामी ने 'नाटकचंद्रिका' में 'केशवचरित' और 'हरिविलास' के तथा 'उज्ज्वल-नीलमणि' में 'गोविन्दविलास' के नामोल्लेख सहित उद्धरण दिए हैं। संभवतः ये रचनाएँ उनसे पहले की—कम से कम पद्रहवीं शताब्दी ई० की होंगी। रूप गोस्वामी ने ही अपनी 'पद्यावली' में अनेक पूर्ववर्ती संस्कृत कवियों की कृष्णलीला संबंधी कविताओं को संकलित किया था।

इस प्रकार आधुनिक भाषाओं में कृष्ण-भक्ति साहित्य की रचना होने के पहले प्राकृत और संस्कृत साहित्य की एक लंबी परंपरा थी। इस साहित्य का लोकगीतों और लोककथाओं से घनिष्ठ संबंध था तथा वह अधिकतर गीति और मुक्तक रूप में ही था। जो रचनाएँ प्रबंधकाव्य और नाट्य के रूप में हुईं, उनमें भी कदाचित् गीति-भावना प्रधान रही होगी। संभवतः इसी कारण संस्कृत साहित्य में उन्हें अधिक गौरव का स्थान नहीं मिल सका। परंतु आगे चलकर परिस्थितियाँ बदल गईं, जिनके फलस्वरूप काव्य की प्रेरणा, भावना, रूप और भाषा में आमूल परिवर्तन हो गया। इसी परिवर्तन के क्रम में हिन्दी कृष्णकाव्य को जन्म मिला, जिसकी प्रकृति मूलतः धार्मिक है।

बारहवीं शताब्दी के बाद लगभग दो शताब्दियों की साहित्यिक गतिविधि की जानकारी, कम से कम जहाँ तक हिंदी प्रदेश का संबंध है, अपेक्षाकृत बहुत कम है। इस बीच देश की राज-नीतिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों में जो अभूतपूर्व परिवर्तन घटित हुए उनके कारण नई समस्याएँ एक महान चुनौती के रूप में आ उपस्थित हुईं। उस चुनौती का सामना करने के लिए समाज की जीवनी-शक्ति जिन विविध रूपों में प्रकट हुई, उनमें सबसे प्रमुख भक्ति-धर्म का वह प्रबल आन्दोलन था जिसने सम्पूर्ण उत्तर भारत के जन-जीवन को नई आस्था और नई स्फूर्ति से अनुप्राणित कर दिया।

कृष्ण-भक्ति के विविध सम्प्रदायों का इस आन्दोलन को देशव्यापी बनाने में कदाचित सबसे अधिक हाथ है। अतः हिन्दी कृष्णकाव्य के पर्यवेक्षण के पहले उसके प्रेरणा-स्रोत—कृष्ण-भक्ति का सामान्य परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक है।

कृष्ण-भक्ति का स्रोत और दार्शनिक आधार

मध्ययुग की नूतन वैष्णव भक्ति के प्रणेता चार आचार्य—रामानुज (सन १०३७-

---

१. हिस्ट्री आव ब्रजबुलि लिटरेचर, सुकुमार सेन, पृष्ठ ४८५।

११३७=सं० १०९४–११९४ वि०), निम्बार्क (बारहवीं शताब्दी ई०), मध्व (तेरहवीं शताब्दी ई०) और विष्णुस्वामी माने जाते हैं। प तु उत्तर भारत में कृष्ण-भक्ति का प्रचार करने वाले सम्प्रदायों का संगठन कदाचित सोलहवीं शताब्दी में ही हो सका। यह स्वाभाविक है कि यह संगठन कृष्ण-लीला की भूमि ब्रज प्रदेश—प्राचीन शूरसेन जनपद—के केन्द्र मथुरा-वृन्दावन से प्रारंभ हुआ। सोलहवीं शताब्दी में संगठित कृष्ण-भक्ति संप्रदायों का संबंध उपर्युक्त तीन आचार्यों—निम्बार्क, मध्व और विष्णुस्वामी से जोड़ा जाता है। परन्तु इनमें से विष्णुस्वामी की ऐतिहासिकता का कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलता। निम्बार्क और मध्व के सम्प्रदायों की कोई संगठित परंपरा सोलहवीं शताब्दी ई० के पहले उत्तर भारत में कहीं मौजूद थी, इसका भी कोई पुष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं हुआ है। निम्बार्क द्वारा प्रणीत 'वेदान्त-पारिजात-सौरभ' और 'दशश्लोकी' उपलब्ध हैं, जिनमें ब्रह्मसूत्रों का द्वैताद्वैतपरक भाष्य तथा प्रेम-भक्ति के स्वरूप का निरूपण किया गया है। परन्तु निम्बार्क द्वारा स्थापित सनकादि या हंस संप्रदाय के अनुयायी कुछ ही हिंदी भक्त कवि हुए हैं। मध्वाचार्य के द्वैतवादी विचारों को प्रतिपादित करनेवाले ब्रह्म-सूत्र, गीता, उपनिषद और भागवत के भाष्य उपलब्ध हैं, प तु मध्व द्वारा स्थापित ब्रह्म संप्रदाय का व्रज के भक्ति-सम्प्रदायों में प्रत्यक्षत: कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं है। किसी हिंदी भक्त कवि का इस सम्प्रदाय से सीधा संबंध नहीं देखा गया है।

सोलहवीं शताब्दी में स्थापित संप्रदायों में, विशेष रूप से जहाँ तक हिंदी कृष्ण-भक्ति साहित्य का संबंध है, वल्लभाचार्य का पुष्टिमार्ग, चैतन्य का गौड़ीय, गोस्वामी हित हरिवंश का राधावल्लभी तथा स्वामी हरिदास का सखी या टट्टी संप्रदाय प्रमुख हैं।

वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग को छोड़ कर सोलहवीं शताब्दी के उपर्युक्त सभी संप्रदाय नितांत साधन-पक्षी थे। उनके प्रवर्तकों ने दार्शनिक विवेचन की कोई आवश्यकता नहीं समझी थी। कदाचित इसी कमी को पूरा करने के लिए कालांतर में उनके अनुयायियों ने उन्हें प्राचीन संप्रदायों से संबद्ध कर दिया। इन प्राचीन संप्रदायों के प्रवर्तकों ने नूतन वैष्णव भक्ति-धर्म को दार्शनिक आधार प्रदान करने के लिए जगद्गुरु शंकराचार्य की तरह ब्रह्मसूत्रों पर अपने अपने भाष्य लिखे थे।

मध्ययुग में शांकर अद्वैत की इतनी धाक थी कि दार्शनिक क्षेत्र में उसे अपदस्थ कर सकना असंभवप्राय था। परंतु भक्ति-धर्म के साथ उसकी संगति नहीं बैठती थी। अत: दक्षिण के आचार्यों ने जब आलवार संतों में प्रचलित प्रपत्तिपूर्ण भक्ति को दार्शनिक आधार देकर प्रतिष्ठित करना चाहा तो यह आवश्यक हो गया कि अद्वैतवाद में संशोधन करके भक्ति का मार्ग प्रशस्त किया जाय।

निम्बार्क ने अद्वैतवाद की व्याख्या करते हुए बताया कि चित और अचित अर्थात जीव और जड़ ब्रह्म से भिन्न भी हैं और अभिन्न भी, उसी प्रकार, जैसे दीपक की ज्योति दीपक का ही अंश है और उससे अभिन्न है। दीपक से भिन्न ज्योति की कोई सत्ता नहीं, परंतु दीपक और ज्योति पूर्णतया समरूप नहीं हैं। निम्बार्क के अनुसार श्रीकृष्ण ही परब्रह्म हैं। वे जगत के निमित्त कारण भी हैं और उपादान कारण भी। इसीलिए परम तत्त्व द्वैतहीन है। परंतु जीव और जगत से विलक्षण होने के कारण वह द्वैत भी कहा जा सकता है। अद्वैतता और द्वैतता के इसी समन्वय के कारण निम्बार्क का मत द्वैताद्वैतवाद या भेदाभेदवाद कहा जाता है।

मध्वाचार्य ने सीधे-सीधे शांकर अद्वैत का खंडन करके द्वैतवाद का प्रतिपादन किया, जिसके अनुसार भेद स्वाभाविक और नित्य है। ब्रह्म जगत और जीव में तो परस्पर भिन्नता है ही, जीव जीव तथा जड़ जड़ भी पृथक पृथक हैं। यह भिन्नता किसी भी अवस्था और परिस्थिति में समाप्त नहीं होती।

वल्लभाचार्य द्वारा प्रतिपादित शुद्धाद्वैतवाद ठीक सोलहवीं शताब्दी का है। इस मत का दावा है कि इसी ने शांकर अद्वैतवाद को मायावाद से मुक्त करके शुद्ध किया है। इसके अनुसार ब्रह्म के अतिरिक्त किसी का अस्तित्व नहीं है। जीव और जगत उसी के चित और सत अंश हैं। पूर्ण अथवा अंशी ब्रह्म परम आनंदमय श्रीकृष्ण रूप है। प्रकृति, जीव तथा अनेक देवी-देवता ब्रह्म के ही अक्षर रूप के काल, कर्म, स्वभाव के अनुसार प्रकट होने वाले रूपांतर हैं। श्रीकृष्ण का धाम भी ब्रह्म ही है और वह अक्षर अर्थात नित्य है। इस प्रकार निम्बार्क की तरह वल्लभ के अनुसार भी ब्रह्म ही सृष्टि का निमित्त कारण भी है और उपादान कारण भी।

चैतन्य के मतानुयायियों ने कालांतर में ब्रह्म की व्याख्या करके सिद्ध किया है कि चैतन्य मत की भक्ति अचिंत्य भेदाभेदवाद दर्शन पर आधारित है। उसके अनुसार परम तत्त्व एक है और वह अनंत शक्तियों का आकर है। उसकी शक्तियाँ अचिंत्य हैं, क्योंकि उसमें एक साथ ही पूर्ण एकत्व और पृथक्त्व तथा अंशभाव एवं अंशीभाव विद्यमान रहते हैं। श्रीकृष्ण ही परम तत्व हैं। वे ही सर्व कारणों के कारण तथा स्वयं प्रकाशशील हैं। जिस प्रकार एक ही पदार्थ दूध, जो रूप, रस आदि अनेक गुणों का आश्रय है, भिन्न-भिन्न इन्द्रियों द्वारा अलग-अलग रूपों में अनुभूत होता है, उसी प्रकार परम तत्त्व का भी भिन्न-भिन्न प्रकार से पृथक-पृथक अनुभव होता है। चैतन्य-मत के अनुसार भी परम तत्त्व स्वयं श्रीकृष्ण हैं। उनकी शक्तियाँ अचिंत्य और अनंत हैं। उन्हीं की बहिरंग या जड़ शक्ति माया है जो दो प्रकार की है—द्रव्य माया और गुण माया। द्रव्य माया जगत का उपादान कारण है और गुण माया निमित्त कारण। गुण माया भगवान की इच्छा के रूप में प्रकट होती है। जीव भगवान की तटस्थ शक्ति से उद्भूत हैं, उसी प्रकार जैसे सूर्य से किरणें निकलती हैं। इन दो—जड़ और तटस्थ—शक्तियों से भिन्न भगवान की स्वरूप शक्ति है जो सत, चित और आनंदरूपिणी, सच्चिदानंदमयी है। शब्दावली के किंचित अंतर के साथ अचिंत्य भेदाभेद और शुद्धाद्वैत की व्याख्याओं में साम्य ही अधिक दिखाई देता है।

कृष्ण-भक्ति के शेष दो संप्रदाय—राधावल्लभी और हरिदासी या सखी संप्रदाय, नितांत साधन-पक्षी हैं, उनमें किसी दार्शनिक मतवाद की स्वीकृति या अस्वीकृति पर विचार नहीं किया गया है। इन संप्रदायों को प्रायः मध्व या निम्बार्क से संबद्ध किया जाता है, परंतु राधावल्लभी संप्रदाय को किसी प्राचीन संप्रदाय से संबंधित होना स्वीकार्य नहीं है और न यह कथन स्वीकार किया जाता है कि उसके प्रवर्तक गोस्वामी हित हरिवंश कभी मध्वानुयायी गोपाल भट्ट के शिष्य हुए थे। हरिदासी संप्रदाय अवश्य अपने को निम्बार्क-मत के अंतर्गत मानता है, परंतु दोनों में पर्याप्त अंतर है। दार्शनिक पक्ष का तो उसमें भी नितांत अभाव है। फिर भी, यह निश्चित है कि इन संप्रदायों के सिद्धांत भी अद्वैतवाद के ही ऐसे संशोधित मतवाद पर टिकाए जा सकते हैं जिनमें आंशिक द्वैतता अथवा भिन्नता की स्वीकृति हो। राधावल्लभी मत में सिद्धाद्वैतवाद का आविष्कार किया गया है।

सामान्य रूप से दार्शनिक पक्ष में सभी कृष्ण-भक्ति संप्रदाय ब्रह्म की सगुणता का प्रतिपादन करते हैं, सभी ब्रह्म की परिपूर्णता उसके रस या परम आनंदमय रूप में ही मानते हैं जिसे साक्षात श्रीकृष्ण कहा गया है। सभी संप्रदायों में जगत और जीव को ब्रह्म का ही अंश रूप माना गया है। इस प्रकार सभी श्रीकृष्ण ब्रह्म की अद्वैतता के साथ-साथ आंशिक द्वैतता को भी स्वीकार करते हैं। सभी ने श्रीकृष्ण को भगवान मानकर उनमें अपने अपने भक्ति-भाव के अनुसार मानवीय गुणों का आरोप किया है। भगवान श्रीकृष्ण के परम धाम को गोलोक या वृन्दावन कहकर उसकी नित्यता तथा परम आनंदमयता का प्रायः सभी संप्रदायों में मोहक वर्णन किया गया है तथा उसके जड़-चेतन—गोप, गोपी, यमुना, वन, वृक्ष, लता, कुंज आदि—सभी उपकरणों को श्रीकृष्ण से अभिन्न बताया गया है। राधावल्लभी मत में पार्थिव वृन्दावन को ही श्रीकृष्ण का नित्य धाम बताकर राधाकृष्ण और सहचरीगण को अभिन्न, अद्वय कहा गया है।

जिस प्रकार कृष्ण-भक्ति संप्रदायों का दार्शनिक मतवाद किसी न किसी रूप में प्रायः अद्वैत वेदांत से प्रभावित है, उसी प्रकार उस पर सांख्य का भी स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। निम्बार्क मत के अनुसार लक्ष्मी या भू शक्ति श्रीकृष्ण ब्रह्म के ऐश्वर्य रूप की तथा राधा और गोपी उनके माधुर्य रूप की अधिष्ठात्री हैं। माध्व मत में यद्यपि लक्ष्मी को परमात्मा से भिन्न कहा गया है, परंतु उन्हीं को परमात्मा के इंगित पर सृष्टि, स्थिति, संहार आदि का कारण माना गया है। चैतन्य-मतानुयायी भगवान श्रीकृष्ण की आनंद शक्ति या आह्लादिनी शक्ति को राधा और गोपी रूप में देखते हैं। वल्लभ संप्रदाय में राधा को भगवान श्रीकृष्ण के आनंद रूप की पूर्ण सिद्ध शक्ति कहा गया है, वे उनकी आदि और पूर्ण रस-शक्ति हैं; रसरूप श्रीकृष्ण उनके वश में रहते हैं। राधावल्लभी संप्रदाय में इसी भाव को विकसित करके राधा को ही नित्य आनंदस्वरूप कहा गया है, वे श्रीकृष्ण की आराधिका नहीं, वरन आराध्या है। श्रीकृष्ण और राधा, दोनों श्रीतत्व हैं, प्रिया प्रियतम हैं, दोनों एक होकर भी नित्य प्रेमलीला के सुख के लिए दो बने हुए हैं।

कृष्ण-भक्ति संप्रदायों में सिद्धान्ततः माया की स्वीकृति नहीं है, अतः यदि कहीं उसका उल्लेख भी हुआ है, तो उसकी ऐसी व्याख्या की गई है कि उसका अनस्तित्व सिद्ध हो जाय। प्रायः भगवान की शक्ति को भी माया कहा गया है और उस रूप में वह सत्य है। वल्लभ-मत में माया के दो भेद—अविद्या और विद्या—बता कर उसके मिथ्या और सत्य रूपों को स्पष्ट किया गया है। अविद्या माया अथवा अज्ञान-जनित है। अज्ञान के कारण ही मनुष्य ब्रह्म के सत रूप जगत को अहं और मम से निर्मित संसार के रूप में अनुभव करता है। साधारणतया माया के संबंध में यही दृष्टिकोण मध्ययुग के सभी भक्ति-संप्रदायों में पाया जाता है। इससे भी सूचित होता है कि किस प्रकार अद्वैत दर्शन के बीच से भक्ति के प्रचार का मार्ग निकाला गया था।

कृष्ण-भक्ति के ये सभी संप्रदाय न्यूनाधिक रूप से 'श्रीमदभागवत' को आधार बना कर चले हैं। उन्हीं के द्वारा प्रस्थान-त्रय अर्थात् 'ब्रह्मसूत्र', 'उपनिषद्', और 'गीता' में 'श्रीमद्भागवत' को जोड़ कर प्रस्थान-चतुष्टय की परंपरा चलाई गई। स्वयं निम्बार्क की रचनाओं में तो 'भागवत' के किसी भाष्य का उल्लेख नहीं है, परंतु उनकी भक्ति-पद्धति के सोलहवीं शताब्दी के रूप पर 'भागवत' का प्रभाव स्पष्टतया लक्षित किया जा सकता है। मध्वाचार्य ने 'भागवत-तात्पर्य निर्णय' ग्रन्थ लिखकर अपनी भक्ति का स्वरूप स्पष्ट किया है। १३ वीं शताब्दी ई० में ही एक महा-

राष्ट्रीय पंडित बोपदेव ने विष्णु-भक्ति का वर्णन-विवेचन करने के उद्देश्य से 'भागवत' के लगभग ८०० श्लोक 'मुक्ताफल' नाम से संग्रह किए थे। गौड़ीय संप्रदाय में इस ग्रन्थ का यथेष्ट आदर हुआ है। परंतु गौड़ीय संप्रदाय में श्रीधर स्वामी की भागवत-टीका की बहुत अधिक मान्यता है। इस संप्रदाय को संगठित रूप देनेवाले चैतन्यदेव के समकालीन भक्त और पंडित सनातन गोस्वामी और रूप गोस्वामी ने भी 'लघुवैष्णवतोषिणी', 'बृहतभागवतामृत' तथा 'लघुभागवतामृत' नामक टीकाओं द्वारा गौड़ीय भक्ति का रूप निर्धारित किया है। इसी प्रकार वल्लभाचार्य ने 'श्रीसुबोधिनी' नाम की टीका में 'भागवत' के आधार पर अपनी पुष्टिमार्गीय भक्ति को स्पष्ट किया है। राधावल्लभी संप्रदाय में यद्यपि किसी प्राचीन परंपरा की मान्यता नहीं है और उसका रूप-निर्माण स्वयं उसके प्रवर्तक हित हरिवंश के द्वारा हुआ है, फिर भी उसमें 'भागवत' को 'निगम कल्पतरु का गलित फल' कह कर सामान्य भक्ति-सिद्धांत की दृष्टि से प्राथमिक मान्यता दी जाती है।

परंतु इस संबंध में यह स्पष्ट समझ लेना चाहि कि प्रत्येक संप्रदाय में 'भागवत' की व्याख्याएँ अपने-अपने ढंग से भक्ति के सांप्रदायिक स्वरूप को प्रामाणिकता देने के उद्देश्य से की गई हैं। उदाहरण के लिए मध्वाचार्य ने कृष्ण की रासलीला और गोपी-प्रेम को कोई महत्व नहीं दिया। दूसरी ओर गौड़ीय वैष्णवों ने केवल गोपी-प्रेम को अत्यंत विस्तृत रूप देने में 'भागवत' की सहायता ली, बल्कि 'भागवत' के एक श्लोक[१] के आधार पर उन्होंने उसमें राधा का भी संकेत प्रमाणित किया। वल्लभाचार्य ने यद्यपि पुष्टिमार्ग में बालकृष्ण की उपासना प्रतिष्ठित की थी, किंतु उनके अनुयायियों ने माधुर्य भाव की भक्ति का विकास भी 'भागवत' के ही आधार पर कर लिया।

'भागवत' में जिस प्रेम-भक्ति का सोदाहरण निरूपण किया गया है, सोलहवीं शताब्दी के कृष्ण-भक्ति संप्रदायों ने उसी को अपने-अपने दृष्टिकोण से तर्क की स्वाभाविक परिणति पर पहुँचा दिया। भक्ति के भाव-पक्ष में यद्यपि विभिन्न संप्रदायों में बल और आग्रह का अंतर पाया जाता है, परंतु प्रेम की महत्ता प्रतिपादित करते हुए सभी संप्रदाय और उनके अनुयायी भक्त कवि 'भागवत' में अत्यंत आग्रह के साथ प्रचारित वर्णाश्रम धर्म और विधि-निषेध के विस्तृत विवरणों की सदा उपेक्षा करते हैं। विविध मानवीय भावों पर आधारित प्रेम-भक्ति के विस्तारों की प्रामाणिकता वे 'भागवत' की भाषा को समाधि-भाषा कह कर कर सिद्ध कर देते हैं। यही तर्क कृष्ण के साथ आराध्य रूप में राधा को संयुक्त करने में दिया गया है। वस्तुतः मध्ययुग में 'भागवत' की इतनी अधिक लोकप्रियता थी कि उसे आधार बनाए बिना भक्ति के किसी संप्रदाय को प्रतिष्ठित करना संभव नहीं था। वैष्णव भक्ति-धर्म के पुनरुत्थान और नव-निर्माण में 'भागवत' का अद्वितीय योग रहा है। वह नूतन वैष्णव धर्म का अक्षय्य स्रोत है।

इष्टदेव

सभी कृष्ण-भक्ति संप्रदाय श्रीकृष्ण और राधा को इष्टदेव मानते हैं, परंतु विभिन्न संप्रदायों में दोनों के सापेक्ष महत्व में पर्याप्त अंतर पाए जाते हैं। कहते हैं, पहले निंबार्क-मत का

---

१. अनयाराधितो नूनं भगवान हरिरीश्वरः।... १०-३०-२४।

वह रूप नहीं था जो आज है। कदाचित अन्य संप्रदायों की तरह उसमें भी राधा की महत्ता बढ़ती गई है। जो हो, निंबार्क-मत के इष्टदेव प्रेम और माधुर्य की अधिष्ठात्री शक्ति राधा तथा अन्य आनंदिनी शक्तियों अर्थात् गोपियों से परिवेष्ठित श्रीकृष्ण माने जाते हैं। निंबार्क ने 'दशश्लोकी' में कृष्ण के वामांग में विराजमान, सहस्रों सखियों से सेवित, प्रेम-शक्ति-स्वरूपा राधा की स्तुति की है। इसी प्रकार, यद्यपि वल्लभाचार्य ने केवल बाल कृष्ण की उपासना-पद्धति स्थापित की थी, उनके पुत्र विट्ठलनाथ के समय में राधा की महत्ता बढ़ गई और पुष्टिमार्ग में राधा-भाव का महत्व प्रायः वही हो गया जो अन्य समसामयिक संप्रदायों में था। राधा की महत्ता के संबंध में चैतन्य, राधा-वल्लभी और सखी संप्रदायों की स्थिति निंबार्क-मत के अपेक्षाकृत अधिक अनुकूल और, यदि उसे प्राचीनतर माना जाय तो, कदाचित उसी का विकसित रूप है। यह भी प्रसिद्ध है कि पहले ब्रज के चैतन्य-मत में भी वल्लभ-मत की तरह बाल कृष्ण की उपासना प्रचलित थी। 'प्रेमविलास' और 'भक्तिरत्नाकर' नामक ग्रन्थों के अनुसार ब्रज में बाल कृष्ण के साथ राधा की उपासना का योग नित्यानंद की पत्नी जाह्नवी की प्रेरणा से जीव गोस्वामी ने कराया था। इसे सहजिया वैष्णव संप्रदाय का प्रभाव कह सकते हैं। स्वयं सहजिया संप्रदाय में परकीया भाव साहित्य में, विशेष रूप से लोक-साहित्य में, प्रचलित राधा-कृष्ण की प्रेम-कथाओं तथा तांत्रिक साधनाओं में गृहीत स्त्री-पुरुष की युगनद्ध साधना की प्रणाली से प्रभावित कहा जा सकता है। जो हो, सोलह ीं शताब्दी में प्रचलित सभी कृष्ण-भक्ति संप्रदायों में कृष्ण के साथ राधा की उपासना अनिवार्य रूप में जुड़ गई तथा चैतन्य संप्रदाय ही नहीं, वल्लभ संप्रदाय के कवियों ने भी परकीया भाव ग्रहण किया। प ंतु राधा की महत्ता का चरम रूप राधावल्लभी संप्रदाय में प्राप्त होता है, जहाँ राधा कृष्ण की आराधिका नहीं, उनकी अराध्या हैं। उसके अनुसार े ही परम आनंद तत्व हैं, वे ही हित तत्व हैं।

कृष्ण-भक्ति का मूलाधार—प्रेम

कृष्ण-भक्ति के सभी संप्रदायों की उपासना-पद्धति मध्ययुग के अन्य वैष्णव तथा इतर संप्रदायों से इस बात में भिन्न है कि उसमें एक मात्र प्रेम को ही महत्व प्राप्त हुआ है। धर्म का विधि-निषेध पक्ष प्रायः उसी में अंतर्निहित और स्वयंसिद्ध मान लिया गया है; प्रेम-भक्ति से भिन्न उसे अत्यंत गौण और कभी-कभी उपेक्षणीय ही नहीं, उल्लंघनीय भी माना गया है।

जिस समय प्राचीन भागवत धर्म लगभग ६०० ई० पूर्व वासुदेवोपासना के रूप में प्रारंभ हुआ था, तब वह पशु-बलि-प्रधान वैदिक धर्म की प्रतिक्रिया से प्रेरित एक निवृत्ति मार्ग के रूप में संगठित किया गया था। महाभारत[1] में उसे नारायणीय धर्म कहकर वैदिक ऋषियों द्वारा प्रचारित यज्ञ-प्रधान प्रवृत्ति-धर्म से भिन्न कपिल-सनकादि द्वारा सेवित निवृत्तिमूलक वेद-विहित वैष्णव यज्ञ बताया गया है। परंतु पुराणों से इस बात की साक्षी मिलती है कि वैष्णव धर्म भी कदाचित ईसा की सातवीं से बारहवीं शताब्दियों में तांत्रिक भोगवाद से प्रभावित हो गया था। पुराणों में वर्णित ऐश्वर्यशाली श्रीकृष्ण की भोग-क्रीड़ाएँ तांत्रिक वामाचार के अत्यंत निकट हैं।

---

१. शांति पर्व, अध्याय ३३६-३४२।

'हरिवंश' में ही, जो महाभारत का परिशिष्ट कहा जाता है और जो वस्तुतः पुराण साहित्य का आदि रूप प्रस्तुत करता है, कृष्ण की पिंडार यात्रा में उनके कामासक्तिपूर्ण आचरण का विस्तृत वर्णन है। लगभग सभी पुराणों में, कदाचित तांत्रिक वामाचार के प्रभाव के फलस्वरूप, ऐसी अनेक कथाएँ मिलती हैं जिनमें अनेक देवताओं की इन्द्रिय-परायणता और स्वच्छंद भोग-क्रीड़ाओं का खुला वर्णन किया गया है। परंतु पुराणों की यह विशेषता है कि जहाँ एक ओर वे प्रवृत्तिमय जीवन का अति ंजित चित्रांकन करते हैं, वहाँ दूसरी ओर निवृत्ति और वैराग्य भावना को भी पराकाष्ठा पर पहुँचा देते हैं। बात यह है कि जिस समय वज्रयान-सहजयान की गुह्य तांत्रिक क्रियाओं का लोकव्यापी प्रचलन हो रहा था, उसी समय शंकराचार्य (आठ ीं-नवीं शताब्दी ई०) के वेदांतपरक वैराग्यवाद का भी प्रचार था। वस्तुतः चतुर पुराणकारों ने तांत्रिक आचार और शांकर वैराग्यवाद दोनों को वैष्णव भक्ति-धर्म में सम्मिलित करके अपनी अद्भुत नीति-कुशलता का परिचय दिया है।

परंतु पुराणों की यह समन्वय-क्रिया अत्यंत चतुरतापूर्ण होते हुए भी प्रायः स्थूल शारीरिक धरातल पर ही अवस्थित है। इससे भिन्न मध्ययुगीन नूतन ैष्णव धर्म की कृष्ण-भक्ति में प्रवृत्ति और निवृत्ति का समन्वय कहीं अधिक सूक्ष्म और मानस-भूमि पर प्रतिष्ठित किया गया है। उसमें समस्त भोगोन्मुख ऐन्द्रियता तथा सम्पूर्ण मानसिक प्रवृत्तियों को कृष्णार्पित करने का विधान है जिसमें सफलता मिलने पर मनुष्य को संसार से मानसिक विरक्ति प्राप्त हो सकती है। हम कह सकते हैं कि उस काल में, जब भोग-विलास के अतिरिक्त मनुष्य-जीवन का कोई लक्ष्य नहीं रह गया था, मनुष्य की स्थूल ऐन्द्रिय प्रवृत्तियों को शारीरिक भोग-हीन धार्मिकता की ओर प्रवृत्त करने में कृष्ण की प्रेम-वासनापूर्ण, लोकसामान्य, किंतु अलौकिक और अतीन्द्रिय लीला का मानसिक सन्तृप्तिदायक चिंतन अत्यन्त सहायक सिद्ध हुआ होगा। वस्तुतः मध्ययुग की कृष्ण-भक्ति में भगवद् ीता के अनासक्तिपूर्ण स त्मि-समर्पणयुक्त भक्तियोग का ही युग-भावना के अनुकूल व्यावहारिक उदाहरण उपस्थित किया गया है; उसमें संसार से अनासक्ति दृढ़ करने के लिए निषेध के स्थान पर सहज विधान पर जोर दिया गया है। कृष्ण के प्रति प्रेम जब अदम्य आसक्ति और अनिवार्य व्यसन के रूप में विकसित हो जाय, तब नाशवान और दुष्परि-णामी सांसारिक विषयों से अनासक्ति या विरक्ति स्वतः प्राप्त हो जाती है। यह भक्ति एकान्ततः प्रेम-प्रधान अथवा रागानुगा है और मर्यादा-भक्ति से भिन्न है जिसमें प्रेम के साथ-साथ धार्मिक विधि-निषे का भी महत्वपूर्ण स्थान रहता है।

गौड़ीय वैष्णव संप्रदाय के अनुयायी विद्वानों ने इस रागानुगा अथवा प्रेम-लक्षणा भक्ति का विस्तृत सैद्धांतिक विवेचन किया है और वह सामान्यतया संपूर्ण कृष्ण-भक्ति को समझने में सहायक है। काव्यगत शृंगार के स्थायी भाव की भाँति भक्ति के प्रेम को भी रति कहा गया है। किन्तु काव्य की अपेक्षा यह रति अधिक व्यापक है और उसके अन्तर्गत आनेवाले पाँच भावों में स्थायी भावों की योग्यता स्वीकार की गई है। भक्ति-रति का यह भाव-भेद भक्तों के स्वभाव-भेद पर निर्भर होता है।

शान्त स्वभाव के भक्त में निर्वेद अथवा संसार से ैराग्य का भाव प्रधान होता है और उनकी भक्ति 'शांति' रति कही जाती है। किन्तु भक्तों में इस स्वभाव की संभावना बहुत कम है, क्योंकि

इसमें निषेध की प्रधानता है। अभावात्मक होने के कारण ही इसको अधिक महत्व नहीं दिया गया। वस्तुतः मन की यह विराग-स्थिति करुणानिधान भगवान के प्रति राग उत्पन्न होने की पीठिका मात्र है जो भक्ति के लिए अनिवार्य होते हुए भी अनुराग की अपेक्षा महत्वहीन है। दास्य स्वभाव के भक्त भगवान की सर्वसंपन्नता, सर्वसमर्थता तथा सर्वशक्तिमत्ता के समक्ष अपनी दीनता, हीनता, असमर्थता और अशक्तता का अनुभव करके जिस आत्मीय भाव को अपनाते हैं उसे 'प्रीति' कहा गया है। वस्तुतः यह दीनता का भाव सभी भावों की भक्ति का अनिवार्य लक्षण कहा जा सकता है और प्रेम-भक्ति के सभी भावों में प्रेम-विवशता के रूप में निहित रहता है। इसी के द्वारा प्रेम के मानवीय भाव उदात्त और अलौकिक भूमि पर प्रतिष्ठित होते हैं। किंतु कृष्ण भक्त अपने भगवान के साथ अधिकाधिक घनिष्ठता और समता का संबंध स्थापित करना चाहता है, अतः वह केवल दैन्यपूर्ण प्रीति से संतुष्ट नहीं रहता। अतः कृष्ण-भक्तों का स्वभाव-भेद सख्य, वात्सल्य और माधुर्य—इन्हीं तीन रूपों में बताया गया है और उनके आधार पर व्यक्त रति को 'प्रेम', 'अनुकम्पा' और 'कान्ता' अथवा 'मधुर' रति कहा गया है। भाव-भेद के कारण सिद्धान्ततः भक्ति की सापेक्ष श्रेष्ठता नहीं मानी जाती और 'गीता' और 'भागवत' की साक्षी के आधार पर सर्वात्म-तल्लीनतापूर्ण ध्यान, फिर चाहे वह किसी भाव से हो—यहाँ तक कि वैर-भाव से ही क्यों न हो—सार्थक समझा जाता है, तथापि व्यवहार में यह माना गया है कि 'मधुर' अथवा 'कान्ता' रति में तल्लीनता और सर्वात्म-समर्पण सबसे अधिक सुलभ है। लोक में भी भाव की गहनता और सघनता सबसे अधिक स्त्री-पुरुष के संबंध में समझी गई है; काव्य के शृंगार को इसी कारण रसराज कहते हैं। आनंद और रस के सागर श्रीकृष्ण अपने पूर्ण परमानंद रूप में इसी भाव के अंतर्गत रासलीला में प्रकट होते हैं तथा यही एकमात्र भाव है जिसमें भक्त और भगवान की भावानुभूति एक समान दिखाई जा सकती है और दोनों के सम्पूर्ण एकाकार होने का वर्णन किया जा सकता है।

माधुर्य भाव का स्वरूप

परंतु माधुर्य भाव के स्वरूप और विस्तार के संबंध में विभिन्न संप्रदायों में किंचित अंतर पाए जाते हैं। निंबार्क संप्रदाय में यद्यपि कृष्ण के ऐश्वर्य रूप की अपेक्षा उनके माधुर्य रूप का ही अधिक महत्व है और उसके उद्घाटन के लिए वृन्दावन की नित्य लीला में राधा तथा गोपियों के कांता भाव का विशद चित्रण किया गया है, परंतु निंबार्क संप्रदाय का राधाभाव या गोपीभाव स्वकीया प्रेम तक ही सीमित है तथा उसमें संयोग को ही महत्व दिया गया है।

इसके विपरीत चैतन्य संप्रदाय परकीया प्रेम में माधुर्य भाव के उज्ज्वल रस की चरम परिणति मानता है। प्रेम के इसी रूप में प्रेम के अतिरिक्त किसी अन्य विचार का स्थान नहीं होता, अतः यही प्रेम अपने में पूर्ण होता है। साथ ही, परिजन, समाज तथा धर्म के बाधा-बन्धनों का अतिक्रमण करके अडिग रहता हुआ, जिस प्रकार यह प्रेम तीव्र से तीव्रतर होता जाता है, वैसा स्वकीया भाव में संभव नहीं है। प्रेमानुभूति की अनुरंजकता, विविधता तथा नित्य नवीनता के लिए भी परकीया भाव में ही स्वाभाविक परिस्थितियाँ प्राप्त हो सकती हैं। वस्तुतः माधुर्य भाव का इसी के द्वारा इतना विस्तार हो सका है। वल्लभ संप्रदाय के कवियों ने भी इसी कारण माधुर्य भाव के अंतर्गत राधा और गोपियों के प्रेम में परकीया का आदर्श सम्मिलित किया है।

परंतु यह परकीया भाव प्रेम के आदर्श का प्रतीक मात्र है। वास्तव में न तो राधा कृष्ण से भिन्न हैं और न अन्य गोपियाँ; वे तत्वतः अद्वय और एक ही हैं। साथ ही परकीया भाव केवल प्रेम-विकास की स्थिति के द्योतन के लिए है, प्रेम की परिपूर्णता तो उस स्थिति में है, जब स्वकीया और परकीया का लौकिक भेदाभेद मिट जाता है। यदि लौकिक दृष्टि से उसका वर्णन किया ही जाय तो उसे वास्तविक स्वकीया की स्थिति ही कहेंगे, क्योंकि माधुर्य-भक्ति में वस्तुतः पति तो एक मात्र कृष्ण ही हैं, उनसे भिन्न जो भी हैं--चाहे वे लीला के हेतु स्वयं राधा या गोपियाँ हों या माधुर्य भाव को अपनाने वाले उनके अंशरूप स्त्री-पुरुष भक्तगण--वे सब उन्हीं प्रियतम कृष्ण की प्रेमिकाएँ हैं। स्पष्ट है कि प्रेम का यह स्वरूप सर्वथा अतीन्द्रिय और अलौकिक है। लौकिक अर्थ में वह जितना निकृष्ट और गर्हित है, भक्ति के संदर्भ में उतना ही परिष्कृत और उदात्त।

कांता भाव के प्रेम में विरह की महिमा सभी संप्रदाय स्वीकार करते हैं। परकीया भाव वस्तुतः विरहानुभूति की तीव्रता के कारण ही इतना प्रशंसित रहा है। विरह में प्रेम की अतीन्द्रियता सहज सुलभ है। वल्लभ संप्रदाय में इसी कारण श्रीकृष्ण के 'अवतीर्णपूर्व रस' अर्थात् 'संयोग रसात्मक' रूप की अपेक्षा उनका 'मूल रस' अर्थात 'विप्रयोग रसात्मक रूप' अधिक उत्कृष्ट कहा गया है। काव्य की भाँति यहाँ भी विरह पूर्वराग, मान और प्रवास के रूपों में होता है। परंतु राधावल्लभी संप्रदाय की स्थिति इस संबंध में भी भिन्न है। उसमें न तो परकीया भाव की स्वीकृति है और न विरह भाव की। वहाँ निकुंज-लीला का वृन्दावन-रस नित्य-मिलन के रूप में कल्पित किया गया है। यह मिलन निरंतर विरहानुभूति से अनुप्राणित और नवनवोन्मेषकारी रहता है। वल्लभ संप्रदाय के नंददास ने जिसे 'प्रत्यक्ष' विरह कहा है, बहुत कुछ वैसी ही स्थिति राधावल्लभी 'प्रेम विरहा रस' की है। प्रत्यक्ष विरह में प्रेमावेश के कारण मिलन में ही विरह का भ्रम हो जाता है। 'पलकांतर' विरह भी मिलन-दशा की ही विरहानुभूति है, अंतर केवल स्थान की दूरी का है। इससे अधिक काल और स्थान की दूरी क्रमशः 'वनांतर' और 'देशांतर' विरह में होती है।

राधावल्लभी मत की एक और विशेषता यह है कि उसमें राधा प्रेम की आलंबन हैं और कृष्ण उसके आश्रय। वे नित्य विहार में निमग्न रहते हुए एक दूसरे के सुख--'तत्सुख'-- के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। उनके नित्य विहार की परिकर, सहचरीगण भी बिना किसी ईर्ष्या अथवा स्पर्धा के 'तत्सुखिभाव' से उनकी रसक्रीड़ा में सहायता देने के लिए परिचर्या में रत रहती हैं। इन सहचरियों में आठ विशिष्ट हैं, जिन्हें अष्टसखी कहते हैं। भक्त इन्हीं सहचरियों के सौभाग्य की कामना करता हुआ, उन्हीं के समान आचरण करने की चेष्टा करता है। चैतन्य संप्रदाय में भी अष्टसखियों की गणना की गई है तथा वल्लभ-संप्रदाय के अष्टसखाओं के विषय में कहा गया है कि उन्हें निकुंज-लीला भी सिद्ध थी। सखीभाव से अष्टसखाओं के नाम भी गोस्वामी हरिराय ने गिनाए हैं। चैतन्य संप्रदाय में सखियों के अतिरिक्त परिचारिका 'मंजरियों' का भी उल्लेख है तथा प्रत्येक सखी को 'यूथेश्वरी' कहकर उनके अलग-अलग यूथ गिनाए गए हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि निकुंज-लीला की सखीभाव की भक्ति केवल राधावल्लभी मत की ऐसी विशेषता नहीं थी, जो अन्य कृष्ण-भक्ति सप्रदायों में न पाई जाती हो। अंतर केवल विवरण और अवधान का है। कृष्ण के प्रति सखा भाव और वात्सल्य भाव की भक्ति अवश्य वल्लभ-संप्रदाय की निजी

विशेषता कही जा सकती है। प्रेम के इन विविध भावों के ही आधार पर श्रीकृष्ण की लीला के रूप, प्रकार तथा विवरण-विस्तार को भक्त कवियों ने पद-गायन का विषय बनाया और भाव-भक्ति जब वाणी के माध्यम से प्रकट हुई तो स्वतः काव्य बन गई।

ब्रह्म में इस प्रकार मानवीय भावों का आरोप वस्तुतः एक विपरीत कल्पना है। किन्तु निर्गुण, निराकार और निर्विकार ब्रह्म को सगुण और साकार रूप में अवतरित करना स्वतः एक विपरीत कल्पना है। भक्ति के प्रतिपादकों ने इस विरोध का समाधान श्रीकृष्ण ब्रह्म को 'विरुद्ध धर्माश्रय' बताकर किया है। चैतन्य और वल्लभ मतों के अनुसार परम आनंदरूप श्रीकृष्ण गोलोक के नित्य वृन्दावन धाम में नित्य गोप-गोपियों के साथ नित्य विहार करते रहते हैं तथा अवतार दशा में वही आनंद-लीला ब्रज में प्रकट हो जाती है। राधावल्लभी मत में वृन्दावन को ही नित्य माना गया है और उसकी प्रेम और आनंद की क्रीड़ा को निकुंज-लीला कहा गया है। हम कह सकते हैं कि भक्ति के आराध्य कृष्ण और राधा तथा आदर्श भक्त गोप-गोपी आदि वस्तुतः भाव रूप में कल्पित हैं, वे भावों के ही मूर्त प्रतीक हैं। मानवीय मनोविकारों की यह अलौकिक रूप कल्पना एक प्रकार से उनका परिष्करण अथवा उदात्तीकरण कही जा सकती है। पुष्टिमार्ग में इस उदात्त अलौकिक भावानुभूति को 'राग-विनाश' कहा गया है, क्योंकि भक्त कृष्णार्पित होकर सांसारिक विषयों से सर्वथा उदासीन हो जाता है।

प्रेम-भक्ति की महत्ता तथा अन्य साधन-निरपेक्षता

मनुष्य के मन की प्रक्रिया के ज्ञान, अनुराग अथवा भाव, तथा संकल्प अथवा क्रिया में रागानुगा भक्तिमार्ग अनुराग अथवा भाव को सब से अधिक महत्व देता है तथा ज्ञान और कर्म को इसी के अंतर्गत स्वयंसिद्ध मानता है। आत्म-ज्ञान की प्राप्ति के उपरांत भले ही अहं का विनाश हो जाय, साधनावस्था में प्रत्यक्षतः अहं की स्वीकृति रहती ही है। संभवतः भक्ति के उत्थान-काल में ज्ञानमार्गी बहुधा दंभी और अभिमानी देखे जाते थे, इसी कारण भक्तों ने उनकी विगर्हणा की और यह दिखाया कि समस्त चेतना का कृष्णमय या राधामय हो जाना ही सच्चा ज्ञान है। यह ज्ञान भक्तों के लिए सहज सुलभ है, ज्ञानियों के लिए कष्टसाध्य और दुर्लभ। साधारणतः ज्ञानमार्ग का प्रथम सोपान वैराग्य है। भक्त भी वैराग्य को कम महत्व नहीं देता। अंतर केवल यह है कि वैराग्य भक्ति का अनिवार्य साधन नहीं, उसका स्वाभाविक अंग या लक्षण है। मनुष्य के हृदय में यदि विरक्ति का अंकुर न भी हो, तो भी भगवान की कृपा से मन और इन्द्रियाँ लीला-पुरुष परमानंदरूप श्रीकृष्ण की ओर उन्मुख हो जाती हैं और भक्त अनायास संसार के विषयों से विरक्त हो जाता है। किन्तु भक्ति-पथ में वैराग्य को किसी प्रकार लक्ष्य और साधन नहीं माना जा सकता। कृष्ण-भक्ति मन के वैराग्य को ही महत्व देती है और सांसारिक कर्तव्यों को त्यागने वाले विरागियों को प्रश्रय नहीं देती। समसामयिक लक्ष्य-भ्रष्ट विरागियों को लक्ष्य करके कृष्ण-भक्त कवियों ने वैराग्य की निन्दा की है। इसी प्रकार, योग और तपश्चर्या में जो साध्य और साधन की भिन्नता तथा साधन को ही साध्य मान बैठने की आशंका दिखाई देती है, उसीके कारण, भक्तों ने योगियों और तपस्वियों के प्रयत्नों को निष्प्रयोजन काया-कष्ट एवं पाखण्डपूर्ण आडम्बर बताया है। कृष्ण-भक्तों के निकट प्रेम का पंथ ही सब से बड़ा

योग और सब से बड़ा तप है। प्रेम-भक्ति में चित्त-वृत्ति का निरोध और सांसारिक विकारों का नाश सहज है।

कृष्ण-भक्तों ने धार्मिक कर्मकांड और बाह्य आचारों की भी उपेक्षा की है। यद्यपि स्वयं कृष्ण-भक्ति संप्रदायों में कालांतर में अनेक प्रकार का कर्मकाण्ड विकसित हो गया, किन्तु आ भ में भाव पर ही विशेष बल दिया जाता था। इसीलिए भक्त कवियों ने अपने काव्य में कर्मकांड को विशेष स्थान नहीं दिया, उन्होंने भक्ति के भाव-पक्ष को ही एकांत रूप से चित्रित किया है और उसी में ज्ञान, वैराग्य, योग, तप और कर्म का समाहार दिखलाया है। रागानुगा भक्ति की स्वतःपूर्णता के कारण ही उसमें धर्म के स्मार्त विधि-निषेध अनावश्यक माने गए हैं। यही नहीं, परिवार, समाज और शास्त्र के नियम यदि भक्ति के सहज परिपालन में बाधक हों तो उनका तिरस्कार भी आवश्यक बताया गया है। इसी भाव से गोपियाँ कृष्ण-भक्ति में बाधक लोक, वेद और कुल की मर्यादाओं का प्रत्याख्यान करती दिखाई गई हैं। धर्म की इस भाव-पद्धति में मनुष्य की अच्छी-बुरी सभी प्र ृत्तियों के दमन के स्थान पर कृष्णोन्मुख करने का विधान तथा सदाचरण के सहज और सुलभ मार्ग का निदर्शन है।

भक्ति का व्यावहारिक पक्ष

किंतु भक्ति की पूर्णता केवल भगवान के 'अनुग्रह' से प्राप्त होती है। पुष्टिमार्ग में पूर्ण अनुग्रह प्राप्त जी ों को 'पुष्टिपुष्ट' कहा गया है। निम्बार्क संप्रदाय के अनुसार ये जीव 'मुक्त-जीव' कहे जाएँगे। राधावल्लभी मत में सहचरी भाव भी राधा की कृपा से ही संभव बताया गया है। अन्य जीव जो इस प्रकार पूर्ण अनुग्रह के इच्छुक होते हैं, अवस्थानुसार न्यूनाधिक मात्रा में धर्म की मर्यादा का पालन करते हैं और इस संबंध में भक्तिमार्ग भी सदाचरण के समस्त शास्त्रीय नियमों का पालन आवश्यक मानता है। मध्ययुग के सभी भक्ति-संप्रदायों में धर्माचरण की शिक्षा और अभ्यास के लिए सत्संग की महिमा का विस्तार से वर्णन हुआ है। कृष्ण-भक्ति में भी सत्संग की महिमा के अंतर्गत हरिविमुखों, असाधुओं और अभक्तों के परित्याग का उपदेश दिया गया है। गुरु की मान्यता भी उसमें अन्य भक्ति-संप्रदायों की ही भाँति है, विविध संप्रदायों में विवरणगत अंतर अवश्य पाए जाते हैं। उदाहरणार्थ, राधावल्लभी मत में आदि-प्रवर्तक हित हरिवंश को ही हरि-रूप गुरु माना गया है। गुरु की कृपा से ही भक्त साधना में प्रवेश पाता है तथा दृढ़-चित्त और संकल्पशील रह सकता है। यही कारण है कि भक्त कवियों ने प्रायः गुरु को इष्टदेव से अभिन्न तक कहा है और गुरु-भक्ति और इष्ट-भक्ति में अंतर नहीं माना है। गुरु-भक्ति, सत्संगति और सामान्य धर्माचरण के साथ सांप्रदायिक भक्ति में इष्टदेव की मूर्ति, उनके विग्रह या स्वरूप की सेवा भी भक्ति का एक अनिवार्य अंग है और इस संबंध में इतने अधिक विस्तार हो गए हैं कि प्रायः भक्ति का वास्तविक रूप ओझल हो जाता है।

किंतु भक्ति के इस पक्ष के कारण, न केवल धर्म के सामाजिक रूप को विकसित होने का अवसर मिला, बल्कि उसने संगीत, साहित्य, चित्रकला, वस्त्र-रचना, आभूषण-निर्माण आदि कलाओं की उन्नति में भी अभूतपूर्व योग दिया, यहाँ तक कि पाकशास्त्र तक को उसने पूर्ण संरक्षण दिया। मूलतः निवृत्तिप्रधान होते हुए भी इस भक्ति-धर्म ने व्यवहार में प्रवृत्ति को ही पुष्ट किया।

निषेध का तो मानो उसमें एकांत अभाव है, क्योंकि उसके आधार हैं कृष्ण और राधा तथा उनकी हृदयहारिणी लीलाएँ, जो उनके कृपापात्र जीवों को सहज ही अपनी ओर आकर्षित कर लेती हैं और भक्त के समस्त मनोविकारों को परमोत्कृष्ट रूप में व्यक्त होने का अवसर देती हैं। इन्द्रियों की सहज प्रवृत्तियों को कृष्णोन्मुख करने के लिए ही मंदिरों में उनके विग्रह का साज-शृंगार किया जाता है, इस उद्देश्य की पूर्ति जितनी अधिक सफलता से काव्य के मनोहर रूप-चित्रणों और लीला-वर्णनों के द्वारा होती है, उतनी संभवतः मूर्तियों के शृंगार से नहीं हो सकती। कृष्ण-भक्त कवियों ने इसी हेतु मानव-रूप और मानव-चरित के चित्रण में प्रकृति का समस्त सौन्दर्य और माधुर्य समाप्त कर दिया है। मन और आँखों के साथ कानों के आकर्षण के लिए कृष्ण की मुरली की अवतारणा की गई है, जिसकी लोक-लोकान्तरव्यापी स्वर-लहरी समस्त संसृति की गति को विपरीत कर देती है, जिसके प्रभाव से गोपियाँ अपने लौकिक संबंधों को तोड़कर कृष्ण-दर्शन के लिए विकल हो उठती हैं। मन और इन्द्रियों की स्वाभाविक गति पर आधारित कृष्ण-प्रेम उत्तरोत्तर विकसित होता हुआ, क्रमशः 'आसक्ति' और 'व्यसन' में परिणत हो जाता है। भक्त निरंतर प्रेम-संयोग के लिए उत्कंठित रहता है, किन्तु आसक्ति की जितनी गहनता विरहावस्था में होती है, उतनी संयोगावस्था में नहीं। वियोगावस्था में भक्त नि तर कृष्ण के रूप का ध्यान, उनके नाम का स्मरण और उनकी लीला और उनके गुणों का श्रवण और कीर्तन करता रहता है। मध्ययुग के समस्त भक्ति-संप्रदायों में नाम-स्मरण का अत्यधिक महत्व था, कृष्ण-भक्ति भी उसका अपवाद नहीं है, यद्यपि कृष्ण-भक्तों को नाम-स्मरण के साथ रूप और लीला में विविध प्रकार से तल्लीन होने की एक महत्वपूर्ण अतिरिक्त सुविधा है। यह स्पष्ट है कि नवधा भक्ति कृष्ण-भक्ति के लक्षणों में अंतर्भुक्त है, उसका पृथक कोई अस्तित्व नहीं है।

कृष्ण-भक्ति का यह रूप जिस साहित्य के माध्यम से उद्घाटित हुआ है उसमें हिन्दी कृष्ण-भक्ति साहित्य का अन्यतम स्थान है। कृष्ण-भक्ति की प्रकृति में ही जीवन के आध्यात्मिक और इहलौकिक पक्षों का जो अद्भुत सम्मिश्रण है, उससे मध्ययुगीन हिन्दी कृष्ण-भक्ति साहित्य को जहाँ धर्म-संप्रदायों के अंतर्गत अत्यन्त सम्मानित, उच्च, धार्मिक साहित्य होने का गौरव मिला वहाँ दूसरी ओर उसने सहज ही लोक-सामान्य भावनाओं का उन्मुक्त प्रकाशन करके जन-साधारण के हृदय में भी ममतापूर्ण स्थान ग्रहण कर लिया। यही कारण है कि संप्रदायों के तत्त्वावधान में रचे जाने पर भी उसमें संकीर्णता और कट्टरता का प्रायः एकांत अभाव है। जैसा पीछे कहा गया है, संभवतः लोक-प्रचलित कृष्णाख्यान पर आधारित लोकगीत और लोककथाएँ वैष्णव भक्ति के अभ्युत्थान के पहले से ही प्रचलित थीं और उनकी प्रकृति अनिवार्यतः धार्मिक नहीं थी, वरन उनका उद्देश्य प्रारम्भ में प्रधानतया लोकरंजन ही था। इसीलिए हिन्दी कृष्ण-भक्ति काव्य कालांतर में सहज ही ऐसे ललित काव्य में परिणत हो गया जिसकी प्रकृति अत्यधिक संप्रदायहीन, इहलौकिक और लोक-सामान्य है।

हिन्दी कृष्ण-भक्ति साहित्य का सामान्य स्वरूप

हम देख चुके हैं कि संस्कृत में ही कृष्णकाव्य की प्रकृति उत्तरोत्तर धार्मिकता और भक्ति-भावना से समन्वित होने लगी थी। परंतु इतर काव्य की भाँति कम से कम बारहवीं शताब्दी

तक कृष्णकाव्य की रचना को भी राजाश्रय की अपेक्षा बनी रही। जयदेव ने वैष्णव राजा लक्ष्मण-सेन के आश्रय में रह कर ही 'गीतगोविन्द' की रचना की थी। इसीलिए उसमें कुशल कवि ने हरि-स्मरण के साथ-साथ विलास-कलाओं के प्रति कुतूहल का भी यथेष्ट ध्यान रखा है। परंतु बारहवीं शताब्दी के बाद कोई ऐसा राजा नहीं हुआ जो कृष्णकाव्य को प्रश्रय-प्रोत्साहन देता। वस्तुतः सच्चा साहित्य अब राज-सभाओं की संकीर्ण सीमाओं से निकलकर जन-साधारण की संवेदनाओं और आदर्शों का वहन करने की ओर अग्रसर होने वाला था। यह संकेत किया जा चुका है कि उस समय देश के जीवन में जो गंभीर राजनीतिक और सांस्कृतिक परिवर्तन घटित हुए उन्हींके क्रम में वैष्णव भक्ति-धर्म एक व्यापक आन्दोलन के रूप में उठ खड़ा हुआ था। इस आन्दोलन की बहुत बड़ी विशेषता यह थी कि यह शुद्ध जनता का आन्दोलन था। अतः उसका माध्यम भी मुख्यतया जन-भाषाएँ ही बनीं। भक्ति-धर्म भावना-मूलक था, अतः उसकी अभिव्यक्ति स्वभावतया काव्य के रूप में हुई और इस प्रकार जन-भाषाएँ काव्य के पद पर प्रतिष्ठित हो गईं। संस्कृत भाषा का उपयोग वैष्णव भक्ति-धर्म के केवल दार्शनिक और सैद्धान्तिक पक्ष को पुष्ट करने तक ही प्रायः सीमित रहा। जन-भाषाओं ने ही नूतन वैष्णव भक्ति का संदेश वहन करते हुए लोक-जीवन को आमूल हिला देने वाला वह सांस्कृतिक पुनर्जागरण देश के कोने-कोने में फैला दिया जिसकी तुलना प्राचीन काल के बौद्ध आन्दोलन से ही की जा सकती है।

परंतु पंद्रहवीं शताब्दी ई० के पहले आधुनिक भाषाओं में कृष्णकाव्य के उदाहरण नहीं मिलते। पंद्रहवीं शताब्दी में ही हिंदी (मैथिली) में विद्यापति, बंगला में चंडीदास, गुजराती में भीम और कदाचित इसी शताब्दी में भालण ने गोपालकृष्ण की लीलाओं को काव्य का विषय बनाया। परन्तु विद्यापति भी जयदेव की भाँति एक राजाश्रित कवि थे। साथ ही उनके आश्रय-दाता राजा शिवसिंह और उनके उत्तराधिकारी राजा लक्ष्मणसेन की भाँति वैष्णव मतानुयायी नहीं थे। अतः विद्यापति की पदावली का कम से कम प्रारंभिक उद्देश्य विलास-कलाओं के प्रति कुतूहल उत्पन्न करना ही था, उसमें हरि-स्मरण का संयोग कदाचित उतना ही था जितना गोपाल कृष्ण की कथा में परंपरा से निहित रहता आया था।

अनुमान किया जाता है कि विद्यापति की पदावली 'गीतगोविन्द' से प्रभावित है। विद्यापति 'अभिनव जयदेव' के नाम से प्रसिद्ध भी हैं। परवर्ती होने के नाते विद्यापति ने जयदेव से प्रेरणा अवश्य ली होगी, परंतु उनकी पदावली में वर्णित राधा-कृष्ण के प्रेम-प्रसंगों का स्रोत तो वही अक्षय्य लोक-साहित्य रहा होगा जिसने जयदेव को भी प्रेम और भक्ति का अमर विषय प्रदान किया था।

निश्चय ही विद्यापति की पदावली उस धर्म-भावना से प्रसूत नहीं है जिसने सोलहवीं शताब्दी ई० के कृष्णकाव्य को एक सर्वथा नवीन परिवेश में प्रस्तुत होने का अवसर दिया। पीछे कह चुके हैं कि सोलहवीं शताब्दी ई० के पहले कृष्ण-भक्ति संप्रदायों का संगठित प्रचार ही नहीं प्रारंभ हुआ था। मिथिला में तो कृष्ण-भक्ति की लोकप्रियता कदाचित विद्यापति के बाद भी अधिक नहीं हुई। प तु कृष्ण-वार्ता और कृष्णाख्यान जिसमें लोकरंजनकारी माधुर्य और लालित्य के साथ-साथ पवित्र पूजा-भावना भी संयुक्त थी, मिथिला क्या, देश के किसी भाग के लिए अपरिचित नहीं थी। अतः अपने आश्रयदाता राजा शिवसिंह और रानी

लखिमादेई के उदात्त मनोरंजन के लिए इससे बढ़कर उपयुक्त विषय और क्या चुना जा सकता था?

विद्यापति की अधिकांश रचनाएँ संस्कृत में हैं। देसी बोली के सर्वजन-आस्वाद्य माधुर्य के अनुरोध से उन्होंने 'कीर्तिलता' की रचना अवहट्ठ में की थी। हिन्दी में तो उन्होंने केवल पदों की रचना की थी। इस संबंध में डा० विमानबिहारी मजुमदार ने श्री खगेन्द्रनाथ मित्र के साथ संपादित अपने 'विद्यापति' की भूमिका में एक स्थल पर कहा है कि जब विद्यापति समस्त देश के पंडित समाज के लिए ग्रन्थ प्रणयन करते हैं, तब वे संस्कृत भाषा का प्रयोग करते हैं और जब उनके सामने उनका पाठक-समाज केवल मिथिला निवासियों का होता है, तब वे अवहट्ठ का व्यवहार करते हैं और जब उनकी इच्छा समस्त पूर्वोत्तर भारत—बंगाल, असम, उड़ीसा तथा हिन्दी प्रदेशों के निवासियों के लिए साहित्य-सृजन की होती है, तब वे मैथिली का व्यवहार करते हैं। इस प्रकार विद्यापति ने राधा-कृष्ण की प्रेमलीला को लोक-साहित्य से उठाकर पहली बार जन-भाषा के शिष्ट साहित्य के पद पर प्रतिष्ठित किया और साथ ही उस जन-भाषा, हिन्दी की व्यापकता का एक साहित्यिक प्रमाण भी प्रस्तुत कर दिया।

विद्यापति की पदावली ने नर-नारियों, विशेषतः नारियों के मनों में बस कर मिथिला की भूमि और आकाश को तो राधा-कृष्ण के प्रेम-गीतों से गुँजाया ही, सोलहवीं शताब्दी के धार्मिक वातावरण के निर्माण में भी उसने, विशेष रूप से बंगाल में, अत्यधिक योग दिया। चैतन्य महाप्रभु इन प ों को सुनकर उसी प्रकार आनन्दोन्मत्त हो जाते थे, जिस प्रकार लीलाशुक के 'कृष्णकर्णामृत', चंडीदास के पदों तथा जयदेव के 'गीतगोविन्द' को सुनकर। 'चैतन्यचरितामृत' में विद्यापति के पदों का तीन बार उल्लेख हुआ है। ऐसा था वह भक्ति-धारा का मादक उन्मेष जिसके वेगवान प्रवाह में पड़कर विद्यापति के हिन्दी पद बंगला भक्ति-साहित्य के अभिन्न अंग बन गए। कृष्ण-भक्ति और बँगला साहित्य दोनों ने उन्हें आत्मसात कर लिया।

आधुनिक काल के खोजियों ने विद्यापति के पदों के ऊपर जमे हुए भाषा के बँगला रंग को तो बड़ी सरलता से पहचान कर हटा दिया, परंतु उनमें जिन लोगों को भक्ति का रस मिलता है उन्हें यह समझाना कठिन है कि विद्यापति तो नितांत अ ैष्णव थे, वे वस्तुतः शैव थे और उनकी पदावली शुद्ध श्रृंगारिक रचना है। इसमें कोई संदेह नहीं कि विद्यापति के सैकड़ों पद ऐसे भी हैं जिनमें राधा-कृष्ण का नामोल्लेख तक नहीं है और जिनकी भावधारा नितांत लौकिक श्रृंगारमयी है। डा० मजुमदार ने लिखा है, 'विद्यापति के ७९९ अकृत्रिम पदों में ३८४ पद, अर्थात सैकड़े पीछे ४८ पदों में राधा-कृष्ण का कोई प्रसंग नहीं है . . .एवं ३५ केवल हर-गौरी और गंगा विषयक हैं।' डा० मजुमदार की स्थापना है कि विद्यापति ने तरुण वय में जो पद राजा शिवसिंह की राज-सभा के लिए रचे थे उनका विषय प्राकृत नायक-नायिका का प्रेम-वर्णन था, माधव और राधा के नामों का प्रयोग होने पर भी उनमें कृष्ण का प्रकृत लीलारस-गान नहीं है। उनमें स्वकीया, परकीया, सामान्या, बाला, तरुणी, युवती, वृद्धा आदि सभी प्रकार की लौकिक नायिकाओं का चित्रण हुआ है। परंतु पदावली में ऐसे पद भी हैं जिनमें कवि वैष्णव भक्ति-भावना के रस में मग्न होकर राधा-कृष्ण का प्रकृत लीलारस-गान करता जान पड़ता है। ये पद विद्यापति ने संभवतः परिणत वय में राजाश्रय से वंचित होने के बाद लिखे होंगे।

मजुमदार महोदय ने जिस प्रकार उस धारणा का खण्डन किया है जिसके वशीभूत होकर नगेन्द्रनाथ गुप्त जैसे विद्वान प्रत्येक पद को राधा-कृष्ण की लीला के संदर्भ में रखने का प्रयत्न करते हैं, उसी प्रकार डा० उमेश मिश्र प्रभृति विद्वानों के तर्कों का भी उत्तर दिया है जो विद्यापति के साथ सम्पूर्ण मैथिल ब्राह्मण-समाज को वंश-परम्परानुगत शैव प्रमाणित करके पदावली को भक्ति-भावना से सर्वथा असंपृक्त करना चाहते हैं। मैथिल विद्वान मजुमदार के सभी तर्कों और उनके निष्कर्षों से भले ही सहमत न हों, किंतु इधर कुछ विद्वानों ने, जिनमें एक मैथिल पंडित डा० सुभद्र झा भी हैं, स्वीकार किया है कि विद्यापति के सभी पद भक्ति-शून्य और नितांत लौकिक नहीं हैं। वस्तुतः राधा-कृष्ण के प्रेम-चित्रण के प्रसंग में विद्यापति के मन में कभी भक्ति का उन्मेष हुआ ही नहीं, यह बात तभी कही जा सकती है जब हम कृष्ण-वार्ता और कृष्णकाव्य की प्राचीन परंपराओं को सर्वथा भुला दें। विद्यापति की स्थिति बहुत कुछ हिंदी भक्त कवियों के बाद में आनेवाले उन कवियों के समान है जिन्हें रीति या श्रृंगार काल के कवि कहा जाता है।

परंतु, जैसा कि पीछे संकेत कर चुके हैं, सोलहवीं शताब्दी का कृष्ण-भक्ति काव्य धार्मिकता और इहलौकिकता के संदिग्ध सम्मिलन से प्रारंभ नहीं हुआ; विद्यापति से उसने प्रेरणा नहीं ग्रहण की। उसका प्रणयन विशुद्ध धार्मिक वातावरण में, प्रायः सांप्रदायिक तत्वावधान में, हुआ। उसका तात्कालिक मूल आधार प्रत्यक्षतः 'श्रीमद्भागवत' में वर्णित कृष्ण-कथा है, यद्यपि हिन्दी कृष्ण-भक्ति काव्य 'भागवत' या 'ब्रह्मवैवर्त' आदि किसी भी पुराण में वर्णित कृष्ण-कथा की लीलाओं में बँधा नहीं है। उसने अपनी भावना की पोषक सामग्री लेने में पुराणों की अपेक्षा लोक-साहित्य से कहीं अधिक स्वच्छंदतापूर्वक सामग्री ग्रहण की है। स्वयं कृष्ण-भक्त कवियों की उर्वर कल्पना-शक्ति भी नए-नए प्रसंगों की उद्भावना करने में कदाचित लोक-कवि से पीछे नहीं रही है।

मूलतः धर्म-प्रेरित होने के कारण हिन्दी कृष्ण-भक्ति साहित्य पूर्ववर्ती कृष्णकाव्य से अनेक बातों में बहुत भिन्न है। कृष्ण-भक्ति साहित्य के विशाल कलेवर में एक महत्वपूर्ण अंश ऐसा है जिसका सीधा उद्देश्य सामान्य अथवा सांप्रदायिक भक्ति के सिद्धांतों का निरूपण करना तथा भक्ति का प्रचार करना है। यद्यपि इस साहित्य में काव्य के स्वारस्य का प्रायः अभाव है, परन्तु उसके द्वारा वे रेखाएँ अवश्य ही निर्धारित हुई हैं जिनमें कृष्ण-भक्ति काव्य परिसीमित है। पुष्टिमार्ग, गौड़ीय, राधावल्लभी, हरिदासी, सभी संप्रदायों में न्यूनाधिक रूप में सैद्धांतिक साहित्य पाया जाता है।

परंतु इस सम्पूर्ण सांप्रदायिक साहित्य पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि भक्तिकाल के इस भावप्रवण वातावरण में कम से कम भक्त कवियों की तो सामर्थ्य के बाहर था कि वे कोई सैद्धांतिक विवेचन कर सकें। न तो उनमें वैसी योग्यता और विद्वत्ता थी और न उनकी रुचि या प्रवृत्ति ही इस ओर थी। उनके पास उपयुक्त भाषा और शैली भी नहीं थी। यही कारण है कि 'सूरसागर' के वे अंश जिनमें 'भागवत' के आधार पर भक्ति के निरूपण में सहायक कथाएँ वर्णित हैं भाषा-शैली की दृष्टि अशक्त और शिथिल तथा विचार की दृष्टि से अस्पष्ट और अपर्याप्त हैं।

सूरदास वल्लभाचार्य के शिष्य और पुष्टिमार्ग के 'जहाज' माने जाते हैं, परंतु उनके

'सूरसागर' के आधार पर शुद्धाद्वैत दर्शन अथवा पुष्टिमार्गीय भक्ति-सिद्धान्त और सेवा-पद्धति का सम्यक ज्ञान प्राप्त कर सकना संभव नहीं है। उन्होंने पुष्टिमार्ग के इष्टदेव श्रीनाथ जी का भी स्पष्ट और प्रत्यक्ष रूप में वर्णन नहीं किया है। उनके द्वारा गुरु की प्रशस्ति में रचना न करने का तो 'चौरासीवार्ता' में उलाहना भी दिया गया है। वस्तुतः सूरदास के काव्य को पुष्टिमार्ग के सिद्धांतों में बाँध देना संभव नहीं है। विद्वानों ने उनकी रचना से शुद्धाद्वैत और पुष्टिमार्गीय भक्ति के समर्थन और प्रमाण में उद्धरण अवश्य दिए हैं।[1] परंतु यह सिद्ध कर सकना भी असंभव नहीं है कि सूरदास का काव्य कृष्ण-भक्ति के उस रूप का प्रतिनिधित्व करता है जिसमें सिद्धांत और आचारगत विभिन्नताएँ घुलमिल कर विलीन हो गई हैं।

'सूरसागर' में शुद्धाद्वैत या पुष्टिमा की पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग नहीं मिलता। यह स्पष्ट है कि वे शांकर अद्वैत के विरोधी थे और अद्वैतवाद के उस संशोधित रूप के समर्थक थे जिसमें भक्त और भगवान तथा भक्ति के साधन-उपकरणों की पृथक स्वीकृति भी संभव हो सके। उसे शुद्धाद्वैत कहें या द्वैताद्वैत, कदाचित इस विषय में सूरदास विशेष चिंतित नहीं थे। उन्होंने श्रीकृष्ण के लीला-वर्णन में पुष्टिमार्गसम्मत बाल-लीलाओं का वात्सल्य और सख्य भावपरक जो चि ण किया है वह तो 'न भूतो न भविष्यति' कहा ही जा सकता है, परंतु उनकी किशोर लीलाओं में जो माधुर्य या कांता भाव की पोषक हैं, उनकी तन्मयता अपेक्षाकृत अधिक जान पड़ती है। इन लीलाओं में स्वकीया भाव, परकीया भाव, निकुंज-केलि, नित्यविहार, सखीभाव, युगल उपासना आदि, कृष्ण-भक्ति के वे सभी पक्ष स्वाभाविक रूप में समन्वित मिलते हैं जिन पर पृथक पृथक रूप में निम्बार्क, चैतन्य, हरिवंश और हरिदास के संप्रदायों में जोर दिया गया है। यदि सांप्रदायिक मान्यता के आधार पर 'सूरसागर' में से, उदाहरण के लिए नित्यविहार और युगल-उपासना संबंधी अंश यह कहकर अलग कर दिए जाएँ कि वे तो राधावल्लभी मत के पोषक हैं, वल्लभ-मतानुयायी सूरदास के विचारों से मेल नहीं खाते, तो यह सूरदास पर उस सांप्रदायिक संकीर्णता के आरोप करने की भूल होगी जिससे वे ऊपर उठे हुए थे।[2]

वस्तुतः कोई भी सच्चा कवि संप्रदाय के सैद्धान्तिक बन्धन में पूर्णतया बँधना स्वीकार नहीं करता। काव्य की भूमि पर विरोध और पार्थक्य मिट जाता है। मध्ययुग में विभिन्न संप्रदायों के प्रचारक कवियों को अपने-अपने संप्रदायों में सम्मिलित करने की होड़ सी करते देखे जाते हैं। संप्रदाय-विशेष में सम्मिलित हो जाने पर राधा-कृष्ण के लीलारस में तल्लीन कवि संप्रदायसम्मत ढंग से रचना करने का प्रयत्न अवश्य करते होंगे, किन्तु उनका प्रयोजन भक्ति के भावना-पक्ष से विशेष था, सिद्धांत-पक्ष से अपेक्षाकृत कम। यही कारण है कि विभिन्न संप्रदायों के अनुयायी अनेक कृष्ण-भक्त कवियों की रचनाएँ परस्पर मिल गई हैं। उदाहरण के लिए 'सूरसागर' में 'हित चौरासी' (हित हरिवंश) के कुछ पद,[3] हरिराम व्यास (राधावल्लभी)

---

१. दे० अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय, डा० दीनदयालु गुप्त, पंचम और षष्ठ अध्याय।

२. दे० राधावल्लभ संप्रदाय : सिद्धांत और साहित्य, डा० विजयेन्द्र स्नातक, पृ० ३३९-३४५।

३. वही, पृ० ३३९-३४५।

का समूचा 'रासपंचाध्यायी'[1] तथा सूरदास मदनमोहन के अनेक पद मिल जाने की बात कही गई है। यह नितांत संभव है कि 'सूरसागर' में इन तथा इन्हीं के समान अन्य कवियों के और भी पदों का मिश्रण हो गया हो; परन्तु 'सूरसागर' की भावधारा से न तो नित्यविहार के पद भिन्न हैं और न तथाकथित व्यासजी के 'रासपंचाध्यायी' का हार्द सूर की रासलीला में कोई व्यत्यय उत्पन्न करता है। सूर के पदों की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता का निर्णय 'सूरसागर' के आलोचनात्मक रीति से संपादित संस्करण के आधार पर ही हो सकता है। यहाँ केवल यह दिखाना अभीष्ट है कि सूर के काव्य में कृष्ण-भक्ति भाव-भक्ति की युगानुकूल संपूर्ण संभावनाओं के साथ व्यापक रूप में व्यक्त हुई है। कृष्ण-भक्ति काव्य के किसी भी अध्येता से यह छिपा नहीं है कि सभी कवियों ने बिना किसी संप्रदाय-भेद के उससे प्रेरणा और सहायता प्राप्त की है। काल-क्रम की दृष्टि से ही नहीं, विषयाधार की दृष्टि से भी सूरदास कृष्ण-भक्ति काव्य के आदि कवि हैं।

परन्तु अष्टछाप के अन्य कवियों में सांप्रदायिक सजगता अपेक्षाकृत अधिक थी और उन्होंने पुष्टिमार्गीय सिद्धांतसम्मत कथन यत्र-तत्र किए हैं। यही नहीं, उन्होंने वल्लभाचार्य, विट्ठलनाथ तथा उनके पुत्रों का नामोल्लेख करके उनकी प्रशस्तियाँ और बधाइयाँ भी गाई हैं। यह स्वाभाविक है कि काव्य के अंतर्गत सिद्धांतवाद और सांप्रदायिकता के आग्रह ने कवित्व को उसी अनुपात में कम कर दिया है। इसका प्रमाण ब्रजभाषा के कुशल शिल्पी नंददास की रचनाओं से मिलता है। उन्होंने 'भँवरगीत' के उद्धव-गोपी-संवाद तक में शुद्धाद्वैतपरक दार्शनिक और सैद्धांतिक शब्दावली का प्रयोग कराया है। 'रासपंचाध्यायी', 'सिद्धांतपंचाध्यायी', 'दशमस्कंध' आदि अन्य रचनाओं में भी पुष्टिमार्गीय भक्ति के स्वरूप और माहात्म्य के प्रतिपादन की चेष्टा देखी जा सकती है।

वल्लभ संप्रदाय के अतिरिक्त केवल निम्बार्क संप्रदाय और है जिसका दार्शनिक आधार उसके प्रवर्तक की रचनाओं में प्रतिपादित मिलता है। उस संप्रदाय के अनुयायी भक्त कवि भट्टजी प्रसिद्ध केशव कश्मीरी के प्रधान शिष्य कहे जाते हैं। परंतु उनके 'युगल शतक' के आधार पर निम्बार्क के द्वैताद्वैतवाद का सम्यक् ज्ञान संभव नहीं है। 'युगल शतक' में भक्ति भावना से समन्वित सिद्धांतवाद ही मिल सकता है। हरिदास स्वामी का सखी संप्रदाय भी अपना संबंध निम्बार्क से जोड़ता है। उसके अनुयायी भगवत रसिक अपेक्षाकृत अधिक सिद्धांतवादी जान पड़ते हैं और उन्होंने द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि शब्दों का प्रयोग किया है, परन्तु दार्शनिक मतवाद का विवेचन उनकी भी प्रवृत्ति और सामर्थ्य से बाहर है।

हिन्दी कृष्ण-भक्ति काव्य को प्रेरणा और प्रोत्साहन देनेवाले संप्रदायों में राधावल्लभी संप्रदाय अन्यतम है। इस मत के अनुयायी कवियों की संख्या और उनके द्वारा रचित काव्य का परिमाण अद्वितीय है।[2] इस संप्रदाय के प्रवर्तक गोस्वामी हित हरिवंश स्वयं एक रससिद्ध भक्त कवि थे और वे सूरदास के साथ हिंदी कृष्ण-भक्ति-काव्य के प्रवर्तक माने जा सकते हैं। उनकी वाणी राधावल्लभी संप्रदाय में श्रुति के समान मान्य है। परंतु हरिवंश गोस्वामी की रचना में

---

१. दे० वही, पृष्ठ ४०६ तथा भक्त कवि व्यासजी, श्री वासुदेव गोस्वामी।

२. दे० साहित्य रत्नावली, श्री किशोरीलाल अलि।

दार्शनिक विवेचन तो क्या, सिद्धांतवाद भी वैसा स्पष्ट नहीं है, जैसा कि उन्हीं के अनेक अनुयायी भक्त कवियों की वाणी में पाया जाता है। वस्तुतः दार्शनिक मतवाद की तो इस मत में उपेक्षा ही की गई है। यह नितांत साधन-पक्ष का भक्ति संप्रदाय है और साधन-पक्ष में भी इसमें केवल माधुर्य भाव के एक विशिष्ट रूप को ही अपनाया गया है। अतः 'चौरासी पद' में भक्ति रस का ही उद्घाटन है, सिद्धांतवाद का सीधा प्रतिपादन नहीं। स्वभाव और प्रकृति से गोस्वामी हरिवंश रसिक और भावप्रवण थे, अतः उन्होंने अपने संप्रदाय में रस की ही प्रधानता रखी। परंतु हरिवंश के अनुयायियों में कई सिद्धांतवादी विवेचक भी हुए हैं। हरिवंश की वाणी के बाद उसके व्याख्याता श्री सेवक जी का इस संप्रदाय में बहुत महत्व है। उन्होंने हितजी के प्रति सांप्रदायिक ढंग से अनन्य भक्ति-भावना प्रकट करने के अतिरिक्त राधावल्लभी रस-रीति को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है तथा रसिक भक्तों के लक्षणों का निरूपण किया है। यद्यपि उन्होंने नित्य विहार और निकुंज-लीला का भी वर्णन किया है, परंतु उनकी वृत्ति काव्य के भाव-पक्ष में उतनी नहीं रमी, जितनी सिद्धांत के प्रतिपादन में।

इस संप्रदाय के अनुयायियों में हरिराम व्यास संस्कृत के विद्वान तथा दीक्षा लेने के पूर्व एक प्रसिद्ध शास्त्रार्थी पंडित थे। उन्होंने राधावल्लभी मत के सिद्धांतों का तो विवेचन किया ही, साधारण भक्ति-धर्म के स्वरूप को भी स्पष्ट किया है। परन्तु प्रेम-भक्ति का इतना प्रभाव है कि वे सिद्धांत-प्रतिपादन भी सरस कवित्व से समन्वित करके ही करते हैं तथा राधा-कृष्ण के विहार-वर्णन में अपना प्रखर पांडित्य सर्वथा भूल जाते हैं।

सिद्धांतवाद को समझने की दृष्टि से इस संप्रदाय में चतुर्भुजदास, ध्रुवदास और कालान्तर में चाचा हित वृन्दावनदास की वाणियाँ भी अधिक महत्वपूर्ण मानी जाती हैं। चतुर्भुजदास द्वारा रचित 'द्वादशयश', ध्रुवदास द्वारा रचित 'व्यालीस लीलाओं' में से अधिकांश तथा चाचा हित वृन्दावनदास द्वारा रचित अनेक ग्रन्थों में अत्यन्त साधारण और व्यावहारिक शैली में भक्ति की आवश्यकता, लक्षण, साधन और महत्व का प्रतिपादन हुआ है। परन्तु यह सिद्धांत-प्रतिपादन राधा-कृष्ण के केलि-वर्णन में रति-रंग, विहार-विनोद, आनन्द-उल्लास आदि की भूमिका प्रस्तुत करने के लिए ही किया गया है और कम से कम ध्रुवदास और चाचा हित वृन्दावनदास ने तो प्रेम-भक्ति के इस प्रकृत और क्रियात्मक विषय की ओर अपेक्षाकृत अधिक ही ध्यान दिया है।

कृष्ण-भक्ति काव्य के अनेक परवर्ती रचयिताओं ने कृष्ण-भक्ति का सांप्रदायिक भेद-भावरहित रूप अधिक ग्रहण किया, यहां तक कि अनेक कवियों के विषय में यह कहना कठिन हो जाता है कि वे किस संप्रदाय-विशेष के अनुयायी थे। रसखान को पुष्टिमार्गीय भक्त कहा गया है, 'दो सो बावन वैष्णवन की वार्ता' में उनका वर्णन है, परंतु उनकी रचना में सांप्रदायिक सिद्धांत ढूँढ़ना व्यर्थ है। इसी प्रकार घनानंद की रचनाओं के आधार पर उन्हें निम्बार्क-मतानुयायी सिद्ध करना संभव नहीं है।

कृष्ण-भक्ति-काव्य में मीरांबाई की पदावली का स्थान अद्वितीय है। परतु वे किसी कृष्ण-भक्ति संप्रदाय की अनुयायी नहीं थीं, इसीलिए उनके संबंध में इतनी अधिक सांप्रदायिक खींचातानी हुई है। उनकी भक्ति-भावना पर निर्गुण संतमत का भी प्रभाव था और वे अपने गिरिधर नागर की सलोनी साकार मूर्ति में ही निर्गुणवादी संतों के राम का भी दर्शन करती थीं।

सच्चे भावप्रवण भक्तों की दृष्टि में सांप्रदायिक संकीर्णता तथा जाति, वर्ण और ऊँच-नीच के भेद-भाव प्रायः नगण्य थे, इसका उदाहरण हरिराम व्यास जैसे विद्वान पंडित की वाणी से उपलब्ध होता है, जिन्होंने कबीर की तरह के वर्णाश्रम-धर्म-विरोधी विचार प्रकट किए हैं।

परन्तु सका तात्पर्य यह नहीं कि मध्ययुग के कृष्ण-भक्ति संप्रदायों की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा द्वेष और कट्टरता से सर्वथा रहित थीं। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में मीरांबाई जैसी भक्त के संबंध में बड़ी कटु बातें कही गई हैं। स्पष्ट है कि वार्ताकार का सांप्रदायिक द्वेष इसीलिए इतना तीखा हो गया है कि कृष्णदास के प्रयत्न करने पर भी मीरांबाई पुष्टिमाग में सम्मिलित नहीं हुई थीं। बंगाली वैष्णवों को श्रीनाथजी के मन्दिर से निकालने के लिए कृष्णदास ने छल और बल का प्रयोग करने में संकोच नहीं किया था। फिर भी भावुक भक्त अपने कवि-कर्म में धर्म-प्रचारकों की इस सामयिक और संकुचित मनोवृत्ति से प्रायः निर्लिप्त रहे हैं। स्वयं कृष्णदास के पदों में सांप्रदायिक कट्टरता का संकेत नहीं मिलता।

सामूहिक दृष्टि से विचार करने पर यह निष्कर्ष सत्य से दूर न होगा कि वे सभी कृष्ण-भक्त कवि जो वस्तुतः कवि कहलाने के अधिकारी हैं, संप्रदायों की संकीर्ण परिधियों के भीतर रहते हुए भी कृष्ण और राधा-कृष्ण की उस भक्ति के व्यापक और सम्मिलित संप्रदाय के अनुयायी थे जिसका परिचय पीछे दिया गया है। उन सब का समान रूप से एक ही उद्देश्य था— रस, आनंद और प्रेम की मूर्ति श्रीकृष्ण और राधा-कृष्ण की लीला का गायन।

कृष्ण-भक्ति साहित्य में सामान्य अथवा सांप्रदायिक भक्ति-निरूपण के क्रम में भक्ति की सामयिक आवश्यकता प्रतिपादित करते हुए सामयिक परिस्थिति का यथातथ्यपूर्ण चित्रण भी किया गया है। सूरदास ने अपने विनय के पदों में अपने ऊपर सांसारिक विषय-वासनापूर्ण प्रवृत्तियों तथा धर्म-कर्म और सदाचरण-विरोधी आचरण का आरोप करते हुए तथा परीक्षित के पश्चात्ताप और 'भागवत' के कुछ अन्य प्रसंगों को चुनकर सामयिक जीवन की उद्देश्यहीनता और इन्द्रियपरता की तीव्र आलोचना की है। उद्धव-गोपी-संवाद और भ्रमरगीत के प्रसंग में भी उन्होंने अलखवादी, निर्गुणिया संतों, पांडित्याभिमानी अद्वैतवेदान्तियों, निष्फल कायाकष्ट में लिप्त हठयोगियों आदि के पाखण्ड की खूब खिल्ली उड़ाई है। परमानंददास तथा अष्टछाप के अन्य कवियों ने भी अपने समय के वर्णाश्रम धर्म के पतन का अच्छा चित्रण किया है। राधा-वल्लभी सेवकजी 'काचे धर्मी' का वर्णन करते हुए अपने समय के धार्मिक दंभ और कपट का कच्चा चिट्ठा प्रस्तुत करते हैं। व्यासजी की वाणी में भी धर्म का नाम बेचकर खानेवालों की तीव्र निन्दा मिलती है। कलियुग के प्रभाव का वर्णन करते हुए वे वस्तुतः अपने समय की ही सामाजिक कुरीतियों और धार्मिक प्रवंचनाओं की कटु आलोचना करते हैं। इसी प्रकार अन्य भक्तों ने भी अपने चारों ओर के समाज पर दृष्टि डालते हुए, उसकी दीनावस्था से व्यथित होकर सुधार और उन्नयन के उद्देश्य से चित्रांकन किया है।

इस प्रकार इन भक्त कवियों को नितांत वैयक्तिक साधन में लीन अथवा लोक-संग्रह की भावना से शून्य नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः वे सभी समाज के कल्याण की भावना से प्रेरित थे और उन्होंने आंतरिक शुद्धाचरण पर बल देनेवाले सब प्रकार के भेद-भाव से रहित भावनामूलक सामान्य लोक-धर्म का प्रचार करने के लिए ही अपनी वाणी का उपयोग किया था।

कृष्ण-भक्ति साहित्य के इस व्यावहारिक अंश में भक्तों की स्तुतियाँ और प्रशस्तियाँ भी पाई जाती हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से इनका महत्व कम नहीं है। सूरदास के अतिरिक्त अष्टछाप के कवियों ने वल्लभ-कुल से संबंधित व्यक्तियों का उल्लेख किया है। राधावल्लभी भक्तों में तो हित हरिवंश को अवतार मानकर उनका यश-वर्णन करने की एक निश्चित परंपरा रही है। हरिराम व्यास ने अनेक भक्तों का गुणगान किया है। इसी प्रकार ध्रुवदास ने 'भक्त-नामावली' में अन्य संप्रदायों के भक्तों की भी प्रशंसा की है। हरिदासी भक्तों ने भी अपने गुरु का गुणगान किया है।

भक्तों की प्रशंसा और सिद्धांत-प्रतिपादन के लिए व्रजभाषा गद्य का भी कृष्ण-भक्ति साहित्य में यत्किंचित प्रयोग हुआ। प्रारंभिक भक्त कवियों में हित हरिवंश द्वारा किन्हीं विट्ठलदास को लिखे गए दो पत्र प्रकाश में आए हैं[1], जिनमें सोलहवीं शताब्दी के व्रजभाषा गद्य का उदाहरण मिलता है। पुष्टिमार्ग के वार्ता-साहित्य की प्राचीनता और ऐतिहासिकता यद्यपि असंदिग्ध नहीं है, परंतु 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' और 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' से भक्ति-काल की सामान्य प्रवृत्ति का महत्वपूर्ण परिचय प्राप्त होता है। परवर्ती काल में टीकाओं के रूप में तो व्रजभाषा गद्य का व्यवहार हुआ ही, कुछ स्वतंत्र गद्य-रचनाओं में भी गद्य का व्यवहार किया गया है। राधावल्लभी भक्त अनन्य अली का 'स्वप्न-प्रसंग' ध्रुवदास का 'सिद्धांत विचार' तथा प्रियादास का 'राधेनेह' गद्य की रचनाएँ हैं।

संप्रदायों के उपयोगी साहित्य ने निश्चय ही कृष्ण-भक्ति काव्य को उद्देश्य और आदर्श के प्रति सजगता तथा सामाजिक दृष्टिकोण उपलब्ध करने में सहायता दी, परंतु भक्ति का भावनामूलक उन्मेष तो काव्य के माध्यम से ही व्यक्त हो सकता था, जीवन को गति देने में वही कृतकार्य हो सकता था। यही कारण है कि परवर्ती काल में सिद्धांत-प्रतिपादन अपेक्षाकृत अधिक हुआ, परंतु सरस काव्य-रचना उसी अनुपात से कम हो गई। काव्य-गुणों में तो वह पूर्ववर्ती कवियों का अनुकरण मात्र होकर रह गई।

विषय-वस्तु और उसका निर्वाह

पीछे कहा जा चुका है कि हिंदी कृष्णकाव्य में अनेक ऐसी भी कथाएँ हैं जिनका कोई निश्चित पौराणिक आधार नहीं है और जो उस उर्वर जन-समाज की कल्पना की सृष्टि जान पड़ती हैं जिसका मानसिक जीवन शताब्दियों से कृष्ण के मनोहर व्यक्तित्व से परिपूर्ण रहा है। कृष्ण-कथा के हिंदी कवियों ने स्वयं भी इस संबंध में अपनी मौलिक उद्भावनाओं के द्वारा महत्वपूर्ण योग दिया है। परंतु कृष्ण-भक्ति काव्य की रचना अधिकांशतः गीतिकाव्य के रूप में हुई है और उसका रूप बहुत कुछ स्फुट काव्य जैसा है। अतः सम्पूर्ण कृष्ण-कथा के संबंध में सम्यक प्रबन्ध-रचना बहुत कम पाई जाती है। फिर भी, अनेक कृष्ण-भक्त कवियों में कृष्ण-कथा के सम्पूर्ण नहीं तो किसी अंश-विशेष की क्रमबद्ध कल्पना भी मिलती है, भले ही उनके पद स्फुट रूप में गाए

---

१. दे० श्रीहित हरिवंश गोस्वामी—संप्रदाय और साहित्य, ललिताचरण गोस्वामी, पृष्ठ २८१-२८२।

जाते हों। सूरदास के काव्य में ही व्रजवासी कृष्ण की संपूर्ण कथा देने का सचेष्ट प्रयत्न दिखाई देता है। सूरदास के अतिरिक्त कृष्ण की संपूर्ण कथा रचने का दूसरा प्रयत्न ब्रजवासीदास का 'ब्रजविलास' है जो वर्ण्य विषय में 'सूरसागर' और शैली में 'रामचरितमानस' का अनुसरण करता है, यद्यपि काव्य की दृष्टि से उसका कोई महत्व नहीं है, क्योंकि वह सर्वथा इतिवृत्तात्मक और कलाहीन है। नंददास ने भी 'भागवत' के दशम स्कंध पूर्वार्ध के २९ अध्यायों का पद्यबद्ध उल्था किया था, पर कदाचित कार्य की गुरुता के कारण वे उसे आगे न बढ़ा सके। किन्तु नंददास में छोटे-छोटे प्रबन्धों को स्वतंत्र रूप देने की प्रवृत्ति अपेक्षाकृत अधिक थी और उन्होंने 'स्याम सगाई', 'भँवरगीत', 'रुक्मिनीमंगल' और 'रासपंचाध्यायी' नाम से कृष्ण-कथा संबंधी लघु प्रबन्धात्मक रचनाएँ लिखीं तथा 'रूपमंजरी' नामक कल्पित कथा-प्रबन्ध कृष्ण-भक्ति के माहात्म्य के लिए रचा। अन्य कृष्ण-भक्त कवियों में ध्रुवदास, नागरीदास, हित वृन्दावनदास, नरोत्तमदास आदि ने छोटे-बड़े अनेकानेक कथा-प्रबन्ध रचे, यद्यपि काव्य की दृष्टि से उनकी रचनाएँ उत्तम कोटि की नहीं हैं।

इस संबंध में राधावल्लभी हित वृन्दावन दास के 'लाड़सागर' और 'ब्रजप्रेमानंदसागर' का उल्लेख आवश्यक है। 'लाड़सागर' में शैशवावस्था के बाल-विनोद और विवाह की उत्कंठा से लेकर किशोरावस्था में राधा-कृष्ण के विवाह-मंगल, गौनाचार और क्रीड़ा-केलि की कथा वर्णित है। 'ब्रजप्रेमानंदसागर' का भी मुख्य वर्ण्य विषय यही है, साथ ही उसमें कृष्ण की माखन-चोरी, उलूखल-बंधन आदि कुछ लीलाओं का भी प्रसंगवश वर्णन किया गया है।

परंतु यह विशेष रूप से द्रष्टव्य है कि कृष्ण-कथा की स्वतंत्र प्रबन्धात्मक रचनाओं में अधिकांशतः कृष्ण के माधुर्यरूप की अपेक्षा उनके ऐश्वर्यरूप की प्रधानता है। संभवतः कृष्ण का माधुर्यरूप सम्यक प्रबन्ध के लिए अधिक उपयुक्त नहीं था। भारतीय कथा-प्रबंधों की परंपरा के अनुसार, जिसमें राजन्य वर्ग का श्रेष्ठ व्यक्ति ही काव्य का नायक होता है, यह स्वाभाविक ही है। गोपाल कृष्ण की मधुर लीला केवल गीति-पदों का ही विषय समझी गई और जिस प्रकार कवियों ने कृष्ण के राजसी वैभव और ऐश्वर्य की उपेक्षा की उसी प्रकार उन्होंने प्रायः काव्य के परंपरागत प्रबन्ध रूप को भी नहीं अपनाया। फलतः नंददास का 'रुक्मिणीमंगल' प्रारंभिक भक्त कवियों की रचनाओं में एक प्रकार से अपवादस्वरूप है। द्वारकाधीश श्रीकृष्ण के विवाह की कथा दरबारी कवियों को अपेक्षाकृत अधिक प्रिय रही है। अकबरी दरबार के नरहरि बंदीजन (सन १५०५-१६१० ई०=सं० १५६२=१६८५ वि०) और समथर राज्य के आश्रित नवलसिंह (कविता-काल सन १८१५-१८७०=सं० १८७२-१९२७ वि०) ने 'रुक्मिणी-मंगल' तथा रीवां-नरेश महाराज रघुराजसिंह (सन १८२३-१८७८ ई०=सं० १८८०-१९३६ वि०) ने 'रुक्मिणी-परिणय' नामक ग्रंथ लिखे। स्पष्टतः ये कवि कृष्ण-भक्तों की परंपरा में नहीं आते। पृथ्वीराज की राजस्थानी में लिखी हुई 'बेलि किसण रुक्मिणी री' तो नितांत लौकिक प्रेम-कथा है। 'सुदामाचरित' लिखने वाले नरोत्तमदास भी उस प्रकार के कृष्ण-भक्त कवि नहीं हैं, यद्यपि उनमें साधारण ढंग की दैन्यपूर्ण भक्ति-भावना पाई जाती है। ध्रुवदास, हित वृन्दावनदास और नागरीदास की कृष्ण के ऐश्वर्यरूप की व्यंजक प्रबन्धात्मक रचनाओं में भी भक्ति और काव्य का उच्च वातावरण नहीं मिलता तथा उनकी प्रवृत्ति कृष्ण के माधुर्यरूप के वर्णन में अधिक रमती दिखाई

देती है। स्वयं 'सूरसागर' के दशमस्कंध, उत्तरार्ध वाले अंश में—जिसमें कृष्ण-रुक्मिणी-परिणय और सुदामा-चरित दिया गया है, कृष्ण-भक्ति दैन्य भाव से सीमित है और इसी कारण उसमें भावना और कल्पना का अपेक्षाकृत संकोच है। सूरदास ने कृष्ण के राजसी वैभव का वर्णन अत्यन्त न्यून किया है तथा उसमें कोई रुचि नहीं दिखाई, प्रत्युत व्रजवासियों के दृष्टिकोण से उसके प्रति कटु व्यंग्य करते हुए घोर उपेक्षा प्रकट की है।

वस्तुतः भक्ति और काव्य के आवश्यक तत्वों और लक्षणों से समन्वित हिंदी कृष्ण-काव्य के चरित-नायक व्रजवासी गोपाल कृष्ण ही हैं; उन्हीं की मधुर लीला को भक्त कवियों ने अपनी-अपनी भावना के अनुसार गाया है। गोपाल कृष्ण व्रजभूमि में केवल अपनी मधुर लीला विस्तार मात्र करते हैं, लीला के अतिरिक्त किसी अन्य उद्देश्य से अवतरित होकर उसके लिए प्रयत्नशील नहीं होते, अतः उनकी कथा में किसी फलागम की उत्सुकता नहीं है, अपितु उनकी लीला का प्रत्येक अंश अपने में पूर्ण है। अतः इस लीला का वर्णन करने वाले कवियों द्वारा गीति-पद्धति का अपनाया जाना स्वभाविक है। फिर भी, कृष्ण-लीला गाने वाले कवियों में कृष्ण-कथा के किसी न किसी अंग-विशेष की प्रबन्ध-कल्पना पृष्ठभूमि के रूप में प्रायः पाई जाती है। उदाहरण के लिए, हित हरिवंश और उनके अनुयायियों के पदों की पृष्ठभूमि में राधा-कृष्ण-विहार के कथा-प्रसंग निरंतर विद्यमान रहते हैं, रसखान के कवित्त-सवैयों के पीछे कृष्ण-कथा की ऐसी छोटी-छोटी प्रसंग-कल्पनाएँ रहती हैं जो कृष्ण के सौन्दर्य और माधुर्य की व्यंजक हैं और सर्वस्व बलिदान करने की आकांक्षा रखने वाले प्रेम का रूप उपस्थित करती हैं।

इस दृष्टि से इन समस्त कृष्ण-भक्त कवियों द्वारा वर्णित कृष्ण-कथा के विविध अंशों को एकत्र करके एक सम्पूर्ण चरित-कथा का निर्माण तथा कृष्ण-भक्त कवियों की प्रवृत्ति की समीक्षा की जा सकती है। इस संबंध में 'सूरसागर' में वर्णित कृष्ण-कथा का अवलोकन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि परवर्ती कवियों द्वारा वर्णित प्रायः संपूर्ण लीला-प्रसंग छोटे-मोटे अंतरों के साथ उसी में अंतर्भुक्त हैं। सूरदास ने ही सबसे पहले गोपाल कृष्ण की पूर्ण कथा रचने का विधिवत उपक्रम किया। इस कथा का विश्लेषण इस प्रकार किया जा सकता है—

क. जन्म, गोकुल-आगमन, शिशु-लीला, नामकरण, अन्नप्राशन, वर्षगाँठ, कनछेदन आदि संस्कार तथा जागने, कलेऊ करने, खेलने, हठ करने, भोजन करने, सोने आदि के दैनिक प्रसंग जो वात्सल्य भाव के पोषक हैं।

ख. गो-चारण तथा वन-विहार लीला जो सख्य भाव की पोषक है।

ग. कृष्ण और राधा के बाल और किशोर काल के प्रेम-प्रसंग जो युगल रूप के सौन्दर्य और आनंद के द्योतक हैं तथा गोपियों की माधुर्य भक्ति के प्रेरक हैं।

घ. कृष्ण और गोपियों के बाल और किशोर काल के कथा-प्रसंग जो माधुर्य भाव के पोषक हैं।

ङ. कृष्ण की ऐसी अतिमानुष और अलौकिक लीलाएँ जो विस्मय-व्यंजना के साथ उनके परम देवत्व की सूचक, किंतु वात्सल्य अथवा सख्य भाव की पोषक हैं।

च. कृष्ण की ऐश्वर्यसूचक लीलाएँ जो दैन्य भाव की पोषक हैं।

इनके अतिरिक्त राधावल्लभी भक्तों ने, उदाहरणार्थ हित वृन्दावन दास ने 'लाड़सागर' में, राधा के शैशव और बाल्य जीवन के वात्सल्य भाव पोषक घटना-प्रसंगों का भी वर्णन किया है। राधा-कृष्ण के युगल-विहार के वर्णन में राधावल्लभी और चैतन्य संप्रदाय के भक्तों ने कुछ नवीन घटना-प्रसंगों की भी उद्‌भावना की है।

कृष्ण की ऐश्वर्यसूचक लीलाएँ 'सूरसागर' के केवल दशम स्कंध—उत्तरार्ध में दी गई हैं। किंतु द्वारकावासी महाराज श्रीकृष्ण के चरित-वर्णन में सूरदास की विशेष रुचि नहीं है और समस्त वर्णन केवल कथा की पूर्ति के लिए जान पड़ता है। केवल रुक्मिणी-परिणय इस कथा-भाग में अधिक कवित्वपूर्ण है और उसमें माधुर्य और दैन्य भावों का अद्‌भुत मिश्रण हुआ है। सुदामा-दारिद्र्य-भंजन की कथा को भी किंचित विस्तार मिला है और उसमें कृष्ण की दीनबन्धुता का चित्रण किया गया है। यद्यपि सूरदास कृष्ण के परब्रह्मत्व का संकेत करते कभी नहीं थकते और पद-पद पर उसका स्मरण दिलाते जाते हैं, फिर भी उनके असुर-संहार कार्यों के वर्णन में उनके परम पराक्रम की व्यंजना उनका उद्देश्य नहीं है, अपितु विस्मय-व्यंजना के साथ वात्सल्य अथवा सख्य भाव का पोषण ही उन्हें अभीष्ट है। शिशु कृष्ण द्वारा पूतना, कागासुर और शकटासुर के संहार से कृष्ण के देवत्व की सूचना अवश्य मिलती है, परन्तु कवि कृष्ण के प्रति वात्सल्य भाव दृढ़ रखने के लिए अधिक दत्तचित्त दिखाई देता है। इसी प्रकार वत्स, वक, अघ, धेनुक, प्रलंव, शंखचूड़, वृषभ, केशी और भौम असुरों का वध तथा बाल-वत्स-हरण और कालिय-दमन लीलाओं में कृष्ण के अलौकिक व्यक्तित्व की सूचना और विस्मय-व्यंजना के साथ-साथ सख्य और वात्सल्य भावों की दृढ़ता संपादित करने का अधिक सचेष्ट प्रयत्न किया गया है। गोवर्धन पूजा के वर्णन में भी इन्द्र की पूजा का खण्डन करके कृष्ण की अनन्य मान्यता की प्रतिष्ठा करते हुए, यशोदा के वात्सल्य और गोप-सखाओं के सख्य भावों को सुरक्षित रखने की ओर अधिक ध्यान दिया गया है।

परंतु सूरदास ने वात्सल्य और सख्य से भी अधिक माधुर्य भाव का विस्तार किया है। बाल्य काल के माखन-चोरी के प्रसंग से आरंभ कर चीरहरण, पनघट, दान, यमुना-विहार, मुरली-वादन, रास, जलक्रीड़ा, खंडिता-समय, हिंडोल, बसंत और फाग आदि लीलाओं में कृष्ण-गोपी के संयोग-सुखों का क्रमिक विकासशील माधुर्य प्रेम बड़ी गहनता और तन्मयता के साथ चित्रित किया गया है। इस माधुर्य भाव के आराध्य हैं परम सुंदर, परम आनंदमय श्रीकृष्ण और आराधिका हैं अगणित गोप किशोरियाँ। किंतु कृष्ण के परम आनंद रूप की संपूर्णता उनके युगल—राधा-कृष्ण—रूप में ही होती है। गोपियों का माधुर्य भाव भी राधा के 'परम भाव' में ही संपूर्णता प्राप्त करता है। अतः सूरदास ने बाल्य काल के 'चकई-भौंरा' खेलने से आरंभ करके राधा-कृष्ण के बाल-केलि, सर्प-दंशन, उपर्युक्त माखन-चोरी आदि लीलाओं, अनुराग-समय, अँखियाँ-समय के पदों तथा राधा-कृष्ण-विवाह और मान-लीलाओं में राधा-कृष्ण-प्रेम के क्रमिक विकास का वर्णन किया है। गोपियों के लिए यह प्रेम परम आदर्श और स्पृहणीय है। श्रीकृष्ण के मथुरा-गमन और मथुरा-प्रवास के वियोग वर्णन में भी माधुर्य भाव का ही विस्तार और उसी की गहनता अधिक है, यद्यपि वात्सल्य की मार्मिकता भी कम नहीं है तथा सख्य भाव भी यत्र-तत्र व्यंजित हुआ है। दशम स्कंध—उत्तरार्ध के कुरुक्षेत्र-मिलन में

माधुर्य भाव की प्रधानता है और व्रजवासी कृष्ण की लीला राधा-कृष्ण के कीट-भृंग की तरह परम-मिलन के साथ समाप्त होती है।

इस प्रकार सूरदास कृष्ण के जन्म से लेकर उनके मथुरा-प्रवास और द्वारका-प्रवास तक का वर्णन करते हुए उनके व्रजवल्लभ रूप पर ही निरंतर दृष्टि रखते हैं और विविध-भाव-संवलित परम प्रेम का उत्तरोत्तर विकास करते हुए उसकी चरम आनंददायिनी परिणति दिखाते हैं। उनके कृष्णकाव्य में बाह्य और सरसरी दृष्टि से देखने पर भले ही बिखरापन और कथा के एकात्मक विन्यास में व्यवधान दिखाई दे, वास्तव में उसमें आंतरिक कथात्मकता और भावात्मक एकसूत्रता निरंतर विद्यमान रहती है। इस एकसूत्रता में कृष्ण की उन लीलाओं के द्वारा भी बाह्य दृष्टि से विशृंखलता पैदा होती जान पड़ती है जिनकी रचना सुसंहत, एकात्मक प्रबन्ध के रूप में हुई है। वस्तुतः उपरिलिखित लगभग सभी कृष्ण-लीलाएं स्वतंत्र प्रबन्धों के रूप में रची गई हैं, जिन्हें हम खण्डकाव्य का नाम दे सकते हैं। परंतु, जैसा कहा गया है, इन सब लीलाओं का उपयोग कृष्ण-कथा के निर्माण के लिए हुआ है। संपूर्ण कृष्ण-कथा में समाहृत होकर ही उनका वास्तविक मूल्यांकन हो सकता है, क्योंकि न केवल वे अलग-अलग कृष्ण-कथा के अंग मात्र का वर्णन करती हैं, वरन भाव-विकास में भी उनका अनिवार्य सहयोग रहता है।

कृष्ण-भक्ति के परवर्ती कवियों में से किसी ने सूरदास की भाँति व्रजवल्लभ गोपाल कृष्ण की संपूर्ण प्रेम-कथा का वर्णन नहीं किया। कृष्ण की असुर-संहार-लीला की तो प्रायः सर्वथा उपेक्षा ही की गई है, अधिक से अधिक उसका यदा-कदा प्रसंगवश उल्लेख मात्र हुआ है। इसी प्रकार कृष्ण के ऐश्वर्य का वर्णन भी भक्त कवियों ने बहुत कम किया। व्रजवल्लभ बाल कृष्ण की वात्सल्य और सख्य व्यंजक लीला भी बहुत थोड़े से कवियों ने गाई। कृष्ण-भक्त संप्रदायों में केवल पुष्टि-मार्ग में बाल कृष्ण को इष्टदेव माना गया था, अतः केवल पुष्टिमार्गीय भक्त कवियों ने बाल लीलाओं के स्फुट पद रचे हैं। संपूर्ण बाल-लीला रचने की ओर उनकी भी प्रवृत्ति नहीं थी।

राधावल्लभी संप्रदाय के चाचा हित वृन्दावनदास ने 'लाड़सागर' में राधा के प्रति उसके माता पिता—कीर्ति और वृषभानु—का वात्सल्य भाव प्रकट करके कृष्णकाव्य में एक नवीनता पैदा करने की चेष्टा की है। यद्यपि 'सूरसागर' में भी राधा की माता कीर्ति का वात्सल्य कई स्थलों पर चित्रित किया गया है, परंतु 'लाड़सागर' में राधा के प्रति वात्सल्य भाव को जो प्रमुखता, विस्तार तथा एक पारिवारिक परिवेश प्रदान किया गया है वह काव्य-गुणों के अधिक उत्कर्ष न होने पर भी, अपनी एक विशेषता रखता है।

प्राचीन काल से कृष्णकाव्य का सबसे अधिक लोकप्रिय विषय राधा-कृष्ण और गोपी-कृष्ण की प्रेम-क्रीड़ाओं के प्रसंग रहे हैं। कृष्णकाव्य की यह परंपरा ऐसी दृढ़ और सहज आकर्षण-पूर्ण थी कि उसे कृष्ण-भक्त कवि भी छोड़ नहीं सकते थे। दूसरे, निम्बार्क, चैतन्य, हरिवंश और हरिदास—इन सभी कृष्ण-भक्ति संप्रदायों में स्वयं माधुर्य भाव का सर्वाधिक महत्व था और राधा-कृष्ण और गोपी-कृष्ण की प्रेम-लीलाओं का श्रवण, स्मरण, चिंतन और गायन उनकी प्रेम-भक्ति साधना का अनिवार्य अंग था। संभवतः इन संप्रदायों के सम्मिलित प्रभाव से कृष्ण-भक्ति माधुर्य भाव में ही केन्द्रीभूत होने लगी थी; वल्लभ-संप्रदाय भी उससे अप्रभावित न रह सका। अतः उपर्युक्त संप्रदायों के कवियों की भाँति पुष्टिमार्गीय कवियों ने भी राधा-कृष्ण

और गोपी-कृष्ण की प्रेम-क्रीड़ाओं—यमुना-विहार, निकुंज-लीला आदि विषयों पर प्रचुर रचनाएँ कीं। सूरदास के काव्य में भी राधा-कृष्ण और गोपी-कृष्ण की प्रेम-कथा का ही विस्तार सबसे अधिक है। सूरदास के उपरांत लगभग सभी कृष्ण-भक्त कवियों की दृष्टि कृष्ण की आनंद लीला के केवल मधुर पक्ष पर ही रही। हित हरिवंश और उनके राधावल्लभी संप्रदाय के कवि, हरिदास और उनके सखी संप्रदाय के अनुयायी भक्त तथा चैतन्य के गौड़ीय संप्रदाय में दीक्षित भक्त कवि, सभी लगभग एक स्वर से राधा और गोपियों के साथ कृष्ण के प्रेम-विहार का वर्णन करने में लीन दिखाई देते हैं।

परंतु सूरदास ने कृष्ण की मधुर रति के वर्णन में एक विशेष प्रकार का विवेक रखा था, उन्होंने कृष्ण और राधा तथा कृष्ण और गोपियों के प्रेम-संबंधों में एक निश्चित आध्यात्मिक और भावात्मक अंतर की व्यंजना की थी। परवर्ती कवियों ने इस सूक्ष्म अंतर को भुला दिया; इन कवियों के प्रेम-वर्णन कुछ थोड़े से चुने हुए प्रसंगों तक सीमित रह गए। कृष्ण का क्रीड़ास्थल केवल यमुना-कूल, लता-निकुंज और अंतःपुर-प्रकोष्ठ ही रह गया। सूरदास ने कृष्ण में जिस मानसिक वीतरागत्व की निश्चित और अखण्ड व्यंजना की थी वह सर्वथा भुला दी गई। स्वाभाविक था कि इस इहलौकिकता से आक्रान्त और उत्तरोत्तर आध्यात्मिक संकेतों से रहित कृष्ण-लीला ने उन परवर्ती कवियों को एक अत्यंत सुविधाजनक विषय सुलभ कर दिया जो बाह्य रूप में विलासी जीवन बिताने वाले राजाओं, सामन्तों और रईसों के मनोरंजन का सामान जुटाते थे। सूरदास ने गीति-शैली में प्रबन्ध-रचना की जो पद्धति डाली थी, परवर्ती कवि उसका भी निर्वाह नहीं कर सके। उन्होंने साधारणतया 'भागवत' तथा अन्य पुराणों में और विशेषतया सूरदास के काव्य में वर्णित व्रजवल्लभ कृष्ण की प्रेम-कथाओं को आधार मानकर स्फुट पद्य-रचना करने में ही अपनी प्रतिभा और भक्ति-भावना का उपयोग किया; उनकी मौलिक उद्भावना केवल छोटे-छोटे प्रेम-प्रसंगों की कल्पना में ही दिखाई देती है।

काव्य-रूप और छंद-प्रयोग

कृष्ण-भक्ति काव्य प्रधानतया गीतिकाव्य है। किन्तु इस गीतिकाव्य की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं। कृष्ण-भक्ति के गीतिकाव्य में आत्म-निवेदन का तत्व अनिवार्य रूप से पाया जाता है, किंतु उसका रूप सदैव ही व्यक्तिगत नहीं होता, अपितु उसके माध्यम कृष्ण-कथा के कोई पात्र—यशोदा, राधा, गोपी, गोप-सखा आदि—होते हैं। कृष्ण-भक्त कवि उन्हीं के भाव में तल्लीन होकर अपनी व्यक्तिगत सत्ता विस्मृत करके कृष्ण के रूप-विशेष पर समर्पित हो जाता है। अतः उसके गीतिपदों की स्वानुभूतिमूलक तन्मयता उसकी भक्ति-भावना की गहनता पर निर्भर होती है। मीरां को छोड़कर, जिनका आत्मनिवेदन व्यक्तिगत रूप में प्रकट हुआ है, कृष्ण-भक्त कवियों में सबसे अधिक भावात्मक तल्लीनता सूरदास में पाई जाती है। किंतु सभी कृष्ण-भक्त कवियों का काव्य साधारण गीतिकाव्य की अपेक्षा सहृदय श्रोताओं और पाठकों में तदनुरूप भाव उद्दीप्त करने में अधिक सफल हो जाता है, क्योंकि इस काव्य के आलंबन कृष्ण ऐसे लोकप्रिय नायक हैं जिन्होंने शताब्दियों से समाज के भाव-जगत पर अधिकार रखा है। यही कारण है कि आश्रयदाता राजा की प्रसन्नता के लिए रचे गए विद्यापति के पद भक्तों को भाव

विभोर करते रहे हैं तथा परवर्ती कवियों की राधा-कृष्ण विषयक रचनाएँ भी, जो संभवत: निश्चित रूप से भक्ति-प्रेरित नहीं हैं, भावुक भक्तों के निकट आदर पाती रही हैं।

भाव-संकलन और उसकी संहिति, जो सफल गीतिकाव्य के अनिवार्य लक्षण हैं—कृष्ण-भक्ति के पदों में आवश्यक रूप से पाए जाते हैं। प्राय: प्रत्येक सफल गीतिपद या तो कृष्ण, राधा अथवा राधा-कृष्ण की युगल छवि के किसी विशेष पक्ष या उसकी लीला के किसी विशेष अंग को लेकर जिस प्रधान भाव को उद्दीप्त करता है वह अन्य सहायक भावों की सहायता से क्रमश: विकसित होता हुआ अंत में चरम परिणति पर पहुँच कर एक स्थायी प्रभाव छोड़ जाता है। स्वभावत: व्यक्तिगत स्वानुभूति प्रकट करनेवाले गीतिकाव्य में भाव का इतना विस्तार और ऐसी विविधता नहीं हो सकती जैसी असंख्य लोक-विश्रुत घटनाओं और परिस्थितियों का वर्णन करने वाले इस कृष्णकाव्य में सहज ही प्राप्त हो जाती है।

अधिकांश कृष्ण-भक्ति काव्य गेय है। उसकी रचना प्राय: कृष्ण-कीर्तन के उद्देश्य से विशेष कालों तथा अवसरों पर विविध राग-रागिनियों में गाने योग्य पदों के रूप में हुई है। अत: कृष्णकाव्य की भी मूल प्रेरणा गीतिकाव्य के मूल लक्षण, संगीत तत्व में ही है। कृष्णकाव्य के द्वारा भारतीय संगीत परंपरा के अंतर्गत भावपूर्ण भजनों की एक प्रभावशाली संगीत-शैली विकसित हो गई जिसमें स्वर और ताल के साथ शब्द और उसके अर्थ का भी कम महत्व नहीं होता। काव्य और संगीत का यह सामंजस्य अपूर्व और अनुपमेय है। यद्यपि कृष्णकाव्य में अनेक ऐसे पद मिलेंगे जिनमें संगीत या काव्यतत्व एक दूसरे से विशेषता प्राप्त करने का उद्योग-सा करता जान पड़ता है, फिर भी दोनों तत्वों के समरस समन्वय के उदाहरण भी कम नहीं हैं। अधिकतर कृष्ण-भक्त कवि संगीत में भी व्युत्पन्न थे और संगीत के स्वरों के आश्रय से ही उनके पद रचे जाते थे।

यद्यपि कृष्ण-भक्ति काव्य का विषय परंपराभुक्त और चिर परिचित है, फिर भी कवियों ने अनेक छोटे-छोटे नवीन प्रसंगों की कल्पना करके अपने भक्ति-भाव को नवोद्रेक और सहज स्फूर्ति के साथ प्रकट किया है। किंतु कृष्णकाव्य का सहजोद्रेक और उसकी अंत:प्रेरणा कवि की भाव प्रवणता के साथ उसकी भक्ति-भावना की गहनता पर निर्भर है। भक्त कवि अपने भाव के द्वारा भगवान के साथ आत्मीयता का जितनी ही अधिक गहरी अनुभूति कर लेता है, उतनी ही स्वाभाविकता और अकृत्रिमता के साथ आत्मनिवेदन करते हुए वह अपने हृदय को खोलकर रख सकता है। यही कारण है कि कृष्ण-भक्त कवियों की गोपियाँ लौकिक शिष्टाचार के माप में जो कुछ उचित और अनुचित समझा जाता है, उसकी बिल्कुल परवा नहीं करतीं। भक्त का भगवान के साथ आत्मीय संबंध इतना घनिष्ठ और आडंबरहीन होता है कि उसे अपने भाव-समर्पण के लिए कोई लंबी-चौड़ी अथवा टेढ़ी-मेढ़ी भूमिका बाँधने की आवश्यकता नहीं होती। वह जो कुछ कहना चाहता है सीधे और स्पष्ट ढंग से कहता है।

इस प्रकार कृष्णकाव्य के गीतिपदों में गीतिकाव्य की सहज स्फूर्ति, अनाडंबर और निश्छलता अद्भुत रूप में मिलती है। साथ ही यह निश्छलता और नैसर्गिकता प्राय: निरंतर प्रचुर कलापूर्ण गोपन और रहस्य-सौंदर्य से अलंकृत है, फूहड़ ग्राम्यता उसमें बहुत कम दिखाई देती है।

कवियों की इसी सौन्दर्य-साधना के अंतर्गत भाषा-शैली के वे असंख्य विधान आते हैं जिनमें कवियों ने लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ के द्वारा शब्द-शक्ति का अनुपम विस्तार किया है। कभी-कभी, विशेषतया रूप-वर्णन के प्रसंगों में, कवियों की अलंकार-प्रियता अवश्य उनके पदों को बोझिल बनाकर उनकी सद्यःस्फूर्ति को नष्ट-सा करती देखी जाती है; किंतु रूप-वर्णन के परंपराभुक्त अलंकारों में भी प्रायः उन्होंने अपनी नवीन उद्भावना शक्ति का परिचय दिया है। अतः यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि कृष्णकाव्य का उत्तम अंश, जिसका परिमाण प्रचुर है, गीतिकाव्य के समस्त आवश्यक लक्षणों से युक्त है तथा कुछ अपनी विशेषताओं से उसने गीतिकाव्य का श्लाघनीय विषय-विस्तार किया है।

किन्तु कृष्णकाव्य के बृहद आकार में ऐसा अंश भी है जिसके गीतिपदों में गीतिकाव्य के बहुत कम लक्षण मिलेंगे, जिनमें न तो कवि की गहन स्वानुभूति होगी, न भाव की संहति तथा जिनमें भावात्मकता के स्थान पर वर्णनात्मकता ही अधिक होगी। स्वयं 'सूरसागर' में अनेक लंबे और वर्णनात्मक पद हैं जिनमें घटना और इतिवृत्त की प्रधानता तथा भाव की न्यूनता और विशृंखलता है। वस्तुतः ये पद गेय भी नहीं हैं और न वे कवि की किसी गहरी अनुभूति को व्यक्त करते हैं। परंतु कृष्णकाव्य में गीतिपदों की लोकप्रियता और सफलता का ही यह एक प्रमाण कहा जाएगा कि वर्णनात्मक कथा-प्रसंगों को भी गीतिपदों की शैली में रचा गया है।

कृष्णकाव्य के गीतिपदों की अंतिम किंतु सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि उसमें स्वानुभूतिमूलक भावाभिव्यक्ति के साथ-साथ कृष्णकाव्य के अनेक प्रसंगों का प्रायः क्रमबद्ध रूप में वर्णन मिलता है। 'सूरसागर' में गोपाल कृष्ण की संपूर्ण कथा प्रायः पदों में ही गाई गई है। जैसा कि पीछे कहा गया है, 'सूरसागर' के गीतिपदों में वर्णित संपूर्ण कृष्णलीला में एक सामान्य कथानिबद्ध प्रबन्धात्मकता पूर्ण तो है ही, उसके अंतर्गत विशिष्ट कथानकों को गीतिपदों की शैली में ही और अधिक सुसंबद्धता और पूर्वापर प्रसंग-संदर्भ के साथ रचा गया है; यहाँ तक कि उन्हें प्रसंग से भिन्न करके समझने में प्रायः भूल हो सकती है और फिर भी यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि इन पदों में भी गीति तत्त्व प्रायः अक्षुण्ण रहा है। कृष्णकाव्य की यह अतुलनीय विशेषता है कि उसमें प्रबन्ध और गीति के परस्पर विरोधी लक्षण एकाकार हो गए हैं।

कृष्णकाव्य में गीति पदों का प्रयोग वस्तुतः 'सूरसागर' को छोड़कर अधिकतर मुक्तक रूप में ही हुआ है। लंबे वर्णनों और कथात्मक प्रबन्धों में प्रायः उस पद्धति को अपनाया गया है जो अपभ्रंश काव्य के अनुकरण पर सबसे पहले प्रेमाख्यानक काव्यों में प्रयुक्त हुई है। 'सूरसागर' की 'भागवत' के आधार पर वर्णित अधिकांश कथाएँ चौपई-चौपाई-चौबोला छंदों में रची गई हैं। इनके अतिरिक्त कृष्ण-कथा से संबंधित अनेक बड़ी-बड़ी लीलाएँ, जिनका रूप स्वतंत्र खण्ड-काव्यों जैसा है, चौपई आदि छंदों में दुहराई गई हैं। यह अवश्य है कि इन अंशों की भाषा, शैली और भावना अधिकांश इतनी शिथिल, असमर्थ, व्यक्तित्वहीन और कवित्वशून्य है कि उन्हें सूरदास द्वारा रचित मानने में संकोच होता है। परंतु 'सूरसागर' का द्वादशस्कंधी रूप इन वर्णनात्मक अंशों पर ही निर्भर है और कदाचित पर्याप्त प्राचीन है। वेंकटेश्वर प्रेस और नवलकिशोर प्रेस से प्रकाशित 'सूरसागर' के साथ संलग्न 'सूरसागर-सारावली' भी जो सूरदास के नाम से प्रसिद्ध रही है सार और सरसी छंदों की वर्णनात्मक शैली में रची गई है।

ऐसा जान पड़ता है कि प्रेमाख्यानक काव्य और रामकाव्य की भाँति कृष्णकाव्य को भी वर्णनात्मक रूप देने के प्रयत्न होने लगे थे, यद्यपि इस शैली में कवियों को कदाचित अधिक सफलता नहीं मिल सकी। संभवतः कृष्ण-कथा में घटना-वैचित्र्य की अपेक्षा भावात्मकता की प्रधानता ही इसका मुख्य कारण है। सूरसागर' में चौपई आदि छंदों के बीच-बीच दोहों का प्रयोग नहीं हुआ है, केवल अर्धालियों के युग्म समूहबद्ध करके संख्यांकित कर दिए गए हैं। परंतु नंददास ने 'रूपमंजरी', 'बिरहमंजरी' तथा 'रसमंजरी' में बीच-बीच में दोहे भी रखे हैं। 'दशम-स्कंध' में भी कहीं-कहीं दोहे आ गए हैं। ध्रुवदास की ब्यालीस लीलाओं या ग्रन्थों में से कई दोहा-चौपाई-चौपई में रचे गए हैं। वृन्दावनदास और ब्रजवासीदास क्रमशः राधावल्लभी और वल्लभ संप्रदायों के परवर्ती कवि हैं, अतः इनके क्रमशः 'ब्रजप्रेमानंद-सागर' और 'ब्रजविलास' नामक ग्रन्थों की शैली पर 'रामचरितमानस' का पूरा प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

कृष्णकाव्य की वर्णनात्मक और कथात्मक रचनाओं में केवल दोहा, रोला, रोला-दोहा के मिश्रण तथा दोहा-चौपई-चौपाई आदि के आधार पर निर्मित नवीन छंदों का भी प्रयोग हुआ है। 'सूरसागर' में मिश्रित तथा नवीन निर्मित छंदों का प्रयोग गीतिमयता के अनुरोध से हुआ जान पड़ता है। सफल, सुसंबद्ध तथा नाटकीय प्रभाव-व्यंजना वाले कथा-प्रसंगों के लिए एक दर्जन स्थलों पर रोला-दोहा के मिश्रित छंद का प्रयोग किया गया है।[1] इसमें और अधिक मनोहारिता लाने के लिए 'दानलीला' के वर्णन में छंदांत में दस मात्राओं की एक पंक्ति जोड़ दी गई है। सूरदास के अनुकरण पर नंददास ने भी 'भँवरगीत' और 'स्याम सगाई' में इस मिश्रित छंद का सफल प्रयोग किया है। दोहा और चौपाई छंदों को बीच-बीच से तोड़कर तथा निश्चित मात्राओं की पंक्तियों को जोड़कर इन छंदों में भी सूरदास ने अभिनव संगीतात्मकता पैदा कर दी है। 'सूरसागर' के फाग और होली के वर्णनों में इनका प्रयोग करके विषयानुकूल उत्फुल्ल और स्वच्छंद वातावरण पैदा किया गया है। कदाचित सूरदास ने ही सबसे पहले चौपाई की दो अर्धालियों के बाद १३ मात्राओं की एक पंक्ति जोड़कर एक त्रिपदी छंद का प्रयोग किया था। राधावल्लभी कवियों में यह छंद विशेष रूप में लोकप्रिय रहा है। सेवकजी, हरिराम व्यास, चतुर्भुजदास आदि कई कवियों ने इसका प्रयोग किया है। कथात्मक प्रसंगों के लिए केवल रोला छंद का प्रयोग नंददास ने अपने 'रुक्मिणीमंगल' और 'रासपंचाध्यायी' में किया है। यह छंद कृष्णकाव्य के कुछ अन्य कवियों को भी आकृष्ट करता रहा है, जैसे राधावल्लभी सेवकजी की वाणी में तथा 'हरिवंश सहस्रनामावली' में इसका प्रयोग मिलता है।

दोहा छंद कृष्णकाव्य में भी सर्वप्रिय रहा है। यह पूर्वापर प्रसंग-निरपेक्ष मुक्तक रचना के लिए विशेष रूप से उपयुक्त है। 'सूरसागर' में कई स्थलों पर इसका प्रयोग मिलता है, जहाँ सूक्तियों के रूप में मार्मिक अनुभव की बातें कही गई हैं। उदाहरण के लिए, ३२५ वें पद में प्रारंभिक स्थायी और अंतरा छोड़कर पच्चीस दोहों में प्रेम की महत्ता, प्रेम के पथ में आत्म-बलिदान की अनिवार्यता तथा प्रेम की अमरता का प्रतिपादन किया गया है। यही पच्चीस दोहे पृथक् रूप में सूरदास की 'सूरपच्चीसी' नाम से भी प्रसिद्ध हैं। यद्यपि संपूर्ण पद भाव-संकलन की

---

१. दे० सूरसागर।

दृष्टि से एक पूर्ण इकाई हैं, फिर भी प्रत्येक दोहा अपने में पूर्ण और स्वतंत्र भी है। दोहों का इस प्रकार का प्रयोग सभी कृष्ण-भक्त कवियों ने न्यूनाधिक रूप में किया है। हित हरिवंश की रचना परिमाण में न्यून है, फिर भी उनकी स्फुट वाणी में चार दोहे भी पाए जाते हैं। उनके संप्रदाय के तो सभी भक्त कवियों ने इस छंद का प्रचुर प्रयोग, विशेष रूप से सिद्धांत-निरूपण, भक्ति-माहात्म्य-वर्णन, व्यावहारिक धर्मोपदेश, अथवा युगधर्म के चित्रण आदि के प्रसंगों में किया है। इस संबंध में हरिराम व्यास और ध्रुवदास का विशेष रूप में नामोल्लेख किया जा सकता है। वल्लभ-संप्रदाय के नंददास ने भी 'मानमंजरीनाममाला' तथा 'अनेकार्थमंजरी' नामक संपूर्ण रचनाएँ केवल दोहा छंद में ही लिखी हैं। इसी संप्रदाय के नागरीदास (महाराज जसवंतसिंह) ने भी इस छंद का प्रचुर प्रयोग किया है। निम्बार्क संप्रदाय के भट्टजी द्वारा रचित 'युगलशतक' में भी दोहों का प्रयोग है।

कवित्त, सवैया, छप्पय, कुंडलिया, गीतिका, हरिगीतिका, अरिल्ल तथा कुछ और छंदों के मुक्तक प्रयोग की परंपरा भी कृष्ण-भक्ति काव्य में प्रारंभ से परिलक्षित होती है। 'सूरसागर' में भी कवित्त, सवैया और गीतिका के कुछ इनेगिने उदाहरण मिलते हैं। हित हरिवंश की स्फुट वाणी में कुछ सवैया, छप्पय और कुंडलिया भी हैं। इन छंदों का व्यवहार कृष्णकाव्य में उत्तरोत्तर बढ़ता गया। किंतु इन छंदों का उस प्रकार मुक्तक रूप में पूर्ववर्ती कवियों ने प्रयोग नहीं किया जिस प्रकार परवर्ती रसखान तथा उनके बाद रीतिकालीन शैली से प्रभावित कृष्ण-भक्त कवियों ने किया है। कवित्त और सवैया में भी प्रायः एक प्रकार से सूक्तियाँ ही होती हैं जिन्हें कृष्ण-कथा के किसी घटना-प्रसंग अथवा भाव-विशेष पर आधारित किया जाता है।

कृष्णकाव्य के गीति पदों में भी कवियों ने विविध छंदों का व्यवहार किया है, उसमें मात्रिक छंदों की विविधता अनुपमेय है। सफल गीतिकार कवियों ने भाव की अनुकूलता और उपयुक्तता की दृष्टि से गति, लय और ताल का ध्यान रखते हुए लंबे और छोटे छंदों के निर्वाचन में अपनी कला-कुशलता और नाद-सौन्दर्य का परिचय दिया है। कृष्णकाव्य का चरम विकास गीतिपदों में ही हुआ और यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि ज्यों-ज्यों कवियों में भक्ति-भावना का भावोन्मेष क्षीण होता गया, त्यों-त्यों कृष्णकाव्य भी गीति शैली के स्थान पर सूक्तिकारों की दोहा, सोरठा, कवित्त, सवैया आदि की शैली अपनाता गया और उसकी परिणति लौकिक शृंगार के काव्य में हुई। 'सूरसागर' में भावों के साथ काव्य-रूपों, काव्य-शैलियों और छंदों की जो अनेकरूपता और विविधता मिलती है, वह सूरदास के बाद किसी एक कवि में क्या, सम्मिलित रूप से संपूर्ण कृष्णकाव्य में भी नहीं मिलती। जिस प्रकार भाव की दृष्टि से कृष्णकाव्य सीमित और संकुचित होता गया, उसी प्रकार काव्य-रूप, छंद और शैली की दृष्टि से भी उसमें संकोच आता गया। और, दोनों का कारण यही है कि कवियों में भावानुभूति और अंतःप्रेरणा के स्थान पर उधार लिए हुए भावों को नवीन चमत्कार के साथ उपस्थित करके धनार्जन और यशोलिप्सा की भावना अधिक बढ़ती गई।

चरित्र-निरूपण और पात्रों का प्रयोग

कृष्ण-कथा के नायक **श्रीकृष्ण** मानव और अतिमानव के परस्पर विरोधी तत्वों से

निर्मित हैं। पीछे बताया गया है कि उन्हें विष्णु का अवतार मानते हुए भी पौराणिक त्रयी से ऊपर परब्रह्म अथवा तत्वज्ञान की परिभाषा में अद्वैत ब्रह्म माना गया है। परंतु कृष्ण के व्यक्तित्व का यह अलौकिक पक्ष कृष्णकाव्य में स्फुट स्थलों, सूक्तियों और संदर्भों में ही मिलता है। कृष्ण-भक्त कवियों ने उसका वर्णन नहीं किया, केवल अत्यन्त विलक्षण ढंग से उसकी व्यंजना की है। काव्य के वे सब पात्र जो उनसे प्रेम करते दिखाए गए हैं उनकी अद्वैतता को अस्वीकार करते हैं तथा उनके निर्गुणत्व और निराकारत्व का निषेध करते हैं। निश्चय ही यह अस्वीकृति और निषेध न्याय और विवेक पर आधारित नहीं, वरन प्रेम की चरम अभिव्यक्ति मात्र है। धर्म और दर्शन के आधार पर समस्त कृष्णकाव्य में कृष्ण के ब्रह्मत्व की अतर्क्य स्वीकृति की व्यंजना है, केवल भक्ति-पक्ष में उनके मानवरूप से ही प्रयोजन है—उस मानवरूप से जो उनके विविध भावरूपी प्रेम का आलंबन बन सके। 'महाभारत' के योद्धा कृष्ण भी व्यवहारवादी मानव हैं, परंतु भक्तों के कृष्ण स्वभाव में उनसे सर्वथा भिन्न हैं। यशोदा के यहाँ जन्म लेते ही वे देश-काल के अनुकूल सामान्य शिशु की तरह आचरण करने लगते हैं और व्रजवासपर्यन्त ऐसी मनोहारी क्रीड़ाएँ करते रहते हैं जिनमें बाल और किशोर काल की मानवीय स्वाभाविकता ओत-प्रोत है।

सूरदास ने उनके इस संपूर्ण चरित्र का चित्रण करने में मनुष्य-प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण का परिचय दिया है। सूरदास के इस यथातथ्य चित्रण की अनुपमेयता निर्विवाद है, किंतु वस्तुतः सूर के कृष्ण का आकर्षण केवल मात्र उनकी मानवीय स्वाभाविकता में नहीं है। उनका वास्तविक आकर्षण उनकी विलक्षणता में ही है—स्वाभाविक चित्रण ने उस विलक्षणता को और अधिक निखार दिया है। सबसे अधिक अद्‌भुत तो यही है कि वे ब्रह्म हैं और ऐसा आचरण करते हैं कि किसी को उनके ब्रह्मत्व का सहज रूप में ध्यान ही नहीं रहता। यशोदा, नंद और व्रज के वयस्क नर-नारी उन्हें निरंतर अपने पुत्र और भोले बालक के रूप में ही ग्रहण करना चाहते हैं, गोप-सखा उन्हें सदैव सुहृद के रूप में अपनाए रहना चाहते हैं तथा किशोरी और युवती गोपियाँ उन्हें अपने रति-नायक से भिन्न रूप में कभी देख ही नहीं सकतीं। फलतः, कवि उन्हें यथाभावानुसार पूर्ण रूप में शिशु, बालक, किशोर, सखा अथवा प्रगल्भ प्रेमी के रूप में उपस्थित करके मानवीय स्वाभाविकता का अंत कर देता है।

वात्सल्य, सख्य और माधुर्य के आलंबन कृष्ण के तीन रूपों में पर्याप्त भिन्नता और साथ ही पर्याप्त एकता है। अतः एक ही व्यक्ति जब सहसा भाव-परिवर्तन करके भिन्न रूप में उपस्थित होता है और फिर भी उसकी स्वाभाविकता अक्षुण्ण रहती है, तब पाठक को अत्यन्त कुतूहल होता है और श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व की यह विलक्षणता उनकी मानवीय स्वाभाविकता के बीच उनकी अतिमानवता के काव्यपूर्ण रहस्य का संकेत कर जाती है। बीच-बीच में होनेवाले पराक्रमपूर्ण विस्मयव्यंजक संहार-कार्य इन संकेतों को और पुष्ट कर देते हैं।

इस संबंध में यह विशेष रूप से देखने योग्य है कि नंद, यशोदा, गोप, गोपी आदि के साथ राग-रंग में आचूल मग्न श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व में कुशल संकेतों द्वारा निरंतर वीतरागत्व की व्यंजना होती जाती है। अक्रूर के साथ मथुरा जाते समय उनका यह भाव स्पष्ट रूप से प्रकट किया गया है। उनके चरित्र के इस गुण से, काव्य के साधारण अर्थ में, उनके सफल नायकत्व की विलक्षणता तथा भक्ति के आध्यात्मिक अर्थ में, उनके वास्तविक व्यक्तित्व की अलौकिकता

व्यंजित होती है और इस प्रकार भक्त कवि के चरित-नायक में गीता के योगिराज कृष्ण की अनासक्ति का व्यावहारिक दर्शन होता है।

सूरदास ने श्रीकृष्ण के इस संपूर्ण चरित का चित्रण किया है। अन्य कवियों ने उनकी उपर्युक्त विशेषताओं में से कुछ ही प्रकट कीं। बहुत थोड़े कवि, और वह भी विच्छिन्न रूप में, सूरदास के बाल और किशोर कृष्ण का वह चित्र दे सके जो वात्सल्य और सख्य भावों का आलंबन है। अधिकांश कवि उनके माधुर्यपूर्ण चरित की ही ओर झुके और राधा और गोपियों के साथ उनके प्रेम-संबंधों के चित्रण में ही लीन रहे। यद्यपि अनेक कवियों ने इस चित्रण में अतीव तन्मयता प्रदर्शित की है, परंतु सूरदास ने उसमें वीतरागत्व और अनासक्ति के संकेतों तथा अन्यान्य उपायों से आध्यात्मिकता की जो उच्च काव्यमयी व्यंजना की थी, वह संभवतः कोई अन्य कवि नहीं कर सका।

कृष्ण के असुर-संहारी रूप में सूरदास ने ओज का तो सन्निवेश नहीं किया, परंतु उन्होंने जिस अलौकिक विस्मय की व्यंजना के लिए कृष्ण की आनंदमयी लीला में चरित के इस पक्ष की अवतारणा की थी, उसे संभवतः अन्य कवि नहीं समझ सके। अतः श्रीकृष्ण का चरित लौकिक होते-होते इहलौकिकता में ही बद्ध होता गया और उसमें मानव-व्यक्तित्व की संकुचित एकांगिता ही शेष रह गई। फलतः जीवन की व्याख्या की कसौटी पर कसने पर वह अत्यंत कल्पित और अयथार्थ लगता है, राग-रंग और आनंद-विहार में लिप्त जीवन का मानो कोई उद्देश्य ही न हो।

परंतु वास्तविकता यह है कि कृष्ण-चरित जीवन के वास्तविक चित्रण अथवा आदर्श चित्रण के रूप में रचा ही नहीं गया। उनकी लीला का लीलानंद के अतिरिक्त अन्य कोई प्रयोजन नहीं है। उसका उद्देश्य तो अखण्ड आनंद में जीवन की आध्यात्मिक परिपूर्णता की व्यंजना करना ही है। कवियों ने उस आनंद का चरम रूप स्त्री-पुरुष के रति भाव में कल्पित किया है। अतः श्रीकृष्ण को परमानंदरूप में परम पुरुष मानकर प्रकृतिरूप राधा के संयोग से उसकी पूर्णता सिद्ध की गई है।

सूरदास ने कृष्ण की भाँति **राधा** को भी सहज मानवीय रूप में चित्रित किया है तथा राधा और कृष्ण के प्रेम-भाव को बाल्यावस्था से ही सहज आकर्षण के रूप में आरंभ करके उसका मनोविज्ञानसम्मत विकास दिखाया है। इस प्रकार राधा के चरित के दो पक्ष हैं। वास्तव में तो वे कृष्ण से अभिन्न हैं, किंतु व्यवहार में उन्हें उत्तरोत्तर कृष्ण के प्रेम को अधिकाधिक प्राप्त करने में प्रयत्नशील चित्रित किया गया है। बाल्यावस्था का आकर्षण पारिवारिक और सामाजिक बाधाओं का जैसे-तैसे अतिक्रमण करता हुआ उस स्थिति को पहुँच जाता है जब वे अत्यंत विवश, अधीर और कातर हो जाती हैं। किंतु कृष्ण के आदेश से उन्हें अपना प्रेम गुप्त और गूढ़ रूप में रखना पड़ता है। दुर्मिलन-जन्य वियोग की अग्नि में तपकर, गर्व का सर्वथा परिहार हो जाने पर, स्वात्म को सर्वभावेन समर्पित कर देने के उपरांत ही उन्हें श्रीकृष्ण का संयोग-सुख प्राप्त होता है। रास-क्रीड़ा के अंतर्गत, वन-भूमि के स्वच्छंद वातावरण में राधा-कृष्ण का विवाह रचा जाता है और तदुपरांत राधा और कृष्ण दाम्पत्य भाव से प्रेम करते दिखाए जाते हैं। राधा का प्रेम परिपूर्ण होने पर इतनी महत्ता प्राप्त कर लेता है कि स्वयं श्रीकृष्ण उसकी याचना करते हैं और राधा के मान करने पर उन्हें मनाते तथा उनके विरह में व्याकुल होते हैं।

संयोग की अवस्था में राधा का शरीर और मन सौंदर्य, कांति और उत्फुल्लता का आगार है। वे अत्यंत चंचल, चतुर और विनोदमयी हैं तथा उनके मन का भाव उनके चपल अनियारे नयनों से अत्यंत आकर्षक रूप में व्यक्त होता है। किंतु वियोग की अवस्था में वे अत्यंत खिन्न, मलिन और मूक हो जाती हैं, उनका प्रेम गूढ़ से गूढ़तर हो जाता है, उनकी प्रकृति में अपार गंभीरता आ जाती है। राधा के प्रेम की महत्ता तथा कृष्ण से उनकी अभिन्नता का प्रमाण कुरुक्षेत्र-मिलन के अवसर पर मिलता है जब राधा और कृष्ण कीट-भृंग की भाँति एकाकार हो जाते हैं।

सूरदास ने राधा के चरित-चित्रण में मानवीय स्वाभाविकता का पूर्ण समावेश करते हुए, सूक्ष्म, रहस्यमय, किंतु असंदिग्ध संकेत किए हैं जो उनके अलौकिक व्यक्तित्व के व्यंजक हैं। किंतु सूरदास के अतिरिक्त अन्य किसी कवि ने न तो राधा के प्रेममय चरित का मनोविज्ञान-सम्मत चित्रण किया और न उसमें ऐसे गूढ़ रहस्य-संकेत ही किए। प्रायः वे सूरदास के चित्रण को मानसिक पृष्ठभूमि में रखकर अधिकतर राधा-कृष्ण के प्रेम-विलास के ही चित्र अंकित करते रहे। इन चित्रों में निःसंदेह प्रेमी नायिका के अनगिनती रूप और असंख्य भाव मिलते हैं। एक सीमित क्षेत्र में प्रेमी स्त्री-पुरुष का ऐसा मनोहारी चित्रण अन्यत्र दुर्लभ है। परंतु अंततोगत्वा हैं राधा एक भाव की प्रतीक मात्र। उस भाव के अंतर्गत तो उनमें पूर्ण मानवीय स्वाभाविकता अवश्य है, पर उसके अतिरिक्त उनका कोई रूप नहीं मिलता।

'सूरसागर' में राधा के इस महत्व का कारण अन्य संप्रदायों का, विशेष रूप में राधा-वल्लभी संप्रदाय का प्रभाव बताया जाता है। परंतु सूरदास से पहले इन संप्रदायों के किसी कवि का उल्लेख नहीं हुआ है। हित हरिवंश का रचना-काल सूरदास के बाद प्रारंभ हुआ, परंतु वे उनके समकालीन अवश्य थे। हित हरिवंश के 'हितचौरासी' में 'तत्सुखि-भाव' के प्रेम-सिद्धांत तथा राधा-कृष्ण की अद्वयता का निरूपण करते हुए केवल उनके नित्यविहार, सुरति, शृंगार, मान, रास आदि का स्फुट वर्णन किया गया है। अष्टछाप के कवियों के स्फुट पदों में तो 'सूरसागर' की भूमिका ही विद्यमान है। नंददास ने 'भागवत' के अधिक अनुकूल रहकर रचना की है, अतः उन्होंने राधा की अपेक्षा सामूहिक रूप में गोपियों को अधिक महत्व दिया है। राधावल्लभी, हरिदासी, निम्बार्क तथा गौड़ीय संप्रदाय के सभी कवियों ने अपने-अपने संप्रदायों के सिद्धांतानुसार राधा के युगल रूप, संयोग-सुख, स्वकीया-भाव अथवा परकीया-भाव के प्रेम का चित्रण करते हुए राधा को निःसन्देह अधिक महत्ता प्रदान की है, परंतु फिर भी उनके चित्रण अपूर्ण और एकांगी हैं। हित वृन्दावन दास के 'लाड़सागर' और 'ब्रजप्रेमानंदसागर' में राधा को वात्सल्य-स्नेह-संवलित स्वकीया नवोढ़ा के रूप में चित्रित करने की चेष्टा की गई है, परंतु यह चित्रण अत्यंत सीधा-सादा तथा सौन्दर्य और कला से सर्वथा शून्य है।

रति भाव के विकास और उसकी चरम परिणति में राधा काम-भावसंपन्न गोपांगनाओं की आदर्श हैं। यद्यपि **गोपियाँ** जानती हैं कि राधा के गूढ़ भाव की उपलब्धि संभव नहीं है, फिर भी वे उनका अनुकरण करते हुए, प्रेम की पूर्णता प्राप्त करने में प्रयत्नशील रहती हैं। सूरदास ने राधा की भाँति गोपियों के प्रेम का भी उत्तरोत्तर विकास दिखाया है और गर्व-नाश के हेतु विविध परीक्षाओं के द्वारा कृष्ण को उनकी सहायता करते चित्रित किया है। यद्यपि खंडिता नायिकाओं के रूप में 'सूरसागर' में श्रीकृष्ण उन्हें एकांत प्रेम का प्रतिपादन करते दिखाए गए हैं, फिर भी

सूरदास ने उनके प्रेम को राधा के प्रेम की भाँति महत्ता नहीं दी। न तो गोपियों के साथ उनका दाम्पत्य संबंध दिखाया गया और न उनके प्रेम में वैसी उत्फुल्लता, प्रसन्नता और गूढ़ता व्यंजित की गई। वे निरंतर विकल प्रेम को परिपूर्ण बनाने में प्रयत्नशील रहती हैं। सूरदास के अतिरिक्त राधा और गोपियों के इस आध्यात्मिक अंतर को कोई कवि ऐसी कुशलता से नहीं निभा सका।

किंतु गोपियों के चरित्र-चित्रण में व्यक्तिगत विशेषताएँ बहुत कम दिखाई गई हैं। सूरदास ने केवल **ललिता** और **चंद्रावली** नाम की दो गोपियों में किंचित व्यक्तिगत विशेषताओं का उल्लेख किया है तथा कुछ अन्य गोपियों—**शीला, सुषमा, कामा, वृन्दा, कुमुदा, प्रमदा** आदि—के नामोल्लेख मात्र से उनकी विशिष्टता बताई है। इनके अतिरिक्त कृष्णकाव्य में परंपरा से चले आते हुए गोपियों के कुछ अन्य नाम भी मिलते हैं, यथा, विशाखा, हरिप्रिया, सुमुखी, वल्लभी, माधुरी, माधवी, श्यामला, लीला, पद्मा, वनप्रिया आदि। किंतु इन नामों के साथ किसी स्पष्ट व्यक्ति-वैचित्र्य का बोध नहीं होता। कभी-कभी कुछ नाम भावों के प्रतीक रूप में अवश्य प्रयुक्त हुए हैं, पर सब मिलाकर काम-भाव वाली सभी गोपियों की प्रकृति और व्यवहार एक-समान हैं। वे सम्मिलित रूप से कृष्ण की प्रिया हैं और यह बात उनके प्रेम की लोकातीत गूढ़ता का पर्याप्त प्रमाण है। राधा की भाँति वे भी भाव की प्रतीक मात्र हैं। व्रज के सहज ग्रामीण वातावरण में वे अवश्य अत्यंत यथार्थ रूप में चित्रित की गई हैं, किंतु उनका चरित भी भाव-विशेष की सीमाओं में आबद्ध है, जीवन की व्यापकता उसमें नहीं मिलती।

राधावल्लभी संप्रदाय की स्थिति इस विषय में कुछ भिन्न है। उसके अनुसार गोपियों की सबसे बड़ी आकांक्षा यह होती है कि वे राधा-कृष्ण के नित्य निकुंज-रति-विहार के संपादन में अधिक से अधिक घनिष्ठतापूर्वक सहायक हों तथा कुंज-रंध्रों से उस विहार का दर्शन कर सकें। इस 'तत्सुखि भाव' की गोपियों में आठ अंतरंग सखियों का नामोल्लेख अवश्य किया गया है, परंतु नित्य विहार की निष्क्रिय द्रष्टा मात्र होने के कारण उनमें किन्हीं व्यक्तिगत विशेषताओं के प्रकट होने की कोई संभावना नहीं है। नित्यविहारी राधा-कृष्ण की परिचर्या मात्र को वे अपना परम सौभाग्य मानती हैं, अतः उनके भावलोक में भी किसी विशेष क्रियाशीलता की कल्पना नहीं की जा सकती। गौड़ीय संप्रदाय के भक्तों ने भी यद्यपि सखियों, मंजरियों और यूथेश्वरियों की पृथक स्थितियाँ स्वीकार की हैं, परंतु गोपियों के व्यक्तिगत चरित-चित्रण की ओर उनका भी कोई प्रयास नहीं दिखाई देता। सखी संप्रदाय की भी स्थिति ऐसी ही है। सूर के परवर्ती कृष्णकाव्य में गोपियों के चरित और भाव में उत्तरोत्तर संकोच आता गया तथा राधा और अन्य गोपियों का अंतर भी प्रायः विस्मृत हो गया।

श्रीकृष्ण के साथ माधुर्य रति करने वाली स्त्रियों में **कुब्जा** और **रुक्मिणी** को भी गिना जा सकता है। इन दोनों के चरित्रों में स्पष्ट रूप से व्यक्तिगत विशेषताएँ पाई जाती हैं और अनेक कृष्ण-भक्त कवियों ने प्रायः उन्हें उभारकर चित्रित किया है। **कुब्जा** गोपियों की असूया, ईर्ष्या तथा व्यंग्य-वचनों का लक्ष्य रही है, क्योंकि मथुरा-प्रवासी कृष्ण का प्रेम उसे कहीं अधिक सरलता से प्राप्त हो गया था। काव्य में वह अत्यन्त हीन, अहम्मन्य और वक्रशील नारी के रूप में उपस्थित की गई है, पर वस्तुतः उसके चरित्र से कृष्ण की अपार भक्तवत्सलता प्रमाणित होती है।

रुक्मिणी का चरित्र भी कृष्ण की भक्त-वत्सलता का ही द्योतक है। दांपत्य भाव का होते हुए भी उसके प्रेम में दैन्य की अधिकता है, क्योंकि उसमें राधा के प्रेम की भाँति स्वच्छंदता नहीं है। परकीया रूप में उसके प्रेम को विकसित होने का अवसर नहीं मिला, अतः उसमें गूढ़ता, गंभीरता, महत्ता और गौरव का अभाव है। उसके प्रेम में गोपियों जैसी आध्यात्मिकता का कोई संकेत नहीं मिलता।

माधुर्य रति को अपनाने वाली गोपियों के अतिरिक्त व्रज में ऐसी भी स्त्रियाँ हैं जो कृष्ण के प्रति अनुकम्पा अथवा वात्सल्य का भाव रखती हैं। **यशोदा** उनमें प्रमुख हैं। सूरदास ने यशोदा के रूप में सहज, स्नेहशील मातृत्व का सजीव चित्रण किया है। सरलता और स्नेहशीलता—उनके चरित्र के यही दो प्रधान गुण हैं, जिन्हें सूरदास ने अनेक यथार्थ परिस्थितियों की विविध घटनाओं में बड़ी स्वाभाविकता के साथ व्यंजित किया है। किंतु सूर के परवर्ती कवियों की संवेदना राधा और गोपियों के माधुर्य भाव में सीमित रही, अतः भूले-भटके यदि वात्सल्य का कभी चित्रण भी हुआ, तो सदैव ही उसकी भूमिका में सूरदास की यशोदा का चरित्र रहा है। यशोदा के अतिरिक्त वात्सल्य भाव किसी अन्य गोपी में विशेष रूप से नहीं दिखाया गया, यद्यपि ज की सभी वयस्क गोपियाँ यशोदा के भाव की स्वभावतः भागी हैं। केवल बलराम की माता **रोहिणी** और राधा की माता **कीर्ति** में सूरदास ने यशोदा के वात्सल्य की झलक दिखाई है। इनके अतिरिक्त **देवकी** के मातृवत वात्सल्य में दैन्यपूर्ण भक्ति-भावना का सन्निवेश किया गया है, लगभग उसी प्रकार, जैसे रुक्मिणी का माधुर्य भाव दैन्यपूर्ण भक्ति से प्रभावित है।

कृष्णकाव्य में स्त्री पात्रों की प्रधानता और प्रचुरता है, क्योंकि उसमें भाव की प्रधानता है। अतः कृष्णकाव्य के सभी **स्त्री पात्र** वात्सल्य और माधुर्य, इन्हीं दो भागों में बँट जाते हैं। इन दोनों भावों को व्यक्त करने वाली स्त्रियों के चित्रण में, विशेषतया सूरदास ने तथा सामान्यतया उनका अनुकरण करने वाले अन्य कृष्ण भक्त कवियों ने, मानवीय स्वाभाविकता की सहज प्रतीति कराने में पर्याप्त सफलता प्राप्त की है।

कृष्णकाव्य के **पुरुष पात्र** भी प्रधानतया दो वर्गों में बँट जाते हैं। **नंद** तथा उनके समवयस्क गोप अनुकंपा रति प्रकट करते हैं तथा कृष्ण के क्रीड़ा-सहचर गोप उनके साथ सखा भाव से प्रेम करते हैं। यशोदा की भाँति नंद के चरित्र में भी सरलता और स्नेहशीलता की अधिकता है। वे भी अपनी पत्नी की भाँति इतने सरल हैं कि कृष्ण के संबंध में तनिक-सी आशंका से भयभीत हो जाते हैं और तनिक-से हर्ष से फूल उठते हैं। व्रज के सभी वयस्क गोप इसी प्रकार सरल विश्वासी और नागरों के प्रति शंकाशील हैं।

कृष्ण के **गोप सखा** भी अत्यंत सरल, चंचल, मोदप्रिय और सद्यःप्रभावशील हैं। कृष्ण-प्रेम के स्थायी भाव के अंतर्गत वे कितनी शीघ्रता से भाव-परिवर्तन करते हैं! इन सखाओं में सूरदास ने **अर्जुन, भोज, सुबल, श्रीदामा, मधुमंगल** आदि का नामोल्लेख किया है; पर व्यक्तिगत परिचय केवल **श्रीदामा** के चरित्र का मिलता है जो कालिय-दमन लीला की भूमिका में विशेष रूप से सामने आते हैं। परंतु 'ब्रह्मवैवर्तपुराण' में श्रीदामा का जैसा महत्व और प्रभाव चित्रित किया गया है, उसका कोई संकेत 'सूरसागर' में नहीं मिलता। 'सूरसागर' पर 'ब्रह्मवैवर्त' की छाया

भी नहीं जान पड़ती। परवर्ती कवियों ने, यदि कभी कृष्ण-सखाओं के प्रेम का चित्रण किया है तो केवल सामूहिक रूप में ही किया है। इन समस्त सखाओं को गौड़ीय वैष्णवों के अनुसार अवस्थानुसार तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है—कृष्ण से बड़े जो बलराम के सदृश उनके प्रति अनुकंपा मिश्रित स्नेह रखते हैं, कृष्ण से छोटे जो सूरदास के **रैता, पैता, मना, मनसुखा** की भाँति कृष्ण के स्नेहभाजन हैं तथा कृष्ण के समानवय, समान शील-व्यसन सखा जो उनकी मधुर लीला में भी बहुत दूर तक उनके साथ रहते हैं और उनके साथ क्रीड़ा-सुख का भी थोड़ा-बहुत लाभ उठाते हैं। अष्टछाप के प्रसिद्ध कवि इन्हीं सखाओं के भाव से कृष्ण-लीला का वर्णन करते बताए गए हैं। उन्हें अष्टसखा कहकर भी सम्मानित किया गया है। गोपियों को मुग्ध करके आर्य-पथ से विचलित कर देने वाली कृष्ण की मुरली उनके सखाओं को अत्यंत प्रिय है और वे उसके मोहक नाद-सौंदर्य के रहस्यपूर्ण आनंद के लिए निरंतर लालायित रहते हैं।

कृष्ण के सखाओं में **बलराम** का एक विशेष स्थान है। वास्तव में वे कृष्ण के सखा नहीं, अपितु उनके बड़े भाई तथा उनके अलौकिक व्यक्तित्व के एक अंश के प्रतीक हैं। कृष्ण के संहार और उद्धार के अतिप्राकृत कार्यों में वे उनकी सहायता करते हैं; उनके व्यक्तित्व में कठोरता और प्रखरता है तथा तमस का प्रतिनिधित्व करते हुए कृष्ण के अलौकिक व्यक्तित्व की पूर्ति करते हैं। अतः पुष्टिमार्गी भक्तों ने श्याम-बलराम की जोड़ी को अपने इष्टदेव के रूप में माना है। पुराणों की परंपरा के अनुसार सूरदास ने भी रौद्र रूप बलराम के सुरापान और उन्माद का उल्लेख किया है, पर उनके चरित्र की यह विशेषता कृष्णकाव्य की प्रकृति के अनुकूल नहीं है, अतः कवियों ने उसका अधिक विस्तार नहीं किया। वे केवल अवसर के अनुकूल कृष्ण के अलौकिक व्यक्तित्व की गूढ़ व्यंजना करते हुए पाए जाते हैं।

कृष्णकाव्य के अन्य पुरुष पात्रों में वसुदेव, अक्रूर, उद्धव, और सुदामा अनुकूल भाव से भक्ति करने वाले और कंस आदि प्रतिकूल भाव से निरंतर ध्यान करने वाले पात्र हैं। दोनों प्रकार के पात्र अपने-अपने भाव से कृष्ण-भक्त ही कहे गए हैं। **वसुदेव** देवकी के समान वात्सल्य भाव से प्रीति करते हैं, जिसमें कृष्ण के अलौकिक व्यक्तिव की स्पष्ट और असंदिग्ध प्रतीति के कारण दैन्य भाव का निश्चित पुट रहता है। **अक्रूर** कंस के कर्मचारी हैं, अतः उन्हें उसकी आज्ञा से कृष्ण को मथुरा लाना पड़ता है। व्रजवासियों के निकट अक्रूर का यह कार्य क्रूर है, अतः वे किंचित व्यंग्य और भर्त्स्ना के लक्ष्य बनाए गए हैं, तथापि अक्रूर हृदय से कृष्ण-भक्त हैं। सूरदास ने उनके प्रा भिक भाव-द्वन्द्व का संक्षिप्त, किन्तु मार्मिक चित्रण किया है। कृष्ण का सामीप्य और अंत में आतिथ्य पाकर उन्हें जो सौभाग्य मिला, वह भक्तों के लिए स्पृहणीय है। **सुदामा** के चरित्र में सूरदास तथा कुछ थोड़े से अन्य कवियों ने एक ग्रामीण दरिद्र ब्राह्मण की सरलता के सजीव चित्रग के द्वारा पर्याप्त व्यक्ति-वैचित्र्य ला दिया है। परंतु कृष्ण की अप्रत्याशित कृपा से विस्मय-विमुग्ध सुदामा का चरित्र हृदय के उतना निकट नहीं है जितना उनके क्रीड़ा-सहचर श्रीदामा आदि का। इसी कारण सुदामा का चरित्र कृष्ण-भक्त कवियों में अधिक लोकप्रिय नहीं हो सका।

कृष्ण के मित्रों में **उद्धव** का चरित्र महत्वपूर्ण है। 'भागवत' पर मूलतः आधारित होते हुए भी कृष्ण-काव्य के उद्धव 'भागवत' से भिन्न हैं। सूरदास ने उनमें योग, ज्ञान और कर्म मार्गों के अनुयायी, निर्गुणोपासक, पांडित्याभिमानी, मर्यादावादी व्यक्तियों का सम्मिलित रूप अंकित

किया है। वे हठयोगियों, अलखवादियों, मायावादी वेदान्तियों, नैयायिकों और सांख्यवादियों का एक साथ प्रतिनिधित्व करते हैं। कृष्ण-भक्त कवियों को अनन्य भक्ति से भिन्न जहाँ कहीं किसी प्रतिस्पर्द्धी मार्ग का खण्डन अभीष्ट हुआ, वहाँ उन्होंने उसे उद्धव के मत्थे मढ़ दिया। फिर भी, सूरदास से आरंभ होकर कृष्णकाव्य के उद्धव में कुछ ऐसी व्यक्तिगत विशेषताओं की परंपरा चली जिनके कारण उनका विलक्षण व्यक्तित्व सरलता से पहचाना जा सकता है। भक्ति से भिन्न अनेक वादों और मार्गों का उनके ऊपर आरोप होते हुए भी वे भी वास्तव में कृष्ण-भक्त ही हैं। वे सरल-मति, अतः किसी अंश में मूर्ख चित्रित किए गए हैं। सूरदास ने उन्हें 'भुरंग' और 'निपट जोगी जंग' कहकर व्यंग्य किया है। वे प्रारंभ से नीरस और कठोर बताए गए हैं, किंतु गोपियों के प्रगाढ़ भक्ति-भाव का परिचय पाकर उनके हृदय की सरल स्निग्धता, कोमलता और आर्द्रता उभर आई और इस प्रकार बुद्धि और तर्क पर भाव की, मस्तिष्क पर हृदय की विजय प्रमाणित हुई।

कंस कृष्णकाव्य का किसी अंश में प्रतिनायक कहा जा सकता है। व्रज में उसका घोर आतंक है, कृष्ण के द्वारा कंस के भेजे हुए एक के बाद दूसरे छद्मवेशधारी असुरों का संहार देखकर भी व्रजवासी निरंतर भयभीत रहते हैं। उसके स्वभाव की सबसे बड़ी विशेषता क्रूरता बताई गई है। पर वास्तव में उसकी क्रूरता के मूल में भय और आशंका ही है। आत्मरक्षा की भावना के कारण ही वह इतना कठोर और दुर्मति है, यों प्रकृति से कृष्णकाव्य के अन्य पात्रों की भाँति वह भी सरल-मति और विचारहीन है। विशेष स्थिति में उसकी सरलता मूढ़ता और अविचार बन जाती है।

कृष्ण-भक्त कवि स्वभाव से ही ग्राम्य सरलता के पोषक हैं तथा उन्हें नागर ऐश्वर्य एवं राजसी वैभव से विरक्ति है। अतः उन्होंने न तो कृष्ण के शौर्य, वीर्य और पराक्रम का गौरवशाली रूप में चित्रण किया और न उनके प्रतिपक्षी कंस को वह आदर दिया, जिसका किसी महा-काव्य की रचना में उसे अधिकारी समझा जा सकता था। सूरदास तथा संपूर्ण कृष्णकाव्य का कंस भय, आशंका और चिंता की मानो सजीव मूर्ति है और इन्हीं भावों के माध्यम से निरंतर कृष्ण का ध्यान करते रहने के कारण वह उद्धार और निर्वाण का अधिकारी हो जाता है।

कंस के संहार और उद्धार में कृष्ण की जिस कृपा का चित्रण हुआ है, वही कंस के सहयोगी **पूतना, कागासुर, शकटासुर, तृणावर्त, वत्सासुर, बकासुर, अघासुर, धेनुकासुर, प्रलंबासुर, केशी, भौमासुर** आदि के वध और उद्धार में प्रकट हुई है। **मुष्टिक, चाणूर** और **कुवलयापीड़** को भी यही सद्गति प्राप्त होती है तथा **जरासंध, शिशुपाल, कालयवन** आदि भी वैर भाव से भजन करके भवसागर तर जाते हैं। कृष्ण-भक्त कवियों ने इन परिपंथी भक्तों के संदर्भ अत्यंत संक्षेप में, केवल कृष्ण-कृपा के दृष्टांत देने के लिए ही दिए हैं, काव्य में उन्हें विशेष स्थान नहीं मिला।

पात्रों की प्रतीकात्मकता

इस प्रकार कृष्ण-भक्त कवियों ने कृष्ण-कथा के एक विशिष्ट अंश को चुनकर, तत्संबंधी पौराणिक और लोक-विख्यात पात्रों में न्यूनाधिक मात्रा में व्यक्ति-वैचित्र्य रखते हुए, उनके द्वारा कुछ विशेष भावों का प्रतिनिधित्व कराया है। यह बात सभी पात्रों में समान है कि वे कृष्ण का

निरंतर ध्यान करते रहते हैं, अतः उनके चरित्र भक्ति-भाव के अंतर्गत प्रतीकात्मक जैसे हो गए हैं। वे भाव-विशेष से आविष्ट तथा अन्य भावों से सर्वथा अछूते चित्रित किए गए हैं। स्वयं श्रीकृष्ण मूलतः वीतराग और भावातीत होते हुए भी भाव-मात्र के आलंबन बताए गए हैं। वे भक्त के भावानुकूल होकर ही उसे प्राप्त होते हैं। उनकी सर्वभावानुगामिता के अंतर्गत न केवल अनुकूल, वरन प्रतिकूल भाव भी आ जाते हैं, वे अपने वैरियों को भी तार देते हैं। भाव की गहनता और तल्लीनता की दृष्टि से माधुर्य भाव का कृष्णकाव्य में सबसे अधिक विस्तार है। राधा उसकी उच्चतम प्रतीक हैं और माधुर्य भाव की श्रेष्ठता इस बात से भी व्यंजित है कि वे श्रीकृष्ण से अभिन्न, उन्हीं के आनंद रूप, परम पुरुष रूप की पूरक, उन्हीं की ह्लादिनी शक्ति हैं। माधुर्य भाव से प्रेम करने वाली गोपियाँ भी, प्रायः कृष्ण से अभिन्न, उन्हीं के आनंदरूप, अलौकिक व्यक्तित्व की अंश कही गई हैं। सूरदास ने 'वामनपुराण' की साक्षी देकर गोपियों को श्रुति की ऋचाएँ कहा है। श्रीकृष्ण ने उन्हें अपने आनंदमय, निर्गुणरहित, निज रूप का परिचय देने के लिए नित्य वृन्दावन का एक दृश्य दिखाया और भविष्य में गोपिका बनकर उस लीला में भाग लेने का वरदान दिया। किंतु वास्तव में जिस प्रकार श्रुति की ऋचाएँ ब्रह्म से भिन्न नहीं, उसी प्रकार गोपियाँ भी कृष्ण से अभिन्न हैं। लीला के लिए ही श्रीकृष्ण उन्हें पृथक करते हैं। प्रायः श्रीकृष्ण को परमात्मा और गोपियों को जीवात्मा भी कहा गया है। वे निरंतर प्रेम भाव से प्रेरित होकर परमात्मा के परम आनंदरूप में लीन होने के लिए व्याकुल रहती हैं।

वह नित्य वृन्दावन भी जहाँ सदैव वसन्त रहता है और जहाँ हर्ष और उल्लास की कोई सीमा नहीं, स्वयं श्रीकृष्ण के आनंद रूप व्यक्तित्व का ही मूर्त प्रकाशनमात्र है। इस प्रकार हिंदी कृष्ण-भक्ति काव्य में कृष्णाख्यान को एक अपूर्व सूक्ष्मता प्रदान कर दी गई है।

किंतु संपूर्ण कृष्ण-कथा और उसके पात्रों की आध्यात्मिक रूपक की भाँति व्याख्या कर सकना संभव नहीं है, क्योंकि उसका आधार लोकविश्रुत, पौराणिक है तथा उसके उपकरण इन्द्रियग्राह्य हैं। यह स्पष्ट है कि माखन-चोरी, चीर-हरण, दानलीला, रासलीला आदि के समस्त पार्थिव उपकरणों की आध्यात्मिक प्रतीकों के रूप में व्याख्या नहीं की जा सकती, परन्तु इन लीलाओं के वर्णन में स्थान-स्थान पर प्रचुर संकेत मिलते हैं जो उन्हें पार्थिव धरातल से उठाकर आध्यात्मिक स्तर पर पहुँचा देते हैं। मोटे तौर पर, इन लीलाओं के माध्यम से गोपियों के उस प्रेम का विकास दिखाया गया है जो प्रेम-भक्ति का सर्वोच्च आदर्श है। उसे लौकिक प्रेम का इतिहास मानने की भूल करके प्रायः आलोचकगण उस पर लौकिक मर्यादा के मानदंडों का आरोप करने लगते हैं। कृष्णकाव्य में ओतप्रोत ऐहिक और ऐंद्रिय वातावरण जो लौकिक दृष्टि से कहीं-कहीं नग्न और अश्लील तक जान पड़ता है, अपनी सूक्ष्म संकेतात्मकता और प्रतीकात्मकता में ही भक्ति-काव्य और धार्मिक काव्य कहा जा सकता है। भक्त कवियों को यही अभीष्ट है तथा इसी में उसकी सार्थकता है। इस प्रकार कृष्णकाव्य में एक प्रकार की रहस्यात्मकता है जो अत्यन्त सूक्ष्म और केवल मात्र व्यंजना की वस्तु है।

भाव और कला

कृष्ण-भक्ति में परम तत्व को ही जब सौन्दर्य, प्रेम और आनंद—एक शब्द में रस का परम

रूप माना गया है, तब यह स्वाभाविक है कि उसकी अभिव्यक्ति में कवियों को भाव की वह स्थिति अभिप्रेत हो जिसकी परिणति **काव्य** के रस में होती है। काव्य का रस **ब्रह्मानन्द** का सहोदर कहा गया है, परन्तु भक्ति-काव्य स्वतः **ब्रह्मानन्द** को उपलब्ध करने की आकांक्षा करता है। काव्यशास्त्र के आचार्यों ने रस को अखण्ड, अविभाज्य कहा है, विविध भाव—स्थायी और संचारी—उसके उपाय मात्र हैं। लौकिक काव्य में रस की यह अखण्डता प्रायः भुला दी जाती है और हम स्थायी भावों के आधार पर रस के भेद करने लगते हैं। भक्ति-काव्य इस भाव-भेद पर आधारित विभाजन को स्वीकार नहीं करता। उसका रस एक और अखण्ड है। यदि उसे कोई नाम देना चाहें तो भक्ति रस कह सकते हैं। यदि इस ढंग से न सोच कर हम उसमें से शान्त, शृंगार, वीर आदि के उदाहरण संकलित करने लगें तो पद-पद पर कहना पड़ेगा कि अमुक स्थल पर रस का पूर्ण परिपाक नहीं हो पाया, क्योंकि कवि ने भाव की अनुभूति पर अमुक शर्त लगाकर उसकी परिपूर्णता खण्डित कर दी। परिपूर्ण रस-निष्पत्ति के भी जो उदाहरण दिए जाएँगे उनमें भी सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर रसाभास ही अधिक मिलेगा। विभिन्न स्थायी भावों के आधार पर विभाजन करके रस के अलग-अलग उदाहरण देने के स्थान पर भक्ति-काव्य के विवेचन में, रस का अंगांगि संबंध अधिक सहायक हो सकता है।

भक्ति रस संपूर्ण भक्ति-काव्य का अंगी रस है। इसका स्थायी भाव भगवत-प्रेम है। काव्यशास्त्र की पद्धति पर इसकी व्याख्या केवल गौडीय संप्रदाय के ग्रन्थों, 'उज्ज्वलनीलमणि' और 'भक्तिरसामृतसिन्धु' में हुई है जिसका उल्लेख हम कृष्ण-भक्ति के संबंध में पीछे कर चुके हैं। परन्तु जब इसका निरूपण उपलब्ध काव्य के विश्लेषण-विवेचन के आधार पर किया जाय, तभी भक्ति-काव्य और विशेष रूप से कृष्ण-भक्ति काव्य के भाव-पक्ष की वास्तविक व्याख्या संभव है। यहाँ पर हम केवल उसकी स्थूल रूपरेखा देने का प्रयत्न कर सकते हैं।

कृष्णकाव्य का स्थायी भाव भगवत-रति, लौकिक काव्य के रति भाव से बहुत भिन्न, एक प्रकार से उसका प्रतिपक्षी है। संसार के प्रति घोर वैराग्य की भावना उसमें निरंतर निहित रहती है। परन्तु काव्यशास्त्र में जिसे **निर्वेद** स्थायी पर आधारित **शान्त** रस कहा गया है उसमें भक्ति-काव्य के असीम भाव-लोक का एक अंश भी नहीं समा सकता। यह सच है कि सभी भक्त कवि संसार को त्यागकर और कम से कम मानसिक संन्यास का संकल्प लेकर अपनी साधना में प्रवृत्त हुए थे। समय-समय पर उन्होंने सांसारिक जीवन के प्रति अपनी घोर उदासीनता ही नहीं, सक्रिय घृणा भी व्यक्त की है। उदाहरण के लिए सूरदास ने ही 'जा दिन मन पंछी उड़ि जैहैं' जैसे पदों में सांसारिक जीवन की जैसी विगर्हणा की है, वह निर्वेद भाव के सर्वोत्कृष्ट उदाहरणों में गिनी जा सकती है। परन्तु वस्तुतः यह उनकी कृष्ण-भक्ति की पृष्ठभूमि मात्र है, संपूर्ण भक्ति-काव्य में उसके अन्तर्भाव की उपेक्षा नहीं की जा सकती। कृष्ण-भक्ति के महान कवियों में सूर और मीरां ने यत्र-तत्र निर्वेद का प्रत्यक्ष चित्रण किया है, कुछ अन्य कवियों ने भी संसार, माया, भ्रम, अविद्या, अज्ञान, अंधकार आदि नामों से अभिहित करते हुए मनुष्य की ऐन्द्रिय वृत्तियों की निन्दा की है। सांसारिक जीवन के प्रति वैराग्य जगाना ही उनका लक्ष्य है। परन्तु अधिकांश कृष्ण-भक्ति काव्य में उसे प्रत्यक्ष रूप से महत्व नहीं दिया गया।

भगवत-रति में वैराग्य की भाँति **दैन्य** की भावना भी अनिवार्य रूप से निहित रहती है।

यद्यपि लौकिक प्रेम में भी तीव्र भावानुभूति की स्थिति में, विशेष कर वियोग दशा में, दैन्य भाव अनिवार्यतः व्यक्त होता है और इस दृष्टि से वह लौकिक काव्य की रति का भी एक महत्वपूर्ण संचारी है, परन्तु भक्ति-काव्य में उसकी महत्ता कहीं अधिक है। मोटे ढंग से सोचने पर लौकिक रति और भगवत-रति में बड़ा अन्तर यही है कि इसमें प्रेम के आलंबन और आश्रय में महान और लघु, पूर्ण और अपूर्ण, अंशी और अंश का वास्तविक अन्तर है। परन्तु प्रत्यक्ष रूप में इस भाव का प्रकाशन कुछ ही कृष्ण-भक्त कवियों ने किया है। सूरदास के विनय और साधारण भक्ति-भाव संबंधी पदों तथा मीरां के कुछ पदों में पुनः इसके उत्तम उदाहरण देखे जा सकते हैं। इन पदों में दैन्य भाव इस तीव्रता और एकात्मकता के साथ व्यक्त हुआ है कि यदि हम उसे स्थायी भाव कहें तो अनुचित न होगा, क्योंकि उसमें आलंबन, उद्दीपन, संचारी तथा अनुभाव—रस-निष्पत्ति के सभी उपकरण अपेक्षित रूप में दिखाए जा सकते हैं।

परन्तु कृष्ण-भक्त कवि भगवत-रति के इस मूलभूत भाव मात्र से सन्तुष्ट नहीं होते। सच तो यह है कि यह उनका प्रकृत भाव है भी नहीं, क्योंकि जहाँ श्रीकृष्ण या राधा-कृष्ण के प्रति उनकी भावना स्पंदित और क्रियाशील होने लगती है, वहाँ तुरन्त उनका ध्यान प्रेम के ममत्व के नाते अपने इष्टदेव की महत्ता और गौरव से हटकर—हटकर ही नहीं, उसका प्रेमपूर्ण तिरस्कार करके—प्रेम के किसी ऐसे भाव में लीन होने लगता है जिसमें उन्हें कहीं अधिक आत्मीयता और निकटता मिलती है। इसीलिए गौडीय वैष्णवों ने भक्ति रस के विवेचन में निर्वेद और दैन्य स्थायी—शान्त और दास्य रति—को कृष्ण-भक्ति के अनुकूल नहीं माना है। हिन्दी कृष्ण-भक्ति काव्य में भी दैन्य स्थायी की अपेक्षा संचारी के रूप में ही अधिक आया है, यद्यपि उसके संचारित्व में एक विशेष प्रकार की निरंतरता है।

दैन्य भाव संकोचनशील है, उसमें हृदय को पूर्णरूप से खोलकर व्यक्त करने का अवसर नहीं मिल सकता; उसमें तीव्रता हो सकती है, जैसी कि सूर, तुलसी और मीरां में है, परन्तु भाव-विस्तार की उसमें अत्यन्त सीमित संभावनाएँ हैं। इसके अतिरिक्त सौन्दर्य और आनन्द की राशि, रसरूप श्रीकृष्ण के साथ उसकी पूर्ण संगति भी नहीं बैठती। अतः कृष्ण-भक्ति काव्य रति के उन भावों को अपनाता है जो मन और इन्द्रियों की सहज वृत्ति पर आधारित हैं, वासनामूलक हैं और हमारे संपूर्ण भाव-लोक को स्पंदित और आलोकित करने में समर्थ हैं।

चरित्र-चित्रण और पात्रों के विवेचन में इन भावों की यथेष्ट व्याख्या हो चुकी है। क्योंकि कृष्ण-कथा के सभी पात्र **वात्सल्य, सख्य** अथवा **माधुर्य** के ही प्रतीक हैं; अतः भाव-चित्रण की दृष्टि से यहाँ यही लक्ष्य करना आवश्यक है कि भक्ति-रति के इन तीनों भावों में पृथक पृथक परिपूर्णता और एकात्मकता है। काव्य के स्थायी भाव की उनमें संपूर्ण योग्यता है। यही नहीं, काव्य-शास्त्र की ही दृष्टि से देखें, तो भी कवियों ने इन भावों को रस-निष्पत्ति के लिए अभूतपूर्व और अनुपम प्रमाणित किया है। यहाँ यह स्मरण दिलाना आवश्यक है कि **वात्सल्य** के क्षेत्र में सूर का स्थान अद्वितीय है; वात्सल्य के चित्रण में जितने विविध प्रसंगों और उनके संदर्भ में उठने वाले विविध संचारियों की उद्भावना सूर ने की है, उसे देखकर उनकी कोमल संवेदना तथा मौलिक कल्पना-शक्ति पर आश्चर्य होता है। वात्सल्य के चित्रण में ही नहीं, **सख्य** के चित्रण में भी सूर की मौलिकता अद्वितीय है। यों तो सख्य भाव निम्बार्क, चैतन्य और सखी भाव के रूप में राधा-

वल्लभी और सखी संप्रदायों में भी मान्य रहा है, परन्तु काव्य के स्तर पर सूरदास, परमानन्ददास तथा वल्लभ-मत के कुछ अन्य कवियों ने उसका जैसा मनोविज्ञानसम्मत चित्रण किया है, वह अप्रतिम है। उसे भी वात्सल्य की भाँति विभाव, अनुभाव और संचारी से संपुष्ट, रस-निष्पत्ति में समर्थ, स्थायी भाव माना जा सकता है। इस भाव के चित्रण में भी सूरदास ने ही सबसे अधिक प्रसंगों की उद्भावना की है।

वात्सल्य और सख्य भावों का ऐसा गहन और विस्तृत चित्रण इन भक्त कवियों की काव्य को एक नई देन है, परन्तु उस क्षेत्र में भी, जिसे काव्य का सर्वाधिक लोकप्रिय क्षेत्र कहा जा सकता है और जिसमें कृष्णकाव्य ने सदैव अपनी विशेषता प्रदर्शित की है, हिन्दी कृष्ण-भक्ति-काव्य काव्य के सर्वोत्कृष्ट प्रतिमानों को निर्धारित करने में अपना अद्वितीय महत्व रखता है। कहना नहीं होगा कि वह क्षेत्र लौकिक काव्य की परिभाषा में **शृंगार** और भक्ति-काव्य के सन्दर्भ में **माधुर्य रति** का है। आलंबन की अलौकिक विलक्षणता तथा अनुभूति की असामान्य तीव्रता ए ं लोकातीत उदात्तता की दृष्टि से माधुर्य रति लौकिक शृंगार से नितांत भिन्न है। यह बात केवल माधुर्य ही नहीं, भक्ति के सभी भावों के विषय में कही जा सकती है कि रूप, ंग, रेखा आदि में सर्वांशतया लौकिक-जैसे होते हुए भी वे उनसे उसी प्रकार विपरीत हैं जिस प्रकार अधोमुख रूप-आकारों के प्रतिबिम्ब ऊर्ध्वमुख, अतः विपरीत दिखाई देते हैं। परन्तु माधुर्य के संबध में यह बात स्मरण रखना अत्यंत आवश्यक है, क्योंकि उसी के विषय में बराबर भ्रम और आशंका उठती रहती है।

माधुर्य भाव अथवा कांता रति का ऐसा कोई पक्ष नहीं है जो सूरदास की दृष्टि से बच गया हो। मुग्धा किशोरियों के मन में प्रेम की यह भावना जिसे वे नाम और आकार भी नहीं दे पातीं जिस समय छिप-छिप कर झांकना और झांक-झांक कर छिपना प्रारंभ करती हैं, सूरदास ने वहीं से अपनी अद्वितीय व्यंजनापूर्ण भाषा में माधुर्य को रूपायित करने की सफल चेष्टा की है। उस सूक्ष्म सूत्र को कैसी सफलता के साथ वे नए-नए प्रसंगों की अवतारणा करते हुए विकसित और पल्लवित करते गए हैं तथा उन्होंने कैसी भाव-शबलता के साथ उसे प्रगल्भ प्रेम की गंभीर, संपूर्ण आत्मसमर्पणमयी, आत्मविस्मृतिपूर्ण स्थिति तक पहुँचाया है, उसे देखकर कहना पड़ता है कि यही कवि-कर्म की सीमा है। प्रेम-विकास की मनोविज्ञानसम्मत इतनी अधिक सूक्ष्म स्थितियाँ सूर के माधुर्य-चित्रण में मिलती हैं कि उनके वर्णन के लिए शब्द नहीं जुट सकते। निश्चय ही, सूरदास ने काव्य की प्राचीन परंपरा तथा उसके शास्त्रीय विवेचन से भरपूर लाभ उठाया है। वे काव्यशास्त्र में पूर्णतया निष्णात और उसके उपजीव्य में आचूल मग्न रह चुके होंगे। परन्तु उनके प्रयत्न में परंपरा-पोषण और अनुकरण अत्यन्त उपेक्षणीय मात्रा में दिखाई देता है। मनुष्य के भावलोक का उन्हें इतना सूक्ष्म परिचय था कि उनके द्वारा चित्रित भावों को शास्त्रोक्त ३३ की संख्या में तो क्या, मनोविज्ञान में प्रयुक्त पारिभाषिक नामों के भीतर समेटना संभव नहीं जान पड़ता।

रति के विवेचन में सुविधा की दृष्टि से उसके संयोग और वियोग, दो पक्षों को प्रायः पृथक-पृथक करके देखा जाता है। कृष्णकाव्य में भी ये दोनों पक्ष न केवल माधुर्य, अपितु वात्सल्य और सख्य के प्रयोगों में भी प्रायः स्पष्ट रूप में अलग-अलग देखे जा सकते हैं। परन्तु वियोग की

भावना इतनी सूक्ष्म और विविध है कि उसे संयोग से पूर्णतया अलग कर सकना असंभव है। जब सूरदास नेत्रों की विकलता संबंधी असंख्य पदों में नई नई उठान के साथ कहते हैं कि श्रीकृष्ण को देखते हुए भी कोई देख नहीं सकता, क्योंकि उनकी रूपराशि अपार है अथवा मिलन के क्षणों में भी उन्हें संयोग की पूर्ण प्रतीति नहीं होती, तब प्रेम की उस भावानुभूति का आभास मिलता है जिसमें संयोग और वियोग का अन्तर कर सकना कठिन है। हित हरिवंश ने इस सूक्ष्मता को बड़े कौशल से परखा था। जिस प्रकार सूरदास मिलन में भी वियोग का आभास देते गए हैं, उसी प्रकार मीरां ने वियोग में सूक्ष्म मिलन के रहस्य-संकेत किए हैं। सब मिलाकर कृष्ण-भक्ति काव्य का वियोग पक्ष ही उत्कृष्टतर कहा जाएगा। काव्य की दृष्टि से भी वह उसकी महत्ता का एक प्रमाण है।

भक्ति-काव्य में **प्रकृति-चित्रण** के अभाव की प्रायः आलोचना की जाती है। कृष्ण-काव्य में प्रकृति का प्रयोग पूर्णरूपेण भावाधीन है। चाहे उसे भाव की पृष्ठभूमि के रूप में प्रयुक्त किया गया हो, चाहे उद्दीपन के रूप में, उसका कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है, उसकी प्रियता और अप्रियता सर्वांश में भावाश्रित है। अलंकारों के अप्रस्तुत विधान में भी प्रकृति का प्रयोग इसी प्रकार का है, क्योंकि अलंकार स्वतः भावाश्रित हैं। परन्तु यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि प्रकृति के समस्त मनोरम और अनुकूल तथा कुछ भयानक और प्रतिकूल दृश्यों के अंकन में कृष्ण-भक्त कवियों ने सूक्ष्म पर्यवेक्षण और कुशल चित्रांकन की अपेक्षित प्रतिभा का प्रमाण दिया है। दृश्यमान जगत का कोई भी सौन्दर्य उनकी आँखों से छूट नहीं सका। पृथ्वी, अन्तरिक्ष, आकाश, जलाशय, वन-प्रान्त, यमुना-कूल, तथा कुंज-भवन की संपूर्ण शोभा इन कवियों ने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में निःशेष कर दी है। मानव-हृदय के अमूर्त सौन्दर्य-चित्रण, अर्थात रस-निरूपण में भी कृष्ण-भक्त कवियों की भावना और कल्पना जिन मधुमती वीथियों में विचरण करती है उनमें से अनेक ऐसी हैं जिनका पूर्ववर्ती कवियों को परिचय भी नहीं था। भावना के मनोरम प्रदेश का यह पर्यवेक्षण-अन्वेषण भी प्रकृति के आश्रय और माध्यम से ही हुआ है। साथ ही, इसमें कवियों के गंभीर और विस्तृत जीवन-अनुभव का भी भरपूर उपयोग हुआ है। इस क्षेत्र में पुनः सूरदास का ही स्मरण आता है जिनका काव्य उनके दीर्घकालीन जीवन के अत्यन्त व्यापक और गहन अनुभव तथा उनकी तीव्र और विवेकपूर्ण अन्तर्दृष्टि का परिचायक है।

यह भावप्रधान कृष्णकाव्य जिस **शैली** और **शिल्प-विधान** के माध्यम से व्यक्त हुआ है उसमें कलात्मक सौन्दर्य भी कम नहीं है। अकेले 'सूरसागर' में ही वर्ण्य विषय और भावानुभूति के आधार पर कई शैलियाँ मिलती हैं, जिनमें भाषा, अलंकार, छन्द आदि की स्पष्ट विभिन्नता कवि की गहरी संवेदना के साथ कला-मर्मज्ञता का परिचय देती है। जहाँ एक ओर वर्णनात्मक प्रसंगों में विषय के अनुरूप, सरल, ग्रामीण अथवा धार्मिक पदावली में वाच्यार्थ ही प्रधान है, वहाँ दूसरी ओर गंभीर भाव-चित्रण में, विशेष रूप से विरह के प्रसंग में, लाक्षणिकता की भरमार है तथा अत्यन्त सरल और ठेठ शब्दों में भी ऐसी गूढ़ और मार्मिक व्यंजनाएँ की गई हैं कि कवि की अनुभूति की गंभीरता तथा उसके भाषाधिकार पर आश्चर्य होता है। एक ओर कवि रूप-चित्रण में समासयुक्त तत्सम पदावली पर अद्भुत अधिकार प्रदर्शित करता है और साथ ही अपनी तीव्र कल्पना एवं सूक्ष्म निरीक्षण की शक्ति से संसार का वस्तु, वर्ण और स्वर का समस्त

सौन्दर्य बटोर कर एकत्र कर देता है; दूसरी ओर, उदाहरणार्थ केवल नेत्रों की विकलता के ही चित्रण के लिए, उसके उपमानों का अक्षय भंडार समाप्त होने लगता है और वह अति अल्प शब्दों में अपार भाव-संकलन का परिचय दे जाता है। रूप-सौन्दर्य के लिए तो उपमान भी हैं, पर स्वर-सौन्दर्य शब्द-बंधन में ही नहीं आता। कभी-कभी स्पष्ट शब्दों में, किन्तु गूढ़ व्यंजना के द्वारा, कवि बार-बार बताता है कि विषय वर्णनातीत है, उसे वाणी में व्यक्त करना सागर को सीपी में भरने के समान है। शब्द-शक्ति, अलंकार, काव्य-गुण आदि से सूर का काव्य इतना संपन्न है कि जो रमणीय अर्थ—अलंकार, वक्रोक्ति, अतिशयोक्ति अथवा गुणों—को काव्य में प्रधानता देते हैं वे भी यहाँ से निराश नहीं लौट सकते।

किन्तु काव्य के ये समस्त प्रसाधन हैं सदैव ही भाव के अधीन और भाव से अभिन्न; वस्तुतः उन्हें प्रसाधन कहा भी नहीं जा सकता, क्योंकि सजाने की प्रवृत्ति उनमें प्रायः नहीं है। इस संबंध में सूरदास के दृष्टिकूट पद अपवादस्वरूप कहे जा सकते हैं, जिनमें सिद्धों की 'संधा भाषा' और कबीर की उलटबाँसियों की तरह कुतूहल उत्पन्न करने की प्रवृत्ति पाई जाती है। परंतु यहाँ भी, यदि हम ध्यान से देखें, तो विदित होगा कि विषय की गूढ़ता और गोपनीयता के कारण ही कवि ने प्रायः रूपकातिशयोक्ति अलंकारमूलक दृष्टिकूट रचे हैं।

सूरदास के समकालीन और परवर्ती कवियों में सूर में निर्दिष्ट उपर्युक्त विशेषताओं में से कुछ न कुछ अवश्य पाई जाती हैं, यद्यपि उनका सम्मिलित रूप किसी में नहीं मिलता और न उनकी जैसी भाव और शैली की एकरूपता ही प्राप्त होती है। उनके समकालीन हित हरिवंश और परमानंददास में काव्य-कला और भाव-गरिमा सूर की कोटि की है, यद्यपि उनका काव्य उतना प्रचुर और व्यापक नहीं है। इन कवियों के कुछ पद 'सूरसागर' में भी संभवतः मिल गए हैं और सूर-काव्य से एकाकार हो गए हैं। नन्ददास अपने शब्द-शिल्प और शैली-चमत्कार के ही कारण 'जड़िया' कहे जाते हैं। अनुप्रास, यमक, ध्वन्यार्थ-व्यंजना आदि के द्वारा उन्होंने अपनी सरस, मधुर, कोमल-कांत पदावली में अतीव आकर्षण भरा है। सूर के काव्य की पद-मैत्री का सफल अनुकरण करके उसे उन्होंने चरम उत्कर्ष प्रदान किया है। हित हरिवंश और हरिराम व्यास में भी भाषा-शैली का अद्भुत सौष्ठव और चमत्कार है। ये दोनों कवि संस्कृत भाषा के भी विद्वान थे, अतः उनके शब्द-प्रयोग में तत्सम पदावली का अत्यन्त माधुर्यपूर्ण प्रयोग हुआ है। रचना का परिमाण अधिक न होते हुए भी हित हरिवंश व्रजभाषा के सर्वोत्कृष्ट कवियों में गिने जाने योग्य हैं।

कृष्ण-भक्ति के अन्य कवियों की कलात्मक विशेषताओं की व्यक्तिगत समीक्षा संभव नहीं है, किंतु यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि उनके द्वारा भाषा की मधुरता, अर्थ-व्यंजकता और काव्योपयुक्त चित्रण-शक्ति की अतीव वृद्धि हुई है। उन्होंने भाव, भाषा, अलंकार, उक्ति-वैचित्र्य, छंद-योजना, संगीतात्मकता आदि की ऐसी अनूठी संपत्ति अपने बाद की पीढ़ियों के लिए इकट्ठी की जिसके अंशमात्र को लेकर कितने ही महान कवि बन गए। परवर्ती रीतिकाल का समस्त कवि-चातुर्य, नखशिख-वर्णन, अलंकार-योजना, नायिका-भेद, ऋतु-वर्णन, सूक्ति-सौष्ठव—सभी कुछ कृष्ण-भक्ति काव्य की देन है, अन्तर केवल यही है कि जहाँ भक्ति काव्य में ये विषय भावाश्रित हैं, वहाँ रीतिकाल में उन्हीं की प्रधानता है। कृष्णकाव्य के

कला-पक्ष की विशेषताएँ व्रजभाषा-कवियों की अविरल परंपरा में आधुनिक काल तक चली आई हैं।

भाषा

इस काव्य के द्वारा व्रजभाषा ने हिन्दी की बोलियों में सर्वोच्च स्थान प्राप्त करके उस परंपरागत उत्तरदायित्व का वहन किया जिसे मध्यदेश की भाषाएँ—संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश—प्राचीन काल से वहन करती आई थीं। काव्य-भाषा के रूप में वह विस्तृत हिन्दी प्रदेश में, राजस्थान से बिहार और हिमाचल प्रदेश से महाकोसल तक तो स्वीकृत हुई ही, उसके बाहर पश्चिम में गुजरात और पूर्व में बंगाल तक उसका प्रचार हुआ। भक्त कवियों ने उसका साहित्यिक संस्कार करके उसे जनपदी बोली के पद से उठा कर वह व्यापकता प्रदान की कि उसमें अन्य जनपदी बोलियों के रूप भी सम्मिलत होने लगे। परन्तु इस संबंध में यह स्वीकार करना पड़ेगा कि भाषा के परिमार्जन, रूप-निर्धारण, स्थिरीकरण और व्याकरण-व्यवस्था की ओर न तो कृष्ण-भक्त कवियों ने ध्यान दिया और न उनके परवर्ती रीतिकालीन कवियों ने। व्रजभाषा के अच्छे से अच्छे कवियों में शब्दों की तोड़-मोड़, अर्थ-भेद, अप्रयुक्त प्रयोग, ग्राम्य प्रयोग आदि चिन्त्य प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं। इस संबंध में कवियों ने अपने विशेषाधिकार का अतिशय प्रयोग किया है। समस्त मध्ययुग के साहित्य की यह भी बहुत बड़ी त्रुटि है कि उसमें गद्य नहीं लिखा गया। कृष्ण-भक्ति साहित्य में भक्तों की वार्ताओं और कुछ असमर्थ, शिथिल गद्य में लिखी टीकाओं को इसका अपवाद ही समझना चाहिए। पुष्टिमार्ग और राधावल्लभी संप्रदाय के वार्ता-साहित्य से अवश्य सूचित होता है कि व्रजभाषा में गद्य के प्रांजल, परिमार्जित और साहित्यिक रूप का विकास हो सकता था। परन्तु भावावेश के उस युग में गद्य लिखने की ओर किसी समर्थ कवि का ध्यान ही नहीं था।

कृष्ण-भक्ति काव्य को ही यह श्रेय दिया जा सकता है कि साहित्यिक, परिनिष्ठित रूप प्राप्त करके व्रजभाषा व्यवहार में समूचे उत्तर भारत की साहत्यिक राष्ट्रभाषा बन गई। वैष्णव मन्दिरों में दैनिक व्यवहार की भाषा के रूप में उसका प्रचार गुजरात तक होने लगा तथा उसके प्रभाव से बंगाल में वैष्णव पदों की एक नवीन शैली 'व्रजबुलि' विकसित हो गई। फिर भी, भविष्य उसके हाथ में नहीं था, क्योंकि उसका प्रयोग धार्मिक सन्दर्भ में सीमित था। भविष्य में राजनीति को प्रमुखता मिलने वाली थी।

कृष्ण-भक्त कवि—जीवन और रचनाएँ

कृष्ण-भक्ति काव्य की समीक्षा भक्त-कवियों के जीवन की एक झाँकी दिए बिना अपूर्ण रहेगी, क्योंकि यह काव्य वस्तुतः उनके व्यक्तित्व की ही अभव्यक्ति है। किन्तु खेद है कि जिन कवियों ने प्रेम-भक्ति और रसानन्द की ऐसी दिव्य स्रोतस्विनी प्रवाहित की थीं, उनके पार्थिव जीवन के विषय में बहुत कम प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध हो सकी है। भक्त-वार्ताओं, किंवदंतियों और अनुश्रुतियों के रूप में जो कुछ इतिवृत्त एकत्र किया जा सकता है, आधुनिक ऐतिहासिक विवेचन की दृष्टि से उसकी यथार्थता अत्यन्त अपुष्ट और संदिग्ध है। फिर भी, उससे इन कवियों के भाव-पक्ष को समझने में यथेष्ट सहायता मिलती है।

हिन्दी कृष्ण-भक्ति काव्य को सबसे अधिक प्रेरणा महाप्रभु वल्लभाचार्य, उनके उत्तराधिकारियों और उनके भक्ति-संप्रदाय, पुष्टिमार्ग-से मिली थी। इस काव्य-धारा के आदि कवि महात्मा सूरदास अष्टछाप के कवि तथा अन्य अनेक प्रसिद्ध कृष्ण-भक्त कवि इस संप्रदाय से संबद्ध थे। अतः भक्त कवियों के परिचय के पूर्व इस संप्रदाय तथा उसके प्रमुख व्यक्तियों का सामान्य परिचय अप्रासंगिक न होगा, यद्यपि हिन्दी कृष्णकाव्य में प्रत्यक्षतः उन्होंने कोई योगदान नहीं किया।

वल्लभाचार्य एक दाक्षिणात्य तैलंग ब्राह्मण लक्ष्मण भट्ट के पुत्र थे। उनका जन्म सन १४७८ ई० (वैशाख कृष्ण ११, सं० १५३५ वि०) में आधुनिक मध्य प्रदेश के चंपारण्य में हुआ था। उनके पिता शीघ्र ही दिवंगत हो गए थे, परन्तु उनकी माता भी अत्यन्त विदुषी और बुद्धिमती थीं। उन्हींके संरक्षण में वल्लभाचार्य ने अपने प्रा भिक जीवन में असाधारण प्रगति की। १३ वर्ष की अवस्था तक काशी में रहकर उन्होंने पुराण, शास्त्र आदि का अध्ययन कर लिया। उसके बाद वे समस्त देश की यात्रा करने को निकल पड़े और शंकराचार्य की भाँति उन्होंने दिग्विजय किया तथा अपने शुद्धाद्वैतवाद का प्रतिपादन किया। सन १४९२ ई० (सं० १५४९ वि०) में वे सब से पहले ब्रज में आए। उसी समय श्रीनाथजी की मूर्ति का प्राकट्य हुआ था। वल्लभाचार्य ने उन्हें गोवर्धन के एक छोटे मन्दिर में स्थापित किया। अंबाले के एक सेठ पूरनमल के अर्थदान से १४९९ ई० (सं० १५५९ वि०) में बड़े मन्दिर की नींव डाली गई। आचार्यजी का स्थायी निवास प्रयाग के समीप अरैल नामक स्थान में था। २८ वर्ष की अवस्था में काशी में जाकर उन्होंने अपना विवाह किया। १५०९ ई० (सं० १५६६ वि०) में श्रीनाथजी की मूर्ति नवीन मन्दिर में प्रतिष्ठित की गई। जगन्नाथ-यात्रा में वल्लभाचार्यजी की चैतन्यदेव से भी भेंट हुई थी। सन १५३० ई० (सं० १५८७ वि०) में काशी में उनका गोलोकवास हुआ।

कहते हैं, वल्लभाचार्य जी ने ८४ ग्रन्थों की रचना की थी। परन्तु संप्रदाय में केवल ३० ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। इनमें ब्रह्मसूत्रों का 'अणुभाष्य' तथा 'श्रीमद्भागवत' की टीका 'श्रीसुबोधिनी' अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं।

आचार्य वल्लभ के बाद उनके उत्तराधिकारी, उनके ज्येष्ठ पुत्र गोपीनाथ ने प्रधानतया गुजरात में पुष्टिमार्ग का प्रचार किया। किन्तु उनका देहान्त शीघ्र ही हो गया, अतः उनके छोटे भाई **विट्ठलनाथ** (जन्म सन १५१५ ई०=सं० १५७२ वि०) सन १५३८ ई० (सं० १५९५ वि०) में संप्रदाय के आचार्य पद पर आसीन हुए। उनकी बाल्यावस्था अरैल में ही व्यतीत हुई थी, किन्तु सन १५६६ ई० (सं० १६२३ वि०) में वे ब्रज में आ बसे तथा सन १५७१ ई० (सं० १६२८ वि०) से स्थायी रूप से गोकुल में ही रहने लगे। सन १५६६ ई० (सं० १६२३ वि०) में उन्हें सम्राट अकबर की ओर से एक आज्ञापत्र (फरमान) प्राप्त हुआ जिसके अनुसार गोकुल की भूमि उन्हें माफी में मिल गई। इसके बाद भी गोकुल के गुसाइयों को निर्भयतापूर्वक बसने और गउएँ चराने तथा उनके इलाके में गाय, मोर आदि की हत्या के निषेधसूचक कई अधिकार-पत्र मिले। धर्म-प्रचार के लिए उन्होंने भी दो बार गुजरात की यात्रा की। सन १५८५ ई० (सं० १६४२ वि०) में उनका गोलोकवास हुआ।

गोस्वामी विट्ठलनाथ ने अपने पिता के कई ग्रन्थों पर टीकाएँ लिखीं तथा कुछ स्वतंत्र

ग्रन्थों का भी प्रणयन किया। उनकी 'अणुभाष्य' तथा 'श्रीसुबोधिनी' की टीकाएँ तथा 'विद्वन्मंडन,' 'भक्तनिर्णय,' 'शृंगाररसमंडन' आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। परन्तु सांप्रदायिक संगठन और व्यवस्थित प्रचार करने में उनका कृतित्व कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। श्रीनाथजी के मन्दिर में 'सेवा' की निश्चित व्यवस्था तथा वार्षिक व्रतोत्सवों की परंपरा स्थापित करके उन्होंने संप्रदाय के प्रचार के साथ साहित्य, संगीत, प्रसाधन आदि कलाओं की उन्नति में अभूतपूर्व योग दिया। उन्होंने ही अपने पिता के चार—कुंभनदास, सूरदास, परमानंददास और कृष्णदास तथा स्वयं अपने चार—चतुर्भुजदास, गोविन्दस्वामी, छीतस्वामी और नंददास नामक शिष्यों को चुनकर **अष्टछाप** नाम से प्रतिष्ठित किया। भक्ति-भावना की उच्चता के कारण ये कवि-प्रतिभासंपन्न आठ भक्त श्रीनाथजी के **अष्टसखा** नाम से भी प्रसिद्ध हैं।

गोस्वामी विट्ठलनाथ के सात पुत्र थे। सबसे बड़े पुत्र **गिरिधरजी** मुख्य आचार्य हुए। परन्तु गोस्वामीजी ने सातों पुत्रों को श्रीकृष्ण के सात भिन्न-भिन्न स्वरूप (मूर्तियाँ) बाँटकर तथा अपनी संपत्ति का विभाजन करके पारिवारिक समस्या के साथ-साथ संप्रदाय के व्यापक प्रचार की अत्यन्त बुद्धिमत्तापूर्ण व्यवस्था कर ली थी।

गोस्वामी गोकुलनाथ (सन १५५१–१६४० ई०=सं० १६०८–१६९७ वि०) विट्ठलनाथ के चौथे पुत्र थे। महाप्रभु वल्लभाचार्य के चौरासी तथा गोस्वामी विट्ठलनाथ के दो सौ बावन शिष्यों की वार्ताएँ प्रसिद्ध हैं। संभवतः भक्तों की वार्ताएँ जो मौखिक रूप में गोस्वामी गोकुलनाथ के द्वारा सुनाई गई थीं, आगे चलकर परिवर्धित करके लिख ली गईं और उन्हींके नाम से प्रसिद्ध कर दी गईं।

वल्लभ-कुल में गोस्वामी गोकुलनाथ के बाद **गोस्वामी हरिराय** (सन १५९०–१७१५ ई०=सं० १६४७–१७७२ वि०) अधिक प्रसिद्ध हुए। उन्होंने संस्कृत के अतिरिक्त ब्रजभाषा तथा गुजराती में भी टीका तथा स्वतंत्र ग्रन्थों का प्रणयन करके सांप्रदायिक भक्ति के प्रचार में स्मरणीय योग दिया। 'चौरासी' तथा 'दो सौ बावन वैष्णवन' की वार्ताओं पर भी उन्होंने 'भावप्रकाश' नाम से टीकाएँ लिखीं तथा वार्ता साहित्य में अपूर्व संवृद्धि की। जब औरंगजेब के भय से श्रीनाथजी की मूर्ति गोवर्धन से उदयपुर राज्य ले जाई गई, तब गोस्वामी हरिराय भी उसके साथ थे।

इसी वल्लभ-कुल से **सूरदास** का संबंध है जिनके जीवन-वृत्त के जो कुछ भी विवरण प्रमाण-कोटि में स्वीकृत हुए हैं, 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता,' संभवतः गोस्वामी हरिराय द्वारा उसके परिवर्धित रूप और 'भावप्रकाश' नामक भावना (टीका) तथा कुछ अन्य पुष्टिमार्गीय साहित्य, वार्ताओं और अनुश्रुतियों पर आधारित है।

संप्रदाय में प्रसिद्ध है कि सूरदास वल्लभाचार्य से दस दिन छोटे थे। इसे प्रमाण मानकर सूरदास की जन्म-तिथि वैशाख शुक्ल ५, सं० १५३५ वि० (सन १४७८ ई०) ठहरती है। प्रधान रूप से गोस्वामी हरिराय की साक्षी के आधार पर कहा जाता है कि वे सीही ग्राम में किसी निर्धन सारस्वत ब्राह्मण के यहाँ पैदा हुए थे, छः वर्ष की अवस्था से ही सगुन बताने लगे थे और तभी से विरक्त होकर एक तालाब के किनारे रहने लगे थे। माया से घिर जाने के कारण वे वहाँ से भी हट गए और आगरा-मथुरा के बीच गऊघाट पर यमुना के तट पर कुटी बनाकर

रहने लगे थे। यहाँ उनके अनेक सेवक हो गए थे और वे 'स्वामी' नाम से विख्यात हो गए थे। यहीं पर संभवतः तीसरी व्रज-यात्रा के समय महाप्रभु वल्लभाचार्य ने उनसे भेंट की और उन्हें संप्रदाय में दीक्षित किया। यह घटना 'वल्लभदिग्विजय' नामक पुस्तक के आधार पर सन १५१० ई० (सं० १५६७ वि०) की अनुमान की गई है।

सूरदास नाम के अनेक भक्त और गायक हो गए हैं और उन सबके जीवन की जनश्रुतियाँ मिलजुल कर एक हो गई हैं। किसी सुन्दरी पर मुग्ध होने और उसी से आँखें फुड़वाने तथा अंध कूप में गिरने और स्वयं श्रीकृष्ण द्वारा उद्धार पाने की घटनाएँ जो सूरदास के विषय में प्रसिद्ध हैं, अष्टछापी सूरदास से ही संबद्ध हैं, यह कम से कम वार्ता की साक्षी से प्रमाणित नहीं होता। परन्तु इसमें किसे सन्देह हो सकता है कि श्रीकृष्ण ने ही उन्हें अंध भवकूप से निकाल कर दिव्य दृष्टि प्रदान की थी। .

सूरदास के नाम से अनेक पुस्तकें प्रसिद्ध हैं, परन्तु उनमें से अधिकांश 'सूरसागर' के ही अंश हैं, शेष अप्रामाणिक हैं। 'सूरसागर' के अतिरिक्त 'सूरसागरसारावली' तथा 'साहित्यलहरी' को भी उनके नाम से प्रसिद्धि मिली है। परन्तु उनके अद्भुत व्यक्तित्व का घनिष्ठ परिचय तो हमें उनकी अमर कृति 'सूरसागर' से ही मिलता है, जिसके नवीनतम संस्करण में ५००० के लगभग पद संकलित मिलते हैं। परन्तु 'सूरसागर' के वैज्ञानिक संपादन की समस्या अब भी ज्यों की त्यों शेष है।

दैन्य सूर की प्रकृति का एक स्थायी अंग था, उनकी प्रारंभिक भक्ति दैन्य प्रधान ही थी। महाप्रभु वल्लभाचार्य के अनुग्रह से जब उन्हें भगवान की लीला का ज्ञान हुआ तब उनकी सुप्त सौन्दर्य-वृत्ति जाग उठी और कृष्ण-लीला-गान के रूप में उनके हृदय से आनन्द का स्रोत उमड़ने लगा; इसके बाद उनका दैन्य भाव एक अनुपम वक्रता और ओजस्विता से समन्वित हो गया। वैराग्य भी सूर के स्वभाव का एक अंग था और, यद्यपि उन्होंने अपने काव्य के दिव्य पात्रों में उत्कट आसक्ति के ऐसे वर्णन किए हैं जो किसी ऐसे व्यक्ति द्वारा नहीं हो सकते जिसे लौकिक जीवन का घनिष्ठ परिचय न हो, फिर भी उनके जीवन की एक भी घटना ऐसी नहीं सुनाई देती, जिससे उनके विरक्त स्वभाव की पुष्टि न होती हो। 'वार्ता' के अनुसार अत्यन्त आदर और सम्मान पाने पर भी सूर ने सम्राट अकबर का यश गाने से इनकार कर दिया था और गोस्वामी हरिराय ने लिखा है कि अतुल धन-संपत्ति लुटा देने की अकांक्षा रखने वाले 'देशाधिपति' से उन्होंने यही माँगा था कि मुझसे फिर कभी मिलने की चेष्टा न करना।

सूर ने किसी लौकिक विषय पर पद नहीं गाए, यहाँ तक कि अपने गुरु के संबंध में भी पद नहीं रचे। केवल भक्तों के अनुरोध से अपने अंतिम समय में एक पद में उन्होंने अपनी दृढ़ गुरु-भक्ति प्रकट की और बताया कि गुरु और इष्टदेव में वे कोई अन्तर नहीं देखते। कृष्ण का यशोगान वल्लभ का ही यशोगान है। 'वार्ता' से संकेत मिलता है कि संभवतः उनके गूढ़, गंभीर स्वभाव को समसामयिक भक्त उतना नहीं समझ सके थे जितना बाद में जाना जा सका; फिर भी महाप्रभु वल्लभ और गोस्वामी विट्ठलनाथ उनकी महत्ता जानते थे। सूर वास्तव में पुष्टि-मार्ग के 'जहाज' सिद्ध हुए। उनका काव्य भक्ति रस का अगाध सागर है। अन्त समय में उन्होंने बताया था कि गोपीभाव की भक्ति में ही पुष्टिमार्ग के रस का अनुभव होता है तथा उसमें वेद-

विधि का नियम नहीं होता। स्वयं उस समय सूरदास की चित्तवृत्ति राधा के ध्यान में रमी थी और उनके अंधे नेत्र उस विकलता का अनुभव कर रहे थे जो स्वयं राधा को रति-सुख की आनन्दानुभूति के बाद क्षणिक वियोग के समय अनुभव होती है। इसी भाव में मग्न होकर सूर ने युगल-लीला में प्रवेश किया था।

सूरदास को पुष्टिमार्ग में दीक्षित करके आचार्य वल्लभ ने वस्तुतः अपने संप्रदाय का सबसे अधिक उपकार किया। सांप्रदायिक प्रचारकों की यह बहुत बड़ी सूझ-बूझ थी कि उन्होंने काव्य और संगीत की सहायता से कृष्ण-भक्ति को लोकप्रिय बनाने के लिए कवियों और गायकों को वह सम्मान प्रदान किया जो अकबर जैसा कला-प्रेमी सम्राट भी नहीं दे सका था। 'वार्ता' से सिद्ध है कि सूरदास का गोलोकवास गोस्वामी विट्ठलनाथ के गोलोकवास (सन १५८५ ई० = सं० १५४२ वि०) के पहले हो गया था। उनकी निधन-तिथि सन १५८०.ई० (सं० १६३७ वि०) के आसपास मानी जा सकती है।

जिस प्रकार सूरदास पुष्टिमार्ग में दीक्षित होने के पूर्व अनेक सेवकों के स्वामी और संभ्रांत साधु थे, उसी प्रकार कन्नौज के ब्राह्मण परिवार में उत्पन्न **परमानंद** (अनुमानतः १४९३–१५८३ ई० = सं० १५५०–१६४० वि०) दीक्षा के पूर्व ही एक उच्च कोटि के कवीश्वर, संगीतकार, और कीर्तनकार प्रसिद्ध हो चुके थे। उनके भी शिष्यों और सेवकों का समाज बृहत था जो उन्हें 'स्वामी' कहते थे तथा उनका सारा समय हरि-कीर्तन में ही बीतता था। वैराग्य उनके स्वभाव का अभिन्न अंग था। इसी कारण उन्होंने विवाह करने और धन कमाने से इनकार करके माता-पिता तक के असंतोष की चिंता नहीं की थी। परमानंद स्वामी के विरह भाव के कीर्तनों की ख्याति ने महाप्रभु वल्लभाचार्य तक को आकृष्ट कर लिया था। वल्लभाचार्य ने उन्हें संप्रदाय में दीक्षित करके 'स्वामी' से 'दास' बनाया और बाल-लीला का अनुभव कराया। कृष्ण-भक्त कवियों में सूरदास के बाद बाल-लीला का चित्रण परमानंददास ने ही सफलता से किया है। किन्तु विरह रस ही उन्हें सबसे अधिक प्रिय था। उनके विरह के एक पद को सुनकर स्वयं आचार्य जी तीन दिन तक ध्यानावस्थित रहे थे। सूरदास की भाँति परमानंददास ने भी कृष्ण की बाल, पौगंड और किशोर, सभी लीलाओं का वर्णन किया है। उनके पदों में दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य, चारों भाव पाए जाते हैं। कृष्ण-लीला के अगणित पद रचने के कारण सूरदास की भाँति उनके पद भी 'सागर' नाम से प्रसिद्ध हैं। गोलोकवास के समय परमानंददास का मन भी युगल-लीला में मग्न था और उन्होंने गाया था——

> राधे बैठी तिलक सँभारति।
> मृगनैनी कुसुमायुध कर धरि नंदसुवन को रूप विचारति। आदि

अष्टछाप के कवियों में महाप्रभु की दीक्षा सबसे पहले **कुंभनदास** (अनुमानतः १४६८–१५८२ ई० = सं० १५२५–१६३९ वि०) को मिली थी। ये गोवर्धन पर्वत के निकट ही एक गाँव के रहने वाले ठेठ व्रजवासी किसान थे। जाति के ये गोरवा क्षत्रिय थे और स्त्री, सात पुत्रों, सात पुत्र-वधुओं और एक विधवा भतीजी के लंबे परिवार का भरण-पोषण केवल खेती करके करते थे। किन्तु जीवन भर अर्थ-संकट में रहते हुए भी कुंभनदास के मन में अपार त्याग, परम

संतोष और पूर्ण स्वावलंवन का भाव था। उन्होंने राजा मानसिंह की सोने की आरसी, हजार मोहरों की थैली और जमुनावतो गाँव की माफी को अस्वीकार कर दिया था। 'भक्तन को कहा सीकरी सों काम' वाला इतिहास-प्रसिद्ध पद इन्हीं का है। कुंभनदास को निकुंज-लीला का इष्ट था और मरते समय उनका मन 'लाल' की उसी चितवन में अटका हुआ था जो गोपियों के चित्त चुराती है तथा उनके अन्तःकरण में 'कनकवेलि वृषभानुनंदिनी स्याम तमाल चढ़ी' की मूर्ति समाई हुई थी।

अष्टछाप के कवियों में **कृष्णदास अधिकारी** (अनुमानतः १४९५–१५७५ ई० = सं० १५५२–१६३२ वि०) का व्यक्तित्व और चरित्र अत्यन्त विलक्षण है। शूद्र जाति के होते हुए भी इनकी कार्य-कुशलता पर मुग्ध हो कर आचार्य वल्लभ ने इन्हें श्रीनाथ जी के मन्दिर का 'भेंटिया' बनाया था। श्रीनाथ जी के मन्दिर पर बंगालियों का अत्यधिक प्रभुत्व देख कर कृष्णदास ने उन्हें बड़ी कूटनीतिज्ञता और कठोरता से बलपूर्वक निकाला था। कठोरता के साथ इनके स्वभाव में रसिकता भी बहुत थी। कृष्णदास अधिकारी ने अपने अधिकार का प्रयोग करके कुछ दिनों तक मन्दिर में गोस्वामीजी की सेवा तक बंद कर दी थी। कृष्णदास के जीवन का अन्त भी इनकी भक्ति की महत्ता का सूचक नहीं है। किसी वैष्णव के कुआँ बनाने के निमित्त दिए दान में से सौ रुपये छिपाकर गाड़ देने के कारण ये उसी कुएँ में गिरकर प्रेत हो गए थे। प्रेत-योनि से उन्हें तभी छुटकारा मिला जब छिपा हुआ रुपया निकालकर अधूरा कुआँ पूरा किया गया। किन्तु इनके जीवन की ऐसी भी घटनाएँ प्रसिद्ध हैं जिनसे इनके अद्भुत त्याग और निष्ठा का परिचय मिलता है। बाल्य-काल में ही इन्होंने अपने पिता की चोरी का अपराध खोलकर पिता के लिए दंड और अपने लिए निष्कासन अर्जित किया था। मीरांबाई की ग्यारह मोहरों की भेंट इन्होंने इसलिये अस्वीकार कर दी थी कि वे अन्यमार्गीय थीं। एक बार इन्होंने भीषण ज्वर की अवस्था में अन्यमार्गीय वैष्णव ब्राह्मण का जल अस्वीकार करके पुष्टिमार्गीय भंगी का जल ग्रहण किया था। व्यवहारकुशलता तथा सिद्धान्तप्रियता के साथ-साथ कृष्णदास में कवित्व-गुण और सैद्धान्तिक ज्ञान भी कम नहीं था। कविता में वे सूरदास से होड़ करते थे और पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तों के लिए बड़े-बड़े भक्त उनके उपदेश सुनने के इच्छुक रहते थे।

अष्टछाप के अन्य चार कवियों में, जो गुसाईं विट्ठलनाथ के शिष्य थे, **नंददास** (अनुमा-मानतः १५३३–१५८६ ई० = १५९०–१६४३ वि०) का नाम सर्वप्रमुख है। ये जाति के ब्राह्मण और संस्कृत के अच्छे पंडित थे। नंददास के संप्रदाय-प्रवेश की घटना से सूचित होता है कि किस प्रकार लौकिक प्रेम ही भक्ति में परिणत करके उदात्त बनाया जा सकता है। यदि इनमें सौन्दर्य पर मुग्ध होने की प्रवृत्ति न होती तो कृष्ण की उत्कट भक्ति संभव नहीं थी। इनका किसी खत्रानी के रूप पर मुग्ध होना तथा रूपमंजरी नामक अकबर की बाँदी से मैत्री-संबंध रखना इनके रसिक स्वभाव का प्रमाण है तथा भक्त-हृदय की राग-वृत्ति का सूचक है। नंददास की रचनाएँ उनके प्रखर पांडित्य, अनुपम भाषाधिकार और भावुक भक्ति की द्योतक हैं।

अपने पिता कुंभनदास की भाँति **चतुर्भुजदास** (अनुमानतः १५२७–१५८५ ई० = सं० १५८४–१६४२ वि०) भी गृहस्थ-जीवन बिताते हुए श्रीनाथजी की सेवा में संलग्न रहते थे। भक्ति और कविता, दोनों उन्हें उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त हुई थीं तथा जन्म के समय

ही उन्हें संप्रदाय-प्रवेश का सौभाग्य मिल गया था। कहते हैं कि गोस्वामी विट्ठलनाथ के साथ ही इन्होंने भी देह छोड़कर नित्यलीला में प्रवेश किया था।

इन्हीं की तरह दूसरे भक्त कवि **गोविन्दस्वामी** के विषय में भी कहा जाता है कि उन्होंने विट्ठलनाथजी की मृत्यु का समाचार सुनकर गोवर्धन की कन्दरा में प्रवेश करके देह छोड़ दी थी। गोविन्द स्वामी (अनुमानतः १५०४–१५८५ ई० = सं० १५६१–१६४२ वि०) सनाढ्य ब्राह्मण थे और संप्रदाय में दीक्षित होने के पहले से ही कवीश्वर थे तथा पद बना कर गाया करते थे। संभवतः इसी कारण इनके बहुत से सेवक भी थे जो इन्हें स्वामी मानते थे। इनके सरस पदों को सुनकर विट्ठलनाथ भी बहुत प्रसन्न होते थे। इसी कारण एक बार गोविन्दस्वामी गोस्वामी जी से भेंट करने गए तो इतने अधिक प्रभावित हुए कि उनसे दीक्षा लेकर अपना 'स्वामीपन' त्याग कर पक्के 'दास' बन गए। इनका स्वभाव अत्यन्त विनोदप्रिय था। श्रीनाथजी के साथ ये उद्धत, उच्छृंखल, किन्तु प्रेमी सखा की भाँति क्रीड़ा-कौतुक करते रहते थे। परिवार के साथ रहते हुए भी ये विरक्त थे। इनका चित्त एकान्त भाव से श्रीनाथ जी में ही लगा हुआ था। इनकी संगीत-निपुणता इस बात से सिद्ध होती है कि प्रसिद्ध गायनाचार्य तानसेन इनसे संगीत सीखता था। कहते हैं, स्वयं अकबर वेश बदल कर इनका गान सुनने आया था और जब इनके एक पद पर उसने वाह-वाह की तो वह पद उन्होंने कभी नहीं गाया, क्योंकि वह 'जूठा' हो गया था।

अन्तिम कवि **छीतस्वामी** (अनुमानतः १५१०–१५८५ ई० = सं० १५६७–१६४२ वि०) मथुरा के चौबे थे। प्रारंभ में ये लंपट तथा कुटिल स्वभाव के व्यक्ति थे, किंतु गोस्वामी विट्ठलनाथ के सत्संग और शिक्षाओं ने उन्हें परम भक्त बना दिया। वे संभवतः निरन्तर गृहस्थ बने रहे तथा संसार के माया-मोह को छोड़ नहीं सके। फिर भी उन्हें श्रीनाथजी की अनन्य भक्ति प्राप्त हुई और उन्होंने वल्लभ-संप्रदाय की सेवा-प्रणाली के निर्माण में अपने गुरु की बहुत सहायता की। कवित्व के अतिरिक्त छीतस्वामी संगीत में भी निपुण थे। उनके भी पद सुनने के लिए अकबर वेश बदल कर आता था। जनश्रुति के अनुसार चतुर्भजदास और गोविन्ददास की तरह छीतस्वामी ने भी अपने गुरु, गुसाईं जी के निधन का शोक-समाचार सुनकर प्राण त्यागे थे। इससे इनकी भक्ति की गूढ़ता प्रकट होती है।

अष्टछाप के कवियों के अतिरिक्त वल्लभ-कुल के **रसखान** कवि का नाम कृष्ण-भक्त कवियों में आदर के साथ लिया जाता है। जाति के मुसलमान और प्रारंभ में अत्यन्त गर्हित प्रेम-वासना में लिप्त होते हुए भी इन्हें कृष्ण की अनन्य भक्ति का प्राप्त होना यह सूचित करता है कि किस प्रकार भगवान कृष्ण पतितों के उद्धारक और पापियों के तारक हैं।

पुष्टिमार्गीय भक्तों के चरित्रों से स्पष्ट है कि उनमें राधा-कृष्ण की युगल प्रेमलीला का महत्व कम नहीं था। किन्तु कृष्ण-भक्ति के अन्य समसामयिक संप्रदायों में यह प्रवृत्ति अधिक पाई जाती है। इनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण राधावल्लभी संप्रदाय है। इसके संस्थापक **गोस्वामी हित हरिवंश** (सन १५०२–१५५२ ई० = सं० १५५९–१६०९ वि०) स्वयं एक रस-सिद्ध कवि होने के साथ वल्लभाचार्य, विट्ठलनाथ और सूरदास की भाँति हिन्दी कृष्ण-भक्ति साहित्य के अन्यतम प्रेरणा-स्रोत थे। इनके पिता श्रीव्यास मिश्र देववन (वर्तमान सहारनपुर जिले के देवबन्द) के एक वैभवसंपन्न सम्मानित गौड़ ब्राह्मण थे। जब वे अपनी पत्नी ताराराणी के साथ

ब्रज-यात्रा कर रहे थे, तभी मथुरा के पास बादगाँव में हरिवंश का जन्म हुआ। हरिवंश के शैशव काल के अनेक चमत्कार जनश्रुतियों में प्रसिद्ध हैं।

बंगाली वैष्णवों की साक्षी के आधार पर प्रसिद्ध रहा है कि हरिवंश मध्वाचार्य के अनुयायी गोपाल भट्ट के शिष्य थे। परन्तु राधावल्लभी संप्रदाय के विद्वानों ने इस कथन की अप्रामाणिकता सिद्ध की है तथा इस जनश्रुति को प्रामाण्य ठहराया है कि श्रीराधा से ही इन्होंने स्वप्न में दीक्षा-मंत्र ग्रहण किया था, वे ही इनकी गुरु तथा इष्टदेवी थीं। उस समय इनकी अवस्था केवल पाँच वर्ष की थी।

हरिवंश का पहला विवाह सोलह वर्ष की अवस्था में हुआ। ३२ वर्ष की अवस्था होने पर, जब इनके माता-पिता का निकुंज-गमन हो चुका था, इन्होंने राधाकृष्ण की लीला-भूमि के लिए प्रस्थान किया। परन्तु इनकी पत्नी रुक्मिणी देवी अपने तीन पुत्रों और एक पुत्री के साथ देवबन्द में ही रह गई। मार्ग में श्रीराधा की प्रेरणा से चिरथावल गाँव में हरिवंश ने एक ब्राह्मण की दो कन्याओं—कृष्णदासी और मनोहरदासी—से विवाह किया।

सन १५३३ ई० (सं० १५९० वि०) में वृन्दावन पहुँचकर हरिवंश ने सेवाकुंज नामक स्थान पर राधावल्लभ के विग्रह की स्थापना की। सन १५८५ ई० (सं० १६४१ वि०) में अब्दुर्रहीम खानखाना के आदेश से दिल्ली के सुन्दरदास भटनागर ने राधावल्लभजी का लाल पत्थर का नया मन्दिर बनवा दिया, जहाँ से उनका विग्रह औरंगजेब के अत्याचार के भय से सन १६७१ ई० (सं० १७२६ वि०) में कामवन ले जाया गया। सन १७८५ ई० (सं० १८४२ वि०) वह पुनः राधावल्लभजी की मूर्ति वृन्दावन लाई गई और एक नवीन मन्दिर में प्रतिष्ठित की गई।

वृन्दावन आकर हरिवंश ने जिस प्रेम-भक्ति का रस प्रवाहित किया उसमें भैंगाँव निवासी नरवाहन जैसा अत्याचारी जमींदार निमग्न होकर परम भक्त बन गया। उसकी भक्ति-भावना से प्रसन्न होकर हरिवंशजी ने स्वरचित दो पद उसी के नाम से प्रसिद्ध कर दिए। गोस्वामी हरिवंश का व्यक्तित्व रूप, वाणी, शील, विद्या, कवित्व और भक्ति-भावना, सभी दृष्टियों से अत्यन्त आकर्षक और प्रभावशाली था। उनके ब्रजनिवास के बाद वहाँ के वातावरण में प्रेम-काव्य, संगीत और कलात्मक सौन्दर्य की अभूतपूर्व वृद्धि हुई। रासलीला की परंपरा को पुन-र्जीवित करने का श्रेय इन्हींको है।

गोस्वामी हरिवंश के नाम के पहले 'हित' शब्द उनका उपनाम मात्र नहीं, उनके द्वारा उद्घाटित परम तत्व 'हित' (प्रेमतत्व) का सूचक है। राधावल्लभी भक्त उन्हें अवतार मानते हैं। प्रसिद्ध है कि वे श्रीकृष्ण की बंशी के अवतार थे। हित हरिवंश ने यद्यपि हिन्दी में केवल ८४ पद (हितचौरासी) और २७ स्फुट पद रचे हैं, परन्तु इतनी अल्प रचना होते हुए भी वे उच्च कोटि के भक्त कवि माने जाते हैं। संस्कृत में भी 'राधासुधानिधि' तथा 'यमुनाष्टक' उनकी केवल दो रचनाएँ हैं। वास्तव में स्वयं सरस पद-रचना करके उत्तम आदर्श उपस्थित करने से भी अधिक हित हरिवंश का महत्व उस वातावरण के निर्माण में है जिससे प्रेरणा पाकर कितने ही भक्त और कवि बन गए।

संस्कृत के प्रसिद्ध शास्त्रार्थी विद्वान **हरिराम व्यास** (अनुमानतः सन १४९२-१५९३–९८ ई०=सं० १५४९–१६५०–५५ वि०) ओरछा के राजपुरोहित-परिवार के प्रतिष्ठित व्यक्ति

थे। गोस्वामी हित हरिवंश के प्रेमपूर्ण व्यक्तित्व का उन पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि वे सब कुछ छोड़कर वृन्दावन में ही राधावल्लभ की उपासना में लीन हो गए। भक्तों में वे विशाखा सखी के अवतार कहे जाते हैं। अतिथि-सत्कार, साधु-सेवा तथा भगवान के प्रसाद के प्रति असाधारण पूजा-भावना उनके व्यक्तित्व के विशेष गुण थे। जाति-पाँति, ऊँच-नीच आदि के भेद-भाव से वे सर्वथा ऊपर उठे हुए थे और इस संबंध में उनकी विचारधारा निर्गुणवादी संतों के समान थी। ७५८ पदों और १५८ दोहों की 'व्यासवाणी' सिद्धान्त और काव्य दोनों दृष्टियों से उच्च कोटि की रचना है। राधा-कृष्ण की निकुंज-लीला का उन्हें इष्ट था, जिसे जनश्रुति के अनुसार, वे सदैव देखते रहते थे। व्यासजी ने उसका अत्यन्त सरस काव्यमय वर्णन किया है। वे संगीत-शास्त्र में भी निष्णात थे। 'रागमाला' नाम के उन्होंने ६०४ दोहों में संगीत-शास्त्र का प्रतिपादन किया है। 'नवरत्न' और 'स्वधर्मपद्धति' नामक उनकी दो संस्कृत रचनाएँ भी कही जाती हैं।

राधावल्लभी संप्रदाय में 'हितचौरासी' के बाद व्याख्या तथा विस्तार की दृष्टि से और उससे भी अधिक सैद्धान्तिक दृष्टि से **दामोदरदास सेवक जी** (अनुमानतः सन १५२०–१५५३ ई० = सं० १५७७–१६१० वि०) की 'सेवकवाणी' का विशेष महत्व है। ये गोंडवाना प्रदेश (वर्तमान जबलपुर के निकट) में गढ़ा नामक गाँव के एक ब्राह्मण वंश में उत्पन्न हुए थे। बाल्यावस्था से रसिक स्वभाव के भक्त-हृदय होने के कारण वृन्दावन के कुछ राधावल्लभी भक्तों के सत्संग का इन पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि इन्होंने हित हरिवंश गोस्वामी से दीक्षा लेने का संकल्प कर लिया। कहते हैं कि इनके वृन्दावन पहुँचने के पहले ही हितजी का निकुंज-गमन हो गया, अतः स्वयं श्रीराधा ने इन्हें स्वप्न में दीक्षा दी थी। इनकी वाणी की इतनी ख्याति हुई कि जब ये वृन्दा-वन पहुँचे तो हितजी के बड़े पुत्र और संप्रदाय के आचार्य गोस्वामी वनचन्द्र ने हर्ष-विभोर होकर श्रीजी के मन्दिर का समस्त वैभव लुटाने का निश्चय कर लिया। परन्तु सेवकजी की प्रार्थना पर केवल प्रसादी का वितरण करके इनका स्वागत किया गया। वृन्दावन की रासलीला-भूमि में ही इन्होंने ध्यानावस्थित बैठे-बैठ निकुंज-गमन किया।

सेवकजी के मित्र और कुटुम्बी **स्वामी चतुर्भुजदास** (अनुमानतः सन १५२८–१६३३= सं० १५८५–१६९० वि०) ने गढ़ा से वृन्दावन आकर गोस्वामी वनचन्द्र से दीक्षा ली और अपने प्रदेश (वर्तमान मध्यप्रदेश) में राधावल्लभी संप्रदाय की कृष्ण-भक्ति का व्यापक प्रचार किया। एक चोर को परम साधु बना देने तथा पकी खेती के साधुओं द्वारा उजाड़ दिए जाने पर प्रसन्न होने की घटनाएँ इनके उच्च भगवदीय जीवन का संकेत देती हैं। इनका 'द्वादशयश' तथा इन्हीं के द्वारा लिखी उसकी संस्कृत टीका से इनकी धर्म-निष्ठा, प्रतिभा और विद्वत्ता प्रमाणित होती है।

राधावल्लभी भक्त कवियों में **ध्रुवदास** विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं। देववन के एक वैष्णव कायस्थ कुल म अनुमानतः सन १५६५ या १५७३ ई० (सं० १६२२ या १७३० वि०) में इनका जन्म हुआ था। इनके बाबा बीठलदास स्वयं श्रीहिताचार्य के शिष्य थे। ध्रुवदास के विषय में प्रसिद्ध है कि इन्होंने भी स्वयं श्रीहिताचार्य से स्वप्न में मंत्र लिया था। परन्तु मर्यादा-रक्षा के विचार से हितजी के पुत्र गोस्वामी गोपीनाथ को इन्होंने दीक्षागुरु बनाया। युगलकिशोर के नित्य रस का गान करने की अनुमति लेने के लिए इन्होंने गोविन्दघाट के रासमंडल में तीन दिन-रात श्रीराधा का अनवरत जप किया था और जब स्वयं श्रीराधा ने प्रसन्न होकर इन्हें अनुमति दे दी

तभी ये 'ब्यालीस लीला'—छोटे-बड़े ब्यालीस ग्रन्थों—के प्रणयन में प्रवृत्त हुए। अनुमानतः इनका निकुंज-गमन सन १६४३ ई० (सं० १७०० वि०) के आसपास हुआ।

इस संप्रदाय के परवर्ती कवियों में **चाचा हित वृन्दावनदास** (अनुमानतः सन १७००–१७८७ ई० = सं० १७५७–१८४४ वि०) और **श्री हठीजी** (रचना-काल सन १७८० ई० = सं० १७२३ वि०) अधिक प्रसिद्ध हुए हैं। वृन्दावनदास के जीवन के संबंध में बहुत कम विवरण ज्ञात हैं। इनकी जाति और निवास-स्थान के विषय में विभिन्न जनश्रुतियाँ प्रचलित हैं। गोस्वामी हितहरिलाल से दीक्षा लेकर वे वृन्दावन में निवास करते थे, यह तथ्य उनकी रचना से प्रकट होता है। 'चाचा' नाम से प्रसिद्ध होने का कारण यह है कि तत्कालीन गोस्वामी गुरु-भ्राता होने के कारण इन्हें चाचा कहते थे, अतः अन्य लोग भी इन्हें इसी संबोधन से पुकारने लगे। परिमाण में इनकी रचना विपुल है। प्रसिद्ध है कि इन्होंने छोटे-बड़े १५८ ग्रन्थों की रचना की थी जिनमें अनेक 'अष्टयाम', 'समय-प्रबन्ध', वेलियाँ तथा दो सागर—'लाड़सागर' और 'व्रजप्रेमानन्दसागर'—सम्मिलित हैं। साहित्यिक दृष्टि से इन रचनाओं का मूल्य अधिक नहीं है, परन्तु जनसाधारण में राधा-कृष्ण-भक्ति के प्रचार में इनका महत्वपूर्ण योग रहा है। इसके विपरीत श्रीहठीजी की रचनाओं का साहित्यिक महत्व अपेक्षाकृत अधिक है। इनके 'राधासुधाशतक' की, जिसमें ११ दोहे और १०३ कवित्त-सवैये हैं, यह विशेषता है कि उसमें काव्य-गुणों—भाषा-लालित्य और अलंकरण—की ओर सचेष्ट ध्यान दिया गया है।

कृष्ण-भक्ति काव्य के कलेवर में राधावल्लभी संप्रदाय ने कदाचित सर्वाधिक योग दिया। सोलहवीं शताब्दी के भावप्रवण वातावरण को निर्मित करने में हित हरिवंश, हरिराम व्यास, सेवकजी और चतुर्भजदास के अतिरिक्त **नेही नागरीदास** और **लालस्वामी** भी उल्लेख-योग्य हैं। श्री हिताचार्य के द्वितीय पुत्र **कृष्णचन्द्र गोस्वामी** के भी व्रजभाषा के लगभग पचास पद मिले कहे जाते हैं। परवर्ती कवियों में ध्रुवदास आदि उपर्युक्त कवियों के अतिरिक्त **श्री दामोदरदास, सहचरिसुख, कल्याणपुजारी, रसिकदास, हितअनूप, अनन्यअलि, कृष्णदास भावक, हित रूपलाल, चंद्रलाल गोस्वामी, प्रेमदास, लाड़िलीदास, आनंदीबाई, प्रियादास** आदि अनेक नाम गिनाए जा सकते हैं जिन्होंने मध्ययुगीन भक्ति का पावन संदेश आधुनिक युग तक पहुँचाया है।

राधावल्लभी साधना-पद्धति से मिलता-जुलता सखी या टट्टी संप्रदाय भी कृष्ण-भक्ति साहित्य के विकास में अन्यतम योग देता रहा है। इसके प्रवर्तक **गोस्वामी हरिदास** (रचना-काल सन १५४०–१५६० ई० = सं० १६००–१६२० वि० के लगभग) स्वयं एक अच्छे कवि और उससे भी अधिक अच्छे संगीतज्ञ थे। कहा जाता है कि प्रसिद्ध गायनाचार्य तानसेन इन्हीं के शिष्य थे। सम्राट अकबर के साधु वेश में आकर इनका गान सुनने की किंवदंती प्रसिद्ध है। 'केलिमाल' नामक रचना में इन्होंने नित्य विहार और नखशिख, मान, दान आदि का वर्णन किया है तथा 'सिद्धान्त के पद' में संप्रदाय की भक्ति का निरूपण किया है। इनके शिष्य **विट्ठविपुल** तथा प्रशिष्य **बिहारिनदेव** के भी कुछ फुटकर पद मिले हैं। बिहारिनदेव के शिष्य **नागरीदास** तथा **सरसदेव, नरहरिदेव, पीतांबरदेव, रसिकदेव** तथा **भगवतरसिक** (जन्म सन १७६८ ई० = सं० १७९५ वि० के लगभग) का नामोल्लेख किया जा सकता है।

बंगाल के चैतन्य महाप्रभु के अनुयायी भक्त कवियों में **गदाधर भट्ट** दक्षिणी ब्राह्मण और संस्कृत के अच्छे पंडित होते हुए भी हिन्दी में पद-रचना करते थे तथा **सूरदास मदनमोहन** अथवा **सूरध्वज** राज्य-कर्मचारी होते हुए भी बड़े मनमौजी और निस्पृह भक्त थे। किंवदंती है कि इन्होंने राज्यकोष का तेरह लाख रुपया साधु-सेवा में उड़ा कर उसके स्थान पर ईंट पत्थर भरकर भेज दिए थे और सम्राट अकबर के क्षमादान को ठुकरा कर कहला दिया था कि राज्य की आमदनी से वृन्दावन की गलियाँ झाड़ना हजार गुना अच्छा है। इस संप्रदाय के अन्य कवियों में **वल्लभ रसिक** और **माधवदास** का भी नाम उल्लेखनीय है।

निम्बार्क मतानुयायी भक्तों में **श्रीभट्टजी** (रचना-काल सन १५६८ ई० = सं० १६२५ वि०), उनके शिष्य **हरिव्यास** तथा उनके शिष्य **रूपरसिकदेव** तथा **तत्ववेत्तादेव** ने कृष्ण-भक्ति काव्य में योग दिया।

विशिष्ट संप्रदायों में दीक्षित भक्त कवियों के अतिरिक्त उन्मुक्त प्रेमभाव से कृष्ण-भक्ति में तल्लीन कवियों में **मीरांबाई** (जन्म सन १४९८ ई० = सं० १५५५ वि०) का नाम अग्रगण्य है। मीरांबाई की भक्ति की दृढ़ता और प्रेम की महत्ता की कहानियाँ पौराणिक सी हो गई हैं। भक्त-गण उन पर उसी प्रकार विश्वास करते हैं जिस प्रकार प्रह्लाद की कथा पर। कृष्ण-भक्त कवियों में मीरांबाई का स्थान अनूठा है, उनका जीवन ही वस्तुतः कृष्ण की माधुर्य भक्ति का जीवित उदाहरण है।

अब्दुर्रहीम खानखाना राज-दरबार में उच्च पदस्थ होते हुए भी बड़े मस्त और मनमौजी जीव थे। उनके नीतिसंबंधी दोहे तो उनके विस्तृत अनुभव को प्रकट करते ही हैं, उनके प्रेमप्रवण व्यक्तित्व की सूचना 'मदनाष्टक' और 'रासपंचाध्यायी' से मिलती है, यद्यपि ये रचनाएँ अल्पांश में ही प्राप्त हैं। **नरोत्तमदास** के 'सुदामाचरित' ने न केवल सुदामा के दैन्यपूर्ण व्यक्तित्व को अमर कर दिया, बल्कि उसके यशस्वी लेखक के भावुक हृदय से भी जनसाधारण को परिचित कराया है। रामकाव्य के अद्वितीय कवि **गोस्वामी तुलसीदास** ने भी 'कृष्णगीतावली' लिखकर कृष्णकाव्य की भावधारा का आदर किया है।

भारत के इतिहास में वह एक विलक्षण समय था जिसमें ऐसे सरल-विश्वासी, भावुकता की प्रतिमूर्ति और कल्पना के धनी व्यक्ति इतनी बड़ी संख्या में हुए कि उन्होंने अपनी वाणी के माधुर्य, लालित्य और संगीत से जन-जन के हृदय को सरस बना दिया और अनिर्वचनीय ब्रह्म को सौन्दर्य और आनंद की प्रतिमा में साकार करके लोक के अत्यन्त निकट ला दिया। किन्तु लोक-मन कल्पना की इस उच्चता और भव्यता को अधिक दिनों तक बनाए न रख सका। वासना का उदात्तीकरण और परिष्करण साधना का विषय है, कोरी कल्पना का नहीं। अतः, यद्यपि उन्नीसवीं शताब्दी तक कविता का विषय प्रायः वही रहा जो सोलहवीं शताब्दी में कृष्ण-भक्ति काव्य का था, पर उसकी आत्मा का रस सूख चुका था, बात की बात रह गई थी। फिर भी, कुछ ऐसे भावुक कवि हुए हैं जिन्होंने अपने लौकिक प्रेम के आलंबन को ही प्रेम-भक्ति के उन्मेष में परम आनन्दस्वरूप श्रीकृष्ण के रूप में देखा है। कविवर **घनानंद** (सन १६८९-१७३९ ई० = १७४६-१७९६ वि०) ऐसे ही कवि थे जिनकी गंभीर प्रेमानुभूति ने सुजान वेश्या और श्रीकृष्ण के अन्तर को मिटा दिया था। किन्तु परवर्ती काल में परंपरागत भक्त कवि भी हुए हैं। कृष्णगढ़ के महाराज सावंतसिंह

राजपाट छोड़कर वृन्दावन में आ बसे थे और **नागरीदास** (कविता-काल १७२५-१७६५ ई० = सं० १७८२-८१२२ वि०) के नाम से रचना करते थे। किंतु इनके साथ इनकी उपपत्नी **बनीठनी भी** रहती थीं जो स्वयं कविता रचती थीं और संभवतः नागरीदास को काव्य-प्रेरणा देती थीं। सखी भाव से कृष्ण-भक्ति करने वाले कवियों में अठारहवीं शताब्दी के **अलबेली अलि** और **बख्शी** हंसराज **प्रेमसखी** तथा उन्नीसवीं शताब्दी के शाह कुंदनलाल **ललितकिशोरी** और शाह फुंदनलाल **ललितमाधुरी** के नाम उल्लेख योग्य हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में **नारायणस्वामी** (देहांत १९०० ई० = सं० १९५७ वि०) नाम के एक भक्त कवि और हुए हैं जिन्होंने अपनी वृत्ति छोड़ कर संन्यास लिया और कृष्ण-भक्ति काव्य की रचना में प्रवृत्त हुए। हिन्दी साहित्य के आधुनिक युग के प्रवर्तक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की प्रेमानुभूति भी घनानंद जैसे कृष्ण-भक्तों की जैसी थी। वे वल्लभ-मतानुयायी थे।

इस प्रकार कृष्ण-भक्ति साहित्य की धारा क्षीण रूप में आधुनिक काल तक चली आई है। यह नहीं कहा जा सकता कि वह आधुनिक काल में समाप्त हो गई, किन्तु यह इस अध्याय का विषय नहीं है।

परिशिष्ट

१. कृष्ण-भक्ति साहित्य की सूची

१. अलबेली अलि—समयप्रबंधपदावली।

२. कीर्तनसंग्रह—प्र० ठाकुरदास सूरदास, बंबई।

३. कीर्तनसंग्रह—प्र० लल्लूभाई छगनभाई देसाई, अहमदाबाद।

४. कुंभनदास, कृष्णदास अधिकारी, चतुर्भुजदास, गोविंद स्वामी, छीतस्वामी—स्फुट पद (रागकल्पद्रुम, रागरत्नाकर तथा कीर्तन संग्रहों में), कुंभनदास—सं० **ब्रजभूषण शर्मा** आदि, राजस्थान विद्या विभाग, कांकरौली। गोविंदस्वामी—वही

५. गदाधर भट्ट—स्फुट पद।

६. गोस्वामी तुलसीदास—कृष्णगीतावली (तुलसी-ग्रंथावली—सं० रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी)।

७. गोस्वामी हरिदास—केलिमाल, सिद्धान्त के पद।

८. घनानंद—सुजानविनोद, सुजानहित, वियोगवेलि (घनानन्द ग्रन्थावली—सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, वाणीवितान, वाराणसी)।

९. चतुर्भुजदास—द्वादशयश।

१०. चाचा हित वृन्दावनदास—लाड़सागर (प्र०), ब्रजप्रेमानन्दसागर, वृन्दावन-जसप्रकास वेली, विवेकपत्रिका वेली (प्र०), कलिचरित्र वेली (प्र०), कृपाभिलाषा वेली (प्र०), रसिकपथचन्द्रिका (प्र०), जुगलसनेहपत्रिका (प्र०), हितहरिवंश सहस्रनाम (प्र०), छद्मलीला (रासछद्मविनोद में प्र०), आर्तपत्रिका, स्फुट पद (प्र०)।

११. चौरासी वैष्णवन की वार्ता—प्र० श्री लक्ष्मीवेंकटेश्वर प्रेस, बंबई तथा सं० द्वारिकादास परीख, अग्रवाल प्रेस, मथुरा।

१२. दामोदरदास सेवक जी—सेवकवाणी।

१३. दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता—प्र० श्री लक्ष्मीवेंकटेश्वर प्रेस, बंबई; तथा सं० ब्रजभूषण शर्मा, विद्या विभाग, कांकरोली।

१४. ध्रुवदास—ब्यालीस लीला : १. वृन्दावनसत, २. भजनसत, ३. भजनसिंगार सत, ४. हितसिंगार, ५. मनसिंगार, ६. नेहमंजरी, ७. रहस्यमंजरी ८. सुखमंजरी, ९. रतिमंजरी, १०. रसरत्नावली, ११. रसहीरावली, १२. प्रेमावली, १३. रसमुक्तावली, १४. प्रियाजीनामावली, १५. भक्तनामावली, १६. रसविहार, १७. रंगविहार, १८. वनविहार, १९. नृत्यविलास, २०. रंगहुलास, २१. ख्यालहुलास, २२. आनंददसाविनोद, २३. रंगविनोद, २४. आनंदलता, २५. अनुरागलता, २६. रहस्यलता, २७. प्रेमदसा, २८. रसानन्द, २९. ब्रजलीला, ३०. दानलीला, ३१. मानरसलीला, ३२. सभामण्डल, ३३. युगलध्यान, ३४. भजनकुंडलियाँ, ३५. भजनाष्टक, ३६. आनन्दाष्टक, ३७. प्रीतिचौवनी, ३८. सिद्धान्तविचार (गद्यवार्ता), ३९. जीवदशा, ४०. वैद्यकज्ञान, ४१. मनशिक्षा, ४२. बृहद्वामनपुराणभाषा।

१५. नंददास.—सं० उमाशंकर शुक्ल, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग।

१६. नरोत्तमदास—सुदामाचरित, सं० प्रेमनारायण टण्डन, विद्यामंदिर, लखनऊ।

१७. नागरीदास—सिंगारसार, गोपीप्रेमप्रकाश, पदप्रसंगमाला, ब्रजबैकुंठतुला, ब्रजसागर, भोरलीला, प्रातरसमंजरी, विहारचन्द्रिका, भोजनानंदाष्टक, जुगलरसमाधुरी, फूलविलास, गोधनआगमनदोहन, आनन्दलग्नाष्टक, फागविलास, ग्रीष्मविहार, पावसपचीसी, गोपीबैनविलास, रासरसलता, नैनरूपरस, शीतसार, इश्कचलन, मजलिसमंडन, अरिल्लाष्टक, सदा की मांझ, वर्षाऋतु की मांझ, कृष्णजन्मोत्सवकवित्त, सांझी के कवित्त, रास के कवित्त, चाँदनी के कवित्त, दिवारी के कवित्त, गोवर्धनधारन के कवित्त, हीरा के कवित्त, फागगोकुलाष्टक, हिंडोरा के कवित्त, वर्षा के कवित्त, भक्तिमतदीपिका, तीर्थानन्द, फागविहार, बालविनोद, वन-विनोद, सुजानानन्द, भक्तिसार, देहदशा, वैराग्यवल्ली, रसिकरत्नावली, कविवैराग्यवल्लरी, अरिल्लपचीसी, छूटकविधि, पारायणविधिप्रकाश, शिख-नख, छूटककवित्त, चचरियाँ, रेखता, मनोरथमंजरी, रामचरित्रमाला, पदप्रबोधमाला, जुगलभक्तिविनोद, रसानुक्रम के दोहे, शरद की मांझ, सांझी फूलबिननसंवाद, बसंतवर्णन, रसानुक्रम के कवित्त, फागखेलन, समेतानुक्रम के कवित्त, निकुंजविलास, गोविंदपरचई, वन-जनप्रशंसा, छूटकदोहा, उत्सवमाला और पदमुक्तावली (नागर समुच्चय, सं० राधाकृष्णदास, ज्ञानसागर प्रेस)।

१८. नारायण स्वामी—ब्रजबिहार।

१९. परमानन्ददास—स्फुट पद, रागरत्नाकर, रागकल्पद्रुम, तथा कीर्तन संग्रहों में और परमानन्दसागर, प्र० विद्याविभाग, कांकरोली।

२०. बख्शी हंसराज प्रेमसखी—सनेहसागर, विरहविलास, रामचन्द्रिका, बारह-मासा।

२१. व्रजवासीदास—व्रजविलास।

२२. भगवतरसिक—स्फुट रचना।

२३. मीराँबाई—पदावली (सं० परशुराम चतुर्वेदी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग; मीरां बृहद् पदसंग्रह, सं० पद्मावती 'शबनम', लोक-सेवक प्रकाशन, वाराणसी।

२४. रसखान—प्रेमवाटिका, सुजान रसखान (रसखान और घनानन्द—सं० अमीरसिंह, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।)

२५. रागकल्पद्रुम—सं० कृष्णानन्द व्यास, वंगीय साहित्य परिषद्, कलकत्ता।

२६. ललितकिशोरी—स्फुट पद, बृहद्रसकलिका और लघुरसकलिका।

२७. विद्यापति पदावली—सं० रामवृक्ष बेनीपुरी, पुस्तक भण्डार, लहेरिया सराय, पटना; विद्यापति—सं० खगेन्द्रनाथ मित्र तथा विमान विहारी मजूमदार, यूनाइटेड प्रेस, पटना।

२८. श्री भट्ट जी—युगल शतक (प्र० विहारी शरण), आदि बानी।

२९. श्री हठी जी—राधासुधाशतक।

३०. संगीत रागरत्नाकर—प्र० श्री लक्ष्मीवेंकटेश्वर प्रेस, बंबई, तथा सं० व्रजभूषण शर्मा, विद्याविभाग, कांकरौली।

३१. साहित्य रत्नावली—प्र० किशोरीशरण अलि, वृन्दावन।

३२. सूरदास—सूरसागर (नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी), सूरसारावली (सं० प्रभुदयाल मीतल, अग्रवाल प्रेस, मथुरा) साहित्यलहरी (खड्गविलास प्रेस, बांकीपुर, पटना; पुस्तक भंडार, लेहरिया सराय, पटना)।

३३. सूरदास मदनमोहन—स्फुट पद (रागकल्पद्रुम तथा रागरत्नाकर में); जीवनी और पदावली, अग्रवाल प्रेस, मथुरा।

३४. हितहरिवंश—हितचौरासी, प्र० गो० मोहनलाल छोटी सरकार; प्र० गो० रूपलाल; हितामृतसिंधु—सं० महंत द्वारकादास, रास मंडल वृन्दावन।

३५. हरिराम व्यास—व्यासवाणी, प्र० व्यासवंशीय गोस्वामी; प्र० राधावल्लभ वैष्णव सभा; महावाणी—प्र० ब्र० विहारीशरण; रागमाला।

२. सहायक-ग्रंथ सूची

१. अष्टछाप—धीरेन्द्र वर्मा, रामनारायणलाल, इलाहाबाद।

२. अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय—दीनदयालु गुप्त, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।

३. उज्ज्वल नीलमणि—श्री रूपगोस्वामी।

४. गुजराती और व्रजभाषा कृष्णकाव्य—जगदीश गुप्त, हिंदी परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय।

५. भक्तमाल टीका—प्रियादास, श्री लक्ष्मी वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई।

६. भक्ति रसामृत सिंधु—श्री रूपगोस्वामी।

७. भारतीय साधना और सूरसाहित्य—मुंशीराम शर्मा, आचार्य शुक्ल साधनासदन, कानपुर।

८. राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य—विजयेन्द्र स्नातक, हिंदी अनुसंधान परिषद्, दिल्ली विश्वविद्यालय, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली।

९. श्री राधा का क्रमिक विकास—शशिभूषणदास गुप्त, हिंदी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी।

१०. श्री हितहरिवंश गोस्वामी : सम्प्रदाय और साहित्य—ललिताचरण गोस्वामी, वेणु प्रकाशन, वृन्दावन।

११. सूरदास—रामचंद्र शक्ल, नंदकिशोर ब्रदर्स, वाराणसी।

१२. सूरदास—ब्रजेश्वर वर्मा, हिंदी परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय।

१३. सूर और उनका साहित्य—हरवंशलाल शर्मा, भारत प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़।

१४. सूर की काव्यकला—मनमोहनलाल गौतम, भारतीय साहित्य मंदिर, दिल्ली।

१५. सूर की भाषा—प्रेम नारायण टण्डन, हिंदी साहित्य मंदिर, लखनऊ।

१६. सूर निर्णय—प्रभुदयाल मीतल और द्वारकादास परीख, अग्रवाल प्रेस, मथुरा।

१७. सूर साहित्य—हजारीप्रसाद द्विवेदी, मध्य भारत हिंदी समिति, इंदौर।

१८. हिंदी और बंगाली वैष्णव कवि—रत्नकुमारी, भारती साहित्य मंदिर, दिल्ली।

१९. हिंदी नवरत्न—मिश्रबन्धु, गंगा ग्रंथागार, लखनऊ।

२०. हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—रामकुमार वर्मा, रामनारायणलाल, इलाहाबाद।

२१. हिंदी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।

२२. हिस्ट्री आव ब्रजबुलि लिटरेचर—सुकुमार सेन।

१०. रीतिकाव्य और रीतिशास्त्र

क. रीतिकाव्य

रीतिकाव्य की पृष्ठभूमि और प्रवृत्तियाँ

हिन्दी साहित्य के उत्तर मध्ययुग में काव्य की धाराओं का बहुमुखी प्रवाह फूट पड़ा। पूर्ववर्ती काव्य-धाराओं में सभी का विकास हुआ। सन्तकाव्य का विविध संप्रदायों के प्रवर्तकों और प्रचारकों ने प्रचुर भंडार भरा। प्रेमाख्यान-परंपरा को लेकर भी अनेक ग्रंथ लिखे गए। इनमें शुद्ध प्रेमाख्यान भी हैं और सूफी प्रेमाख्यान भी, जिनमें मुस्लिम सूफी कवियों ने रूपकोक्ति (एलीगरी) के माध्यम से अपने मत का प्रचार किया है। इन प्रेमाख्यानक काव्यों में काव्य की सरल माधुरी भी उतर आई है। इनके साथ ही साथ सगुण भक्ति-धाराओं का भी वेग उमड़ा और अनेक कवियों ने राम और कृष्ण की लीला, भक्ति और चरित-माधुरी को लेकर असंख्य ग्रंथों की रचना की। इन भक्ति काव्यों पर श्रृंगार काव्य का प्रभाव बहुत गहरा पड़ा। राम-काव्य में भी कृष्ण काव्य की श्रृंगारिकता देखने को मिलती है। वास्तव में यह युग ही श्रृंगार का युग था। राजनीतिक और धार्मिक संघर्ष अब एक निश्चित स्थिति को प्राप्त कर चुके थे। मुगल बादशाहों के विभव-विलास एवं श्रृंगार-सजाव ने सभी को प्रभावित कर रखा था। कला और साहित्य को राजाओं और नवाबों के द्वारा व्यापक रूप से संरक्षण भी प्राप्त हुआ था। इसलिए श्रृंगार से ओत-प्रोत रीतिकाव्य-धारा को इस युग में विशेष प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। वैसे इस युग में वीरकाव्य भी बड़ी प्रचुरता से लिखा गया, साथ ही इस युग के वीरकाव्य में एक विशेष साहित्यिक उत्कर्ष भी प्राप्त हुआ और नीतिकाव्य के ग्रंथों की भी रचना हुई; परन्तु प्रायः इस प्रकार के काव्य लिखने वाले कवियों ने भी रीति-श्रृंगार काव्य से संबंधित ग्रंथ ही अधिक लिखे। पद्माकर और चन्द्रशेखर ने जहाँ उत्कृष्ट वीरकाव्य की रचना की, वहीं पर उन्होंने अधिक मात्रा में रीति-काव्य के ग्रन्थ लिखे। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि रीति या श्रृंगार काव्य लिखना उस समय की एक व्यापक परिपाटी बन गई थी।

रीतिकाव्य के अन्तर्गत भक्तिकाल के अलौकिक आलंबन को लौकिक धरातल पर उतार कर उसके रूप-सौन्दर्य एवं भाव-व्यापार का वर्णन किया गया। राधा और कृष्ण रीतिकाव्य में सामान्य नायक और नायिका के रूप में चित्रित किए गए और इनके माध्यम से आलंबन और आश्रयगत विविध चेष्टाओं, मनोभावों और अनुभूतियों की अभिव्यंजना हुई। रीतिसंबंधी प्रवृत्ति का यहाँ तक प्रभाव पड़ा कि कृष्ण-भक्त कवियों की रचनाओं में भी रीतिकाव्य की प्रवृत्तियों का समावेश दिखलाई देता है। अष्टयाम, दिनचर्या, नख-शिख-सौन्दर्य, संयोग-वियोग की विविध स्थितियों का वर्णन, मान, ऋतु-सुलभ उद्दीपन तथा आलंकारिकता इस प्रवाह के काव्यों में प्रचुर मात्रा में मिलती है।

शृंगारिकता की प्रवृत्ति रीतिकाव्य में सर्वत्र प्रचुरता के साथ परिलक्षित होती है। इस शृंगारिकता के मानसिक स्वरूप को भक्तिकाव्य की प्रेम-भावना से आधार और प्रेरणा प्राप्त हुई थी। निर्गुणोपासक सन्त कवि भी प्रेम को जीवन का सार कहते थे। सूफी कवि भी प्रेम की पीर के साधक थे। कृष्ण-भक्ति में तो प्रेम व्यापक भाव है ही, साथ ही राम-भक्ति में भी रसिक भाव प्रवाहित था। अतः प्रेम को या रति भाव को प्रधान मान कर शृंगार की रसराज रूप में प्रतिष्ठा रीतिकाव्य के लिए उस युग में बड़ी स्वाभाविक सी बात थी। इसको शास्त्रीय आधारभूमि संस्कृत काव्यशास्त्र के रस, नायिका-भेद एवं अलंकार-ग्रंथों से प्राप्त हो गई। अतः यह प्रवृत्ति एक विदग्ध कवि के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए उस युग में एक आवश्यक उपकरण बन गई थी।

शृंगारिकता के स्थूल स्वरूप को प्रेरणा देने के लिए उस युग का समस्त वातावरण ही था। इसके भीतर नख-शिख-सौन्दर्य-चित्रण, षड्ऋतु-वर्णन, हाव, विलास, मंडन आदि का विवरण मिलता है। शृंगार-वर्णन के प्रसंग में कामशास्त्र का भी इस युग के ग्रंथों में बड़ा व्यापक प्रभाव है। रीतिशास्त्र की अनेक बातों का इस काव्य में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में आधार या संकेत इसे सर्व-साधारण एवं किशोर बुद्धि के व्यक्तियों के लिए अनुपयुक्त बना देता है। नख-शिख-सौन्दर्य-चित्रण में अनेक सुन्दर पंक्तियाँ मिलती हैं, परन्तु परिपाटी बन जाने के कारण अनेक अंगों के वर्णनों में प्रचुर मात्रा में पुनरुक्ति भी दिखलाई पड़ती है। रूप-चित्रण इस युग के कवि की सूक्ष्म रूपानुभूति और सौन्दर्य-कल्पना को स्पष्ट करने वाला है, जैसा कि निम्नांकित उदाहरणों में द्रष्टव्य है—

मुखससि निरखि चकोर अरु, तन पानिप लखि मीन।
पद पंकज देखत भ्रमर, होत नयन रसलीन।।

जनु तिय हिय ते राग बढ़ि, अधरन रँग सरसाइ।
विद्रुम बिंब बँधूक की, आभहिं रहेउ बढ़ाइ।।

अरुन बरन बरनि न परै, अमल अधर दल माँझ।
कैधों फूली दुपहरी, कैधों फूली साँझ।।

फिरि फिरि चित उतरी रहत, टुटी लाज की लाव।
अंग अंग छवि झौंर में, भयो भौंर की नाव।।

हाव, भाव और चेष्टाओं के वर्णन भी इसी प्रकार के हैं। इन वर्णनों में व्यक्ति का स्वरूप आन्तरिक अनुभूति एवं मानसिक स्थिति के अनुरूप पूर्ण सजीवता के साथ अंकित हुआ है। इन चित्रणों के द्वारा कवि की सूक्ष्म दृष्टि एवं जीवन और जगत का व्यापक अनुभव व्यक्त हुआ है। मानसिक जगत की झाँकी देनेवाले अंग-विकारों, सज्जा एवं प्रतिक्रियाओं का स्पष्टीकरण निम्न-लिखित छन्दों में प्राप्त है:—

सटपटाति सी ससिमुखी, मुख घूँघट पट झाँकि।
पावक झर सी झमकि कै, गई झरोखै झाँकि।।

मानति सौति अनीति है, जानति सखी सुनीति।
गुरुजन जानत लाज है, प्रीतम जानत प्रीति।।

मूरति जो मनमोहन की मनमोहिनी के थिर ह्वै थिरकी सी।
देव गोपाल के बोल सुने छतियाँ सियराति सुधा छिरकी सी।
नीके झरोखे ह्वै झाँकि सकै नहिं नैननि लाज घटा घिरकी सी।
पूरन प्रीति हिए हिरकी खिरकी खिरकी मैं फिरै फिरकी सी।।

फाग की भीर अभीरन में गहि गोबिन्दै लै गई भीतर गोरी।
भाई करी मन की 'पदमाकर' ऊपर नाइ अबीर की झोरी।
छीनि पितम्बर कम्मर तें सु बिदा दई मीड़ि कपोलनि रोरी।
नैन नचाइ कही मुसकाइ लला फिरि आइयो खेलन होरी।।

रीतिकाव्य की दूसरी प्रवृत्ति आलंकारिकता है। विभिन्न अलंकारों से अपने कथन को सजाना इस युग का फैशन था। बात को सरल स्वाभाविक रीति से कहना सम्माननीय न समझा जाता था। उक्ति-चमत्कार के द्वारा पाठक और श्रोता के मन को आकृष्ट कर लेना ही इस युग के कवियों का लक्ष्य तथा इनकी सफलता का मापदंड था। इसका कारण यह था कि रीतिकाव्य का अधिकांश राज-दरबारों के लिए रचा गया। आलंकारिकता का दूसरा कारण था अलंकार-शास्त्र के अनुसार रचना करने की प्रवृत्ति। बहुत से कवियों ने अलंकारों के लक्षण और उदाहरण दोनों ही रचे हैं, परन्तु जिन्होंने केवल उदाहरण रचे, उनके मन में भी अलंकारों के लक्षण और स्वरूप विद्यमान थे। अलंकारों का ज्ञान करके ही इस युग का सम्मानित कवि काव्य-रचना करने बैठता था, इसलिए आलंकारिकता इस युग में खूब फली-फूली। कहीं कहीं तो अलंकारों से बोझिल पंक्तियाँ भी मिलती हैं, परन्तु कहीं कहीं अलंकारों के रूप में सुन्दर और रमणीय अप्रस्तुत विधान की योजना की गई है। उदाहरणार्थ—

तेरी औरै भाँति की, दीपसिखा सी देह।
ज्यों ज्यों दीपति जगमगै, त्यों त्यों बढ़त सनेह।।

तिहि पुरान नव द्वै पढ़े, जिहि जानी यह बात।
जो पुरान सो नव सदा, नव पुरान ह्वै जात।।

मानहु बिधि तन अच्छ छवि, स्वच्छ राखिबे काज।
दृग पग पोंछन को कियो, भूखन पायंदाज।।

स्याम घटा लपटी थिर बीजु कि सोहै अमावस अंक उज्यारी।
धूम के पुंज में ज्वाल की माल सी पै दृग सीतलतर सुखकारी।
कै छवि छायो सिंगार निहारि सुजान तिया तन दीपिति प्यारी।
कैसी फबी 'घनआनँद' चोपनि सो पहिरी चुनि साँवरी सारी।।

आलंकारिकता का ही दूसरा रूप भाषा का सजाव-शृंगार है। इसे हम रीतिकाव्य की अलग प्रवृत्ति के रूप में ग्रहण कर सकते हैं। इस धारा का कवि भाषा के प्रयोग के संबंध में अत्यधिक सजग है। वर्णमैत्री, अनुप्रासत्व, ध्वन्यात्मकता, शब्दगति, शब्दशोधन, अनेकार्थता, व्यंग्य आदि की विशेषता इस काव्य में प्रचुर मात्रा में मिलती है। इस धारा का अधिकांश काव्य ब्रजभाषा में ही रचा गया। अतः इन कवियों के प्रयत्नों के परिणाम स्वरूप हम ब्रजभाषा में

एक विशेष निखार, प्रांजलता एवं माधुर्य समाविष्ट देखते हैं। दास ने तो व्रजभाषा की सीमा ही बढ़ा दी थी। वे केवल व्रजमंडल में बोली जानेवाली भाषा को व्रजभाषा कहने को तैयार नहीं, वरन व्रजभाषा तो अपने मधुर रूप में कवियों की रचनाओं में ही मिलती है। व्रजभाषा के इस प्रकार के विकास का ही परिणाम था कि अनेक मुसलमान कवियों ने भी व्रजभाषा में रचना की तथा बंगाल के कुछ वैष्णव कवियों ने भी इसका प्रयोग किया। आधुनिक काल में भी जब आवश्यकतावश खड़ीबोली के कविता में प्रयोग का प्रश्न उठा, तब काफी दिनों तक व्रजभाषा के प्रयोग के पक्ष में ही लोगों का मत बना रहा; क्योंकि व्रजभाषा ने इस युग में एक विशिष्ट प्रौढ़ता, माधुर्य और विदग्धता प्राप्त कर ली थी। अतएव रीतिकाव्य के कवियों में यदि व्रजभाषा के सुष्ठु प्रयोगों का चमत्कार मिलता है, तो आश्चर्य ही क्या है? इन कवियों ने बड़ी तन्मयता से शब्द-साधना की थी। इससे संबंधित कुछ उदाहरण यहाँ दिए जाते हैं—

गगन अँगन घनाघन ते सघन तम, सेनापति नेक हू न नैन मटकत हैं।
दीप की दमक जीगनान की झमक छाँड़ि, चपला चमक और सों न अटकत हैं।
रबि गयो दबि मानों ससि सोई घसि गयो, तारे तोरि डारे ते कहूँ न फटकत हैं।
मानों महातिमिर ते भूलि परी बाट ताते, रवि ससि तारे कहूँ भूले भटकत हैं।।

पियराई तन में परी, पानिप रह्यो न देह।
राख्यो नंदकुँवार ने, करि कुँवार को नेह।।

श्रमजल कन झलकन लगे, अलकनि कलित कपोल।
पलकनि रस छलकन लगे, ललकन लोचन लोल।।

लहलहाति तन तरुनई, लचि लगि लौं लफि जाय।
लगै लाँक लोयन भरी, लोयन लेति लगाय।।

रस सिंगार मंजन किए, कंजन भंजन दैन।
अंजन रंजन हू बिना, खंजन गंजन नैन।।

होरी हरे हरे आइ गई हरि आए न हेरि हिए हहरैगी।
बानि बनी बन बागन की कवि देवि बिलोकि बिलोकि बरैगी।
नाँउ न लेउ बसन्त को री सुनि हाय कहूँ पछिताय मरैगी।
कैसे कै जीहै किसोरी जो केसरि नीर सों वीर अबीर भरैगी।।

इस प्रकार के उदाहरणों से रीतिकाव्य भरपूर है। अतः केवल नमूने के ही उपर्युक्त उदाहरण पर्याप्त हैं। शब्द और भाषा के इस प्रकार के आकर्षण ने ही इस काव्य को जीवित रखा है।

रीतिकाव्य में अधिकांशतः कवित्त, सवैया और दोहा छन्दों के प्रयोग की ही प्रवृत्ति देखी जाती है। यद्यपि बीच बीच में किन्हीं किन्हीं ग्रन्थों में अन्य छन्द—जैसे छप्पय, बरवै, हरिपद आदि—भी मिलते हैं; परन्तु रीतिकाव्य में दोहा, सवैया और कवित्त (घनाक्षरी) छन्द ही अधिक जमे हैं। इसका कारण यही है कि ये छन्द व्रजभाषा की प्रकृति के विशेष अनुकूल पड़ते हैं और जिन भावों का वर्णन इनमें किया गया है उसके लिए भी बहुत उपयुक्त बैठते हैं। अवधी का

बरवै भी लालित्य में इन्हीं छन्दों के समान हैं। इसलिए बेनी प्रवीन, जगतसिंह, यशोदानंदन आदि ने बरवै छन्दों का भी प्रयोग किया है।

रीतिकाव्य की सबसे महत्वपूर्ण प्रवृत्ति है यथार्थ जीवन के प्रति गहरी अभिरुचि। अलौकिकता और आध्यात्मिकता का पुट तो थोड़ा-बहुत इस काव्य में परंपरागत संस्कारवश है। मुख्य ध्येय इस धारा के कवियों का है जीवन और यौवन के वास्तविक और रमणीय स्वरूप का यथार्थ चित्रण। नायिका-भेद और रस-निरूपण के ग्रन्थों में प्रस्तुत जो चित्र हैं, उन्हें हम जीवन में व्याप्त देखते हैं; जीवन से अलग रोमांसिक, काल्पनिक अथवा आदर्श अतीत के वे चित्र नहीं हैं। ऐसा लगता है कि रीतिकाव्य के रचयिता यौवन और वसन्त के कवि हैं। जीवन का फूलता हुआ सुघर रूप ही उन्हें प्रिय है। पतझड़, संघर्ष और विनाश संभवतः स्वतः जीवन में इतने घोर रूप में विद्यमान था कि कविकाव्य में भी उसको उतारकर नैराश्य और निवृत्ति की भावना को जगाना नहीं चाहता है। वह तो फलते-फूलते जीवन का भ्रमर है। उसने जीवन का एक ही स्वरूप लिया, एक ही पक्ष लिया; यह इस धारा के कवि की संकीर्णता है, दुर्बलता है, एकांगिता है। परन्तु जिस पक्ष को उसने लिया है उसके चित्रण में उसने कोई कोर-कसर उठा नहीं रखी। उसके समस्त वैभव और विलास के चित्रण में उसने कलम तोड़ दी है।

इस धारा के कवि ने जीवन के लिए एक अदम्य वासना जाग्रत कर दी है, सौन्दर्यानुभूति और सुरुचि की एक सुकुमार कसौटी प्रदान की है। रूप-विवेचन का विवेक और भावों के परख की दृष्टि हमें इस काव्य से प्राप्त होती है। यह काव्य रमणीय है। जो इसे निन्दनीय और उपेक्षणीय समझते हैं वे यौवन के भावों और वसन्त के विकास को भी गर्हित कहने की चेष्टा करते हैं। इस काव्य की प्रवृत्तियाँ विश्व के काव्यों में भी सर्वत्र प्रचुर मात्रा में मिलती हैं और हिन्दी साहित्य के भी प्राचीन और अर्वाचीन दोनों ही काव्यों में इन प्रवृत्तियों की सत्ता कम या अधिक मात्रा में खोजी जा सकती हैं। केवल एक चेतावनी इस काव्य के संबंध में दी जा सकती है और वह यह कि इसे चुने हुए रूप में पढ़ना अधिक श्रेयस्कर है।

रीतिकाव्य का स्वरूप और प्रवाह

हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत रीतिकाव्य से तात्पर्य, रीतियुग में लिखा समस्त काव्य नहीं, वरन एक विशेष उद्देश्य और प्रवृत्ति के वशीभूत लिखा गया काव्य है। इसमें काव्य के सिद्धान्तों—अलंकार, रस, ध्वनि, नायिकाभेद, नखशिख, गुण आदि—को ध्यान में रखकर लिखा गया काव्य लिया जाता है। इस प्रकार का काव्य रीतियुग में हम दो रूपों में देख सकते हैं—प्रथम तो लक्षण को देकर उसके स्पष्ट करनेवाले उदाहरणों के रूप में प्रस्तुत काव्य और दूसरे बिना लक्षण दिए केवल उनका ध्यान रखकर लिखा गया काव्य। इस प्रकार की परंपरा संस्कृत में भी देखी जा सकती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि काव्य के क्षेत्र में इस कोटि के काव्य की देन महत्वपूर्ण है।

हिन्दी साहित्य के उत्तर मध्ययुग में इस प्रकार की परंपरा की आवश्यकता थी, क्योंकि आध्यात्मिक जिज्ञासा की तृप्ति और धार्मिक जीवन-क्रम को प्रस्तुत करते हुए भी, जैसा कि हिन्दी के पूर्ववर्ती साहित्य ने किया, कला और सौन्दर्य की पिपासा को शान्त करने का इस काव्य का न

तो उद्देश्य ही है और न प्रयत्न ही। इसी प्रकार हिन्दी के उदय काल में चारण काव्य के अन्तर्गत किसी राजा या वीर की प्रशंसा में अत्युक्तिपूर्ण काव्य की रचना की गई थी। इसमें प्रमुखतया वीरता का बढ़ा-चढ़ा वर्णन मिलता है जो चारण-वृत्ति का द्योतक है, जिसका उद्देश्य राजाश्रय और राजकृपा प्राप्ति है। इसमें झूठी प्रशंसा भी आ जाती है। ये दोनों ही प्रकार के काव्य न तो जीवन का वास्तविक रूप स्पष्ट करते हैं और न हमारी सामान्य वृत्तियों का संस्पर्श करते हैं। साथ ही साथ इस प्रकार का काव्य न तो व्यापक रूप से कवि-प्रतिभा को ही प्रेरणा प्रदान करता है और न अत्यन्त जनप्रिय काव्य ही बन पाता है। सूक्ष्म कलात्मक विकास को भी इसमें प्रकट होने का अवसर नहीं मिलता। आल्हा इन काव्यों में सर्वाधिक जनप्रिय रहा, पर उसका प्रमुखकारण उसमें लोकगीत की विशेषता तथा प्रबल भाव-प्रवाह है।

भक्तिकाव्य की व्यापक अपील का कारण दूसरा है। इसमें आलंबन में तन्मयता और सचाई के साथ-साथ कवित्व का भी प्रचुर मात्रा में समावेश है। भक्तिकालीन कवियों में कबीर ही ऐसे हैं जिनका कवित्व की ओर कुछ भी ध्यान नहीं था, इसीलिए कबीर की बानी, नाथों और सिद्धों की बानी की परंपरा में ही कड़ी जोड़नेवाली है। कबीर की बानी में कवित्व का समावेश उनकी गहरी भावानुभूति, विलक्षण प्रतिभा और चुभती उक्ति के कारण हो गया है। शायद कबीर ही ऐसे विलक्षण व्यक्ति हैं जिनका काव्य, कवित्व संबंधी ज्ञान और ध्यान न होने पर भी, इतना प्रभावपूर्ण है। इसका कारण उनका व्यक्तित्व है। काव्य की ओर से इतना उदासीन रहकर ऐसा प्रभावशाली कवि मिलना कठिन है। फिर भी कबीर का काव्य आध्यात्मिक प्रवृत्ति वाले लोग ही सुनते हैं और ऐसा काव्य लिखने की प्रेरणा भी ऐसे ही लोगों को प्राप्त होती है। जायसी, आध्यात्मिक कवि होते हुए भी, काव्यशास्त्र के तथा लौकिक ज्ञान के भंडार से परिचित थे। उनके नशशिख-सौन्दर्य-वर्णन, संयोग-वियोग आदि के चित्रण रीतिकाव्य की पृष्ठभूमि बनाते हैं। सगुण भक्ति को लेकर चलनेवाले कवियों में तो काव्यशास्त्र का ज्ञान प्रत्यक्ष है। तुलसी के काव्य में अलंकार, ध्वनि, रस, गुण आदि का पूर्ण परिपाक है और उसमें दोषहीन भाषा का औचित्यपूर्ण प्रयोग उनके व्यापक काव्य-ज्ञान का स्पष्ट प्रमाण है। रस के मर्मज्ञ सूर तथा अष्टछाप के अन्य कवियों के लिए तो कहना ही क्या है, परन्तु काव्यशास्त्र का इतना ज्ञान होते हुए भी इनका काव्य रीतिकाव्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इनका प्रमुख उद्देश्य भक्ति-भावना का प्रकाशन है। इनमें से किसी का भी शुद्ध काव्य-रचना का उद्देश्य नहीं रहा। अतएव जो न तो किसी राजा की चारण की भाँति प्रशंसा करना चाहता है और न उसमें इतनी आध्यात्मिकता ही है कि भक्तिकाव्य लिख सके उसके लिए शुद्ध काव्य-रचना का द्वार खोलनेवाली यही रीति-काव्य की परंपरा है।

भक्तिकाल में भी रीति-परंपरा पर लिखनेवाले कुछ महत्वपूर्ण कवि हुए हैं, जैसे, कृपाराम, ब्रह्म, बीरबल, गंग, बलभद्र मिश्र, केशवदास, रहीम, मुबारक, तोष आदि, जिनकी कृतियों में प्रमुख ध्यान काव्य-रचना का है, यदि और कोई उद्देश्य है तो गौण। कृपाराम की 'हिततरंगिणी' तो रीतिशास्त्र की पहली रचना है जिसकी चर्चा हम रीतिशास्त्र के प्रसंग में करेंगे। बीर-बल के नाम से प्रसिद्ध ब्रह्म कवि की रचनाएँ अलंकार और नायिका-भेद को प्रधानतया दृष्टि में रखकर की गई हैं। गंग का भी प्रमुख ध्यान रस और आलंकारिकता पर है। ब्रह्म का कुछ काव्य

भक्ति और नीति का है, कुछ समस्यापूर्तियाँ हैं, परन्तु अधिकांश काव्य संयोग-वियोग-वर्णन तथा आलंकारिक उद्भावना से परिपूर्ण है। संयोग-वियोग संबंधी चित्रों में नवीन उत्प्रेक्षाएँ लाना ब्रह्म के काव्य की विशेषता है। अनेक शृंगारिक चित्र हमें उनमें देखने को मिलते हैं। दरबारी काव्य की सी समस्यापूर्तियाँ भी इनमें मिलती हैं। वास्तव में दरबारी हिन्दी रीति-काव्य की दृढ़ परंपरा अकबर के समय ही पड़ी और इसी का आगे विकास हुआ। गंग की अधिकांश रचनाएँ रूप-सौन्दर्य, प्रेम, मान, नायिका तथा संयोग-वियोग के चित्रण से परिपूर्ण ह, तथापि युग के प्रभावानुसार भक्तिकाव्य भी इन्होंने लिखा है और वीर रस की ओजपूर्ण रचना भी की है। गंग की विशेषता इनके ओजमय प्रवाह और उच्च कल्पना में देखने को मिलती है। इनका अधिकांश रीतिकाव्य ही है।[1]

रहीम का 'बरवै नायिका-भेद' तो निश्चय ही रीतिकाव्य का एक सुन्दर ग्रन्थ है। उसमें न केवल नायिका-भेद, वरन प्रेम और सौन्दर्य के मनोमोहक चित्र हैं। रहीम के काव्य में उनके जीवन का व्यापक अनुभव प्रकट होता है। सरल होते हुए भी मार्मिक, भावपूर्ण कवित्व एवं उक्ति-वैचित्र्य के उदाहरण इसमें देखने को मिलते हैं। इनके दोहे और बरवै दोनों ही बड़े लोक-प्रिय हैं। रहीम ने छोटे-छोटे कई ग्रंथ लिखे। ये संस्कृत, फारसी, हिन्दी तीनों के ज्ञाता थे। इनकी विनोदप्रियता ,मर्मस्पर्शी उद्गार और जीवन की विविध अनुभूतियों के चित्रण काव्य को स्मरणीय बनाते हैं और इनकी सहज कवित्व प्रतिभा के द्योतक हैं। रीतिकाव्य के क्षेत्र में आने-

---

१. ब्रह्म और गंग की रचनाओं में रीतिकाव्य की विशेषताएँ हैं, इस बात के प्रमाण के लिए हम उनके कुछ छन्द यहाँ दे रहे हैं—

जा दिन ते माधो मधुवन को सिधारे सखि
ता दिन ते दृगनि दवागिन सी दै गयौ।
कहै कवि गंग अब सब ब्रजवासिन की
सोभा औ सिंगार सो तो संग लाइ लै गयौ।
आछे मनभावने जे विविध बिछावने जे
सकल सुहावने डरावने से कै गयौ।
फूले फूले फूलनि में सेज के दुकूलनि में,
कालिंदी के कूलनि बिसासी बिस बै गयौ॥

—गंग

मानवती वृषभानुसुता मुख माने न माने मनावै हरी।
ब्रह्म भने मनमोहन को मनु मोहलि यों मनौ चित्त धरी॥
गलहाथ दिए सिर नाइ निरक्खति द्रिष्ट चकोर ज्यों कान्ह करी।
अरबिन्द बिछाइ विरुर्वाहि निन्दत मानहुँ इंदुहि निंद परी॥

—ब्रह्म

यहाँ पर वियोग और मान का वर्णन क्रमशः ऊपर के छन्दों में द्रष्टव्य है।

वाला इनका ग्रन्थ 'बरवै नायिका-भेद' है जिसमें लोक-जीवन के प्रेम और शृंगारपूर्ण आशा-आकांक्षाओं से भरे विविध मधुर चित्र विद्यमान हैं; यथा—

लागेउ आइ नबेलियहिं, मनसिज बान।
उकसन लाग उरोजवा, दृग तिरछान।।१।।
भोरहिं होत कोइलिया, बढ़वति ताप।
घरी एक भरि अलिया, रहु चुपचाप।।२।।
बन घन फूलहिं टेसुआ, बागन बेलि।
चले बिदेस पियरवा, फगुआ खेलि।।३।।
बाहर लैके दियवा, बारन जाइ।
सासु ननद घर पहुँचत, देति बुझाय।।४।।
उमड़ि उमड़ि घन घुमड़े, दिसि बिदिसान।
सावन दिन मनभावन, करत पयान।।५।।

उपर्युक्त चित्र कितने स्पष्ट और मनोमोहक हैं जो कवि की सौन्दर्य और भाव-पारखी दृष्टि को प्रकट करते हैं। रहीम को जीवन का बड़ा व्यापक ज्ञान और गहरा अनुभव था जिसके कारण काव्य की लोक-रुचि को जगाने की वे क्षमता रखते हैं।

बलभद्र मिश्र

बलभद्र मिश्र ओरछा के रहने वाले आचार्य केशवदास के बड़े भाई थे। इनका प्रसिद्ध ग्रंथ 'नखशिख' है जिसमें नायिका के अंगों का वर्णन अलंकारपूर्ण शैली में हुआ है। बहुधा प्रयुक्त अलंकार उपमा, उत्प्रेक्षा, संदेह आदि हैं। इनके अन्य ग्रंथों में 'रसविलास' महत्वपूर्ण है। 'नखशिख' और 'रसविलास' दोनों ही में रीतिकाव्य के सुन्दर उदाहरण प्राप्त होते हैं।

केशव की गणना रीतिशास्त्र के आचार्यों में है, रीतिकवियों में नहीं, यद्यपि इनका काव्य अपनी अलग विचित्र महत्ता रखता है। 'रसिकप्रिया' और 'कविप्रिया' के अनेक उदाहरण बड़े ही मार्मिक हैं। भक्तिकाल की सीमा में ही रीतिकाल के प्रसिद्ध कवि **मुबारक** का भी उल्लेख आवश्यक है। मुबारक का रचना-काल सन १६३३ ई० (सं० १६९० वि०) तक माना जाता है। ये बिलग्राम के रहने वाले थे और इनका नाम सैयद मुबारक अली था। संस्कृत, फारसी, अरबी के पंडित और हिन्दी के कवि मुबारक ने मार्मिक दोहों की रचना की। इनके दो प्रसिद्ध ग्रंथ 'अलकशतक' और 'तिलशतक' इनकी कीर्ति के स्तम्भ हैं, जो नखशिख के होते हुए भी आलंकारिक चमत्कार से युक्त हैं।

रीतियुग के प्रारंभ होने से कुछ ही पहले प्रसिद्ध कवि तोष के 'सुधानिधि' ग्रन्थ की रचना हुई। तोष प्रयाग के निकट सिंगरौर या शृंगबेरपुर के रहने वाले थे। ये चतुर्भुज शुक्ल के पुत्र थे। सन १६३४ ई० (सं० १६९१ वि०) में इन्होंने 'सुधानिधि' ग्रन्थ की रचना की थी। इसमें रीतिकाव्य के सुन्दर उदाहरण हैं। एक छन्द देखिए—

फूल गुलाब के फूलि रहे दृग किंसुक से अबरा अबकारे।
झारि के लाज चतौवन को किसलै सम जावक हैं अरुनारे।
तोष लखे मृग के मद की तन लीक अली अवली मतवारे।
मोद अनन्त भयो उर अन्तर आए वसन्त ह्वै कन्त हमारे।।१५०।।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, रीतिकाव्य की प्रेरणा प्रमुखतया आचार्य केशवदास और अकबर के दरबारी कवियों से प्राप्त हुई थी, जिसके परिणाम स्वरूप विशुद्ध काव्यधारा का विकास हुआ और जिसके प्रवाह ने रीतिकाल में समस्त काव्य-रसिकों को ओतप्रोत कर दिया। इस नवीन धारा का प्रभाव २० वीं शताब्दी वि० के प्रारंभ तक बना रहा। इस युग के रीतिकवियों में सबसे प्रथम सेनापति का नाम आता है।

सेनापति

कविवर सेनापति की जीवनी के संबंध में बहुत कम बातें ज्ञात हैं। अब तक जो सामग्री प्राप्त है, वह अन्तःसाक्ष्य के द्वारा ही है। अपने ग्रन्थ 'कवित्तरत्नाकर' के प्रारंभ में सेनापति ने अपना परिचय दिया है, जिसके अनुसार इनके पितामह का नाम परशुराम दीक्षित और पिता का नाम गंगाधर दीक्षित था। गंगा के किनारे अनुपम बस्ती में उनका निवासस्थान था। विद्वानों में शिरोमणि, हीरामणि दीक्षित से उन्होंने शिक्षा प्राप्त की थी। ऐसे सेनापति सीतापति राम के उपासक थे और उनकी कविता का सभी आदर करते थे। सेनापति की कविता का प्रधान गुण श्लेष चमत्कार है और इस गुण में केशव को छोड़कर अन्य हिन्दी के कवि सेनापति की समता नहीं कर सकते। सभंग पद-श्लेष और अभंग श्लेष दोनों का ही चमत्कार हमें इनकी रचना में देखने को मिलता है। 'कवित्तरत्नाकर' की पहली तरंग श्लेष वर्णन में ही लगी है। श्लेष के आधार पर अनेक रोचक साम्य सेनापति ने स्थापित किए हैं। रामकथा गंगाधर के समान, गंगा में मज्जन अंजन के समान, बचन ईख के समान तथा सीतापति साहु के समान इसमें देखने को मिलते हैं। अन्तिम श्लेष का रोचक चमत्कार देखिए—

जाके रोजनामें सेस सहसबदन पढ़े पावत न पार जऊ सागर सुमति को।
कोई महाजन ताकी सरि को न पूजे नभ जल थल ब्यापि रहे अद्‌भुत गति को।
एक एक पुर पीछे अगनित कोठा तहाँ पहुँचत आप संग साथी न सुरति को।
बानियै बखानी जाकी हुण्डी न फिरति सोई साहु सियरानीजू को साहु सेनापति को।।

उपर्युक्त वर्णनों में केशव की रचना का प्रभाव दिखाई देता है।

'कवित्तरत्नाकर' की दूसरी तरंग में श्रृंगार-वर्णन है, जिसके भीतर नखशिख-सौन्दर्य, उद्दीपन, भाव, वयस्सन्धि आदि का वर्णन है। इसमें कहीं-कहीं सुन्दर चित्र हैं पर अधिकांश प्रयत्न शब्द-चमत्कार-प्रदर्शन का है। रूप-चित्रण में भाव-साम्य या गुण-साम्य कम है, फिर भी सेनापति की रचना का अद्‌भुत प्रभाव है। एक चित्र देखिए—

नूपुर कों झनकाइ मेदनी धरति पाइ, ठाढ़ी आइ आँगन भई ही साँझी बार सी।
करता अनूप कीन्हीं रानी मैंन भूप की सी, राजे रासि रूप की बिलास कों अधार सी।

सेनापति जाके दृग दूत ह्वै मिलत दौरि, कहत अधीनता को होत है सिपारसी।
गेह को सिंगार सी सुरत सुख सार सी, सो प्यारी मानो आरसी चुभी है चित आरसी।।

सेनापति की ख्याति वास्तव में तीसरी तरंग के साथ अब तक फैली है, जिसमें उन्होंने उत्कृष्ट ऋतुवर्णन प्रस्तुत किया है। शब्दार्थ-चमत्कार के साथ-साथ ऋतु के सहज और यथार्थ व्यापार वर्णित ऋतु का समा बाँधने में पूर्ण समर्थ हैं, साथ ही उस ऋतु में उठने वाले लोक-मानस के सहज भाव भी इन वर्णनों में तरंगित हो उठते हैं। सेनापति के ये छंद अत्यंत प्रसिद्ध हैं; अत: इनके अधिक उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं। झमक और झूम के साथ आने वाली वर्षा ऋतु का चित्रण करने वाला एक छंद है—

गगन अंगन घनाघन तैं सघन तम सेनापति नेक हूँ न नैन अटकत हैं।
दीप की दमक जीगनान की झमक छाँड़ि चपला चमक और सो न अटकत हैं।।
रवि गयो दबि मानों ससि सोऊ धसि गयो तारे तोरि डारे से न कहूँ फटकत हैं।
मानो महातिमिर तें भूलि परी बाट तातें रवि ससि तारे कहूँ भूले भटकत हैं।।

चौथी और पाँचवीं तरंगों में राम का चरित्र और राम-भक्ति-भावना का सुन्दर संक्षिप्त चित्रण है। इनमें श्रृंगार, वीर, शान्त और भक्ति भाव प्रधान हैं। चौथी तरंग रीतिकाव्य की विशेषता नहीं रखती। पाँचवीं तरंग भी ऐसी ही होती, यदि अन्त में आलंकारिक चमत्कार की प्रखरता न आ जाती। यमक, श्लेष, अनुप्रास, चित्र, प्रश्नोत्तर, द्व्याक्षर, अमात्रिक छंद, शब्द चमत्कार की विशेषता से यह युक्त है।

सेनापति की कविता में उनकी प्रतिभा फूटी पड़ती है। एक निश्चित लय में संतुलित गति से चलती हुई पंक्तियाँ नर्तकी के पद-संचार तथा वर्णों और शब्दों के ध्वनि-सौन्दर्य, नृत्य की ललित झमक और अबाध प्रवाह से युक्त हैं। सेनापति का शब्द-चयन उनके भाषा-संबंधी असाधारण अधिकार का द्योतक है। उनकी विलक्षण सूझ छंदों में उक्ति-वैचित्र्य का रूप धारण कर प्रकट हुई है जो छंद को स्मरणीय बनाती है। वे अपनी उक्ति-चमत्कार से मन और बुद्धि को चमत्कृत कर देते हैं। सेनापति के छंद मँजे हुए हैं। कुशल सेनापति के दक्ष सिपाहियों और ओजस्वी सैनिकों की भाँति वे पुकार कर कहते हैं कि हम सेनापति के हैं।

'कवित्तरत्नाकर' की रचना सं० १७०६ वि० (सन १६४९ ई०) में हुई। यह समय रीतिकाल का प्रारंभ ही है। रीतिकाव्य की इस प्रथम महत्वपूर्ण रचना ने हिन्दी रीतिकाव्य को अतिशय प्रेरणा प्रदान की, इसमें सन्देह नहीं।

कविवर बिहारी

बिहारी रीतिकाव्य के सर्वश्रेष्ठ कवि माने जा सकते हैं। उनकी ख्याति का आधार उनका अन्यतम ग्रन्थ 'सतसई' है। संस्कृत और हिन्दी के सतसई-साहित्य में 'बिहारी सतसई' सर्वश्रेष्ठ है। इसकी रचना महाराज जयशाह के आदेश पर की गई, जैसा ग्रन्थ के अंत में उन्होंने स्वयं कहा है—

हुकुम पाय जयशाह को, हरि राधिका प्रसाद।
करी विहारी सतसई, भरी अनेक सवाद॥

बिहारी की 'सतसई' वास्तव में भावों से भरपूर है। मुक्तक रचना होते हुए भी 'सतसई' में 'सतसई'कार का प्रमुख ध्यान अलंकार, रस, भाव, नायिका-भेद, ध्वनि, वक्रोक्ति, रीति, गुण आदि पर है और सभी के सुन्दर उदाहरण इसमें हैं। प्रमुखतया बिहारी ध्वनिवादी जान पड़ते हैं। 'सतसई' का रचनाकाल सन १६६३ ई० (सं० १७१९ वि०) है। 'सतसई'कार बिहारी का जीवन-वृत्त भी पूर्ण ज्ञात नहीं है। उनका जन्म ग्वालियर में हुआ था। उनके पिता का नाम केशवराय था, पर वे प्रसिद्ध आचार्य केशवदास नहीं थे। कुछ विद्वान बिहारी का जन्म सन १५९५ ई० (सं० १६५२ वि०) में मानते हैं[1] जिसका आधार यह दोहा है—

संवत जुगसर रस सहित, भूमि रीति जिन लीन्ह।
कातिक सुदि बुध अष्टमी, जन्म हमहिं बिधि दीन्ह॥

यह दोहा 'सतसई' की प्रामाणिक प्रतियों में नहीं मिलता और न यह बिहारी का रचा हुआ ही जान पड़ता है। यह किसी टीकाकार की सूझ जान पड़ती है। ये अपने पिता के साथ ग्वालियर से ओड़छे चले गए और वहाँ इन्होंने आचार्य केशव के ग्रन्थों का अध्ययन किया। बिहारी के पिता वहीं निधिवन की गद्दी के महंत नरहरिदास के शिष्य हो गए। ओड़छे के राजा इन्द्रजीत सिंह का रागरंग समाप्त हो जाने पर जब केशवदास गंगातट जाकर रहने लगे तो ये लोग वृन्दावन आकर रहे। बिहारी का विवाह मथुरा में हुआ था। कहा जाता है कि शाहजहां ने मथुरा आने पर बिहारी के संबंध में सुना था और इन्हें आगरे बुलाया भी गया था और शाहजहाँ तथा अन्य राजाओं से बिहारी को वृत्ति भी मिली थी। उसके बाद ये आमेर और जयपुर गए और वहाँ अपनी नव विवाहिता रानी के प्रेम में वशीभूत, मिर्जा राजा जयशाह से प्रसिद्ध दोहे द्वारा परिचय हुआ जिसने एक साथ महाराज जयसिंह की आँखें और बिहारी का भाग्य खोल दिया। वह प्रसिद्ध दोहा इस प्रकार है—

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास यहि काल।
अली कली ही सों बिंध्यो, आगे कौन हवाल॥

इसके बाद 'सतसई' की रचना हुई और बिहारी की ख्याति बढ़ती गई। बिहारी न केवल राजपरिवार में, वरन कवि-मंडली में सम्मानित हुए। बिहारी को लोक-जीवन के विविध अनुभव प्राप्त थे। उनकी रचनाओं में कहीं कच्चापन नहीं झलकता। प्रत्येक दोहा कलात्मक पूर्णता एवं परिपक्वता का एक रूप है। हिन्दी के कला-प्रधान कवियों में बिहारी सर्वश्रेष्ठ हैं।

बिहारी की कृति सतसई-परंपरा की एक उज्वल कड़ी है। 'गाथा सप्तशती' और 'आर्या सप्तशती' एवं 'अमरुशतक' आदि मुक्तकों से प्रेरणा लेकर बिहारी ने यह एक विविध रत्नमणि-माल तैयार की है जिसकी आभा के सामने आज का भी मुक्तक साहित्य श्रीहीन लगता है। मुक्तक-साहित्य की परंपरा में बिहारी का स्थान शीर्ष पर है।

---

१. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, जनवरी १८१९।

रीतिकाव्य के रूप में बिहारी की रचना आदर्श है। अलंकार, रस, भाव, नायिका आदि का वर्णन इसमें है, परन्तु लक्षण नहीं हैं। अलंकारों के कुछ सुन्दर उदाहरण नीचे लिखे दोहों में देखे जा सकते हैं—

सघन कुंज छाया सुखद, सीतल मंद समीर।
मन ह्वै जात अजौं वहै, वा जमुना के तीर।। **स्मरण**
अधर धरत हरि के परत, ओंठ दीठि पट ज्योति।
हरे बाँस की बाँसुरी, इंद्र धनुष रँग होति।। **तद्‌गुण**
केसरि कै सरि क्यों सकै, चंपक कितक अनूप।
गात रूप लखि जात दुरि, जातरूप को रूप।। **प्रतीप**
अंग अंग नग जगमगति, दीपशिखा सी देह।
दिया बढ़ाए हूँ रहै, बड़ो उजेरो गेह।। **उपमा, अत्युक्ति**

कुछ दोहों को छोड़कर समस्त 'बिहारी सतसई' में आलंकारिक चमत्कार है, भाव-सौन्दर्य है, नायिका का वर्णन है, साथ ही ध्वनि-काव्य के उत्तमोत्तम उदाहरण हैं। इनको लेकर बिहारी की व्याख्या अनेक टीकाकारों ने की है। अतः यह सिद्ध करने की बात नहीं कि बिहारी की रचना रीतिकाव्य है।

बिहारी के इस प्रकार के काव्य की निजी विशेषताएँ हैं। डा० सर जार्ज ग्रियर्सन ने लिखा है कि यूरोपियन काव्य में बिहारी के समकक्ष कोई काव्य नहीं मिला। बिहारी प्रेम और कला दोनों ही को महत्व देते थे। उन्होंने लिखा है—

तंत्री नाद कवित्त रस, सरस राग रति रंग।
अनबूड़े बूड़े तिरे, जे बूड़े सब अंग।।

बिहारी का समस्त जीवन काव्य-साधना में ही व्यतीत हुआ। यही कारण है कि उनका एक-एक दोहा हमारे अन्तस को स्पर्श करता है और आँखों के सामने एक सौन्दर्यपूर्ण प्रेमक्रीड़ा से भरा संसार प्रत्यक्ष कर देता है।

भाषा पर बिहारी का असाधारण अधिकार है। शब्द और वर्ण के स्वभाव की परख जितनी बिहारी को है, उतनी शायद ही किसी को हो। शब्द और वर्ण दोहों में नगों के समान जड़े हैं और रत्नों के समान चमकते हैं। शब्द को माँजने, चमकाने, मोड़ने और सँवारने की कला में बिहारी अत्यंत सिद्धहस्त हैं। इन शब्दों के द्वारा रूप प्रत्यक्ष हो जाता है।

बिहारी की रचना में व्रजभाषा इठलाती और अठखेलियाँ करती हुई चलती है। उसका अपना प्रौढ़ सौन्दर्य निखरा हुआ दिखाई देता है। कहीं-कहीं उसकी मस्त गति में संगीत की झलक एक विलक्षण मिठास भर देती है। कुछ उदाहरण यों हैं—

लहलहाति तन तरुनई, लचि लगि लौं लपि जाय।
लगै लाँक लोयन भरी, लोयन लेति लगाय।।
अंग अंग नग जगमगत, दीपसिखा सी देह।
दिया बुझाए हू रहै, बड़ो उजेरो गेह।।

रस सिंगार मंजन किए, कंजन भंजन देन।
अंजन रंजन हू बिना, खंजन गंजन नैन।।
फिरि फिरि चित उतही रहत, टुटी लाज की लाव।
अंग अंग छवि झौंर मैं, भयो भौंर की नाव।।

बिहारी की भाषा सरस, मधुर, प्रांजल एवं प्रौढ़ है।

बिहारी के शब्द वस्तु, व्यक्ति या भाव का जगमगाता रूप निखार देते हैं। उनके एक-एक शब्द में रूप झाँकता है। उनके वाह्य रूप के वर्णन, वयस्सन्धि के चित्रण, आभूषण-हीन सौन्दर्य, मधुर मादकता, गदराए यौवन के मधुर रूप की झलकें जीवन के यथार्थ रूप हैं। ये चित्र कोरे काल्पनिक नहीं हैं।

छुटी न सिसुता की झलक, झलक्यो जोबन अंग।
दीपति देह दुहून मिलि, दिपत ताफ्ता रंग।।
वाहि लगै लोयन लगै, कौन जुवति की जोति।
जाके तन की छाँह ढिग, जोन्ह छाँह सी होति।।
भई जु तन छबि बसन मिलि, बरनि सकै सु न बैन।
अंग ओप आँगी दुरी, आँगी अंग दुरै न।।

बिहारी की दृष्टि बड़ी पैनी है। बिहारी के भाव-वर्णन अतीव मधुर और सजीव हैं और उनके सूक्ष्म निरीक्षण के प्रमाण देते हैं। आन्तरिक भावनानुभूति से प्रभावित अंग-चेष्टाएँ, विभिन्न व्यापार, सब का बड़ा ही सजीव चित्रण हुआ है जिससे ये चित्र मानस में उतर कर फिर अमिट हो जाते हैं। भाव और चेष्टाओं को चित्रित करनेवाले कुछ वर्णन देखिए—

लटपटाति सी ससिमुखी, मुख घूँघट पट ढाँकि।
पावक झर सी झमकि कै, गई झरोखे झाँकि।।
मुख धोवत एँड़ी धँसति, हँसति अनगवति तीर।
धँसति न इन्दीवर नयनि, कालिन्दी के नीर।।
बतरस लालच लाल के, मुरली धरी लुकाय।
सौंह करै भौंहनि हँसै, दैन कहै नटि जाय।।
कहत नटत रीझत खिझत, मिलत खिलत लजियात।
भरे भौन में करत हैं, नैनन् हीं सब बात।।

इस प्रकार रूप और भाव के चित्रण में बिहारी अद्वितीय हैं। प्रेम में संयोग के विविध चित्र 'सतसई' में हैं और वियोग की भी विलक्षण उक्तियाँ उनकी सूझ का परिचय देती हैं। अपने समय के प्रेम और रूप की धारणा का सफलता-पूर्वक चित्रण करते हुए भी बिहारी की धारणा सौन्दर्य के चित्रण में नीचे लिखे दोहे में प्रकट हुई है—

लिखन बैठि जाकी सबी, गहि गहि गरब गरूर।
भए न केते जगत के, चतुर चितेरे कूर।।

बिहारी का काव्य हिन्दी साहित्य को अनुपम देन है। बिहारी का सौन्दर्य-चित्रण भावुक या भावुकतामय चित्रण नहीं, वरन जीवन का प्रौढ़ अनुभव रखनेवाले व्यक्ति द्वारा मानव की युवावस्था की चेष्टाओं, भावनाओं और रूपों का उद्घाटन है। वे अपने भावों और विचारों को सजीव कलात्मक रूप में प्रस्तुत करने की एक विलक्षण प्रतिभा लेकर जन्मे थे और उनके क्षेत्र में उनकी समता करने वाला कवि ढूँढ़ने से भी मिलना संभव नहीं जान पड़ता। कवि के रूप में वे हिन्दी साहित्य के गौरव हैं।

कविवर मतिराम

बिहारी ही के समान प्रवृत्तियों को लेकर लिखने वाले कविवर मतिराम में बिहारी की प्रौढ़ता के स्थान पर किशोर-सुलभ सुकुमारता एवं मृदुल लालित्य स्पष्ट होता है।

कोमल भावनाओं को व्यक्त करने में सुकुमार कल्पना का प्रयोग करने वाले मतिराम का काव्य भी रीतिकाव्य का प्रतिनिधित्व करता है। उनके 'ललित ललाम', 'रसराज', 'अलंकार पंचाशिका' आदि में यद्यपि लक्षण दिए हुए हैं, फिर भी प्रधानता उदाहरण काव्य की ही है। अतः उनकी गणना रीतिशास्त्रियों से अधिक रीतिकाव्यकारों में ही होती है। ये ग्रन्थ न भी हों तब भी मतिराम की लिखी केवल 'सतसई' रीतिकाव्य का सुन्दर रूप उपस्थित करने में समर्थ है। इसमें अलंकार, नायिकाभेद, रस, भाव आदि का सुन्दर वर्णन है। यों भी मतिराम एक आचार्य की अपेक्षा कवि के रूप में ही अधिक प्रसिद्ध हैं। उनकी सतसई के कुछ उदाहरण यों हैं:—

अटा ओर नंदलाल उत, निरखो नेक निसंक।
चपला चपलाई तजी, चंदा तजो कलंक।।
उमगी उर आनंद की, लहरि छहरि दृग राह।
बूड़ी लाज जहाज लौं, नेह नीर निधि माह।।
तेरी औरै भाँति की, दीप शिखा सी देह।
ज्यों ज्यों दीपति जगमगति, त्यों त्यों बाढ़त नेह।।

ऐसे ही अनेक सुन्दर अलंकारों की आभा से युक्त उदाहरण मतिराम के काव्य में पाए जाते हैं। कोमला वृत्ति एवं माधुर्य गुण के साथ यमक का एक उदाहरण कितना सुन्दर है—

श्रम जल कन झलकन लगे, अलकनि कलित कपोल।
पलकनि रस छलकन लगे, ललकन लोचन लोल।।

ये समस्त उदाहरण काव्य के हैं जिनमें व्यंग्यार्थ का चमत्कार है। नायिका की विभिन्न चेष्टाओं और दशाओं का संकेत मतिराम की विलक्षण मनोवैज्ञानिक सूझ को स्पष्ट करने वाला है। ये चित्र अत्यंत मनोमोहक हैं और एक सहज अज्ञात सौन्दर्य को स्पष्ट करने वाले हैं, जैसे—

दिपै देह दीपति गयो, दीप बयारि बुझाय।
अंचल ओट किए तऊ, चली नबेली जाय।।
कोंपलि ते किसलय जबे, होइ कलिन ते कौल।
तब चलाइयत चलन की, चरचा नायक नौल।।

अत्युक्ति में मतिराम बिहारी से कम नहीं हैं। बिहारी का 'पत्रा ही तिथि पाइए' वाला दोहा अधिक प्रसिद्ध है, अब मतिराम की अत्युक्ति देखिए—

जब जब चढ़ति अटानि दिन, चंद्रमुखी यह बाम।
तब तब घर घर धरत हैं, दीप बारि सब गाम।।

विचित्र अत्युक्ति है। मैं समझता हूँ, 'वर्षा ऋतु में ऐसा होता है', इतना और जोड़ देना चाहिए।

मतिराम में बिहारी जैसी प्रौढ़ता और पैनापन नहीं, पर भावुकता और कोमलता बड़ी मोहक है। मतिराम के अधिकांश चित्र एक युवक की दृष्टि से देखे हुए किशोरावस्था के चित्र हैं जिनमें अल्हड़ सुकुमारता और नवलता है। कवि की सुकुमार भावुकता ने इन्हें स्मरणीय बना दिया है। सौन्दर्य परखने की दृष्टि मतिराम की बड़ी ही बारीक है।

यौवन के सहज सुलभ चित्रणों से मतिराम की रचना संपन्न है। रूप और गुणों को एक साथ पाकर मनुष्य रीझ जाता है। रूप और गुणों पर रीझने वाली एक अल्हड़ मुग्धता का भाव नीचे लिखे छंद में व्यक्त हुआ है—

मोरपखा मतिराम किरीट में, कंठ बनी बनमाल सुहाई।
मोहन की मुसुकानि मनोहर, कुंडल डोलनि में छबि छाई।
लोचन लोल बिसाल बिलोकनि, को न बिलोकि भयो बस भाई।
वा मुख की मधुराई कहा कहौं, मीठी लगै अँखियान लुनाई।।

सहज रूप और चढ़ती युवा का प्रभाव सब पर पड़ता है। मतिराम की नायिका की धारणा में इन दोनों विशेषताओं का समावेश है। मन पर पड़े मुग्ध करने वाले प्रभाव का विश्लेषण रूप की सहज झलकों के साथ नीचे लिखे एक छंद में कितनी सफलता के साथ हुआ है :—

कुंदन को रंग फीको लगै झलकै असि अंगन चारु गुराई।
आँखिन में अलसानि चितौनि में मंजु बिलासन की मधुराई।
को बिन मोल बिकात नहीं मतिराम लहे मुसकानि मिठाई।।
ज्यों ज्यों निहारिए नीरे ह्वै नैननि त्यों त्यों खरी निकरै सी निकाई।।

रूप और प्रेम से भरे उपर्युक्त चित्र मतिराम की प्रमुख प्रवृत्ति को स्पष्ट करते हैं। सौन्दर्य के पारखी और सौन्दर्य की सृष्टि करने वाले मतिराम हिन्दी रीति काव्य के श्रेष्ठ कवियों में से हैं। मतिराम की कविता का हृदय पर एक सुष्ठु सुकुमार प्रभाव पड़ता है, जो उनके कोमल एवं कला-प्रिय व्यक्तित्व का परिचायक है।

कविरत्न भूषण

यद्यपि भूषण मतिराम के भाई थे पर उनकी प्रवृत्ति इनसे बिलकुल भिन्न है। रीति-परंपरा का पालन भूषण ने ओजपूर्ण वीरकाव्य लिखकर किया है। उन्होंने रीतिकाव्य की शृंगा-रिक परंपरा का निर्वाह न करके वीर-परंपरा का मार्ग प्रशस्त किया है। यद्यपि ीर रस को

लेकर लिखने वाले रीतिकाल में और भी कवि हैं, पर रीति-परंपरा को लेकर वीर काव्य के प्रणेता भूषण ही हैं और इस दृष्टि से इनका रीतिकाव्य के भीतर अद्वितीय स्थान है। इस भाव को लेकर लिखी गई भूषण की रचना में सौन्दर्य द्रष्टव्य है। 'शिवराजभूषण' में अलंकारों के उदाहरण रूप ही काव्य-रचना है, पर उसमें भाव, रस, गुण, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि के भी सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। वीर भाव को लेकर नायिका-भेद संभव नहीं, अतः प्रमुखतया इनका मार्ग अलंकार का ही रहा। भूषण में प्रधान है ओजगुण और वीर रस। ीर रस से संबंधित अद्भुत, भयानक, बीभत्स और रौद्र भी 'शिवराजभूषण' में प्रस्फुटित हुए हैं। इस प्रकार भूषण ने अपने युग की परंपरा का पालन विलक्षण ढंग से किया है, इसीलिए वे इतने प्रसिद्ध हैं। भूषण की प्रतिभा प्रचंड है, साथ ही उनकी सूझ बारीक। इन दोनों ही विशेषताओं ने मिलकर उनके काव्य को सहज प्रभावशील बना दिया है। एक उदाहरण देखिए—

> बाने फहराने घहराने घंटा गजन के, नाँही ठहराने रावराने देस देस के।
> नग भहराने ग्राम नगर पराने सुनि, बाजत निसाने सिवराजजू नरेस के।
> हाथिन के हौदा उकसाने कुंभ कुंजर के, भौन को भजाने अलि छूटे लट केस के।
> दल के दरारे हुते कमठ करारे फूटे, केरा के से पात बिहराने फन सेस के।।

वीर के चार रूप—दान, धर्म, दया और युद्ध—माने जाते हैं। 'शिवराजभूषण' के एक छंद में चारों भावों के उदाहरण एक साथ मिलते हैं, देखिए—

> दान समै द्विज देखि मेरहू कुबेरहू की, संपति लुटाइबो को हियो ललकत है।
> साहि के सपूत सिवसाहि के बदन पर, सिव की कथान में सनेह झलकत है।
> भूषन जहाँन हिंदुवान के उबारिबे को, तुरकान मारिबे को बीर बलकत है।
> साहिन सों लरिबे की चरचा चलति आन, सरजा के दृगन उछाह छलकत है।।

उत्साह स्थायी भाव के उपयुक्त चारों रूप इस छंद की पंक्तियों में एक साथ देखने को मिलते हैं।

भूषण को मतिराम की भाँति रीति-कवि ही मानना चाहिए, क्योंकि इनका प्रमुख उद्देश्य शास्त्र-विवेचन नहीं, वरन् काव्य-रचना है। अतः काव्य-प्रतिभा-प्रधान इस प्रकार के लेखक प्रधानतया कवि ही हैं, आचार्य नहीं। रीति-परिपाटी पर रचना करते हुए भी इनकी प्रमुख देन काव्य के क्षेत्र में ही है, शास्त्र में नहीं।

भूषण की विशेषता रीति-परंपरा पर वीर रस से संबंधित ओजपूर्ण कविता करने में है और इस दृष्टि से भूषण अद्वितीय हैं।

महाकवि देव

देवदत्त का जन्म सन १६७३ ई० (सं० १७३० वि०) में हुआ था। 'भाव-विलास' की रचना देव ने १६ वर्ष की अवस्था में की, जैसा कि अन्त में दिए दोहों से प्रकट है :—

> शुभ सत्रह से छियालिस, चढ़त सोरहीं वर्ष।
> कढ़ी देव मुख देवता, भावविलास सहर्ष।।

दिल्लीपति अवरंग के, आजमसाह सपूत।
सुन्यो सराह्यो ग्रन्थ यह, अष्ट याम संपूत।।

'भावविलास' में भाव, नायिका-भेद, अलंकार तीनों का वर्णन है। मिश्रबन्धुओं की खोज के अनुसार ये इटावा के रहनेवाले थे। अब भी मैनपुरी में उनके वंशज रहते हैं। भवानीदत्त वैश्य के आश्रय में इन्होंने 'भवानी-विलास' लिखा। कुशलसिंह के नाम पर 'कुशल-विलास', उद्योतसिंह के लिए 'प्रेमचन्द्रिका' तथा भोगीलाल के लिए 'रस-विलास' ग्रन्थ बनाए। 'रस-विलास' की रचना सन १७२६ ई० (सं० १७८३वि०) में हुई। देव के कुल ७५ ग्रन्थ माने जाते हैं जिनमें २७ ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं। देव को आचार्य और कवि दोनों ही रूपों म सफलता प्राप्त हुई।

मौलिकता और कवित्व शक्ति दोनों ही देव की रचनाओं में देखने को मिलती हैं। भाव की विवृति, सूक्ष्म निरीक्षण, भाषा और शब्द की प्रकृति का ज्ञान, छंद की मोहक गति, सरसता और उक्ति-चमत्कार सब मिलकर देव की रचना की विशेषता को बखानते हैं। मानव-मनोभावों की देव को अत्यन्त सूक्ष्म परख है। इनके भाव-वर्णन के प्रसंगों में उनके साकार चित्रण देखे जा सकते हैं। शब्दों की विशेष गति से युक्त एक रूप का चित्रण और उसका प्रभाव नीचे लिखे छंद में देखने को मिलता है—

आई बरसाने ते बोलाई वृषभानु सुता,
निरखि प्रभानि प्रभा भानु की अथै गई।
चक तकवानि के चका पै चक चोटन सों।
चौंकत चकोर चकचौंधा सो चकै गई।।
नंदजू के नंदजू के नैननि अनंदमई।
नंदजू के मंदिरनि चंदमई छै गई।।
कुंजनि कलिनमई गुंजनि अलिनमई।
गोकुल की गलिन नलिनमई कै गई।।

प्रेम स्थायी भाव का चित्रग मिलन की उत्कंठा और व्याकुलता के साथ नीचे लिखे छंद में कितनी सजीवता के साथ हुआ है—

मूरति जो मनमोहन की मनमोहिनी के थिर ह्वै थिरकी सी।
'देव' गोपाल के बोल सुने छतियाँ सियरात सुधा छिरकी सी।
नीके झरोखे ह्वै झाँकि सकै नहिं नैननि लाज घटा घिरकी सी।
पूरन प्रीति हिए हिरकी खिरकी खिरकी में फिरै फिरकी सी।।

संयोग की विविध स्थितियों और वियोग की दशाओं का मर्मस्पर्शी चित्रण देव ने किया है। वियोग की 'व्याधि' दशा का चमत्कारी चित्रण यहाँ प्रस्तुत है—

लाल विदेस वियोगनि जाल वियोग की आगि जई झुरि झूरी।
पान सों पानि सों प्रेमकहानी सों प्रान ज्यों प्राननि यों मत हूरी।

'देव' जू आजुहिं ऐबे को औधि सु बीतत देखि बिसेखि बिसूरी।
हाथ उठाइबे उड़ाइबे को उड़ि काग गरे परी चारिक चूरी।।

रस और भाव की समृद्धि तो देव के काव्य में उमड़ी पड़ती है, पर देव की रसिकता केशव की ही भाँति है जिसमें वीर, भयानक आदि रस भी शृंगार के ही सहायक रस से हैं। इनकी स्वतंत्र परिस्थिति का वर्णन न करके नायक-नायिका के प्रसंग में ही इन रसों का वर्णन है जो मज़ाक सा लगता है। भयानक रस का एक उदाहरण देखिए—

कंजन बेलि सी नील बधू जमुना जल केलि सहेलिन आनी।
रोमावली नवली कहि 'देव' सु गोरे से गात नहात सुहानी।
कान्ह अचानक बोलि उठे उर बाल के ब्याल बधू लपटानी।
धाइ के धाइ गही ससबाइ दुहूँ कर झारति अंग अयानी।।

यह भयानक रस का वर्णन क्या है, उसकी हँसी है। इसका साधारणीकरण नहीं हो सकता, यद्यपि आश्रय के लिए विभावानुभाव संचारी सभी मौजूद हैं। वास्तव में रीतिकालीन कवियों की प्रमुख दक्षता शृंगार-निरूपण में ही है। इसके अतिरिक्त देव इस मत के भी हैं कि शृंगार ही रस है, अन्य रस उसके अंग मात्र हैं।

सौन्दर्य-वर्णन में देव की कल्पना बड़ी सजग है और अनेक मनोमोहक चित्रों का संग्रह करने में वह सफल हुई है। एक गर्वस्वभावा स्वकीया के स्वरूप का चित्रण नीचे लिखे छंद में दर्शनीय है—

गोरे मुख गोरहरे हँसत कपोल बड़े,
लोयन बिलोल बोल लोने लीन लाज पर।
लोभा लागे लाल लखि सोभा कवि देव छवि,
गोभा से उठत रूप सोभा समाज पर।
बादले की सारी दरदावन किनारी,
जगमगी जरतारी झीनी झालरि के साज पर।
मोती गुहे कोरन चमक चहूँ ओरन,
ज्यों तोरन तरैयन की तानी दुजराज पर।।

उत्प्रेक्षा का यहाँ सुन्दर चमत्कार है। इसी प्रकार कल्पना-चमत्कार देव ने अधिकांश दिखलाया है। राधा और उनकी सखियाँ स्फटिक मंदिर में किस प्रकार की शोभा पा रही हैं, देव की कल्पना में आई उस शोभा का एक दृश्य नीचे लिखे छंद में अंकित हुआ है—

फटिक सिलान सों सुधार्यो सुधामन्दिर,
उदधि दधि की सी अधिकाई उमगै अमंद।
बाहर ते भीतर लौं भीति न दिखैए 'देव',
दूध कैसो फेन फैलो आँगन फरसबंद।

तारा सी तरुनि तामैं ठाढ़ी झिलमिल होत,
मोतिन की माल मिली मल्लिका को मकरन्द।
आरसी से अंबर में आभा से उज्यारी लागै,
प्यारी राधिका के मुखचंद सों लगत चंद॥

उपर्युक्त उदाहणों से देव की प्रतिभा पर प्रकाश पड़ता है। वे एक उत्कृष्ट कोटि के कवि थे, पर उनका काव्य का माध्यम कवित्त, सवैया होने से अनेक शब्द केवल छन्दपूर्ति के हेतु ही आए हैं। सेनापति और बिहारी की सी चुस्ती देव के छंदों में नहीं है, पर भाव की विवृति और रूप का विशद चित्रण देव की कविता में खुलकर हुआ है।

रीतिकाव्य के अंतर्गत घनानंद, मंडन, दीवान पृथ्वीसिंह, रसनिधि, आलम, नागरीदास, दास, रसपीन, ठाकुर, पूरबी, कलानिधि, बोधा आदि की रचनाएँ हैं। मडन की रचनाएँ उपलब्ध नहीं। इनके रचे ग्रन्थ 'रसरत्नावली', 'रसविलास', 'जनकपचोसी', 'जानकी जू का विवाह', 'नैनपचासा', 'पुरन्दर माया' हैं। मिश्रबन्धुओं के अनुसार, इनका जन्म जैतपुर, बुन्देलखंड में सं० १६९० वि० (सन १६३३ ई०) में हुआ था। इनकी कविता के नमूने संग्रहों में या मौलिक रूप में मिलते हैं। इनकी कविता सरस और मधुर है। इनका एक बड़ा प्रसिद्ध छन्द है जो वचन-विदग्धा नायिका का चित्र खींचता है:—

अलि हौं तो गई जमुना जल को सु कहा कहौं बीच विपत्ति परी।
घहराय कै कारी घटा उनई इतने ही में गागरि सीस धरी॥
रपट्यो पग घाट चढ्यो न गयो कवि 'मंडन' ह्वै कै बिहाल गिरी।
चिरजीवहु नंद को बारो अरी गहि बाँह गरीब ने ठाढ़ी करी॥

कविवर घनानन्द

घनानंद का जन्म सन १६५८ ई० (सं० १७१५ वि०) के लगभग माना जाता है। ये दिल्ली के रहने वाले कायस्थ थे। ये फारसी के विद्वान और बादशाह के दफ्तर में साधारण नौकरी पर थे, पर पीछे अपनी योग्यता के बल पर ये दिल्लीश्वर मुहम्मदशाह के प्राइवेट सेक्रेटरी हो गए। बाल्यावस्था से ही इन्हें रासलीला देखने का चाव था जिसके फलस्वरूप इनके हृदय में कृष्ण की प्रेमाभक्ति जाग्रत हुई। कहते हैं कि इनका सुजान नामक वेश्या से प्रेम था और उसी के कारण ये अपनी नौकरी से निकाले गए। फलस्वरूप इनमें वैराग्य जाग्रत हुआ। वहाँ से ये वृन्दावन गए और निम्बार्क संप्रदाय में दीक्षित होकर कृष्ण-भक्ति की साधना करने लगे। १७३९ ई० (सं० १७९६ वि०) में नादिर शाह के मथुरा आक्रमण के समय ये मारे गए थे। घनानंद बड़े प्रेमी जीव थे। इनका लौकिक प्रेम अन्ततगत्वा प्रेमा भक्ति में परिणत हो गया।

घनानंद का ध्यान अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, नायिका-भेद, रसभाव आदि की ओर नहीं है, फिर भी इनकी रचना में आलंकारिक चमत्कार तथा शृंगार के संयोग और वियोग दोनों ही पक्षों का इतना विदग्ध वर्णन है कि रीति-परंपरा का प्रभाव उसमें लक्षित होता है। सवैया और कवित्त पद्धति को ही इन्होंने प्रमुखतया अपनाया है। भक्तों का प्रमुख माध्यम पद रहा है। पद

इन्होंने लिखे हैं और उनमें रीति काव्य का प्रभाव नहीं, पर कवित्त सवैयों में उसका प्रभाव अवश्य है। घनानंद में रीति काव्य की दूसरी विशेषता है सजग अभिव्यंजना। सरल मधुर व्रजभाषा में घनानंद के कवित्त का एक एक शब्द चुन चुन कर रखा जान पड़ता है और बड़ा ही मार्मिक प्रभाव डालता है। घनानंद एक कुशल कवि थे, केवल भक्तिभाव-वश ही कविता इन्होंने नहीं की, वरन् प्रेम की विदग्धतापूर्ण विवृति हुई है। यह इनके 'सुजानसागर' के प्रारंभ में लिखे एक सवैया से प्रकट होता है—

> नेही महा व्रजभाषा प्रवीन औ सुंदरतानि के भेद को जानै।
> जोग वियोग की रीति में कोविद भावना भेद सरूप को ठानै।
> चाह के रंग में भीज्यो हियो बिछुँ मिले प्रीतम साँति न मानै।
> भाषा वीन सुछंद सदा रह सो धन जी के कवित्त बखानै।।

घनानंद ने रूप और भाव का चित्रण बिलकुल रीति काव्य की पद्धति पर किया है जो बड़ा ही मार्मिक है और रीति-परंपरा की काव्य-संबंधी विशेषताओं से ओतप्रोत है। नायिका के रूप और भाव-सौन्दर्य के चित्रण के समान ही घनानन्द के छन्दों में चित्र आए हैं, यथा —

> लाजनि लपेटी चितवनि भेदभाय भरी,
> लसति ललित लोल चख तिरछानि में।
> छवि को सदन गोरो बदन रुचिर भाल,
> रस निचुरत मीठी मृदु मुसुक्यानि मैं।
> दसन दमक फैलि हिए मोती माल होत,
> पिय सों लड़कि प्रेम पगी बतरानि में।
> आनंद की निधि जगमगति छबीली बाल,
> अंगनि अनंग रंग ढुरि मुरजानि मैं।।

इसमें प्रेम का भाव, अनुभाव, संचारी आदि के साथ रूप का चित्रण है। इसी प्रकार वियोग का भाव छंदों में अनुभूति-संकुल उक्ति-चमत्कार के साथ देखने को मिलता है। घनानन्द के काव्य में विशेषता इस बात की है कि अभिव्यक्ति अत्यन्त प्रौढ़ है, मार्मिक, सहज और प्रभावपूर्ण है। ऐसा जान पड़ता है कि उस भाव की इससे अच्छी अभिव्यक्ति हो ही नहीं सकती जैसी इन छंदों में हुई है।

घनानन्द की रचना में भाव और कला दोनों का ही ऐसा सामंजस्य है कि कोई पक्ष दूसरे से घटकर नहीं। इस प्रकार की विशेषता कवित्त-सवैयों में भरने में घनानन्द को लगभग वही सफलता प्राप्त हुई है जो बिहारी को दोहों की रचना में मिली है।

घनानन्द रीति ग्रन्थ का उद्देश्य न रखते हुए भी रीति काव्य से अप्रभावित न थे और उनका काव्य सेनापति, देव आदि की भाँति काव्य की समस्त विशेषताएँ अपनाए हुए है।

भिखारीदास

आचार्य भिखारीदास कवि रूप में भी अति प्रसिद्ध हैं। अपने ग्रन्थों में इन्होंने ध्वनि,

अलंकार, रस, नायिका-भेद, छंद आदि के लक्षण और विवेचन प्रस्तुत किए हैं, परन्तु इनके उदाहरणों में आई हुई कविता रीति-काव्य का सुन्दर नमूना प्रस्तुत करती है। दास जी अरवर, प्रतापगढ़ जिले के ट्योंगा ग्राम के निवासी थे। इनके पिता का नाम कृपालदास और पितामह का नाम वीरभानु था। इनके पुत्र अवधेश लाल और पौत्र गौरीशंकर थे। इनके बाद इनका अंश आगे नहीं चला। प्रतापगढ़ के राजा पृथ्वी सिंह के भाई हिन्दूपति सिंह के आश्रय में इन्होंने अपनी रचनाएँ कीं। दासजी का रचना-काल सं० १७८५ से १८०५ वि० (सन १७२८-५० ई०) तक माना जाता है।

दासजी का काव्य अत्यन्त उत्कृष्ट और ललित है। एक दो छंदों में खड़ी बोली का पुट भी मिलता है, पर इनकी अधिकांश रचना ब्रजभाषा में है। ब्रजभाषा पर इनका प्रशंसनीय अधिकार है। शब्द-चमत्कार के साथ साथ अर्थ-गौरव भी इनकी रचना का प्रधान लक्षण है। दासजी की रचना में अनेक स्थलों पर इनकी सूझ और कल्पना की सराहना करनी पड़ती है। इनकी रचना में उक्ति-वैचित्र्य के साथ साथ भाव का सरल स्वाभाविक रूप में वर्णन भी हुआ है। विरह-वर्णन का एक छंद देखिए—

नैननि को तरसैए कहाँ लौं कहाँ लौं हियो बिरहागि में गइए,
एक घरी न कहूँ कलपैए कहाँ लगि प्रानन को कलपइए।
आवै यही अब जी में विचार सखी चलि सौतिन के गृह जइए।
मान घटे तें कहा घटिहै जु पै प्रानपियारे को देखन पइए॥

उपर्युक्त छंद में विरह की असह्य व्याकुलता का चित्रण किया गया है।

दास जी के ध्वनि, रस और अलंकारों के उदाहरण में आए छंद रीति काव्य का उत्कृष्ट रूप प्रस्तुत करते हैं। एक असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि का सुन्दर उदाहरण नीचे के छन्द में देखने को मिलेगा जिसमें शब्द-शक्ति से पूर्व संयोग शृंगार व्यंग्य है—

जाति हौं जौं गोकुल गोपाल हू पै जैयो नेकु आपनी जो चेरी मोहिं जानती तू सही है।
पाय परिटापु ही सो बूझियों कुसल छेम मोपै निज ओर तें न जाति कछु कही है।
दासजू बसन्त हू के आगमन आयो जो न तिनसों सँदेसन की बात कहा रही है।
एतो सखी कीबी यह अंब बौर दीबी अरु कहिबी वा अमरैया राम राम कही है॥

इसी प्रकार दासजी के अलंकार के उदाहरण के रूप में आए छन्द भी बड़े चित्ताकर्षक हैं। उन्होंने विभिन्न अलंकारों के भेद-प्रभेद विस्तार से दिए हैं। उनके उदाहरण कवित्व-पूर्ण और स्पष्ट हैं। आर्थी उपमा के प्रसंग में इन्होंने बहुधर्ममयी पूर्णोपमा का एक उदाहरण यह दिया है—

काढ़ि कै निसंक पैठि जाति झुंड झुंडन में,
लोगनि को देखि दास आनंद पगति है।
दौरि दौरि जाहि ताहि लाल करि डारति है,
अंग लगि कंठ लगिबे को उमगति है।

चमक झमकबारी उमक जमकबारी,
दमक तमकबारी जाहिर जगति है।
राय असि रावरे की रन में नरन में,
निलज्ज बनिता सी होरी खेलन लगति है।

इस प्रकार भिखारी दास जी के काव्य में प्रौढ़ प्रतिभा के दर्शन होते हैं। इनके अनेक छंद रीति-काव्य का उत्कृष्ट रूप व्यक्त करते हैं।

आलम, पूरबी, रसनिधि, नागरीदास, बोधा आदि के काव्य में रीति-काव्य का प्रभाव परिलक्षित होता है और यों तो असंख्य लेखकों ने इस पद्धति पर अपने काव्य लिखे हैं जिनके नाम गिनाने की आवश्यकता नहीं। केवल प्रतिनिधि कवियों का विवेचन ही यहाँ प्रस्तुत किया गया है। आलम पर सूफ़ी मत का प्रभाव है और बोधा प्रेममार्ग के स्वच्छंद कवि हैं। रसनिधि, दीवान पृथ्वीसिंह और नागरीदास प्रधानतया भक्ति-भावना से युक्त हैं। इनकी दृष्टि में कविता करते समय रीतिशास्त्र का ध्यान नहीं है और न इनकी रचनाएँ ही उस साँचे में ढली हैं।

रसलीन

दास जी के समकालीन रीति-काव्य की रचना करने वाले कवियों में सैयद गुलाम नबी उपनाम 'रसलीन' को भुलाया नहीं जा सकता। ये जिला हरदोई के विलग्राम नगर के रहने वाले थे। ये अरबी-फारसी के विद्वान् और भाषा काव्य में निपुण थे। इनके लिखे दो ग्रन्थ मिले हैं—'अंगदर्पण' और 'रसप्रबोध'। 'अंगदर्पण' की रचना सं० १७९४ वि० (सन १७३७ ई०) में हुई थी जिनमें १०० दोहों में नखशिख-वर्णन है तथा 'रस-प्रबोध' में रस-भाव वर्णन विस्तार से हुआ है। उद्दीपन के अन्तर्गत 'बारहमासा' भी है। रसलीन का काव्य बड़ा ही चुटीला और उक्ति-चमत्कार तथा सूझ के कारण इनके दोहे अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। अंगों के चित्रण करने वाले कुछ दोहे निम्नांकित हैं—

कत देखाय कामिनि दई, दामिनि को यह बाँह।
थरथराति सो तन फि', फरफराति घन माँह।।
अमिय हलाहल मद भरे, सेत स्याम रतनार।
जियत मरत झुकि झुकि परत, जेहि चितवत इक बार।।
कुमति चंद प्रति द्योस बढ़ि, मास मास कढ़ि आय।
तब मुख मधुराई लखे, फीको परि घटि जाय।।
रमनी मन पावत नहीं, लाज प्रीति को अंत।
दुहूँ ओर ऐंचो रहै, जिमि बिबि तिय को कंत।।

रसलीन के काव्य का चमत्कार नीचे लिखे एक श्लेषपूर्ण मुद्रालंकार से युक्त सोरठे से व्यक्त हो जायगा—

पीतम चले कमान, मोंका गोसा सौंपि के।
मन करिहौं कुरबान, एक तीर जब पाइहौं।।

बेनी प्रबीन

१९ वीं विक्रमी के अन्त में लखनऊ निवासी बेनी प्रवीन की रचनाएँ रीति काव्य का सुन्दर उदाहरण हैं। इनका समय मिश्रबन्धुओं[1] ने सं० १८५६ से १८७५ वि० (सन १७९९-१८१८ ई०) तक माना है। ये कान्यकुब्ज वाजपेयी थे और इन्होंने लखनऊ के नवाब गाजी उद्दीन हैदर के दीवान दयाकृष्ण के पुत्र नवलकृष्ण के लिए 'नवरस तरंग' की रचना सं० १८७४ वि० में की। इनके अन्य ग्रन्थ 'शृंगार-भूषण', 'नाना राव प्रकाश' भी हैं, पर 'नवरस तरंग' अत्यन्त प्रसिद्ध है। अन्तिम अवस्था में ये अर्बुद गिरि (आबू) पर चले गए थे और वहीं इनका शरीरपात हुआ था। इन्हें इनके सम-कालीन प्रसिद्ध भँडौआ लेखक बेनी बंदीजन ने 'बेनी प्रवीन' की उपाधि दी थी।

बेनी प्रवीन बड़े ही सरस कवि हैं। इनकी रचना मतिराम और पद्माकर के समकक्ष ठहरती है। 'नवरस तरंग', वास्तव में, शास्त्र ग्रन्थ न होकर काव्य ग्रन्थ ही है। इनकी भाषा चलती हुई व्रजभाषा है और ग्रन्थ में ललित और सुन्दर भावाभिव्यक्ति है। भावों की अभिव्यंजना बड़ी सुन्दर है। इनका एक प्रसिद्ध छंद है। इसमें अज्ञातयौवना का चित्र अंकित किया गया है—

कालि ही गूंथि बबा की सौं मैं गजमोतिन की पहिरी अति माला।
आई कहाँ ते इहाँ पुखराज की संग गई जमुना तट बाला।
न्हात उतारी हौं बेनी प्रवीन हँसे सुनि बैनन नैन रसाला।
जानति ना अंग की बदली सब सों बदली बदली कहै माला।।

इसी प्रकार के यौवन के विकास एवं शृंगार के मोहक चित्रों से 'नवरस तरंग' भरी है। भाव वर्णन के समान ही आलंकारिक सौन्दर्य भी इनके काव्य में देखने को मिलता है, नीचे लिखा छंद उसका साक्षी है—

मानव बनाए देव दानव बनाए यक्ष किन्नर बनाए पशु पक्षी नाग कारे हैं।
दुरद बनाये लघु दीरघ बनाए केते सागर उजागर बनाए नदी नारे हैं।
रचना सकल लोक लोकन बनाए ऐसी जुगति में बेनी परवीनन के प्यारे हैं।
राधे को बनाय बिधि धोयो हाथ जाम्यो रंग ताको भयो चंद कर झारे भए तारे हैं।।

उपर्युक्त पद में हेतु की कल्पना कितनी चमत्कारपूर्ण है। बेनी के छंद इसी प्रकार के चमत्कार और भावुकता से पूर्ण हैं।

पद्माकर

रीतिकाव्य के अन्तिम प्रतिभासम्पन्न कवियों में पद्माकर का नाम अग्रगण्य है। इनके ग्रन्थ 'जगद्विनोद' तथा फुटकल छंदों में रीतिकाल की प्रवृत्तियों का सुन्दर परिचय मिलता है। पद्माकर

---

१. मिश्रबन्धुविनोद, भाग २, पृष्ठ ८३९।

में भावविवृत्ति की विलक्षण शक्ति है और उसके विविध चित्रों के दर्शन हमें उनके काव्य में मिलते हैं। वैसे इन्होंने 'हिम्मत बहादुर विरुदावली' में भाव का और 'गंगालहरी' में भक्ति-भावना का चित्रण कर यह स्पष्ट कर दिया है कि इनकी प्रतिभा केवल शृंगार में ही सीमित नहीं है। 'जगद्विनोद' के रस-वर्णन के प्रसंगों में भी इनके वीर, भयानक, हास्य, वीभत्स आदि के चित्रण प्रभावपूर्ण हैं। हास्य रस का एक प्रसिद्ध छन्द है :—

हँसि हँसि भाजै देखि दूलह दिगंबर को,
पाहुनी जे आवैं हिमाचल के उछाह में।
कहै पद्माकर सु काहू सों कहै को कहा,
जोई जहाँ देखै सो हँसेई तहाँ राह में।
मगन भएऊ हँसे नगन महेस ठाढ़े,
औरे हँसे येहू हँसि हँसि के उमाह में।
सीस पर गंगा हँसै भुजनि भुजंगा हँसै,
हास ही को दंगा भयो नंगा के विवाह में।।

यहाँ 'हास' शब्द वाचक होने से प्रभाव अधिक नहीं पड़ता, पर कवि ने हास्य की परिस्थिति का खुल कर वर्णन किया है। पद्माकर ने विविध ऋतुओं के अनुकूल दृश्यावली का वर्णन भी किया है जो भाव के उद्दीपन का कार्य करती है। सावन के हिंडोले का एक चित्र नीचे के छंद में इस प्रकार है—

भौंरन को गुंजन बिहार बन कुंजन में, मंजुल मलारन को गावनो लगत है।
कहै पद्माकर गुमान हूते प्रान हूते प्यारो मनभावनो सुहावनो लगत है।।
मोरन को सोर घनघोर चहुँ ओरन हिंडोरन को बृंद छबि छावनो लगत है।
नेह सरसावन में मेंह बरसावन में सावन झूलिबो सुहावनो लगत है।।

पद्माकर के अधिकांश चित्र आनन्द उल्लास के हैं। उनके द्वारा चित्रित ब्रजमंडल के फाग के दृश्य बासंती मस्ती का चित्रण करने वाले हैं। परन्तु इन चित्रणों में जहाँ ऋतु-सुलभ उद्दीपन है, वहीं पर भावरूप एवं चेष्टा-सौन्दर्य भी अत्यन्त मार्मिक ढंग से व्यक्त हुआ है। 'नैन नचाय कही मुसक्याइ लला फिरि आइयो खेलन होरी' वाली पंक्ति तो इनकी अत्यन्त प्रसिद्ध है। नीचे लिखे छंद में होली खेलने के उपरांत का एक आकर्षक चित्र है—

आई खेलि होरी भरे नवल किसोरी कहूँ बोरी गई रंग में सुगंधिन झकोरै है।
कहै पद्माकर इकंत चलि चौकी चढ़ि हारन के बारन ते फंद बंद छोरै है।
घाँघरे की घूमनि सू अरुन दुबीचे दाबि आँगी हू उतारि सुकुमारि मुख मोरै है।
दंतन अधर दाबि दूनरि भई सी चापि चौबर पचौबर कै चूनरि निचोरै है।।

यह एकान्त का रूप भी पद्माकर की आँखों से न बच सका। भाव और चेष्टाओं के ऐसे लुभावने चित्रणों के पद्माकर धनी हैं। संचारी भावों में आवेग का चित्रण करते हुए उन्होंने लिखा है—

आई संग ग्वालिन के ननद पठाई नीरि सोहति सोहाई सीस ईंगुरी सुपट की।
कहै पद्माकर गंभीर जमुना के तीर लागी घट भरन नवेली नेह अँटकी।
ताही समै मोहन सु बाँसुरी बजाई तामें मधुर मलार गाई और बंसीबट की।
तान लगे लटकी रही न सुधि घूँघट की घाट की न औघट की बाट की न घट की।।

पद्माकर के इन चित्रों के प्रभाव के साथ साथ अनुप्रास-बाहुल्य भी उनके काव्य की एक प्रमुख विशेषता है। एक ही वजन के एक ही वर्ण से प्रारम्भ होने वाले शब्द पद्माकर के काव्य में खूब मिलते हैं। कहीं कहीं तो इन्होंने आनुप्रासादिक शब्द-विशेषता के पीछे अर्थ को ही छोड़ दिया है। इनके ऋतु-वर्णन में इस प्रकार का शब्द-चमत्कार विशेषतया दर्शनीय है। पद्माकर ने इस गुण में देव और सेनापति के मार्ग का अनुसरण किया है पर उनका सा अर्थ-गौरव पद्माकर के ऐसे काव्य में नहीं आ पाया। पद्माकर रीति-काव्य के सिद्धहस्त ए चमत्कारी कवि थे। इसी से उनका प्रभाव समवर्ती कवियों पर काफी है।

रीतिकाव्यकारों में बीसवीं शताब्दी विक्रमीय के प्रारंभ के समय में नवीन, चन्द्रशेखर और ग्वाल का नाम भी उल्लेखनीय है। नवीन ने शृंगारपूर्ण, तथा चन्द्रशेखर ने वीर और शृंगार दोनों ही पर काव्य-रचना की है। परन्तु इन सबसे अधिक प्रसिद्धि ग्वाल को मिली थी।

कविवर ग्वाल

ग्वाल भी पद्माकर की परिपाटी पर हैं। इनके रचे १३ ग्रन्थ खोज रिपोर्टों द्वारा ज्ञात हुए हैं जिनमें कुछ तो भक्ति-संबंधी और शेष अलंकार, रस, तथा नायिका-भेद पर हैं। इनका 'कृष्णजी का नखशिख' प्रसिद्ध है, पर उसमें बलभद्र मिश्र के 'नखशिख' की भाँति उपमा, उत्प्रेक्षा, उल्लेख, संदेह आदि अलंकारों की भरमार में स्वाभाविक अंग-सौंदर्य प्रकट नहीं हो पाया। 'अलंकार-भ्रम-भंजन,' 'कवि दर्पण' आदि अलंकार पर, 'रसरंग,' 'रसिकानंद' रस और नायिका-भेद पर लिखे ग्रन्थ हैं। कृष्ण के नखशिख वर्णन से एक दसन-सौन्दर्य-वर्णन का छन्द नीचे दिया जाता है—

कैंधौ पके दाड़िम के बीज परिपूरन हैं परस पवित्र प्रभा पुंज लमकत हैं।
कैंधौ भूमिसुत के अनेक तारे तेजवारे बाँधि के कता झलामल झमकत हैं।
ग्वाल कवि कैंधौ पंचबान जौहरी को जो ललित ललाई लिए मणि चमकत हैं।
कैंधौ वृषभान की लड़ैती प्रान प्रीतम के पान पीक पागे ये दसन दमकत हैं।।

ग्वाल की रचना में कल्पना का पुट विशेष है। इनकी भाषा अधिक प्रांजल न होकर बाजारूपन लिए है, फिर भी इनके वर्णन सुन्दर हैं। शरद ऋतु की चन्द्रिका का एक वर्णन है—

मोरन के सोरन की नेकौ न मरोर रही घोर हूँ रही न घनघने या फरद की।
अंबर अमल सर सरिता बिमल मल पंक को न अंक औ न उड़न गरद की।
ग्वाल कवि चित्त में चकोरन के चैन भए पंथिन की दूरि भई दूषन दरद की।
जल पर थल पर महल अचल पर चाँदी सी चमकि रही चाँदनी सरद की।।

इसमें संदेह नहीं कि ग्वाल की रचना में रीतिकाव्य की समस्त विशेषताएँ देखने को मिलती हैं। भाषा-चमत्कार, शृंगार, अलंकार, नायिका-भेद—सबके उदाहरण इनके काव्य में हैं। इनका

रचना-काल सं० १८७९ से १९१८ वि० (सन १८२२–६१ ई०) तक माना जाता है। अतः ये रीतिकाल के अन्तिम कवियों में हैं।

इस प्रकार रीतिकाव्य के अन्तर्गत हिन्दी की सरस रचनाएँ रची गई हैं। रीतिकाव्य की परंपरा आधुनिक युग में भी चलती दिखाई देती है। परंतु वर्तमान काल में इस प्रकार की रचनाओं को वह प्रेरणा और सम्मान न मिला जो उत्तर मध्य युग में इन्हें प्रदान किया गया। राजनीतिक परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ काव्य के क्षेत्र में नूतन प्रवृत्तियों का विकास हुआ। प्रमुख परिवर्तन इसलिए उपस्थित हुआ कि आगे रीति-कवियों द्वारा परिमार्जित व्रजभाषा के स्थान पर खड़ीबोली का प्रयोग काव्य में स्वीकार हुआ। अतः रूप और तथ्य दोनों ही दृष्टियों से आधुनिक काव्य रीतिकाव्य से भिन्न है।

ख. रीतिशास्त्र

हिन्दी रीतिशास्त्र का तात्पर्य संस्कृत काव्यशास्त्र के रीति-सिद्धान्त से नहीं है। रीति को काव्य की आत्मा के रूप में मान कर काव्य का विश्लेषण करना हिन्दी रीति-शास्त्र का उद्देश्य नहीं; वरन इसका अर्थ संस्कृत अलंकारशास्त्र के समान व्यापक है। इस प्रकार से रीतिशास्त्र और रीतिकाव्य का जो वास्तविक अर्थ संस्कृत में है उससे कुछ भिन्न और विशिष्ट अर्थों में हिन्दी साहित्य के भीतर इन शब्दों का प्रयोग किया गया है। संस्कृत रीतिशास्त्र का अर्थ रीति-सिद्धान्त-संबंधी चर्चा करने वाला शास्त्र है। विशेष प्रकार की चमत्कारपूर्ण पद-रचना रीति[1] मानी गई है। संस्कृत के प्रसिद्ध आचार्य वामन के द्वारा रीति उसी प्रकार काव्य की आत्मा मानी गई[2] जिस प्रकार अन्य आचार्यों द्वारा रस और ध्वनि। इस दृष्टिकोण से रीतिशास्त्र के अन्तर्गत केवल वही ग्रन्थ आ सकते हैं जिनमें रीति को काव्य की आत्मा मानकर काव्य के स्वरूप का विश्लेषण किया गया है। परन्तु हिन्दी साहित्य के कुछ इतिहासकारों, विशेष रूप से आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, ने हिन्दी साहित्य के उत्तर मध्यकाल को रीतिकाल की संज्ञा प्रदान करते हुए रीति को व्यापक अर्थ में ग्रहण किया है। उन्होंने रीति या मार्ग को संस्कृत की उपलब्ध धारणा से भिन्न काव्य-रीति या काव्य-लक्षण के रूप में ग्रहण कर उस काल को रीति-काल कहा है जिसमें इस प्रकार के काव्य-लक्षण देने वाले ग्रन्थों के लिखने की प्रमुख प्रवृत्ति देखने को मिलती है। ऐसी दशा में रीतिशास्त्र के अन्तर्गत केवल रीति-सिद्धान्त की चर्चा करने वाले ग्रन्थ ही नहीं आते, वरन उन समस्त ग्रन्थों का समावेश हो जाता है जिनमें काव्य के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया हो, चाहे वे अलंकार के ग्रन्थ हों, चाहे रस, ध्वनि, वक्रोक्ति अथवा रीति के ग्रन्थ हों। अतएव रीतिशास्त्र का तात्पर्य उन लक्षण देने वाले या सिद्धान्त-चर्चा करने वाले ग्रन्थों से है जिनमें अलंकार, रस, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि के स्वरूप, भेद-प्रभेद, तत्व और अंगों आदि पर विचार प्रकट किया गया है। इन्हें रीति-ग्रन्थ इसलिए कहा गया है कि इनमें इन विषयों के निरूपण की रीति सर्वसाधारण पर प्रकट की गई है। रीति वर्णन-परिपाटी के रूप में ग्रहण की गई।

---

१. विशिष्टा पद रचना रीतिः—काव्यालंकार सूत्र १, २, ६।

२. रीतिरात्मा काव्यस्य— वही, १।२।७।

हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत रीति-काल (सं० १७०० से १९०० वि०) में ऐसे ग्रन्थ लिखे गए जिनमें काव्य-सिद्धान्तों में एक या अनेक सिद्धान्तों के या उनके किन्हीं अंगों या भेदों के लक्षण देकर फिर उनको स्पष्ट करनेवाले उदाहरण दिए गए हैं। ये समस्त ग्रन्थ रीतिशास्त्र के अन्तर्गत आते हैं, जिनमें लक्षण दिए गए हैं। परन्तु कुछ ऐसे भी ग्रन्थ हैं जिनकी रचना स्वच्छंद रूप से अथवा किसी चरित्र के आश्रित प्रबन्ध रूप में नहीं है; साथ ही लक्षण ग्रन्थों की सी परिभाषाएँ भी उनमें नहीं दी गईं, वरन् किसी एक या अनेक सिद्धान्त या उसके अवयवों या भेदों के लक्षणों को दृष्टि में रखकर केवल उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं। ऐसे ग्रन्थ रीतिकाव्य के अन्तर्गत आते हैं। लक्षण-ग्रन्थों में केवल उदाहरण रूप लिखा गया काव्य तथा लक्षणों को ध्यान में रखकर बिना लक्षण दिए लिखा गया काव्य रीतिकाव्य कहा जा सकता है।

१. पृष्ठभूमि और उद्देश्य

हिन्दी को उपर्युक्त प्रकार के रीतिशास्त्र लिखने की परम्परा संस्कृत साहित्य से प्राप्त हुई। संस्कृत साहित्य-शास्त्र के प्रमुख पाँच काव्य-सिद्धान्तों—अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि, रस—में से प्रायः सभी का कुछ न कुछ प्रभाव हिंदी रीतिशास्त्र पर पड़ा है। परन्तु जहाँ तक शास्त्रीय विवेचन का प्रश्न है वहाँ रीति और वक्रोक्ति सिद्धान्तों के आधार पर बहुत कम लिखा गया। अलंकार, रस और ध्वनि के ही लक्षण और उदाहरण देने की सामान्यतया प्रवृत्ति देखने को मिलती है। इन सिद्धान्तों का भी विवेचन गंभीर शास्त्रीय गवेषणा के साथ नहीं हुआ, वरन् इनका परिचय ही मिलता है। रस के अन्तर्गत नायिकाभेद और शृंगार रस को लेकर लिखने वाले ग्रन्थों की संख्या बहुत अधिक है। परन्तु समस्त रसों का सर्वांगीण विवेचन करनेवाले ग्रन्थ बहुत थोड़े हैं। इस काल में अलंकारों के लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत करने का सब से अधिक प्रयत्न हुआ है, परन्तु इन ग्रन्थों में लक्षण भाग बहुत अधिक शुद्ध, पूर्ण और मौलिक नहीं है। अधिकांशतः यह देखने में आता है कि अलंकार का रूप उसके लक्षण से उतना स्पष्ट नहीं होता जितना उदाहरण से। इसी प्रकार ध्वनि-सिद्धान्त के अन्तर्गत भी सामान्यतः शब्द-शक्ति से प्रारंभ करके रस और अलंकारों पर समाप्त करने वाले ग्रन्थ ही अधिक लिखे गए हैं। ध्वनि-सिद्धान्त की पूरी व्याख्या प्रस्तुत करने वाले, तथा शंका-समाधान कर उसे विस्तार के साथ निरूपण करने वाले ग्रन्थ अत्यल्प हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि हिन्दी के रीति-शास्त्रीय ग्रन्थों में काव्य-शास्त्र के अलंकार, रस, ध्वनि, विषयों से अपना परिचय प्रकट करना और लक्षण की धारणा के आधार पर सुन्दर हिन्दी काव्य रचना द्वारा उदाहरण प्रस्तुत करना इन लेखकों का प्रमुख उद्देश्य था। शास्त्रीय प्रणाली को सामने रखकर कविता लिखना ही इस युग के लेखकों का प्रमुख ध्येय जान पड़ता है, साहित्य-शास्त्र के विविध अंगों तथा रूपों का विद्वत्तापूर्ण शास्त्रीय ढंग से विवेचन और निरूपण करना नहीं। आधुनिक युग के पूर्व हिन्दी में रीतिशास्त्र उतना प्रधान नहीं जितना रीतिकाव्य।

नवीनता और शास्त्रीय विवेचन के अभाव के कई कारण हैं। पहला कारण तो यह है कि हिन्दी में रीतिशास्त्र लिखने वाले कवियों के पूर्ववर्ती तथा समकालीन संस्कृत के ऐसे विद्वान आचार्य थे जिन्होंने काव्यशास्त्र के एक या अनेक अंगों को लेकर उनकी बड़ी ही विस्तृत और

स्पष्ट व्याख्या की थी। ऐसी दशा में हिन्दी कवियों के सामने कोई ऐसी नवीन सामग्री नहीं थी जिसके आधार पर वे संस्कृत विद्वानों की विवेचना को आगे बढ़ाते। दूसरा कारण यह था कि हिन्दी में लिखने वाले सभी काव्यशास्त्री संस्कृत साहित्य के पूर्ण विद्वान भी नहीं थे, वे संस्कृत काव्यशास्त्र की परिपाटी को हिन्दी (भाषा) में उतार कर हिन्दी काव्य का नया मार्ग विकसित करना चाहते थे। अतएव ऐसे लेखकों ने जो थोड़ा बहुत पठित और श्रुत ज्ञान प्राप्त किया था उसी के आधार पर लक्षण देकर काव्यशास्त्रीय प्रणाली पर लिखने का प्रयत्न किया गया। ऐसे लोगों का कार्य इन लक्षणों के सहारे प्रायः अपनी कवित्व-प्रतिभा को ही प्रदर्शित करना था।

तीसरा कारण यह था कि जिन लोगों के लिए ये ग्रन्थ निर्मित किए जा रहे थे वे स्वयं बहुत कम मात्रा में शास्त्रज्ञ थे। वे शास्त्रीय विवेचन से रुचि भी नहीं रखते थे। बहुधा रीति-शास्त्रीय ग्रन्थ राजाश्रयों में लिखे गए हैं और लेखकों का उद्देश्य अपने आश्रयदाता को प्रसन्न कर उसकी कृपा का पात्र बनना था। अतः अधूरे लक्षण देकर उनको स्पष्ट करने वाले उदाहरणों में अधिकतर आश्रयदाताओं की प्रशंसा भरी रहती थी। इसके साथ ही साथ उनके वर्णन में कुछ इस प्रकार की रसिकता, चमत्कार और मनोरंजन का पुट रहता था जिससे कवि की प्रतिभा का प्रभाव पड़ सके और दरबार में उसकी आवश्यकता भी बनी रहे। इसके परिणाम-स्वरूप उदाहरणों में कवित्व-चमत्कार खूब देखने को मिलता है, परन्तु लक्षणों में गंभीर शास्त्रीय ज्ञान का आभास नहीं है। अधिकांशतः इस युग की कविता सुनने पर प्रभाव डालने वाली है, मनन और चिन्तन की सामग्री प्रस्तुत करने वाली नहीं।

चौथा कारण यह है कि इसके पूर्ववर्ती हिन्दी काव्य की जो धाराएँ थीं उनमें से कोई शुद्ध काव्य की धारा नहीं कही जा सकती थी। इन पूर्ववर्ती काव्य-धाराओं के अन्तर्गत या तो कवि वीरों और राजाओं की गुण-गाथा का अत्युक्तिपूर्ण बखान करता था अथवा आध्यात्मिक दृष्टिकोण से भक्ति, उपदेश आदि से संबंधित रचनाएँ करता था। शुद्ध और स्वच्छंद कवि इन दोनों धाराओं में अपनी रुचि का पूर्ण प्रकाशन न पा सकते थे। अतः इस शुद्ध काव्यशास्त्रीय प्रणाली पर काव्य-रचना की पद्धति प्रशस्त की गई। उसमें प्रत्येक प्रकार की रुचि वाले कवि के लिए अपने मनोनुकूल काव्य-रचना का मार्ग खुल गया। इसीलिए रीति-काल में काव्य-रचना हेतु इस प्रणाली का स्वागत हुआ। परन्तु प्रायः कवियों ने अपने कवित्व-प्रदर्शन के लिए ही इसको अपनाया है, मौलिक तथा गम्भीर शास्त्रीय विवेचन के हेतु नहीं। इसलिए हमें इन ग्रन्थों में गहरी शास्त्रचर्चा देखने को नहीं मिलती। चमत्कारपूर्ण रचना अवश्य इस धारा के ग्रन्थों में प्रचुरता से उपलब्ध है।

२. आधार

हिन्दी के रीतिशास्त्र का आधार पूर्ण रूप से संस्कृत काव्यशास्त्र है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि हिन्दी में रीति शास्त्र लिखने वाले प्रत्येक लेखक ने संस्कृत काव्यशास्त्र का पूरा अध्ययन किया था या किसी ग्रन्थ को पूर्णतया हिन्दी में उतारा था। प्रायः अपनी योजना के अनुकूल हिन्दी रीतिशास्त्र के लेखक ने अपने आधारभूत ग्रन्थ का पठित या श्रुत ज्ञान प्राप्त किया था। अधिकांशतः यह ज्ञान गुरु-शिष्य-परंपरा द्वारा अर्जित था। अपने ग्रन्थों की रचना

करने में लेखकों ने जिन संस्कृत ग्रन्थों का अधिकांश आधार लिया है, वे ग्रन्थ हैं—भरत का 'नाट्य-शास्त्र,' भामह का 'काव्यालंकार,' दंडी का 'काव्यादर्श,' उद्भट का 'अलंकार-सार-संग्रह,' केशव मिश्र का 'अलंकार-शेखर,' अमरदेव का 'काव्यकल्पलतावृत्ति,' जयदेव का 'चन्द्रालोक,' अप्पय दीक्षित का 'कुवलयानन्द,' मम्मट का 'काव्यप्रकाश,' आनन्दवर्धन का 'ध्वन्यालोक,' भानुदत्त के 'रसमंजरी' व 'रसतरंगिणी,' विश्वनाथ का 'साहित्यदर्पण' आदि। इनमें से केशव तथा कतिपय अन्य परवर्ती कवियों ने प्रायः प्रथम छः ग्रन्थों का आधार अधिक लिया है तथा अन्य कवियों ने अपने प्रत्येक विषय के अनुसार विभिन्न ग्रन्थों का। जिन हिन्दी के आचार्यों ने केवल अलंकार पर लिखा है उन्होंने प्रायः 'चन्द्रालोक' या 'कुवलयानन्द' का आधार प्रधान रूप से ग्रहण किया है। ध्वनि को लेकर अपना विवेचन प्रस्तुत करने वाले आचार्यों ने मम्मट के 'काव्यप्रकाश' का विशेष रूप से आधार ग्रहण किया है। रस और नायिका-भेद पर लिखने वाले लेखकों ने अधिकांशतः 'शृंगार-तिलक,' 'रस-मंजरी,' 'रसतरंगिणी,' 'साहित्य-दर्पण,' 'दशरूपक,' 'नाट्यशास्त्र' आदि से अपनी सामग्री ली। परन्तु इनका आधार ऊपर लिखे गए काव्यशास्त्र के ग्रन्थ होने पर भी उनके लक्ष्य से इनका लक्ष्य प्रायः भिन्न सा ही है। संस्कृत के अधिकतर ग्रन्थों का लक्ष्य विषय या सिद्धान्त को पूर्ण स्पष्ट करके उदाहरणों द्वारा अपने विषय की पुष्टि करना था जब कि हिन्दी के रीतिशास्त्रीय ग्रन्थों में प्रायः विषय-विवेचन और लक्षण को जैसे-तैसे चलता कर देना रहा; उनका मुख्य उद्देश्य तो ललित हिन्दी रचना को उदाहरण रूप में प्रस्तुत करना था। अतः दोनों के प्रयत्न में अन्तर होने से स्वभावतः परिणाम में भी अन्तर देखने को मिलता है।

कुछ भी हो, रीतिशास्त्र पर लिखे गए हिन्दी ग्रन्थों की संख्या बहुत बड़ी है और प्रारंभ से लेकर अब तक लिखे गए समस्त ग्रन्थों का लेखा उपस्थित करना बड़ा कठिन काम है। क्योंकि प्रथम तो बहुत से ग्रन्थ ऐसे हैं जो प्रसिद्ध होने के कारण एकाध बार प्रकाशित तो हुए, परन्तु उसके पश्चात ऐसे लुप्त हुए कि अब अप्राप्य हैं। इसके अतिरिक्त बहुत से ग्रन्थ केवल हस्तलिखित रूप में रहे, वे कभी छपे नहीं और महत्वपूर्ण होने पर भी अब देखने को नहीं मिलते। वे ग्रन्थ कहीं पुस्तकालयों या राज-पुस्तकालयों के पुराने वस्तों की ही सम्पत्ति बन रहे हैं और मनुष्य की विवेकपूर्ण दृष्टि की अपेक्षा उसका सम्पर्क दीमक और चूहों से ही अधिक होता है। तीसरे, कुछ ऐसे ग्रन्थ भी हैं जिनका हल्दी मिर्च की पुड़िया बनकर रूपान्तर हो गया है और हो रहा है। वे इस व्यापारिक युग में अपने आश्रयदाताओं की गुणग्राहकता और उदारता पर उन्हें धन्यवाद देते हैं। चौथे, कुछ ऐसे ग्रन्थ भी हैं जो हैं तो सुरक्षित, पलटे और पढ़े भी जाते हैं, पर कुछ ऐसी वस्तु समझे जाते हैं जिस पर संसार की, और विशेष कर समालोचकों की, आँख पड़ते ही नजर लग जाने का भय हो। अतएव वे घर के कोनों, तहखानों या मन्दिरों में अचल, अडिग और स्थानमोही देवताओं की भाँति पूजा पाते हैं। वे भाग्यशाली अवश्य हैं, पर संसार लाभ किस प्रकार उठावे, यह समस्या है। इस प्रकार प्रचुर सामग्री ऐसी है जिसका अभी तक या तो पता ही नहीं है और यदि पता भी है तो उसका उपयोग करना कठिन और किन्हीं-किन्हीं दशाओं में असंभव है। फिर भी जो प्राप्य और देखे-सुने ग्रन्थ हैं, वे भी कम संख्या में नहीं हैं और उन्हीं के आधार पर हिन्दी रीतिशास्त्र का विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

३. पूर्ववर्ती परम्परा

हिन्दी के पूर्ववर्ती अपभ्रंश साहित्य में रीतिशास्त्र की परम्परा नहीं के बराबर है। दो-एक ग्रन्थ छन्द, व्याकरण आदि पर अवश्य हैं, तथा कुछ ऐसे भी ग्रन्थ हैं जिनमें गौण रूप से किसी ग्रन्थ के बीच में नायिका-भेद, शृंगार आदि का विवेचन आ गया है।[१] परन्तु जिस प्रकार भक्ति और वीर-गाथा-वर्णन की धाराएँ पहले से आई हैं, उस प्रकार रीतिशास्त्र की परंपरा अपभ्रंश साहित्य में नहीं ढूँढी जा सकती, इसकी प्रेरणा देने वाला संस्कृत साहित्य ही है। रीतिशास्त्र की परंपरा को हिन्दी में ढालनेवाले प्रमुख व्यक्ति आचार्य केशवदास ही हैं। केशव का महत्व इस दृष्टि से ही अधिक माना जाता है कि उन्होंने रीतिशास्त्र या रीतिकाव्य-रचना का नवीन मार्ग खोलकर भाषा में शुद्ध काव्य लिखने की परम्परा डाल दी है। पूरे ग्रन्थ भर में आश्रयदाता या आराध्य का गुण-गान किए बिना इसके आदर्श को लेकर काव्य-रचना की जा सकती है और जिसे काव्य-रसिक रुचिपूर्वक पढ़ सकते हैं, इस बात को स्पष्ट करने का श्रेय केशवदास को ही मिलना चाहिए। और यह बात स्पष्ट हो जाने पर ही रीति-पद्धति पर रीति-युग में रीतिशास्त्र और रीतिकाव्य ग्रन्थों का इतनी प्रचुरता के साथ प्रणयन हुआ है। प्रायः अस्सी प्रतिशत कवियों ने इस युग में इसी पद्धति पर अपनी रचनाएँ की हैं।

रीति-शास्त्र पर केशव के पूर्व भी कुछ ग्रन्थ लिखे गए हैं जिन्हें हम इस साहित्य के अन्तर्गत रख सकते हैं परन्तु वे विशिष्ट रचनाएँ ही हैं। ऐसे प्रयास के रूप में हम उन्हें ग्रहण नहीं कर सकते हैं, जिससे लोगों को इस प्रकार के साहित्य लिखने की प्रेरणा मिली है। 'शिवसिंह सरोज'[२] के आधार पर जिस ग्रन्थ का उल्लेख हमारे साहित्य के इतिहासकार करते हैं वह पुंड या पुष्य कवि का है जिसने संवत् ७७० के लगभग हिन्दी भाषा में संस्कृत के किसी अलंकार ग्रन्थ का अनुवाद किया था, परन्तु यह ग्रन्थ अभी तक किसी के देखने में नहीं आया। यदि वास्तव में उस समय का कोई इस प्रकार का लिखा ग्रन्थ मिल जाता है तो वह न केवल रीति-शास्त्र का, वरन् हिन्दी का पहला ग्रन्थ ठहरता है। परन्तु अभी तक इस संबंध की कोई प्रामाणिक सूचना प्राप्त नहीं हो सकी।

रीति-शास्त्र पर प्राप्त सबसे पहला ग्रन्थ कृपाराम की 'हिततरंगिणी' ही है। यह रस-रीति का सर्वप्रथम ग्रन्थ माना जा सकता है। इसमें कवि ने दोहा छन्द में लक्षण और उदाहरणों की रचना की। इसकी रचना सं० १५९८ वि० (१५४१ ई०) माघ शुक्ल ३ को हुई।[३] यह पाँच तरंगों में विभक्त है और प्रायः भरत के नाट्यशास्त्र के आधार पर है, कहीं-कहीं भानुदत्त की 'रसमंजरी' का भी आधार कवि ने लिया है। विवेचन महत्त्व का नहीं, परन्तु उदाहरणों की रोचकता ही ग्रन्थ का विशेष आकर्षण है। इसके पश्चात् संवत् १६१६ (१५५९ ई०) का लिखा मोहनलाल मिश्र का 'शृंगारसागर,' रस और नायिका-भेद का विवरण प्रस्तुत करने वाला ग्रन्थ है। इसके अतिरिक्त अष्टछाप के प्रसिद्ध कवि नन्ददास ने 'रसमंजरी' ग्रन्थ भी इसी समय के आसपास लिखा जिसका आधार स्पष्टतया भानुदत्त की 'रसमंजरी' पुस्तक है। मिश्रबन्धुओं

---

१. विस्तृत सूचना के लिए देखिए 'हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास', भगीरथ मिश्र, पृष्ठ ४९।

२. शिवसिंह सरोज, भूमिका, पृष्ठ ९३।

३. हित त० २।

के अनुसार नरहरि के साथ अकबर के दरबार में जाने वाले करनेस वन्दीजन के 'करणाभरण,' 'श्रुतिभूषण' तथा 'भूपभूषण' नामक अलंकार-ग्रंथ भी केशव के पूर्ववर्ती ग्रन्थों में ही रक्खे जा सकते हैं। परन्तु इन आचार्यों और ग्रन्थों में कोई भी विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं जान पड़ता है। अतः हम कह सकते हैं कि रीतिशास्त्रीय परम्परा डालने वाले सबसे पहले रीतिशास्त्र के आचार्य केशवदास ही हैं जिन्होंने भाषा-कवियों और आचार्यों के सामने हिन्दी काव्य-रचना का एक नवीन मार्ग उद्‌घाटित किया। अतएव रीतिशास्त्रीय हिन्दी साहित्य के भीतर केशव का ऐतिहासिक महत्व है। हाँ, केशवदास के बड़े भाई बलभद्र मिश्र ने 'नखशिख' और 'रसविलास' नामक ग्रन्थ लिखे जो नायिका-भेद और भाव-वर्णन के ग्रन्थ हैं। 'रसविलास' में लक्षण दोहा छन्द में हैं, पर उदाहरण कवित्त-सवैया में हैं और बड़े सुन्दर हैं।

४. रीतिशास्त्र के विभिन्न संप्रदाय

हिन्दी रीतिशास्त्र को विभिन्न काव्यशास्त्रीय संप्रदायों में विभाजित करना सरल नहीं है, क्योंकि अधिकांश आचार्यों ने रस, अलंकार दोनों पर लिखा है और निश्चयतः किसी एक का प्रतिपादन नहीं किया। बहुत से 'काव्यप्रकाश' और 'साहित्यदर्पण' के समन्वित मार्ग का अनुसरण करनेवाले हैं और उन्होंने अलंकार, रस, नायिका-भेद, छन्द, गुण, दोष आदि सभी का विवेचन अपने ग्रन्थों में किया है और यह कहना कठिन है कि उनकी मान्यता में कौन सा सिद्धान्त अधिक समीचीन है। उदाहरण के लिए चिन्तामणि, मतिराम, पद्माकर आदि को रसवादी अथवा अलंकारवादी कहना कठिन है, क्योंकि इन्होंने दोनों ही पर अच्छा लिखा है। फिर भी उनकी प्रमुख प्रवृत्ति के अनुसार उनका समावेश जिसमें हो सकेगा, उसी में उनका विवेचन करना अधिक समीचीन होगा।

पहले कहा जा चुका है कि हिन्दी रीतिशास्त्र के भीतर रीति, वक्रोक्ति और औचित्य के सिद्धान्तों की चर्चा नहीं के बराबर है। प्रमुखतया रीतिशास्त्रीय ग्रन्थों के भीतर अलंकार, रस और ध्वनि का विवरण प्रस्तुत किया गया है। अतः हम इन्हीं तीन संप्रदायों के अन्तर्गत हिन्दी रीतिशास्त्र का विवेचन यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं। हिन्दी रीतिशास्त्र के भीतर गुण, रीति एवं वृत्ति के वर्णन कहीं कहीं संक्षेप में आए हैं, पर वे व्यापक रीति से प्रतिष्ठित सिद्धान्त नहीं बन पाए। अलंकारों अथवा रसांगों के विवरण के साथ ही प्रायः उनका उल्लेख हुआ है। केशव ने 'रसिकप्रिया' में वृत्ति या रस-वर्णन की शैली का उल्लेख किया है। चिन्तामणि ने 'कविकुल-कल्पतरु' में तथा कुलपति ने 'रस-रहस्य' में वृत्ति का वर्णन किया है। ऐसे ही श्रीपति, सोमनाथ-दास आदि ने अपने ग्रन्थों में गुणों का वर्णन किया है, पर वे रस के सहायक गुण हैं, रीति के पोषक गुण नहीं। यह वर्णन अधिकांश में 'साहित्यदर्पण' के आधार पर है और वामन के समान नहीं जिन्होंने गुण के आधार पर रीति की विवेचना की है। रीति का वर्णन जगत सिंह लिखित 'साहित्य-सुधानिधि' नामक ग्रन्थ की नवीं तरंग में मिलता है। वह भी विस्तार से नहीं है। उसमें चार प्रकार की रीति का उल्लेख इस प्रकार हुआ है—

पंच षष्ठ नग वसु करि जहाँ समास।
पांचाली लाटी क्रम गौड़ी भास॥

बिन समास जहँ कीजै पद निर्वाह।
वैदर्भी सो जानो कविन सराहि।।[1]

यहाँ पर समास के अनुपात और स्थिति के आधार पर रीतियों का संकेत मात्र किया गया है, अतः इनके विशेष विवरण के अभाव में हमें तीन संप्रदायों में ही अपने विवरण को सीमित करना पड़ रहा है।

क. अलंकार संप्रदाय

काव्य में अलंकार का महत्वपूर्ण स्थान है। परन्तु काव्य के प्रसंग में अलंकार के संबंध में भिन्न-भिन्न धारणाएँ देखने को मिलती हैं। 'अलंकरोति इति अलंकारः' अर्थात् जो शोभा को पूर्ण बना दे अथवा वस्तु को आभूषित करे वह अलंकार है। इससे यह प्रकट होता है कि अलंकार काव्य की अनिवार्य आन्तरिक विशेषता का द्योतक नहीं माना जाता है। भामह और दंडी ने अलंकार को अत्यन्त महत्व प्रदान किया है। भामह की काव्य में अलंकार संबंधी वही धारणा है जो भरत की नाटक में रस संबंधी। ये काव्य की प्रमुख विशेषता और समस्त शोभा अलंकारों में ही देखते हैं, यहाँ तक कि इन्होंने रस, भाव आदि को भी रसवदादि अलंकारों के भीतर समाविष्ट करने का प्रयत्न किया है। दंडी की धारणा अलंकार के संबंध में और भी व्यापक है, उनकी दृष्टि से काव्य-शोभा बढ़ाने वाले सभी धर्म अलंकार हैं—'काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते' ऐसा कह कर उन्होंने केवल उक्ति चमत्कार को ही नहीं, वरन समस्त काव्य-सौन्दर्य को समेट लिया है। अतः रसादि भी उसके अन्तर्गत हैं और स्वभावोक्ति भी। गुण और अलंकार का भेद दंडी ने स्पष्ट नहीं किया। वास्तव में इस भेद को स्पष्ट करने वाले आचार्य वामन हैं, जिन्होंने अपने ग्रन्थ 'काव्यालंकार' में लिखा है—'काव्यशोभायाः कर्तारो धर्माः गुणाः। तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः।'[2] इस प्रकार काव्य के अन्तर्गत सौन्दर्य को उत्कर्ष प्रदान करने का कार्य अलंकार करते हैं, यह स्पष्ट हो गया और वे बाह्य महत्व के हैं,यह भी सिद्ध हो गया।इस भेद के स्पष्ट होने पर काव्य की अन्तरात्मा ढूँढने का प्रयास हुआ जिसके परिणाम स्वरूप रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि सम्प्रदायों का विकास हुआ। अलंकार और गुणों के इस स्पष्टीकरण में दंडी की धारणा का विरोध भी देखा जाता है; क्योंकि दंडी अलंकार को काव्य की शोभा करने वाला धर्म मानते हैं और वामन गुण को। वामन की दृष्टि से अलंकार शोभा का प्रकर्ष करने वाले हैं, शोभा के जनक नहीं। वास्तव में यहाँ विरोध उतना नहीं है जितना धारणा-भेद। दंडी की अलंकार-संबंधी धारणा अधिक व्यापक है जिसे आगे के आचार्य रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति के काव्यात्मा रूप में प्रतिष्ठित होने पर स्वीकार न कर सके। इस प्रकार अलंकार की धारणा का, काव्य की शोभा करने वाली विशेषता से लेकर अतिशयता, वक्रोक्ति, चमत्कार, वैचित्र्य और शब्दार्थ का उपकार करने वाली विशेषता के रूप में विकास हुआ।[3] विभिन्न संप्रदायों के विकसित होने के बाद काव्य में अलंकार का स्थान

---

१. साहित्य-सुधानिधि, ९, ५४, ५५।
२. देखिए—वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टावाचामलंकृतिः—भामह का० १-३७।
३. सौन्दर्यमलंकारः—वामन।

गौण हो गया। मम्मट ने तो अपनी काव्य-परिभाषा में 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि' कह कर काव्य से अलंकार की अनिवार्यता ही हटा दी। परन्तु मम्मट की इस परिभाषा का विरोध भी किया गया। विशेष रूप से जयदेव, अप्पय दीक्षित, विद्याधर आदि ने अलंकार की फिर प्रतिष्ठा की।

जयदेव ने तो 'चन्द्रालोक' में स्पष्ट प्रतिष्ठित किया है कि—

अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती।।

अलंकार की इस प्रकार की धारणा आगे चलकर केशव की परंपरा में आने वाले हिन्दी रीति-शास्त्र के आचार्यों की भी है। केशव की धारणा भी अलंकार के संबंध में व्यापक है जैसा कि उनकी 'कविप्रिया' में स्पष्ट है। केशव ने स्पष्ट कहा है—

यद्यपि जाति सुलच्छनी, सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषन बिना न सोहही, कविता बनिता मित्त।।

यह धारणा हिन्दी के अन्य आचार्यों ने स्वीकार नहीं की।

अलंकार संबंधी धारणा के विकास के साथ साथ अलंकारों के वर्गीकरण के संबंध में भी विभिन्न आचार्यों की देन महत्वपूर्ण कही जा सकती है। सब से पहला प्रयत्न इस दिशा में आचार्य रुद्रट का है जिन्होंने न केवल रस की स्थिति काव्य के अन्तर्गत अलग स्वीकार करके उसे अलंकारों से बाहर किया, वरन अलंकारों का वर्गीकरण चार तत्त्वों के आधार पर प्रस्तुत किया है, जो हैं—वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष। अलंकारों और रस की संख्या में भी विकास करने का श्रेय रुद्रट को प्राप्त है। अलंकारों का यह वर्गीकरण न तो पूर्ण ही है, और न वैज्ञानिक ही है, फिर भी उनके इस क्षेत्र के प्रयास को महत्वहीन नहीं कहा जा सकता। वर्गीकरण के क्षेत्र में दूसरा प्रयत्न राजानक रुय्यक का है जिन्होंने औपम्य या सादृश्यगर्भ, विरोधगर्भ, शृंखलाबद्ध, न्यायुक्त, गूढार्थप्रतीतिमूल तथा संकर-संसृष्टि, इन छः आधारों पर वर्गीकरण किया है। रुय्यक के इस वर्गीकरण को अधिकांश आचार्यों ने आगे भी स्वीकार किया। अन्य आचार्यों ने भी परि-वर्तन और विकास किए। विश्वनाथ ने अपने 'साहित्य-दर्पण' में 'न्याय-मूल' के तीन रूप—तर्क न्यायमूल, वाक्यन्यायमूल और लोक-न्यायमूल—माने हैं। विद्याधर ने अपने ग्रन्थ 'एकावली' में रुय्यक के वर्गीकरण को और भी अधिक सूक्ष्म विकास प्रदान किया है।

रुय्यक के मत से 'सादृश्यगर्भ' के तीन भेद हैं:—(१) भेदाभेदतुल्य प्रधान, (२) अभेद प्रधान और (३) गम्यमान औपम्य। 'अभेद प्रधान' के दो रूप हैं—(१) आरोप मूल, (२) अध्य-वसाय मूल। 'गम्यमान' के पाँच रूप हैं—(१) पदार्थगत, (२) वाक्यार्थगत, (३) भेद प्रधान, (४) विशेषण-वैचित्र्य युक्त और (५) विशेषण-विशेष्य-वैचित्र्य युक्त। शेष वर्गों के भेद नहीं। उनके अन्तर्गत अलंकारों का ही निरूपण है। विश्वनाथ ने रुद्रट की भाँति चार भेद माने हैं—(१) वस्तुप्रतीतियुक्त, (२) औपम्यप्रतीतियुक्त, (३) रसभावप्रतीतिमूल, (४) अस्फुटप्रतीतियुक्त। इसके साथ ही रुय्यक और विद्याधर की भाँति अलंकारों का नौ आधारों पर वर्गीकरण किया है—साधर्म्यमूल, अध्यवसाय मूल, विरोध मूल, वाक्य न्याय मूल, लोक व्यवहार मूल, तर्कन्यायमूल,

शृंखलावैचित्र्यमूल, अपह्नवमूल, विशेषण वैचित्र्य मूल। अलंकारों के वर्गीकरण का यह प्रयत्न वैज्ञानिक है, यद्यपि इसमें और अधिक विकास की अपेक्षा है। इसमें मतभेद भी सूक्ष्म और साधारण ही हो सकता है और प्रायः दृष्टिकोण समान ही है। हिन्दी रीति-शास्त्र के भीतर वर्गीकरण का प्रयत्न केशव और भिखारीदास ने किया है पर उसे हम न तो वैज्ञानिक ही कह सकते हैं और न मनोवैज्ञानिक ही। केशवदास ने सामान्य और विशेष दो वर्गों के भीतर अलंकारों को रखा है। सामान्य में वर्ण और वर्ण्य का तथा विशेष में प्रचलित अलंकारों का वर्णन किया है। भिखारीदास ने नाम के आधार पर वर्णन किया है—जैसे उपमादि, उत्प्रेक्षादि वर्ग।

आगे हम हिन्दी रीतिशास्त्र के भीतर अलंकार के क्षेत्र में प्रमुख आचार्यों के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का परिचय देंगे। सर्व प्रथम आचार्य केशवदास आते हैं।

केशवदास

यह ओड़छा के राजा इन्द्रजीत सिंह के आश्रित और उनके गुरु थे। राजपरिवार में केशव का बड़ा सम्मान था। वे राजसी ठाट-बाट से रहते थे। केशव हिन्दी के प्रसिद्ध आचार्य माने जाते हैं। ये कठिन काव्य के रचयिता भी हैं। केशवदास का महत्व अनेक दृष्टियों से है। इन्होंने आचार्य के रूप में रीतिशास्त्रीय ग्रन्थ भी लिखे और कवि के रूप में परंपरागत सभी धाराओं में अपनी कवि-प्रतिभा को भी निमज्जित किया। इन्होंने वीर-गाथा वर्णन की परंपरा में 'वीरसिंह-देव-चरित्र' तथा 'जहांगीरजसचन्द्रिका' लिखी। भक्ति और ज्ञान-काव्य की परंपरा में 'विज्ञान-गीता' का प्रणयन किया, और प्रबन्ध-रचना की पद्धति पर 'रामचन्द्रिका' महाकाव्य रचा। परन्तु 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' की रचना द्वारा इन्होंने रीतिशास्त्र के आधार पर काव्य-रचना की नवीन पद्धति प्रचलित की। केशव ने अपनी उपर्युक्त दोनों पुस्तकों द्वारा काव्यशास्त्र के लगभग सभी अंगों पर प्रकाश डाला है। उन्होंने भाषा का कार्य, कवि की योग्यता, कविता का स्वरूप और उद्देश्य, कवियों के प्रकार, काव्य-रचना के ढंग, कविता के विषय, वर्णन के प्रकार, काव्यदोष, अलंकार, रस, वृत्ति आदि विषयों को अपने ढंग से स्पष्ट किया है। इस स्पष्टीकरण में विषय का गंभीर और प्रामाणिक विवेचन नहीं हो पाया, केवल केशव का इन विषयों पर ज्ञान ही चमत्कारपूर्ण ढंग पर प्रकट हुआ है।

आचार्य केशवदास काव्य को चमत्कार मानने वाले प्राचीन आलंकारिकों के सिद्धान्त पर श्रद्धा रखते थे। अतः इन्होंने प्राचीन संस्कृत के आलंकारिकों—भामह, दंडी, उद्‌भट आदि—को ही अपने विवेचन का आधार बनाया, परवर्ती आचार्यों—आनन्दवर्धन, मम्मट, विश्वनाथ आदि—के ग्रन्थों को नहीं। परन्तु केशव के उपरान्त चिन्तामणि के साथ जो काव्य की परंपरा चली उसमें 'चन्द्रालोक,' 'कुवलयानन्द,' 'काव्यप्रकाश,' 'साहित्य-दर्पण' का आधार विशेष रूप से लिया गया। केशव से प्रेरणा प्राप्त करने पर भी केशव के आधार को आगे के आचार्यों ने अधिक ग्रहण नहीं किया। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि केशव का समकालीन अथवा परवर्ती कवियों पर प्रभाव नहीं पड़ा। केशव के द्वारा लिखित रीतिशास्त्र के दोनों ग्रन्थ बड़े ही समादृत हैं, और परवर्ती आचार्यों और कवियों ने इन ग्रन्थों को पढ़कर ही कुछ लिखने का साहस किया। किसी भी आचार्य अथवा कवि की योग्यता प्रमाणित हो जाती थी यदि वह प्रकट कर देता था कि उसने

'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' ग्रन्थों का अध्ययन कर लिया है। अपने इस दोनों ही ग्रन्थों के अन्तर्गत केशव ने काव्यशास्त्र का गंभीर विवेचन नहीं किया, इसका कारण यह नहीं कि केशव का संस्कृत का ज्ञान छिछला था वरन इसका प्रमुख कारण यह है कि वे हिन्दी के माध्यम से काव्य-शास्त्र को सर्वसाधारण को सुलभ करना चाहते थे। वे काव्यशास्त्र का ज्ञान जन-साधारण को सुलभ करके साहित्यिक अभिरुचि जाग्रत करना चाहते थे, विद्वानों के लिए सिद्धान्त-ग्रन्थ लिखना नहीं चाहते थे। इसलिए उन्होंने अपने इस प्रकार के प्रयत्न के लिए क्षमा-याचना भी की है—

समुझे बाला बालकहुँ, वर्णन पंथ अगाध।
'कवि प्रिया' केशव करी, छमियो कवि अपराध ॥[1]

आधुनिक समालोचकों के एक दल ने इन समस्त परिस्थितियों को हृदयंगम किए बिना ही केशव के संबंध में अपने कच्चे निष्कर्ष निकाले हैं जो प्रायः हिन्दी साहित्य के अध्येताओं को कुछ भ्रम में डाल देते हैं। कवि और आचार्य दोनों ही रूपों में केशव का दृष्टिकोण और उद्देश्य स्पष्ट था और जब हम उन्हें समझ लेते हैं तब हम यही कह सकते हैं कि केशवदास अपने उद्देश्य में सफल हुए हैं। उनमें विलक्षण सूझ और प्रतिभा थी जिसका सम्मान हमें करते ही बनता है। 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' दोनों में ही रीतिशास्त्रीय प्रसंगों पर विचार के साथ साथ उदाहरण हिन्दी काव्य के सामने आए। काव्य में इस प्रकार की सूझ स्पष्ट दीखती है। शब्दों पर उनका असाधारण अधिकार था और उनका शब्द-भंडार भी बड़ा ही विस्तृत था। हाँ, यह अवश्य था कि वे तुलसीदास के समान सरल कवित्व[2] पर विश्वास नहीं करते थे। वे वस्तु के चमत्कारपूर्ण वर्णन को ही काव्य मानते थे और काव्य में अलंकार को विशेष महत्व देते थे। उन्होंने लिखा है—

भूषण बिना न सोहहीं कबिता बनिता मित्त।

उनका विचार है कि वस्तु का जो स्वरूप कवि के चमत्कारपूर्ण वर्णन द्वारा स्पष्ट होता है, वह सुन्दर होता है। चन्द्रमा और कमल स्वयं इतने सुन्दर नहीं, परन्तु कवि की कल्पना के बीच से आकर इतने सुन्दर हो गए हैं। 'देखे मुख भावै, अनदेखे ही कमल चंद'—अतः वस्तु का सामान्य नहीं, वरन विलक्षण वर्णन ही कवि का उद्देश्य होना चाहिए, यह केशवदास का विचार था। और उनकी अपनी निजी समस्त रचनाएँ इस बात का उदाहरण हैं।

कविप्रिया

'कविप्रिया' में केशव ने कवि-शिक्षा की बातें लिखी हैं। इसके १६ प्रभावों में कवि के लिए काव्य-रचना में उपयोगी अनेक बातों का विवरण दिया गया है, जिसमें प्रमुख प्रसंग काव्य-

---

१. कविप्रिया, ३ प्रभाव।

२. सरल कबित कीरत्ति बिमल, सुनि आदरहिं सुजान।
सहज बैर बिसराय रिपु, जे सुनि करें बखान ॥१४॥

—रामचरितमानस, बालकांड।

दोष, कवि-भेद, वर्णन के प्रकार, सामान्यालंकार, विशिष्टालंकार, जिसमें वास्तव में अलंकारों का विविध भेदों सहित वर्णन है। नखशिख, चित्रालंकार आदि के वर्णन भी इसमें आए हैं। दोष और अलंकार दंडी के 'काव्यादर्श' के आधार पर हैं तथा अन्य वर्णनों आदि के प्रसंग संस्कृत के आचार्य केशव के 'अलंकारशेखर' तथा अमरचन्द्र की 'काव्यकल्पलतावृत्ति' के आधार पर लिखे गए हैं। 'कविप्रिया' में विशेष प्रयत्न अलंकारों के वर्गीकरण का है। यह वर्गीकरण उक्ति, उपमा, तुलना, शब्दावृत्ति, अनेकार्थता विरोध तथा कार्य-कारण-संबंध आदि के आधार पर किया गया है। 'कविप्रिया' में केशव की इन विषयों की जानकारी स्पष्ट होती है परन्तु अपनी चमत्कारपूर्ण अभिव्यक्ति के फेर में पड़कर अपने विवेचन को वे गंभीरता प्रदान नहीं कर पाए।

रसिकप्रिया

'रसिकप्रिया' में रसांगों, वृत्तियों और रसदोषों का वर्णन है। 'रसिकप्रिया' का उद्देश्य 'कविप्रिया' से भिन्न है। 'कविप्रिया' में जहाँ पर साधारण लोगों और नौसिखुओं को काव्य-संबंधी बातें बताने का उद्देश्य है वहाँ पर 'रसिकप्रिया' रसिकों की तृप्ति के लिए लिखी गई। केशव ने स्पष्ट कहा है—

> अति रति गति मति एक करि, बिबिध बिबेक बिलास।
> रसिकन को 'रसिकप्रिया', कीन्हीं केशवदास।।

परन्तु इस संबंध में हमें यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि इसमें कृष्ण और राधा के रस का वर्णन है, मनुष्य मात्र के भीतर होने वाली रसानुभूति का विश्लेषण नहीं। रसमग्न राधा और कृष्ण के रसानुभव को ही प्रकाशित करने का प्रयत्न केशव ने इसमें किया है और इस प्रकार रस-वर्णन परनिष्ठ है स्वनिष्ठ नहीं। फिर भी केशव की 'रसिकप्रिया' का महत्व कविप्रिया से अधिक माना गया है। आगे के विद्वानों ने 'कविप्रिया' का उतना उल्लेख नहीं किया जितना 'रसिकप्रिया' का।

'रसिकप्रिया' में केशव ने रस की व्याख्या करते हुए कहा है कि यह विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के द्वारा प्रकाशित स्थायी भाव है:—

> मिल विभाव अनुभाव पुनि, संचारी सु अनूप।
> व्यंग करै थिर भाव जो, सोई रस सुख रूप।।[१]

'रसिकप्रिया' के पहले प्रकाश में नव रसों के नाम तथा उन सब में प्रमुख श्रृंगार का वर्णन है। दूसरे प्रकाश में नायक-नायिकाओं के लक्षण तथा भेद आदि हैं, जो पाँचवें प्रकाश तक चले गए हैं। छठवें प्रकाश में भावों और हावों का वर्णन है, उसके उपरान्त वियोग श्रृंगार तथा उसकी विभिन्न अवस्थाओं का विवरण देकर बारहवें और तेरहवें प्रकाश में सखी और उसके कार्यों का विवरण दिया गया है। चौदहवें प्रकाश में श्रृंगारेतर रसों का विवरण है। करुण और हास्य को छोड़कर अन्य रसों का वर्णन अति संक्षेप में किया गया है। पन्द्रहवें प्रकाश में वृत्ति तथा सोलहवें प्रकाश में रस-दोषों का वर्णन है। 'रसिकप्रिया' के उदाहरण अवश्य बड़े ही सरस हैं।

---

१. रसिकप्रिया, प्रकाश १, २।

भाषा और छन्द की गति बड़ी ही मनोहारी है, परन्तु विवेचन अधिक महत्व का नहीं है। केशव ने रस पर लिखा अवश्य है पर उन्हें अलंकारवादी ही मानना चाहिए।

केशवदास के बाद अलंकार पर प्रसिद्ध ग्रन्थ जसवन्त सिंह का 'भाषाभूषण', मतिराम-कृत 'ललितललाम', तथा भूषण का 'शिवराजभूषण' हैं। ये ग्रन्थ 'चन्द्रालोक' की पद्धति पर हैं। 'भाषाभूषण' में लक्षण और उदाहरण दोनों ही दोहों में हैं। यह ग्रन्थ अलंकारों को कंठस्थ करने के लिए बड़ा उपयोगी समझा जाता रहा है। इसका रचना-काल अठारहवीं शताब्दी का प्रारंभ है। 'भाषाभूषण' के दूसरे प्रकरण में भेदों सहित १०८ अलंकारों का वर्णन किया गया है। 'भाषाभूषण' की अनेक टीकाएँ हुई हैं और इसका प्रचार काव्यशास्त्र के ग्रन्थों में सबसे अधिक हुआ।

मतिराम

मतिराम चिन्तामणि त्रिपाठी के छोटे भाई थे और कानपुर जिले में जमुना के किनारे स्थित टिकमापुर ग्राम के निवासी थे। प्रसिद्ध कवि भूषण भी इनके भाई थे। इन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की है। इनका काव्य सुकुमारता और लालित्य के लिए प्रसिद्ध है। कविवर मतिराम की प्रवृत्ति रस की ओर ही अधिक है और वे लक्षणकार की अपेक्षा कवि ही अधिक हैं। फिर भी उनके ग्रन्थ 'अलंकारपंचाशिका' और 'ललितललाम' अलंकार पर लिखे गए हैं। 'अलंकार-पंचाशिका' कुमायूं नरेश उद्योतचन्द्र के पुत्र ज्ञानचन्द्र के लिए लिखी गई और इसका आधार 'चन्द्रालोक' है। 'ललित ललाम' ग्रन्थ बूंदी नरेश भावसिंह की प्रशंसा में लिखा गया। इसमें लक्षण दोहों में तथा उदाहरण कवित्त-सवैयों में हैं। इसमें चित्र को छोड़कर समस्त अलंकारों को अर्थालंकार ही माना गया है। इसके अन्तर्गत सौ अलंकारों और उनके भेदों का वर्णन है। इसमें संदेह नहीं कि उदाहरण अत्यन्त सुन्दर हैं। अलंकारों के लक्षण भी मतिराम के स्पष्ट शुद्ध हैं। एकाध स्थलों पर यह अवश्य देखने को मिलता है कि उदाहरण लक्षण के मेल में नहीं हैं। अधिकांश उदाहरण बूंदी नरेश छत्रसाल के पुत्र भावसिंह की प्रशंसा में हैं। पर उनके साथ ही साथ सामान्यतः नायिका के भाव, रूप, सौन्दर्य के वर्णन भी इनमें खूब हैं। अधिकांश लक्षण ठीक होने पर भी चलताऊ ही हैं। एकाध लक्षण मतिराम की सूक्ष्म ग्रहणशीलता प्रकट करते हैं। उपमा अलंकार का लक्षण कुछ अधिक विस्तृत रूप में देते हुए मतिराम ने लिखा है[1]—

> जाको वर्णन कीजिए, सो उपमेय प्रमान।
> जाकी समता दीजिए, ताहि कहत उपमान।।
> जहाँ बरनिए दुहुन को, सम छवि को उल्लास।
> पंडित कवि मतिराम तहँ, उपमा कहत प्रकास।।

यहाँ पर 'सम छवि को उल्लास' पद से उपमालंकार की आन्तरिक विशेषता प्रकट होती है। उपमेय और उपमान के बीच जो समान छवि या सादृश्य संबंधी विशेषता है उसका सुन्दर प्रकाशन या अभिव्यक्ति उपमालंकार में होती है। इसका उदाहरण भी ऐसा ही सुन्दर है।

---

१. ललित ललाम, ३९-४०।

मतिराम ने केवल अर्थालंकारों का ही वर्णन किया है, शब्दालंकारों को उन्होंने नहीं लिया। मतिराम के क्रम और लक्षण को प्राय: अक्षरश: भूषण ने 'शिवराज भूषण' में ग्रहण किया है।

भूषण

मतिराम और चिन्तामणि के भाई टिकमापुर निवासी प्रसिद्ध कवि भूषण वीररस की कविता के लिए प्रख्यात हैं। ये अनेक राजाओं के यहाँ गए, परन्तु रीझने वाली विशेषताएँ शिवाजी और छत्रसाल में ही इन्हें प्राप्त हुईं। इनकी रचनाएँ ओजपूर्ण हैं। भूषण को आलंकारिक ही कहना चाहिए। यद्यपि इनकी उक्तियाँ वीर रस-पूर्ण हैं फिर भी इनके प्रमुख ग्रन्थ 'शिवराज भूषण' में अलंकारों के ही लक्षण-उदाहरण हैं। 'शिवराजभूषण ' की रचना सं० १७३० वि० (सन १६५३ ई०) में हुई थी। इस ग्रन्थ पर मतिराम के 'ललित ललाम' का प्रभाव स्पष्ट है; अनेक लक्षण और उदाहरण वही हैं। लक्षण तो अधिकांश रूप में 'ललितललाम' के ही 'शिवराज-भूषण' में पाए जाते हैं। इस बात की पुष्टि के लिए मालोपमा, उल्लेख, छेकापह्नुति, दीपक निदर्शना आदि के लक्षण देखे जा सकते हैं, जिनमें न केवल भाव-साम्य है, वरन शब्दावली भी एक सी है। कहीं कहीं तो केवल कवि नाम का ही भेद है, जैसे मालोपमा का लक्षण लीजिए :—

जहाँ एक उपमेय को, होत बहुत उपमान।
तहाँ कहत मालोपमा, कवि मतिराम सुजान।। (ललित ललाम)
जहाँ एक उपमेय को, होत बहुत उपमान।
ताहि कहत मालोपमा, भूषण सुकवि सुजान।। (शिवराजभूषण)

इसके साथ ही साथ अलंकारों का क्रम भी दोनों कवियों का एक ही प्रकार का है। अर्थालंकार 'ललित ललाम' में कुछ अधिक हैं पर 'शिवराज-भूषण' में शब्दालंकार भी अर्थालंकार के बाद दिए हुए हैं, यह विशेषता है। कुल मिलाकर भूषण ने भी सौ अलंकारों का वर्णन किया है और बहुत से लक्षण भी गड़बड़ हैं, जैसे परिणाम, भ्रम, निदर्शना, सम, परिकर, विभावना, काव्यलिंग, अर्थान्तिरन्यास आदि। कुछ लोगों का विचार है कि भूषण ने भाविक छवि आदि कुछ नवीन अलंकार रखे हैं, पर उनमें कोई ऐसी नवीनता नहीं, केवल एक भेद मात्र ही यह भाविक अलंकार का कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त संस्कृत के अलंकार-ग्रन्थों में भाविक छवि इसी रूप में मिलता है।[1] मतिराम के लक्षण इनके लक्षणों से अधिक अच्छे हैं। हाँ, इनके उदाहरण अधिकांश वीर भाव के हैं, यह इनकी मौलिकता अवश्य है, जो भूषण को कवि-समाज में एक महत्वपूर्ण स्थान और गौरव प्रदान करती है।

आचार्य कुलपति ध्वनि और सुखदेव तथा देव प्रमुखत: रस सिद्धान्त पर आस्था रखने वाले आचार्य हैं। पर इन्होंने अलंकार का खण्डन नहीं किया है। देव के 'काव्य-रसायन' में अलंकारों का वर्णन विस्तार के साथ है। इसमें अर्थालंकार के दो भेद हैं। मुख्यालंकार तथा गौण मिश्रालंकार। प्रथम वर्ग में रसवत अलंकारों का ही वर्णन है। कुल मिलाकर ८० अलंकार और उनके भेदों का वर्णन है। इन्होंने सन्देह अलंकार के अतिरिक्त एक अलंकार संशय अलग रक्खा

---

१. देखिए जयदेव-कृत 'चन्द्रालोक', ५ मयूख, ११४।

है। संशय जहाँ उपमा देने में अनिश्चय रहता है, वहाँ माना गया है। भूषण के भाविक छवि की भाँति इसे भी एक मुख्य अलंकार का एक भेद ही मानना अधिक उपयुक्त है। इसे सर्वथा एक अलग अलंकार मानना उपयुक्त नहीं।

गोप

हिन्दी अलंकार-शास्त्र के क्षेत्र में कतिपय कम प्रसिद्ध आचार्य कवियों के ग्रन्थ अधिक महत्वपूर्ण हैं और विशेष रूप से वे जिनमें केवल अलंकारों का निरूपण हुआ है। सन १७१६ ई० (१७७३ वि०) तथा उसके आसपास ओरछा नरेश महाराज पृथ्वीसिंह के आश्रय में गोप कवि ने तीन ग्रन्थों—रामालंकार, रामचन्द्रभूषण और रामचन्द्राभरण—की रचना की। ये ग्रन्थ 'चन्द्रालोक' की पद्धति पर हैं। प्रथम दोहार्द्ध में लक्षण और द्वितीय में उदाहरण दिए गए हैं। संक्षेप में होने पर भी लक्षण और उदाहरण स्पष्ट हैं। गोप कवि द्वारा अपने ग्रन्थ 'रामचन्द्रभूषण' में दी गई अलंकार की परिभाषा उसके यथार्थ स्वरूप और महत्व को स्पष्ट करने वाली है। उन्होंने लिखा है—

> शब्द अर्थ रचना रुचिर, अलंकार सो जान।
> भाव भेद गुन रूप तें, प्रगट होत है आन॥

यहाँ पर अलंकार को शब्द और अर्थ की कलापूर्ण रुचिर रचना माना गया है जिसकी अभिव्यक्ति भावादि की स्थिति से होती है। इस लक्षण से भाव और गुण के साथ अलंकार का संबंध प्रकट हो जाता है। वे बाह्यरूप होते हुए भी रसभावादि से भिन्न नहीं हैं, वरन् उनका रूप अन्तस्थ भाव के अनुरूप एवं उसी का सहचारी होता है। काव्य के सर्वांगीण विश्लेषण में अलंकार का यह रूप अपना स्पष्ट स्थान रखता है। अलंकारों का अधिकांश विवरण इन ग्रन्थों में परंपरागत रूप में ही है, परन्तु स्वभावोक्ति के गोप कवि ने चार भेद—जाति, क्रिया, गुण और द्रव्य के आधार पर किए हैं। इनका यह वर्णन केशव के द्वारा किए गए अलंकारों के वर्गीकरण में किंचित विकास प्रस्तुत करता है। केशव ने सामान्य और विशिष्ट अलंकार माने हैं। सामान्य में स्वाभाविक वर्णन का सौन्दर्य है और विशिष्ट में उक्ति-वैचित्र्य का। यहाँ पर काव्य के दो भेद—स्वभावोक्ति एवं वक्रोक्ति—किए जा सकते हैं। वक्रोक्ति में उक्ति-वैचित्र्य पर आधारित समस्त अलंकार हैं और स्वभावोक्ति में स्वभाविक यथातथ्य वर्णन आते हैं। दोनों ही अलंकारों में शब्दार्थ की रुचिर रचना और रस भावादि का समावेश रहता है। अतः अलंकारों की यह धारणा अलंकार के व्यापक महत्व को स्पष्ट करती है और अलंकार की काव्य में अनिवार्यता सिद्ध करती है। मम्मट की परिभाषा—'सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि'—इस दृष्टि से उचित नहीं ठहरती। वास्तव में अलंकार-संप्रदाय का दृष्टिकोण यही है जिसे गोप ने अपने ग्रन्थों में प्रकट किया है।

अलंकारों को लेकर एक दूसरे प्रकार के 'रस भूषण' ग्रन्थ लिखे गए जिनमें अलंकार और रस दोनों के ही लक्षण और उदाहरण देने का चमत्कार पूर्ण प्रयत्न किया गया। इस दिशा में दो रस-भूषण प्रसिद्ध हैं—एक याकूब खाँ का 'रस भूषण' और दूसरा शिवप्रसाद का। याकूब खाँ का 'रस भूषण' संवत १७७५ वि० (सन १७१८ ई०) की रचना माना जाता है और

शिवप्रसाद की रचना का निर्माण-काल संवत १८७९ वि० (सन १८२२ ई०) है, जो दतिया में राजा परीक्षित के आश्रय में लिखी गई। इन ग्रन्थों को कोई विशेष शास्त्रीय महत्व नहीं दिया जा सकता। हाँ, अलंकार और रस का एक संबंध इन ग्रन्थों के प्रयत्न द्वारा ढूँढ़ा जा सकता है। किस अलंकार के साथ कौन रस अधिक निष्पन्न होता है, इस समस्या पर भी ऐसे ग्रन्थों द्वारा प्रकाश पड़ता है। याकूब ने अपने ग्रन्थ 'रस-भूषण' में उपमालंकार और नायिका-भेद को एक साथ प्रारंभ किया है। वे लिखते हैं —

> पूरण उपमा जानि, चारि पदारथ होंहिं जिहिं।
> ताहि नायिका मानि, रूपवन्ति सुन्दर सुछवि।।
> हैं कर कोमल कंज से, ससि सी दुति सुख ऐन।
> कुंदन रँग पिक वचन से, मधुरे जाके बैन।।

इसमें तीन पूर्णोपमाओं में नायिका-वर्णन किया गया है। लक्षणों में कोई विशेषता नहीं है। इसी परिपाटी में इससे भी अधिक चमत्कार प्रदर्शित करने वाली 'व्यंग्यार्थकौमुदी' है जिनमें शब्द-शक्ति, नायिका-भेद, और अलंकार—तीनों का वर्णन एक साथ चलता है। निश्चय ही ये काव्य बुद्धि के व्यायाम हैं। न तो शास्त्रीय दृष्टि से इनमें कोई मौलिक चिन्तन ही हो पाया है और न हार्दिक काव्योद्गार ही इनमें प्रकट हुआ है। इस चमत्कारवादिता ने रीतिकाव्य और रीतिशास्त्र दोनों को ही हानि पहुँचाई है।

श्रीधर

श्रीधर कवि प्रसिद्ध वीर काव्य 'जंगनामा' के रचयिता थे। ये तीर्थराज प्रयाग के रहने वाले ओझा ब्राह्मण थे। वहाँ के नवाब मुशल्लेहखान के कहने पर इन्होंने 'भाषा-भूषण' नामक ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ में १५० दोहरा या दोहा छन्द हैं। इसके आधार 'चन्द्रालोक' और 'कुवलयानन्द' ग्रन्थ हैं। जसवन्त सिंह के 'भाषा-भूषण' के समान इसमें भी दोहे के अर्ध भाग में लक्षण और आधे भाग में उदाहरण दिए गए हैं।

रसिक सुमति

'कुवलयानन्द' के आधार पर लिखा गया रसिक सुमति का 'अलंकार चन्द्रोदय' नामक ग्रन्थ है। ये मथुरिया टोला, आगरा के रहने वाले ईश्वरदास उपाध्याय के पुत्र थे। इन्हें अलंकार पर ग्रन्थ लिखने की प्रेरणा 'कुवलयानन्द' से प्राप्त हुई थी, यह ग्रन्थ के प्रारम्भिक दोहे से ही प्रकट है —

> रसिक कुवलयानन्द लखि, असि मन हरष बढ़ाय।
> अलंकार चन्द्रोदयहिं, बरनतु हिय हुलसाय।।

'अलंकार चन्द्रोदय' संवत १७८६ वि० (सन १७२९ ई०) का लिखा ग्रन्थ है और १८७ छंदों में समाप्त हुआ है। पुस्तक की समाप्ति पर रचना-काल इस प्रकार अंकित है—

लिषि लषहु रस[६] बसु[८] रिषि[७] शशि[१] संवतई सावन मास।
कुज पुष्य तेरसि असित को यह कियो ग्रन्थ प्रकास।।

'अलंकार चन्द्रोदय' में १८७ दोहे हैं। १८० दोहों में अर्थालंकार का और शेष में शब्दालंकार-वर्णन है। यह 'भाषा-भूषण' की पद्धति पर है।

रसिक सुमति के विचार से शब्द और अर्थ की विचित्रता ही अलंकार है।[१] उपमालंकार से प्रारंभ करके उसके अनेक भेद देते हुए ८० अर्थालंकार और उनके भेदों तथा अनुप्रास का वर्णन किया गया है। बीच बीच में अलंकारों को स्पष्ट करने के लिए पारिभाषिक शब्दों को स्पष्ट किया गया है; जैसे, उपमेय-उपमान, विशेष्य-विशेषण, वाक्य-पद आदि। सामान्यतः 'अलंकार-चन्द्रोदय' अलंकार का अच्छा ग्रन्थ है।

रघुनाथ

वाराणसी के राजा के आश्रित एवं सभाकवि रघुनाथ बन्दीजन ने 'रसिकमोहन' नामक अलंकार-ग्रन्थ की रचना सं० १७९६ वि० (सन १७३९ ई०) में की थी। इस ग्रन्थ में केवल शृंगार के ही नहीं, वरन अन्य रसों के भी उदाहरण देने की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। 'रसिक-मोहन' ग्रन्थ में कुल ४८२ छन्द हैं। इसमें लक्षण दोहों में और उदाहरण कवित्त-सवैया छन्दों में दिए गए हैं। 'रसिक मोहन' ग्रन्थ के अध्यायों का नाम रघुनाथ कवि ने मंत्र रखा है। यह अलंकार का अच्छा ग्रन्थ है।

गोविन्द

गोविन्द कवि का 'कर्णाभरण' नामक ग्रन्थ सं० १७९७ वि० (सन १७४० ई०) की रचना है। रचना-तिथि का निर्देश ग्रन्थ के अन्त में इस प्रकार है —

नग[७] निधि[९] रिषि[७] विधु[१] बरष में, सावन सित तिथि संभु।
कीन्ही सुकवि गुविन्द जू, कर्णाभरण अरंभु।।३३८।।

इनके जीवन से संबद्ध अन्य विवरण प्राप्त नहीं हैं। मिश्रबन्धुओं ने केवल उनका रचना-काल और ग्रन्थ का नाम दिया है।[२] शुक्ल जी के इतिहास में कोई उल्लेख नहीं। 'शिवसिंह सरोज' में तीन छन्द और रचना-तिथि दी हुई है। उनका 'कर्णाभरण' ग्रन्थ भारत जीवन प्रेस से सं० १८-९४ वि० में मुद्रित हुआ था। 'कर्णाभरण' एक प्रसिद्ध ग्रन्थ रहा है। अधिकांश दोहों के प्रथम भाग में लक्षण और द्वितीय में उदाहरण दिए हुए हैं। यह 'भाषाभूषण' की शैली पर है, किन्तु उससे अधिक स्पष्ट लक्षण देने वाली पुस्तक है। उदाहरण भी स्पष्ट और सुन्दर हैं। एकाध स्थान पर लेखक की मौलिकता भी देखने को मिलती है, जैसे गोविन्द कवि के अनुसार श्लेष के तीन भेद हैं—प्रकृतप्रकृत, प्रकृताप्रकृत और अप्रकृताप्रकृत। ये शब्दों से निकलने वाले प्रकृत अथवा अप्रकृत अर्थों के आधार पर किए गए भेद हैं। इनका सापह्नवातिशयोक्ति का उदाहरण पर्यस्तापह्नुति का सा है। इसी प्रकार तुल्ययोगिता और दीपक के लक्षणों में भी भ्रम हो सकता

१. सब्द अरथ की चित्रता, विविध भाँति की होइ।
अलंकार तासों कहत, रसिक विबुध कवि लोइ।।

२. शिवसिंह सरोज, नवलकिशोर प्रेस, पृष्ठ ७८।

है, यदि उनका ठीक से अर्थ न किया जाय। पर ऐसे स्थल बहुत कम हैं। अधिकांश लक्षण स्पष्ट और उदाहरण सुन्दर हैं।

दूलह कवि

दूलह हिन्दी साहित्य के प्रसिद्ध आलंकारिक हैं। ये हिन्दी के प्रसिद्ध आचार्य कवि कालिदास त्रिवेदी के पौत्र और उदयनाथ क ीन्द्र के पुत्र थे। मिश्रबन्धुओं के अनुसार ये कान्यकुब्ज थे और वनपुरा के रहने वाले थे। रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार इनका रचना-काल सं० १८०७—१८३२ वि० (सन १७५०—१७७५ ई०) है। इनका ग्रन्थ 'कविकुल कंठाभरण' अत्यधिक प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ में अलंकार की परिभाषाएँ और उदाहरण अत्यन्त संक्षेप में दिए हुए हैं। दूलह ने प्रारंभ में ही कह दिया है कि:—

जो या कंठाभरण को, कंठ करे सुख पाय।
सभा मध्य सोभा लहै, अलंकृती ठहराय।।

इसके उदाहरण अलग से कोई काव्यगत महत्व नहीं रखते, क्योंकि वे लक्षण की लपेट में ही आए हैं, अलग नहीं। प्रायः एक ही पंक्ति का आधा भाग लक्षण और आधा भाग उदाहरण है। कुछ ही छन्द हैं जिनमें उदाहरण लक्षण से अलग हैं। यह ग्रन्थ 'चन्द्रालोक' और 'कुवलयानन्द' के आधार पर है जिसका उल्लेख लेखक ने स्वयं ही स्थान स्थान पर किया है। दूलह ने अपने ग्रन्थ में सात रसवदादि तथा आठ प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति, शब्द, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, संभव, ऐतिह्य अलंकारों का विवरण दिया है। अन्तिम आठ मीमांसा, योग आदि दर्शन की शब्दावली पर आधारित हैं। इनका स्पष्टीकरण भेदों से और भी हो जाता है जैसे क्षीर-नीर न्याय पर संकर और तिल-तंडुल न्याय पर संसृष्टि अलंकार हैं। इसमें कुल ११७ अलंकारों का वर्णन हुआ है और यह इनकी प्रौढ़ धारणा को व्यक्त करते हैं।

रसरूप

रसरूप ने संवत् १८११ वि० (सन १७५४ ई०) में 'तुलसी भूषण' नामक अलंकार-ग्रन्थ की रचना की। इसमें लक्षण तो 'काव्यप्रकाश,' 'चन्द्रालोक' और 'कुवलयानन्द' के आधार पर लेखक द्वारा रचे गए हैं, परन्तु अलंकारों के उदाहरण तुलसीदास की रचनाओं—'रामचरितमानस,' 'गीतावली' और कहीं कहीं 'बरवै रामायण'—से लिए गए हैं। कभी कभी एक ही लक्षण के उदाहरण में 'मानस' और 'गीतावली' दोनों से ही उदाहरण लिए गए हैं। इसमें अलंकारों का वर्णन अकारादि क्रम से किया गया है।

रामसिंह

नरवरगढ़ राज्य के राजा रामसिंह, जो महाराज छत्रसिंह के पुत्र थे, रस पर लिखने वाले प्रसिद्ध कवियों में से हैं। इन्होंने 'अलंकार-दर्पण' नामक अलंकार ग्रन्थ सं० १८३५ वि० (१७७८ ई०) में लिखा। इसमें ४०० छन्दों में अलंकारों के लक्षण और उदाहरण दिए गए हैं। 'अलंकार-दर्पण' में विचित्रता यह है कि इसमें लक्षण तो सोरठा, चौपाई, गाथा, दोहा आदि छंदों में दिए गए हैं, परन्तु उदाहरण दोहा छन्दों में हैं। अलंकार संबंधी धारणाएँ केशव के

समान हैं। फिर भी काव्य में अलंकार को ये सहायक अंग ही मानते हैं, अनिवार्य नहीं। 'अलंकार-दर्पण' में ३८३ छंदों में केवल अर्थालंकारों का वर्णन है। इसका आधारभूत ग्रन्थ अधिकतर 'कुवलयानन्द' है।

सेवादास

प्रसिद्ध राम-भक्त अलबेले लाल के शिष्य सेवादास ने 'रघुनाथ अलंकार' नामक ग्रन्थ राम-भक्ति के उदाहरण देते हुए लिखा है। लक्षण 'चन्द्रालोक' और 'कुवलयानन्द' के आधार पर हैं। इसका रचना-काल सं० १८४० वि० (सन १७८३ ई०) है। लक्षण या अलंकार शास्त्र की दृष्टि से इसका कोई विशेष महत्व नहीं है, पर उदाहरण भावपूर्ण हैं, इसमें सन्देह नहीं।

बैरीसाल

बैरीसाल असनी के निवासी ब्रह्मभट्ट थे। इनके वंशज और हवेली अब तक विद्यमान हैं।[१] इनका रचा हुआ प्रसिद्ध ग्रन्थ 'भाषाभरण' अलंकार का उत्तम ग्रन्थ है। लक्षण स्पष्ट और उदाहरण अत्यंत सुन्दर हैं। 'भाषाभरण' में अधिकांश दोहे हैं और कुल ४७५ छंद हैं। 'भाषाभरण' का रचना-काल सं० १८२५ वि० (सन १७६८ ई०) है, जैसा कि नीचे लिखे दोहे से प्रकट होता है—

शर[५] कर[२] वसु[८] विधु[१] वर्ष में, निर्मल मधु को पाइ।
त्रिदशि और बुध मिलि कियो, भाषाभरण सुभाइ[२]॥

बैरीसाल के अनुसार शब्द और अर्थ में जिसकी प्रधानता है वहीं अलंकार मानना चाहिए। प्रमुखतया यह कवि के अभिप्राय पर निर्भर करता है। इस तथ्य को उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है—

ज्यों ब्रज में ब्रज-बधुन की, निकसति सखी समाज।
मन की चि जापर भई, ताहि लखत ब्रजराज॥

'भाषाभरण' में वर्णन का ढंग 'भाषाभूषण' के समान है। इसका आधार 'कुलयानन्द' है। लुप्तोपमा के प्रसंग में इन्होंने एक भेद पूर्ण लुप्तोपमा भी माना है जिसमें कि उपमा के चारों अंग लुप्त हों और इसका उदाहरण इस प्रकार दिया है—

जहाँ न चार्‌यो है तहाँ, पूरण लुप्ता नाम।
ज्यहि लखि लाजत कोकिला, ताहि लीजिए स्याम॥

उपर्युक्त प्रकार के भेद की कल्पना की जा सकती है, पर ऐसा उदाहरण नहीं मिल सकता। प्रस्तुत उदाहरण प्रतीप की विशेषता रखता है और कोकिला के रूप में उपमान प्रकट ही है, लुप्त नहीं। अतः यह पूर्ण लुप्तोपमा का उदाहरण नहीं हुआ। 'भाषाभरण' में रसवदादि अलंकारों का भी वर्णन है। अधिकांश अलंकारों के लक्षण और उदाहरण दोनों ही महत्वपूर्ण हैं। प्रस्तुत ग्रंथ 'कुवलयानन्द' की शैली पर लिखा गया है, इसका उल्लेख उन्होंने अन्त में इस प्रकार किया है —

---

१. मिश्रबन्धु विनोद, २, ७२९।

२. भाषाभरण, छन्द ८।

तेहि नारायण ईस की, करि मन मांह सुमर्ण।
रीति कुवलयानन्द की, कीन्हीं भाषाभर्ण।।

इस ग्रन्थ की अलंकार के प्रामाणिक ग्रन्थों में गणना होनी चाहिए।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अलंकार पर लिखे जाने वाले ग्रन्थों की संख्या कम नहीं है। अलंकार गंगा (श्रीपति), कंठाभूषण (भूपति), अलंकार रत्नाकर (वंशीधर), अलंकार दीपक (शम्भूनाथ), अलंकार दर्पण (गुमान मिश्र, हरिनाथ, रतन, रामसिंह कवियों का), अलंकार-मणि-मंजरी (ऋषिनाथ), काव्याभरण (चन्दन), नरेन्द्र भूषण (भान), फतेहभूषण (रतन), अलंकार-चिन्तामणि (प्रतापसिंह), अलंकार आभा (चतुर्भुज), अलंकार प्रकाश (जगदीश) तथा अन्य अनेक ग्रन्थ अलंकारों पर लिखे गए जो आज दुर्लभ हैं। इनमें से अधिकांश के आधार 'चन्द्रालोक' और 'कुवलयानन्द' अथवा हिन्दी के ग्रन्थ हैं। पद्धति सब की अधिकांश वही है। जो ग्रन्थ उपलब्ध हैं उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि अलंकार की धारणा में कोई महत्वपूर्ण विकास या नवीन मौलिक व्याख्या इनमें प्रस्तुत नहीं की गई होगी।

रामसहाय

रामसहाय भवानीदास कायस्थ के पुत्र थे, और काशी के रहने वाले थे। इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'रामसतसई,' 'वृत्ततरंगिणी' तथा 'वाणीभूषण' हैं। 'वाणीभूषण' प्रमुखतया अलंकार का ग्रन्थ है जिसे कवि ने 'काव्य प्रदीप', 'कुवलयानन्द' तथा कुछ अन्य ग्रन्थों के आधार पर लिखा था। लक्षणों तथा उदाहरणों को स्पष्ट करने के लिए ब्रजभाषा में वर्णित अलंकारशास्त्र पर यह वृहत् ग्रन्थ है। सब से पहले अर्थ, प्रयोग, शब्द शक्ति आदि का संकेतितार्थ के रूप में वर्णन है फिर उपमा भाव के अन्तर्गत उपमा तथा अन्य सादृश्यमूलक अलंकारों का वर्णन है। इसके बाद अर्थालंकारों का और फिर शब्दालंकारों का वर्णन किया गया है। इस ग्रन्थ में अलंकारों के लक्षणों का, विभिन्न भेदों का तथा उनको स्पष्ट करने वाले उदाहरणों का बहुत ही बारीक विश्लेषण और विवेचन किया गया है। गद्य वार्ता में इतना बारीक विवेचन करने वाले ग्रन्थ अत्यल्प हैं। इस अकेले ग्रन्थ से कवि रामसहाय की विद्वत्ता प्रमाणित होती है।

पद्माकर

पद्माकर को रीति-काल का अन्तिम आलंकारिक कहना चाहिए। कवि तथा रीति-ग्रन्थकार दोनों के ही रूप में पद्माकर का नाम अत्यन्त प्रसिद्ध हुआ। इतना ही नहीं, आगे के कवियों पर भी पद्माकर की वाणी की ाक रही। इनके 'पद्माभरण' के आधार-ग्रन्थ 'चन्द्रालोक', 'भाषाभूषण', 'कविकुलकंठाभरण' और 'भाषाभरण' हैं—बैरीसाल के 'भाषाभरण' का आदर्श इसमें अधिक ग्रहण किया गया है। कहीं कहीं तो ऐसा जान पड़ता है कि पद्माकर ने 'भाषाभरण' के ही छन्दों को थोड़ा बदल कर रख दिया है। तुलना के लिए देखिए—

कहुँ पद ते कहुँ अर्थ तें, कहूँ दुहुन के जोइ।
अभिप्राय जैसो जहाँ, अलंकार त्यों होइ।।
अलंकार यह ठौर में, जो अनेक दरसाहिं।
अभिप्राय कवि को जहाँ, सो प्रधान तिनि माँहि।। (भाषाभरण)

अब पद्माकर के 'पद्माभरण' को देखिए—

शब्दहुँ ते कहुँ अर्थ तें, कहूँ दुहूँ उर आनि।
अभिप्राय जिहिं भाँति जहँ, अलंकार सो मानि ॥
अलंकार इक थलहि में, समुझि परै जु अनेक।
अभिप्राय कवि को जहाँ, वहै मुख्य गति एक ॥

इस प्रकार स्पष्ट है कि 'भाषाभरण' का आधार पद्माकर ने ग्रहण किया है। 'चन्द्रालोक' का भी कहीं कहीं पूरा का पूरा भाव मिलता है, जैसे अपह्नुति का उदाहरण दोनों में एक है जो इस प्रकार है—

नायं सुधांशुः किं तर्हि ? व्योमगंगासरोरुहम्। (चन्द्रालोक)
यह न ससी तो है कहा ? नभगंगा जलजात। (पद्माभरण)

इस प्रकार हम देखते हैं कि केशव के उपरान्त देव आदि आचार्यों को छोड़ कर हिन्दी के अधिकांश रीति ग्रन्थकारों के लिए अलंकार-निरूपण के लिए आधारभूत ग्रन्थ 'चन्द्रालोक' और 'कुवलयानन्द' रहे। रीति युग के उपरान्त आधुनिक युग में जो ग्रन्थ अलंकारों पर लिखे गए वे अधिकांश 'काव्य-प्रकाश' या 'साहित्य-दर्पण' के आधार पर हैं। वास्तव में जिन्होंने रीतिकाल में केवल अलंकार पर ही अलग ग्रन्थ लिखे, उन्होंने 'चन्द्रालोक' और 'कुवलयानन्द' का आधार ग्रहण किया, परन्तु जिन्होंने काव्यशास्त्र के अन्य विषयों के साथ अलंकार को लिया है उनके आधार प्रायः 'काव्य प्रकाश', 'साहित्य दर्पण' आदि ग्रन्थ रहे हैं।

ख. रस-सम्प्रदाय

संस्कृत के प्राचीन आचार्यों ने रस को नाटक से संबंधित प्रमुख प्रतिपाद्य के रूप में देखा और काव्य के अन्तर्गत रस की स्थिति की चर्चा सब से पहले नाटक के प्रसंग में हुई। भरत मुनि का 'नाट्यशास्त्र' काव्यशास्त्र का सब से प्राचीन ग्रन्थ माना जा सकता है। इस ग्रन्थ में रस का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। 'नाट्यशास्त्र' के अनुसार नाटक में आठ रस हैं—शृंगार, वीर, करुण, अद्भुत, हास्य, भयानक, बीभत्स और रौद्र। रस-निष्पत्ति नाटक का प्रमुख ध्येय है, यह बात 'नाट्यशास्त्र' से स्पष्ट हो जाती है। इसका संबंध नाटक से स्वीकृत होने पर प्राचीन आचार्यों ने काव्यशास्त्र के क्षेत्र में कविता से अलंकार का संबंध ही विशेषतः माना। बहुत समय तक तो रस नाटक का ही विषय माना जाता रहा। इसीलिए काव्यशास्त्र का अलंकार शास्त्र नाम प्रसिद्ध हुआ। काव्यालंकारशास्त्र के प्रारंभिक आचार्यों—भामह, दंडी, वामन, उद्भट आदि—ने अलंकारों के भीतर रस की साधारण स्थिति रसवदादि अलंकारों के रूप में स्वीकार की। काव्य के भीतर रस की, अलंकारों से भिन्न स्वतंत्र स्थिति सब से पहले आचार्य रुद्रट के द्वारा प्रतिपादित की गई और यह प्रकट किया गया कि रस नाटक तक ही सीमित नहीं, वरन वह काव्य के लिए भी आवश्यक है। रुद्रट के विचार से रसहीन काव्य शास्त्र की कोटि में आना चाहिए।[1] उन्होंने

१. काव्यालंकार, १२२।

रसों की संख्या दस मानी। शान्त और प्रेयस ये दो रस आठ नाट्य रसों के अतिरिक्त उन्होंने प्रतिष्ठित किए। इतना ही नहीं, रुद्रट की दृष्टि में अन्य संचारी भाव भी रस में परिणत हो सकते हैं।[१] रस को अलंकार के भीतर रखने के वे विरोधी थे।

ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने यद्यपि ध्वनि-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, परन्तु उन्होंने काव्य के क्षेत्र में रस का महत्व स्वीकार किया है। ध्वनि-सिद्धान्त के अन्तर्गत तो रस स र्वोत्तम ध्वनि है। राजशेखर ने भी अपनी 'काव्यमीमांसा' नामक पुस्तक में रस को काव्य-पुरुष की आत्मा के रूप में संबोधित किया है--

'शब्दार्थौ तें शरीरं, संस्कृतं मुखं, प्राकृतं बाहु. . . . उक्ति चरणं च ते वचः, रस आत्मा,रोमाणि छन्दांसि।'[२] दसवीं शताब्दी वि० के प्रारंभ तक काव्य में रस की महत्ता स्थापित हो चुकी थी। ध्वनि-सिद्धान्त का विरोध करने वाले आचार्यों--जैसे प्रतिहारेन्द्रराज, भट्टनायक, धनंजय, धनिक आदि--ने भी रस के महत्व को स्वीकार करते हुए उसे काव्य की आत्मा माना। भट्टनायक ने तो रसानुभूति का बड़ा ही सूक्ष्म विश्लेषण किया और साधारणीकरण के सिद्धान्त द्वारा रसानुभूति की प्रक्रिया को स्पष्ट करने के लिए एक महत्वपूर्ण पृष्ठभूमि तैयार कर दी। आचार्य अभिनव गुप्त ने यद्यपि ध्वनिविरोधी आचार्यों के मतों का खण्डन किया; पर उन्होंने रस को काव्य में महत्वपूर्ण स्थान दिया। रस ध्वनि-काव्य का श्रेष्ठ और सब से अधिक प्रभावका ी रूप है। इसमें सन्देह नहीं कि ध्वनि का एक रूप हो कर रस का क्षेत्र अत्यन्त सीमित हो जाता है, अतः रसवादियों को इस रूप में रस की स्थिति मान्य नहीं हुई।

काव्य रस को अत्यन्त गंभीर महत्व तथा व्यापक मान्यता प्रदान करने वाले आचार्य भोजराज (सं० १०७५--१११ वि० = १०१८-१०५४ ई०) हैं। उनकी दृष्टि से रस-काव्य सर्वोपरि है, यथा--

वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्च वाङ्मयम्।
सर्वासु ग्राहिणी तासु रसोक्तिं प्रतिजानते।[३]

रस को सर्वोपरि प्रतिष्ठित कर के भोज ने अपने ग्रन्थ 'श्रृंगार प्रकाश' में रस का गंभीर दार्शनिक विवेचन किया है। भोज के विचार से रस एक है--श्रृंगार। काव्य में गुण के समान रस का अवियोग भी नित्य है। रस की पहली अवस्था अहंकार है। दूसरी अवस्था इससे उत्पन्न विभिन्न भावों की व्यवहार-अवस्था है जिसमें रस अनेक हैं। तीसरी स्थिति उत्तरा अवस्था है जिसमें अहंकार प्रेम में परिणत हो जाता है। द्वितीय अवस्था भावों की तथा तृतीय अवस्था भावना की अवस्था है। श्रृंगार के संबंध में भोज की धारणा अत्यन्त उच्च है। श्रृंगार उत्कर्ष की ओर ले जाने वाला है--येन श्रृंगं रीयते। भोज ने श्रृंगार को पूर्ण रस के रूप में स्वीकार किया।

---

१. श्रृंगारवीरकरुणबीभत्सभयानकाद्भुतहास्यरौद्रशान्तप्रेयानितिमन्तव्यरसः। रसनाद्रस त्वमेषां मधुरादीनामिवोक्तमाचार्यनिर्वेदादिष्वपि तन्निकाममस्त्येवेतितेऽपि रसाः।

२. काव्यमीमांसा, पृष्ठ ६।

३. सरस्वती कंठाभरण, ५-८।

इसके बाद आचार्य विश्वनाथ ने रस की महत्वपूर्ण स्थापना की। उनकी काव्य की परिभाषा—'वाक्यम् रसात्मकम् काव्यम्'—बड़ी प्रचलित हुई। उनके मतानुसार रसानुभूति के लिए सत्वोद्रेक और आत्मप्रकाश आवश्यक हैं। यह रसानन्द ब्रह्मास्वाद-सहोदर है। भवभूति की चित्तविद्रुति के समान विश्वनाथ ने चमत्कार या चित्तविस्तार को महत्वपूर्ण माना। विश्वनाथ के विचार से अद्भुत रस प्रधान और अन्य रस उसी के विविध रूप माने जाने चाहिए। पंडितराज जगन्नाथ ने अपनी धारणा वेदान्त-सम्मत प्रकट की। उनके विचार से रस निजस्वरूपानन्द है जो चित्त के भग्नावरण रूप होने पर प्रस्फुटित होता है। यह भग्नावरणता विभावादिकों द्वारा संपादित होती है। इस प्रकार संस्कृत काव्यशास्त्र पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि काव्य के भीतर रस का महत्व धीरे धीरे सर्वमान्य होता गया। रसात्मक काव्य की सर्वोत्कृष्ट काव्य के रूप में प्रतिष्ठा हुई और इस धारणा का हिन्दी के रस-ग्रन्थ के रचयिताओं पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है।

हिन्दी के आचार्य

रस-विवेचन के प्रसंग में भी सब से प्रसिद्ध स`प्रथम आचार्य केशवदास ही माने जाते हैं। केशव के पूर्व रस, नायिका-भेद पर कुछ ग्रन्थ लिखे गए। कृपाराम की 'हिततरंगिणी', नन्ददास की 'रसमंजरी', रहीम का 'बरवै नायिका-भेद', बलभद्र कृत 'रस-विलास' आदि ग्रन्थ विशेष शास्त्रीय महत्व के नहीं हैं। बलभद्र मिश्र केशवदास के बड़े भाई थे। इनका 'शिखनख' ग्रन्थ अत्यन्त प्रसिद्ध है। 'रस-विलास' ग्रन्थ भी काव्य की दृष्टि से अत्यन्त उत्कृष्ट है। इसमें रस के अंग-रूप भावों का नए ढंग से वर्णन है जैसा कि आगे के आचार्यों का वर्णन नहीं। यह कहा जा सकता है रस के संबंध में विचार प्रकट करने वाले ग्रन्थों में केशवदास की 'रसिकप्रिया' महत्वपूर्ण है। रस-वर्णन में राधा और कृष्ण के भावों का वर्णन है। केशव ने ब्रजराज कृष्ण को नव रसमय माना है, अतः समस्त रसों का वर्णन कृष्ण राधा के प्रसंग से ही हुआ है। विभाव, अनुभाव और संचारी भाव मिल कर के जो स्थायी भाव व्यंजित करते हैं वही आनंददायी रस होता है।[1] केशव यह मानते हैं कि रुचि और शत्रुता का ध्यान रख कर जो सरस कविता की जाती है वही सज्जनों के चित्त को वश में करती है। शृंगार सब रसों का नायक है। इसमें प्रेम-संबंधी दक्षता और चतुराई तथा कामशास्त्र का ज्ञान आवश्यक है। संयोग और वियोग शृंगार को प्रच्छन्न और प्रकाश इन दो भेदों में केशवदास ने प्रकट किया है। प्रच्छन्न तथा प्रकाश भेदों में वर्णन केशव की नवीनता कही जा सकती है। भोजराज ने 'शृंगारप्रकाश' में अनुराग के दो भेद प्रच्छन्न और प्रकाश किए हैं। उसी के आधार पर ही केशव का यह भेद जान पड़ता है। 'रसिकप्रिया' में भाव की परिभाषा बड़ी व्यापक है। मुख, नेत्र, वचन के मार्ग से मन की बात प्रकट होना भाव है जिसके केशव ने पाँच भेद माने हैं—विभाव, अनुभाव, स्थायी, सात्विक और व्यभिचारी।[2] केशव के अनुसार विभाव वे हैं जिनसे जगत में अनेक रस अनायास ही प्रकट हों। यहाँ केशव का जगत

---

१. मिलि विभाव अनुभाव पुनि, संचारी सु अनूप।
व्यंग करें थिर भाव जो, सोई रस सुखरूप ॥ —रसिकप्रिया प्रकाश।

२. रसिकप्रिया, ६-२

से तात्पर्य सहृदय समाज और आश्रय है। केशव ने रस को अतन माना है। इस प्रकार उनका विचार है कि अशरीरी रस जिसका सहारा लेकर प्रकट होता है, वह आलम्बन और जिससे प्रकर्ष को प्राप्त होता हो, वह उद्दीपन विभाव है। आलम्बन और उद्दीपन के अनुकरण अर्थात बाद में प्रकट होने वाले भाव अनुभाव हैं और जो सभी रसों में बिना नियम के उत्पन्न होते हैं, वे व्यभिचारी भाव हैं। केशव ने सात्विक को अनुभाव से अलग माना है, पर इसकी व्याख्या नहीं की। 'रसिकप्रिया' के प्रसिद्ध टीकाकार सरदार कवि ने दोनों का भेद स्पष्ट करते हुए इस प्रकार लिखा है—'अरु सात्विक को अनुभाव को इतनो भेद है सात्विक रस को ज्ञापक नहीं जैसे कंप स्तंभ स्वेद भयो तो यंह यह नहीं जानी जात कि भय ते या क्रोध ते है या ते न्यारी है अरु अनुभाव से जान परत या ते भयो है या ते रस के सब पाँच अंग कहे।'[1] वियोग श्रृंगार के पाँच भेद—पूर्वानुराग, करुणा, मान, प्रवास—केशव ने बताए हैं। उन्होंने करुण और करुण विरह का अन्तर समझाते हुए लिखा है कि जहाँ पर प्रेम के कारण दुःखानुभूति होती है वहाँ करुण विरह और जहाँ विपत्तियों, मरण के कारण दुःखानुभूति हो वहाँ करुण रस होता है। हास्य रस के केशवदास ने मंदहास, कलहास, अतिहास और परिहास ये चार भेद माने हैं, परन्तु इनके उदाहरण हास्य के नहीं हैं, क्योंकि हास कथित है, व्यंग्य नहीं। अन्य रसों का चलताऊ वर्णन है। रस-वर्णन की पद्धतियों के रूप में वृत्तियों का वर्णन 'रसिकप्रिया' में हुआ है। रस-दोषों के वर्णन के साथ यह ग्रन्थ समाप्त हुआ है।

सुन्दर कवि

सुन्दर शाहजहाँ के दरबारी कवि थे। इन पर प्रसन्न होकर शाहजहाँ ने इन्हें महाकवि की उपाधि प्रदान की थी। इन्होंने अपने 'सुन्दर श्रृंगार' ग्रन्थ में श्रृंगार रस तथा नायिका-भेद का वर्णन किया है। भाव की परिभाषा इनकी केशव के समान ही है। 'सुन्दर श्रृंगार' ग्रन्थ सन १६३१ ई० (सं० १६८८ वि०) में रचा गया। इस ग्रन्थ में लक्षण दोहा और हरिपद छन्दों में तथा उदाहरण कवित्त, सवैया छन्दों में दिए गए हैं। संचारी भावों को छोड़कर श्रृंगार रस का पूरा वर्णन इस ग्रन्थ में मिलता है। रस पर प्रारंभिक ग्रन्थ होने से इसका काफ़ी प्रचार रहा।

चिन्तामणि त्रिपाठी

चिन्तामणि त्रिपाठी हिन्दी के प्रसिद्ध रीतिकालीन श्रृंगार और वीर रस के कवि मतिराम और भूषण के बड़े भाई थे। इनकी गणना रीतिकालीन प्रसिद्ध आचार्यों में है। इनका रचना-काल विक्रमीय १८ वीं शताब्दी का प्रारंभ है। चिन्तामणि ने अनेक ग्रन्थ लिखे, परन्तु इनके सब ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं। उपलब्ध ग्रन्थों में रस-संबंधी इनके विचार 'कविकुलकल्पतरु' और 'श्रृंगारमंजरी' में मिलते हैं। 'कविकुल कल्पतरु' में तो इन्होंने काव्य की परिभाषा ही रस के आधार पर दी है—

बतकहाउ रस में जु है, कवित कहावै सोय।

---

१. रसिकप्रिया, ६-१४ पर सरदार कवि की टीका।

इस ग्रन्थ के छठें अध्याय में नायिका-भेद, हाव-भाव तथा सातवें-आठवें अध्यायों में क्रमशः शृंगार तथा अन्य रसों का वर्णन किया गया है। उनका उपनाम 'मनि' तथा 'श्रीमनि' भी मिलता है।

चिन्तामणि की 'शृंगारमंजरी' शृंगार रस और नायिका-भेद पर लिखी गई अत्यन्त प्रौढ़ पुस्तक है। परन्तु यह मौलिक ग्रन्थ नहीं। यह हैदराबाद के प्रसिद्ध साहित्य-रसिक बड़े साहिब अकबर साहि के आश्रय में किया गया संस्कृत (मूल तेलुगु) की 'शृंगारमंजरी' नामक पुस्तक का हिन्दी अनुवाद है। इसमें लक्षण और व्याख्या भाग तो अनुवादित हैं, किन्तु उदाहरण भाग चिन्तामणि द्वारा स्वयं विरचित है।

'शृंगारमंजरी' प्रमुखतया भानुदत्त की 'रसमंजरी' पर आधारित है। यद्यपि इसकी रचना 'रसमंजरी' के अतिरिक्त 'आमोद-परिमल', 'शृंगारतिलक', 'रसिकप्रिया', 'रसार्णव', 'प्रतापरुद्री', 'सुन्दर शृंगार', 'सरस काव्य', 'विलास रत्नाकर', 'काव्य परीक्षा', 'काव्य प्रकाश' आदि ग्रन्थों के अध्ययन के बाद हुई है, पर प्रमुख ढाँचा 'रसमंजरी' का सा ही है और उसी के अनुसार लक्षण दिए हैं। 'शृंगारमंजरी' में महत्वपूर्ण अंश वह है जिसमें इन्होंने लक्षणों की मौलिक और सरल व्याख्या की है। यह ग्रन्थ सरल और प्रामाणिक है, पर नवीन भेद-प्रभेदों के अतिरिक्त धारणा को स्पष्ट करनेवाला नहीं। इसमें शृंगार का वर्णन है। शृंगार का लौकिक-अलौकिक दो भेदों में विश्लेषण किया गया है, जो इस ग्रन्थ की विशेषता है।

तोष

तोष कवि शृंगवेरपुर (सिंगरौर) के रहने वाले चतुर्भुज शुक्ल के पुत्र थे। इनका संवत १६९४ वि० (सन १६३७ ई०) का लिखा हुआ ग्रन्थ 'सुधानिधि' है। यह १८३ पृष्ठों का बड़ा ग्रन्थ है और ५६० छन्दों में इसमें रस-निरूपण हुआ है। 'सुधानिधि' ग्रन्थ की सरसता उदाहरणों में है, लक्षणों में कोई विवेचन संबंधी नवीनता नहीं। इसमें नव रसों, भावों, भावोदय, भावशान्ति, भावशबलता, रसाभास, रसदोष, वृत्ति और नायिका-भेद का वर्णन है। रस-वर्णन में इन्होंने रस-संबंधी सभी बातों का वर्णन किया है, पर इनके लक्षणों में कोई मौलिक विशेषता नहीं है। 'सुधानिधि' तोष कवि का प्रसिद्ध ग्रन्थ है, इसके उदाहरण इनकी कवित्व प्रतिभा के द्योतक हैं।

मतिराम

कवि मतिराम की प्रसिद्धि प्रधानतया उनके ग्रन्थ 'रसराज' के कारण है। कोमल शब्दावली में सुकुमार भावों को प्रकट करने वाले रीति-काल के प्रसिद्ध कवि चिन्तामणि की 'शृंगारमंजरी' के समान मतिराम का 'रसराज' है। इसमें शृंगार का नायक-नायिका-भेद रूप में वर्णन है। मतिराम के लक्षण अधिक महत्वपूर्ण नहीं, हाँ, उदाहरण अवश्य बड़े ही सरस, कोमल, कल्पना-युक्त और ललित हैं। नायिका की परिभाषा देते हुए मतिराम ने लिखा है—

उपजत जाहि विलोकि कै चित्त बीच रस भाव।

जिसे देखकर रस के भाव उत्पन्न हों वह नायिका है, यह लक्षण किया गया है जो ठीक नहीं। शत्रु को देख कर क्रोध का भाव उत्पन्न होता है, उसे नायिका कौन कहेगा? यहाँ रस का तात्पर्य मधुर,

सरस, कोमल ही लेना पड़ेगा। अन्य लक्षण भी ऐसे ही हैं। भाव की परिभाषा 'रसराज' में केशव और सुन्दर की परिभाषा से भी व्यापक है :—

लोचन वचन प्रसाद मृदु, हास, वास, घृत मोद।
इनते परगट जानिए, बरनत सुकवि विनोद ॥

यह लक्षण भी ठीक नहीं। 'रसराज' को प्रमुखतः काव्य-ग्रन्थ ही कहा जा सकता है, शास्त्र-ग्रन्थ नहीं। शृंगार और नायिका-भेद पर लिखे ग्रन्थ अधिकांशतः इसी प्रकार के हैं। सुखदेव मिश्र का 'रसार्णव' भी विस्तार से नायिका-भेद का ही विवरण प्रस्तुत करता है। शृंगारेतर रसों का वर्णन अत्यन्त साधारण है। 'रसार्णव' के अतिरिक्त सुखदेव कृत 'रसरत्नाकर' ग्रन्थ भी रस का वर्णन प्रस्तुत करता है। इसके प्रारंभ में 'रसमंजरी' के आधार पर नायिका-भेद दिया गया है। कुछ प्रभेद इन्होंने अवश्य नए दिए हैं। रस-वर्णन में शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत, शान्त का क्रम से उल्लेख है। सभी विवरण दोहा छन्दों में हैं। सात्विक भावों का अंत में केवल नामोल्लेख ही हुआ है।

रामजी का 'नायिका-भेद', गोपालराम का 'रस-सागर', बलिराम का 'रस-विवेक', कल्यानदास का 'रसचंद,' आदि ग्रन्थ भी ऐसे ही हैं। १७वीं शताब्दी ईसवी के अंत और अ ारहवीं शताब्दी के प्रारंभ में रस के क्षेत्र में सबसे महत्वपूर्ण कार्य आचार्य देव का है।

देव

महाकवि देव ने अनेक आश्रयदाताओं के आश्रय में अनेक ग्रन्थ लिखे। ये प्रधानतया रसवादी आचार्य कवि थे। देव ने रस पर भी अनेक ग्रन्थ लिखे हैं जिनमें अधिकतर शृंगार और नायिका-भेद की ही चर्चा है और एक ही प्रकार के भाव अन्य ग्रन्थों में भी आए हैं। रस-संबंधी इनकी धारणा प्रमुखतया 'भाव-विलास', 'भवानी-विलास' और 'काव्य-रसायन' में प्रकट हुई है। देव ने रस के दो भेद माने हैं[१]—लौकिक और अलौकिक। नेत्रादि इन्द्रियों के संयोग से आस्वाद्यमान रस लौकिक तथा आत्मा और मन के द्वारा आस्वाद्यमान रस अलौकिक होता है, यह देव का विचार है। अलौकिक रस तीन प्रकार का है—स्वापनिक, मनोरथ, औपनायक तथा लौकिक रस के शृंगारादि नौ भेद हैं। देव का यह वर्णन भानुदत्त की 'रसतरंगिणी' के आधार पर है। देव ने धर्म से अर्थ, अर्थ से काम और काम से सुख की उत्पत्ति मानी है और सुख का रस शृंगार स्वीकार किया है। देव के विचार से रस **नौ** नहीं, वरन शृंगार ही अकेला रस है। वही सब का मूल है। शृंगार के प्रति उत्साह से वीरादि और निर्वेद या विरक्ति से शान्तादि उत्पन्न होते हैं—

भूलि कहत नव रस सुकवि, सकल मूल शृंगार।
तेहि उछाह निरवेद लै, वीर शान्त संचार ॥[२]

---

१. भावविलास, पृष्ठ ६५।

२. भवानीविलास, १-१०।

देव के ये विचार बहुत कुछ भोज की रस-संबंधी धारणा से मेल खाते हैं। देव संसार को नवरसमय तथा श्रृंगार को उसका सार रूप मानते हैं। 'काव्य रसायन' में नौ रसों का वर्गीकरण 'नाट्यशास्त्र' के आधार पर है, पर श्रृंगार के वर्णन में इनकी मौलिकता स्पष्ट है। देव कहते हैं कि श्रृंगार आकाश के समान है जिसमें अन्य रस पक्षियों के समान उड़कर भी उसका अन्त नहीं पाते।[1] प्रकृति पुरुष के श्रृंगार में नवरस का संचार होता है और वे उसी के भीतर प्रकट और विलीन होते रहते हैं। देव ने श्रृंगार की गंभीर महत्ता प्रकट की है। उन्होंने जीवन, काव्य और रस का संबंध स्थापित करते हुए लिखा है कि कवित्वपूर्ण शब्दार्थ के वशीभूत सज्जनों का चित्र होता है और काव्य के द्वारा समाज को द्रवित किया जा सकता है। इस प्रकार सहृदयों के हृदय को द्रवित करने वाले काव्य का सार रस है। इसी भाव को प्रकट करते हुए 'काव्य रसायन' में देव ने लिखा है—

भावनि के बस रस बसत, बिलसत सरस कवित्त।
कविता शब्द अर्थ पद, तिहि बस सज्जन चित्त॥
काव्यसार शब्दार्थ को, रस तिहि काव्यै सार।
सो रस बरसत भाव बस, अलंकार अधिकार॥[2]

इस प्रकार देव की रस-संबंधी धारणा अपना निजी महत्व रखती है। देव के पश्चात कालिदास, कृष्णभट्ट, कुमारमणि, श्रीपति, सोमनाथ, उदयनाथ, कवीन्द्र, दास आदि अनेक आचार्यों ने नायिका-भेद और रस पर लिखा है। परन्तु रस के संबंध में कोई इनमें महत्त्वपूर्ण नहीं लगते हैं।

कृष्णभट्ट देवऋषि

कृष्णभट्ट देवऋषि बिदवंती के राजा बुद्धसिंह देव के आश्रय में थे। ये बड़े विद्वान् एवं प्रतिभा-संपन्न कवि थे। इनको 'कविकोविद चूड़ामणि सकल कलानिधि' की उपाधि दी गई थी। महाराज बुद्धसिंह की आज्ञा से सं० १७६९ वि० (सन १७१२ ई०) में इन्होंने 'श्रृंगाररसमाधुरी' की रचना की। इस ग्रन्थ में श्रृंगार के भेद (संयोग, वियोग), नायक-भेद, अनेक आधारों पर नायिका-भेद, दर्शन, दूती आदि का वर्णन है। श्रृंगार के संयोग पक्ष के बाद विप्रलंभ का वर्णन बड़ा ही सुन्दर है। इसके बाद अन्य रसों, वृत्तियों और रस-दोषों का वर्णन है। ग्रन्थ सोलह स्वादों में समाप्त हुआ है। इनके उदाहरण बड़े कवित्वपूर्ण हैं।

उजियारे

वृन्दावन निवासी उजियारे कवि ने संवत १९३७ वि० (सन १७८० ई०) में 'जुगलरसप्रकाश' नामक ग्रन्थ लिखा। इसमें रस का विवेचन भरत के 'नाट्यशास्त्र' के आधार पर है। इसकी विशेषता यह है कि रस-संबंधी बातों को स्पष्ट करने के लिए लेखक ने प्रश्न

१. काव्यरसायन, पृष्ठ ३।
२. वहीं, पृष्ठ ३।

करके शंकाओं को उठाया है और फिर उनके उत्तर दिए हैं यह प्रश्नोत्तर प्रणाली हमारी स्पष्ट धारणा बनाती हैं।[1]

यशवन्त सिंह

यशवन्त सिंह का ग्रन्थ **'शृंगारशिरोमणि' संवत** १८५७ वि० (सन १८०० ई०) के लगभग लिखा ग्रन्थ है। इसमें शृंगार रस का विस्तारपूर्ण विवेचन है। शृंगार को शिरोमणि मानकर उसका विवरण इसमें अच्छी तरह दिया गया है। स्थायी भाव की परिभाषा उनकी यह है—

प्रगटत रस के प्रथम ही, उपजत जौन विकार।
सो थाई तासों कहत, नवधा नाम प्रकार॥[2]

उत्पन्न होते हुए रस के प्रथम जो विकार प्रकट हो वह स्थायी भाव है। वास्तव में 'स्थायी भाव प्रकट हुआ', यह कहना कठिन है, वह तो संचारी भावों, अनुभावों के रूप में ही प्रकट होता है; और प्रकट होना ही रस की स्थिति है, अतः उसके पहले 'प्रकट हुआ' नहीं कहा जा सकता, उसकी आन्तरिक अनुभूति हो सकती है। रति के दो भेद—श्रवण और दर्शन—इन्होंने माने हैं। इसमें उद्दीपन का वर्णन भी विस्तारपूर्वक हुआ है। नायक के सहायक नर्म, सचिव, आदि के अनेक भेद जैसे व्याकरणी, नैयायिक, पूर्वमीमांसक, उत्तरमीमांसक, वेदान्ती, योगशास्त्री, ज्योतिषी, सामुद्रिकी, वैष्णव, शैव, आरण्य, तीर्थाश्रयी, पौराणिक आदि माने गए हैं जो अपने अपने सिद्धान्तों के अनुकूल प्रेम की बातें बताते हैं।

रामसिंह

हिन्दी काव्यशास्त्र के भीतर रस-संप्रदाय में देव के बाद हमें महत्वपूर्ण विचार रामसिंह के 'रसनिवास' ग्रन्थ में मिलते हैं। इसका रचना-काल सं० १८३९ (१७८२ ई०) है। इसमें रसानुकूल मनोविकारों को ही भाव की संज्ञा दी गई है। हास्य रस के निरूपण में रामसिंह ने महत्वपूर्ण योग दिया है। हास्य के स्थायी सहता के दो भेद स्वनिष्ठ और परनिष्ठ इन्होंने माने हैं और इनमें से प्रत्येक के छः भेद—मुसुकानि, हँसनि, विहसनि, उपहसनि, अपहसनि और अतिहसनि—कहे हैं। इनमें प्रथम दो उत्तम, द्वितीय दो मध्यम तथा अन्तिम दो अधम हैं। रामसिंह ने भानुदत्त की 'रसतरंगिणी' के अनुसार मायारस का भी निरूपण किया है जिसका स्थायी भाव मिथ्या ज्ञान है। वास्तव में शान्त को छोड़कर सभी रस माया रस ही माने जाने चाहिए, क्योंकि इनका संबंध प्रवृत्ति से है। ऐसी दशा में माया रस की अलग स्थापना करना उचित नहीं ठहरता।

रामसिंह ने रस के आधार पर काव्य-कोटि-निर्णय भी किया है। यह निर्णय ध्वनि-सिद्धांत में निरूपित काव्य-कोटि के समान महत्वपूर्ण है। इसके आधार पर इन्होंने काव्य की तीन कोटियाँ निर्धारित की हैं—अभिमुख, विमुख और परमुख। जिसमें रस की निष्पत्ति हो, वह काव्य

---

१. विशेष विवरण के लिए देखिए—हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास, पृष्ठ १५५।
२. शृंगार शिरोमणि, १-८।

रसाभिमुख है, इसमें प्रमुखतः रस-निरूपण होता है। जिसमें रस का पूर्ण अभाव हो, वह काव्य रसविमुख, परन्तु जिसमें रस नहीं, वरन भाव, अलंकार, रीति आदि की प्रधानता हो, वह परमुख है। परमुख के दो प्रधान भेद हैं—(१) अलंकारमुख, (२) भावमुख। इस प्रकार यह कोटि-निर्णय 'काव्यप्रकाश' की ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य और अव्यंग्य के समान है।

देव की भाँति रामसिंह ने भी लौकिक और अलौकिक दो भेद रस के किए हैं और शृंगारादि को लौकिक रसों में परिगणित किया है। रामसिंह का स्थान रस-संप्रदाय में महत्वपूर्ण है। इनका अधिकांश विवेचन भानुदत्त की 'रसतरंगिणी' के आधार पर हुआ है।[1]

पद्माकर

महाकवि पद्माकर का रस पर लिखा गया प्रसिद्ध ग्रन्थ 'जगतविनोद' है जो जयपुर सूर्यवंशी कछवाहे राजा प्रतापसिंह के पुत्र जगतसिंह की आज्ञा से रचा गया था। रचना-काल सन १८१० ई० (सं०१८६७वि०) के लगभग है। 'जगतविनोद' रसराज के समान ग्रन्थ है जिसमें शास्त्रीय विवेचन नहीं, वरन अत्यन्त सुन्दर उदाहरणों का महत्व है। पद्माकर ने युग की परिपाटी के अनुसार रीति पद्धति पर लिखा है, पर वास्तव में हैं वे कवि ही और प्रमुखतया उनकी देन रीतिकाव्य के क्षेत्र में समझनी चाहिए।

बेनी प्रवीन

इसी परंपरा का ग्रन्थ बेनी प्रवीन कृत 'नवरसतरंग' है जो १८७४ वि० (सन १८१७ ई०) में आश्रयदाता नवलकृष्ण के लिए रचा गया। इसका उल्लेख 'नवरसतरंग' के इन दोहों में हुआ है—

समय देखि दिग दीप युत, सिद्धि चन्द्र बल पाइ।
माघ मास श्रीपंचमी, श्रीगोपाल सहाइ॥
नवरस में ब्रजराज नित, कहत सुकवि प्राचीन।
सो नव रस सुनि रीझिहैं, नवलकृश्न परवीन॥

इस ग्रन्थ में लक्षण दोहा, बरवै छन्दों में तथा उदाहरण सवैया और मनहरण छन्दों में हैं। इसमें शृंगार और नायिका-भेद का वर्णन अधिक विस्तार से है। अन्य रसों का वर्णन अत्यन्त संक्षिप्त है। लक्षण स्पष्ट और उदाहरण बड़े सरस और मनोमोहक हैं। 'नवरसतरंग' अपने काव्य-सौन्दर्य के कारण ही अधिक प्रसिद्ध है।

रसिक गोविन्द

रसिक गोविन्द वृन्दावन वासी महात्मा हरिदास के गद्दी शिष्य थे। इनका कविता-काल सन १७९३ से १८३३ ई० तक (सं० १८५०–१८९० वि०) माना जाता है। इनके बनाए नौ ग्रन्थों का पता चलता है जिनमें अधिकांश कृष्ण-भक्ति संबंधी हैं। एक ग्रन्थ 'रसिक गोविन्दानन्दघन' में काव्यशास्त्र विषयक सामग्री है। 'रसिकगोविन्दानन्दघन' की रचना सं० १८५८ वि०

---

१. देखिए भानुदत्त कृत रसतरंगिणी की छठवीं और सातवीं तरंगें।

(सन १८०१ ई०) में हुई थी। इसके अन्तर्गत अलंकार, गुण, दोष, रस तथा नायक-नायिकाओं का बड़ा विशद वर्णन है। इनमें लक्षण व्रजभाषा में तथा उदाहरण सरस व्रजभाषा पद्य में हैं। प्रश्नोत्तरों द्वारा काव्यशास्त्र संबंधी अनेक शंकाओं का समाधान किया गया है। लक्षण और उदाहरण दोनों में ही संस्कृत के ग्रन्थों से किए लक्षण-उदाहरणों के अनुवाद से हैं, और बीच-बीच में ग्रन्थकर्ता का मत देकर अपने निजी विचार रसिक गोविन्द ने दिए हैं। प्रमुखतया इस ग्रन्थ के आधारभूत 'नाट्यशास्त्र', 'अभिनवभारती', 'ध्वन्यालोक', 'काव्यप्रकाश', 'साहित्य दर्पण' आदि हैं। प्रधानतया ये रसवादी लेखक हैं और 'रसिकगोविन्दानन्द घन' १९ वीं शताब्दी के प्रारंभ में लिखे हुए महत्वपूर्ण ग्रन्थों में है।

नवीन कवि

नवीन कवि ने सं० १८९९ वि० (सन १८४२ ई०) में नाभानरेश मालवेन्द्रदेव सिंह की आज्ञा से 'रंगतरंग' नामक रस-ग्रन्थ की रचना की थी। इसमें नायिका-भेद, विभाव, अनुभाव, संचारी भाव, तथा रस का वर्णन है। सभी रसों का वर्णन है, परन्तु प्रधानतया शृंगार और वीर रसों का अधिक सुन्दर है। इस ग्रन्थ के उदाहरण अत्यन्त कवित्वपूर्ण हैं।

इस प्रकार २० वीं शताब्दी के प्रारंभ तक नायिका-भेद और प्रमुखतया शृंगार-वर्णन की प्रवृत्ति रही। इसके बाद भी, ग्वाल, चन्द्रशेखर, बिहारीसरन आदि के ग्रन्थ रस पर लिखे गए जो कि बीसवीं शताब्दी में आई रीतिशास्त्रीय परंपरा के उदाहरण हैं।

ग. ध्वनि-सम्प्रदाय

संस्कृत के काव्यशास्त्र के अन्तर्गत ध्वनि की सबसे अधिक शास्त्रीय व्याख्या हुई। ध्वनि-सिद्धान्त काव्य-शास्त्र संबंधी समस्याओं की प्रौढ़ चिन्तना का परिणाम है और अनेक दृष्टियों से यह बड़ा व्यापक और पूर्ण सिद्धान्त है जिसने अपने अन्तर्गत काव्य की लगभग सभी विशेषताओं को स्वीकार कर लिया। ध्वनि की काव्यात्मा के रूप में चर्चा सबसे पहले किसने की, यह निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है। परन्तु सबसे पहले व्यवस्थित रूप में ध्वनि संबंधी विचारों को व्यक्त करने का श्रेय आचार्य आनन्दवर्धन को है। आनन्दवर्धन के अनुसार यह पूर्व प्रतिष्ठित सिद्धान्त था जो समय के बीतने पर लुप्त हो गया था, और जिसे उन्होंने सहृदयों के लिए फिर से प्रतिपादित किया था। 'ध्वन्यालोक' में स्पष्ट कहा गया है :—

> काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्व-
> स्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।
> केचिद्वाचां स्थितिमविषये तत्वमूचुस्तदीयं ।।
> तेन ब्रूमः सहृदयमनः प्रीतये तत्स्वरूपम् ।।१[१]।।

काव्य में ध्वनि की प्रेरणा व्याकरण के स्फोटवाद से प्राप्त हुई। स्फोट पूर्ववर्ती वर्णों के अनुभव से युक्त संस्कार के आधार पर अन्तिम वर्ण के अनुभव द्वारा अर्थ की अभिव्यक्ति है—पूर्वपूर्व-वर्णानुभवाहितसंस्कारसचिवेन अन्त्यवर्णानुभवेन अभिव्यंज्यते स्फोटः। क्रम क्रम से उच्चरित होते हुए वर्णों के अर्थ का वाचक पहला है या दूसरा या तीसरा, यह कहना कठिन है। अन्तिम

वर्ण के उच्चरित होने पर अर्थ की अभिव्यक्ति होती है, पर अकेले नहीं। जब पूर्वगामी वर्णों का क्रम विद्यमान होता है तभी अर्थ प्रकट होता है,[1] क्योंकि क्रम से उच्चारित होते हुए वर्ण उच्चारणोपरान्त नष्ट होते रहते हैं। समुच्चय का उच्चारण एक साथ नहीं हो सकता। अतः वर्णों के साथ पूर्वोच्चारित वर्णों के संस्कार से अर्थ का प्रस्फुटन होता है। यही स्फोट कहलाता है। इस प्रकार स्फोट को प्रकट करनेवाला वर्णों का उच्चारण ध्वनि है। जिस प्रकार वर्णों के अलग अलग उच्चारण से अर्थ प्रकट नहीं होता उसी प्रकार काव्य में सामान्य वाच्यार्थ से उसका मर्मस्पर्शी अर्थ प्रकट नहीं होता। यह अर्थ व्यंजना द्वारा प्राप्त होता है। इस अर्थ को वाच्यार्थ या लक्ष्यार्थ के बाद प्रकट करने वाली शक्ति व्यंजना है। व्यंग्यार्थ की विशेषता की स्थिति ध्वनि द्वारा ही प्राप्त होती है। यह ध्वनि एक प्रकार का अनुरणन है। घंटे पर चोट करने से जैसे टंकार के बाद मधुर झंकार क्रमशः निकलती है वैसे ही सहृदय के मन में किसी उक्ति के उपरान्त एक से एक मधुर अर्थ उद्भासित होता है। वह झंकार की ध्वनि के समान है—एवं घंटानादः स्थानीयः अनुरणनात्मोपलक्षितः व्यंग्योऽप्यर्थः ध्वनिरिति व्यवहृतः (ध्वन्यालोक लोचन, पृ० ४७)। ध्वनि शब्द प्रमुखतया ऐसे काव्य के लिए व्यवहृत हुआ है जिसमें व्यंग्यार्थ की प्रधानता है। आचार्य आनन्दवर्धन ने लिखा है—

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥—ध्वन्यालोक, १–१३।

इसी प्रकार आचार्य मम्मट का भी कहना है—वाच्यातिशयिनि व्यंग्ये ध्वनिः तत्काव्यमुत्तमम्।[2] ध्वनि-सिद्धान्त के द्वारा रसानुभव की प्रक्रिया संबंधी एक समस्या हल हुई है। हम शोक, हँसी, प्रेम आदि शब्द कहकर किसी को शोकित, हास्ययुक्त या प्रेम से ओतप्रोत नहीं बना सकते हैं, पर जब वर्णित परिस्थितियों द्वारा रस की व्यंजना होती है, तब उसकी स्थिति भी स्पष्ट और महत्वपूर्ण हो जाती है। काव्य की आत्मा ध्वनि है, इसे माननेवाले सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए भी आनन्दवर्धन और अभिनव गुप्त ने वस्तुतः रस को ही काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया है।[3]

---

१. क्रमेणोच्चार्यमाणेषु वर्णैष्वर्थस्य वाचकः।
आदिमः किं द्वितीयः किं तृतीयः किं तथान्तिमः॥
प्रत्यायकत्वशक्तिस्तु कस्मिन्नेतेषु दृश्यते।
स वर्णव्यंजनद्वारा तमर्थव्यंजयेत्स्फुटम्॥
स ध्वनिः स्फोट इत्यत्र शाब्दिकैः परिभाष्यते॥—भाव प्रकाशन, ६, पृष्ठ १७८।

२. काव्य प्रकाश।

३. काव्यस्यात्मा स एवार्थः तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौंचद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः॥—ध्वन्यालोक, १–५।
स एवेति प्रतयमानमात्रेपि प्रकान्ते तदीय एव रस ध्वनिरिति मन्तव्यम्। इतिहासबलात् प्रकान्त वृत्तिग्रन्थबलाच्च। तेन रस एव वस्तुत आत्मा, वस्त्वलंकारध्वनी तु सर्वथा रसं प्रतिपर्यवस्येते इति वाच्यादुत्कृष्टौ तौ इत्यभिप्रायेण ध्वनिः।

ध्वनि-सिद्धान्त की पूर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत रस-ध्वनि का सर्वोत्कृष्ट स्थान है। वस्तु, अलंकार, ध्वनियाँ रस के सहायक के रूप में ही महत्वपूर्ण हैं। शब्द-शक्तियों—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना में व्यंजना का व्यापार पूर्ववर्ती दो शक्तियों पर आश्रित रहता है। अतः ध्वनि के दो भेदों—**अभिधामूला और लक्षणामूला—के भी दो भेद हैं**—१. संलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि और २. असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि। असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि के भीतर रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भावसंधि, भावशान्ति और भावशबलता हैं। संलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि में अलंकार और वस्तु ध्वनियाँ हैं। उपर्युक्त ध्वनि अथवा व्यंग्यार्थ-प्रधान काव्य को उत्तम कोटि का माना गया है, दूसरा गुणीभूत व्यंग्य है जिसमें व्यंग्यार्थ प्रधान न होकर गौण रहता है और तीसरा चित्र-काव्य है जिसे 'अवर काव्य' कहा गया है। इसमें व्यंजना नहीं, वरन अन्य प्रकार का चमत्कार रहता है। संक्षेप में यही ध्वनि-सिद्धान्त की रूपरेखा है।

ध्वनिकार के सिद्धान्त का खूब खण्डन-मण्डन हुआ। पहले तो प्रतिहारेन्दुराज भट्ट-नायक, धनंजय और धनिक ने इसका खण्डन किया। परन्तु अभिनवगुप्त ने इनके द्वारा ध्वनि-सिद्धान्त के ऊपर एकत्र किए हुए कुहरे को अपनी प्रतिभा के सूर्य और तर्क के प्रभंजन से दूर कर, इसकी सुदृढ़ प्रतिष्ठा की। उनका 'ध्वन्यालोक-लोचन' काव्यशास्त्र के अन्तर्गत अत्यन्त महत्व-पूर्ण ग्रन्थ है जिसमें 'ध्वन्यालोक' की टीका के साथ-साथ समस्त शंकाओं का समाहार किया गया है। ध्वनि-सिद्धान्त का पुनः खण्डन करके कुंतक ने वक्रोक्ति और महिम भट्ट ने अनुमिति सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा की। कुंतक ने 'वक्रोक्तिजीवितम्' में ध्वनि को वक्रोक्ति के अन्तर्गत माना है और महिम भट्ट ने अपने 'व्यक्ति-विवेक' में व्यंजना को अनुमान ही माना है और सिद्ध किया है कि ध्वनि नहीं, वरन काव्यानुमिति ही रसानुभूति में सहायक होती है। इस काव्यानुमिति या अनुमान-सिद्धान्त का जोरदार खण्डन मम्मट ने अपने 'काव्यप्रकाश' में किया और रस ए ध्वनि की सर्वोत्कृष्ट महत्ता स्थापित कर दी। 'काव्यप्रकाश' में बड़ी योग्यता और गंभीरता के साथ ध्वनिसिद्धान्त का स्वरूप प्रकट हुआ और हम आगे देखेंगे कि हिन्दी के ध्वन्याचार्यों ने प्रमुखतया 'काव्यप्रकाश' का आधार ग्रहण किया है। 'साहित्य दर्पण' और 'रसगंगाधर' दोनों ही ग्रन्थों में रस और ध्वनि की महत्ता स्थापित रही, यद्यपि इनमें समस्त काव्यांगों का विवेचन है। 'रसगंगा-धर' में पंडितराज ने ध्वनिकार के द्वारा प्रस्तुत तीन भेद—उत्तम, मध्यम और अवर को, जिनमें गुणीभूत काव्य को मध्यम कोटि का माना गया है, स्वीकार नहीं किया तथा एक और श्रेणी, उत्तमोत्तम, की स्थापना की। इनके अनुसार गुणीभूतव्यंग्य भी उत्तम काव्य के अन्तर्गत है। इस प्रकार ध्वनि-सिद्धान्त की स्थापना बड़े खण्डन-मण्डन के उपरान्त हुई और हिन्दी के प्रमुख रीतिशास्त्रियों ने भी इसका निरूपण किया।

हिन्दी के ध्वन्याचार्य

हिन्दी काव्यशास्त्र के अन्तर्गत ध्वनि का निरूपण करने वाले सर्वप्रथम आचार्य कुलपति मिश्र हैं। केशव, चिन्तामणि, भूषण, मतिराम, तोष आदि ने रस और अलंकारों की चर्चा करते हुए भी ध्वनि का वर्णन नहीं किया।

कुलपति मिश्र कृत 'रस-रहस्य'

कुलपति आगरे के रहने वाले माथुर चौबे तथा भूषण के समकालीन थे। इनके पिता

का नाम परशुराम था और कूर्मवंशी राजा जयसिंह के पुत्र रामसिंह के लिए इन्होंने 'रस-रहस्य' की रचना की। 'रस-रहस्य' का रचना-काल सं० १७२७ वि० (सन १६०० ई०) है। अपने आश्रय-दाता से यह आदेश पाकर कि देववाणी में कविता-संबंधी जो विचार हैं, उन्हें भाषा में लिखो जिससे उसका मर्म समझा जा सके, कुलपति ने मम्मट के मत का सार अपने ग्रन्थ 'रस-रहस्य' में प्रकट किया।[1] 'काव्यप्रकाश' और 'साहित्यदर्पण' के आधार पर काव्य की परिभाषाएँ देकर उनकी विवेचना करने के साथ कुलपति ने काव्य का निजी लक्षण भी इस प्रकार दिया—

जग ते अद्‌भुत सुख सदन, सब्दरु अर्थ कवित्त।
यह लच्छन मैंने कियो, समझि ग्रन्थ बहु चित्त।।[2]

उसके बाद प्रथम वृत्तान्त में ध्वनि के आधार पर काव्य-पुरुष का रूप स्पष्ट करते हुए कुलपति ने लिखा है कि शब्दार्थ उसका शरीर और व्यंग्य उसका प्राण है। गुण और अलंकार आभूषण हैं तथा दोष दूषणों के समान हैं। इस प्रकार व्यंग्य प्रधान उत्तम काव्य; व्यंग्यवाच्य-समान मध्यम काव्य तथा व्यंग्यहीन शब्द अर्थ की विचित्रता से युक्त अवर काव्य होता है।

'रस-रहस्य' के दूसरे वृत्तान्त में शब्दार्थ-निर्णय है। जो सुना जाय वह शब्द और जो समझ में आवे वह अर्थ है। वाचक, लक्षक, व्यंजक शब्दों का वर्णन तथा तात्पर्य वृत्ति का भी संकेत इस ग्रन्थ में किया गया है। ध्वनि के विचित्र भेदों के अन्तर्गत भावों का वर्णन है। स्थायी भाव जिनके द्वारा प्रकट हों वे विभाव हैं और जो दूसरों पर स्थायी भाव प्रकट करें वे अनुभाव हैं तथा सब रसों में संचरण करने वाले संचारी भाव हैं। कुलपति की परिभाषाएँ प्रामाणिक हैं और इन्होंने एक-एक करके समस्त रसों का वर्णन किया है। इनका रौद्र रस का वर्णन युद्ध वीर का सा है। कुलपति ने रौद्र और युद्धवीर का भेद बताते हुए कहा है—

समता की सुधि है जहाँ सु है जुद्ध उत्साह।
जहँ भूले सुधि सम असम, सु है क्रोध निर्वाह।[3]

यहाँ पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह बात सत्य है कि समान के साथ उत्साह का भाव होता है जो वीरता से संबंधित है और असमानता में क्रोध का। रसध्वनि के बाद भावध्वनि तथा अन्य रूपों का विस्तार से वर्णन हुआ है। तीसरे वृत्तान्त में उत्तम और चतुर्थ वृत्तान्त में मध्यम काव्य का वर्णन है। पाँचवें में काव्य-दोष, छठें में गुण तथा सातवें और आठवें में अलंकारों का वर्णन किया गया है। लक्षण अधिकांशतः दोहों और उदाहरण कवित्त-सवैयों में हैं। कुलपति के विचार प्रौढ़ और प्रामाणिक हैं। पर कोई नवीनता देखने को नहीं मिलती।

देव कृत 'काव्यरसायन'

कुलपति के बाद रीतिकाव्य के प्रसिद्ध कवि और रसाचार्य देव ने ध्वनि पर 'काव्यरसायन'

---

१. रस-रहस्य, १, ११-१२।
२. वही, १, १६।
३. वही, २, १४५।

ग्रन्थ लिखा है। यह ध्वनि-सिद्धान्त का ही निरूपण करने वाला ग्रन्थ है, यद्यपि उसमें प्रधानतया रस का महत्व ही स्पष्ट है। 'काव्यरसायन' में ध्वनि के साथ रस, गुण, अलंकार और छंद का भी विवेचन है। देव के 'काव्यरसायन' का आधार 'काव्यप्रकाश' नहीं, वरन 'ध्वन्यालोक' जान पड़ता है। इन्होंने तात्पर्य वृत्ति का भी अभिधा, लक्षणा और व्यंजना के साथ वर्णन किया है। देव के विचार से शब्दार्थमय काव्य कामधेनु है जिसका दूध रस है और आनन्द माखन है।[1] अधिकांश आचार्यों ने काव्यपुरुष का रूपक बाँधा है, पर देव ने कामधेनु का रूपक बाँधकर अपनी मौलिकता प्रकट की है। लक्षण के विवेचन के प्रसंग में देव ने प्रयोजनवती के दो भेद शुद्ध और मिश्रित किए हैं। गौणी को इन्होंने मीलित नाम दिया है, जो नया है। शुद्धा के साथ मीलित शब्द अधिक उपयुक्त जान पड़ता है, शेष भेद परंपरागत रूप में हैं। देव ने वृत्तियों के शुद्ध भेदों के अतिरिक्त संकीर्ण या सूक्ष्म भेद भी किए हैं, जिनमें अभिधा में अभिधा, लक्षणा, व्यंजना; लक्षणा में अभिधा, लक्षणा, व्यंजना और व्यंजना में अभिधा, लक्षणा, व्यंजना तथा तात्पर्य में तीनों की स्थिति का विवेचन करके बारह भेदों का वर्णन किया है। देव का यह वर्णन निजी विशेषता के रूप में है। इसके साथ ही साथ इन वृत्तियों के मूल भेदान्तर भी बताए हैं। अभिधा के जाति, क्रिया, गुण, यदृच्छा, लक्षणा के कार्य-कारण, सदृशता, वैपरीत्य, आक्षेप तथा व्यंजना के वचन, क्रिया तथा स्वर-चेष्टा मूल भेदान्तर हैं। तृतीय प्रकाश में रस का निरूपण है जो महत्वपूर्ण है।

देव के विचार से रस-युक्त शब्द घने काले बादलों के समान हैं जो अमोघ अर्थ रूपी जल की वर्षा करते हैं। रस का आनन्द बिना यत्न के नहीं रहता। जैसे बहुमूल्य रत्न को यत्न से रक्खा जाता है और गुण से पिरोकर निपुण के हृदय को अलंकृत करता है, वैसे ही रस भी है। रस भावों के वश में हैं और कविता शब्दार्थ के। शब्दार्थ का सार काव्य है और काव्य का सार रस है।[2] देव के विचार से प्राचीन विद्वान रस को नव भेदों में और नवीन उसे तीन भेदों में वर्णन करते हैं। देव कहते हैं कि संसार नव रसों से युक्त है, उनमें मुख्य शृंगार है जिसमें नायक-नायिका प्रधान हैं—

> नवरस सब संसार में, नव रस में संसार।
> नवरस सार सिंगार रस, जुगुल सार सिंगार॥
> है विभाव अनुभाव बढ़ि, सात्विक संचारी जु।
> सो सिंगार सुरतरु जमै, प्रेमांकुर रति बीजु॥[3]

शृंगार को देव ने निर्मल, शुद्ध और अनन्त प्रकाश के समान माना है जिसके अन्तर्गत अन्य रस पक्षियों के सदृश उड़ उड़ कर भी उसका अन्त नहीं पाते।[4] यह विचार भोज की धारणा से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। रस के अलग-अलग वर्णन के बाद देव ने रस-दोषों का भी वर्णन किया

---

१. काव्यरसायन, १-३।
२. वही, ३-२८।
३. वही, ३-३०।
४. वही, ३, ३२

है तथा नवरस की विविध वृत्तियों का विवेचन भी। शृंगार का अलग से विस्तृत वर्णन देव ने किया है और उसी के साथ नायिका-भेद का भी वर्णन हुआ है।

देव ने अभिधा और व्यंजना दोनों का ही महत्व प्रदर्शित किया है और प्राचीन एवं नवीन आचार्यों के मतों को देते हुए लिखा है—

अभिधा उत्तम काव्य है, मध्य लक्षणा लीन।
अधम व्यंजना रस कुटिल, उलटी बहत नवीन।।[1]

अपनी भावना उनकी अभिधा के पक्ष में ही प्रकट होती है जिसमें रस का स्वाभाविक, सहज, स्वच्छंद, निर्बाध वर्णन हो। व्यंजना से रस कुछ कुटिल रूप में आता है। पर देव का यह मत ध्वनि-सिद्धान्त के पूर्ण विकास को ध्यान में रखते हुए कुछ समीचीन नहीं कहा जा सकता।

सातवें, आठवें और नवें प्रकाशों में गुण और अलंकारों का तथा दशम और एकादश प्रकाश में छन्दों का वर्णन है। गुण का वर्णन देव ने रीति कहकर किया है। इस प्रकार 'काव्य-रसायन' में देव के रस और ध्वनि पर प्रौढ़ एवं महत्वपूर्ण विचार देखने को मिलते हैं।

सूरति मिश्र

सूरति मिश्र आगरे के रहने वाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। काव्यशास्त्र पर इन्होंने अनेक ग्रन्थ लिखे, जैसे 'अलंकारमाला', 'रसरत्नमाला', 'काव्यसिद्धान्त', 'रसरत्नाकर', 'सरसरस', 'जोरावर प्रकाश' आदि हैं। इसके अतिरिक्त 'रसग्राहकचन्द्रिका' 'रसिकप्रिया' की टीका है जिसे इन्होंने जहानाबाद के नवाब नसीरुल्ला के कहने पर सं० १७९१ वि० में लिखी। 'जोरावर प्रकाश', 'रसिकप्रिया' की दूसरी टीका है जो १८०० वि० (१७४३ई०) में जोधपुर नरेश जोरावर सिंह के लिए लिखी गई। 'अमरचन्द्रिका' सूरति मिश्र द्वारा लिखी गई 'सतसई' की टीका है। इनकी 'वैताल-पचीसी' १८ वीं शताब्दी के हिन्दी गद्य का नमूना है जिसे पहला उपन्यास माना जा सकता है। 'रसरत्नाकर' सं० १७६८वि० (१७११ ई०) का लिखा शृंगार व नायिका-भेद का ग्रन्थ है। ध्वनि का वर्णन करने वाला इनका ग्रन्थ 'काव्य-सिद्धान्त' है जिसमें 'काव्य प्रकाश' के आधार पर काव्य का विवेचन और ध्वनि का निरूपण है। काव्य की इन्होंने अपनी निजी परिभाषा प्रस्तुत की है, जो इस प्रकार है—

बरनन मनरंजन जहाँ, रीति अलौकिक होइ।
निपुन कर्म कवि को जु तिहिं, काव्य कहत सब कोइ।।

कवि का वह निपुण कर्म जिसमें अलौकिक रीति से मनोरंजक वर्णन हो, काव्य है। यह बड़ी व्यापक परिभाषा है जो किसी भी सिद्धान्त विशेष से संबंध नहीं रखती। ग्रन्थ में काव्य-प्रकरण-प्रयोजन, शब्दार्थ तथा शब्द-शक्तियों, दोष, गुण, अलंकार आदि का वर्णन प्रमुखतया 'काव्य प्रकाश' के आधार पर है। अन्त में छन्दों का भी वर्णन है। काव्यशास्त्र के सभी अंगों पर प्रकाश डालने वाला यह एक प्रामाणिक ग्रन्थ है।

---

१. काव्यरसायन, ६, ७२

कुमारमणि भट्ट

कुमारमणि भट्ट वत्सगोत्री तैलंग ब्राह्मण हरिवल्लभ जी के पुत्र थे जो कि प्रसिद्ध सप्तशतीकार गोवर्धनाचार्य के छोटे भाई वल्लभ जी की छठवीं पीढ़ी में उत्पन्न हुए थे। कुमारमणि संस्कृत के अच्छे विद्वान और कवि थे। इनका लिखा ग्रन्थ 'रसिक-रसाल' कांकरौली से छपा है। यह काव्यशास्त्र का अच्छा ग्रन्थ है और 'काव्य प्रकाश' के आधार पर लिखा है। रचना-काल सं० १७७६ वि० (१७१६ ई०) है। 'काव्यप्रकाश' के अनुसार ही इसमें काव्यप्रयोजन, कारण, भेद, शब्दशक्ति, रस, नायिका-भेद आदि का वर्णन है। बीच-बीच में कहीं-कहीं गद्य में व्याख्या भी दी है जो इनके लक्षण और उदाहरण को स्पष्ट करती है।

श्रीपति

श्रीपति मिश्र कालपी नगर के रहने वाले ब्राह्मण थे। इनके द्वारा रचित 'काव्य-सरोज' काव्यशास्त्र के प्रसिद्ध ग्रन्थों में है। इसके अतिरिक्त श्रीपति ने 'कविकुल कल्पद्रुम,' 'रस-सागर,' 'अनुप्रास-विनोद,' 'विक्रम विलास', 'सरोज लतिका,' 'अलंकार गंगा' आदि ग्रन्थ लिखे हैं। 'काव्यसरोज' की रचना संवत १७७७ वि० (सन १७२० ई०) में हुई थी। 'काव्य सरोज' 'काव्य प्रकाश' के आधार पर है। काव्य की परिभाषा श्रीपति ने यह दी है—

शब्द अर्थ बिनु दोष गुन, अलंकार रसवान।
ताको काव्य बखानिए, श्रीपति परम सुजान।।

काव्य का प्रस्फुटन प्रतिभा, निपुणता, लोकशास्त्रज्ञान और अभ्यास से होता है। निपुणता श्रीपति के विचार से वह कुशलता है जिसके द्वारा उसे शब्द और शब्दार्थ का तुरंत भान हो जाय। तर्क की नई सूझ प्रतिभा है। शक्ति, निपुणता और प्रतिभा—ये तीन रूप श्रीपति ने सामान्यतया कही जाने वाली प्रतिभा के कर दिए हैं और इस प्रकार श्रीपति के विचार से काव्य के छः कारण हो जाते हैं। श्रीपति ने उत्तम, मध्यम और अधम इन तीन काव्य-भेदों में ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य और अवर या चित्र काव्य का विवेचन किया है, जिसमें कोई नवीनता नहीं।

'काव्य सरोज' के चतुर्थ और पंचम दल दोष-वर्णन में लगे हैं। इसकी विशेषता इस बात में है कि इसमें श्रीपति ने हिन्दी के प्रसिद्ध कवियों—जैसे केशव, ब्रह्म, सेनापति आदि—की रचनाओं में दोष दिखाए हैं। आठवें, नवें दलों में काव्य-गुणों तथा दसवें, ग्यारहवें और बारहवें दलों में अलंकारों के वर्णन हैं। तेरहवें दल में रसों का वर्णन है जिसमें नाट्यशास्त्र का भी आधार लिया गया है।

सोमनाथ

जयपुर नरेश महराज रामसिंह के मंत्र-गुरु छिरौरा वंश के माथुर ब्राह्मण तथा नरोत्तम मिश्र के वंशधरों में से सोमनाथ थे। ये नीलकंठ मिश्र के पुत्र गंगाधर के छोटे भाई थे। इन्होंने भरतपुर के महाराज बदनसिंह के कनिष्ठ पुत्र प्रताप सिंह के लिए 'रसपीयूषनिधि' नामक ग्रन्थ बनाया जिसकी रचना संवत १७९४ वि० (सन १७३७ ई०) में हुई। इस विस्तृत ग्रन्थ में काव्यलक्षण, प्रयोजन, भेद, शब्द-शक्ति, ध्वनि, भाव रसरीति, गुण, दोष तथा छन्द

का वर्णन है। 'रसपीयूषनिधि' काव्यशास्त्र पर एक पूर्ण ग्रन्थ है। प्रथम पाँच तरंगों में छन्दों का वर्णन है। छठवीं तरंग में सोमनाथ ने कविता की परिभाषा इस प्रकार दी है —

सगुन पदारथ दोष बिन, पिंगल मत अविरुद्ध।
भूषण जुत कवि कर्म जो, सो कवित्त कहि बुद्ध।।

काव्य की यह धारणा मम्मट के आधार पर है। काव्य-प्रयोजन भी ऐसे ही हैं। ये ध्वनिवादी हैं और काव्य का प्राण व्यंग्य ही मानते हैं। सोमनाथ ने लिखा है—

व्यंग प्राण अरु अंग सब, शब्द अरथ पहिचान।
दोष और गुण अलंकृत, दूषणादि उर आनि।।

इस प्रकार शब्द-शक्ति और भेदों का वर्णन इसमें विस्तार के साथ किया गया है। रस और भावध्वनि के भीतर रसों एवं भावों का विशद वर्णन है। उन्नीसवीं तरंग में गुणीभूत व्यंग्य के आ रूपों का तथा बीसवीं तरंग में दोषों का वर्णन है। लक्षण और उदाहरण पूर्ण स्पष्ट हैं। इक्कीसवीं तरंग में गुणों और बाईसवीं में अलंकारों का वर्णन करते हुए यह ग्रन्थ समाप्त किया गया है। काव्यशास्त्र पर यह एक बृहत ग्रन्थ है।

भिखारीदास

रीतिकाल के प्रसिद्ध आचार्य कवि दासजी प्रतापगढ़ के ट्योंगा गाँव के रहने वाले थे। इनके पिता का नाम कृपालदास था। दासजी ने 'रससारांश', 'छंदार्णव पिंगल', 'काव्यनिर्णय', 'श्रृंगारनिर्णय' नामक ग्रन्थ काव्यशास्त्र पर लिखे। काव्यशास्त्र की दृष्टि से सब से प्रौढ़ और प्रसिद्ध ग्रन्थ 'काव्य-निर्णय' है जिसमें ध्वनि का विवेचन और रस, अलंकार, गुण, दोष आदि का वर्णन है। यद्यपि इन्होंने समस्त विषयों पर लिखा है, पर ये मम्मट के द्वारा 'काव्यप्रकाश' में प्रतिपादित ध्वनि-सिद्धान्त के अनुयायी हैं। 'काव्यनिर्णय' में दास ने सबसे पहले काव्य-प्रयोजन पर विचार किया है। काव्य-कारण में प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास को स्वीकार करते हुए वे कहते हैं कि व्युत्पत्ति और अभ्यास रथ के दोनों पहियों के समान हैं जिनके बिना रथ नहीं चल सकता, प्रतिभा सारथी चाहे कितना बली क्यों न हो। दासजी के विचार से रस कविता का अंग, अलंकार आभूषण, गुण रूप-रंग तथा दोष कुरूपता है।[१] यद्यपि दासजी ने स्पष्ट नहीं कहा, पर वे काव्य की आत्मा ध्वनि मानते हैं, ऐसा जान पड़ता है। दूसरे उल्लास में पदार्थ-निर्णय है। अभिधा शक्ति और वाच्यार्थ का भी दास ने विस्तार से वर्णन किया है और लक्षणा, व्यंजना का भी विस्तृत विवेचन है। इनके लक्षण संकेतपूर्ण हैं, पर हैं स्पष्ट। इनके उदाहरण सुन्दर हैं।

दास ने लिखा है कि व्यंजना या तो अभिधा पर आश्रित रहती है या लक्षणा पर। वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ पात्र के समान हैं जिन पर व्यंग्यार्थ रूपी जल टिकता है। इस प्रकार अभिधामूला और लक्षणामूला ये दो व्यंजना के भेद हैं। इसके बाद अलंकार मूल और रसांगों का वर्णन दास जी ने किया है। इसके भीतर रस, भाव, भावाभास, भावशान्ति, भावसंधि, भावोदय आदि

१. काव्य-निर्णय, प्रथम उल्लास, १६ वाँ छन्द।

के साथ-साथ अपरांग, रसवदादि का वर्णन भी उन्होंने किया है, जिन्हें कि बहुत से आलंकारिकों ने अलंकार में रखा है। ध्वनि-भेदों का दासजी ने विस्तार से वर्णन छठे उल्लास में किया है। कुल मिलाकर ४३ प्रकार की ध्वनि का निरूपण है। सातवें उल्लास में गुणीभूत व्यंग्य का वर्णन है, जो 'काव्यप्रकाश' के समान है। अष्टम उल्लास में अलंकारों का वर्णन दास ने किया है। इनका वर्गीकरण इन्होंने प्रथम अलंकार के नाम पर किया है, जैसे उपमादि, उत्प्रेक्षादि। अनेक उल्लास अलंकार-वर्णन में लगे हैं। उन्नीसवें उल्लास में गुणों का वर्णन है। दासजी ने गुणों को रस का सहायक और उपकारी माना है। उनका विचार है कि गुणों के द्वारा ही रस प्रकट होता है। २० वें उल्लास में चित्र को छोड़कर कुछ शब्दालंकारों का वर्णन है। इक्कीसवें में चित्रालंकार एवं बाईसवें में तुक-निरूपण है। तुक दास जी की निजी विवेचना है और इनके पहले किसी ने भी इसका विवेचन नहीं किया। तेईसवें उल्लास में दोष-वर्णन, चौबीसवें में दोषोद्धार के उपाय तथा पच्चीसवें में रसदोष का वर्णन है। दासजी के विचारों में मौलिकता चाहे न हो, पर हैं वे बड़े स्पष्ट। साथ ही इनके उदाहरण बड़े चुटीले हैं और इनकी कवित्व-प्रतिभा को स्पष्ट करते हैं।

दास के बाद **जगतसिंह** का 'साहित्यसुधानिधि' और **रणधीरसिंह** का 'कविरत्नाकर' ऐसे ग्रन्थ हैं जिनमें ध्वनि का विवेचन हुआ है। 'साहित्यसुधानिधि' में भरत, भोज, मम्मट, जयदेव, विश्वनाथ, गोविन्दभट्ट, भानुदत्त, अप्पय दीक्षित आदि का आधार लिया गया है। इसका उल्लेख स्वयं लेखक ने कर दिया है। ग्रन्थ की रचना सं० १८५८ वि० (सन १८०१ ई०) में हुई थी। इसमें ध्वनि का वर्णन 'काव्यप्रकाश' के आधार पर ही है। लक्षणा का नाम इन्होंने कुटिला वृत्ति और अभिधा का सरला वृत्ति रखा है। इस ग्रन्थ में विवेचन साधारण है, अधिकांश लक्षण स्पष्ट हैं और अनुवाद से लगते हैं। रणधीरसिंह का 'काव्यरत्नाकर,' 'काव्यप्रकाश' और 'चन्द्रालोक' के आधार पर है। इस ग्रन्थ को लिखने में कुलपति के 'रसरहस्य' ग्रन्थ का आदर्श सामने रखा गया है। लक्षणों को स्पष्ट करने के लिए इन्होंने वार्ता लिखी है।

प्रतापसाहि

ध्वनि-सिद्धान्त के परिणामस्वरूप कुछ व्यंग्यार्थ प्रकाशक ग्रन्थ लिखे गए—जैसे, 'व्यंग्यार्थकौमुदी', 'व्यंग्यार्थचन्द्रिका' आदि। इस संबंध में प्रतापसाहि की 'व्यंग्यार्थकौमुदी' प्रसिद्ध है। प्रतापसाहि का एक ग्रन्थ 'काव्यविलास' मम्मट के आधार पर काव्य का विवेचन करता है, परन्तु 'व्यंग्यार्थकौमुदी' में एक साथ नायिका-भेद, व्यंग्यार्थ और अलंकार चलते हैं। इसमें ध्वनि-काव्य की महत्ता स्पष्ट होती है। उत्तम काव्य इसमें ध्वनि ही मानी गई है, जैसा कि उनका विचार है—

> बिंग जीव है कवित में, सब्द अर्थ गति अंग।
> सोई उत्तम काव्य है, बरनै बिंग प्रसंग।।

प्रतापसाहि ने इस ग्रन्थ में अलंकार की विचित्र धारणा प्रकट की है। उनका कथन है कि व्यंग्यार्थ और इससे पृथक जो कोई चमत्कार दिखलाई दे, वह अलंकार है।

> रस अरु बिंग दुहुन तें, जुदौ परै पहिचानि।
> अर्थ चमत्कृत सब्द में, अलंकार सो जानि।।

इस प्रकार यह एक काव्य का चमत्कार प्रकट करने वाला ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ की रचना १९वीं शताब्दी ईसवी के मध्य में हुई। इनके ग्रन्थ 'काव्यविलास' का रचना-काल सं० १८८६ वि० (सन १८२९ ई०) है।

'काव्यविलास' ग्रन्थ ११३६ छन्दों में समाप्त हुआ है। इसके अन्तर्गत प्रमुखतया 'काव्य-प्रकाश' के आधार पर ध्वनि-सिद्धान्त का निरूपण किया गया है। प्रताप सुकवि ने इसे चरखारी-नरेश विक्रमाजीत के आश्रय में लिखा था। 'काव्यप्रकाश' के अतिरिक्त अन्य आधारभूत ग्रन्थ 'काव्यप्रदीप,' 'साहित्यदर्पण,' 'रसगंगाधर,' 'चन्द्रालोक,' 'कुवलयानन्द,' 'रसमंजरी,' 'रसतरंगिणी' आदि हैं। काव्य-लक्षण, काव्य-कारण, शक्ति, काव्य-भेद आदि का वर्णन करके उत्तम काव्य के लक्षणों का वर्णन किया गया है। 'काव्यविलास' में शब्दशक्ति का विद्वत्तापूर्ण विवेचन है। संक्षिप्त व्याख्याओं में प्रतापसाहि ने लक्षणों और उदाहरणों को स्पष्ट किया है। हिन्दी के आचार्यों में रस-निष्पत्ति का वर्णन इन्होंने ही पहली बार किया है। रस-भेद 'रसतरंगिणी' के आधार पर किए गए हैं। विषय-निरूपण और स्पष्ट लक्षणों के साथ-साथ 'काव्यविलास' में उदाहरण भी अत्यन्त सुन्दर और कवित्वपूर्ण हैं। इन्होंने रस का भी वर्गीकरण अभिमुख, विमुख और परमुख के रूप में किया है। 'काव्यविलास' सात प्रकाशों में समाप्त हुआ है और यह हिन्दी काव्यशास्त्र के प्रौढ़ ग्रन्थों में से है।

रामदास

रामदास का असली नाम राजकुमार था। ये काशी और प्रयाग के बीच स्थित हरिपुर के निवासी थे। इनके गुरु का नाम नन्दकुमार था। इन्होंने 'कविकल्पद्रुम' या 'साहित्यसार' ग्रन्थ की रचना सं० १९०१ वि० (सन १८४४ ई०) में आगरे में की। यह ग्रन्थ काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों पर प्रकाश डालता है। ध्वनि-सिद्धान्त को मुख्य आधार मान कर इसमें अनेक गुणों का विवेचन किया गया है। लेखक ने हिन्दी और संस्कृत के अनेक ग्रन्थों का अध्ययन करने के उपरान्त इसे लिखा है। इस ग्रन्थ में गोस्वामी तुलसीदास जी की चौपाई—आखर अरथ अलंकृत नाना। छन्द प्रबन्ध अनेक विधाना। भावभेद रसभेद अपारा। कवित दोष गुन विविध प्रकारा॥—का आधार मान कर क्रम से काव्य-स्वरूप, काव्य-हेतु, फल, भाषाभेद (संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा लोकभाषाएँ), काव्य-भेद, शब्दार्थ-भेद, भाव, रस, अलंकार आदि का वर्णन है। विषयों के विवेचन में रामदास की शैली बड़ी ही सरल और सुस्पष्ट है और प्रत्येक स्थल पर लेखक की विद्वत्ता झलकती है। दोहों में भी इनके लक्षण गद्य की भाँति स्पष्ट हैं और उदाहरण समुचित कवित्व-पूर्ण हैं। रीतिकाल के अन्तिम ग्रन्थों में 'कविकल्पद्रुम' का महत्वपूर्ण स्थान है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक युग के पूर्व हिन्दी रीतिशास्त्र के अन्तर्गत अलंकार, रस और ध्वनि पर अनेक ग्रन्थ लिखे गए, जिनमें कुछ में तो संस्कृत के ग्रन्थों के भाव ही पूर्ण या अपूर्ण रूप में प्रकट करते हैं और कुछ में महत्वपूर्ण विचारों का प्रकाशन हुआ है। हिन्दी रीतिशास्त्र के भीतर संस्कृत काव्यशास्त्र की इन्हीं उपर्युक्त तीन धाराओं का स्पष्ट प्रवाह दिखलाई देता है।

११. नीति तथा जीवनी साहित्य

क. नीतिकाव्य

हिन्दी में वीर, संत, सूफी तथा शृंगार आदि की धाराओं की भाँति ही नीतिकाव्य की भी एक धारा आदिकाल से चली आ रही है। इस धारा में समाज को स्वस्थ एवं संतुलित पथ पर अग्रसर करने तथा व्यक्ति को अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष की उचित रीति से प्राप्ति कराने के लिए देश, काल और पात्र के संदर्भ में समाज, व्यवहार, धर्म-आचार एवं राजनीति आदि विषयक विधि या निषेधमूलक नियमों का विधान किया गया है।

नीतिकाव्य के प्राचीनतम सूत्र भारतीय साहित्य के आदि ग्रन्थ ऋग्वेद में प्राप्त होते हैं। इसकी कई ऋचाओं में दान की महत्ता गाई गई है। ८ वें मंडल के ३३ वें सूक्त में इंद्र का एक कथन है जिसका अर्थ है, 'स्त्री के मन का शासन करना असंभव है उसकी बुद्धि छोटी होती है।' इसी प्रकार बहुत से अन्य विषयों पर भी इसमें नीतिपूर्ण सूक्तियाँ बिखरी पड़ी हैं। सूक्तियों के अतिरिक्त ऋग्वेद की बहुत सी आख्यायिकाएँ भी नीति और उपदेशपरक हैं। द्याद्विवेद ने अपनी 'नीतिमंजरी' में विधि-निषेधमूलक नियमों को उदाहृत करने के लिए सारी कथाएँ ऋग्वेद से ही ली हैं। इस प्रकार नीति-कथन की दोनों ही प्रधान शैलियों—सूक्ति रूप में नीति-कथन तथा किसी कहानी द्वारा उपदेश-कथन—के बीज उस आदि ग्रन्थ में वर्तमान हैं।

यह परंपरा अन्य वैदिक संहिताओं, विशेषतः अथर्ववेद संहिता, से होती हुई ब्राह्मण और उपनिषदों में आई है। ब्राह्मण और उपनिषद, दोनों ही नीतिपूर्ण वाक्यों, श्लोकों तथा आख्यायिकाओं से बहुत संपन्न हैं। इनके प्रधान नीति-विषय उद्योग, नियम, मिताहार, सत्य, स्त्री, अभिमान, राजा, धर्म, दान, दया, दम, शम, विवेक, लोभ, गुरु तथा अतिथि-सत्कार आदि हैं। वेदांग के अन्तर्गत आने वाले स्मार्त सूत्र तथा उपवेद के अंतर्गत आने वाले आयुर्वेद और अथर्ववेद में नीतियों का और भी अधिक विकास हुआ है। सच पूछा जाय तो ये तीनों नीतिकाव्य की तीन शाखाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। गृह्य तथा धर्म आदि स्मार्त सूत्रों में सामाजिक, व्यावहारिक तथा आचारिक नीति है, तो आयुर्वेद में स्वास्थ्य संबंधी एवं अथर्ववेद में राजा संबंधी। यह अवश्य है कि इनमें नीति की बातें साहित्य की अपेक्षा शास्त्र के अधिक निकट हैं।

संस्कृत (लौकिक) साहित्य नीति की सूक्तियों और कथाओं की दृष्टि से बहुत संपन्न है। यों तो पुराणों, स्मृतियों, प्रबंधकाव्यों, मुक्तकों तथा कथा-साहित्य आदि सभी में इनका प्राचुर्य है, पर विशेष रूप से नीति की सूक्तियों के लिए 'महाभारत' की धौम्य-नीति, विदुर-नीति, भीष्म-नीति तथा विदुलोपाख्यान तथा इनके अतिरिक्त मनुस्मृति, बृहस्पति-नीति, शौनकीय नीतिसार,

शुक्र-नीति, चाणक्य-नीति, भर्तृहरि का 'नीतिशतक', कामंदक का 'नीतिसार', गुमान का 'उपदेश शतक' तथा घनश्याम, गनपति तथा वीरेश्वर के 'अन्योक्तिशतक' आदि प्रधान हैं और औपदेशिक कथाओं के लिए 'पंचतंत्र' तथा 'हितोपदेश' प्रसिद्ध हैं।

संस्कृत साहित्य की यह परंपरा पालि में भी अक्षुण्ण रूप से मिलती है। यों तो पालि साहित्य धर्मप्रधान है, पर बौद्ध धर्म में आचार और व्यवहार का बहुत महत्व था, अतः इस साहित्य में वर्णित नीति भी जीवन के प्राप्य सभी अंगों का स्पर्श करती है। नीति की दृष्टि से पालि साहित्य के दो ग्रन्थ विशेष उल्लेख्य हैं। औपदेशिक कथाओं के लिए 'जातक' तथा नीतिपूर्ण गाथाओं के लिए 'धम्मपद'।

नीति-कथन की यह उर्वर परंपरा संस्कृत और पालि से होती हुई प्राकृत तथा अपभ्रंश में आती है। किंतु इन दोनों ही भाषाओं के साहित्यों में उसे पूर्व प्राप्त सम्मान्य स्थान नहीं मिल सका है, यद्यपि इनके साहित्य भी नीति की दृष्टि से सर्वथा शून्य नहीं कहे जा सकते। पूर्ववर्ती साहित्यों की भाँति प्राकृत तथा अपभ्रंश में भी कथात्मक तथा सूक्त्यात्मक (या उपदेशपरक) दोनों ही प्रकार की शैलियों में नीति की बातें कही गई हैं। इस प्रसंग में प्राकृत की उल्लेख्य पुस्तकें 'कथा-कोश प्रकरण' 'पद्मचरित्र', 'गाथासप्तशती', तथा 'वज्जालग्ग' एवं अपभ्रंश की 'पाहुडदोहा', 'सावय-धम्म दोहा' तथा 'उपदेशरसायन' आदि हैं। प्राकृत तथा अपभ्रंश साहित्य के नीति-अंश का धर्म और आचार नीति से अपेक्षाकृत अधिक संबंध है और व्यवहार तथा समाज नीति से कम। संभवतः जैन धर्म के निकट संपर्क के कारण ऐसा हुआ है।

प्राचीन तथा मध्यकालीन आर्यभाषा के साहित्य से रिक्थ रूप में मिली नीति-कथन की यह परंपरा आधुनिक आर्यभाषाओं में केवल हिंदी में ही उचित रूप से विकसित हो सकी है। हिंदी ने इस धारा का जीवन-रस अपने पूर्ववर्ती साहित्यों से ग्रहण किया है, पर उसे वह समग्ररूपेण नहीं ले सकी है। औपदेशिक कथाएँ, जिनका इस धारा में विशिष्ट स्थान रहा है और जो अनेक रूपों में विश्व के अनेक संपन्न साहित्यों में अपने चरण-चिह्न छोड़ चुकी हैं, हिंदी में प्रायः नहीं के बराबर हैं। इसका कारण कदाचित् हिंदी के आदि तथा मध्य युगों में गद्य का अभाव है। आधुनिक काल में, आरंभ में, इस दिशा में कुछ प्रयास अवश्य हुए, पर साहित्य के प्रति उपयोगितावाद का दृष्टिकोण युगोचित न होने के कारण उन्हें प्रोत्साहन न मिला। छंदबद्ध नीति-वचनों की परंपरा को हिंदी ने अवश्य पूरी तरह अपनाया और यह अपनाना इस सीमा तक पहुँच गया कि यह कहना तनिक भी अत्युक्तिपूर्ण न होगा कि हिंदी में ऐसे कवि बहुत ही कम होंगे जिनके काव्य में नीति के अंश बिल्कुल न हों।

हिंदी का नीतिकाव्य तीन रूपों में मिलता है—पहला प्रबंध काव्य के अंश रूप में, दूसरा अन्य विषयक मुक्तकों के साथ और तीसरा स्वतंत्र नीति-मुक्तक रूप में। 'पृथ्वीराजरासो', 'पदमावत', 'रामचरितमानस' तथा 'रामचंद्रिका' आदि में यत्र तत्र बिखरे नीति-छंद पहले प्रकार के हैं। दूसरे प्रकार के नीति-छंद कबीर, नानक, व्यास, तुलसी, अग्रदास, रत्नावली, गंग, दादू, बिहारी के हैं और रसनिधि तथा चरनदास आदि के भक्ति या श्रृंगार विषयक मुक्तक संग्रहों के साथ मिलते हैं और तीसरे प्रकार के, जो हिंदी के प्रतिनिधि नीतिकाव्य हैं, देवीदास, रहीम, वृंद, जान, बैताल, घाघ, गिरिधर, सम्मन तथा दीनदयाल गिरि आदि की रचनाओं में पाए जाते हैं।

आदिकालीन नीतिकाव्य प्रथम दो रूपों में उपलब्ध है। इतिहास के विद्यार्थी से यह बात छिपी नहीं है कि हिंदी का आदिकाल राजनीति और धर्म की दृष्टि से उथल-पुथल का काल था। राजनीति में युद्धों का बोलबाला था; धर्म में नाथों तथा जैनों का प्राधान्य था। इस प्रकार उस युग में जीवन की सार्थकता प्रधानत: तलवार या भक्ति के धनी होने में थी—

'जननी ऐसा बेटा जनिए कै सूरा कै भक्त कहाय'—आल्हखंड

तत्कालीन नीति-साहित्य भी इन्हीं भावनाओं से ओतप्रोत है। उस काल के सिद्धों के जीवन में संयम का अभाव था तथा उनमें तरह-तरह के अनाचार फैल रहे थे, अत: उसे रोकने के लिए गोरखनाथ (लगभग १० सदी ई०) को चित्त की शुद्धि तथा उसे दृढ़ रखने, मन के विकारों को जीतने, ब्रह्मचर्य-पालन करने एवं नशा-सेवन न करने के संबंध में उपदेशात्मक छंद लिखने पड़े। जैनों में भी आचार और संयम की परंपरा टूट रही थी, अत: जैन कवियों को सीधे या अपने महापुरुषों की जीवन-गाथा वर्णित करने के बहाने अपने धर्म के अनुकूल उपदेश की बातें लिखनी पड़ीं। यह धर्म के क्षेत्र की बात रही। राजनीति में युद्धों और वैयक्तिक वीरता का प्राधान्य था। यही कारण है कि 'पृथ्वीराजरासो' (१२ वीं सदी ई०) एवं 'आल्हखंड' (१३ वीं सदी ई०) जैसे प्रबंध काव्यों में स्थान-स्थान पर वीरत्व का पाठ पढ़ाया गया है। 'आल्हखंड' की प्रसिद्ध पंक्ति—'बरिस अठारह क्षत्रिय जीवै आगे जीवन को धिक्कार।'—तत्कालीन वीरता और युद्ध में मर मिटने में ही जीवन की सफलता मानने की भावना की चरम परिणति प्रदर्शित करती है।

किंतु आदिकालीन हिंदी साहित्य में प्राप्त नीतिकाव्य प्राय: आनुषंगकि सा है। इस धारा का यथार्थ रूप हमें भक्तिकाल (या पूर्व मध्यकाल) में मिलता है। यह उपर्युक्त तीनों ही रूपों में प्राप्त है। इस समय तक आते आते देश में कुछ शांति स्थापित हो चुकी थी। वीरता एवं युद्ध के आदिकालीन रूप तिरोहित हो चुके थे, अतएव स्वभावत: आदिकालीन हिंदी साहित्य में जहाँ इनसे संबद्ध नीति एवं उपदेश का अपेक्षाकृत आधिक्य है, वहाँ भक्तिकाल में भक्ति की भूमिका में समाज एवं व्यवहार नीति का प्राधान्य है। भक्ति-आन्दोलन इस काल में पहले की तुलना में अधिक व्यापक तथा शक्तिशाली हो गया था। इसकी जड़ें समाज में गहराई तक प्रवेश कर चुकी थीं। इसी कारण तत्कालीन भक्तिकाव्य के नीति अंश में समाज के विभिन्न स्तर के लोगों की आवश्यकता ही मुखरित हो उठी। कबीर (१५ वीं सदी ई०) के उपदेश एवं नीति के छंदों में प्राय: विद्रोह के स्वर का प्राधान्य दृष्टिगत होता है। उस विद्रोह में समाज की आत्मा बोल रही है। रैदास (१५ वीं सदी ई०), नानक (जन्म १४६९ ई० = सं० १५२६ वि०), व्यास जी (१५१० ई०—१६१२ ई० = सं० १५६७-१६६९ वि०) तथा दादू (१५४४—१६०३ ई० = सं० १६०४-१६६० वि०) के नीति-उपदेश के छंदों में कबीर का विद्रोही स्वर तो नहीं है, पर उनके सामान्य नीति-उपदेशों की भाँति ये भी तत्कालीन भक्तों तथा सामान्य लोगों की सांसारिकता में लिप्तता एवं यथार्थ भक्ति से पराङ्मुखता को देखकर ही प्रधानतया लिखे गए हैं। तुलसी (१५३२ ई०—१६२३ ई० = सं० १५८९-१६८० वि०) के नीति छंद भारतीय संस्कृति-सम्मत आदर्श समाज के निर्माण का पथ प्रशस्त करते हैं। एक नए धर्म के प्रवेश से तत्कालीन

समाज में इस दृष्टि से अनेकानेक स्खलन आ गए थे और उसका विकास विपरीत दिशा में हो रहा था। इसी स्थिति ने तुलसी को इस प्रकार के छंद लिखने को बाध्य किया।

उसमान (रचना-काल १६ वीं सदी ई० का प्रथम चरण) तथा जायसी (१४९४—१५४२ ई०=सं० १५४१-१५९९ वि०) आदि सूफी कवियों के भी कुछ नीति-उपदेश के छंद हैं, पर वे प्रायः कथा-प्रवाह में या तो आनुषंगिक रूप से आ गए हैं या उनके सूफीमत के सिद्धान्तों से संबद्ध हैं। इनमें ऐसे स्थल प्रायः नहीं के बराबर हैं जिनकी नीति पूर्णतया समाज-सापेक्ष हो।

भक्ति-काल के उपर्युक्त कवियों में धर्म-भावना का प्राधान्य है, अतः इनके नीति-उपदेश के छंदों की आत्मा भी प्रायः धर्म और आचार तथा कहीं-कहीं धर्म-सापेक्ष समाज-नीति से संयुक्त है। इस काल के नीति-कवियों की एक दूसरी धारा भी है जो प्रमुखतः समाज और व्यवहार नीति की है। इनमें देवीदास (रचना-काल १६ वीं सदी ई० पूर्वार्द्ध), नरहरि (१५०५-१६१० ई०=सं० १५६३-१६६७ वि०), बीरबल (१५२८-१५८५ ई०=सं० १५८५-१६४२ वि०), गंग (१५३९ ई०-१६२५ ई०=सं० १५९६-१६८२ वि०) तथा रहीम (१५५६ ई०-१६२६ ई०=सं० १६१३-१६८३ वि०) उल्लेख्य हैं। इन सभी ने नीति के फुटकर छंद लिखे हैं। रहीम के संबंध में प्रसिद्ध है कि उन्होंने नीति की पूरी सतसई लिखी थी, जिसमें से अब केवल २८७ के लगभग दोहे और सोरठे उपलब्ध हैं। इनमें सभी ऐसे हैं जिनका राज-दरबारों से संबंध था। अतः इनके लिए तत्कालीन शिष्ट समाज की व्यवहार तथा राजनीति के संबंध में रचना करना स्वाभाविक था। इन सभी में तथ्य की बातों को मात्रा और तुक के साँचे में कस दिया गया है। किसी में काव्यानुभूति की गहराई नहीं है। रहीम ही एकमात्र ऐसे कवि हैं जिनमें यह दोष नहीं है और जिनका नीतिकाव्य सच्चे अर्थ में नीतिकाव्य कहलाने का अधिकारी है। शुक्ल जी की शब्दावली का प्रयोग करें तो अन्य सभी को नीति कवि न कह कर नीति के पद्यकार कवि कहना पड़ेगा। ऊपर के भक्त कवियों की भी स्थिति इससे बहुत भिन्न नहीं है। कबीर, तुलसी तथा दादू के कुछ थोड़े से ही छंद रहीम की कोटि के हैं। इनके अन्य नीति-छंदों में इनका उपदेशक रूप ही प्रधान है। रैदास, नानक तथा व्यासजी तो कुछ अपवादों को छोड़कर पूर्णतः उपदेशक कवि हैं।

भक्तिकाल की एक और रचना 'दोहावली' मिली है, जिसे डॉ० दीनदयालु गुप्त तथा कुछ अन्य लोगों ने तुलसी की स्त्री, रत्नावली की रचना माना है। इस रचना का प्रधान विषय स्त्री विषयक नीति है। इसकी नीति भी तत्कालीन स्त्री विषयक सामान्य भावना का, जिसे बहुत अंशों में पौराणिक युग की भावना कह सकते हैं और जो नई सामाजिक परिस्थिति की प्रतिक्रिया स्वरूप कड़ाई के साथ पुनः प्रतिष्ठित की गई थी, प्रतिचित्र मात्र है।

रीतिकाल या उत्तर मध्ययुग में देश में लगभग पूर्ण शांति थी और सामंतवर्ग भोग-विलास में डूबा हुआ था। कला के क्षेत्र में बारीकी अपनी चरम सीमा पर पहुँच रही थी, यद्यपि उसमें मौलिकता तथा जीवंतता का अभाव था। इस काल में आदि तथा भक्ति काल की हिंदी की वीर, निर्गुण, सूफी, कृष्ण, राम, जैन, शृंगार तथा नीति आदि सभी धाराएँ प्रवाहित हो रही थीं, किंतु उनमें प्रायः पुरानी बातों का शब्द एवं शैली भेद से अंधानुकरण हो रहा था। यदि कहीं कुछ मौलिकता थी, तो केवल कलात्मक बारीकी के क्षेत्र में। शृंगारधारा में कला के अतिरिक्त भावपक्ष

में भी कुछ मौलिकता विकसित हुई जो युग के अनुरूप थी। उसका न विकसित होना ही अस्वाभाविक होता। इस काल का नीतिकाव्य भी इसका अपवाद नहीं है। इसकी अधिकांश बातें संस्कृत तथा प्राकृत या फारसी –'गुलिस्तां' तथा 'करीमा' आदि– के नीतिकाव्य की जूठन हैं जिन्हें भाषा, छंद और अलंकार आदि के नवीन आवरण में प्रस्तुत कर दिया गया है।

रीतिकालीन नीतिकाव्य प्रबंध के अंश, अन्य विषयों – भक्ति तथा श्रृंगार आदि फुटकर काव्य-संग्रहों–के अंश तथा नीति मुक्तकों के स्वतंत्र संग्रहों, इन तीनों ही रूपों में मिलता है। इनमें नीति के प्रधान कवियों की रचनाएँ तीसरे वर्ग में आती हैं। इस दृष्टि से उल्लेख्य ग्रंथ वृन्द (१६४३-१७२३ ई०=सं० १७००-१७८० वि०) की 'वृन्दसतसई', छत्रसाल (जन्म १६४९ ई०=सं० १७०६ वि०) की 'नीतिमंजरी', जान (१७ वीं सदी ई०) के 'सिषसागर छंदनामा' तथा 'चेतननामा', बैताल (जन्म १६००ई०=सं० १७२४ वि०) के छप्पय, घाघ[1] (जन्म १६९६ ई०=सं० १७५३ वि०) की कहावतें, गिरिधर (जन्म १७१३ ई०=सं० १७-७० वि०) की कुंडलियाँ, परमानंद (रचना-काल १८०० ई०=सं० १८५७ के आसपास) के 'नीतिसारावली', 'नीतिमुक्तावली' तथा 'राजनीति-मंजरी', सम्मन (रचना-काल १९ वीं सदी ई० प्रथम चरण) के दोहे, बाँकीदास (१७८१ ई०-१८३३ ई०=सं० १७३८-१३९० वि०) के 'नीतिमंजरी', 'कृपणदर्पण' तथा 'सन्तोषछावनी', विश्वनाथसिंह (जन्म १७८९ ई०=सं० १७४६ वि०) के 'ध्रुवाष्टक', 'अवाधनीति' तथा 'उत्तमनीतिचंद्रिका', निहाल (रचना-काल १९ वीं सदी ई० पूर्वार्द्ध) का 'सुनीति-रत्नाकर', दीनदयाल गिरि (१८०२-१८५८ ई०=सं० १८५९-१९१५ वि०) के 'अन्योक्तिकल्पद्रुम' तथा 'दृष्टांततरंगिणी,' भड्डरी के खेती तथा शकुन के फुटकर छंद और लक्ष्मणसिंह (जन्म १८०७ई०=सं० १८६४ वि०) के 'नृपनीतिशतक' तथा 'समयनीतिशतक' आदि हैं। प्रथम तथा द्वितीय वर्ग की रचनाएँ वीर, श्रृंगार तथा भक्ति धारा के कवियों की रचनाओं के अंश रूप में मिलती हैं। इनमें प्रमुख कवि रज्जब जी (१५६७-१६८९ ई०=सं० १६२४-७४६ वि०), बनारसीदास जैन (जन्म १५८६ ई०=सं० १६४३ वि०), सुंदरदास (१५९६-६८९ ई०=सं० १६५३-१७४६ वि०), बिहारी (१६०३-१६६३ ई०=सं० १६६०-१७२० वि०), रसनिधि (रचना-काल १६६० ई०=सं० १७१७ वि० के लगभग) तथा भगवतीदास (रचना-काल १७ वीं सदी ई० उत्तरार्द्ध) हैं।

इस काल के नीति-कवियों के आचार ए धर्म विषयक छंद प्रायः भक्तिकालीन कबीर तथा तुलसी आदि की उद्धरणी मात्र हैं। कहीं कुछ नवीनता है भी, तो उसके पीछे भक्ति की वह गहरी अनुभूति नहीं है जो कबीर जसे नीतिकारों का मूल आधार है। सामाजिक एवं व्यावहारिक नीतियों में, जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, प्राचीन साहित्यों का अत्यधिक प्रभाव है; यों वृन्द, बिहारी, दीनदयाल, घाघ एवं विशेषतः गिरिधर जैसे कुछ कवियों में मौलिकता भी है।

---

१. आसाम तथा उड़ीसा में 'डाक' नाम के लोककवि प्रसिद्ध हैं। दोनों ही भाषाओं में इनके नीति-वचनों के संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। इन संग्रहों के नीति-छंदों एवं हिंदी में प्रचलित घाघ के नीति-छंदों में केवल भाषा-भेद है। ऐसी स्थिति में यह कहना कठिन है कि मूलतः 'घाघ' या 'डाक' किस भाषा के कवि हैं।

इन बातों के साथ ही रीतिकालीन नीतिकाव्य में एक ऊपरीपन है। रहीम और वृन्द की तुलना करने पर यह बात स्पष्ट हुए बिना नहीं रहती कि जहाँ रहीम के नीति-छंदों में चिंतन और स्वानुभूति की छाप है, वहाँ वृन्द में ऊपरी व्यावहारिकता अधिक है और गहराई कम।

परिगणन की प्रवृत्ति भी इस काल की एक विशेषता है। वीर रस के कवियों ने भाँति-भाँति के घोड़ों एवं अस्त्रों की सूचियाँ प्रायः बनाई हैं। नीति के कवियों में विशेषतः राजनीति या राजा के कर्तव्यों के गिनाने में इस प्रवृत्ति का आभास मिलता है।

इन न्यूनताओं के बावजूद भी रीतिकालीन नीति-साहित्य बहुत उपयोगी है। स्वास्थ्य तथा कृषि विषयक सामान्य ज्ञान तथा सामान्य मनुष्य के दैनिक जीवन की व्यावहारिक बातों का समावेश करने के कारण घाघ और गिरिधर कविराय हिंदी प्रदेश के चिर साथी बन गए हैं। यदि धर्म के क्षेत्र में कबीर और विशेषतः तुलसी उसकी समस्याओं का समाधान उपस्थित करते हैं तो अन्य क्षेत्रों में गिरिधर और घाघ।

हिंदी नीतिकाव्य का संक्षिप्त ऐतिहासिक परिचय पा लेने के पश्चात विषय और कला की दृष्टि से उसपर विहंगम दृष्टि डाल लेना अप्रासंगिक न होगा।

हिंदी नीतिकाव्य के प्रधान विषय धर्म-आचार, समाज-व्यवहार, राजनीति, सामान्य ज्ञान (स्वास्थ्य, कृषि तथा ऋतु विषयक) एवं शकुन, इन पाँच शीर्षकों के अंतर्गत रक्खे जा सकते हैं।

धर्म और आचार में भक्ति, मन और शरीर की शुद्धि तथा खान-पान-विचार संबंधी विषय आते हैं। इन विषयों के संबंध में नीति-निर्देश करने में नीतिकारों का दृष्टिकोण तात्कालिक और सार्वकालिक, दोनों ही रहा है। भक्तिकालीन कबीर तथा तुलसी आदि की इस वर्ग की रचनाएँ अपेक्षाकृत अधिक सशक्त हैं, यों रैदास, नानक, व्यास, दादू, आदि भक्तिकालीन तथा सुंदरदास, चरनदास आदि बहुत से रीतिकालीन कवियों ने भी इस प्रकार के नीति और उपदेश के छंद लिखे हैं।

समाज और व्यवहार विषयक नीति-छंदों की रचना हिंदी में अन्यों की अपेक्षा अधिक हुई है। इस क्षेत्र में भक्तिकाल में विशेष स्थान देवीदास, नरहरि तथा रहीम का है; यों कबीर, तुलसी, टोडरमल, बीरबल तथा गंग आदि ने भी इस प्रकार के छंद लिखे हैं। रीतिकाल में इस विषय पर लिखने वालों में प्रमुख नाम वृन्द, दीनदयाल, घाघ तथा गिरिधर के लिये जा सकते हैं। कुछ अच्छे छंद बिहारी, बाँकीदास तथा भगवतीदास आदि ने भी लिखे हैं। समाज और व्यवहार विषयक नीति में तात्कालिक दृष्टिकोण अपेक्षाकृत कम और शाश्वत अधिक है।

राजनीति में बातें राजनीति विज्ञान जैसी न होकर सामान्य हैं, जिनमें प्रमुख राजा के व्यक्तित्व, गुणावगुण, दंड, न्याय, शासन, व्यय, कर, प्रजापालन, शत्रु तथा मंत्री आदि से संबद्ध हैं। इस वर्ग की रचनाएँ भक्तिकाल में तुलसी तथा देवीदास एवं रीतिकाल में घाघ, छत्रसाल तथा विश्वनाथसिंह आदि द्वारा लिखी गई हैं। इनमें तुलसी द्वारा वर्णित राजनीति की बातों की पृष्ठभूमि में धर्म है और अन्यों में शुद्ध व्यवहार तथा सांसारिकता है। इस वर्ग की नीति का अधिकांश तात्कालिक दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करता है, किंतु कुछ बातें सार्वकालिक भी हैं।

स्वास्थ्य, कृषि तथा ऋतु आदि विषयक सामान्य ज्ञान की बातें हिंदी नीति-साहित्य में प्रमुखतः केवल घाघ और भड्डरी द्वारा लिखी गई हैं। ये बातें प्रायः सार्वकालिक हैं।

शकुन संबंधी नीति भक्ति और रीति दोनों ही कालों के साहित्य में लिखी गई है। इस दृष्टि से प्रमुख नाम भड्डरी तथा चरनदास का लिया जा सकता है; यों जायसी, तुलसी आदि ने भी इस प्रकार की बातें यत्र-तत्र दी हैं। कहना न होगा कि इनका संबंध फलित ज्योतिष से है और ये परंपरागत लोक-प्रचलित अंधविश्वास पर आधारित हैं। सभ्यता के विकास के साथ इन पर से लोगों की आस्था उठती जा रही है।

नीतिकाव्य के संबंध में एक प्रश्न यह भी उठता है कि नीति के छंद काव्य के अंतर्गत आ भी सकते हैं या नहीं। इस विषय को लेकर कभी कभी संदेह भी प्रकट किया गया है।[१]

इस संबंध में इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि नीति एक विषय है और किसी भी विषय पर काव्य की रचना की जा सकती है, यदि रचयिता में वास्तविक काव्य-प्रतिभा हो। यह बात दूसरी है कि नीतिकाव्य के क्षेत्र में वास्तविक काव्य-प्रतिभा के लोग अधिक नहीं आए और इसीलिए हिंदी नीतिकाव्य का अधिकांश पद्य मात्र है। कहीं तो तथ्य की बातें सीधे रख दी गई हैं और कहीं उन्हें उपदेश का रूप दे दिया गया है। कबीर, तुलसी, देवीदास, घाघ, गिरिधर कविराय तथा विश्वनाथसिंह आदि का नीतिकाव्य इसी श्रेणी का है। किन्तु साथ ही इसमें काव्यत्व या काव्य-कला का पूर्णतः अभाव भी नहीं कहा जा सकता। रहीम, वृन्द, बिहारी, जान तथा दीनदयाल गिरि के बहुत से छंद शुद्ध काव्य हैं।

कहना न होगा कि काव्य की कई कोटियाँ होती हैं जिनमें रस-काव्य श्रेष्ठतम है। नीति-काव्य उस कोटि का नहीं है, क्योंकि उसमें प्रायः रसानुभूति नहीं होती। निष्कर्षस्वरूप कहा जा सकता है कि नीतिकाव्य उत्तम काव्य या रस-काव्य न होता हुआ भी काव्य ही है।

हिंदी नीतिकाव्य में प्रधान रूप से दो प्रकार की शैलियों के प्रयोग मिलते हैं। पहली शैली सीधी-साधी या पद्यात्मक है, जिसमें बिना किसी काव्य-विधान की सहायता के निरीक्षित बात सीधे या उपदेश के रूप में पद्य-बद्ध रहती है। हिंदी नीतिकाव्य में इसी शैली का प्राधान्य है। कबीर, तुलसी, देवीदास, घाघ, गिरिधर तथा विश्वनाथसिंह आदि ने प्रायः इसी का प्रयोग किया है। इसीलिए पंडित रामचंद्र शुक्ल अधिकांश नीतिकारों को पद्यकार कहने के पक्ष में हैं। दूसरी शैली में किसी काव्य-विधान के सहारे नीति के विषय को अधिक आकर्षक और प्रभावशाली बनाकर रक्खा जाता है। वृन्द और रहीम ने प्रधान रूप से इसी शैली का प्रयोग किया है।

उदाहरणों से इन दोनों का अंतर स्पष्ट हो जायगा। गिरिधर की एक कुंडलिया है—

बिना बिचारे जो करै, सो पाछे पछिताय।
काम बिगारै आपनो, जग में होत हँसाय।
जग में होत हँसाय, चित्त में चैन न पावै।
खान पान सम्मान, राग रँग मनहिं न भावै।

---

१. दे० हिंदी सर्वे कमिटी की रिपोर्ट——लाला सीताराम, पृ० ६४, १९३०, प्रयाग।

कह गिरिधर कविराय, दुःख कछु टरत न टारे।
खटकत है जिय माहिं, कियो जो बिना बिचारे।

इसमें बात तो बड़ी सुंदर एवं अनुभूतिपूर्ण है, किन्तु सीधे पद्यात्मक ढंग से कही जाने के कारण चुभने की शक्ति नहीं रखती। वृन्द ने भी अपने दो दोहों में कार्य करने के पूर्व उसके परिणाम एवं कार्यसिद्धि में अपनी क्षमता पर विचार करके प्रारंभ करने का उपदेश दिया है—

फल विचारि कारज करौ, काहु न व्यर्थ अमेल।
तिल ज्यों बारू पेरिए, नाहीं निकसै तेल।।
पीछे कारज कीजिए, पहिले पहुँच बिचार।
कैसे पावत उच्च पद, बावन बाँह पसार।।

इन दोनों दोहों में उदाहरण देने के कारण शैली में आकर्षण एवं प्रभविष्णुता आ गई है। मानना पड़ेगा कि पहली की अपेक्षा जिसे पद्यात्मक शैली कह सकते हैं, दूसरी, जिसे सूक्त्यात्मक शैली कह सकते हैं अधिक अच्छी और काव्योपयोगी है। उपदेशात्मक छंद भी पहली शैली के ही अंतर्गत आते हैं।

साहित्य में अलंकार-प्रयोग की दो प्रवृत्तियाँ दिखलाई पड़ती हैं। एक तो अभिव्यक्ति की पूर्णता के लिए साधन रूप में और दूसरी चमत्कार के लिए साध्य रूप में। पहली प्रवृत्ति ही काव्योचित है। हिंदी नीतिकाव्य में प्रधान रूप से यही प्रवृत्ति मिलती है।

हिंदी नीतिकाव्य का सबसे प्रिय और प्रचलित अलंकार अन्योक्ति है। इसका कारण भी है। नीति में उपदेश की बातें रहती हैं। उन्हें सीधे शब्दों में कहने की अपेक्षा अन्योक्ति के सहारे कहना अधिक शोभन लगता है। इस प्रकार इस अलंकार द्वारा कही गई बातें 'शुगर कोटेड पिल्स' की भाँति बुरी भी नहीं लगतीं और प्रभाव भी डालती हैं। इस अलंकार का प्रयोग तुलसी, रहीम, बिहारी तथा वृन्द आदि बहुत से नीति के कवियों ने किया है किन्तु इस क्षेत्र में सम्राट कहलाने के अधिकारी दीनदयाल गिरि हैं।

हिंदी नीतिसाहित्य में अन्योक्ति के लिए अप्रस्तुत पुराण, व्यवसाय, पशु, ऋतु, वाद्य, नदी, पुष्प तथा कीट आदि अनेकानेक क्षेत्रों से लिए गए हैं।

अर्थान्तरन्यास, उदाहरण तथा दृष्टांत भी नीति-साहित्य में बहुप्रयुक्त अलंकार हैं। अन्य अलंकारों में लोकोक्ति, प्रतिवस्तूपमा, विशेषोक्ति, काव्यलिंग, विकल्प तथा विनोक्ति आदि के भी प्रयोग मिल जाते हैं।

हिंदी नीतिकाव्य के प्रधान छंद दोहा तथा कुंडलिया हैं। कबीर, तुलसी, रहीम तथा वृन्द आदि ने दोहा छंद का प्रयोग किया है और दीनदयाल तथा गिरिधर आदि ने कुंडलिया का। यथार्थतः दोहा ही नीति के लिए सबसे उपयुक्त छंद है। यह न तो इतना छोटा है कि इसमें उचित रीति से भाव व्यक्त ही न किया जा सके और न कवित्त तथा कुंडलिया आदि की भाँति इतना बड़ा है कि विस्तृत रूप देने से भावों की चुभन-शक्ति समाप्त हो जाय। कुंडलिया छंद नीति साहित्य के लिए वहीं अच्छा लगता है जहाँ अन्योक्ति अलंकार का प्रयोग किया जाय। अन्योक्ति के प्रयोग में बात फैलाकर कहने की भी काफी गुंजाइश रहती है। गिरिधर ने बिना अन्योक्ति अलंकार का

प्रयोग किए भी कुंडलिया छंद का प्रयोग किया है और छंद अच्छे तथा नीति साहित्य में महत्व रखने वाले भी हैं। किंतु यथार्थतः उनमें फैलाव के कारण ही प्रभविष्णुता की वह मात्रा नहीं है जो नीति के दोहों एवं अन्योक्ति की कुंडलियों में है। हिंदी नीतिकाव्य में इन छंदों के अतिरिक्त छप्पय, सोरठा, कवित्त तथा सवैया आदि का भी प्रयोग हुआ है। अपवादस्वरूप चौपाई तथा चौपई छंद भी मिल जाते हैं।

हिंदी नीतिकाव्य का अधिकांश ब्रजभाषा में लिखा गया है। रहीम, बीरबल, टोडरमल, रत्नावली, वृन्द, बिहारी, सुंदरदास तथा दीनदयाल गिरि के नीति-छंदों की भाषा ब्रज ही है। तुलसी, नरहरि तथा गिरिधर आदि कुछ थोड़े से कवियों की भाषा अवधी है। नीतिकाव्य के लिए डिंगल का प्रयोग करने वाले प्रमुख कवि बाँकीदास हैं। संत कवियों में सुंदरदास को छोड़कर प्रायः सभी के नीति-छंदों की भाषा में कई बोलियों का मिश्रण है। शब्द-समूह की दृष्टि से इस काव्यधारा की भाषा अत्यंत सरल तथा सुबोध है। इसके जनता में बहुप्रचलित होने का एक रहस्य यह भी है। नीतिकाव्य की भाषा में लोकोक्तियों का प्रचुर प्रयोग हुआ है। इसके कारण वह अधिक आकर्षक, सशक्त तथा व्यावहारिक हो गई है।

समवेत रूप से हिंदी का नीतिकाव्य भाव की दृष्टि से जीवन के प्रायः सभी पक्षों का स्पर्श करने वाला है तथा कला की दृष्टि से वह अपनी आवश्यकता के सर्वथा अनुरूप है।

ख. जीवनी-साहित्य

उपन्यास, नाटक तथा कहानी की भाँति जीवनी-साहित्य आज के युग में साहित्य का एक महत्वपूर्ण तथा रोचक अंग स्वीकृत किया गया है। जीवनी-साहित्य का सबसे बड़ा आकर्षण यह है कि साहित्य के अन्य रूपों में कल्पना के आधार पर लेखक यथातथ्यता एवं स्वाभाविकता लाने का प्रयास करता है, किंतु जीवनी-साहित्य में, यदि ईमानदारी से काम लें तो उसे प्रयत्नशील होने की आवश्यकता नहीं रहती। जीवनी में किसी जीते-जागते, हाड़-मांस के आदमी के यथार्थ जीवन का चित्र प्रस्तुत किया जाता है।

आज का जीवनी-साहित्य प्रमुखतः जीवनचरित्र, आत्मकथा, संस्मरण, डायरी, यात्रा-विवरण तथा पत्र, इन अनेक रूपों में मिलता है।

भारतीय साहित्य में संस्कृत, पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंश में तो 'जीवन-चरित्र' विषयक सामग्री का पूर्णतः अभाव नहीं है किंतु जो सामग्री उपलब्ध है, उसे आज के अर्थ में जीवनी-साहित्य नहीं माना जा सकता। इसका प्रधान कारण यह है कि जीवनी-साहित्य के अंतर्गत आने वाली रचनाओं में यथातथ्य चित्रण का होना अत्यन्त आवश्यक है, किंतु इनमें उसका अभाव है। उदाहरण के लिए राम के जीवन को लें। इन्हें लेकर 'वाल्मीकिरामायण' से लेकर 'अगस्त्यरामायण', 'अद्भुतरामायण' और 'घटरामायण' आदि कितने ही ग्रंथ लिखे गए और सभी में राम के चरित्र का ही चित्रण है, किंतु सभी एक दूसरे से प्रायः दूर और कहीं-कहीं तो विरोधी भी हैं, साथ ही उनमें कवि की कल्पना और काव्यत्व का यथातथ्यता से कहीं अधिक महत्व है। पुराणों के पाँच लक्षणों में 'वंशानुचरित' भी एक है, इसीलिए उनमें सूर्य और चंद्रवंशों के अनेकानेक राजाओं के चित्रण हैं, किंतु वहाँ भी यथार्थता की कमी और अतिशयोक्ति का बाहुल्य है। संस्कृत से लेकर

हुई 'संत सिंगा जी की परचुरी' भी वस्तुतः 'परचई' ही है और इस प्रसंग में उल्लेखनीय है।

अन्य भक्तचरित

भक्तों के चरित संबंधी अन्य ग्रंथों में प्रमुख नाम 'भक्तमाल' का आता है, जिसमें लगभग २०० भक्तों की जीवन-घटनाएँ (पूरी जीवनी नहीं) चित्रित हैं। धर्म-प्रचार ही इसका भी उद्देश्य है, अतः चमत्कारपूर्णता एवं गुणों को बढ़ाकर दिखाने की प्रवृत्ति इसमें भी है। 'भक्तमाल' की टीकाओं—प्रियादास की 'भक्तिरसबोधिनी' या रघुराजसिंह, मियसिंह एवं ध्रुवदास की टीकाओं—में भी वही रूप है, केवल कुछ कथानक या घटनाएँ बदल दी गई हैं। इस प्रसंग में बेणीमाधवदास का 'गोसाईंचरित', तुलसी साहब का 'तुलसीचरित', रूपदास के 'सेवादासचरित्रबोध', 'कबीरचरित्रबोध' तथा ध्रुवदास की 'भक्तनामावली' आदि भी उल्लेख्य हैं। कहना न होगा कि इन सभी में वे ही त्रुटियाँ हैं। इनमें कुछ तो अधिकांशतः कल्पित हैं।

ख्यात तथा वात

ख्यातों और वातों के बहुत से संग्रह राजस्थान तथा कुछ अन्य स्थानों में मिले हैं जिनके विवरण सभा तथा हिंदी विद्यापीठ, उदयपुर की खोज-रिपोर्टों में दिए गए हैं। ये गद्य और पद्य दोनों में हैं। इनमें राजस्थान के विभिन्न राजाओं के संक्षिप्त परिचय हैं, जिनमें कुछ तो ऐतिहासिक आधार पर लिखे जाने के कारण अपेक्षाकृत अधिक यथार्थ हैं और कुछ पूर्णतया कल्पित हैं। उदाहरणार्थ 'उदयपूर की ख्यात' में मेवाड़ के राजाओं का परिचय है। इसमें आरंभ के बहुत से नाम पूर्णतया कल्पित हैं। कुछ अन्य ग्रंथ भी, जिनके नाम के साथ 'ख्यात' या 'वात' नहीं है, इसी श्रेणी में आते हैं। 'विडपसागर' इसी प्रकार का ग्रंथ है जिसमें जोधपुर के राजा अभयसिंह का जीवन-चरित्र है।

बीतक

जीवनी के लिए ख्यात, वात, वार्ता, परचई या स्वयं जीवनी के अतिरिक्त एक शब्द 'बीतक' भी है। 'बीतक' शब्द सं० 'वृत्त' से बना ज्ञात होता है और संत साहित्य में जीवन-वृत्त के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसका इस अर्थ में प्रयोग प्रणामी साहित्य में किया गया है। प्रणामी संप्रदाय के प्रवर्तक प्राणनाथ के तथा उनके गुरु देवचंद के जीवन को लेकर प्रणामी साहित्य में लालदास, ब्रजभूषण, हंसराज, मुकुंद या नौरंगस्वामी तथा लल्लूमहराज द्वारा पाँच बीतकें लिखी गई हैं। इनमें अंतिम बीतक तो गुजराती में है, शेष हिंदी में हैं। जीवनी की दृष्टि से लालदास की बीतक ही सबसे सुंदर है जिसमें पूरा वर्णन है। धर्म तथा प्रचार की दृष्टि से लिखे होने के कारण बीतकों में भी निरपेक्षता नहीं है, इसी कारण केवल गुणों का, वह भी प्रायः बढ़ाचढ़ाकर, वर्णन है।

आत्मकथा

अपने द्वारा लिखी हुई अपनी जीवनी आत्मकथा है। आत्मख्याति से दूर रहने की भावना के कारण आत्मकथा-लेखन की परंपरा भारतवर्ष में बिलकुल नहीं मिलती। यों

कालिदास, बाण, कबीर, सूर, तुलसी, जायसी तथा बिहारी आदि बहुत से लेखकों में उनके जीवन से संबंधित यत्र-तत्र कुछ पंक्तियाँ मिलती हैं जिनके आधार पर उनके जीवन की कुछ बातें स्पष्ट हो जाती हैं, किंतु उन संकेतों को आत्मकथा नहीं माना जा सकता। भारत में लिखे गए प्राचीन जीवनचरितों में 'तुजुकेबाबरी' तथा 'तुजुकेजहाँगीरी' के नाम लिए जा सकते हैं। हिंदी में लिखित प्राचीनतम आत्मकथा कविवर बनारसीदास जैन का 'अर्द्ध कथानक' (सन १६४१ ई० = सं० १६९८ वि०) है। भारत की किसी भी भाषा में इससे पुराना आत्म-चरित नहीं मिलता।

'अर्द्ध कथानक' हिंदी के जीवनी-साहित्य का अमूल्य ग्रंथ है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि रचयिता ने बिना किसी दुराव-छिपाव के अपने जीवन को पाठक के समक्ष रखा है, यहाँ तक कि अपने दुश्चरित्र तथा उसके कारण भयंकर बीमारी में फँस जाने को भी उसने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है।

पत्र का भी जीवनी-साहित्य में स्थान है और हमारे आलोच्य काल में भी अपने घनिष्ठों को अपने जीवन से संबद्ध पत्र अवश्य ही लोगों द्वारा लिखे गए होंगे, किंतु इस तरह के उदाहरण अभी तक नहीं मिल सके हैं, या कम से कम प्रकाश में नहीं आए हैं। यदि मीरां और तुलसी के पत्र-व्यवहार की बात प्रामाणिक हो तो उसे इसका अच्छा उदाहरण माना जा सकता है।

१२. जैन साहित्य

हिन्दी जैन साहित्य का प्रारम्भ सही रूप में १५वीं शताब्दी से होता है। इसके पहले की रचनाएँ या तो अपभ्रंश में हैं या अपभ्रंश से प्रभावित भाषा में हैं, जिसे पुरानी हिन्दी या पुरानी राजस्थानी भाषा भी कहा जा सकता है। यों तो पंद्रहवीं शताब्दी की रचनाओं में भी अपभ्रंश का प्रभाव है, किंतु संवत १४११ वि० (सन १३५४ ई०) की भादों बदी पंचमी को एलिचपुर में रचित कवि सधारू या साधारू के 'प्रद्युम्नचरित्र' की भाषा हिन्दी-प्रधान है। अभी तक प्राप्त हिन्दी जैन रचनाओं में यह सबसे पहली और उल्लेखनीय बड़ी कृति है। इसका रचना-स्थान मध्यप्रदेश का एलिचपुर ही प्रतीत होता है। वास्तव में हिन्दी भाषा का मूल उद्गम स्थान दिल्ली के आसपास उत्तरप्रदेश और मध्यप्रदेश ही है और इन प्रदेशों में रची गई कृतियों की भाषा ही हिन्दी या हिन्दी के अधिक निकट की होना स्वाभाविक है। राजस्थान में अपने प्रदेश की भाषा मारवाड़ी या डिंगल राजस्थानी थी, अतः वहाँ की अधिकांश रचनाएँ राजस्थानी में हैं एवं वहाँ की हिन्दी रचनाओं में राजस्थानी का प्रभाव पाया जाना स्वाभाविक है। अपभ्रंश भाषा जैन विद्वानों द्वारा प्राचीन काल से एक साहित्यिक भाषा के रूप में अपनाई गई थी और दिगम्बर विद्वानों ने उसे सं० १७०० वि० (१६४३ ई०) तक जारी रखा। श्वेताम्बर कवियों ने १३वीं शताब्दी से जब अपभ्रंश या बोलचाल की भाषा में ज्यादा अन्तर हो गया तो जन-साधारण की सुविधा के लिए तत्कालीन गुजरात और राजस्थान की बोलचाल की भाषा को अपना लिया, क्योंकि श्वेताम्बर सम्प्रदाय का प्रचार राजस्थान और गुजरात में ही अधिक था। दिगम्बर सम्प्रदाय के प्रधान केन्द्र उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश में थे।

कवि साधारू

संवत १४११ वि० (१३५४ ई०) में रचित 'प्रद्युम्नचरित्र' की जिन सात प्रतियों का अभी तक पता लगा है, उनमें से दो में तो परवर्ती परिवर्तन पाया जाता है, शेष पाँच में कुछ पाठ-भेद होते हुए भी समानता ही अधिक है। कवि ने अपना नाम, रचना-काल, रचना-स्थान, वंश और पिता, माता आदि का परिचय इस प्रकार दिया है—

> अठदल कमल सरोवर बासु, कासमीरपुर लियो निवासु।
> हंसा चढ़ि कर पुस्तक लेइ, कवि साधारू सारद प्रणमेइ॥
> संवत चवदस दुइ गए, ऊपरि अधिक अग्यारह भए।
> भादव बदि पंचमी तिथि सारू, स्वाति नक्षत्र सनिश्चर वारू॥
> अगरवाल की मेरी जाति, पुरि आगरोह मोहिं उत्पत्ति।
> सुधनु जाणि गुणवइ उर धरयउ, साह महराज घरइ अवतरियउ॥
> एरच्छ नगर वसंते जाण, सुणउ चरित मइ रचिउ पुराण।

इस चरितकाव्य की पद्य-संख्या लगभग ७०० है।

इसके बाद सोलहवीं शताब्दी की रचनाओं में हिन्दी का विकसित रूप दिखाई देता है। अभी तक इस शताब्दी के उत्तरार्द्ध की कुछ ही रचनाएँ प्राप्त हुई हैं, जिनमें कवि ठाकुरसी, छीहल, धर्मदास और गोरखदास के नाम उल्लेखनीय हैं।

छीहल

छीहल राजस्थान के कवि थे। उनकी रचित 'पंचसहेली की बात' एक सुन्दर रचना है। उसमें चन्देरी नगर की मालिन, तँमोलिन, छीपिन, कलालिन और सुनारिन, इन पाँच जातियों की स्त्रियों का पारस्परिक संवाद दिया गया है। इसका रचना-काल सम्वत १५७४ या ७५ वि० (सन १५१७ या १८ ई०) है। इसमें ६५ से ६८ पद्य हैं।[1] प्रस्तुत लेखक के संग्रह की प्रतियों से इसमें काफी पाठ-भेद पाया जाता है और २-४ पद्यों में कमी-बेशी भी है। निम्नलिखित उद्धरण से इसकी भाषा का नमूना देखा जा सकता है—

देख्या नगर सुहावना, अधिक सुचंगा थान।
नाम चंदेरी परगड़ी, सुर नर लोक समान।।
ठामि ठामि मन्दिर शत खड़ा, सोने लखिया जेह।
छीलह ताकी उपमा, कहत न आवै छेह।।
मालण अरु तम्बोलिनी, तीजी छीपन नारि।
चौथी जात कलालिनी, मिली पंचमी सोनारि।।
मिठ्या मन को भावता, कीया सहज बखाण।
अनजाना मूरख हँसै, रीझै चतुर सुजाण।।
संवत पंद्ररह चहुतरेइ (पचोहतरइ), पुन्यु फागुण मास।
पंचसहेली वर्णनी, छीहल किया प्रकास।।

कवि ने अपना परिचय 'बावनी में' इस प्रकार दिया है—

चउरासी अगलइ सइ, जु पन्द्रह संवच्छर।
सुकल पक्ष अष्टमी, मास कातिक गुरु वासर।।
हृदय ऊपनी बुद्धि, नाम श्रीगुरु को लीन्हउ।
नाल्हिग बंसिनाथू सुतनु, अगरवाल कुल प्रगट रवि।
बावनी सुधा रचि बिस्तरी, कवि कंकण छीहल कवि।।५३।।

अन्य रचनाओं में से 'पंथी गीत' में मृधु बिन्दु वाला दृष्टान्त नौ छप्पयों में दिया गया है। तीन और छोटी रचनाएँ 'रे मन गीत', 'उदर गीत' और 'जग सपना गीत' प्राप्त हैं। इनकी भाषा राजस्थानी मिश्रित हिन्दी है। इनमें से 'पंचसहेली की बात' बहुत लोकप्रिय हुई। इनकी

---

१. भारतीय विद्या, वर्ष २, अंक ४ में प्रकाशित।

अनेक प्रतियाँ श्वेताम्बर भंडारों में हैं। 'बावनी' की प्रति प्रस्तुत लेखक के संग्रह में है। शेष रचनाएँ जयपुर के दिगम्बर भंडार में प्राप्त हुई हैं।[१]

कवि ठाकुरसी

ठाकुरसी कवि दिगम्बर जैन खण्डेलवाल पहाड्या गोत्र के जगल्ह कवि के पुत्र थे। इनका 'कृपण चरित्र' प्रसिद्ध है। सं० १५८० वि० (१५२३ ई०) में ३५ छप्पयों में एक कृपण पति और यात्रोत्सुक पत्नी की कथा वर्णित है। दूसरी रचना 'पंचेन्द्रिय बेलि' सं० १५८५ वि० (१५५८ई०), कार्तिक सुदि १३ की है, जिसमें पाँचों इन्द्रियों के विषयों से होने वाली हानि का वर्णन किया गया है। तीसरी रचना 'नेमीश्वर बेलि' में नेमिनाथ और राजुल का जीवन वर्णित है। चौथी रचना 'मेघमाला वृत्तकथा' अपभ्रंश में है। उसकी रचना सं० १५८० वि० (१५२३ ई०), प्रथम श्रावण सुदि ६ को ११ कडवकों में हुई है। इसकी प्रशस्ति के अनुसार ढूँढार देश की चम्पावती (चाटसू नगरी) के मल्लिदास की प्रेरणा से और भट्टारक प्रभाचन्द के उपदेश से यह कथा रची गई।[२] कवि की भाषा के नमूने के लिए 'पंचेन्द्रिय बेलि' का एक पद्य दिया जा रहा है—

दोहरा—वन तरुवर फल खातु फिर, पय पीवतो सुछंद।
परसण इन्द्री प्रेरियो, बहु दुख सहइ गयन्द ।।१।।

चालि—बहु दुख सहे गयन्दो। तसु होइ गई मति मन्दो।।
कागद के कुंजर काजै। पडि खाड़ै सक्यो न भाजै।।
तिहि सही घणी तिसि भूखो। कवि कौन कहै तसु दुखो।।
रखवाला वलम्यो जाण्यो। वेसासि राय धरि आण्यो।।
बंध्यो पगि संकुल घालै। सो किया स सकै चालै।।

लेखक के संग्रह की प्रति में इसका रचना-काल सं० १५८५ की जगह 'पन्द्रह सौ पंचासे' लिखा मिलता है, पर पिचासी वाला पाठ ही अधिक ठीक जान पड़ता है। सं० १५०८ वि० (१४५१ ई०) में रचित 'पार्श्वनाथ राजुल सतावीसी' जयपुर भंडार में सुरक्षित है।

धर्मदास

धर्मदास कवि ने सं० १५७८ वि० (१५२१ ई०) में 'धर्मोपदेश श्रावकाचार'[३] ग्रन्थ बनाया, जिसमें छीहल और ठाकुरसी से हिन्दी का अधिक विकसित रूप मिलता है। धर्मदास नारसैनी जाति का था। पिता का नाम राम और माता का नाम शिवी था। उपर्युक्त ग्रंथ में जैन धर्म के श्रावकों के आचार का वर्णन है। इस कवि की दूसरी रचना 'मदनयुद्ध' लेखक के संग्रह में है जिसके प्रारम्भिक दो पद्य नीचे दिए जा रहे हैं—

---

१. वीरवाणी, वर्ष ८, अंक २४।
२. दे० कवि ठाकुरसी और उनकी रचनाएँ।
३. 'धर्मोपदेश श्रावकाचार' का आदि अंत प्रबन्धकारिणी कमेटी श्री महावीरजी तथा जयपुर से प्रकाशित प्रशस्ति संग्रह के पृ० २२० में प्रकाशित है।

मुनिवर मकरध्वज दुहुन माड़ी रारि, रतिकंत वली अत, उतहिं नवल ब्रह्मचार।
दोउ सुभट दल साजि चले संग्राम, तप तेज सहसय तउ तहि महा भद्र काम ॥१॥
प्रथम जपु परमेष्ठी पंच पंचम गति पाउँ, चतुर्विश जिन नाम चित धरि वरण मनाउँ।
सारद गनि मनिगुन गंभीर गवरी सुत मंचो, सिद्धि सुमति दातार वचन अमृत गुन पंचो॥
गरु गावत मुनि जन सकल जिनको होइ सहाइ, मदन जुझ धर्मदास को वरणतु महि पसार।

ग्वालियर के **चतुरूमल** द्वारा रचित 'नेमीश्वर गीत'[1] का रचना-काल सं० १५७१ वि० (१५१४ ई०) बतलाया गया है, पर वह संदिग्ध है। उसमें महाराजा मानसिंह के राज्यकाल का उल्लेख है।

फफोद के **गौरवदास** रचित 'यशोधरचरित' के सं० १५८१ वि० (१५२४ ई०) में रचे जाने का उल्लेख कामताप्रसाद जैन ने किया है।[2] यह ग्रन्थ लेखक के देखने में नहीं आया, पर हिन्दी का ही होना चाहिए। अन्य बहुत सी रचनाएँ इस सोलहवीं शताब्दी की मिलती हैं, पर उनकी भाषा अपभ्रंश-प्रधान या राजस्थानी है। बहुत सी रोचक वृत्तकथा इसी शताब्दी में अपभ्रंश में लिखी गई, यद्यपि पूर्ववर्ती अपभ्रंश से इनकी भाषा में काफी सरलताएँ दिखाई देती हैं।

१७वीं शताब्दी में हिन्दी जैन साहित्य बहुत अच्छे परिमाण में रचा गया। यद्यपि इस शताब्दी की पूर्वार्ध की रचनाएँ अधिक नहीं मिलतीं, पर उत्तरार्ध में कवि बनारसीदास जैसे प्रौढ़ और उच्चकोटि के कवि उल्लेख योग्य हुए हैं।

मालदेव

श्वेताम्बर हिन्दी रचनाओं का प्रारम्भ तो कवि मालदेव से माना जा सकता है। इनकी भाषा राजस्थानी-प्रधान है। ये कवि भटनेर के वड़गच्छीय शाखा के आचार्य भावदेव सूरि के शिष्य थे। सं० १६१२ वि० (१५५५ ई०) के आसपास इन्होंने प्राकृत, संस्कृत और राजस्थानी में करीब २० रचनाएँ लिखीं। ये बहुत अच्छे कवि थे। अपनी रचनाओं में इन्होंने सुभाषित भी बहुत से दिए हैं जिनमें से कुछ इनके स्वरचित भी हैं। उदाहरणार्थ कुछ पंक्तियाँ नीचे उद्धृत की जा रही हैं—

मीठा भोजन शुभ वचन, मीठा बोली नारि।
सज्जन संगति माल कहै, किस ही न प्यारे चारि॥
मुओ सुत्त खिण इक दहै, बिन जायो पुनि तेउ।
देह जनम लगु मूढ़ सुत, सो दुख सहीयइ केउ॥
आगति थोड़ी खर्च बहु, जिसि धरि दीसै एम।
तिस कुटुम्ब का माल कहि, महिमा रहसी केम॥
माल न पहीलइ कछु किय, पीछेइ आवइ गालि।
पाणी जइ किरि बहि गयउ, तऊ क्या बंधइ पालि॥

---

१. आदि अंत, वही पृ० २३१।
२. हिंदी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, पृ० ६८।

मालदेव रचित राजस्थानी हिन्दी की रचनाएँ इस प्रकार हैं—१. पुरन्दर चौपाई, जो सबसे अधिक प्रसिद्ध हुई, २. सुरसुन्दरी चौपाई, ३.वीरांगद चौपाई (सं० १६१२ वि० =१५५५ ई०), ४.भोजप्रबन्ध (२००० श्लोक पंचपुरी), ५.विक्रमपंचदंड चौपाई (१७३७ या १७२५ गाथा), ६.देवदत्त चौपाई, ७.धनदेव.पद्मरथ चौपाई, ८.सत्य की चौपाई, ९.अंजना सुन्दरी चौपाई, १०.मृगांकपदमावती रास, ११.पद्मावतीपद्मश्री रास, १२.अमरसेन वयर-सेन चौपाई, १३.स्थूलिभद्र धमाल चौपाई, १४.राजुलनेमिनाथ धमाल, १५. बालशिक्षा चौपाई, १६.शीलबावनी, १७.बृहद्गच्छीयगुर्वावली, १८. महावीरपारषा आदि।[1]

रायमल

इसी प्रकार रायमल नाम के दिगम्बर कवि की रचनाएँ भी राजस्थानी-हिन्दी मिश्रित भाषा में हैं, जिनका रचना-काल सं० १६१५ से १६३३ वि० (१५५८ से १५७६ ई०) है। 'प्रद्युम्न-रासो' (सं० १६६८ वि०=१६११ ई०) हरसोर गढ़ में, 'श्रीपाल रासो' (सं० १६३० वि०= १५७३ ई०) रणथंभोर में और 'भविसयत्त कथा' (सं० १६३३ वि०=१५७६ ई०) सांगानेर में रची गई। अतः निश्चित है कि वे राजस्थान के निवासी थे। वे मुनि अनन्तकीर्ति के शिष्य थे। इनकी अन्य रचनाओं में 'नेमीश्वर रास' (सं० १६१५ वि०=१५५८ ई०), 'हनुमंत कथा' (सं० १६१६ वि०=१५५९ ई०), 'सुदर्शन रासो' (सं० १६२८ वि०=१५७१ ई०), 'निर्दोष सप्तमी कथा' (सं० १६स्वप्न) आदि जयपुर के भण्डारों में प्राप्त हैं।[2]

पांडे राजमल

सं० १६२० वि० (१५६३ ई०) के आसपास पाण्डे राजमल एक अच्छे विद्वान हो गए हैं, जिनके रचे हुए संस्कृत ग्रंथ 'लाटीसंहिता', 'जम्बूस्वामी चरित्र', 'आध्यात्मकमलमार्तण्ड' और 'पंचाध्यायी' प्रसिद्ध हैं, पर हिन्दी साहित्य को भी इन्होंने एक बहुमूल्य देन दी है। श्वेता-म्बर विद्वानों ने तो अपने लोकोपयोगी ग्रन्थों की भाषाटीकाएँ १५वीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही लिखनी शुरू कर दी थीं और वे पुरानी राजस्थानी के गद्य में हैं। दिगम्बर विद्वानों में हिन्दी में भाषा टीका बनाने का सबसे पहला श्रेय पांडे राजमल को ही प्राप्त है। इन्होंने कुन्दकुन्दाचार्य के सुप्रसिद्ध आध्यात्मिक ग्रन्थ 'समयसार' की भाषा टीका बनाई। कविवर बनारसीदास को सबसे पहले आध्यात्माभिमुख करने वाली यही टीका थी। उन्होंने 'आत्मकथा' में और 'समयसार' के अपने पद्यानुवाद में इसका उल्लेख किया है। उनके साथ कुँअरपाल के कहने से सं० १७०९ वि० (१६५२ ई०) में जो 'प्रबन्धसार' की वचनिका हेमराज ने बनाई उसमें भी इससे पहले की एकमात्र भाषा टीका के रूप में इसका उल्लेख है। हिन्दी जैन गद्य की प्राप्त रचनाओं में यह प्राचीनतम रचना है। इस दृष्टि से राजमल की देन उल्लेखनीय है। इस बालबोधिनी भाषा टीका का गद्य इस प्रकार है—

"यथा कोई जीव मदिरा पीवाइ करि अविकल कीजै छै, सर्वस्व छिनाइ लीजै छै।

---

१. दे० शोधपत्रिका में प्रकाशित लेखक का 'वाचक मालदेव और उनके ग्रन्थ' शीर्षक लेख।

२. दे० वीरवाणी, वर्ष २, पृ० २३१।

पद तें भ्रष्ट कीजै छै तथा अनादि ताई लेई करि सर्व जीव राशि राग द्वेष मोह अशुद्ध परिणाम करि मतवालो हुओ छै, तिहि तै ज्ञानावरणादि कर्म को बंध होइ छै।"

आपकी दूसरी उल्लेखनीय रचना 'छन्दोविद्या' है जो छन्द-शास्त्र की अनुपम रचना है। कवि ने इसे संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी, चार भाषाओं में ग्रन्थित किया है। अनेक भाषाओं में ऐसी रचना शायद ही कोई अन्य हो। कवि और उसकी अन्य रचना के सम्बन्ध में 'आध्यात्मकमलमार्तण्ड' की भूमिका देखनी चाहिए। राजमल नागौर, वैराट आदि में रहे थे, इसलिए उनकी 'समयसार' की भाषा टीका में ढूंढारी के "छै' आदि शब्दों का प्रयोग देखने को मिलता है। इस टीका की सं० १६५३ वि० (१५९६ ई०) की लिखी प्रति अजमेर भंडार में है।

पांडे जिनदास

सं० १६४२ वि० (१५८५ ई०) में पाण्डे जिनदास ने 'जम्बूस्वामीचरित्र' बनाया। ये ब्रह्मचारी शान्तिदास के शिष्य थे। मथुरा में इस ग्रन्थ की रचना हुई। अतः इसकी भाषा शुद्ध हिन्दी है। इसकी पद्य संख्या ५०३ है। इनकी दूसरी रचना 'जोगी रासा' भी बहुत सुन्दर है। 'मालीरासा', 'पदसंग्रह' आदि इनकी अन्य रचनाएँ भी प्राप्त हैं। 'जोगीरासा' के दो पद्य इस प्रकार हैं—

चेतन पड़ियो अचेतन की फंदि, जित खँचै तिह जाई।
मोहफंद गले लगै रे भाई, में में में बिललाई।।
तत्त ग्रंथ महि बसूं निरंतर, चेतन दीपग जोऊं।
मिथ्या तम बल दूरि करे पिउं, परम समाधिन्ह सोऊं।।

कवि कृष्णदास

सं० १६५१ वि० (१५९४ ई०) में लाहौर में भोजग कृष्णदास ने 'दुर्जन सप्त बावनी' बनाई। इन्हीं की संवत १६६९ वि० (१६१२ ई०) की एक अन्य रचना 'दानादि रास' भी है। इस रचना में कविवर समयसुन्दर के 'दानादि संवादशतक' का अनुकरण किया गया प्रतीत होता है। दान, शील, तप और भाव, इन चार धर्मों का पारस्परिक संवाद इस रचना में कराया गया है, यथा—

दान शील तप भाव का, रासा सुणे जि कोई।
तिसके घर में सदाही, अक्षय नवनिधि होई।।

कृष्णदास की 'दुर्जनसाल बावनी'[१] में, ओसवाल जड़िया गोत्र के दुर्जनसाल की प्रशंसा और उसके वंश तथा उसकी सुकृतियों का वर्णन है। इसी कवि की सं० १६६८ वि० (१६११ ई०) में लाहोर में लिखी हुई 'आध्यात्म बावनी'[२] भी, जो हीरानन्द संघपति के नाम से रची गई है, प्राप्त है।

---

१. आदि अंत के लिए दे० जैन गुर्जर कवियो, भाग १, पृ० ३००।
२. वही, भाग १, पृ० ४०७।

कवि दामो

सं० १६६५ वि० (१६०८ ई०) में अंचलगच्छ के भीमरत्न के शिष्य उदयसमुद्र के शिष्य दामो कवि ने जिनका दीक्षा नाम दयासागर था, 'सुरपतिकुमार चौपाई' पद्मावतीपुर में और 'मदनकुमार रास' लाहौर में रचा। 'मदनकुमार रास' की प्रशस्ति में जिस 'मदनशतक' वार्ता के १०१ दोहे इससे पहले रचे जाने का उल्लेख है, वह हिन्दी की रचना है। उसमें कथा-प्रसंग को जोड़ने के लिए गद्य का भी प्रयोग हुआ है। उदाहरण इस प्रकार है—

"अमरपुर नगर तिहा रत्नसिंह राजा गुनमंजरी नाम रानी ताको सुत मदनकुमार यौव-नवंत भयो। तब श्री कामदेव सुपने में आइकै कह्यौ। मदनकुमार तूं अपनो राज्य देश छोड़ि कै परदेश जाहु तोकूं नफा है अरु वहाँ रह्याँ तोकूं केइक दिन सुख नाहीं कष्ट है। एतो कहि कामदेव अदृस भयो। अरु मदनकुमार प्रात समैं मातपिता सुं बिना मिल्यां एक सुक साथि लेकै चल्यौ। आगे चलतां श्रीपुर नगर के विषै जनानन्द वन ताकै बीचि श्री कामदेव को प्रसाद तहाँ मदनकुमार सूआ कुं दरवाजे बैठाय कै आप देवल भीतर सोया तिन समै नगरराय की बेटी रतिसुन्दरी नाम पूजा करन कुं आई।"[1]

जैसा कि पहले कहा गया है, श्वेताम्बर सम्प्रदाय का प्रचार राजस्थान और गुजरात में अधिक होने से श्वेताम्बर रचनाओं की भाषा राजस्थानी गुजराती ही अधिक रही है, पर माल-देव कवि भटनेर में रहता था और उसके गुरु भावदेव सूरि मुसलमान कामरां के यहाँ पहुँचे थे। भटनेर, सरसा का पंजाब से निकट सम्पर्क था। अतः मालदेव की रचना में हिन्दी भी दिखाई देती है। इस समय के आसपास हिन्दी के गेय पद खूब लोकप्रिय बन चुके थे। इसलिए कई श्वेताम्बर कवियों ने भी हिन्दी में गेय पदों की रचना की है। सं० १६६८ वि० (१६११ ई०) में जैनाचार्य हरिविजय सूरि सम्राट अकबर से मिले थे। इसके बाद जैन मुनियों से उनका निरन्तर सम्बन्ध बना रहा। सं० १६४८-४९ वि० (१५९१-९२ ई०) में खरतरगच्छ के जिनचन्द्र सूरि ने भी अकबर से भेंट की थी। उनके साथ कविवर समयसुन्दर आदि भी थे। यह भेंट लाहौर में हुई थी। सम्राट अकबर और उनके सभासद हिन्दी भाषी थे। उधर पंजाब में हिन्दी प्रचलित थी। श्वेताम्बर जैन कवियों को इसी कारण हिन्दी में पत्र लिखने की अधिक प्रेरणा मिली।

समयसुन्दर

कविवर समयसुन्दर के जिनचन्द सूरि और अकबर के मिलन के गीत और अष्टक आदि हिन्दी में हैं। सं० १६५६ वि० (१५९९ ई०) में अहमदाबाद में रचित २४ तीर्थंकरों के गेय पद भी हिन्दी में ही हैं। समयसुन्दर के 'ध्रुवपद छत्तीसी' के पद और अन्य फुटकर रचनाएँ भी प्राप्त हैं। आपके पदों की भाषा ब्रज है, पर कुछ खड़ीबोली की भी रचनाएँ प्राप्त हुई हैं, उदाहरणार्थ—

---

१. दे० कल्पना वर्ष ६, अंक ४, में लेखक का 'मदनशतक का गुप्त प्रेम-पत्र' शीर्षक लेख।

वे मेवरे काहेरी सेवरे, अरे कहाँ जात हो उतरवरे, टुक रहो नइ खरे।
हम जाते बीकानेर साहि जहांगीर के भेजे, हुकम हुया फुरमाण जाइ मानसिंघ कुं देजे।
सिद्धसाधक हउ तुम्ह चार मिलगे की हमकुं, वेगि आयउ हम पास लाभ देऊँगा तुमकुं ॥१॥
वे साहुकार काहे खूनकार, अरे हमको वतावइ नइ कहां जिन संघसूरि का दरवार ॥२॥

समयसुन्दर १७वीं शताब्दी के वहुत वड़े कवि और विद्वान थे। इनकी सं० १६४१ से सं० १७०० वि० (१५८४ से १६४३ ई०) तक की सैकड़ों छोटी-मोटी रचनाएँ, जिनका परिमाण लाखों श्लोकों के वरावर है, प्राप्त हुई हैं।[1]

कुशललाभ

समयसुन्दर से पूर्ववर्ती कवि कुशललाभ की 'ढोलामारू चौपाई', 'माधवानल चौपाई' आदि रचनाएँ राजस्थानी में हैं। पर इनकी एक हिन्दी रचना भी 'स्थूलिभद्र छत्तीसी' नाम की प्राप्त हुई है, जिसका विवरण प्रस्तुत लेखक द्वारा सम्पादित 'राजस्थान में हिन्दी के हस्त-लिखित ग्रन्थों की खोज' (भाग ४, पृ० १०५) में प्रकाशित है।

कविवर बनारसीदास

सर्वोत्तम जैन कवि बनारसीदास श्वेताम्वर श्रीमाल कुल में माघ सुदी ११ को जौनपुर में उत्पन्न हुए थे। इनके पिता का नाम खरगसेन और गुरु का नाम खरतरगच्छीय भानुचन्द्र था। कवि-प्रतिभा इनमें वहुत छोटी उम्र में ही प्रकट हो चुकी थी। चौदह वर्ष की उम्र में नवरसमय १००० दोहा चौपाई बना लेना इनकी असाधारण प्रतिभा का द्योतक है। पाँच वर्ष वाद आत्म-ज्ञान होते ही इन्होंने इस शृंगारिक प्रथम रचना को गोमती की धारा में प्रवाहित कर दिया। आपकी प्राप्त रचनाओं में 'नाममाला' ही सर्वप्रथम है, जो मित्र नरोत्तम दास खोवरा और थानमल दालिया के कहने से सं० १६७० वि० (१६१३ ई०) की विजयदशमी को रचकर समाप्त की गई थी। यह धनंजय की 'नाममाला' और 'अनेकार्थनाममाला' के आधार पर रचित १७६ दोहों का एक छोटा सा शब्दकोश है। उपलब्ध हिन्दी जैन कोश ग्रन्थों में यह सबसे पहला है। वीर सेवा मन्दिर से यह प्रकाशित हो चुका है।

इनकी फुटकर रचनाओं का संग्रह 'बनारसीविलास' में हुआ है। सं० १६८० वि० (१६२३ ई०) में ये अपनी ससुराल खैरावाद में गए तो वहाँ के अध्यात्म-प्रेमी अर्थमल ढोर ने इन्हें 'समयसार' की राजमल्ली भाषा टीका की प्रति दी और तभी से इनमें शुद्ध आध्यात्म के प्रति आकर्षण बढ़ा, यहाँ तक कि धार्मिक नित्यनियम, प्रतिक्रमण, पूजा-पाठ छोड़ ये निश्चयनया-वलम्बी अध्यात्म में सराबोर हो गए। उस समय की विचित्र सी परिस्थिति के कारण लोग इन्हें खोसरा मति कहने लगे थे। सं० १६९२ वि० (१६३५ ई०) में पंडित रूपचंद आगरा आए। उनके सम्पर्क में आने से ये अपने एकान्त निश्चय को अयुक्त समझ निश्चय और व्यवहार के समन्वय मार्ग के पथिक बन गए। सं० १६९३ वि० (१६३६ ई०) में अपने आध्यात्मिक साथी

---

१. दे० लेखक द्वारा संपादित समयसुन्दर कृत 'कुसुमांजलि' जिसमें ५६३ रचनाएँ संगृहीत हैं।

रूपचंद, चतुर्भुजदास, भागवतीदास, कुंवरपाल और धर्मदास, इन पाँच व्यक्तियों की प्रेरणा से इन्होंने अपना सर्वोत्कृष्ट और सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'नाटक समयसार' रचा। यह विशुद्ध आध्यात्मिक ग्रन्थ है। मूल ग्रन्थ के हार्द को पूर्णतया आत्मसात करके एक स्वतंत्र शैली में इसकी रचना की गई है। इसमें दोहा, सोरठा, छप्पय, अडिल्ल, कुंडलिया, चौपाई, सवैया और कवित्त छंदों में लिखे गए १७६० पद्य हैं। काव्य-कला की दृष्टि से यह सर्वांगसुन्दर रचना है। इसमें स्वानुभव को ही आत्मसिद्धि का द्वार बतलाया गया है। सकवि और कुकवि के सम्बन्ध में कवि ने अपने भाव इस प्रकार व्यक्त किए हैं—

प्रथमहि सुकवि कहावै सोई, परमारथ रस वरणै जोई।
कलपित भाव हिए नहिं आनै, गुरु परम्परा रीति बखानै।
सत्यारथ शैली नहिं छांड़ै, मृषा वाद सों प्रीति न मांड़ै॥
छंद सबद अच्छर अरथ, कहै सिद्धान्त प्रमान।
जो यह विधि रचना रचै, सो है सुकवि सुजान॥
अब सुनु कुकवि कहौं है जैसा, अपराधी हिय अंध अनैसा।
मृषा भाव रस बरनै हित सों, नई उकति उपजावै चितसों।
ख्याति लाभ पूजा मन आनै, परमारथ पद भेद न जानै।
बानी जीव एक करि बूझै, जाको चित जण ग्रंथ न सूझै॥

इससे जैन कवियों की रचना के आदर्श का स्पष्ट चित्र खिंच जाता है। रस-रीति, नायिका-भेद आदि श्रृंगारिक विषयों को न अपनाकर शान्त रस और चरितकाव्यों की ओर ही उनका अधिक झुकाव क्यों रहा, इसका कारण भी स्पष्ट हो जाता है। भैया भगवतीदास ने तो केशवदास के श्रृंगारिक वर्णन की आलोचना करते हुए यहाँ तक कह दिया है—

बड़ी नीति लघु नीति करत है, वाय सरत बदबोय भरी।
फोड़ा आदि फुनगुनी मंडित, सकल देह मनु रोग दरी॥
शोभित हाड मांस मय मूरत, तापर रीझत घरी घरी।
ऐसी नारि निरख कर केशव, 'रसिकप्रिया' तुम कहा करी?

जिस साहित्य से मनुष्य की तामसिक वृत्तियों को प्रोत्साहन मिले वह शब्द, अलंकार आदि से कितना भी सुन्दर और सरस हो, सच्चे साहित्य की परिभाषा में नहीं आ सकता। जिसके निर्माण में मानव के कल्याण की भावना हो, वही साहित्य है। इसी कारण कविवर बनारसीदास ने अपने विलासी जीवन की श्रृंगारिक कविताओं को गोमती में बहा दिया था।

हिन्दी साहित्य को बनारसीदास की एक महत्वपर्ण देन उनका 'अर्ध कथानक' नामक आत्मचरित है। ६७५ पद्यों की यह रचना सं० १६९८ वि० (१६४१ ई०) में हुई थी। इसमें ५५ वर्ष के जीवन की सभी अच्छी-बुरी उल्लेखनीय घटनाओं को खुले दिल से प्रकट किया गया है। हिन्दी साहित्य में ही नहीं, भारतीय साहित्य में भी इतना पुराना और इस ढंग का कोई आत्म-चरित नहीं मिलता। इस ग्रन्थ के अन्त में इन्होंने तीन तरह के मनुष्य बतलाते हुए अपने को मध्यम श्रेणी का माना है। वे कहते हैं—

जे पर दोष छिपाइकै, परगुन कहैं विशेष।
गुन तजि निज दूषन गहैं, ते नर उत्तम भेष ॥६६७॥
जे भाखहिं पर दोष-गुन, अरु गुन-दोष सुकीउ।
कहहिं सहज ते जगत में, हमसे मध्यम जीउ ॥६६८॥
जे परदोष कहैं सदा, गुन गोपहिं उर बीच।
दोस लोपि निज गुन कहैं, ते जग में नर नीच ॥६६९॥

इस ग्रन्थ का नाम 'अर्ध कथानक' क्यों रखा गया, इसके विषय में कवि ने स्वयं कहा है कि शास्त्र के अनुसार वर्तमान समय में मनुष्य की अधिक से अधिक आयु ११० वर्ष है। इस ग्रन्थ में अपनी आधी आयु अर्थात ५५ वर्ष का वृत्तान्त दिया गया है, इस कारण इसका नाम 'अर्धकथानक' रखा गया है। स्पष्ट है कि कवि इसके बाद अधिक नहीं जिए। उनकी अन्तिम रचना सं० १७०० वि० (१६४३ ई०) की है और उनकी फुटकर रचनाओं का संग्रह जगजीवन अग्रवाल ने सं० १७०१ वि० (१६४४ ई०) की चैत सुदी २ को 'बनारसीविलास' नाम से तैयार किया। अत: वि० सं० १७०० और १७०१ (सन १६४३ और ४४ ई०) के बीच में ही इनका स्वर्गवास हो गया जान पड़ता है। 'बनारसीविलास' में ५७ रचनाओं का संग्रह है, जिनमें से 'सूक्तिरत्नावली' का अनुवाद इन्होंने अपने आध्यात्मिक मित्र कुँवरपाल के साथ मिल कर किया था। 'ज्ञानबावनी' की रचना कदाचित पीताम्बर कवि ने इनके आशय को लेकर सं० १६८६ वि० (१६२९ ई०) में की थी।

'बनारसीविलास' में दो रचनाएँ—'परमार्थवचनिका' और 'निमित्तउपादान शुद्धाशुद्ध-विचारउपनिका' गद्य में हैं। तत्कालीन गद्य शैली को जानने के लिए इनका विशेष महत्व है। उसके कुछ उद्धरण नीचे दिए जाते हैं—

"मिथ्या दृष्टि जीव अपनो सरूप नाहीं जानतो ताते पर स्वरूप विषै मगन होय करि कार्य मानतु है। ता कार्य करतो थको अशुद्ध व्यवहारिक कहिए। सम्यक दृष्टि अपनौ स्वरूप परोक्ष प्रमाण करि अनुभवतु है। आगम वस्तु कौ जो स्वभाव सो आगम कहिए। आत्मा को जो अधिकार सो अध्यात्म कहिए।

अनन्तता को स्वरूप दृष्टान्त करि दिखाइयतु है, जैसे बट वृक्ष को बीज एक हाथ विषै लीजै, ताको विचार दीर्घ दृष्टि सौं कीजे। तौ वा बट वृक्ष के बीज वीषै एक वट को वृक्ष है। सो वृक्ष जैसो कुछ भावी काल होनहार है तैसो विस्तार लिए विद्यमान वामैं वास्तव रूप छतौ है। अनेक शाखा, प्रशाखा, पत्र, पुष्प, फल संयुक्त है। फल फल विषै अनेक बीज होई।"

बनारसीदास एक आध्यात्मिक पुरुष होने से कबीर आदि सन्तों की भाँति समन्वयवादी थे। उन्होंने कहा है—

एक रूप हिन्दू-तुरुक दूजी दशा न कोय, मन की द्विविधा मानकर भए एक सों दोय। ७।
दोऊ भूले भरम को करैं वचन की टेक, राम राम हिंदू कहैं, तुर्क सालामालेक। ८।
इनके पुस्तक बाँचिए, वोहू पढ़ें कितेब, एक वस्तु के नाम द्वय जैसे शोभा जेब। ९।
तिनको द्विविधा जे लखै, रंग-बिरंगी चाम, मेरे नैनन देखिए, घट घट अन्तर राम। १०।

बनारसीदास की फुटकर रचनाएँ अनेक नाम, रूप और शलियों की हैं। साहित्य रचना के प्रकारों का अध्ययन करने के लिए इनका विशेष महत्व है।[१]

कवि रूपचंद

बनारसीदास ने 'समयसार'[२] की रचना में जिन पाँच व्यक्तियों की प्रेरणा का उल्लेख किया है उनमें से पहले रूपचंद स्वयं एक अच्छे कवि थे। 'समोसरण' नामक संस्कृत पूजापाठ की प्रशस्ति के अनुसार इनका जन्म कुहा नामक देश के सलेमपुर में हुआ था। अग्रवाल वंशीय गर्ग गोत्रीय मामट के पुत्र भगवानदास की दूसरी पत्नी चाचो इनकी माता थीं। ज्ञान-प्राप्ति के लिए ये बनारस गए और विद्वान बनकर दरियापुर लौटे। सं० १६९२ वि० (१६३५ ई०) में आगरा आने पर ये तिहुना साहु के मन्दिर में ठहरे और जिज्ञासुओं के अनुरोध से इन्होंने 'गोमहसार' ग्रन्थ पर प्रवचन किया। उसी समय बनारसीदास इनके सम्पर्क में आए और इनकी स्यादवादी वस्तुतत्व-विवचन शैली से प्रभावित हुए। सं० १६९४ वि० (१६३७ ई०) में इनका स्वर्गवास हो गया। इनका 'रूपचन्दशतक' एक सौ दोहों का एक सुन्दर ग्रन्थ है। 'पंचमंगल पाठ' एक दूसरी प्रसिद्ध रचना है। तीसरी रचना 'नेमिनाथ रास', चौथी 'वणजारा रासा' तथा पाँचवीं 'पदसंग्रह' है। 'पदसंग्रह' में लगभग १०० गेय पद हैं। फुटकर रूप में इनकी जकड़ी, खटोलना गीत आदि सुन्दर आध्यात्मिक रचनाएँ प्राप्त हैं। उदाहरण के लिए नीचे 'शतक' के दो दोहे दिए जा रहे हैं—

सेवत विषय अनादि तें, तिसना कभी न बुझाय।
ज्यों जलतें सरितापती, ईंधन सिखि अधिकाय ॥२९॥
पर की संगति तुम गए, खोए अपनी जाति।
आपा पर न पिछानहू, रहे प्रमादनि माति ॥४२॥

कुँवरपाल

बनारसीदास के दूसरे आध्यात्मिक मित्र कुँवरपाल आगरे के निवासी ओसवाल चोरड़िया अमरसिंह के पुत्र थे। ये भी बनारसीदास की भाँति मूलतः श्वेताम्बर थे। आध्यात्मिक प्रवृत्ति और रूपचंद तथा बनारसीदास के सम्पर्क के कारण इनका आकर्षण दिगम्बर आध्यात्मिक ग्रन्थों के प्रति हो गया। 'मेघविजय' के कथनानुसार बनारसीदास के बाद उनके मत-संचालक कुँवरपाल ही हुए, अतः बनारसी-मतानुयायियों में वे गुरु के समान मान्य हुए। बनारसीदास का मत पहले आध्यात्मी मत के नाम से प्रसिद्ध हुआ, फिर १३ बातों को लेकर इसका नाम 'तेरह पंथ' पड़ गया। यह मत इतना अधिक फैला कि थोड़े ही समय में मुलतान आदि दूर दूर तक इसके अनुयायी अनेक श्वेताम्बर दिगम्बर बन गए। आध्यात्मिक भाषा ग्रन्थों और तात्विक ग्रन्थों की भाषा टीकाओं की रचना इस मत के अनुयायियों ने ही सब से अधिक की। दिगम्बर सम्प्रदाय में भट्टारकीय परम्परा 'बीस पंथ' की तरह इन अध्यात्म वादियों की परम्परा 'तेरह' पंथ नाम से प्रसिद्ध है और इसके लाखों अनुयायी हैं।

---

१. इनका 'मोहविवेक' ग्रन्थ वीरवाणी में छप चुका है।
२. प्रेमी जी के अनुसार यह रचना इनकी नहीं है।

कुँवरपाल स्वयं भी कवि थे। सं० १६८५ वि० (१६२८ ई०) में रचित इनका एक गुटका लेखक के संग्रह में है, जिसमें इनकी एक रचना 'सम्यक बत्तीसी' और दो गेय पद मिले हैं। 'सम्यक बत्तीसी' की रचना सं० १६८१ वि० (१६२४ ई०) की फाल्गुन सुदी २ को हुई। इसमें इन्होंने अपना परिचय देते हुए लिखा है—

खिति मधि ओसवाल अति उत्तम, चोरोडिया विरुद बहु दिज्जइ।
गोडीदास अंस गरवातन, अमरसिंह तस नन्द कहिज्जइ॥
पुरि पुरि कुँवरपाल जस प्रकटौ, बहु विधि तास वंश वरणीजै।
धरमदास जस कँवर सदा धनि, बरस आखा जिन कीज़इ॥

कुँवरपाल के भाई **धर्मदास** थे और उनका उल्लेख भी बनारसीदास ने अपने पाँच मित्रों में कुँवरपाल के बाद ही किया है। 'अर्धकथानक' के अनुसार आगरे में बनारसीदास ने कुछ समय तक इन धर्मदास के साझे में जवाहरात का व्यापार किया था। पाँच पुरुषों में उल्लिखित **चतुर्भुज** और **भगवतीदास**, दो और थे। इनमें चतुर्भुज की तो कोई रचना नहीं मिलती किंतु भगवतीदास नाम के दो-तीन कवि हो गए हैं, जिनमें से एक इनके सम-सामयिक अच्छे कवि थे। यद्यपि उनकी रचनाओं में आध्यात्मिक प्रभाव नहीं दिखाई देता, इसलिए वे बनारसीदास के उल्लिखित भगवतीदास से भिन्न भी हो सकते हैं, पर समकालीन होने के नाते उनका परिचय भी यहाँ दिया जाता है।

भगवतीदास

भगवतीदास अग्रवाल बंसल गोत्रीय किशनदास के पुत्र थे। मूलत: वे महेन्द्र बूढ़िया जिला अम्बाला के निवासी थे, किंतु बाद में दिल्ली आ बसे थे। वहाँ के भट्टारक सेन का उल्लेख उन्होंने अपने गुरु के रूप में किया है। जहाँगीर और शाहजहाँ के राज्यकाल में निर्मित उनकी २३ रचनाएँ मिली हैं। इनमें से अन्तिम 'मृगांकलेखाचरिउ' अपभ्रंश की रचना है जो १७०० वि० (१६४३ ई०) में लिखी गई थी। शेष रचनाएँ हिन्दी की हैं। अधिक रचनाएँ रास संज्ञक हैं। रचनाओं के नाम इस प्रकार हैं—१. टदाणां रास, २. आदित्यव्रत रास, ३. पखवाड़ा रास, ४. दस लक्षण रास, ५. खिचड़ी रास, ६. समाधि रास, ७. जोगी रास, ८. मनकरहा रास, ९. रोहिणीव्रत रास, १०. चतुर वणजारा, ११. द्वादस अनुपेक्षा, १२. सुगन्ध दसवीं कथा, १३. आदित्यवार रास, १४. अनथमी कथा, १५. चूनड़ी (सं० १६८० वि०=१६२३ ई०), १६. राजिमति नेमिसर धमाल, १७. सज्ञानी धमाल, १८. आदिनाथ स्तवन, १९. शान्तिनाथ स्तवन, २०. लघु सीतासतु (सं० १६८७ वि०=१६३० ई०), २१. बृहद सीतासतु (सं० १६८४ वि०=१६२७ ई०), २२. अनेकार्थ नाममाला (सं० १६८७, वि०=१६३० ई०, पद्य २५६)। 'सीतासतु' में सीता के सतीत्व का वर्णन बहुत सरस और सजीव है और 'अनेकार्थ नाममाला' तीन अध्यायों का सुन्दर कोश ग्रन्थ है।[1]

इन्हीं भगवतीदास के हाथ का लिखा ग्रन्थ, एक गुटका मैनपुरी के शास्त्र-भंडार में

---

१. दे० अनेकान्त, वर्ष ११, पृ० २०५।

है, जो सं० १६८० वि० (१६२३ ई०) की जेठ सुदि नवमी को संकिसा में लिखा गया था। इसमें इनकी १९ रचनाएँ तथा उनके अतिरिक्त 'अनन्तचतुर्दशी चौपाई' और 'वीरजिनेन्द्र गीत' संकलित हैं।

कुँवरपाल के कहने से पांडे रूपचंद के शिष्य, पांडे हेमराज ने 'चौरासी बोल' और 'प्रवचनसारटीका' (सं० १७०९ वि० = १६५२ ई०) की रचना की। 'भाषा भक्तामर पंचास्तिकाय टीका' तथा 'सन्देहसार नयचक्र वचनिका' नामक इनकी दो रचनाएँ और मिलती हैं। इसी प्रकार 'बनारसीविलास' के संग्रहकर्ता **जगजीवन** की प्रेरणा से **हीरानन्द** ने 'पंचास्तिकाय' की भाषा टीका सं० १७११ वि० (१६५४ ई०) में आगरे में लिखी। जगजीवन जाफरखाँ के दीवान थे।

नाहर जटमल

पंजाब में श्वेताम्बर ओसवाल नाहर जटमल हिन्दी साहित्य के प्रसिद्ध कवि हो गए हैं, जिनकी 'गोराबादल की बात' (सं० १६८० वि० = १६२३ ई०, सिम्बुल ग्राम) अत्यन्त प्रसिद्ध और प्रकाशित रचना है। ये मूलतः लाहौर के निवासी थे, पीछे जलालपुर में रहने लगे थे। लाहौर नगर का वर्णन इन्होंने 'लाहौर गजल' में बहुत ही सुन्दर रूप में किया है। उपलब्ध नगर-वर्णनात्मक हिन्दी गजलों में यह सबसे पहली रचना है। बाद में इसके अनुकरण में इसी छंद, शैली और भाषा में विविध नगरों से संबधित ५० से भी अधिक नगर वर्णनों की गजलें अनेक जैन कवियों ने लिखीं। इस साहित्य रूप की परम्परा के जनक होने के नाते भी जटमल का बहुत महत्व है। 'गोराबादल की बात' एक अर्द्ध-ऐतिहासिक चरित-काव्य है। जटमल का दूसरा प्रेम-काव्य 'प्रेमविलास चौपाई' (सं० १६९४ वि० के भाद्र शुक्ल पंचमी रविवार को जलालपुर में रचित) लेखक के संग्रह में है। अन्य रचनाओं में 'बावनी' पंजाबी मिश्रित हिन्दी में है। इनके अतिरिक्त 'भिंगोर गजल', 'सुन्दरी गजल' और फुटकर सवैया आदि भी प्राप्त हुए हैं। जटमल के हाथ का लिखा एक गुटका भी मिला है।[1]

भद्रसेन

सं० १६७५ वि० (१६१८ ई०) के आसपास खरतरगच्छीय श्वेताम्बर कवि भद्रसेन ने 'चन्दन मलयागिरि' नामक लोककथा-काव्य बीकानेर में लिखा, जो 'आणन्द शंकर ध्रुव स्मारक ग्रन्थ' में चित्रों सहित प्रकाशित हो चुका है। यह कथा भी बहुत लोकप्रिय हुई। इसकी कई सचित्र प्रतियाँ भी मिलती हैं।

उदयराज

सं० १६७० वि० (१६१३ ई०) के लगभग खरतरगच्छीय मथेन महात्मा भद्रसार के शिष्य और पुत्र उदयराज भी एक अच्छे कवि हो गए हैं। इनकी राजस्थानी रचना 'भजन छत्तीसी' (सं० १६६७ वि० = १६१० ई०) के अनुसार इनके पिता भद्रसार, माता हरखा, भ्राता सूरचन्द, मित्र रत्नाकर, पत्नी पूखणी, पुत्र सुधन तथा आश्रयदाता जोधपुर-नरेश उदयसिंह थे। सं०

---

१. इनकी रचनाओं के परिचय के लिए देखिए हिन्दुस्तानी, वर्ष ८ अंक २ में प्रस्तुत लेखक का निबंध।

१६३१ वि० (१५७४ ई०) में इनका जन्म हुआ था। इनकी दूसरी राजस्थानी रचना 'गुणवावनी' (सं० १७७६ वि०=१६१९ ई०) लेखक के संग्रह में है। उदयराज की हिन्दी रचनाओं में 'वैद्य-विरहिणी प्रवन्ध' और लगभग ४०० फुटकर दोहे मिलते हैं। 'चौबीस जिन सवैया' आदि का भी एक संग्रह मिला है, पर उनके रचयिता उदय येही उदयराज थे या अन्य, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता।

मानसिंह 'मान'

सं० १६७५ वि० (१६१८ ई०) के लगभग खरतरगच्छीय शिवनिधान के शिष्य, मानसिंह 'मान कवि' के नाम से प्रसिद्ध थे। इनकी अनेक संस्कृत और राजस्थानी की रचनाएँ उपलब्ध हैं। हिन्दी में इनका 'भाषा कविरसमंजरी' नामक नायक-नायिका-भेद विषयक ग्रन्थ जैन कवियों की इस विषय की सबसे पहली हिन्दी रचना है।

इस समय के लगभग **जिनराज सूरि** आदि कई श्वेताम्बर सुकवियों द्वारा रचित पद और बत्तीसी, बावनी आदि फुटकर रचनाएँ प्राप्त हैं। दिगम्बर कवियों में **ब्रह्मगुलाल, परिमल, बनवारीलाल, हरिकृष्ण, शालिवाहन, नन्द, भानुकीर्ति, हर्षकीर्ति** आदि कई कवियों की रचनाएँ मिली हैं। विस्तार भय से उन सब का विशेष परिचय न देकर केवल उनकी रचनाओं का नामोल्लेख किया जा रहा है—

ब्रह्मगुलाल

ये मध्यदेश के टापू के निवासी थे। वेष बदल कर विविध रूप धारण करने में ये सिद्ध-हस्त थे। अन्त में उसी से विराग हुआ। इनका जीवन-चरित्र छत्रपति कवि ने लिखा है। इनकी रचनाओं के नाम हैं—१. कृपण जगावल कथा (सं० १६७१ वि०=१६१४ ई०), २. तेपन क्रिया (सं० १६६५ वि०=१६०८ ई०), ३. गोपाचल जलगालन विधि आदि।

परिमल

ये बढ़ैया गोत्र के थे। अकबरकालीन मानसिंह ग्वालियरी के समय में रचित इनका 'श्रीपालचरित्र' बहुत प्रसिद्ध ग्रन्थ है जो प्रकाशित हो चुका है। प्रेमी जी की सूची में इनके 'श्रेणिक चरित्र' का भी उल्लेख हुआ है।

नन्द कवि

ये अग्रवाल गोयल गोत्रीय भैरूँ की पत्नी चन्दा के पुत्र थे तथा आगरे में रहते थे। इन्होंने सं० १६७० वि० (१६१३ ई०) में 'यशोधरचरित्र' की रचना की।

छीतर ठोलिया

ये मौजाबाद के निवासी थे। इन्होंने सं० १६६० वि० (१६०३ ई०) में १०१ पद्यों की 'होलिका कथा' लिखी।

हर्षकीर्ति

सं० १६८३ वि० (१६२६ ई०) में रचित इनकी 'पंचमगीत बेलि' तथा अन्य कई रचनाएँ प्राप्त हैं।

शालिवाहन

ये भदावर गाँव के पंचमपुर के रावतसेन के पुत्र थे। इन्होंने सं० १६९५ वि० (१६३८ ई०) में 'हरिवंश पुराण' की रचना आगरे में की।

बनवारीलाल

ये माखनपुर निवासी थे। इन्होंने खतोली में सं० १६६६ वि० (१६०९ ई०) में 'भविष्यदत्त-चरित्र' की रचना की।

बालचन्द और हंसराज

इनके द्वारा रचित 'बावनियाँ' और पद आदि भी मिलते हैं।

विनयसागर, हेमसागर और केशव

१७वीं शताब्दी में जैन कवियों की रचनाओं का जो प्रवाह वेगवान हुआ उसकी प्रबलता और अधिक बढ़ गई। जैसा कि पहले कहा गया है, गेय पद और छंद, कोश, अलंकार, वैद्यक आदि सार्वजनिक विषयों के लिए हिन्दी भाषा रूढ़ सी हो गई थी। हिन्दी के व्यापक प्रसार के कारण जिन कवियों ने अन्य रचनाएँ गुजराती-राजस्थानी में की हैं, उन्होंने भी इन विषयों के ग्रन्थ हिन्दी में ही लिखे, भले ही उनकी रचना गुजरात आदि अहिन्दी-भाषी प्रदेशों में हुई हो। उदाहरणार्थ १८वीं शताब्दी की सब से पहली जैन रचना सं० १७०२ वि० (१६४५ ई०) में रचित अचल गच्छ के विनयसागर की 'अनेकार्थ नाममाला' है। यह तीन अधिकारों में विभक्त है और इसकी पद्य-संख्या १६९ है। इसी प्रकार अंचल गच्छ के सुकवि हेमसागर हुए हैं, जिन्होंने अपनी रचना में संक्षिप्त नाम सुकवि हेम दिया है। इन्होंने सं० १७०६ वि० (१६४९ ई०) में सूरत बन्दर के पास हंसपुर में छंदमालिका नामक एक छन्द-ग्रन्थ लिखा। इसमें ८७ छन्दों का विवरण है। लेखक के संग्रह की प्रतिलिपि में १९४ पद्य हैं, पर हरिसागर सूरि भंडार, लोहावट की सं० १७०७ वि० (१६५० ई०) की लिखित प्रतियों में ८५ छन्द और २०७ पद्य हैं। हेमकवि रचित 'मदन युद्ध' प्रकाशित हो चुका है। सं० १७०४ वि० (१६४७ ई०) में खरतरगच्छीय कवि केशव द्वारा रचित 'चतुरप्रिया' नायक-नायिका-भेद संबंधी एक ग्रन्थ मिलता है।

मनोहरलाल और हेमराज

प्रेमी जी और कामताप्रसाद के लेखानुसार सं० १७०५ वि० (१६४८ ई०) में कवि मनोहरलाल ने 'धर्मपरीक्षा' नामक संस्कृत का हिन्दी पद्यानुवाद किया। ये खंडेलवाल सोनी जाति के थे और सांगानेर में रहते थे। कुँअरपाल के अनुरोध से रूपचन्द के शिष्य हेमराज ने सं० १७०९ वि० (१६५२ ई०) में 'प्रवचनसार भाषाटीका' और 'चौरासी बोल' की रचना की। इनकी अन्य रचनाओं में 'भाषा भक्तामर', 'पंचास्तिकाय टीका' (सं० १७२१ वि०=१६६८ ई०), 'गोमट्टसार वचनिका' (सं० १७०६ वि०=१६४९ई०), 'दोहाशतक' (सं० १७२५ वि०=१६६८ ई०) और 'चक्रवचनिका' नामक गद्य-पद्य ग्रन्थ हैं। अन्तिम वचनिका की रचना सं० १७२६ वि० (१६६९ ई०), फाल्गुन सुदी १० को खरतरगच्छ के उपाध्याय लब्धिरंग के शिष्य नारायणदास के कहने से की गई थी।

हीरानंद और खड्गसेन

सं० १७११ वि० (१६५४ ई०) में जगजीवन की प्रेरणा से हीरानन्द ने 'पंचास्तिकाय' का अनुवाद आगरे में किया। लाहौर निवासी खड्गसेन ने सं० १७१३ वि० (१६५६ ई०) में 'तिलोकदर्पण' लाहौर में रचा। उन दिनों आगरा, लाहौर, दिल्ली और जयपुर आदि के जैन मन्दिरों में शास्त्र-स्वाध्याय होता था। इससे नवीन साहित्य-निर्माण को यथेष्ट प्रेरणा मिलती थी। परिणामतः गद्य और पद्य के सैकड़ों ग्रन्थ तैयार हो गए। उन ग्रन्थों की प्रशस्तियों में प्रेरक व्यक्तियों की वंश-परम्परा के साथ कवि अपने निवासस्थान, वंश आदि की जानकारी भी देते थे। इस प्रकार इन ग्रन्थों की प्रशस्तियाँ ऐतिहासिक दृष्टि से भी बड़े महत्व की हैं। 'तिलोकदर्पण' के रचयिता खड्गसेन ने एक विस्तृत प्रशस्ति दी है। उसका कुछ अंश उदाहरणार्थ नीचे दिया जाता है —

यही लाभपुर नगर में, श्रावक परम सुजान।
सब मिलि के चर्चा करैं, जाको जो अनुमान।।
जिनवर चैत्य लाभपुर माँहि, महा मनोहर उत्तम ठाँहि।
तहाँ आय बैठे सब लोग, गुन गावैं पढ़िए बहु थोक।।
तहाँ बैठि यह कियो विनोद, तीन लोक का है यह मोद।
पंडित राय नरेन्द्र समान, मिसर गिरधर जगत प्रमाण। इत्यादि

कवि ने अपना परिचय देते हुए लिखा है कि बागड़ देश के नारनौल में पापड़ीवाल के मानू-शाह के दो पुत्र लूणराज और ठाकुरसीदास हुए। ठाकुरसीदास के तीन और लूणराज के दो पुत्र हुए। खड्गसेन लूणराज के पुत्र थे। आगरे के चतुर्भुज वैरागी से सं० १६८५ वि० (१६२८ ई०) में इनका बहुत उपकार हुआ। ये प्रायः लाहौर आते जाते थे। संभव है, बनारसीदास द्वारा उल्लिखित चतुर्भुज यही हों।

टीकम और रायचंद

सं० १७०८ वि० (१६५१ ई०) में साँभर के पास काल गाँव के निवासी टीकम ने प्रसिद्ध पौराणिक आख्यान चन्द्रहास की कथा को 'चन्द्रहंस की कथा' के नाम से लिखा। इनकी दूसरी रचना सं० १७१२ वि० (१६५५ ई०) में रचित 'चतुर्दशी चौपाई' है। इनकी भाषा में राजस्थानी का प्रभाव है। सं० १७१३ वि० (१६५६ ई०) में रायचन्द द्वारा रचित 'सीताचरित्र' भी प्राप्त हुआ है।

जोधराय गोदी

सांगानेर के जोधराज गोदी ने 'प्रीतंकरचरित्र' सं० १७२१ वि० (१६६४ ई०) में 'कथाकोश', सं० १७२२ वि० (१६६५ ई०) में 'धर्मसरोवर', 'सम्यक्तकौमुदी भाषा' सं० १७२४ वि० (१६६७ ई०) में और 'प्रवचनसार की भावदीपिका' एवं 'ज्ञानसमुद्र' की रचना की।

जगतराय, अभयकुशल और काशीराम

आगरे में जगतराय नामक राजमान्य साहित्य प्रेमी हुए, जिन्होंने विद्वानों से अनुरोध करके कुछ ग्रन्थ अपने नाम से बनवाए। ये अग्रवाल सिंघल गोत्र के श्रावक माईदास के पुत्र रामचन्द्र

के पुत्र थे। मूलतः ये मुहाणा के निवासी थे, बाद में पानीपत में आकर रहे। आगरे में इनका अच्छा प्रभाव दिखाई देता है। सं० १७२२ वि० (१६६५ ई०) में इन्होंने काशीदास से 'सम्यक्त-कौमुदी कथा' बनवाई जिसका परिणाम ४३३६ श्लोकों का है। इसी तरह सं० १७२२ वि० (१६६५ ई०) की फागुन सुदी १० को खरतरगच्छ के उपाध्याय पुण्यहर्ष या उनके शिष्य अभयकुशल ने इन्हीं जगतराय के लिए 'पद्मनन्दीय पंचविंशिका भाषा' नामक ग्रन्थ बनाया। जगतराय के पुत्र का नाम टेकचंद था। सं० १७३० वि० (१६७३ ई०) के कार्तिक शुक्ल पक्ष में आगरे में हिम्मतखान के कहने से जुगतराय ने 'छन्दरत्नावली' नामक महत्वपूर्ण छन्द-ग्रन्थ बनाया। ये जुगतराय पूर्वोक्त जगतराय ही जान पड़ते हैं। 'छन्द रत्नावली' में सात अध्याय हैं जिनमें छठा अध्याय फारसी छन्दों से सम्बन्धित है तथा सातवाँ तुक-भेद विषयक है। संभवतः हिन्दी में कोई अन्य छन्द ग्रन्थ नहीं हैं जिसमें फारसी छन्दों का इतना विस्तृत विवरण हो। इस ग्रन्थ की गुटकाकार प्रति (९९ पत्रों की) दिल्ली के जैन भंडार में मिली है। आदि, अन्त के कुछ महत्वपूर्ण पद्य इस प्रकार हैं—

आदि

जुगतराइ सौं यों कह्यो, हिम्मतखाँन बुलाय।
पिंगल प्राकृत कठिन है, भाषा ताहि बनाय॥
छंदोग्रन्थ जितै कहे, करि इक ठौरे आनि।
समुझि सबन को सार ले, रत्नावली बखानि।

अंत

संवत सत सहस सात तीस, कातिक मास सुकल पछ दीस।
भयो ग्रन्थ पूरन सुभथान, नगर आगरो महा प्रधान॥
दान मान गुणवान सुजान, दिन दिन बाढ़ौ हिम्मतखाँन।
जुगतराइ कवि यह जस गायौ, पड़त सुनत सब ही मन भायौ॥

कामताप्रसाद जैन ने पहली दोनों रचनाएँ जगतराय द्वारा रचित मानी हैं। परन्तु उनकी प्रशस्तियों से स्पष्ट है कि वे इनके लिए रची हुई काशीराम और अभयकुशल की रचनाएँ हैं। जगतराय की तीसरी रचना 'आगमविलास' बतलाई गई है, किन्तु वास्तव में वह दयानत-राय की कृतियों का 'धर्मविलास' के बाद का दूसरा संग्रह है। जगतराय उसके संग्रहकर्ता थे। सं० १७८५ वि० (१७२७ ई०) में मैनपुरी में यह ग्रन्थ तैयार हुआ था।

जिनहर्ष

इसी समय के आसपास दो-तीन श्वेताम्बर विद्वान भी अच्छे कवि हो गए हैं, जिनमें से **जिनहर्ष** जिनका नाम जसराज भी था, राजस्थानी और गुजराती के बहुत बड़े कवि हुए हैं। इनके रचे हुए पचासों चरित काव्य और लक्षाधिक श्लोक परिमाण की सैकड़ों फुटकर रचनाएँ प्राप्त हैं। उन्होंने कुछ रचनाएँ हिन्दी में भी की हैं, जिनमें से सं० १७१४ वि० (१६५७ ई०) में रचित 'नन्दबहोत्तरि', सं० १७३८ वि० (१६८१ ई०) में रचित 'जसराज बावनी', 'चौबीसी', सं० १७१३ वि० (१६५६ ई०) में रचित 'उपदेशबत्तीसी' तथा सं० १७३० वि० (१६७३ ई०) में रचित 'मातृका बावनी', 'नेमराजमति बारहमासा' आदि उल्लेखनीय हैं।

माहिमसमुद्र

इसी प्रकार माहिमसमुद्र भी, जिनका आचार्य पदानन्तर **जिन समुद्रसूरि नाम हुआ**, राजस्थानी के बहुत बड़े कवि हुए हैं। इनका जन्म सं० १६७० वि० (१६१३ ई०) में आगरे में, दीक्षा सं० १६९२ वि० (१६३५ ई०) में, आचार्य-पद सं० १७१३ वि० (१६५६ ई०) में और स्वर्गवास सं० १७४१ वि० (१६८४ ई०) में हुआ। इनकी हिन्दी रचनाओं में १८१ पद्यों का 'तत्वप्रबोध नाटक' सं० १७३० वि० (१६७३ ई०) में जैसलमेर में रचा गया। दूसरी रचना 'वैद्यचिन्तामणि चौपाई' या 'समुद्रप्रकाश सिद्धान्त' नामक है जिसकी एक अपूर्ण प्रति मिली है। तीसरी रचना 'वैराग्यशतक' की 'सर्वार्थसिद्धि मणिमाला' टीका है जो संस्कृत एवं हिन्दी दोनों में है। सं० १७४० वि० (१६८३ ई०) में इसकी रचना हुई थी। चौथी कृति ४२ पद्यों की 'नारी गजल' है। इनके अतिरिक्त कुछ फुटकर पद्यादि भी मिलते हैं। इनकी राजस्थानी रचनाओं का परिमाण लक्षाधिक श्लोक का है।

लक्ष्मीवल्लभ उपाध्याय

खरतरगच्छ के एक अन्य विद्वान लक्ष्मीवल्लभ उपाध्याय भी इसी शताब्दी के अच्छे विद्वानों में से हैं। इनकी 'कल्पसूत्र' और 'उत्तराध्यापन' की टीकाएँ बहुत सरल और विशिष्ट होने से खूब प्रसिद्ध हैं। सं० १७१४ से १७४७ वि० (१६५७ से १६९० ई०) तक की इनकी रचनाएँ मिलती हैं। इनका जन्म-नाम हेमराज था। कविताओं में उपनाम राजकवि भी मिलता है। राजस्थानी में इनके कई रास आदि प्राप्त हैं। इनकी हिन्दी रचनाएँ निम्नलिखित हैं—

१. भावनाविलास, ५२ सवैया (सं० १७२७ वि०=१६७० ई०), २. राजबावनी (सं० १७६८ वि०=१७११ ई०), ३. दोहाबावनी, ४. कालज्ञान पद्यानुवाद (सं० १७४१ वि०=१६८४ ई०), ५. नवतत्वभाषा, ८२ पद्य (सं० १७४७, वि०, १६९० ई०, हिसार), ६. चौबीसी, २५ पद, ७. जिनस्तवन, २४ सवैया, ८. बारहमासा, ९. उपदेस बत्तीसी तथा कुछ फुटकर पद्य प्राप्त हैं।

उपाध्याय धर्मवर्द्धन

इसी गच्छ के उपाध्याय धर्मवर्द्धन, जिनका जन्म-नाम धरमसी था, बहुत अच्छे विद्वान कवि थे। सं० १७०० वि० (१६४३ ई०) में इनका जन्म हुआ। सं० १७१९ से १७७३ वि० (१६६२ से १७१६ ई०) तक इन्होंने संस्कृत, राजस्थानी और हिन्दी, तीनों भाषाओं में काव्य-रचना की। हिन्दी में इन्होंने 'जीवराज परमातमप्रकाश' सं० १७६२ वि० (१७०५ ई०) में जीवराज के लिए लिखा जो अजमेर के दिगम्बर जैन भण्डार में मिला है।[1] फुटकर रचनाओं में सं० १७२५ वि० (१६६८ ई०) में रचित 'धर्मबावनी', 'वैद्यकविद्या', 'बारहमासा', तथा पद, प्रासंगिक समस्यापूर्तियाँ एवं सवैया आदि प्रस्तुत लेखक के संग्रह में हैं।

---

१. प्रेमीजी ने इसे जीवराज द्वारा रचित लिखा है, पर प्रशस्ति में उनके लिए धर्मवर्द्धन द्वारा रचे जाने का उल्लेख भी है।

आनन्दघन

अठारहवीं शताब्दी में एक बहुत बड़े आध्यात्मिक जैन योगी आनन्दघन अपर नाम लाभानन्द हो गए हैं। 'बहोत्तरी' के पदों में इनके आत्मानुभव की गहरी अभिव्यक्ति हुई है। 'चौबीसी' में इन्होंने २२ तीर्थंकरों का स्तवन राजस्थानी में किया है। यद्यपि इनकी ये दो ही रचनाएँ मिली हैं, परन्तु उनकी भावाभिव्यक्ति उच्च स्तर की है। मारवाड़ प्रदेश में ये अधिक रहे थे और वहीं पर १७३० वि० (१६७३ ई०) में स्वर्गवासी हुए। सुप्रसिद्ध यशोविजय उपाध्याय इनसे मिलकर इतने आत्मविभोर हो गए थे कि इन्होंने उनकी स्तुति में अष्टपदी की रचना कर डाली। इनका आध्यात्मिक चिन्तन बहुत ऊँचा था। वे कहते हैं——

राम कहो रहमान कहो, कोउ कान कहो महादेव री।
पारसनाथ कहो कोउ ब्रह्मा, सकल ब्रह्मा स्वयमेव री।
भाजन-भेद कहावत नाना, एक मृत्तिका रूप री।
तैसें खण्ड कल्पना रोपित, आप अखण्ड सरूप री।।
निज पद रमे राम सो कहिए, रहिम करे रहेमान री।
कर से करम कान से कहिए, महादेव निर्वाण री।।
परसे रूप पारस सो कहिए, ब्रह्म चीन्हें सो ब्रह्म री।।
इस विध साधो आप आनँदघन चेतनमय निःकर्म री।।

विनयविजय

संत-साहित्य के अध्येता आचार्य क्षितिमोहन सेन ने इन्हें जैन मर्मी कवि कहा है। तपागच्छ के उपाध्याय विनयविजय जैन तत्वज्ञान के बहुत बड़े मर्मज्ञ विद्वान थे। इनके पिता का नाम तेजपाल और माता का नाम राजश्री था। सं० १६८९ या ९६ से सं० १७३८ वि० (१६३२ या ३९ से १६८१ ई०) तक इन्होंने संस्कृत और गुजराती में बहुत से ग्रन्थों की रचना की। इनके संस्कृत ग्रन्थों में 'लोकप्रकाश' और 'कल्पसूत्र' की 'सुखबोधिनी टीका' बहुत प्रसिद्ध है। हिन्दी में भी इनके कुछ गेय पद मिले हैं जो 'विनयविलास' के नाम से प्रकाशित हुए हैं।

उपाध्याय यशोविजय

इसी गच्छ के दूसरे प्रसिद्ध विद्वान न्यायाचार्य उपाध्याय यशोविजय दर्शन शास्त्र के प्रकाण्ड पंडित थे। सं० १७०० से १७४५ वि० (सन १६४३ से १६८८ ई०) तक आपके रचे हुए शताधिक ग्रन्थ संस्कृत और गुजराती में मिलते हैं। इनकी हिन्दी रचनाओं में 'समाधिशतक', 'समताशतक', 'दिग्पट्टखण्डन' 'आनन्दघन अष्टपदी' और फुटकर गेय पद प्राप्त हुए हैं जो 'जस-विलास' के नाम से प्रकाशित हैं। पदों में भक्ति और अध्यात्म का स्रोत बड़े अच्छे रूप में प्रवाहित हुआ है। इनका एक पद है——

परम प्रभु सब जन सबदैं ध्यावै।
जब लग अन्तर भरम न भाजै, तब लग कोउ न पावै।
सकल अंस देखै जग जोगी, जो खिनु समता आवै।
ममता अंध न देखै याको, चित चहुँ ओरै ध्यावै।

पढ़त पुराण वेद अरु गीता, मूरख अर्थ न पावै।
इत उत फिरत गहत रस नाहीं, ज्यों पसु चरवित चावै॥
पुद्गल से न्यारो प्रभु मेरो, पुद्गल आपु छिपावै।
उनसे अन्तर नाहिं हमारे, अब कहाँ भागो जावै॥

रामचन्द्र

खरतरगच्छ के यतियों का विहार राजस्थान के अतिरिक्त पंजाब-सिंध में भी था और वहाँ वैद्यक विषय के कई महत्वपूर्ण ग्रन्थ हिन्दी में रचे गए। इनमें से रामचन्द्र का 'रामविनोद' काफी प्रसिद्ध ग्रन्थ है। वह प्रकाशित भी हो चुका है। सं० १७२० वि० (१६६३ ई०) में इसकी रचना हुई थी। इनका दूसरा वैद्यक ग्रन्थ 'वैद्यविनोद' सं० १७२६ वि० (१६६९ ई०) में मेरठ में रचा गया। 'तीसरी हिन्दी रचना २११ पद्यों की 'सामुद्रिक भाषा' सं० १७२२ वि० (१६६५ ई०) में रची गई।

मान कवि

खरतरगच्छीय विनयमेरु के शिष्य मान कवि ने सं० १७४५ वि० (१६८८ ई०) में लाहौर में 'कविविनोद' और १७४६ वि० (१६८९ ई०) में 'कविप्रमोद' नामक महत्वपूर्ण वैद्यक ग्रन्थ रचे। इनकी ७३ पद्यों की एक अन्य उपलब्ध रचना 'संयोग द्वात्रिंशिका' नायक-नायिका-भेद संबंधी है, जो सं० १७३१ वि० (१६७४ ई०) में अमरचन्द मुनि के आग्रह से लिखी गई थी।

भैया भगवतीदास, भूधरदास और ध्यानतराय

अठारहवीं शताब्दी के दिगम्बर कवियों में ये तीनों विशेष रूप से उल्लखनीय हैं। भैया भगवतीदास आगरे के ओसवाल कटारिया गोत्रीय दसरथ साहु के पुत्र थे। 'भैया' इनका उपनाम था। इनकी रचनाएँ भावपक्ष और कलापक्ष, दोनों दृष्टियों से उच्च कोटि की हैं। उनमें सिद्धान्त, अध्यात्म, नीति और वैराग्य की काफी ऊँची अभिव्यंजना हुई है। इनकी छोटी-बड़ी ६७ रचनाओं का संग्रह 'ब्रह्मविलास' के नाम से प्रकाशित हुआ है।

कविवर ध्यानतराय भी आगरे के निवासी थे। ये अग्रवाल गोयल गोत्रीय वीरदास के पौत्र और श्यामदास के पुत्र थे। सं० १७३३ वि० (१६७६ ई०) में इनका जन्म हुआ और सं० १७४२ वि० (१६८५ ई०) में इनके पिता का स्वर्गवास हो गया। परन्तु सौभाग्य से १३ वर्ष की उम्र में ही जैन धर्म के ज्ञाता पंडित बिहारीलाल और शाह मानसिंह से इनका परिचय हो गया। कविवर बनारसीदास के समय से जो अध्यात्म शैली आगरे में तथा अन्यत्र विकसित हुई थी उसके प्रभाव से जो अनेक प्रतिभाशाली व्यक्ति सैद्धान्तिक और आध्यात्मिक रचनाएँ करने में प्रवृत्त हुए, उन्हीं में ध्यानतराय भी हैं। १५ वर्ष की अवस्था में इनका विवाह हो गया, परन्तु अध्यात्म शैली और सत्संग के प्रभाव ने इन्हें शृंगारिक विषयों से हटाकर आत्माभिमुख बना दिया। सं० १७५२ से १७८० वि० (१७२३ ई०) तक की इनकी ४५ रचनाओं का संग्रह 'धर्मविलास' नामक ग्रन्थ में प्रकाशित हुआ है। इसके बाद की रचनाओं का संग्रह 'आगमविलास' नाम से पंडित जगतराय ने सं० १७८४ वि० (१७२७ ई०) में इनकी मृत्यु के पश्चात किया। 'चर्चा-

शतक' भी इनकी एक सुन्दर कृति है। इनके ३२३ आध्यात्मिक और भक्तिपूर्ण गेय पदों के संग्रह तथा १२-१३ 'पूजाओं' का प्रकाशन हो चुका है। 'आगमविलास' अभी तक अप्रकाशित है। वि० सं० १७८३ (१७२६ ई०) कार्तिक सुदी १३ को ये स्वर्गवासी हुए। 'धर्मविलास' की प्रशस्ति के निम्नोक्त पदों से इनकी निरभिमानिता का परिचय मिलता है —

अच्छर सेती तुक भई, तुक सौं हूए छन्द।
छन्दनि सौं आगम भयौ, आगम अरथ सुछन्द॥
आगम अरथ सुछन्द, हमौं ने यह नहिं कीना।
गंगा का जल लेइ, अरघ गंगा कौ दीना॥
सबद अनादि अनन्त, ग्यान कारन बिन मच्छर।
मैं सब सेती भिन्न, ग्यानमय चेतन अच्छर॥

इनके सम-सामयिक आगरे के खण्डेलवाल कवि भूधरदास बहुत उच्च कोटि के कवि थे। सं० १७८१ वि० (१७२४ ई०) में शाह हरिसिंह के धर्मानुरागी वंशज और हाकिम गुलाबचंद की प्रेरणा से इन्होंने 'जिनशतक' की रचना की थी। इनका दूसरा उल्लेखनीय ग्रन्थ 'पार्श्व-पुराण' सं० १७८९ वि० (१७३२ ई०) में रचा गया जो कवित्व की दृष्टि से उच्च कोटि का है। इनके अतिरिक्त कुछ गेय पदों का संग्रह भी प्रकाशित हो चुका है। इनकी भावना कितनी ऊँची थी, यह निम्नोक्त सवैयों से सूचित होता है—

कब गृहवास सौं उदास होय वन सेऊँ,
वेऊँ निज रूप गति रोकूँ मन-करि की।
रहिहौं अडोल इक आसन अचल अंग,
सहिहौं परीसा शीत-घाम-मेघ-झरि की॥
सारंग समाज खाज कब धौं खुजैहे आनि,
ध्यान-दल जोर जीतूँ सेना मोह अरि की।
एकल विहारी जथा जात लिंगधारी कब,
होऊँ इच्छाचारी बलिहारी हौं वा घरि की॥

यों इस शताब्दी में और भी बहुत से कवि हो गए हैं। उन सबकी रचनाओं का परिचय देना यहाँ सम्भव नहीं है, अतः कुछ अन्य प्रमुख कवियों का ही उल्लेख किया जा रहा है।

विनोदीलाल अग्रवाल

शाहिजादपुर के निवासी कविवर विनोदीलाल अग्रवाल गर्ग गोत्रीय मण्डण के प्रपौत्र, पार्श्व के पौत्र और दुर्गमल के पुत्र थे। इन्होंने 'श्रीपालविनोदकथा' सं० १७५० वि० (१६९३ ई०) में लिखी, उस समय इनकी आयु ७०-७२ वर्ष की बताई गई है। अतः इनका जन्म सं० १६७८ वि० (१६२१ ई०) में हुआ होगा। इन्होंने स्वयं लिखा है कि मेरी पूर्वावस्था प्रायः भोग-विलास और विनोद में व्यतीत हुई थी, अब पिछली वय में सुमति प्राप्त हुई है। सं० १७४४ से सं० १७५० वि० (१६८७-१६९३ ई०) तक के ६ वर्षों में ही आपने कुछ रचनाएँ बनाई।

ये हैं—'नेमिनाथमंगल' (४२ पद्य, सं० १७४४ वि० = १६८७ ई०) 'विष्णुकुमारकथा' (२० पद्य), 'भक्तामरचरित्र' (५५०० श्लोक परिमित, सं० १७४७ वि० = १६९०ई०), श्रीपाल विनोद कथा (१३५४ पद्य, सं० १७५० वि० = १६९३ ई०), 'राजुलपचीसी', 'नेमिनाथ जी के रेखते', 'नेमराजुमति बारहमासा' तथा 'सम्यक्त कौमुदी' (सं० १७४९ वि० = १६९२ ई०)।

गोदी

साँगानेर के खण्डेलवाल भावसा गोत्रीय गोदी द्वारा सं० १७२४ वि० (१६६७ ई०) में रचित ७२५ पद्यों का 'प्रवचनसार' पद्यानुवाद प्राप्त है, जो पांडे हेमराज की 'प्रवचनसार' की टीका के आधार पर रचा गया है। सांगानेर से ये भरतपुर राज्य चले गए थे। वहाँ अध्यात्म-शैली या मंडली चल रही थी जिसके ये भी सदस्य हो गए। इन्होंने लिखा है—

अध्यातम शैली सहित, वनी सभा सह धर्म।
चरचा प्रवचन सार की, करै सबै लहि मर्म॥
अरचा अरहंत देव की, सेवागुरु निरग्रन्थ।
दया धर्म उर आचरैं, पंचमगति को पंथ॥
ऐसी सभा जुरै दिन-राती, अध्यातम चरचा रस पाती।
जब उपदेस सबनिकौं लियो, प्रवचन कवित बंध तब कियो॥

कवि लक्ष्मीचंद

खरतर गच्छ के कवि लक्ष्मीचन्द ने जिनका दीक्षा नाम **लब्धिविमल** था, फतेहपुर के दीवान श्रीमाल वदलिया गोत्रीय ताराचन्द की अभ्यर्थना से शुभचंद्र कृत 'ज्ञानार्णव' नामक आध्यात्मिक ग्रन्थ का पद्यानुवाद किया। यह लगभग ३००० श्लोकों के परिमाण का है। सं० १७२८ वि० (१६७१ ई०) की विजयादशमी को इसकी समाप्ति हुई थी।

श्रीदेवचंद

इसी गच्छ के अध्यात्म तत्ववेत्ता **श्रीदेवचन्द** ने बीकानेर में सं० १७६७ वि० (१७१० ई०) में 'द्रव्यप्रकाश' नामक तात्विक ग्रन्थ बनाया। ये बहुत बड़े विद्वान थे। इनकी प्राकृत संस्कृत, राजस्थानी और गुजराती की रचनाएँ भी दो-तीन भागों में उक्त 'द्रव्यप्रकाश' के साथ प्रकाशित हो चुकी हैं।

पंडित खुशालचन्द काला

ये मूलतः टोडा के निवासी थे, बाद में साँगानेर में आ बसे थे। ये खण्डेलवाल काला गोत्रीय सुन्दरदास के पुत्र थे। इनकी माता का नाम सुजान दे था। पहले इन्होंने 'श्रेणिकचरित्र' के लेखक लिखमीदास चाँदवाड के पास साँगानेर में विद्याभ्यास किया, फिर दिल्ली (जिहानाबाद) के जयसिंघपुरा में रह कर सुखानन्द के पास शास्त्र का अध्ययन किया। खुशालचन्द के रचे हुए 'हरिवंश पुराण' (९००० श्लोक, सं० १७८० वि० = १७२३ ई०), 'यशोधरचरित्र' (सं० १७८१ वि० = १७२४ ई०), 'पद्मपुराण' (सं० १७८३ वि० = १७२६ ई०), 'व्रतकथा कोश' (चौबीस कथा, २६०० श्लोक, सं० १८७७ वि० = १७३० ई०), 'जम्बूस्वामीचरित्र',

'धन्यकुमारचरित्र' (१७८० श्लोक, सं० १७९२ वि० = १७३५ ई० के बाद), 'चौबीस महाराज-पूजा', 'सद्भाषितावली' (सं० १७९४ वि० = १७३७ ई०) और 'उत्तरपुराण' (१३०० श्लोक, सं० १७९९ वि० = १७४२ ई०) उपलब्ध हैं।[1]

किशनसिंह

रामपुर के खण्डेलवाल पाटनी संगही कल्याण के पौत्र और आणुसिंह के पुत्र किशनसिंह द्वारा रचित ५३ 'क्रियाकोश' (सं० १७८४ वि० = १७२७ ई०), 'भद्रबाहुचरित्र' (सं० १७८० वि० = १७२३ ई०) तथा 'रातिभोजनकथा' प्राप्त हैं।

दिलाराम, लोहट और दौलतराम पाटनी

पाटनी गोत्र के दिलाराम बूँदी नगर में रहते थे। इनकी 'दिलारामविलास' (सं० १७६८ वि० = १७११ ई०) और 'आत्मद्वादशी', ये दो रचनाएँ प्राप्त हैं। प्रथम ग्रन्थ की प्रशस्ति में बूंदी नगर और वहाँ के राजवंश का भी वर्णन मिलता है। बूंदी में और भी कुछ कवि हुए हैं, जिनमें बवेरवाल-वंशी लोहट द्वारा रचित 'यशोधरचरित्र' (सं० १७२१ वि० = १६६४ ई०) और दौलतराम पाटनी द्वारा रचित 'व्रतविधान रासो' (सं० १७६३ वि० = १७०६ ई०) नामक ग्रन्थ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

जिनरंग सूरि, मथेन उदयचंद और जोगीदास मथेन

श्वेताम्बर कवियों में जिनरंग सूरि की 'प्रबोधबावनी' (सं० १७३१ वि० = १७७४ ई०) और 'रंगबहोत्तरी' हिन्दी में प्राप्त हैं। बीकानेर के महाराज अनूपसिंह के आश्रित खरतर-गच्छीय मथेन उदयचन्द ने सं० १७२८ वि० (१६७१ ई०) में 'अनूपरसाल' नामक ग्रन्थ की रचना की जिसमें नायक-नायिका और अलंकार का वर्णन है। महाराज सुजानसिंह के समय में सं० १७६५ वि० (१७०८ ई०) में इन्होंने 'बीकानेर गजल' बनाई। महाराजा सुजानसिंह के आश्रित जोगीदास मथेन का सं० १७६२ वि० (१७०५ ई०) में रचा हुआ 'वैद्यकसार' और 'सुजानसिंह रासा' अनूप संस्कृत लायब्रेरी में हैं।

नैनसिंह

बीकानेर राजवंश के महाराज आनन्दसिंह के लिए खरतरगच्छीय यति नैनसिंह ने सं० १७८६ वि० (१७२९ ई०) में भतृहरिशतकत्रय-भाषा 'आनन्दभूषण' के नाम से बनाई। इसकी भी एक प्रति अनूप संस्कृत लायब्रेरी में है। इसके गद्य का कुछ अंश उदाहरणार्थ दिया जाता है—

"फल की महिमा कही जो यह खाय। सो अजर अमर होई। तब राजा ये स्वकीया राणी पिंगला कुं भेज्यो। तब राणी अत्यन्त कामातुर अन्य पर पुरुष तें रक्त है, ताहि पुरुष को फल दे भेजो अरु महिमा कही। वह जन वेश्या तें आसक्त है, तिन वाको फल दीनो तिहि समै वेश्या तें फल लेके अद्भुत गुण सुनि के विचार्यौ जो यह फल खायोहुं बहुत जीवी तो कहा तातै प्रजा

---

१. दे० वीरवाणी, वर्ष १, अंक ४।

पालक, दुष्टग्राहक, शिष्ट-सत्कारकारक, षटदर्शनरक्षक, ऐसो भर्तृहरजी राज बहुत करै अजर अमर ह्वै तो भलै।"

विनयलाभ, दामोदर कवि, रत्नशेखर, जयधर्म और लालचंद

इनसे पूर्ववर्ती इसी गच्छ के कवि विनयलाभ द्वारा रचित 'शतकत्रय' का पद्यानुवाद और 'सवैयाबावनी' लेखक के संग्रह में हैं। रीति ग्रन्थों में अंचल गच्छ के दामोदर कवि द्वारा सं० १७५६ वि० (१६९९ ई०) में रचित 'रसमोह श्रृंगार' की अपूर्ण प्रति भी संग्रह में है। इसी गच्छ के कवि रत्नशेखर ने शंकरदास के लिए 'रत्नपरीक्षा' सं० १७६१ वि० (१७०४ ई०) में सूरत नगर में बनाई। इसकी पद्य संख्या ५७० है। पानीपत के गोवर्द्धनदास के लिए लक्ष्मीचंद के शिष्य जयधर्म ने 'शकुनप्रदीप' सं० १७६२ वि० (१७०५ ई०) में बनाया। कवि लालचंद ने अक्षयराज के लिए 'स्वरोदय भाषा टीका' बनाई और बीकानेर के कोठारी जेतसी के लिए 'लीलावती' नामक गणित ग्रन्थ की रचना की। 'अंकपास' नामक एक और गणित ग्रन्थ इनका मिला है। इनका दीक्षा-नाम लाभवर्द्धन था।

गद्यकार अक्षयराज श्रीमाल और दीपचंद साह

इस शताब्दी में कुछ गद्य-लेखक भी हो गए हैं जिनमें अक्षयराज श्रीमाल और दीपचन्द शाह विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। दीपचन्द शाह खण्डेलवाल जाति के कासलीवाल गोत्रीय थे। पहले साँगानेर में रहते थे फिर आमेर में बस गए। इनके द्वारा रचित 'अनुभवप्रकाश' (सं० १७८१ वि०=१७२४ ई०), 'चिद्विलास' (सं० १७७९ वि०=१७२२ ई०), आत्मावलोकन' (सं० १७७७ वि०=१७२० ई०), 'परमात्मप्रसंग', 'ज्ञानदर्पण', 'उपदेशरत्नमाला' और 'स्वरूपानन्द' नामक ग्रंथ हैं। इनमें से कुछ गद्य ग्रन्थ प्रकाशित भी हो चुके हैं। इनके गद्य का उदाहरण इस प्रकार है—

"जैसे बानर एक कांकरा के पड़ै रोवै तैसे याके देह का एक अंग भी छीजै तो बहुतेरा रोवै। ये मेरे और मैं इनका झूठ ही ऐसे जड़न के सेवन तें सुख मानैं। अपनी शिवनगरी का राज्य भूल्या, जो श्री गुरु के कहे शिवपुरी कौं संभालै, तो वहाँ का आप चेतन राजा अविनाशी राज्य करै।"

अखयराज श्रीमाल का समय निश्चित ज्ञात नहीं है, पर उनके 'विषापहार स्तोत्र' की गद्य-टीका सं० १७३१ वि० (१६७४ ई०) की लिखी हुई मिली है। इन्होंने 'कल्याणमन्दिर भाषा टीका', 'एकीभावस्तोत्र भाषाटीका', 'भूपालचौबीसी', 'बालावबोध भक्तामर भाषाटीका' की रचना की। इन टीकाओं के अतिरिक्त एक स्वतंत्र रचना 'चतुर्दश गुणस्थान चर्चा' भी गद्य में है जिसके छोटे और बड़े दो संस्करण मिलते हैं। इनके गद्य का उदाहरण इस प्रकार है—

"आगे मुनि की मुद्रा का बर्णन करै हैं। सो कहे हैं। जिन चिन्हनि मुनि पदवी जानी जाइ ऐसा बाह्य दोइ प्रकार के लिंग कहिए चिन्ह सो बताए हैं। प्रथम ही बाह्य लिंग कैसा है जिहाँ परमाणु मात्र भी परिग्रह नाहीं ऐसा जथा जात रूप दिगम्बर मुद्रा धारी।'

गद्य टीकाकार——मानसिंह और रूपचंद

हिन्दी गद्य में टीका लिखने वालों में दो और लेखक——विजयगच्छीय मानसिंह और खरतर गच्छीय रूपचन्द——भी उल्लेखनीय हैं। मानसिंह सुकवि और सफल टीकाकार थे। इनका बनाया हुआ ऐतिहासिक काव्य 'राजविलास' (रचनाकाल सं० १७४६ वि० = १६८९ ई०) उदयपुर सरस्वती भण्डार से प्राप्त होकर नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित हो चुका है। इन्होंने 'बिहारी सतसई' की भाषा टीका भी बड़ी सुन्दर लिखी है जो करीब ४५०० श्लोक परिमित है। इसकी एक प्रति बीकानेर में मोतीचन्द खजांची के संग्रह में भी है।

रूपचन्द खरतरगच्छीय कविवर जिनहर्ष की परम्परा में दयासिंह के शिष्य थे। ये ओसवाल आँचकिया गोत्र के थे जिस गोत्र का एक मोहल्ला बीकानेर के देशनोक नामक गाँव में आज भी है। इनका जन्म सं० १७४४ वि० (१६८७ ई०) और दीक्षा सं० १७५५ वि० (१६९८ ई०) में बिल्हावास में हुई। दीक्षा नाम रामविजय रखा गया। ये संस्कृत तथा राजस्थानी के बहुत अच्छे कवि और टीकाकार थे। सं० १७६७ से १८२६ वि० (१७१०——१७६९ ई०) तक की आपकी रचनाएँ मिलती हैं, जिनमें 'जिनसुखसूरि' (सं० १७७२ वि० = १७१५ ई०), 'समयसार बालावबोध' (सं० १८९२ वि० = १७३५ ई०), 'लघुस्तव टब्बा' (सं० १७९८ वि० = १७४१ ई०) आदि हिन्दी रचनाएँ उल्लेखनीय हैं। इनमें से कविवर बनारसीदास के 'समयसार' की भाषा टीका बहुत प्रसिद्ध है और प्रकाशित हो चुकी है। 'जिनसुखसूरि मजलस' जिसका दूसरा नाम 'द्वावैत' भी है, बड़ी मनोरंजक रचना है। थोड़ी सी बानगी देखिए——

"अहो आवो ये यार, बैठो दरबार, स चांदणी रात, कहौ मजलस की बात। कहौ कौण कौण मुलक, कौण कौण राज देखे। कौण कौण पातिस्याह देखे, कौण कौण दईवान देखे, कौण कौण महिबान देखे।"

दीपचंद

वैसे तो और भी बहुत से गद्य ग्रन्थ मिलते हैं, पर यहाँ खरतरगच्छ के वाचक दीपचन्द द्वारा रचित 'बालतंत्र भाषा वचनिका' (सं० १७९२ वि० १७३५ ई०) जो विशेष रूप से उल्लेखनीय है, करीब २००० श्लोक परिमित है और लेखक के संग्रह में है।

अन्य स्फुट कवि——

बुलाकीदास——गोयल गोत्रीय थे। इनके पूर्वज बयाने में रहते थे। ये नन्दलाल के पुत्र थे, जिन्हें पं० हेमराज ने अपनी जेनल नामक कन्या ब्याही थी। इनकी माता बहुत व्युत्पन्न और धर्मप्रेमी थी, उसी के आदेश से सं० १७५४ वि० (१६९७ ई०) में इन्होंने 'पांडवपुराण' की रचना की। सं० १७४७ वि० (१६९० ई०) में रचित इनका 'प्रश्नोत्तर श्रावकाचार' भी प्राप्त है।

सिरोमणिदास——सिहरोन नगर में भट्टारक सागर कीर्ति के उपदेश से इन्होंने 'धर्मसार' नामक मौलिक ग्रन्थ सं० १७३२ वि० (१६७५ ई०) में बनाया जिसमें ७६३ दोहा चौपाई हैं।

पर्वत धर्मार्थी——बहुत अच्छे टीकाकार थे। इनकी 'समाधितंत्र वचनिका', 'द्रव्यसंग्रह वचनिका', 'सामयिक वचनिका' नामक भाषाटीकाएँ प्राप्त हैं।

समरथ——ये खरतरगच्छीय मतिरत्न के शिष्य थे। इनका दीक्षा नाम सुन्दर माणिक्य

था। ये सिंध प्रान्त में अधिक रहे। इनकी पंजाबी-सिन्धी भाषा की 'बावनी' प्रस्तुत लेखक ने प्रकाशित की है। सुप्रसिद्ध हिन्दी ग्रन्थ 'रसिकप्रिया' की संस्कृत टीका इन्होंने सं० १७६५ वि० (१७०८ ई०) में झाजीपुर में बनाई। हिन्दी में 'रसमंजरी चौपाई' नामक वैद्यक ग्रन्थ सं० १७६४-६५ वि० (१७०७-८ ई०) में इन्होंने दीरां में बनाया।

अजयराज—इनके 'चारमित्र कथा' (सं० १७२१ वि० = १६६४ ई०), 'यशोधर चरित्र', 'चर्खा चौपाई' आदि हिन्दी ग्रन्थ प्राप्त हैं।

इनके अतिरिक्त **विनयचन्द, लक्ष्मीचन्द, गुणविलास, केशरीचन्द, बालक, कनककीर्ति, लक्ष्मीदास, नेमिचन्द** आदि की रचनाएँ भी प्राप्त हैं।

दौलतराम कासलीवाल

इस शताब्दी के अन्त में दो-तीन ऐसे टीकाकार और कवि हो गए हैं जिनकी अधिक रचना तो १९वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक हुई, पर उनकी रचना का प्रारम्भ १८वीं के अन्त में ही हो चुका था। इनमें से पहले दिगम्बर कवि दौलतराम कासलीवाल हैं। ये जयपुर राज्य के बसवा ग्राम-निवासी कासलीवाल आनन्दराम के पुत्र थे। प्रारम्भ में तो इनकी प्रवृत्ति धर्म की ओर नहीं थी, पर किसी कार्यवश आगरा जाने पर ऋषभदासजी के उपदेश से दौलतराम को जैनधर्म की विशेष प्रतीति हुई। वहाँ उन्होंने 'पुन्याश्रव कथाकोश' सुना, जिसकी भाषाटीका इन्होंने सं० १७७७ वि० (१७२० ई०) में बनाई। उसके पश्चात जयपुर नगर को बसाने वाले महाराजा सवाई जयसिंह द्वारा जयपुर राज्य के वकील होकर ये उदयपुर गए। वहाँ महाराजा के पुत्र माधवसिंह की देखरेख का काम भी इन्हें करना पड़ा। उस समय की रचना में इन्होंने अपने को नृप-मंत्री लिखा है। उदयपुर में ये तीस वर्ष रहे। वहाँ साधर्मी पुरुषों की ही नहीं, महिलाओं की शैली (शास्त्र-श्रवण-मण्डली) भी इन्होंने खड़ी कर दी। वहाँ रहते हुए सं० १७९५ वि० (१७३८ ई०) में 'क्रियाकोश', सं० १७९८ वि० (१७४१ ई०) में 'आध्यात्म बारहखड़ी', सं० १८१८ वि० (१७६१ ई०) में 'बसुनन्दी श्रावकाचार भाषाटीका' बनाई। फिर जयपुर आकर भाई रायमल आदि की प्रेरणा से इन्होंने कई बड़े बड़े ग्रन्थों की टीकाएँ बनाईं, जिनमें 'पद्मपुराण' की टीका बाईस हजार श्लोकों की (सं० १८२३ वि० = १७६६ ई०), 'आदिपुराण' की टीका चौबीस हजार श्लोकों की (सं० १८२४ वि०=१७६७ ई०), 'पुरुषार्थसिद्धि उपाय अवशिष्टांश' (सं० १८२७ वि०= १७७० ई०), 'हरिवंश पुराण' की टीका १९ हजार श्लोकों की (सं० १८२९ वि०=१७७२ ई०) और 'परमात्मप्रकाश' की टीका सात हजार श्लोकों की विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इस प्रकार बावन वर्षों की लंबी साहित्य-सेवा के फलस्वरूप इन्होंने लगभग एक लाख श्लोक के ग्रन्थ रचे। आध्यात्म बारहखड़ी' वर्णानुक्रम से प्रारम्भ होने वाली बृहद रचना है। इनकी भाषा इस प्रकार की है[1]—

"हे देव, हे विज्ञानभूषण, अत्यन्त वृद्ध अवस्था करि हीनशक्ति जो मैं सो मेरा कहा अपराध? मोपर आप क्रोध करो सो मैं क्रोध का पात्र नाहीं। प्रथम अवस्था विषैं मेरे भुज हाथी के सुंड समान

१. विशेष जानकारी के लिए देखिए वीरवाणी, वर्ष २, अंक २ तथा अनेकांत, वर्ष १०, अंक १।

हुतें, उरस्थल प्रबल था, अर जाँघ गजबन्धन तुल्य हुती, अर शरीर दृढ़ हुआ, अब कर्मनि के उदय करि शरीर अत्यन्त शिथिल होय गया।"

कनककुशल और कुँवरकुशल

हिन्दी भाषा और साहित्य के प्रचार के लिए जैन विद्वानों ने जो विशिष्ट प्रयत्न किए हैं उनमें कच्छ में ब्रजभाषा का प्रचार-कार्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है। भुज के महाराव लखपत कुमारावस्था से ही साहित्य और कला के प्रेमी थे। एक बार तपागच्छीय विद्वान कवि कनक-कुशल अपने विद्वान शिष्य कुँवरकुशल के साथ भुज पधारे तो कुँवर लखपत ने उनसे ब्रजभाषा एवं छन्द-शास्त्र आदि का ज्ञान प्राप्त किया और उन्हें गाँव और सम्मान देकर अपना गुरु माना। कनककुशल की प्रेरणा से लखपत ने अपने यहाँ ब्रजभाषा की शिक्षा के लिए एक विद्यालय चालू किया जिसके विद्यार्थियों के खाने-पीने आदि का प्रबन्ध राज्य की ओर से होता था। भट्टारक कुशल उस विद्यालय के प्रधान शिक्षक थे। राजस्थान, गुजरात, सौराष्ट्र के चारणादि विद्यार्थी वहाँ की शिक्षा से लाभ उठाने के लिए पहुँचते थे। यह विद्यालय बहुत लंबे अर्से तक चला और इसके द्वारा अनेक विद्यार्थियों ने ब्रजभाषा छन्द एवं काव्यशास्त्रादि का अभ्यास किया। कुमार लखपत के लिए भट्टारक कनककुशल ने 'लखपतमंजरी नाममाला' २०५ पद्यों की सं० १७९४ वि० (१७३७ ई०) में बनाई और शाहजहाँ के सम्मानित कवि सुन्दर द्वारा रचित 'सुन्दर-शृंगार' की भाषाटीका कुँवर लखपत के नाम से की। मूल ग्रन्थ ३६५ पद्यों का है। उसकी विस्तृत भाषा टीका २८७५ श्लोक-परिमित है। सं० १७९८ वि० (१७४१ ई०) से पूर्व इसकी रचना हो चुकी थी। इसकी दो प्रतियाँ पाटण के हेमचन्द्र सूरि ज्ञानभण्डार में सुरक्षित हैं।

कनककुशल के शिष्य कुँवरकुशल ने अपने गुरु के कार्य को और अधिक योग्यता से आगे बढ़ाया। इनकी पृथक रचना अपने गुरु की 'लखपतमंजरी नाममाला' का बड़ा संस्करण है। इसमें १२१ पद्यों में आश्रयदाता लखपत के वंश का ऐतिहासिक वृत्तान्त है और बाद के २८ पद्यों में कवि ने अपनी परम्परा का वर्णन किया है। मूल 'नाममाला' इसके बाद प्रारम्भ होनी चाहिए, पर वह अंश अभी तक प्राप्त नहीं हुआ, केवल प्रारम्भ के १३९ पद्यों की प्रति ही प्राप्त हुई है। अपने गुरु की 'नाममाला' के करीब छः महीने बाद ही उसी नाम की यह रचना कुँवर लखपत के कहने से इन्होंने बनाई। इनका दूसरा कोश ग्रन्थ 'पारसात नाममाला' है जो इसी नाम वाले फारसी शब्दकोश का ब्रजभाषा में पद्यानुवाद है। तीसरे छन्द ग्रन्थ 'लखपति पिंगल' की रचना सं० १८०७ वि० (१७५० ई०) में हुई। चौथा अलंकार संबंधी ग्रन्थ 'लखपति जससिंधु' नाम का है जो तेरह तरंगों में समाप्त होता है। पाँचवीं विशिष्ट रचना महाराव लखपत के ही संबंध में 'महाराउ लखपत द्वावैत' है जो खड़ी बोली हिन्दी गद्य में लिखी गई है। 'द्वावैत' संज्ञक प्राप्त रचनाओं में यह सबसे बड़ी है। कवि रूपचन्द रचित 'जिनसुख सूरि मजलस द्वावैत' का परिचय पहले दिया गया है। इस पर उसका प्रभाव स्पष्ट दीख पड़ता है। इसकी दो-एक पंक्तियाँ नमूने के तौर पर यहाँ दी जा रही हैं—

आदि : "अहो आवो बे यार, बैठो दरबार। ये चाँदनी राति, कहो मजलसि की बात। कहो कौन कौन मुलक कौन कौन राजा देखे। कौन कौन पात्स्या देखे।"

अंत: "जिनकी नीकी करनी, काहू तैं बजाय बरनी। अतुल तेज उछहनै च्यारों जुग अमर, यह सदा सफल असीस देत कवि कुँअर।"

इनकी छठीं रचना महाराउ लखपति का मरसिया अथवा मृत्युकाव्य है जो ९० पद्यों में है। सं० १८१७ वि० (१७६० ई०) की जेठ सुदी ५ को लखपत की मृत्यु हुई और उसी के आसपास की यह रचना है। सातवीं रचना लखपत के पुत्र रावल गौड़ के नाम से रचित छन्द ग्रन्थ 'गौड़ पिंगल' है। इसकी समाप्ति सं० १८२१ वि० (१७६४ ई०) की अक्षय तृतीया को हुई। अपने विषय का यह महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। आठवीं रचना डिंगल भाषा में 'माता नो छन्द' या 'ईश्वरी छन्द' है जिसमें कच्छ के राजाओं की कुलदेवी आसापुरा की स्तुति है। प्राप्त रचनाओं से कवि कुँवरकुशल अनेक भाषाओं और विषयों के विद्वान सिद्ध होते हैं। कोश, छन्द, अलंकार और काव्य आदि के ज्ञान के साथ ब्रज, खड़ीबोली, डिंगल और फारसी पर भी इनका अधिकार जान पड़ता है।

विनयभक्त

१८वीं शताब्दी के अन्त और १९वीं के प्रारम्भ में मुनि वास्तावस्तकल ने, जिनका दीक्षा नाम विनयभक्त था, 'जिनलाभ सूरि द्वावैत' और 'अन्योक्ति बावनी' नामक सुन्दर हिन्दी कृतियाँ प्रस्तुत कीं। ये खरतर गच्छ के मतिभद्र के शिष्य थे। इनके 'द्वावैत' का कुछ अंश इस प्रकार है—

"ऐसे जिनकु सब जस अवदात। किनसे कह्यो न जात। सब दरियाव कैं जल की रुसनाई करिवावै। आसमान का कागद बनवावै। सुरगुरु से आपु लिखवै की हिम्मत करै। सो थकि जात है। इक उपमान कै करे।"

इस शताब्दी में कई विशिष्ट कवि और भाषा टीकाओं के निर्माता जैन विद्वान हुए, जिनमें से टोडरमल, जयचन्द, दौलतराम तथा ज्ञानसार आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनका परिचय क्रमशः नीचे दिया जा रहा है—

टोडरमल

इनका जन्म सं० १७९७ वि० (१७४० ई०) में जयपुर के खण्डेलवाल भासा या बड़जात्या गोत्र के धोलाका वंश में हुआ। इनके पिता का नाम जोगीदास और माता का नाम रम्भाबाई था। टोडरमल की प्रतिभा असाधारण थी। दस वर्ष की अवस्था में ही ये बड़े-बड़े सिद्धान्त ग्रन्थों का रहस्य समझने लगे। छः महीने में इन्होंने 'जैनेन्द्र व्याकरण' पढ़ डाला। अर्थोपार्जन के लिए टोडरमल को सिंघाणा जाना पड़ा था, जहाँ संयोगवश अत्यंत प्रेरणादायक भाई रायमल्ल से भेंट हो गई। पंडित जी की प्रतिभा से मुग्ध होकर इन्होंने पंडितजी को 'गौमट्टसार', 'लब्धिसार,' 'क्षणसार' और 'त्रिलोकसार' आदि कठिन सिद्धान्त ग्रन्थों की टीकाएँ लिखने को बाध्य कर दिया। तीन वर्षों में उस छोटे से गाँव में लगभग ६५ हजार श्लोक-परिमित इन चार ग्रन्थों की भाषाटीका पंडित जी ने समाप्त कर दी। 'गौमट्टसार टीका' (सं० १८१८ वि० = १७६१ ई०) अड़तीस हजार श्लोकों की, 'लब्धिसार', 'क्षपणसार' की तेरह हजार की और 'त्रिलोकसार' की टीका चौदह हजार श्लोकों की है। पंडित टोडरमल की जैसी प्रतिभा और रायमल्ल की सी प्रेरणा वास्तव में दुर्लभ है। आपकी अन्य रचनाओं में 'रहस्यपूर्ण चिट्ठी'

सं० १८११ वि० (१७५४ ई०) में मुल्तान के अध्यात्म प्रेमी भाइयों के प्रश्नों के उत्तर में लिखी गई थी। यह चिट्ठी अध्यात्म रस के अनुभव से ओतप्रोत है। अन्य टीकाओं में 'आत्मानुशासन' टीका में रचना-काल नहीं मिलता। 'पुरुषार्थसिद्धि उपाय' की टीका (सं० १८२७ वि०=१७७० ई०) अपूर्ण रह गई थी जिसकी पूर्ति रत्नचन्द्र दिवान की प्रेरणा से पं० दौलतराम ने की। इनका मौलिक ग्रन्थ 'मोक्षमार्गप्रकाशक' उत्कृष्ट कोटि का आध्यात्मिक ग्रन्थ है। दुर्भाग्यवश यह ग्रन्थ भी अपूर्ण रह गया। टोडरमल की असाधारण प्रतिभा के कारण ब्राह्मण लोग उनसे ईर्ष्या करने लगे और उन सबों ने उनके विरुद्ध प्रचार कर जयपुर के महाराज के द्वारा प्राण-दण्ड की आज्ञा करवा दी। प्रवाद के अनुसार हाथी से कुचलवा कर ऐसे अद्वितीय विद्वान का असमय में ही अन्त किया गया। केवल २६ वर्ष की उम्र पाने पर भी ऐसा आसाधारण कार्य उन्होंने किया। यदि वे और अधिक लंबे काल तक जीवित रहते तो न मालूम क्या कर जाते।

ऋषि ज्ञानसार

मस्त योगी सुकवि एवं प्रखर समालोचक श्रीमत ज्ञानसार का जन्म बीकानेर राज्य के जांगलू के निकटवर्ती जैगलेवास नामक गाँव में हुआ था। ओसवाल साँड़ गोत्रीय उदयचन्द इनके पिता और जीवनदेवी इनकी माता थीं। इनका जन्म का नाम नारायण था। सं० १८१२ वि० (१७५५ ई०) में विषम दुष्काल पड़ा। उसी समय से ये खरतरगच्छीय आचार्य जिनलाभसूरि की सेवा में रहकर विद्याध्ययन करने लगे। वि० सं० १८२१ (१७६४ ई०), माघ सुदी ८ को पादरू गाँव में इन्होंने यति-दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा-नाम ज्ञानसार रखा गया। सं० १८३४ वि० (१७७७ ई०) तक तो ये अपने गुरु रायचंद के साथ रहे, किंतु इसी बीच इनके गुरु का स्वर्गवास हो गया और १८३४ वि० (१७७७ ई०) में जिनलाभसूरि भी स्वर्गवासी हो गए। फिर ये अपने गुरु के ज्येष्ठ गुरुभ्राता राजधर्म के साथ रहने लगे। पाली में चौमासा बिता कर राजधर्म नागोर आए और ज्ञानसार किशनगढ़ गए। वहाँ से फिर नागोर में दोनों मिले और सं० १८४५ वि० (१७८८ ई०) तक प्रायः साथ ही रहे। इसके पश्चात ज्ञानसार जयपुर में रहने लगे। किन्तु सं० १८४८ वि० (१७९१ ई०) में जब ये जयपुर में थे, तत्कालीन आचार्य जिनचन्द्र सूरि ने इन्हें पूर्व देश के महाजनटोली जाने का आदेश दिया। परिणामस्वरूप सं० १८४९ वि० (१७९२ ई०) का चतुर्मास महाजनटोली में बिताया तथा संघ के साथ सम्मेतशिखर की यात्रा की। सं० १८५०-५१ वि० (१७९३-४ ई०) का चतुर्मास अजीमगंज आदि में बिता कर, वसंतपंचमी को तीर्थाधिराज की यात्रा कर पश्चिम की ओर विहार करते हुए सं० १९५२ वि० (१७९५ ई०) का चतुर्मास इन्होंने सम्भवतः दिल्ली में किया। पूर्व देश के नाना अनुभवों का सजीव वर्णन इनके 'पूर्वदेश वर्णन' ग्रन्थ में पाया जाता है। सं० १८५३ वि० (१७९६ ई०) में ये पुनः जयपुर पधारे जहाँ इनकी प्रतिभा की कीर्ति महाराज के कानों तक पहुँची। सं० १८५३ वि० (१७९६ ई०) की माघ बदी ८ को पूर्ण होने वाला 'समुद्रवध' चित्र काव्य इन्होंने महाराजा प्रतापसिंह के गुण-वर्णन में लिखा और उसकी 'स्वोपज्ञवचनिका' भी लिखी। महाराज के आग्रह से सं० १८५३ से ६२ वि० (१७९६-१८०५ ई०) तक दस चतुर्मास इन्होंने जयपुर में ही बिताए। इसी बीच 'संबोध अष्टोत्तरि' आदि नौ कृतियाँ रची गईं, फिर किशनगढ़ जाना हुआ। सं० १८६३ से ६८ वि०

(१८०६-११ ई०) तक छः चतुर्मास किशनगढ़ में विताए। ये कई वर्षों से श्रीमत आनन्दघन के स्तवन और पदों पर मनन कर रहे थे। किशनगढ़ में रहकर ६५ वर्ष की अवस्था में इन्होंने 'आनन्दघन चौवीसी' पर विस्तृत 'वालाववोध भाषाटीका' सं० १८६६ वि० (१७०९ ई०) में बनाई। सं० १८६९ वि० (१८१२ ई०) में वहाँ से विहार कर शत्रुंजय तीर्थ की यात्रा की, फिर बीकानेर आकर शेष जीवन वहीं विताया। आध्यात्मिक झुकाव प्रारम्भ से था ही, अतः श्मशानों में ध्यानाभ्यास करने लगे। कहते हैं, इससे इन्हें पार्श्वपक्ष देव का साक्षात्कार हुआ। बीकानेर के महाराज सूरतसिंह तो इन्हें ईश्वर का अवतार मानते थे। अपने गच्छ में भी इनका बड़ा प्रभाव था। राजस्थानी और हिन्दी, दोनों भाषाओं के गद्य और पद्य में इनकी प्रचुर रचनाएँ मिलती हैं। सौभाग्यवश इन्हें दीर्घायु भी मिली। सं० १८९८ वि० (१८४१ ई०) में ९८ वर्ष की अवस्था में बीकानेर में ही ये स्वर्गवासी हुए। इनके अग्नि-संस्कार स्थान पर एक शाला में इनकी चरणपादुकाएँ प्रतिष्ठित हैं।

इनकी हिन्दी रचनाओं में 'मालापिंगल' नामक छन्द-ग्रन्थ है। 'कामोद्दीपन' एक अलंकारखचित काव्य है। 'पूर्वदेशवर्णन' तो अपने ढंग की एक ही रचना है। १३३ पद्यों में वहाँ के रीति-रिवाज, वेश-भूषा, लोक-व्यवहार तथा प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन बहुत ही सजीव लगते हैं। 'प्रस्ताविक अष्टोत्तरी' की प्रथम पंक्ति में प्रस्ताविक सुभाषित और दूसरी पंक्ति में उसका दृष्टान्त है। इस तरह इसमें ११२ दोहे हैं। 'निहालबावनी', जिसका अपर नाम 'गूढ़ाबावनी' भी है, पहेलियों के रूप में है। 'भावछत्तीसी', 'चरित्रछत्तीसी', 'आत्मप्रबोधछत्तीसी' और 'प्रभु-छत्तीसी' में जैन सिद्धान्तों एवं आध्यात्मिक रहस्यों का वर्णन है। 'बहोत्तरी' में ७३ आध्यात्मिक गेय पद हैं। 'चन्दचौपाई' की समालोचना के ४१६ दोहे इनके छन्द-ज्ञान, काव्यशास्त्र और समा-लोचना-पद्धति के उत्तम उदाहरण हैं। सुप्रसिद्ध 'मोहनविजय' के 'चन्दराजा रास' की समालोचना इस ग्रन्थ में बहुत ही उच्च कोटि की की गई है। हिन्दी साहित्य में अपने ढंग का यह एक ही ग्रन्थ है जो समालोचना का उत्तम आदर्श उपस्थित करता है। इन्होंने 'चन्दरास' के केवल दोषों का ही उद्‌घाटन नहीं किया है, प्रसंगानुसार बड़े सरस दोहे बना कर उस ग्रन्थ की शोभा में चौगुनी वृद्धि भी की है। दोहे बहुत ही सरस हैं। उदाहरणार्थ आदि अन्त के कुछ दोहे यहाँ दिए जा रहे हैं—

आदि: ए निश्चै निश्चै करौ, लखि रचना को माँझ।
छंद अलंकारै निपुण, नहिं मोहन कविराज ॥१॥
दोहा छन्दे विषम पद, कही तीन दस मात।
सम में ग्यारै हू धरौ, छन्द गिरंथै ख्यात ॥२॥

अन्त: ना कवि की निन्दा करी, ना कछु राखी कान।
कवि कृत कविता शास्त्र की, सम्मति लिखी सयान ॥२॥
दोहा त्रिक दस च्यार सौ, प्रस्ताविक नवीन।
खरतर भट्टारक गच्छै, ज्ञानसार लिख दीन ॥३॥

इनके आत्मानुभव की प्रसादी 'बहोत्तरी' आदि के गेय पदों में मिलती है। नमूने के रूप में एक पद दिया जा रहा है—

अवधू आतम रूप प्रकासा, भरम रह्या नहीं मासा।
नहीं हम इन्द्री मन वच तन बल, नहीं हम साँस उसासा ॥१॥
क्रोध मान माया नहीं लोभा, नहीं हम जग की आसा।
नहीं हम रूपी नहीं अवरूपी, नहीं हम हरख उदासा ॥२॥
बंध मोक्ष नहीं हमरै कबहीं, नहीं उपपात विनासा।
शुद्ध सरूपी हम सब कालै, ज्ञानसार पद बासा ॥३॥

ज्ञानसार एक उच्च कोटि के आध्यात्मिक कवि, टीकाकार, समालोचक, आत्मानुभवी एवं मान्य महापुरुष थे।

इस शताब्दी के अन्य कवियों में कविवर दौलतराम, बुधजन आदि प्रमुख हैं। नीचे इनका परिचय दिया जा रहा है—

कविवर दौलतराम

इनका जन्म हाथरस जिले के सासनी गाँव में सं० १८५०-५५ वि० (१७९३-८ ई०) के लगभग हुआ। पालीवाल जाति के गंगिरीवाल गोत्र के, जिसे इन्होंने फतेहपुरिया भी लिखा है, टोडरमल के ये पुत्र थे। जैन अध्यात्म और सिद्धान्त ग्रन्थों के ये मर्मज्ञ विद्वान थे। इनकी रचनाएँ यद्यपि बहुत ही थोड़ी हैं, पर हैं उच्च कोटि की। 'छ ढाला' आपकी महत्वपूर्ण रचना है, जिसमें जैन धर्म और अध्यात्म का निचोड़ गागर में सागर की तरह समाविष्ट है। अन्य रचनाओं में गेय पद भाव और भाषा की दृष्टि से बहुत ही सुन्दर और प्रबोधक हैं। इनका बहुत प्रचार है। हजारों जैन अध्यात्म-प्रेमियों के ये कण्ठहार बने हुए हैं। नमूने के लिए एक पद दिया जा रहा है—

हम तो कबहूं न निज घर आए।
पर घर फिरत बहुत दिन बीते, नाम अनेक धराए ॥१॥ टेक
पर पद निज पद मानि मगन ह्वै, पर परनति लपटाए।
शुद्ध बुद्ध सुखकन्द मनोहर, चेतन भाव न भाए ॥२॥
नर पशु देव नरक जिन जान्यौ, परजय बुद्धि लहाए।
अमल अखण्ड अतुल अबिनासी, आतम गुन नहिं गाए ॥३॥
यह बहु भूल भई हमरी फिर, कहा काज पछताए।
'दौल' तजौ अजहूँ विषयन को, सतगुरु वचन सुहाए ॥४॥

सं० १८८२-८३ वि० (१८२५-२६ ई०) में मथुरा के सेठ मनीराम हाथरस आए। यहाँ कविवर को 'गोमट्टसार' का स्वाध्याय करते देख वे बहुत प्रसन्न हुए और इन्हें मथुरा ले गए। पर ये भक्ति और वैराग्य के कारण आडम्बर से दूर रहना चाहते थे, इसलिए वे वहाँ से लश्कर और फिर सासनी आ गए। अलीगढ़ में छींटे छापने का काम करते हुए भी ये शास्त्र-स्वाध्याय और श्लोक कण्ठस्थ करते रहते थे। फिर ये दिल्ली गए जहाँ अध्यात्म-चिन्तन निर्बाध रूप से चलता रहा। 'छ ढाला' की रचना सं० १८९१ वि० के आसपास हुई।

सं० १९१० वि० (१८५३ ई०) में इन्होंने सम्मेतशिखर तीर्थ की यात्रा की और सं० १९२३ या २४ वि० (१८६६-६७ ई०) में ये स्वर्गवासी हुए।[1]

कवि बुधजन

कवि बुधजन का नाम बुधीचन्द था। ये खण्डेलवाल बजगोत्रीय सेठ निहालचन्द के तृतीय पुत्र थे। धर्मनिष्ठ, दयालु और अध्यात्म-प्रेमी होने के साथ ही ये आशुकवि भी थे। 'बुधजन सतसई', 'तत्वार्थबोध' (सं० १८७४ वि०=१८१७ ई०), 'बुधजनविलास' और 'पंचास्तिकाय पद्यानुवाद' (सं० १८८२ वि०=१८२५ ई०), ये चार रचनाएँ इनकी प्राप्त हैं। इनमें 'बुधजन सतसई' में चार प्रकरण हैं— देवानुराग शतक, सुभाषित नीति, उपदेशाधिकार और विराग-भावना। इनके सुभाषित के नीति-दोहे बहुत ही सुन्दर हैं। 'सतसई' की रचना सं० १८७९ वि० (१८२२ ई०) में और 'तत्वार्थबोधिनी' की १८८९ वि० (१८३२ ई०) में हुई।

'बुधजनविलास' इनकी फुटकर रचनाओं का संग्रह है। उनमें से 'छ ढाला' सं० १८५९ वि० (१८०२ ई०) की अक्षय तृतीया को बनाया गया। 'पंचास्तिकाय पद्यानुवाद' सं० १८९१ वि० (१८३४ ई०) में रचा गया। 'बुधजनविलास' का संकलन सं० १८९२ वि० (१८३५ ई०) में किए जाने का उल्लेख 'आध्यात्म पदावली' के आमुख में किया गया है। इनका एक आध्यात्मिक पद और सतसई के दो दोहे नीचे दिए जा रहे हैं—

मैं देखा आतमरामा।
रूप परस रस गंध तें न्यारा, दरस ज्ञान गुन धामा ॥१॥
नित्य निरंजन जाके नाहीं, क्रोध लोभ मद कामा।
नहिं साहिब नहिं चाकर भाई, नहीं तात नहिं मामा ॥२॥
भूल अनादि थकी जग भटकत, ले पुद्गल का जामा।
'बुधजन' संगति गुरु की कीजै, मैं पाया मुझ ठामा ॥३॥

पर उपदेश करन निपुन, ते तो लखे अनेक।
करै समिक बोले समिक, ते हजार में एक॥
धंधा करता फिरत है, करत न अपना काज।
घर की झुपड़ी जरत है, पर घर करत इलाज॥

कवि वृन्दावन

ये शाहाबाद जिले के बारा नामक ग्राम में सं० १८२७ वि० (१७७० ई०) में पैदा हुए थे। पिता का नाम धर्मचन्द था। १२ वर्ष की अवस्था में ये अपने पिता के साथ काशी आए और वहीं रहने लगे। ये एक प्रतिभाशाली कवि थे। इनकी सर्वोत्तम रचना 'प्रवचन-सार' का हिन्दी पद्यानुवाद सं० १९०५ वि० (१८४८ ई०) में हुआ। इन्होंने इसको सुन्दर बनाने के लिए तीन बार परिश्रम किया, तब इन्हें कुछ सन्तोष हुआ।

---

१. विशेष जानकारी के लिए देखिए अनेकान्त, वर्ष ११, अंक ३।

दूसरा ग्रन्थ 'छन्दशतक' अपने पुत्र अजितदास को छन्दों का ज्ञान कराने के लिए इन्होंने सं० १८९८ वि० (१८४१ ई०) में बनाया। अपने विषय का यह उपयोगी और अनूठा ग्रन्थ है। इनकी तीसरी रचना 'वृन्दावन विलास' है, जिसमें फुटकर कविताओं, पदों और स्तुतियों का संग्रह है। अन्य रचनाओं में 'चतुर्विंशति पूजापाठ', '३० चौबीसी पूजापाठ' और 'पासा केवली' हैं। दोनों पूजाएँ अलंकृत शैली में रची गई हैं।

जयचंद

इस शताब्दी के प्रसिद्ध भाषाटीकाकार पं० जयचंद विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये फागी गाँव के निवासी थे। इनके पिता मोतीराम पटवारी का काम करते थे। फिर ये जयपुर रहने लगे और वहाँ शास्त्र स्वाध्याय मण्डल के वातावरण से इनका सैद्धान्तिक ज्ञान बढ़ता गया। सं० १८६१ से ७० वि० (१८०४-१३ ई०) तक की अवधि में इन्होंने कई महत्वपूर्ण ग्रन्थों की टीकाएँ लिखीं। 'तत्वार्थसूत्र' जैसे गम्भीर ग्रन्थ की संस्कृत टीका के आधार पर इन्होंने एक विशद भाषाटीका बनाई। फिर १८६७ वि० (१८१० ई०) में 'परीक्षामुख' नामक जैन न्याय ग्रन्थ की 'प्रमेयरत्नमाला टीका' की भाषा, 'द्रव्यसंग्रह' की वचनिका और छन्दों का अनुवाद तथा 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा की भाषाटीका' का प्रणयन किया। इनके अन्य टीका-ग्रन्थ हैं—'समयसार भाषाटीका' (सं० १८६४ वि०=१८०७ ई०), 'देवागमस्तोत्र टीका' (सं० १८६६ वि०=१८०९ ई०), 'अष्टपाहुड़ टीका' (सं० १८६७ वि०=१८१० ई०), 'ज्ञानार्णव भाषाटीका' (सं० १८६९ वि० =१८१२ ई०), 'भक्तामरटीका' (सं० १८७० वि०=१८१३ ई०), 'सामयिकपाठ', 'पत्रपरीक्षा,' 'चन्द्रप्रभा चरित्र' (द्वितीय सर्ग), 'आप्तमीमांसा टीका', 'अन्तिम पदसंग्रह' (सभी सं० १८७४ वि० = १८१७ ई०)। संस्कृत, प्राकृत और सैद्धान्तिक विषयों के ये गम्भीर विद्वान थे। इनके गेय पदों में स्वानुभूति और वैराग्य छलकते रहते हैं। उपर्युक्त रचनाओं में 'द्रव्यसंग्रह पद्यानुवाद' तथा 'छन्दोबद्ध पत्र', ये दो ग्रन्थ पद्य में, शेष सभी ग्रन्थ गद्य में हैं। इनके गद्य का नमूना देखिए—

"जैसे इस लोक विषैं सुवर्ण अर रूपा कूँ गालि एक किए एक पिण्ड का व्यवहार होय हैं तैसें आत्मा के अर शरीर के परस्पर एक क्षेत्र की अवस्था ही तें एकपणा का व्यवहार है ऐसैं व्यवहार मात्र ही करि आत्मा अर शरीर का एकपणा है। बहुरि निश्चय तैं एकपणा नाहीं हैं जातै पीला अर पांडुर है स्वभाव जिनिका ऐसा सुवर्ण अर रूपा है तिनकै जैसे निश्चय विचारिए तब अत्यन्त भिन्नपणा करि एक एक पदार्थपणा की अनुपपत्ति है, तातैं नानापना ही है।" —समयसार, २८।

उत्तमचंद तथा उदयचंद

श्वेताम्बर जैन कवियों में जोधपुर के महाराज मानसिंह के मंत्री, भंडारी उत्तमचंद और उदयचंद, दोनों भाई छन्द, अलंकार आदि काव्यशास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान थे। भण्डारी उत्तमचंद महाराज भीमसिंह और मानसिंह के सचिव थे। इनका रचना-काल सं० १८३३ से १८८६ वि० (१७७६ से १८२९ ई०) तक का है। इनके 'अलंकार आशय' नामक अलंकार-निरूपण के उत्तम ग्रन्थ की रचना सं० १८५७ वि० (१८०० ई०) की विजया दशमी को भीमसिंह के राज्य में हुई। इनकी अन्य रचनाएँ 'नाथचन्द्रिका' (सं० १८६१ वि०=१८०४ ई०), 'तारक

तत्व,' 'नाथपंथियों की महिमा' आदि नाथ-सम्प्रदाय से संबंधित हैं। 'रतना हमीर की बात' प्रकाशित हो चुकी है और 'नीति की बात' का भी उल्लेख मिलता है।

इनके छोटे भाई उदयचंद की छोटी-बड़ी ३७ रचनाएँ प्राप्त हुई हैं जिनका रचना-काल सं० १८६४ से १९०० वि० (१८०७ से १८४३ ई०) तक माना जाता है। 'छन्दप्रबन्ध' और 'छन्दविभूषण' छन्द-शास्त्र के उत्तम ग्रन्थ हैं। 'दूषणदर्पण', 'रसनिवास', 'शब्दार्थचन्द्रिका' भी साहित्यिक ग्रन्थ हैं। कुछ अन्य ग्रन्थ नाथ-संप्रदाय संबंधी हैं और कुछ जैन धर्म संबंधी। वेदान्त के भी ये अच्छे विद्वान थे। अन्य रचनाओं में 'ज्ञानप्रदीपिका', 'जलंधरनाथ-भक्तिप्रबोध', 'शनिश्चर की कथा', 'आनुपूर्वी प्रस्तारप्रबन्ध भाषा', 'ज्ञान सत्तावनी', 'ब्रह्मविनोद', 'ब्रह्मविलास', 'विज्ञविनोद', 'विज्ञविलास', 'वीतरागवन्दना', 'करुणा बत्तीसी', 'साधुवन्दना', 'जुलप्रकाश', 'वीनती', 'प्रश्नोत्तर वार्ता', 'विवेकपचीसी', 'विचारचन्द्रोदय', 'आत्मरत्नमाला', 'ज्ञानप्रभाकरछत्तीसी', 'आत्मज्ञानपंचाशिका', 'विचारसार', 'षट्मतसारसिद्धान्त', 'आत्म-प्रबोध भाषा', 'आत्मसारमनोपदेश भाषा', 'बृहच्चाणक्य भाषा', 'लघुचाणक्य भाषा', 'सभा-सार', 'सिखनख', 'कोकपद्य', 'सरोदय,' 'शृंगार कवित्त' तथा 'सौभाग्यलक्ष्मी स्तोत्र' प्राप्त हुए हैं। इनसे ये अनेक विषयों के ज्ञाता और सुकवि सिद्ध होते हैं।

अन्य स्फुट कवि

भण्डारी परिवार में **पीरचंद, किशोरदास** आदि और भी कुछ काव्य-मर्मज्ञ और कवि हुए हैं जिनकी विस्तृत जानकारी के लिए 'संयुक्त राजस्थान' (दिसम्बर, १९५६) में प्रकाशित लेखक का निबन्ध देखना चाहिए।

राजस्थान के अन्य श्वेताम्बर कवियों में से **रघुपति** की 'जैनसारबावनी' (सं० १८०२ वि०=१७४५ ई०) और **देवहर्ष, गुलाबविजय, भक्तिविजय, दीपविजय, मनरूपविजय** आदि की बनाई हुई नगर वर्णनात्मक गजलें और **मूलचंद श्रावक** का 'वैद्यहुलास' नामक वैद्यक ग्रन्थ आदि प्राप्त हैं।

पंजाब के कवि

पंजाब में भी कुछ श्वेताम्बर जैन हिन्दी कवि हो गए हैं जिनमें **मेघकवि** और **हरजसराय** उल्लेखनीय हैं। मेघ कवि उत्तराध गच्छ के यति थे और फगवाड़े में रहते थे। सं १८१७ वि० (१७६० ई०) में वहीं रहकर इन्होंने 'मेघमाला' नामक वर्षा-विज्ञान संबंधी ग्रन्थ बनाया। दान, शील, तप, भाव सम्बन्धी रचनाएँ भी सं० १८१७ वि० (१७६० ई०) की हैं। सं० १८२० वि० (१७६३ ई०) में रचित 'गोपीचन्द कथा' नामक रचना की एक प्रति साधु आश्रम, होशियार-पुर के संग्रह में अभी मिली है। इनकी सबसे महत्वपूर्ण रचना 'मेघविनोद' नामक वैद्यक ग्रन्थ है जो सं० १८३५ वि० (१७७८ ई०) में रचा गया। अपने विषय का यह बहुत उपयोगी ग्रन्थ माना जाता है। पंजाब के वैद्यों में इसका काफी प्रचार है। यह गुरुमुखी लिपि में कई वर्षों पहले छपा था। अब इसका हिन्दी अनुवाद भी प्रकाशित हो चुका है।

हरजसराय कसूर के निवासी ओसवाल श्रावक थे। ये छन्द और काव्य-शास्त्र के मर्मज्ञ ज्ञात होते हैं। इन्होंने सं० १८६४ वि० (१८०७ ई०) में 'साधुगुणरत्नमाला',

सं० १८६५ वि० (१८०८ ई०) में 'देवर्चना' और 'देवाधिदेव' की रचना की। इनमें 'देवर्चना' ९१२ सरस पद्यों में समाप्त हुई है। इस ग्रन्थ में विविध छन्दों के साथ अन्तर्लापिका, बहिर्लापिका, प्रहेलिका आदि का संकलन प्रशंसनीय हुआ है। नव रसों का वर्णन भी मनोहर है।

बंगाल के कवि

बंगाल में १९वीं शताब्दी में जब जगत सेठ का प्रभाव मुर्शिदाबाद में भलीभाँति जम गया और अन्य भी बहुत से ओसवाल वहाँ जाकर रहने लगे, तो उनके धर्मोपदेश के लिए जैन यति भी वहाँ पहुँचने लगे। इनमें सर्वप्रथम पार्श्वचन्दगच्छीय **निहाल कवि** उल्लेखनीय हैं, जिनकी रचनाओं में 'बंगाल की गजल', 'ब्रह्मबावनी' (सं० १८०१ वि० = १७४४ ई०), 'मानकदेवी-रास,' 'जीवविचार भाषा,' और 'नवतत्व भाषा' (सं० १८०६-७ वि० = १७४९-५० ई०) अधिक प्रसिद्ध हैं। इनमें से अधिकांश प्रकाशित हैं।

राजस्थान से खरतर गच्छ के **क्षमाकल्याण** और **ज्ञानसार** भी मकसुदाबाद गए और वहीं से इनकी हिन्दी रचनाओं का प्रारम्भ हुआ। इनमें से ज्ञानसार का परिचय ऊपर दिया जा चुका है। क्षमाकल्याण के नाम से 'जपभाषा', 'हितशिक्षा', 'द्वात्रिंशिका' और कुछ स्तवन आदि पद्य में और 'अम्बड़चरित्र' हिन्दी गद्य में मिलते हैं। राजस्थानी और संस्कृत में तो इनकी अनेक रचनाएँ मिलती हैं। इस शताब्दी के ये उल्लेखनीय ग्रन्थकारों में से हैं।

तपागच्छ के कवि चेतनविजय का तो जन्म ही बंगाल में हुआ था। सं० १८३० से १८५३ वि० (१७७३ से १७९७ ई०) तक की इनकी अनेक रचनाएँ मिलती हैं, जिनमें से 'लघुपिंगल' छन्दशास्त्र का और 'आत्मप्रबोधनाममाला' कोश का ग्रन्थ है। इसके अतिरिक्त 'सीताचरित्र', 'जम्बूचरित्र' तथा 'पालरास' चरित्र-काव्य हैं।[1]

बंगाल के राजगंज में ओसवाल चंडालिया आसकरण के लिए खरतरगच्छीय कवि तत्वकुमार ने 'रत्नपरीक्षा' नामक ग्रन्थ सं० १८६५ वि० (१८०८ ई०) में बनाया। 'श्रीपाल-चरित्र' नाम का इनका एक अन्य ग्रन्थ भी छप चुका है।

रायचंद

श्वेताम्बर जैन कवि रायचंद भी हिन्दी के अच्छे कवि थे। 'कल्पसूत्र' का हिन्दी पद्यानुवाद सं० १८३८ वि० (१७८१ ई०) में बनारस में और 'अवयवीशकुनावली' १८१७ वि० (१७६० ई०) में नागपुर में रचा हुआ मिलता है। 'कल्पसूत्र' का पद्यानुवाद राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द के पूर्वजों के लिए बनाया गया था और राजा साहब ने ही उसे 'कल्पभाषा' के नाम से प्रकाशित किया था।

दिगम्बर शाखा के हिन्दी कवि

१९वीं शताब्दी में दिगम्बर कवि बहुत से हुए हैं जिनमें से कुछ कवियों का यहाँ संक्षेप में उल्लेख कर दिया जाता है—

---

१. विस्तृत जानकारी के लिए देखिए—अजंता, जून १९५६ में दिगम्बर शाखा के हिन्दी कवि शीर्षक प्रस्तुत लेखक का निबंध।

बुन्देलखण्ड के कवि **देवीदास** और **नवलसाह** उल्लेखनीय हैं। कवि देवीदास ओरछा स्टेट के दुगौड़ा गाँव के निवासी थे। इनके पूर्वज भदावर देश के केलगवाँ के निवासी थे। इनकी २३ लघु रचनाओं का संग्रह 'परमानन्द (यादव) विलास' के नाम से प्रसिद्ध है।[1]

कवि **नवलसाह** का 'वर्द्धमानकाव्य' (सं० १८२५ वि० = १७६८ ई०) एक सुन्दर महा-काव्य है जो प्रकाशित भी हो चुका है। नवलसाह खटोला ग्राम के निवासी थे और गोलापूर्व जाति के देवराय के पुत्र थे। इस श्रेष्ठ कवि का कुछ परिचय 'हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन' में मिलता है।

राजस्थान के कवियों में **बखतराम** चाटसू के निवासी थे। इनके दो ग्रन्थ 'बुद्धिविलास' (सं० १८२७ वि० = १७७० ई०) और 'मिथ्यात्वखण्डन' (सं० १८२१ वि० = १७६४ ई०) प्राप्त हैं। 'बुद्धिविलास' में जयपुर के राजाओं का विवरण तथा जैन धर्म का इतिहास मिलता है। इस शताब्दी में जयपुर में लगभग २५ कवि और टीकाकार हुए हैं जिनमें से टोडरमल और जयचंद का परिचय ऊपर दिया गया है। **ऋषभदास निगोतिया, मन्नालाल पाटनी, देवीदास गोधा, गुमानीराम भावसा, भाई रायमल्ल** और **टेकचंद** आदि का परिचय 'वीरवाणी' के प्रथम वर्ष में प्रकाशित हो चुका है। इसी पत्रिका के प्रथम अंक में १७वीं शताब्दी के प्रारम्भ से २०वीं के उत्त-रार्द्ध तक के ५० से अधिक जयपुरी कवियों की एक सूची उनके रचना-काल आदि के निर्देश सहित प्रकाशित हुई है।

अन्य प्रान्तों के दिगम्बर जैन कवियों में से सभी का उल्लेख यहाँ विस्तार-भय से नहीं किया जा सकता, उनमें से केवल कुछ महत्वपूर्ण कवियों के नाम यहाँ दिए जा रहे हैं, जो निम्नलिखित हैं[2]—

भूधर मिश्र आगरे के निकटस्थ शाहगंज निवासी ब्राह्मण थे। इन्होंने 'पुरुषार्थसिद्धि' नामक जैन धर्म की पुस्तक की टीका सं० १८७१ वि० (१८१४ ई०) में बनाई। 'चर्चासमाधान' नामक एक और ग्रन्थ भी इनके नाम से मिलता है।

भारमल फर्रुखावाद निवासी खरोवा जाति के सिंघवी परसराम के पुत्र थे। इन्होंने सं० १८१३ वि० में भिण्ड नगर में 'चारुदत्तचरित्र' की रचना की। इनकी अन्य रचनाओं में 'सप्तव्यसनचरित्र', 'दानकथा', 'शीलकथा' तथा 'रात्रिभोजनकथा' प्रसिद्ध हैं, जिनमें से कुछ प्रकाशित भी हैं।

नथमल बिलाला मूलतः आगरे के निवासी थे, बाद में भरतपुर और हीरापुर में भी रहे; पिता का नाम शोभाचंद था। इनकी रचनाओं में 'नागकुमार चरित्र' (सं० १८१० वि० = १७५३ ई०), 'जीवनधर' (सं० १८३५ वि० = १७७८ ई०), 'सिद्धानुसारदीपक' (भरतपुर में सुखराम की सहायता से रचित), 'भक्तामर भाषा' (हीरापुर में पं० लालचंद की सहायता से रचित, सं० १८२४ वि० = १७६७ ई०), 'जम्बूचरित्र,' 'जिनगुणविलास' आदि ही प्राप्त हैं।

डालूराम माधवराजपुर निवासी अग्रवाल थे। इन्होंने सं० १८६३ वि० (१८०६ ई०)

---

१. विस्तार के लिए दे० अनेकांत, वर्ष १, अंक ७-८ में दिगम्बर जैन कवि।

२. अधिक जानकारी के लिए दे० कामताप्रसाद जैन का हिन्दी जैन साहित्य।

में 'गुरूपदेश श्रावकाचार', सं० १८७१ वि० (१८१४ ई०) में 'सम्यक्तप्रकाश' और अनेक पूजा-ग्रन्थों की रचना की। इनका छंद-कौशल विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

हीरालाल का 'चन्द्रप्रभचरित्र' सत्रह सन्धियों का काव्य है। इसकी वर्णन-शैली में प्रवाह है; अनुप्रासों की योजना भी उल्लेखनीय है। प्रेमीजी की सूची के अनुसार ये बड़ौत निवासी अग्रवाल थे। 'तत्वार्थसूत्र' और 'चौबीसी पूजापाठ' इनकी अन्य रचनाएँ हैं।

मनरंगलाल का 'नेमिचन्द्रिका' नामक काव्य बहुत सुन्दर है। इसमें शान्त, वात्सल्य और करुण रस एवं विप्रलम्भ श्रृंगार का अच्छा परिपाक हुआ है। मानों की राग-भावनाओं का सुन्दर चित्रण है। इनके द्वारा रचित 'सप्तव्यसनचरित्र' तथा 'चौबीसी पूजापाठ' भी मिले हैं।

इनके अतिरिक्त **विनयाभक्त, शिवचन्द, हरकचन्द्र, दलपतराय** आदि अन्य अनेक कवि हुए हैं।

सदासुख

इस काल के विशिष्ट भाषाटीकाकार पंडित सदासुख जयपुर निवासी कासलीवाल दूलीचंद के पुत्र थे। डेढ़राज नामक किसी पूर्वज के नाम से इनका वंश डेढ़ा के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इनका जन्म सं० १८५२ वि० (१७९५ ई०) के लगभग हुआ, क्योंकि सं० १९२० वि० (१८६३ ई०) में रचित 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' की टीका में इन्होंने उस समय अपनी आयु ६८ वर्ष की बतलाई है। जिनवाणी और अध्यात्म के प्रति इनका बहुत अनुराग था। इनके कुटुम्बी जन बीसपंथी और ये स्वयं तेरहपंथी थे। गुरु मन्नालाल और प्रगुरु जयचंद छावड़ा के सद्विचारों का इन पर अच्छा प्रभाव पड़ा। इनकी प्रेरणा से पंडित पन्नालाल सिंघवी, नाथूलाल दोशी और पारसलाल निगोतिया सुयोग्य विद्वान बन गए। इनकी सहनशीलता और सन्तोष वृत्ति विशेष रूप से उल्लेखनीय है। राजकीय संस्था से इन्हें ८-१० रुपया महीना वेतन मिलता था। इन्होंने उतने में ही संतोष कर कभी वेतन-वृद्धि की इच्छा नहीं प्रकट की। ज्ञान-गोष्ठी और तत्व-चर्चा में ही इनका समय बीतता। सं० १९०६ से १९२१ वि० (१८४९ से १८६४ ई०) तक इन्होंने सात महत्वपूर्ण ग्रन्थों की भाषाटीकाएँ बनाईं। उनके नाम हैं—'भगवती आराधना' (सं० १९०० वि०=१८४३ ई०), 'तत्वार्थसूत्र' (लघु संस्करण, सं० १९१० वि०= १८५३ ई०, बृहत संस्करण, सं० १०१४ वि० = १८५७ ई०), 'नाटक समयसार', 'अकलंक स्तोत्र', 'मृत्युमहोत्सव', 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' (सं० १९२० वि०=१८६३ ई०) और 'नित्य नियम पूजा' (संस्कृत में)।

इनकी विद्वत्ता और सद्गणों की कीर्ति दूर-दूर तक पहुँची थी। आरा के **परमेष्ठी शाह अग्रवाल** ने 'अर्थप्रकाशिका' नामक तत्वार्थसूत्र की पाँच हजार श्लोकों की भाषा टीका बनाई थी। उसे उन्होंने सदासुखजी के पास संशोधनार्थ भेजा था। इन्होंने योग्यतापूर्वक उसका संशोधन कर उसका आकार ११ हजार श्लोक परिमाण का बनाकर वापस कर दिया था।

वृद्धावस्था में इनके इकलौते पुत्र गणेशीलाल का २० वर्ष की आयु में अचानक स्वर्गवास हो गया। पुत्र-वियोग को भुलाने के लिए इनके शिष्य सेठ मूलचन्द सोनी इन्हें अजमेर ले गए और वहाँ जब इन्हें अपनी आयु के अवसान का भान होने लगा तो प्रधान शिष्य **पन्नालाल सिंघी**

को इन्होंने अन्तिम संदेश दिया कि पंडित टोडरमल जयचंद और मैंने जनता के सुबोध के लिए जो भाषाटीकाएँ बनाई हैं उनका देश-देशान्तर में प्रचार करना, ताकि लोग जैन धर्म के बारे में कुछ समझ सकें। योग्य शिष्य ने गुरु की अन्तिम इच्छा पूरी की और स्वयं भी 'राजवार्तिक' और 'उत्तरपुराण' आदि आठ ग्रन्थों की भाषाटीकाएँ बनाईं और २७ हजार श्लोकों का 'विद्वज्जनबोधक' नामक महत्वपूर्ण ग्रन्थ रचा। ६४ वर्ष की परिपक्व आयु में पंडित सुखदास ने भाषाटीकाओं का निर्माण प्रारम्भ किया था। सं० १९२३-२४ वि० (१८६६-६७ ई०) में अजमेर में इनका स्वर्गवास हुआ।

कविवर भागचंद

ये ईसागढ़ (ग्वालियर) के निवासी थे और ओसवाल जाति के दिगम्बर जैन थे। 'ज्ञानसूर्योदय', 'उपदेशसिद्धान्तरत्नमाला', 'अमित गति श्रावकाचार', 'प्रमाणपरीक्षा' और 'नेमिनाथ पुराण' की भाषाटीकाएँ तथा 'शिवविलास' नामक ग्रन्थ सं० १९०६ से १९१३ वि० (१८४९-५६ ई०) के बीच इन्होंने लश्कर के जैन-मन्दिर में बैठ कर रचे। अन्तिम जीवन में इन्हें आर्थिक कष्ट सहना पड़ा, अतः प्रतापगढ़ के किसी उदार सज्जन ने दुकान करवाकर सहायता की। सम्भव है, वहीं इनका स्वर्गवास हुआ हो। इनके पद बहुत ही भावपूर्ण होते थे। उदाहरण के लिए एक पद नीचे उद्धृत किया जा रहा है—

> जब निज आतम अनुभव आवै, और कछू न सुहावै।
> सब रस नीरस हो जाय ततच्छिन, अक्ष विषय नहिं भावै॥
> गोष्ठीकथा कौतूहल विघटै, पुद्गल प्रीति नसावै।
> राग द्वेष द्वय चपल पक्षयुत, मन पक्षी मर जावै॥
> ज्ञानानन्द सुधारस उमगै, घट अन्तर न समावै।
> भागचन्द ऐसे अनुभव के, हाथ जोरि सिर नावै॥१॥

ज्ञानानंद और चिदानंद

ये दोनों बनारस के खरतरगच्छीय यति थे। इनके गुरु का नाम चारित्रनन्दी था। ज्ञानानन्द (रचना-काल सं० १९०५-१९१० वि० १८४८-१८५३ ई०) के दो पद-संग्रह 'ज्ञानविलास' और 'संजम तरंग' नाम से मिलते हैं। 'ज्ञानविलास' में ८८ पद हैं। इसका दूसरा नाम 'ज्ञानविनोद' भी मिलता है। 'संजमतरंग' में ३७ पदों का संग्रह है। एक पद नीचे दिया जा रहा है—

> अवधू, सूता क्या इस मठ में ॥ टेक ॥
> इस मठ का है कवन भरोसा, पड़ जावै चटपट में॥
> छिन में ताता, छिन में शीतल, रोग शोक बहु घट में॥
> पानी किनारे मठ का वासा, कवन विश्वास ये तट में॥
> सूता सूता काल गमायो, अजहूँ न जाग्यो तू घट में॥
> घरटी फेरी आटो खायो, खरची न बाँधी वट में॥
> इतनी सुनि निधि चरित मिलकर, ज्ञानानन्द आए घट में॥

ज्ञानानन्द के गुरुभाई कपूरचन्द, जिन्होंने अपनी रचनाओं में अनुभव-प्रधान नाम **चिदानन्द** दिया है, बहुत उच्च कोटि के योगी थे। गिरनार आदि की गुफाओं में ये ध्यान और योग की साधना करते थे और कई सिद्धियाँ भी इन्हें प्राप्त थीं। इनकी रचनाएँ भी १९०५ से १९१० वि० (१८४८-५३ ई०) के बीच की मिलती हैं। इन्हें स्वरोदय का अच्छा अभ्यास था, जिसका परिचय सं० १९०६ वि० (१८४९ ई०) में रचित ४५३ पद्यों के इनके 'स्वरोदय' ग्रन्थ से मिलता है। दूसरी रचना 'पुद्गलगीता' १०८ पद्यों की है जिसमें पुद्गल के खेल का सुन्दर और वास्तविक वर्णन हुआ है। 'बावनी' नामक कृति में अध्यात्म विषयक बावन सवैये हैं। 'दयाछत्तीसी' सं० १९०६ वि० (१८४९ ई०) में भावनगर में बनाई गई, जिसमें दया का स्वरूप बतलाया गया है। पाँचवीं पुस्तक 'प्रश्नोत्तररत्नमाला' की रचना भी उसी वर्ष वहीं पर हुई। इस छोटी सी रचना में ११४ प्रश्न उपस्थित कर उनका बहुत ही सारगर्भित उत्तर दिया गया है। 'अध्यात्मबावनी' और फुटकर दोहों के अतिरिक्त इनके ७२ पदों का संग्रह 'बहोत्तरी' के नाम से प्रसिद्ध है। इन्होंने गम्भीर आध्यात्मिक विषयों को बहुत ही सरलता से दृष्टान्तों के साथ व्यक्त किया है। नमूने के लिए एक पद यहाँ दिया जा रहा है—

आतम परमातम पद पावै, जो परमातम सूं लय लावै।। टेक ।।
सुणके शब्द कीट भृंगी को, निज तन मन की सुधि बिसरावै।
देखहु प्रगट ध्यान की महिमा, सोई कीट भृंगी हो जावै।।१।।
कुसुम संग तिल तेल देख पुनि, होय सुगंध फुलेल कहावै।
सुक्ति गर्भगत स्वाति उदक होय, मुकताफल अति दाम धरावै।।२।।
पुन पिचुमंद पलाशादिक में, चंदनता ज्युं सुगंध थी आवै।
गंगा में जल आण आण के, गंगोदक की महिमा भावै।।३।।
पारस को परसंग पाय पुनि, लोहा कनक स्वरूप लिखावै।
ध्याता ध्यान धरत चित्त में इमि, ध्येय रूप में जाय समावै।।४।।
भज समता ममता कूं तज जन, शुद्ध स्वरूप थी प्रेम लगावै।
चिदानन्द चित प्रेम मगन भया, दुविधा भाव सकल मिट जावै।।५।।

आनन्दघन के पश्चात श्वेताम्बर जैन योगियों में इन्हीं का नाम लिया जाता है। आनन्दघन के पद गूढ़ व मार्मिक होने से सहज सुबोध नहीं हैं, चिदानन्द के पद सरल और दृष्टान्तयुक्त होने से सुबोध हैं।

अन्य कवि

स्थानकवासी समाज में भी इस समय पंजाब में **ऋषि नन्दलाल** और राजस्थान में **विनयचंद कुम्भट** हो गए हैं। इनमें विनयचंद कुम्भट के २४ तीर्थंकरों के 'स्तवनों' का स्थानकवासी समाज में बहुत प्रचार है। ऋषि नन्दलाल ने कपूरथला में सं० १९०३ वि० (१८४६ ई०) में 'लब्धिप्रकाश चौपाई' और १९०६ वि० (१८४९ ई०) में वहीं 'ज्ञानप्रकाश' की रचना की। **कवि छत्रपति** के भी कुछ ग्रन्थ मिलते हैं, जिनमें 'द्वादशानुपेक्षा' का रचना-काल सं० १८०७ वि० (१७५० ई०) है। इनके अन्य ग्रन्थों में 'ब्रह्मगुलालचरित्र' सं० १९०९ वि० (१८५२ ई०) में,

'नयोदकपंचाशिका' सं० १९१३ वि० (१८५६ ई०) में और 'उद्यमप्रकाश' सं० १९२२ वि० (१८६५ ई०) में रचा गया।

आरा के पं० **परमेष्ठीसहाय** ने 'अर्थप्रकाश' की टीका पं० जगमोहनदास के लिए बनाई जिसका संशोधन पंडित सदासुख द्वारा किए जाने का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। पं० **जगमोहन दास** भी एक अच्छे कवि थे जिनकी कविताओं का संग्रह 'धर्मरत्नउद्योत' प्रकाशित हो चुका है। प्रेमीजी ने **नन्दराम** रचित 'योगसारवचनिका' (सं० १९०४ वि०=१८४७ ई०), 'यशोधरचरित्र' और 'त्रैलोक्यसार पूजा' का उल्लेख किया है। कई अन्य कवि तथा टीकाकार और लेखक इस समय के आसपास हुए हैं जिनकी रचनाएँ कुछ बाद की मिलती हैं।

उपसंहार

अन्त में हिन्दी जैन साहित्य की कुछ विशेषताएँ बतलाते हुए इस अध्याय को समाप्त किया जाता है। प्रथमतः हिन्दी भाषा की जननी अपभ्रंश में जैन साहित्य आठवीं शताब्दी से निरंतर और प्रचुर परिमाण में रचा हुआ मिलता है और इसके बाद जब से हिन्दी का पृथक विकास होकर स्वतंत्र भाषा के रूप में उसे प्रतिष्ठा मिली तब से जैन विद्वानों ने हिन्दी में भी बराबर रचनाएँ की हैं। इसलिए हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास के अध्ययन में हिन्दी जैन साहित्य की उपयोगिता महत्वपूर्ण है। छन्द, रचना-शैली, काव्य-शिल्प तथा अन्य साहित्यिक मान्यताएँ जो हिन्दी को प्राप्त हुई उनकी परम्परा को स्पष्ट करने वाले अनेक सूत्र जैन भाषा-साहित्य में मिल सकते हैं।

हिन्दी जैन साहित्य की दूसरी विशेषता यह है कि उसमें चरित-काव्यों की अधिकता है। ये चरित-काव्य धर्म, नीति और आध्यात्मिक प्रेरणा से ओतप्रोत हैं, अतः जनता के नैतिक स्तर को ऊँचा उठाने में इनका बहुत बड़ा हाथ रहा है। बहुत सी लोक-कथाओं और पौराणिक कथाओं को भी जैन विद्वानों ने अपने ढाँचे में ढाल लिया, अतः वे सुरक्षित रह गईं। इन कथाओं द्वारा जनसाधारण को बहुत बड़ी प्रेरणा मिली।

हिन्दी जैन साहित्य में गद्य साहित्य की प्रचुरता भी उल्लेखनीय है। टीकाओं और अनुवादों के रूप में तो बहुत बड़े बड़े ग्रन्थ गद्य में लिखे गए, साथ ही गद्य के कुछ मौलिक ग्रन्थ भी सत्रहवीं शताब्दी से लिखे जाते रहे हैं। उनसे हिन्दी के प्राचीन गद्य की बहुत कुछ कमी की पूर्ति होती है। ये गद्य ग्रन्थ अनेक स्थानों में लिखे गए हैं और जन-साधारण के लिए सरल भाषा में लिखे होने से स्थानीय गद्य की विशेषताओं का भी इनसे अच्छा परिचय मिलता है, विशेषतः ढूँढारी राजस्थानी के अनेक शब्दों का प्रयोग उल्लेखनीय है।

शांत रस की अखण्ड धारा जैन साहित्य में जिस प्रकार वही है, अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। आध्यात्मिक भक्ति एवं वैराग्य की प्रेरणा का स्रोत बहुत ही उत्तम रीति से प्रवाहित हुआ है, जिससे जनता का बहुत बड़ा कल्याण हुआ। विलास की ओर से उसे हटा कर धर्माभिमुख किया गया। कई साहित्य-रूपों को अधिक अपनाने एवं प्रचारित करने का श्रेय हिन्दी जैन कवियों को है। नगर वर्णनात्मक गजलसंज्ञक रचनाएँ सत्रहवीं शताब्दी से उन्नीसवीं शताब्दी तक पचासों हिन्दी जैन कवियों की मिलती हैं। इनमें भौगोलिक तथा ऐतिहासिक सामग्री भरी पड़ी

है। वर्णन बहुत सजीव हैं। इसी प्रकार 'द्वावैत' संज्ञक रचनाएँ भी वर्णनात्मक तुकान्त गद्य की महत्वपूर्ण कृतियाँ हैं। १८-१९वीं शताब्दी की ऐसी छ-सात रचनाएँ मिली हैं जिनका परिचय प्रस्तुत लेखक ने 'भारतीय साहित्य', अंक ३ में दिया है।

कुछ विद्वानों की धारणा थी कि हिन्दी जैन कवियों ने केवल जैन धर्म संबंधी रचनाएँ की हैं, पर उपलब्ध रचनाओं से यह धारणा गलत सिद्ध हुई है। जैन विद्वानों के अनेक छन्द-ग्रन्थ तथा कोष, अलंकार और शृंगार संबंधी ग्रन्थ भी हैं। यही नहीं, वैद्यक, ज्योतिष, गणित, शकुन, सामुद्रिक, स्वरोदय, वर्षा-विज्ञान, नीति, ऐतिहासिक काव्य, बावनी आदि औपदेशिक और सुभाषित साहित्य, प्रहेलिकाएँ, बारहमासे, लोक-कथाएँ आदि सभी विषयों का सर्वजनोपयोगी साहित्य जैनियों ने रचा। कई कवियों ने तो जैन धर्म संबंधी कोई रचना ही नहीं की। जटमल नाहर, उत्तमचंद भंडारी, उदयचंद भंडारी, मानकविजय आदि ऐसे ही कवि हैं।

कविवर बनारसीदास की 'आत्मकथा' और ज्ञानसार रचित 'चंद चौपाई समालोचना' आदि ग्रन्थ तो सारे हिन्दी साहित्य में अपने ढंग के एक ही हैं। हिन्दी जैन साहित्य का परिमाण भी बहुत विशाल है और साथ ही विविधता भी उल्लेखनीय है। सैकड़ों कवियों की छोटी-मोटी हजारों हिन्दी जैन रचनाएँ गद्य और पद्य में प्रत्येक विषय और शैली की मिलती हैं।

साहित्य-निर्माण करने के साथ-साथ जैन विद्वानों ने प्रसिद्ध हिन्दी ग्रन्थों की संस्कृत, हिन्दी और राजस्थानी भाषाओं में टीकाएँ रच कर उन जैनेतर ग्रन्थों के प्रचार में भी योग दिया है। हजारों जैनेतर हिन्दी ग्रन्थों की प्राचीन, शुद्ध एवं सुन्दर प्रतियाँ जैन विद्वानों ने लिख कर अपने भंडारों में संग्रह कीं। इसी तरह अन्य लेखकों के हिन्दी जैन साहित्य का संग्रह एवं संरक्षण करके उन्होंने बड़ी सेवा की है।

अहिन्दी प्रदेशों में हिन्दी का प्रचार करने में भी जैन विद्वानों की सेवा उल्लेखनीय है। कच्छ में ब्रजभाषा की शिक्षा के लिए जैन यति भट्टारक कनककुशल, और कुँवरकुशल ने राव लखपत से विद्यालय चालू करवाया। इसके द्वारा राजस्थान, गुजरात, सौराष्ट्र और कच्छ के सैकड़ों विद्यार्थियों ने हिन्दी भाषा तथा छन्द, अलंकार आदि की शिक्षा प्राप्त की। यह प्रयत्न अहिन्दी प्रदेशों में हिन्दी प्रचार के लिए वरदानरूप सिद्ध हुआ।

सैकड़ों हिन्दी जैन कवियों में सभी उच्च कोटि के नहीं हो सकते और उनकी ग्रन्थ-रचना का उद्देश्य विद्वत्ता का प्रदर्शन नहीं था। पर जिस प्रकार जन-हितकारी होने के नाते संत साहित्य को महत्व दिया जाता है उसी प्रकार जैन संतों एवं कवियों को भी समुचित स्थान मिलना चाहिए। उनकी रचनाओं का समान भाव से अध्ययन कर मूल्यांकन किया जाना चाहिए। हिन्दी का इससे हित ही होगा।

सहायक ग्रन्थ

१. दिगम्बर जैन भाषा ग्रन्थ नामावली, प्र० बाबू ज्ञानचंद जैन, लाहौर, सन १९०१ ई०
२. दिगम्बर जैन कर्ता व उनके ग्रन्थ, प्र० नाथूराम प्रेमी, बंबई, सन १९११ ई०
३. हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास, नाथूराम प्रेमी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन के लिए, १९२७ ई०।

४. जैन गुर्जर कविओ (३ भाग), मोहनलाल दलीचंद देसाई ।
५. हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, कामताप्रसाद जैन, प्र० नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, १९४६ ई०।
६. हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन (२ भाग), नेमिचन्द्र शास्त्री, प्र० वही।
७. कविवर भूधरदास और जैन शतक, शिखरचंद जैन, इंदौर, १९३७ ई०।
८. जैन कवियों का इतिहास, मूलचंद वत्सल, जैन साहित्य सम्मेलन, दमोह, सं० १९८४ वि०।
९. अध्यात्म पदावली, प्रो० राजकुमार जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, १९५४ ई०।

पत्र-पत्रिकाएँ

१. अनेकांत ।
२. वीरवाणी, ।
३. जैन सिद्धान्त भास्कर ।
४. ज्ञानोदय, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी।
५. सम्मेलन पत्रिका, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।
६. हिंदुस्तानी, हिंदुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद।

(विशेषतया पंडित परमानन्द जैन, कस्तूरचंद कासलीवाल, नाथूराम प्रेमी तथा प्रस्तुत लेखक द्वारा लिखे हुए निबन्ध)

१३. राजस्थानी साहित्य

विक्रम की प्रारंभिक शताब्दियों से देश की राज्य-व्यवस्था में परिवर्तन होने लगा, जो आठवीं और नवीं शताब्दियों के बीच अत्यधिक भयंकर होकर लोक-जीवन को संकटपूर्ण बना देता है। सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियों में भी यह परिवर्तन एक नई स्थिति उत्पन्न कर देता ह। दसवीं और बारहवीं शताब्दियाँ तो इस दृष्टि से और भी विषम रही हैं। राजनीतिक सत्ताओं की उलट-पलट, ध्वंस और नाश से लोक-जीवन की अरक्षा, प्राण और परिवार की रक्षा के लिए भाग-दौड़, अबलाओं का सतीत्व-हरण और धर्म-संकट आदि इस युग की वे रोमांचकारी परिस्थितियाँ हैं, जिन्होंने राजस्थान में एक ऐसे नए साहित्यक युग का सूत्रपात किया, जो रक्तमय तलवारों के बीच विकसित हुआ।

अन्तिम अपभ्रंश से एक नव-विकसित भाषा में रचित युद्ध और प्रेम के गीत कहीं साहित्य की निधि बन रहे थे, तो कहीं धर्म और नीति के उपदेश जीवन में सामाजिक परम्पराएँ स्थापित कर रहे थे। उत्तर-पश्चिम से आक्रान्ता के रूप में आए हुए यवनों के प्रभुत्व की वृद्धि और देशी राजाओं का गृहयुद्ध में अपनी छोटी-बड़ी शक्तियों का नाश एक इतिहासिक स्थापना हो चुकी थी। इन युद्धों का क्षेत्र प्रधान रूप से दिल्ली-कन्नौज से लेकर मालवा, गुजरात और राजस्थान की वीर-भूमियों तक विस्तृत था। इसी क्षेत्र में पश्चिमी अपभ्रंश और उसके साहित्य का विकास हुआ, जिसकी महानता का महत्व प्रदर्शित करते हुए राजशेखर ने 'पश्चिमेनापभ्रंशिनकवयः' कहा है, इसी अपभ्रंश के अन्तिम युग की परिवर्तित भाषा और उसके साहित्य में राजस्थानी भाषा और उसके अंकुर पैदा हुए।

पश्चिम अपभ्रंश के लोक-व्यवहार से दूर पड़ जाने के पश्चात उससे जिस भाषा का विकास हुआ वह विक्रम की चौदहवीं-पंद्रहवीं शताब्दी तक इस पूरे क्षेत्र की भाषा रही है। इतना ही नहीं, इस भाषा का प्रयोग कवि राजशेखर द्वारा उल्लिखित मध्यदेश के पूर्वी विन्दु काशी तक पारस्परिक व्यवहार तथा साहित्य के लिए होता था, इसी भाषा का प्रयोग कबीर ने अपनी साखियों में दूहा परम्परा को लेकर किया। इसी भाषा को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'सधुक्कड़ी' नाम दिया है। राजस्थानी, पुरानी हिन्दी[1] आदि नाम उसी एक देश-भाषा के अन्तर्गत सीमित स्थानीय रूपों के नाम हैं। राजस्थानी, गुजराती, मालवी, मध्यदेशी आदि बोलियों की ये स्थानगत विशे-

---

१. दे० पुरानी हिन्दी, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग २, अंक १।

पताएँ विक्रम की नवीं शताब्दी के आरंभ में ही प्रकट होने लग गई थीं[1] परन्तु उनमें उस समय तक इतनी शक्ति नहीं आई थी कि उनमें कोई स्वतंत्र रूप से साहित्य-रचना हो। इन स्वतंत्र रूपों के विकास के लिए ५०० वर्षों की आवश्यकता थी। इसी बीच परवर्ती अपभ्रंश का साहित्य में प्रयोग होता रहा। उसके साथ ही नव-विकसित भाषा में भी रचनाएँ होती रहीं, कहीं स्वतंत्र रूप में, तो कहीं मिश्रित रूप में।[2] यही कारण है कि इस परवर्ती काल में भाषा के रूपों में विविधता देख पड़ती है। इसी विविधता ने आगे चलकर स्वतंत्र रूप में विकास कर विविध प्रान्तीय भाषाओं को जन्म दिया। विक्रम की आठवीं, नवीं और दसवीं शताब्दियों में अपभ्रंश अपनी चरम सीमा को प्राप्त कर लेती है, उसमें भाषा के जिन नए रूपों का विकास होता है वे धीरे धीरे प्रबल होकर अपनी पूर्ववर्ती भाषा से सर्वथा भिन्न हो जाते हैं और एक नई देश-भाषा को जन्म देते हैं। यह नई देशभाषा अन्तर्वेद, दक्षिणी पंजाब, टक्क, मादानक, मरु, राजस्थान, त्रवण, अवन्ति, पारियात्र, दशपुर, सुराष्ट्र आदि के विस्तृत क्षेत्रों में विकसित होकर साहित्य में प्रयुक्त होने लगी। इस प्रकार इस देशभाषा का रूप गोरख के समय (नवीं सताब्दी वि०) से लेकर मुंज और भोज के समय तक (ग्यारहवीं शताब्दी वि०) के प्राप्त लोक-साहित्य

---

१. अ. णय-णीति-संधि-विग्गहपडुए बहुजंपिरे य पयलीए।
तेरे मेरे आउत्ति जंपिरे मज्झदेसे य॥
इ. कविरे पिंगलणयणे भोजणकहमेतद्दिण्णवावारे।
कित्तो किम्मो जिअ जंपिरे य अह अंतवेते य॥
उ. दक्खिण दाण पोरुस विण्णा ण दयाविवज्जियसरीरे।
एहं तेहं चवंते टक्के उण पेच्छय कुमारो॥
ए. सललित-मिदु-मंदपए गंधवपिए सदेसगयचित्ते।
चउडयमे भणिरे सुहए अह सेन्धवे दिट्ठे॥
क. वंके जड़े य जड्डे बहुभोइ कठिण-पीण-थूणंगे।
अप्पा तुप्पा भणिरे अह पेच्छइ मरुए तत्तो॥
ख. घय लालियपुट्ठंगे धम्मपरे संधि-विग्गह निउणे।
णउ रे भल्लउ भणिरे अह पेच्छइ गुज्जरे अवरे॥
ग. ण्हाउलित्त-विलित्ते कयसीमंते सुसोहियसुगत्ते।
आहम्ह काइं तुम्हं मित्तु भणिरे अह पेच्छए लाडे॥
घ. तणु-साम-मडहदेहे कोवणए माण-जीविणो रोद्दे।
भाउअ भइणी तुम्हे भणिरे अह मालवे दिट्ठे॥

२. बेट्टा बेट्टी परिणाविज्जहिं, तेवि समाणधम्म घरि दिज्जहिं।
विसमधम्म-घरि जइ विवाइह, तो सम्भत्तु सु निच्छइ वाहइ॥६३॥
थोड़इ धणि संसारियकज्जइ, साइज्जइ सव्वइ सावज्जइ।
विहिधम्मत्थि अत्थु विविज्जइ, जेण सु अप्पु निव्वुइ निज्जइ॥६४॥
—जिनदत्त सूरिकृत 'उपदेशरसायनसार'।

में दूहा छन्दों में देख पड़ता है जिसका संकलन वि० सं० १३६१ (सन १३०४ ई०) में मेरुतुंग की 'प्रबन्धचिन्तामणि' तथा अन्य रचनाओं में मिलता है।

राजस्थानी भाषा और साहित्य के बीज इसी दूहा साहित्य में प्राप्त होते हैं। राजस्थानी भाषा का व्यवस्थित रूप और राजस्थानी साहित्य की व्यवस्थित परम्परा का सूत्रपात इसी दूहा छंद में देख पड़ता है। दूहा छंद की इसी नई प्रणाली में युद्ध की परिस्थितियों से जागरि : वीर रस की भावनाओं का स्रोत प्रवाहित होने लगता है। वीर-पूजा की भावनाओं ने इस साहित्य को गेय रूप भी प्रदान किया जिससे वीर गीतों की परंपरा आरंभ हुई। इस प्रकार नई भाषा और नए विषय को लेकर जिस नए साहित्य का इस युद्धकालीन युग में निर्माण हुआ, वही हिन्दी साहित्य में 'आदिकाल' अथवा 'वीरगाथा काल' के नाम से प्रसिद्ध है। वीरगाथा काल की युद्ध-जनित परिस्थितियों में परिवर्तन होकर जब धर्म और भक्ति की भावनाएँ सामाजिक परिस्थितियों को प्रभावित करने लगीं और उससे प्रेरित भक्ति-साहित्य का निर्माण होने लगा तो साहित्य का केन्द्र राजस्थान से हटकर ब्रज प्रदेश हुआ और वहीं की भाषा ब्रजभाषा सारे उत्तर भारत की साहित्यिक भाषा हो गई। राजस्थान भी इस प्रभाव से न बचा। उसकी भाषा पर भी ब्रजभाषा का प्रभाव पड़ा जिससे आगे चलकर डिंगल और पिंगल शैलियों का विकास हुआ। भक्ति-साहित्य के निर्माण में भी राजस्थान ने अपना अपूर्व योग दिया। भक्ति-साहित्य की चरम सीमा आने पर जब उसी साहित्य से रीति साहित्य का विकास हुआ तो राजस्थान भी पुनः रीतिग्रन्थों के निर्माण में लग गया। यहाँ तक कि रीति काल की कई महत्वपूर्ण रचनाएँ राजस्थान में ही सम्पन्न हुईं।

नए नए विषयों को लेकर साहित्य के जिन नए रूपों का विकास हुआ उनका संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जाता है —

गद्य

राजस्थानी साहित्य की विशेषता यह है कि जहाँ हिन्दी साहित्य में गद्य का प्राचीन रूप नहीं के बराबर है, वहाँ राजस्थानी में गद्य साहित्य मध्यकाल से ही पूर्ण विकसित रूप में मिलता है। इस गद्य का कब आरंभ हुआ होगा, यह निश्चित रूप से कहने को अभी कोई प्रमाण हमारे पास नहीं हैं, पर यह तो स्पष्ट है कि राजस्थानी साहित्यकारों में 'बात', 'वार्ता', या 'कहानी' तथा 'ख्यात' लिखने की प्रवृत्ति बहुत प्राचीन है। उपलब्ध साहित्य इस बात का द्योतक है कि बात गद्य और पद्य दोनों में साथ साथ लिखी जाने लगी थी। राजस्थानी का व्यवस्थित रूप में विकसित गद्य-साहित्य वि० सं० १५०० (सन १५५७ ई०) से पूर्व का नहीं मिलता। प्राप्त गद्य ख्यात, बात, ख्याल आदि के रूप में मिलता है। इसमें ख्याल तो बहुत पीछे का है, जो नाटक का पूर्वरूप कहा जा सकता है। ख्यात-साहित्य विशेष कर इतिहासिक सूचनाओं से सम्बन्ध रखता है। केवल बात-साहित्य ऐसा है जो साहित्यिक कोटि में रखा जा सकता है। यह साहित्य विषय की दृष्टि से मोटे रूप में निम्नलिखित भागों में बाँटा जा सकता है —

१. इतिहासिक तथा अर्धइतिहासिक घटनाएँ;

२. इतिहासिक, अर्धइतिहासिक, धार्मिक, काल्पनिक तथा अन्य महत्वपूर्ण व्यक्तियों की दिनचर्या से संबंधित बातें;

३. पौराणिक तथा प्राचीन उपदेशात्मक शिक्षात्मक तथा हितोपदेश, और राजनीति से सम्बन्धित कहानियाँ;

४. शृंगार, प्रेम तथा अन्य प्रकार के मनोरंजक और आदर्शस्थापक आख्यान तथा प्रसंग;

५. धार्मिक पर्व, यात्रा, उत्सव और त्यौहार आदि की कथाएँ;

६. विविध प्रकार की काल्पनिक कथावस्तु;

७. प्रचलित लोकोक्तियों, ओखाणों आदि से संबद्ध छोटे वड़े कथानक।

इनमें इतिहासिक वातों में 'हमीर हठीले री वात', महत्वपूर्ण व्यक्तियों की दिनचर्या आदि में 'अचलदासखीची उमादे साव्तीपरणीयो तेरी वात', 'राजा सालवाहणा री वात', 'पोपां-वाई री वात', पौराणिक वातों में 'अपछरानूं इंद्र सराप दीन्हौं तेरी वात', शृंगार और प्रेम संवंधी वातों में 'ढोलामारू री वात', 'संतवंती री वात', 'चंद्रकँवर री वात,' धार्मिक पर्व, उत्सव आदि में 'दीवाली री वात', काल्पनिक कथावस्तु में 'मारेडी हार गिलियो तेरी वात', 'काणे रजपूत री वात', प्रचलित लोकोक्तियों तथा ओखाणों से संवद्ध 'ओखाणे री वात', 'तांत वाजी अर वात वूझी तेरी वात' आदि उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत की जा सकती हैं।[1]

वात के समान ही इस प्रकार के साहित्य का दूसरा रूप वचनिका है। इसका उदाहरण खिडियो जग्गो कृत 'महाराज रत्नसिंह जी री वचनिका' (वि० सं०१०१५=९५८ ई०) है।[2]

शुद्ध पद्य साहित्य में प्रेमकाव्य, वीरकाव्य, भक्तिकाव्य, नीतिकाव्य, कथाकाव्य, चरित-काव्य, प्रकृति या ऋतुवर्णन, नाममाला या कोशग्रन्थ महत्वपूर्ण हैं।

पद्य

प्रेमकाव्य : प्रेम के छोटे वड़े प्रसंगों को लेकर प्रवन्ध के रूप में ऐसे काव्यों की रचनाएँ इसमें सम्मिलित की जा सकती हैं जिसमें संयोग और वियोग की उच्च कोटि की भावनाओं की व्यंजना की गई है। ऐसे काव्यों में 'ढोलामारू' काव्य तो इतना लोकप्रिय हुआ है कि इस कथा को लेकर कई कवियों ने रचनाएँ कर डालीं। दूसरा लोकप्रिय काव्य पृथ्वीराज राठौड़ कृत 'वेलि क्रिसन रुक्मिणी री' है। उच्च कोटि की शृंगारप्रधान रचनाओं में चतुर्भुजदास कृत 'मधुमालती री चउपई' के कई संस्करण मिलते हैं।

वीरकाव्य : इन रचनाओं में राजा-महाराजाओं के वीर चरित तथा अन्य प्रकार की दिनचर्याएँ आती हैं जिनमें विशेषकर युद्ध और प्रेम-विलास का वर्णन रहता है। ये रचनाएँ गीतों और दूहों में, फुटकर रूप में तथा रास, रासो और रूपक आदि प्रवन्ध रूप में मिलती हैं। भाषा-शैली, प्रवन्ध-शैली और छन्द-रचना में राजस्थानी साहित्य की मौलिकता इन ग्रन्थों में स्पष्ट लक्षित होती है। इन रचनाओं का विकास प्राकृत के रास, रासक, रूपक आदि गेय तथा अभिनय-

---

१. वातों के अन्य विषयों के लिए देखिए प्रस्तुत लेखक का राजस्थान में हिन्दी के हस्त-लिखित ग्रन्थों की खोज, भाग ३, पृ० २०३, २०६।

२. देखिए वही, पृष्ठ १०४।

पूर्ण दृश्य काव्यों से श्रव्य काव्य के रूप में हुआ।[1] इन रचनाओं के उदाहरण के लिए 'भरतेश्वर बाहुबलि रास', 'खुमाणरासो', 'पृथ्वीराजरासो' आदि प्रस्तुत किए जा सकते हैं। छोटी वीर-रसात्मक रचनाएँ छंद के नाम से भी मिलती हैं, जैसे 'छन्द राउ जइतसी रउ'। अन्य छोटी रचनाएँ जिस छंद में लिखी गई हैं उसी के नाम से प्रसिद्ध हैं, जैसे 'नीसाणी' छंद में रचित 'नीसाणी आगम री', 'नीसाणी वरभाण री' आदि।

भक्तिकाव्य : निर्गुण और सगुण भावनाओं की उत्तम कोटि की अभिव्यक्ति भक्तिकाव्य में दिखाई देती है। राजस्थान का सन्त साहित्य राजस्थान में होने वाले सामाजिक और धार्मिक आन्दोलनों का द्योतक है। साहित्यिक और दार्शनिक दृष्टि से यह साहित्य बहुत ही महत्वपूर्ण है। राम-भक्ति की अपेक्षा कृष्ण-भक्ति का साहित्य राजस्थान में विशेष मिलता है। निर्गुण उपासना को लेकर भी यहाँ कई पंथों का विकास हो गया था, जिनके साहित्य में धर्म और दर्शन के साथ साथ ही काव्य-लालित्य तथा कला का भी समावेश है। इन पंथों में दादू पंथ, चरणदासी पंथ, रामसनेही पंथ, लालदासी पंथ अत्यधिक प्रसिद्ध हैं। भक्तिकाव्यों में ऐसे काव्यों का भी समावेश है जो पुराणों और महाभारत की कथाओं को लेकर लिखे गए हैं। इनमें भाषा-सौन्दर्य, प्रबन्ध-पटुता, वर्णन-चमत्कार, भाव-लालित्य आदि काव्योचित गुणों का सुन्दर योग देख पड़ता है। नरहरिदास कृत 'अवतारचरित' इस दृष्टि से बहुत लोकप्रिय है।

नीतिकाव्य : 'हितोपदेश', 'नीतिशतक', 'उपदेशरसायनसार' आदि अनेक रचनाओं की परम्परा पर समय और परिस्थिति के अनुकूल जीवन-व्यवहार के लिए प्रणीत रचनाएँ इस कोटि में आती हैं। उदाहरण के लिए वृन्द कृत 'दृष्टान्तसतसई' अथवा 'वृन्दसलसई' बहुत ही लोकप्रिय रचना है।

कथाकाव्य : इतिहास तथा काल्पनिक कथाओं को लेकर छोटे बड़े प्रबन्ध काव्य इस कोटि में सम्मिलित किए जा सकते हैं। इनमें विशेष कर नायक अथवा नायिकाओं के किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए आने वाले संघर्ष का मार्मिक चित्रण मिलता है। जान कवि की अनेक रचनाएँ इस कोटि में सम्मिलित की जा सकती हैं।

चरितकाव्य : जैन साहित्य की अनेक रचनाएँ इस कोटि में आ जाती हैं, जो जैन महात्माओं तथा अन्य पौराणिक अथवा काल्पनिक चरितों को लेकर रची गई हैं। ये धार्मिक सिद्धान्तों से सर्वथा मुक्त हैं और शुद्ध सामाजिक चरित्रों और परिस्थितियों का चित्रण करती हैं। भाषा और साहित्य की दृष्टि से ये जैन जीवन-चरित राजस्थानी साहित्य में अपना एक महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

प्रकृति-वर्णन या ऋतु-वर्णन : शृंगार तथा प्रेम काव्यों में ऋतु-वर्णन की प्रधानता देखी जाती है, पर राजस्थानी साहित्य में ऐसी रचनाओं का 'बारहमासा', 'फागु', 'चर्चरि' आदि के रूप में विकास हुआ है, फागु रचनाएँ जैन साहित्य की अपनी विशेषता हैं। जैन फागुओं

---

१. देखिए हिन्दी अनुशीलन, वर्ष ८, अंक ४, पृ० १६८-१७४, प्रस्तुत लेखक का रासो की परम्परा शीर्षक लेख।

का विकास वि० सं० १३०० (सन १२४३ ई०) से ही देख पड़ता है। इन फागुओं में विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी में रचित मालदेव का 'स्थूलिभद्रफागु' उल्लेखनीय है।[1]

स्थान वर्णन : विविध नगरों की विशेषता का वर्णन इस प्रकार के साहित्य में मिलता है। यह साहित्य 'गजल' कहलाता है। गजल साहित्य का विकास विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी में देख पड़ता है। इस साहित्य में 'चित्तौड़ गजल', 'उदयपुर गजल', 'जोधपुर गजल' आदि प्रसिद्ध रचनाएँ हैं।

कोश तथा नाममाला : हेमचन्द्र द्वारा रचित 'देशीनाममाला' के अनुकरण पर रचित ग्रन्थ इस कोटि के साहित्य में सम्मिलित किए जा सकते हैं। यह परम्परा भी सत्रहवीं शताब्दी से ही विकसित हुई मालूम होती है, उदाहरणार्थ महासिंह द्वारा रचित 'अनेकार्थ नाममाला' (वि० सं० १७६० = सन १७०३ ई०), विनयसागर द्वारा रचित 'अनेकार्थ नाममाला' (वि० सं० ७१०२ = सन १६४५ ई०), कविराज मुरारीदान कृत 'डिंगलकोश' उल्लेखनीय हैं।[2]

इस प्रकार राजस्थानी साहित्य के वि० सं० ७०० से लेकर १९०० (सन ६४३ से १९४३ ई०) के इतिहास को प्राप्त सामग्री के आधार पर मोटे रूप में पाँच भागों में विभाजित किया जा सकता है:—

१. प्रथम उत्थान या सूत्रपात युग वि० सं० ७००-१००० (सन ६४३-९४३ ई०),
२. द्वितीय उत्थान या नव विकास युग वि० सं० १००० से १२०० (सन ९४३-११४३ ई०),
३. तृतीय उत्थान या वीरगाथा युग वि० सं० १२०० से १५०० (सन ११४३-१४४३ ई०),
४. चतुर्थ उत्थान या भक्ति युग वि० सं० १५०० से १७०० (सन १४४३-१६४३ ई०),
५. पंचम उत्थान या रीति युग वि० सं० १७०० से १९०० (सन १६४३-१८४३ ई०)।

प्रथम उत्थान या सूत्रपात युग (वि० सं० ७०० से १००० = सन ६४३-९४३ ई०)

यह समय राजस्थानी साहित्य के लिए सूत्रपात का युग कहा जा सकता है। इस काल में नवीन भाषा और उसके साहित्य की नवीन प्रवृत्तियों का सूत्रपात होकर उनसे एक नवीन रूप निखर आया। फिर भी भाषा और साहित्य की दृष्टि से यह रूप ऐसा था जो किसी सीमा तक अपभ्रंशमिश्रित ही था और उसको एकदेशीय नहीं कहा जा सकता, अर्थात इस नवविकसित रूप को न तो केवल गुजराती ही कहा जा सकता है और न केवल राजस्थानी ही। इसी प्रकार उसको न केवल मालवी ही कहा जा सकता है और न केवल मध्यदेशी ही। अतः उसको पश्चिमी हिन्दी ही कहना उपयुक्त होगा। इसी पश्चिमी रूप की प्रान्तीय विशेषताओं के विकसित होने पर इन भिन्न-भिन्न भाषाओं का विकास हुआ। इस काल में यह भाषा गुजरात, राजस्थान, मालवा, मध्यदेश आदि के सम्पूर्ण भू-भागों में बोली जाती थी। दिल्ली, मथुरा, आगरा (रायमा), अजमेर, मारवाड़, जैसलमेर (वल्लं), चित्तौड़, अन्हिलवाड़, पाटन, धार, उज्जैन, कन्नौज आदि स्थान इसके

---

१. अन्य रचनाओं के लिए देखिए प्राचीन फागुसंग्रह, डा० भोगीलाल सांडेसरा।
२. अन्य रचनाओं के लिए देखिए राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज भाग २, अगरचन्द नाहटा।

साहित्यिक और राजनीतिक केन्द्र थे। इन्हीं केन्द्रों के राजाओं, मंत्रियों, सामन्तों, सेठ-साहूकारों, धार्मिक मतावलंबियों और आचार्यों के आश्रय में यह भाषा पनप कर अपनी पूर्ववर्ती भाषा अपभ्रंश के समक्ष खड़ी हुई। अतः इस युग की प्रधान विशेषता यही है कि यह देशभाषा अपनी विकासोन्मुखी शक्तियों को प्राप्त कर साहित्य-रचना के उपयुक्त बन गई। अपनी पूर्ववर्ती भाषा से इसमें सवसे बड़ा अन्तर यह था कि उच्चारण में सरलता आ गई थी। प्राकृत के संयुक्त वर्ण वाले शब्दों को इसने उच्चारण के लिए या तो सरल बना लिया था या उनके स्थान पर तत्सम या अर्धतत्सम शब्दों का प्रयोग आरम्भ कर दिया था। इस प्रकार प्राकृत के 'कम्म' से 'काम' और 'धम्म' का पुनः 'धर्म' और फिर 'धरम' हो गया था। पर इसी युग के अन्तिम काल में युद्ध की परिस्थितियाँ इतनी प्रवल हो गई कि वीरों को प्रोत्साहन देने के लिए तथा सेनाओं को आदेश देने के लिए भाषा में इस कोमलता के स्थान पर अपभ्रंश की कठोरता को बनाए रखना आवश्यक ही न था, बल्कि उसके आधार पर नए शब्दों को भी कठोर बनाना पड़ा और इसी कारण 'कडविक, 'चमविक', 'हबविक' जैसे शब्दों का काव्य में भी प्रयोग होने लगा। व्याकरण की दृष्टि से इस भाषा में विभक्तियों का लोप हो गया; एक ही विभक्ति 'हँ' का सर्वत्र प्रयोग होने लगा। क्रियापदों में भी सरलता आ गई। इसके अतिरिक्त अपभ्रंश और इस भाषा में उस समय भेद करना अथवा दोनों में विच्छेद की सीमारेखा बाँधना कठिन है। इस काल में अपभ्रंश में भी साहित्य-रचना की प्रवृत्ति बराबर वनी रही, जो इस युग के बाद भी लगभग दो सौ वर्षों तक चलती रही। पर उसका रूप इतना बदलता गया कि उसमें देशी भाषा की प्रवृत्तियों की प्रधानता होती गई और वह प्राचीन अपभ्रंश से बहुत भिन्न हो गई। इस युग की प्रधान साहित्यिक प्रवृत्ति दूहा रचना ही थी। दूहा छन्द अपनी छोटी सी सीमा में एक भाव या विचार को सूत्र रूप में व्यक्त करने के लिए इस नई भाषा के लिए वहुत ही उपयुक्त था। कवियों के लिए नई भाषा को अपनी पूर्ववर्ती भाषा के छन्दों में ढालना कठिन था। नई भाषा के छोटे शब्द-भण्डार को लेकर साहित्य रचना करने के लिए यह दोहा छन्द वास्तव में बहुत ही उपयुक्त था। जब लंबी कविताओं की स्थिति आ गई, तो दो पदों के स्थान पर 'चउपई' के चार पदों और फिर 'छप्पय' के छः पदों का भी प्रयोग होने लगा। इस युग में बड़ी रचनाओं का अभाव स्वाभाविक है। वैसे तो इस युग को इस दृष्टि से अन्धकार का युग ही कहना चाहिए, क्योंकि दोहों की रचना मौलिक ही अधिक हुई और संग्रह की भी उस समय कोई प्रवृत्ति या व्यवस्था रही या नहीं, यह कहना कठिन है। यदि संग्रह किए गए होंगे, तो भी वे युद्धों की ज्वाला में भस्म हो गए होंगे। हेमचन्द्र तथा मेरुतुंग के संग्रहों में भी उस काल के कुछ दोहे अवश्य होने चाहिए। 'शिवसिंह सरोज' ने किसी पूषी कवि[1] द्वारा इस भाषा में तथा दोहा छन्दों में रचित एक अलंकार ग्रन्थ की सूचना दी है, पर यह ग्रन्थ अप्राप्य है। इसी प्रकार उसमें चित्तौड़ के राजा खुमानसिंह (वि० सं० ८१२ = सन ७५५ ई०) का भाषा-काव्य-मर्मज्ञ होना तथा उसके द्वारा वि० सं० ९०० (सन ८४३ ई०) में 'खुमानरासा' की रचना होना लिखा है।[2] 'खुमानरासो'

---

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य का इतिहास में किस आधार पर इस कवि का नाम 'पुष्यमित्र' दिया है, यह ठीक नहीं जान पड़ता।

२. शिवसिंहसरोज, सातवाँ संस्करण, सन १९२६, पृ० ९।

को लेकर हिन्दी साहित्य और इतिहास के क्षेत्र में जो विवाद चला, वह निराधार मालूम होता है। 'शिवसिंहसरोज' ने कभी भी दलपतविजय या दौलतविजय कृत 'खुमानरासो' की चर्चा नहीं की, फिर इन दोनों को एक मान लेना और उस पर इतना बड़ा विवाद करना हास्यास्पद नहीं, तो क्या हो सकता है? खुमान कृत 'खुमानरासा' अप्राप्य है और उसके स्थान पर १८वीं शताब्दी में दलपतविजय (या दौलतविजय) द्वारा रचित 'खुमाणरासो' को रख कर विवाद का पहाड़ खड़ा करने का उद्देश्य 'रासो' नामक प्रबन्ध रूपकों को जाली ठहराना ही मालूम होता है।

इस काल की प्राप्त रचनाओं में राजस्थानी के विकसित रूप दिखलाई पड़ने लगते हैं। नाथपंथ का भी राजस्थान पर किसी समय प्रभाव रहा है। इसी कारण गोरख (वि० सं० ९०० = ८४३ ई० के लगभग?) की रचनाओं में राजस्थानीपन वर्तमान है—

घरवारी सो घर की जाणै। वाहरि जाता भीतरि आणै।
सरव निरंतर काटै माया। सो घरवारी कहिए निरंजन की काया॥[1]

इसी समय में जैन कवि देवसेन ने प्राकृत और अपभ्रंश से मुक्त होकर अपने उपदेश को सर्वसाधारण में पहुँचाने के लिए इसी भाषा में रचना की। उनकी रचनाओं में 'सावयधम्मदोहा' और 'दर्शनसार' प्राप्त हैं जिनसे कुछ पंक्तियाँ उदाहरणस्वरूप नीचे उद्धृत की जा रही हैं —

१. 'सावयधम्मदोहा' से

भोगहं करिय पमाणु जिय, इंदिय म करिसि दप्प।
हुति न भल्ला पोसिया, दुद्धें काला सप्प॥
लोह लक्खु विसु सणु मयणु, दुट्ठ मरणु पसु भार।
कंडि अणत्थइपिडि पडिइ,
एहु धम्म जो आयरइ, वंभण सुद्द वि कोइ।
सो भावहु कि सावयहं, अण्णु कि सिरिमणि होइ॥

२. 'दर्शनसार' से

जो जिण सासउ भासियउ, सो मइ कहियतु सारु।
जो पालेसइ भाउ करि, तो तरि पावइ पारु॥
एहु धम्म जो आयरइ, चउ वण्णह भइं कोइ।
सो णरु णारि भय्ययणु, सुरपय पावइ सोइ॥

वि० सं० १००० (सन ९४३ ई०) के लगभग पुष्पदन्त का समय भी आ जाता है। इस जैन कवि की 'महापुराण', 'जसहरिचरिउ' और 'णायकुमारचरिउ' नामक रचनाएँ प्राप्त हैं। ये रचनाएँ अपभ्रंश में होने पर भी इनमें उस समय की बोलचाल की भाषा के रूप मिलते हैं, उदाहरणार्थ

---

१. दे० काशीप्रसाद जायसवाल: पुरानी हिन्दी का जन्म काल, नागरीप्रचारिणी पत्रिका भाग ८, संवत १७९४।

धूलिधूसरेण वरमुक्कसरेण तिणा मुरारिणा।
कीला रसवसेण गोवालय गेवी हियय हारिणा॥

रंगंतेण रमंत रमंते। मंथउ धरिउ भमंतु अणंते॥
मंदीरउ तोडिवि आवट्टिउं। अद्ध विरोलिउं दहिउं पलोट्टिउं।
कावि गोवि गोविंदहु लग्गी। एण महारी मंथरि भग्गी॥
एयहि मोल्लु देहु आलिंगणु। णं तो मा मेल्लहु मे प्रंगणु॥

—महापुराण

विणु धवलेण सयड किं हल्लइ। विणु जीवेण देइ किं चल्लइ॥
विणु जीवेण मोक्खु को पावइ। तुम्हारिसु किं अप्पउ आवइ॥
माणुस सरीर दुह मोट्टलउ। धोयउ धोयउ अइ विट्टलउ॥
वारिउ वारिउ विपाउ करइ। पेरिउ पेरिउ विनु धम्म चरइ॥
चम्मे बद्धु वि कालि सडइ। रक्खिउ रक्खि जम मुह पडइ॥

—जसहरिचरिउ

इसी काल में जोइन्दु, रामसिंह और धनपाल कवि हुए हैं जिनका क्षेत्र राजस्थान था। जोइन्दु की रचनाएँ दोहा छन्द में मिलती हैं। 'परमप्पयासदोहा' और 'दोहापाहुड'[1] में भी इस समय की भाषा के रूप मिलते हैं, जैसे—

अप्पा केवल णाणमउ हियडइ णिवसइ जासु।
तिहुयणि अत्थइ कोवकलउ पाउ ण लग्गइ तासु॥
बहुयइं पढ़ियइ मूढ़ पर तालू सुक्खइ जेण।
एवक्कु जि अक्खरु तं पढ़हु सिवपुरि गम्मइ जेण॥

—परमप्पपायास दोहा

रामसिंह की रचना 'पाहुडदोहा' से कुछ उदाहरण नीचे उद्धृत किए जा रहे हैं—

हउं सगुणी पिउ णिग्गुणइ, णिल्लक्खणु णीसंगु।
एकहिं अंगि वसंतयहं, मिलिउ ण अंगहिं अंगु॥
मूलु छंडि जो डाल चडि, कहं तह जोयभासि।
चीरुणवुणणहं जाइ वढ, विणु उहियइं कपासि॥

धनपाल की प्रसिद्ध रचना 'भविसयत्तकहा' के कुछ उदाहरण देखिए—

तुडिहिं चडिवि जइ तं किर किज्जइ।
वयणुवि नउ करालु जंपिज्जइ॥
बोल्लहि पुत्त जेम अण्णाणिउं।
किं वणिउत्तहं मग्गु नण वाणिउं॥

---

१. देखिए अपभ्रंश पाठावली, १३२ पृ०—मधुसूदन चिमनलाल मोदी।

२. द्वितीय उत्थान : नव विकास युग (वि० सं० १००० से १२०० सन ९४३–११४३ ई०)

· प्रथम उत्थान में हमने देखा कि किस प्रकार अपभ्रंश के साथ साथ देशभाषा का व्यवहार साहित्य में आरम्भ हुआ। द्वितीय उत्थान राजस्थानी साहित्य के उदय का द्योतक है। इन दो हजार वर्षों के समय में राजनीतिक परिस्थितियाँ और भी भयंकर हो जाती हैं। युद्धों का संघट्ट और प्रसार बड़ी तीव्र गति से होता है। चारण, भाट तथा अन्य राजकवियों का योद्धाओं को रण के लिए प्रेरणा देना एक कर्त्तव्य-सा हो जाता है। उनकी काव्य-शक्ति एक विशेष प्रकार की भावना से प्रेरित होकर वीर रस की एक निश्चित धारा में प्रवाहित होने लगती है। वीरों की कर्तव्य-परायणता और आत्मत्याग से पूर्ण चरित का चित्रण काव्य के प्रधान विषय हो जाते हैं। शौर्य-वर्णन, संगर-पटुता का चित्रण और रणवाद्यों का अनुरणन इस काव्य की भाषा में एक विशेषता उत्पन्न करते हैं, जो आगे चलकर वीर रस की रचनाओं के लिए एक परम्परा स्थापित कर देती है। यह परम्परा अपभ्रंशप्रधान भाषा को लेकर आरम्भ हुई। वीर रस तथा युद्ध-वर्णन की परम्परा भी अपभ्रंश में रचित ग्रन्थों, जैसे पुष्पदन्त के 'महापुराण' के आदिपुराण भाग में वर्णित युद्ध वर्णन, से[1] प्राप्त हो गई। इस नवोदित काव्य-प्रणाली ने रास, रासौ तथा रूपक का तो विकास किया ही, पर साथ ही साथ धार्मिक तथा अन्य उत्सवों और पर्वों पर गाए जाने वाले लोकगीतों में भी एक नवीन विषय की स्थापना की। रणभूमि में वीरगति प्राप्त करने वाले योद्धाओं और चिताओं पर जीवित जल मरने वाली सतियों की त्यागमयी भावनाओं का समावेश इन लोकगीतों में हो गया जो आगे चलकर बड़ी रचनाओं या पवाड़ा[2] के रूप में विकसित हुए। जैन कवियों ने रास को गेय तथा नृत्य-नाट्यमय शैली में बना कर चरितकाव्य के रूप में विकसित किया। इनका प्रदर्शन और गान परम्परा के अनुसार जैनमन्दिरों में होने लगा। शृंगार रस की रचनाओं का भी इस युग में विकास हुआ, पर ऐसी बड़ी रचना कोई नहीं मिलती जिसके आधार पर इसकी पुष्टि की जा सके। मुलतान के किसी अब्दुलरहमान कवि की 'संदेशरासक' अवश्य ही इस प्रकार की रचना है। प्रथम उत्थान में विकसित दूहा प्रणाली में अवश्य ही शृंगार की भावनाएँ मिलने लगती हैं। दूहा रचना की यह प्रणाली जिस प्रकार स्वतंत्र रूप में दिखाई देती है उसी प्रकार बड़ी रचनाओं में भी। प्रथम उत्थान में जहाँ पूरी पूरी रचनाएँ दूहा में हुई हैं, वहाँ यह दूहा-चउपई के अन्त में ठीक उसी प्रकार मिलने लगता है, जिस प्रकार अपभ्रंश में घत्ता रखा जाता है। दूहों में समस्यापूर्ति की प्रथा इस बात की द्योतक है कि उस समय इस भाषा में दूहा रचना कितनी लोक-

---

१. छुडु गज्जिय गुरु संगाम भारि। णं भुक्खिय तिहु यण गिलिबि मारि।।
छुडु णिग्गउ मुय वलि साहिमाणि। छुडु एत्तहि पत्तउ चक्कपाणि।।
छुडु काले णीणिय दीह जीह। पसरिय माणुस मंसासणीह।।
थिय लोयवाल जीविय णिरीह। डोल्लिय गिरि रूंजिय गहणि सीह।।

२. आगे चलकर इन रचनाओं में 'पाबू जी रो पवाड़ो' तथा 'नागजी रो पवाडो' बहुत प्रसिद्ध हुए।

प्रिय हो गई थी।[१] यह दोहा छन्द इतना प्रिय हुआ कि इसका सम्बन्ध संस्कृत प्रेमियों ने दोधक से लगा लिया[२] और प्राकृत दोधक दोहा छन्द में आ गया।[३] राजस्थानी के अनेक लोकगीत अब प्राप्त होने लगे हैं जिनमें से कई इस युग के हैं और उसकी विशेषताओं के द्योतक हैं। 'प्रबन्धचिन्तामणि' में अनेक दूहे इसी युग की रचनाएँ हैं। ये दूहे वीर, शृंगार (संयोग-वियोग), हास्य, शान्त, अद्भुत आदि रसों में तो हैं ही, साथ ही नीतिपूर्ण और मनोरंजक भी हैं। मुंज (वि० सं० १०२९-५४ = सन ९७२-९९७ ई०) और भोज (वि० सं० १०५४=सन ९९७ ई०) की रचनाएँ इसी में संग्रहीत हैं। सपादलक्ष (वर्तमान अजमेर-सांभर) के दोहाकारों और समस्यापूर्तियों का उल्लेख इसी में मिलता है।[४] सं० १०३६ वि० (सन ९७९ ई०) में कपालकोटि के किले के बाहर लाखा राजा का बोधवाक्य उसकी कई फुटकर दूहा रचनाओं की सूचना देता है—

ऊग्या ताविउ जहि न किउ, लक्खउ भणइ तिघट्ट।
गणिया लब्भइ दीहडा के दह अहवा अट्ठ॥
—प्रबन्धचिन्तामणि

कनकामर मुनि (सं० १०६० वि० = सन १००३ ई०) का 'करकंडचरिउ' (जीवनचरित) इसी युग की रचना है। इस काल में देशी शब्दों का भी प्रचुर मात्रा में विकास हो गया था, जिसका संग्रह हेमचन्द्र ने '**देशीनाममाला**' में कर नाममाला (शब्दकोष) की परम्परा स्थापित की। हेमचन्द्र की दूहा रचनाएँ भी प्रसिद्ध हैं। सं० ११०० वि० (सन १०४३ ई०) में जिनदत्त सूरि ने '**चर्चरि**', 'उवएसरसायण' और 'कालस्वरूप कुलक' की रचनाएँ प्रस्तुत कीं। सं० ११५९ वि० (सन ११०२ ई०) में हरिभद्र सूरि ने 'नेमिनाथचरिउ' की रचना की। सं० ११५३-६४ वि० (सन १०९६-११०७ ई०) के[५] लगभग वीसलदेव का समय माना जाता है। 'वीसलदेव रास' नामक रचना एक गेय रूपक है जो सं० १२१२ वि० (सन ११५५ ई०) की रची हुई मानी जाती है, पर आधुनिक खोज में प्राप्त रचना बहुत पीछे की है। इसी समय में किसी अज्ञात कवि ने 'उपदेशतरंगिणी' की रचना की, जिसने नीति के दोहों की उस परम्परा को क्रमबद्ध रूप में प्रसारित किया जो हेमचन्द्र तथा उनके पूर्ववर्ती कवियों में फुटकर रूप में देखी जाती है। सं० ११५० वि० (सन १०९३ ई०) के लगभग आम भट्ट की स्फुट रचनाएँ 'पृथ्वीराज रासो' के प्राचीन छन्दों के[६] बहुत निकट हैं; उदाहरणार्थ —

डरि गइंद डगमगिअ चंद करमिलिय दिवायर।
डुल्लिय महि हल्लियहि मेरु जलझंपइ सायर।

---

१. देखिए मुनिजिनविजय द्वारा संपादित 'प्रबन्धचिन्तामणि' में 'भोजभीम प्रबन्ध', पृ० २८, ३०।
२. चंद्रधर शर्मा गुलेरी : पुरानी हिन्दी, नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग २, अंक ४, पृ० १३।
३. देखिए प्रबन्धचिन्तामणि, पृष्ठ ६४।
४. वही।
५. रासो परम्परा ३, सि० भ० हिन्दी अनुवाद।
६. प्रबन्ध चिन्तामणि में उद्धृत।

सुहडकोडि थरहरिअ कूर कूरंम कडविकअ।
अतल वितल धसमसिय पुहवि सहु प्रलय पलट्टिय।
गज्जंति गयण कवि आम भणि, सुर मणि फिणि मणि इक्क हूअ।
मागहि हिमगहि मम गहि मगहि, मुंच मुंछ जयसीह तूअ॥

यह छप्पय आम भट्ट ने सिद्धराज जयसिंह के विषय में लिखा है। सिद्धराज जयसिंह कई कवियों का आश्रयदाता था और स्वयं भी कवि था। उसकी महानता का परिचय इस दोहे से प्राप्त होता है —

राणा सव्वे वाणिया, जेसलु वड्डउ सेठि।
काहूं वणिजउ माण्डीयउ, अम्माणा गढ हेठि॥

उसने नवघणरा खंगार को मार कर उसकी पत्नी के साथ कैसा निर्दयतापूर्ण बलात्कार किया, इसका परिचय भी निम्न सोरठे से मिलता है —

जेसल मोडि म बांह, वलि वलि विरुए भावियइ।
नइ जिम नवा प्रवाह, नवघण विणु आवह नहीं।

इस युग का अन्तिम कवि महेश्वर सूरि है जिसकी रचना 'संजमसंजरी' मिलती है।

३. तृतीय उत्थान : वीरगाथा युग (वि० सं० १२०० से १५०० = सन ११४३ से १४४३ ई०)

यह युग राजस्थानी भाषा, साहित्य, संस्कृति, संगीत, नृत्य-नाट्य, शिल्प, स्थापत्य, तक्षण, मूर्ति आदि कलाओं के विकास का द्योतक है। इस युग में राजस्थानी भाषा और साहित्य की सामूहिक रूपरेखा अधिक स्पष्ट होकर विकसित हो जाती है। भाषा की प्रवृत्ति में राजस्थानी रूप विकसित होकर साहित्यिक अभिव्यक्ति के लिए क्षमता प्राप्त कर लेते हैं। राजस्थानी गद्य के परिमार्जित रूप का सर्वप्रथम दर्शन इसी युग में होत. है।[१] बोलचाल की भाषा अधिक प्रबल होकर लोकगीतों के रूप में निखर जाती है। जैन रचनाएँ एक विशेष परिपाटी को लेकर इसी बोलचाल की राजस्थानी में प्रकट होती हैं। पर वीर रसात्मक रचनाएँ अपभ्रंश प्रधान रूपों को लेकर चलती हैं। इस प्रकार रास जैसे गीतिरूपक तथा अन्य विविध प्रकार के गीत बोलचाल की भाषा में, जैन जीवन-चरित तथा अन्य जैन रचनाएँ (जैन लेखकों द्वारा रचित) जैन शैली में और वीर रसात्मक गीत और रासो जैसे प्रबन्ध रूपक अपभ्रंश प्रधान भाषा-शैली में लिखने की परम्परा इस युग के साहित्य में विकसित हुई। बोलचाल की भाषा में जो रचनाएँ लिखी गईं, वे आगे चलकर ब्रजभाषा से प्रभावित होकर 'पिंगल' के नाम से प्रसिद्ध हुईं। जैन-शैली की रचनाओं की भाषा का अध्ययन कर प्रसिद्ध इतालवी विद्वान तिस्सेतोरी ने डा० ग्रियर्सन के सुझाव पर इसको पुरानी पश्चिमी राजस्थानी नाम दिया। वीर रसात्मक साहित्य की भाषा डिंगल कहलाई[२]। वैसे इन तीनों में शैली का ही प्रधान भेद है।

---

१. देखिए देववर्धन कृत 'दवदंती नी कथा'—राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज, भाग ३, पृ० १७१-१७३ पर दिए गए गद्य के उदाहरण।

२. 'डिंगल' शब्द संस्कृत 'डिङ्क' (गाने बजाने वाला) से सम्बन्धित है। विशेष के लिए देखिए हिन्दी अनुशीलन, वर्ष ८, अंक ३, पृ० ९० पर प्रस्तुत लेखक का 'डिंगल भाषा' शीर्षक निबन्ध।

यह युग मुस्लिम आक्रमण, संघर्ष, आत्मत्याग, जौहर, सत्ता का ध्वंस और नाश का युग भी है। इस प्रकार इस युग के साहित्य में नाश और निर्माण के बीच आत्मगौरव और आत्माभिमान की भावनाओं की प्रधानता होना स्वाभाविक है। भारतीय भाषाओं के इतिहास में यह एक विशेषता देखी जाती है कि जिस स्थान पर सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक आदि क्रान्तियों का प्राबल्य रहा है, वहाँ की भाषा और उसके साहित्य ने देश के अन्य भू-भाग पर मोटे रूप से प्रभाव डाला है। यह युग राजनीतिक उथल-पुथल की भीषणता का युग रहा है। इसके प्रधान केन्द्र दिल्ली, कन्नौज, रणथंभौर, अजमेर, जालोर, चित्तौड़, सोमनाथ, अन्हिलवाड़, पाटन आदि थे, जहाँ मुसलमानों के भीषण संहार के बीच अनेक भारतीय वीरों तथा वीरांगनाओं ने अपने उच्चकोटि के शौर्य का प्रदर्शन और आत्मत्याग का महान परिचय दिया। इसी कर्त्तव्य-निष्ठा, प्रतिज्ञा-पालन, स्वामिभक्ति आदि के सजीव दृश्यों से प्रेरित होकर राज्याश्रित तथा स्वतंत्र कवियों ने वीर-चरित को अंकित करने वाली वीर रस की अमर कृतियाँ प्रस्तुत कीं। इस युग की भाषा और उसके साहित्य का प्रभाव देश के अन्य भागों की भाषाओं और उनके साहित्य में आज भी देखा जाता है। यह प्रभाव दो प्रकार से पड़ा। पहला प्रभाव तो साहित्य के द्वारा ही देखा जाता है। इस युग की वीर रसात्मक रचनाओं में भाषा-शैली, छन्द और रूप की जो परम्पराएँ आरम्भ हुईं, अन्य भाषाओं के साहित्य में भी वीररसात्मक रचनाओं के लिए वे परम्पराएँ मान्य हो गईं यहाँ तक कि राजस्थानी पवाड़ा मराठी साहित्य में भी प्रवेश प्राप्त कर गया। राजकीय संस्कृति और शिष्टाचार ने भी इस प्रभाव में सहायता प्रदान की। दूसरा प्रभाव स्वयं भाषा के मूल रूप द्वारा गया। मुसलमानों के आक्रमण से प्राण बचा कर जो लोग यहाँ से भागे वे उत्तर में नेपाल की तराई तक और दक्षिण में महाराष्ट्र से लेकर कोंकण और वहाँ से पुनः सिन्ध तक जा पहुँचे। इसके परिणामस्वरूप इन लोगों की भाषा का प्रभाव पहाड़ी, मराठी, कोंकणी और सिन्धी भाषाओं में आज तक दिखाई देता है।

बोलचाल की भाषा में रचित आसाइत कृत 'हंसाउलि'[1] (वि० सं० १४१७=सन १३६० ई०) एक उत्तम कोटि की रचना है। जैन शैली की रचनाओं में शालिभद्र कृत 'भरतेश्वरबाहुबलिरास'[2] (वि० सं० १२४१=सन ११८४ ई०) तथा जिनपद्म सूरि कृत 'थूलिभद्दफागु' (वि० सं० १२००=सन ११४३ ई०), प्रबन्ध रूपकों में पद्मनाभ द्वारा जालोर में रचित 'कान्हड दे प्रबन्ध'[3] तथा अन्य प्रबन्ध रूपकों में चंदकृत 'पृथ्वीराज रासो' प्रसिद्ध हैं। वीर रस की अन्य रचनाओं में श्रीधर द्वारा रचित 'रणमलछन्द' (वि० सं० १५४१=सन १४८४ ई०), अज्ञात कवि कृत 'राउ जइत सी रउ छन्द' (पिंगल में, वि० सं० १५९० = सन १४३३ ई०) तथा सूजा कृत 'राउ जइतसी रउ छन्द' (डिंगल में, वि० सं० १५९०-९८ = सन १४३३-४१ ई०), दूहा में रचित दुरसा कृत 'विरुद छिहत्तरी' (वि० सं० १५८२-१७१२ = सन १५२५-१६५५ ई०).

---

१. गुजरात वर्नाक्यूलर सोसाइटी, अहमदाबाद द्वारा प्रकाशित तथा केशवराम शास्त्री द्वारा संपादित।

२. भारतीय विद्याभवन, बंबई द्वारा प्रकाशित तथा मुनि जिनविजय द्वारा संपादित।

३. राजस्थान पुरातत्व मंदिर द्वारा प्रकाशित।

हेमरतन कृत 'पद्मिनी चउपई' (वि० सं० १६४५=सन १५८८ ई०) आदि अनेक रचनाएँ तो प्रसिद्ध हैं ही, पर इनके अतिरिक्त भी अनेक कवियों की रचनाएँ उपलब्ध हैं, जिन सब का उल्लेख करना यहाँ असंभव है। नीति और उपदेश संबंधी रचनाओं में किसी अज्ञात कवि द्वारा रचित 'प्रबोधचिन्तामणि' प्रसिद्ध है। इनके अतिरिक्त विनयचंद सूरि कृत 'नेमिनाथचतुष्पदी' (सं० १२०० वि० =सन ११४३ ई०), अजयपाल कृत स्फुट रचनाएँ, अंटेसूरि कृत 'समररास', हरसेवक कृत 'मयणरेहा', (सं० १४१३ =सन १३५६ ई०), सिवदासचारण कृत 'अचलदास खीची री वचनिका' (सं० १४७० =सन १४१३ ई०), चारण चौहथ (सं० १४९५वि० =सन १४३८ई०) कृत गीत भी उल्लेखनीय हैं।

४. चतुर्थ उत्थान : भक्तियुग (वि० सं० १५००-१७०० वि० १४४३-१६४३ ई०)

वीरगाथा युग के अन्तिम चरण में भक्ति काव्य की रचनाओं का विकास भी आरम्भ हो जाता है। धन्ना, पीपा और रैदास इस युग के महान भक्त हुए हैं, जिन्होंने अपनी भक्ति, व्यवहार और रचनाओं द्वारा एक सामाजिक क्रान्ति उपस्थित की, जिससे आगे चलकर मीराँ जैसी महान भक्त कवयित्री का प्रादुर्भाव हुआ। अन्य प्रसिद्ध भक्त कवियों में तत्ववेत्ता ईसरदास, गोविन्ददास, नरहरिदास आदि की रचनाएँ प्रसिद्ध हैं। इसी युग में निरंजन (निर्गुण) साधना को लेकर अनेक पंथों का प्रादुर्भाव हुआ, जिनके मुख्य केन्द्र जोधपुर, जयपुर तथा मेवाड़ राज्य रहे। इन पंथों में दादू द्वारा स्थापित दादूपंथ बहुत प्रसिद्ध हुआ, जिसमें गरीबदास (सं०१६३२-८३ वि०=सन १५७५-१६२६ ई०), वखना (सं० १६४०-७० वि० =सन १५८३-१६१३ ई०), जगजीवन (सं० १६४० वि० =सन १५५३ ई०), जनगोपाल (सं १६५० =सन १५५३ ई०), रज्जव, जगन्नाथदास (सं० १६५० =सन १५५३ ई०), संतदास (सं० १६९६ सन १६३९ ई०) तथा सुन्दरदास आदि बहुत प्रसिद्ध हैं, जिन्होंने अपने ज्ञान और अनुभव द्वारा जनता को प्रभावित किया तथा उत्तम कोटि की साहित्यिक रचनाएँ भी प्रस्तुत कीं। इसी प्रकार चरणदास ने चरणदासीपंथ की स्थापना की, जिसमें निष्काम प्रेम, सदाचरण तथा निर्गुण-सगुण के समन्वय पर जोर दिया गया। चरणदास स्वयं एक अच्छे कवि थे। इनकी दस से अधिक रचनाएँ प्राप्त हैं, जिनमें 'ब्रजचरित्र' और 'भक्तिसागर' में सुन्दर भावनाओं की अभिव्यक्ति हुई है। रामसनेहीपंथ के प्रवर्तक रामचरण भी उत्तम कोटि के कवि थे और इनके शिष्यों में भी अनेक कवि हो गए हैं। हरिदास (जोधपुरी) ने निरंजनी पंथ और लालदास ने लालदासी पंथ की स्थापना इसी युग में की थी।[१]

प्रेमाख्यान काव्यों में कुशललाभ (सं० १५९०-१६१७ वि० =सन १४४२-१५६० ई०) कृत 'ढोला मारू रा दूहा' तथा 'माधवानल कामकन्दला चउपई' और पृथ्वीराज राठौड़ कृत 'वेलि किसन रुक्मिणी री' अत्यधिक लोकप्रिय रचनाएँ हैं। कुशललाभ ने 'पिंगलशिरोमणि' ग्रन्थ की रचना कर इसी युग में छन्द शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों की परम्परा स्थापित की।

इस युग की एक बड़ी विशेषता यह थी कि इन लोगों में संग्रह की प्रवृत्ति की भावना जाग्रत

---

१. इन ग्रन्थों के रचयिताओं और उनकी रचनाओं के लिए देखिए डा० मोतीलाल मेनारिया कृत राजस्थान का पिंगल साहित्य, चतुर्थ अध्याय।

हुई। इससे अनेक ग्रन्थों के निर्माण के साथ साथ प्राचीन ग्रन्थों की कई प्रतियाँ भी तैयार हो गईं और कई अप्राप्य तथा नष्टप्राय ग्रन्थों का जीर्णोद्धार भी हो गया। इन ग्रन्थों में 'पृथ्वीराजरासो' एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है जिसका जीर्णोद्धार हरि (नरहरि), गंग, हरिनाथ, सोमनाथ, गुणचंद आदि कवियों ने किया।[१]

५. पंचम उत्थान : रीति युग (वि० सं० १७००-१९००=सन १६४३-१८४३ ई०)

राजस्थानी के उत्थान का यह अन्तिम युग है। इस युग में राजस्थानी की प्राचीन परम्पराएँ बहुमुखी होकर समाप्त हो जाती हैं। हिन्दी साहित्य के इतिहास में यह युग रीतिकाल के नाम से प्रसिद्ध है। साहित्य की दृष्टि से राजस्थान और उत्तरप्रदेश, दोनों में इस युग में एकता स्थापित हो जाती है और गुजराती से राजस्थानी का सम्बन्ध टूट जाता है। राजस्थान और उत्तरप्रदेश. दोनों में साहित्य के लिए ब्रजभाषा पूर्णरूपेण मान्यता प्राप्त कर लेती है और दोनों प्रदेशों में रीति ग्रन्थों का निर्माण एक ही आधार और एक ही शैली में होने लगता है। हम ऊपर कह आए हैं कि रीति काल के बहुत से ग्रन्थों का निर्माण राजस्थान में ही हुआ। इसका कारण यह है कि कि उन महत्वपूर्ण ग्रन्थों के रचयिता राजस्थानी थे अथवा राजस्थान में ही राज्याश्रय प्राप्त कर पनपे थे, यहाँ तक कि रीति ग्रन्थों का प्रथम सूत्रपात भी राजस्थान में ही हुआ मालूम होता है। सं० १५०० वि० (सन १४४३ ई०) में किसी अज्ञात कवि द्वारा राजस्थानी में रचित एक नायिका-भेद संबंधी ग्रन्थ 'सामुद्रकइं स्त्री-पुरुष-शुभाशुभं' हमें खोज में प्राप्त हो चुका है।[२] इसी प्रकार कुशललाभ (सं० १५००-१६१७सन= १४४३-१५६० ई०) का 'पिंगल शिरोमणि' ग्रन्थ भी प्राप्त हो चुका है। हिन्दी में रीतिकाल का सूत्रपात कृपाराम ने वि० सं० १५७८ (१५२१ ई०) में किया। रीतिकाल के प्रसिद्ध कवियों में जोधपुर के महाराज जसवन्तसिंह (सं० १६०३-१७३५ वि०=सन १६२६-१६७८ई०)अपने 'भाषाभूषण' नामक ग्रन्थ के कारण हिन्दी के आचार्यों में प्रख्यात हैं। प्रसिद्ध कवि बिहारी ने जयपुर के राज्याश्रय में रह कर अपनी महान 'बिहारी-सतसई' की रचना की। मतिराम ने बूँदी के राज्याश्रय में 'ललितललाम' (सं० १७१६-१७४५ = सन १६५९-१६८८ ई०) नामक अलंकार ग्रन्थ की रचना की। कुलपति मिश्र ने जयपुर के राज्याश्रय में 'रस-रहस्य' (सं० १७२७ वि० = सन १६७० ई०) की रचना की। इस प्रकार हम देखते हैं कि इन प्रसिद्ध आचार्यों का राजस्थानी भाषा और साहित्य पर इस युग में बहुत जबरदस्त प्रभाव

---

१. पृथ्वीराजरासो की नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित प्रति में इन कवियों के नाम निम्नलिखित स्थानों पर आते हैं—

क. इति त्रोटक छंद सुमंत गुरं। दिन आठ पठ्यो हरि गंग कुरं॥
३०।१२१।६४।

ख. तापर तुररा सुभत्त अत्ति, कहत सोमकविनाथ।
मनु सूरज के सीस पर, धिनुष धर्यो धनु हाथ।
—७५२।३८६।

ग. ... ...। गुण कवि कत्थं॥७।३५५।११३।७८।

२. देखिए राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज, भाग ३, पृ० २१३।

पड़ा। राजस्थानी में डिंगल और पिंगल की जो भाषा-शैलियाँ चलती थीं उनमें पिंगल बहुत अधिक विकसित और लोकप्रिय हो गई। डिंगल केवल चारण, भाटों आदि राज्याश्रित लोगों की साहित्यिक भाषा रह गई और वह भी केवल वीर रसवर्णन के लिए। रीति ग्रन्थों में तो ये लोग भी पिंगल का ही प्रयोग करते थे। यह पिंगल इतनी लोकप्रिय हुई कि डिंगल में भी इसका मिश्रण होने लगा। ऐसा डिंगल-पिंगल-मिश्रित ग्रन्थ माधोदास दधिवाड़िया कृत 'रामरासो' है। रासो नामक प्रबन्ध रूपक की जो परम्परा पहले से चली आ रही थी उसमें एक व्यक्ति, आश्रयदाता, के स्थान पर अब पूरे वंश-वर्णन का समावेश होने लगा। इस प्रकार के काव्य का पूर्ण विकास कविराजा सूर्यमल्ल (वि० सं० १८७२-१९२० = सन १८१५-१८६३ ई०) कृत 'वंशभास्कर' में देख पड़ता है, जिसमें सभी प्रकार की विविधता और विषमता के दर्शन होते हैं।[२] इस युग में राजस्थान में वीर रस और शृंगार रस दोनों प्रकार की रचनाओं का निर्माण हो रहा था। डिंगल के ग्रन्थों में झूठी प्रशंसा के कारण कृत्रिमता भी आने लगी थी। पिंगल में रीति ग्रन्थों का प्रवाह प्रबल हो उठा था। इनके साथ साथ नीति और उपदेशात्मक काव्यों की रचना भी हो रही थी। डिंगल की प्रसिद्ध रचनाओं में हरिदास भाट कृत 'अजीतसिंह चरित्र' (सं० १७०० वि० = सन १६४३ ई०) रामकवि कृत 'जयसिंह चरित्र' (सं० १७०१ वि० = सन १६४४ ई०), खिड़िया जग्गा कृत 'रतनरासौ वचनिका (सं० १७१५ वि० =सन १६५८ ई०), किशोरदास कृत 'राज-प्रकाश' (सं० १७१९ वि० = सन १६६२ ई०), गिरधर आस्या कृत 'सगतरासौ' (सं० १७२० वि० = सन १६६३ ई०), दौलतविजय कृत 'खुमाणरासौ' (सं० १७२५ वि० = सन १६६८ ई०), दयाल-दास कृत 'राणारासौ' (सं० १७३७ वि० = १६८० ई०), माधोदास कृत 'शक्तिभक्तिप्रकाश' (सं० १७८० वि० = सन १६८३ ई०), वादरदाढी कृत 'नीसाणी वीरभाण री' (सं० १७४० वि० = सन १६८३ ई०), हरिनाम कृत 'केसरीसिंह समर' (सं० १७४० = सन १६८३ ई०), वीरभाण कृत 'राजरूपक' (सं० १७९२ वि० = सन १७३५ ई०), करणीदान कृत 'सूरजप्रकाश' (सं० १७८७=सन १६७० ई०), दीनजी कृत 'रतनरासौ' (सं० १८६३ वि० =सन १८०६ ई०), कमजी दधिवाडिया कृत 'दीपंगकुलप्रकाश' (सं० १९२९ वि० = सन १८७२ ई०) आदि अनेकों ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। इसी प्रकार पिंगल या रीति ग्रन्थों में वृन्द कवि (सं० १७००-६४ = सन् १६४३-१७०७ ई०) कृत 'दृष्टान्त सतसई', 'यमक सतसई', 'शृंगारशिक्षा', 'भावपचासिक', दानदास कृत 'छन्दप्रकाश' (सं० १७०० वि० = सन १६४३ ई०), जोगीदास चारण कृत 'हरिपिंगल प्रबन्ध' (सं० १७२१ वि० = सन १६६४ ई०), हरिचरण दास (सं० १७६६-१८३५ = सन १७०९-७८ ई०) कृत 'सभाप्रकाश' और कवि वल्लभ नान्हराम कविसागर कृत 'कविता कल्पतरु' (सं० १७८९ वि०), वल्लभ कवि कृत 'वल्लभविलास' (सं० १७८० वि०), सोमनाथ (सं० १७७०-१८१० वि० = सन १७३३-१८५३ ई०) कृत 'रसपीयूषनिधि' और 'रसविलास', दलपतराय वंशीधर कृत 'अलंकाररत्नाकर' (सं० १७९८ = सन १७४१ ई०), मंछकवि (सं० १८३०-१८९२ वि० = सन १७७३-१८३५ ई०) कृत 'रघुनाथरूपक', (राजस्थानी छन्दशास्त्र),

---

१. डिंगल और पिंगल रचनाओं के लिए देखिए हिन्दी अनुशीलन वर्ष ८, अंक ३ में प्रस्तुत लेखक का डिंगल भाषा शीर्षक लेख।

२. ऐसे प्रबन्ध रूपक के लक्षणों के लिए देखिए उपर्युक्त निबन्ध।

गणेश चतुर्वेदी कृत 'रस चन्द्रोदय' (सं० १०४० = सन ९८३ ई०), उदैचंद (सं० १८६०-९० १८०३-३३ ई०) कृत 'छन्द प्रवन्ध पिंगल भाषा', मनराखन श्रीवास्तव कृत 'छंदोनिधि पिंगल' (सं० १८६१ वि० = सन १८०४ ई०) आदि प्रसिद्ध हैं। अन्य रचनाओं में साईंदास चारण कृत संमतसार (वर्षा-ऋतु वर्णन, सं० १७०९ वि० = सन १६५२ ई०), श्रीधर कृत 'भवानीछंद', (सं० १७१० = सन १६५३ ई०), सूरविजय कृत 'रत्नपाल रत्नावती रास' (सं० १७३२ वि० = सन १६७५ ई०), हंस कवि कृत 'चन्द्रकँवर की वार्ता (सं० १७४० = सन १७२३ ई०), शिवराम कृत 'दसकुमार प्रबन्ध' (सं० १७५४ = सन १६९७ ई०), हित वृन्दावनदास (सं० १७६५-१८४४ = सन १७०८-१७८७ ई०) कृत भक्ति संबंधी ४२ रचनाएँ[1], हरिचरण दास कृत 'रसिकप्रिया', 'कविप्रिया' और 'भाषाभूषण' की टीकाएँ, कविराज बाँकीदास (सं० १८२८-९० वि० = सन १७७१-१८३३ ई०) कृत २७ ग्रन्थ,[2] हरि कवि कृत 'कवाटरार वहिया री बात' (सं० १८५४ = सन १७९७ ई०) आदि रचनाएँ प्रसिद्ध हैं। राजस्थान के अन्तिम महाकवि कविराज सूर्यमल (सं० १८९७ = सन १८४० ई०) हैं जिन्होंने 'वंशभास्कर' तथा 'वीरसतसई' नामक दो महान कृतियाँ प्रस्तुत कीं। 'वंशभास्कर' एक पांडित्यपूर्ण ऐतिहासिक काव्य है और 'वीर सतसई' वीर रस की एक उच्च कोटि की रचना है।*

सहायक ग्रन्थ

१. राजस्थानमें हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज, भाग १, मोतीलाल मेनारिया
२. ,, ,, ,, भाग २, ४, अगरचंद नाहटा
३. ,, ,, ,, भाग ३, उदयसिंह भटनागर
४. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वाराणसी, भाग ३
५. हिन्दी अनुशीलन, हिंदी परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय
६. जैन गुर्जर कविओ (चार भागों में), मोहनलाल दलीपचंद देसाई
७. प्राचीन फागु संग्रह, डा० भोगीलाल सांडेसरा
८. राजस्थानी भाषा और साहित्य, डा० मोतीलाल मेनारिया
९. राजस्थान का पिंगल साहित्य, ,, ,,
१०. राजपूताने का इतिहास, डा० गौरीशंकर हीराचंद ओझा
११. शिवसिंह सरोज, शिवसिंह सेंगर
१२. हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल
१३. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डा० रामकुमार वर्मा
१४. राजरचनामृत मुंशी देवीप्रसाद

---

१. इन रचनाओं के नामों के लिए देखिए डा० मोतीलाल मेनारिया कृत राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ० १००।

२. देखिए वही, पृ० २००।

*राजस्थानी साहित्य की विस्तृत सूची पुस्तक के परिशिष्ट में देखिए।

१४. मैथिली साहित्य

'वृहद विष्णुपुराण' में मिथिला प्रदेश की सीमा पूर्व में कौशिकी, पश्चिम में गण्डकी, दक्षिण में गंगानदी तथा उत्तर में हिमालय निर्दिष्ट है। वर्तमान समय में यह समस्त क्षेत्र मुजफ्फरपुर, दरभंगा, उत्तरी चंपारन, मुंगेर, भागलपुर तथा पूर्निया जिले के कुछ भाग एवं नैपालस्थित कुछ भाग के अन्तर्गत आ जाता है। मैथिली इसी मिथिला प्रदेश की मातृभाषा है। यह प्रदेश बिहार प्रान्त का एक भाग है जिसकी स्थिति गंगा के उत्तर तथा भोजपुरी भाषा-क्षेत्र के पूर्व में है। प्राचीन काल से ही मिथिला संस्कृत के पंडितों एवं दार्शनिकों का प्रसिद्ध केन्द्र रहा है। उत्तरी भारत के संस्कृत के विद्वानों की अपेक्षा मिथिला के पंडित अपनी मातृभाषा के प्रति अधिक उदार रहे हैं। यही कारण है कि संस्कृत के साथ ही साथ यहाँ के विद्वानों ने मैथिली में भी साहित्य-रचना की। मैथिली की अपनी अलग लिपि है, जो बंगला और असमिया से बहुत मिलती-जुलती है।

बहुत प्राचीन काल के साहित्य से मिथिला प्रदेश की स्थिति का पता चलता है। इस प्रदेश का एक प्राचीन नाम विदेह भी है जो यहाँ के तत्कालीन राजवंश के नाम से जुड़ा हुआ है। वैदिक साहित्य में इसके उल्लेख से इसकी प्राचीनता स्वतः सिद्ध है। विदेह या विदेध राजाओं के नाम से विदेह जनपद की ख्याति हुई थी। यह जनपद तत्कालीन कोसल जनपद से आगे बढ़कर उसके पूर्व में स्थित गण्डक नदी से भी आगे बसा था। प्राचीन उपाख्यानों से पता चलता है कि यहाँ आर्य क्रमशः बाद में आकर बसे। 'शतपथ ब्राह्मण' में उल्लेख है कि यहाँ विदेध माधव नामक राजा सरस्वती के तट से सदानीरा को पार करते हुए पहुँचे थे।

इसी प्रतापी विदेह राजवंश में मिथि नामक एक राजा हुए, जिन्होंने यहाँ पर एक बहुत बड़ा अश्वमेध यज्ञ किया और जिसके फलस्वरूप इस भूमि की पावनता में अभिवृद्धि हुई। लोक में यह प्रचलित विश्वास है कि जिस भू-भाग में यह यज्ञ सम्पन्न हुआ था उसकी सीमा उत्तर में हिमालय, दक्षिण में गंगा, पूर्व में कोशी तथा पश्चिम में गण्डक थी। आगे चलकर इसी पावन प्रदेश का नाम उक्त राजन्य के नाम पर मिथिला हुआ। इस मिथिला नाम का उल्लेख आदिकाव्य 'रामायण' और 'याज्ञवल्क्य-स्मृति' में हुआ है। 'रामायण' की कथा के नायक कोसल के राजकुमार रामचन्द्र का परिणय विदेह वंश की राजकुमारी सीता से हुआ था। याज्ञवल्क्य इस जनपद के आदिवासी थे और उपनिषद् की विचारधारा के प्रतिपादन में विदेहराज जनक के साहचर्य से उन्होंने अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की थी।

मैथिली साहित्य के विद्वानों ने उणादि सूत्र 'मिथिलाद्वयश्च' के आधार पर मिथिला शब्द की व्युत्पत्ति 'मन्थ' धातु से सिद्ध की है। संस्कृत के वैयाकरणों ने भी मिथिला को रिपुओं का मन्थन करने वाली नगरी माना है। 'मत्स्यपुराण' में मिथिला नामक एक महा तेजस्वी ऋषि का उपाख्यान भी मिलता है, जिससे यह अनुमान किया जाता है कि संभवतः इन्हीं के नाम पर

मिथिला प्रदेश का नामकरण हुआ होगा। डा० सुभद्र झा के अनुसार 'मिथिला' शब्द का सम्बन्ध मिथि युग से है। उनके अनुसार आज के मिथिला प्रदेश में प्राचीन काल के वैशाली, विदेह तथा अंग सम्मिलित हैं।

बौद्धकाल में भी इस प्रदेश की स्थिति बहुत अच्छी थी। अतः बौद्ध साहित्य में इस प्रदेश की चर्चा हुई है। 'दीघ निकाय' और अन्यत्र कुछ स्थलों पर सात प्रमुख जनपदों और उनके मुख्य नगरों का उल्लेख मिलता है, उनमें विदेह जनपद का सम्बन्ध मिथिला से बतलाया गया है।

मिथिला प्रदेश का एक नाम 'तिरहुत' भी है। इस शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत 'तीरभुक्ति' से समझी जाती है। 'तिरहुत' शब्द इसी का विकृत रूप है। 'तीरभुक्ति' शब्द की उपलब्धि प्राचीन वैदिक साहित्य में नहीं होती। इसका उल्लेख प्रायः बाद के पुराणों और तांत्रिक ग्रंथों में ही मिलता है। 'तीरभुक्ति' शब्द से तीन नदियों का साहचर्य प्रतिध्वनित होता है। मिथिला के जन-जीवन में इनकी उपयोगिता लक्षित करने से इस शब्द को पर्याप्त प्रसिद्धि हुई होगी। 'तिरहुत' नाम का प्रयोग ज्योतिरीश्वर ठाकुर के 'वर्णरत्नाकर' नामक प्रसिद्ध ग्रंथ में हुआ है।[१] यह नाम समस्त मिथिला प्रदेश के लिए ख्यात हो गया है।

भाषा या बोली के लिए मैथिली नाम का प्रयोग प्राचीन नहीं है। ज्यातिरीश्वर, विद्यापति, लोचन आदि मिथिला के प्रारम्भिक प्रसिद्ध कवियों ने इस नाम से अपनी भाषा की चर्चा नहीं की है। विद्यापति ने 'कीर्तिलता' में उसी भाषा के लिए 'देसिल बयना' अथवा 'अवहट्ठ' नाम का प्रयोग किया है। आधुनिक कवियों और मैथिली प्रदेश के शिष्ट जनों ने ही मिथिला की भाषा के लिए 'मैथिली' नाम प्रचलित किया है। कोलब्रुक के १८०१ ई० (सं० १८५८ वि०) के 'एशियाटिक रिसचेर्ज' में प्रकाशित संस्कृत तथा प्राकृत सम्बन्धी निबन्धों में इस शब्द का प्रयोग हुआ है।[२] आगे चलकर फैलेन, हार्नले, केलॉग और ग्रियर्सन आदि पाश्चात्य विद्वानों ने भारतीय भाषाओं के अध्ययन के प्रसंग में इस नाम को सामान्यता प्रदान की है। इसका प्रयोग सिरीरामपुर के मिशनरी लागों ने भी आर्यभाषाओं के तुलनात्मक विवेचन के प्रसंग में किया है। मैथिली शब्द का इस अर्थ में प्राचीनतर प्रयोग अबुलफज्ल के 'आइनेअकबरी' में मिलता है और उन्होंने इसे अलग और स्वतंत्र भाषा भी माना है।

आधुनिक आर्यभाषाओं में मैथिली, मगही, भोजपुरी, बँगला, उड़िया तथा असमिया की उत्पत्ति मागधी प्राकृत तथा मागधी अपभ्रंश से मानी जाती है। डा० ग्रियर्सन ने मैथिली, मगही और भोजपुरी को बिहारी के अंतर्गत रक्खा है और इसका आधार भाषा का वैज्ञानिक और व्याकरण सम्मत अध्ययन बताया है। डा० जयकान्त मिश्र मिथिला की भाषा को एक स्वतंत्र भाषा मानते हैं और भोजपुरी पर पश्चिम के प्रभाव के कारण उसकी व्याकरणसम्मत एकता को भी मैथिली से कम प्रभावशाली सिद्ध करते हैं। जहाँ तक प्रभाव का प्रश्न है, उसमें अनुपातगत वैभिन्य हो सकता है, लेकिन उत्पत्ति की दृष्टि से इस प्रसंग में कोई बड़ी अर्थ-सिद्धि नहीं होती। इसके

---

१. वर्णरत्नाकर, पृष्ठ १३।

२. एशियाटिक रिसर्चेज, भाग ७, पृष्ठ १८९, १८०१ ई०।

अतिरिक्त सांस्कृतिक सामान्यता और व्यावहारिक सुविधा के कारण बिहार की भाषाओं में जो मेल हुआ है उसमें कोई स्पष्ट सीमा-रेखा खींच देना कठिन है। साहित्यिक स्तर पर एक समय शौरसेनी का प्रभाव बंगाल तक प्रसरित था; इसका अर्थ यह नहीं कि बँगला की उत्पत्ति शौरसेनी से हुई। इसी तरह भोजपुरी शौरसेनी प्राकृत या अपभ्रंश की आधुनिक आर्यभाषाओं से प्रभावित होते हुए भी जन्म से मागधी अपभ्रंश से सम्बद्ध है। भाषाएँ आपस में कई कारणों से एक दूसरे का प्रभाव ग्रहण करती रहती हैं। भोजपुरी की भी यह गतिविधि हो सकती है और ऐसा ही बिहार की अन्य भाषाओं के विषय में भी कहा जा सकता है। लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं हो सकता कि ये उत्पत्ति या प्रकृति की दृष्टि से विभिन्न हैं।

मैथिली भाषा मिथिला प्रदेश के हिन्दू और मुसलमान, सभी के द्वारा बोली जाती है। मध्यकाल की मैथिली भाषा साहित्यिक दृष्टि से अपनी अन्य प्रादेशिक बिहारी भाषाओं से असंदिग्ध रूप से समृद्ध है। मिथिला के अधिवासी ब्राह्मणों और कायस्थों ने इस साहित्य की श्रीवृद्धि में हाथ बँटाया। नरपतियों ने राज्याश्रय देने के अतिरिक्त प्रचुर साहित्य-रचना भी की। मुसलमानों के मर्सिया गीत भी मैथिली में मिलते हैं। मैथिली साहित्य के सम्भारों से इसके सांस्कृतिक पक्ष पर प्रकाश पड़ता है। यहाँ के लोग संगीत और कला के प्रेमी प्रतीत होते हैं। संगीत के शास्त्रीय विवेचन को यहाँ के कलाकारों द्वारा परिपक्वता प्राप्त हुई। सांस्कृतिक दृष्टि से बहुत पुराने समय से मिथिला शिव और शक्ति का उपासक रहा है। मिथिला प्रदेश में तीर्थस्थानों और देवी-देवताओं की भी भरमार है। वहाँ की जनरुचि में अद्‌भुत धर्मनिष्ठता, संस्कृतपरायणता और भावमयता मिलती है। मध्यकाल में और क्रमशः आधुनिक काल में कुछ रूढ़िग्रस्तता और सामाजिक कमजोरियाँ भी देखने में आती हैं। यह केवल मिथिला की अपनी कमी नहीं है, यह तो देश, काल और पात्र के भेद के आधार पर सर्वत्र व्याप्त हो रहा है।

अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से १८५० ई० (सं० १९०७ वि०) तक का मैथिली साहित्य दो कालों में विभक्त किया जा सकता है—

(१) प्रारम्भिक काल ९०० ई० से १३०० ई० (सं० ९५७ से १३५७ वि०),

(२) मध्यकाल १३०० ई० से १८५० ई० (सं० १३५७ से १९०७ वि०)।

इस अवधि में मैथिली साहित्य में गीतिकाव्य, प्रबन्धकाव्य, नाटक और अन्य प्रकार के गद्य की रचना हुई।

अन्य आधुनिक आर्य भाषाओं की भाँति मैथिली का प्रादुर्भाव भी ९०० ई० के लगभग हुआ होगा, किन्तु प्रारंभिक काल की कोई भी सम्पूर्ण, स्वतंत्र रचना आज उपलब्ध नहीं है। मैथिली का प्रारम्भिक रूप **कान्ह, भूसुक** इत्यादि वज्रयान सम्प्रदाय के बौद्ध सिद्धाचार्यों की रचनाओं में यत्र तत्र देखने को मिलता है। सिद्धों का संबंध मगध से था, लेकिन चर्यापदों की भाषा में अधिक विविधता है और उसमें बँगला, उड़िया, मैथिली, भोजपुरी, मगही और असमिया शब्दों का प्रयोग हुआ है। इस विविधता का कारण यह है कि मेलों और तीर्थों के कारण शब्दों का आदान-प्रदान स्वाभाविक रूप से होता रहा होगा। 'बौद्धगान' और 'दोहाकोश' का सम्बन्ध बँगला, उड़िया और असमिया के प्रारम्भिक रूप से जोड़ा जाता है और अब उसमें हिन्दी के प्रारम्भिक रूप की भी स्थिति का अनुमान किया जाता है। इनमें उपलब्ध सामग्री के आधार पर प्रारम्भिक

मैथिली के स्वरूप का भी अनुमान होता है। इसके अतिरिक्त वाचस्पति मिश्र की 'भामती टीका' और सर्वदानन्द की 'अमरकोश टीका' में संस्कृत के पर्यायवाची मैथिली शब्द मिलते हैं। मैथिली गद्य का प्राचीनतर रूप हमें **ज्योतिरीश्वर** कृत 'वर्णरत्नाकर' में उपलब्ध होता है, जिनका समय सन १३२४ ई० (सं० १३८१ वि०) के लगभग है। ज्योतिरीश्वर की शैली संस्कृतगर्भित और प्रौढ़ है। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इसके पूर्व भी मैथिली में अनेक ग्रंथ लिखे गए होंगे जो आज अप्राप्य हैं। उपलब्ध सामग्री के अभाव में ज्योतिरीश्वर ठाकुर का 'वर्णरत्नाकर' मैथिली साहित्य की सर्वप्रथम रचना है। इस गद्य पुस्तक में काव्य-रचना और संगीत के उपादानों का महत्वपूर्ण संकलन हुआ है। जहाँ तक इसकी प्रौढ़ रचना-शैली का प्रश्न है डा० अमरनाथ झा ने लिखा है, "तेरहवीं शताब्दी में ज्योतिरीश्वर ठाकुर ने मैथिली में 'वर्णरत्नाकर' नामक सुन्दर ग्रंथ की रचना की। इसकी लेखन शैली 'कादम्बरी' से समता रखती है।"[1] 'वर्णरत्नाकर' में 'कादम्बरी' के टक्कर की आलंकारिता और वर्णन-पद्धति का दर्शन होता है। उगते हुए चन्द्रमा की शोभा का आलंकारिक वर्णन कवि ने किया है जिससे उसकी वर्णनपटुता और अलंकारप्रियता का अनुमान होता है—"निशा क नाइका क शंखवलय अइसन, आकाश दीक्षित क कमंडल अइसन, चन्द्रकान्त क प्रभा अइसन, तारका क सार्थवाह अइसन, पश्चिमाचल क तिलक अइसन, अंधार क मुक्तिक्षेत्र अइसन, कन्दर्प नरेन्द्र क जश अइसन, लोकलोचन रसायन अइसन, एवम्विध चन्द्र उदित भउअह।" इसके अतिरिक्त 'वर्णरत्नाकर' के वर्णनों से तत्कालीन सामाजिक जीवन का बहुत ही स्पष्ट ऐतिहासिक चित्र भी हमें उपलब्ध होता है। इसमें कान्ह, भूसुक इत्यादि सिद्धाचार्यों का भी उल्लेख मिलता है। इस प्रकार ज्योतिरीश्वर से मैथिली साहित्य का प्रारम्भकाल मान लेने पर भी मैथिली का साहित्य लगभग छः सौ वर्ष पुराना सिद्ध होता है।

मध्ययुग के मैथिली के सर्वाधिक प्रसिद्ध कवि **विद्यापति ठाकुर** हैं। उनके जन्म-संवत के संबंध में बहुत विवाद है। किन्तु उपलब्ध सामग्री के आधार पर अनुमानतः उनका जन्म १३६० ई० (सं० १४१७ वि०) में हुआ होगा। उन्होंने महाराज कीर्तिसिंह के नाम पर 'कीर्तिलता' की रचना की थी। 'कीर्तिलता' की रचना सन १४०४ से १४०५ ई० (सं० १४६१ से १४६२ वि०) के बीच हुई थी। किन्तु विद्यापति का सबसे घनिष्ठ सम्बन्ध महाराज कीर्तिसिंह के पौत्र महाराज शिवसिंह तथा उनकी प्रसिद्ध महारानी लखिमादेवी से था। विद्यापति ने शिवसिंह की प्रशंसा में 'कीर्तिपताका' की रचना की थी, जिसकी भाषा अवहट्ट है। इसी समय उन्होंने अपने 'पुरुष परीक्षा' नामक संस्कृत ग्रंथ को भी पूरा किया था जो वास्तव में छोटी कहानियों का संग्रह है। उनके संस्कृत ग्रंथों में 'शैवसर्वस्वसार', 'गंगावाक्यावली' तथा 'दुर्गाभक्तितरंगिणी', क्रमशः शिव, गंगा, एवं दुर्गा में उनकी प्रगाढ़ आस्था के परिचायक हैं। अनेक तीर्थों के परिचयस्वरूप उन्होंने 'भूपरिक्रमा' नामक ग्रन्थ की भी रचना की थी, 'दानवाक्यावली' में विविध प्रकार के दानों का वर्णन है। इसी प्रकार 'गयापत्तलक' में गयाश्राद्ध के समय की जाने वाली श्राद्ध विधि, तथा 'वर्षकृत्य' में गृहस्थ द्वारा वर्ष भर में किए जाने वाले अनुष्ठानों एवं कृत्यों का विवेचन है। उन्होंने

---

१. दे० मैथिली लोकगीत की भूमिका, पृष्ठ ८।

लेखन-कला के सम्बन्ध में 'लिखनावली' तथा एक और ग्रन्थ 'चित्रांगसार' की रचना की थी। अवहट्ठ में उनका प्रथम काव्य 'कीर्तिलता' आठ सौ पंक्तियों का है। यह चार पल्लवों में विभक्त है। अवहट्ठ के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए विद्यापति कहते हैं—

सक्कय वाणी बहुअ न मावइ, पाउंअ रस को मम्म न पावइ।
देसिल बअना सब जन मिट्ठा, ते तैसेन जम्पओ अवहट्ठा।।

विद्यापति की मृत्यु सम्भवतः १४४८ ई० (सं०१५०५ वि०) में हुई थी।

विद्यापति की प्रशंसा एवं प्रतिष्ठा के आधार उनके मैथिली के पद हैं। इन पदों में ही हमें उनकी प्रतिभा का प्रकाश मिलता है। विद्यापति के ये पद मुख्यरूप से प्रेम सम्बन्धी हैं; यद्यपि उन्होंने भक्ति संम्बन्धी भी कतिपय पद रचे हैं। उनके प्रेम सम्बन्धी पद तिरहुती, बहगमनी, मान आदि रूपों में मिलते हैं। भक्ति विषयक पदों का सम्बन्ध शक्ति, शिव तथा गंगा से है। विद्यापति के ये पद इतने संवेदनात्मक और भावपूर्ण हैं कि इन्होंने लोक हृदय में सहज ही अपना स्थान बना लिया है। विद्यापति के प्रेम सम्बन्धी पदों में कृष्ण और राधा की प्रेमलीला वर्णन का माध्यम बनाई गई है। कृष्ण-कथा के संक्षिप्त संदर्भ में कवि ने अपनी भावुकता से मानवीय हृदय की संवेदनात्मक सचाई को काव्य रूप दिया है। इन पदों में मानवीयता का इतना प्रच्छन्न और प्रोज्ज्वल रूप प्रगट हुआ है कि लगता है कि कवि ने मानवीय प्रेमलीला को ही अपने काव्य का अभिप्रेत विषय बना लिया है। कवि ने अपने कुछ पदों की मधुरिमा और भावान्वित गेयता के द्वारा राधा-कृष्ण के प्रेम को अधिक सशक्त बनाया है। डा० ग्रियर्सन ने उन्हीं को दृष्टि में रखकर कहा है—

"हिन्दूधर्म का सूर्यास्त भले ही हो जाय, वह काल भी आ जाय जब कृष्ण में श्रद्धा और विश्वास की कमी हो जाय, कृष्ण प्रेम विषयक स्तुतियों के प्रति जो सांसारिक रोगों की औषधि है भरोसा खो जाय, फिर भी विद्यापति के राधा और कृष्ण विषयक प्रेम गीतों का विनाश नहीं हो सकता।"

विद्यापति के काव्य में वर्ण्य विषय को लेकर आलोचकों में बहुत विवाद है। कुछ लोग उन्हें नितान्त शृंगारी और काम प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित करनेवाले कवि मानते हैं तथा कुछ उन्हें भक्त कवि। उनकी काव्य विषयक मनस्थिति और परिस्थिति को देखने से प्रतीत होता है कि वे प्रमुख रूप से अपनी रचना के आधार पर गुण और मात्रा, दोनों के अनुसार शृंगारी कवि हैं, यद्यपि सामयिक अवस्था-भेद और परिस्थिति से प्रेरित उनके भक्तिपूर्ण उद्‌गार भी प्रस्फुटित हुए हैं। जहाँ तक उनकी काव्य विषयक प्रेरक-शक्तियों का प्रश्न है दरबारी प्रभाव के कारण शृंगारिक मनोवृत्ति का होना स्वाभाविक है। अनुमानतः अपभ्रंश की शृंगारिक परम्परा से अनुप्राणित होकर भी कवि ने राधा-कृष्ण प्रेमलीला को मानवीय प्रणय का रूप दिया होगा। इस क्षेत्र में जयदेव के 'गीतगोविन्द' का शैली तथा वर्ण्य विषय दोनों दृष्टियों से उनपर भरपूर प्रभाव है। यह बात दूसरी है कि अपनी प्रतिभा से उन्होंने काव्य में अधिक दीप्ति उत्पन्न कर दी है और 'अभिनय जयदेव' की उपाधि प्राप्त कर ली। इस क्षेत्र में संस्कृत साहित्य के रूढ़ काव्य-उपादानों को भी नई अभिव्यंजना के सहित प्रकट करना उनकी प्रतिभा का परिचायक है। शृंगार और भक्ति का वैज्ञानिक अध्ययन करने पर लगता है कि शृंगार से पूरित एक कवि का अनुभवसिद्ध

मन ऊँची अवस्था में भक्ति की ओर अवश्य आकृष्ट हुआ होगा। विद्यापति के अनेक पद धार्मिक विश्वासों से ओतप्रोत हैं। जहाँ तक विद्यापति के संप्रदाय का प्रश्न है, लोग क्रमश: उन्हें वैष्णव भक्त, सहजिया-सांप्रदायिक, पंचदेवोपासक, स्मार्त, शाक्त और शैव सिद्ध करते हैं। लेकिन सत्य यह है कि उक्त देवों के सम्बन्ध में विद्यापति के उद्‌गार किसी सम्प्रदाय में बँधकर नहीं लिखे गए। इन धार्मिक प्रसंगों से सम्बद्ध पदों में कवि का अन्तर्मन भक्ति और शांति की ओर आकृष्ट है।

विद्यापति के राधा-कृष्ण विषयक पद लौकिक शृंगार से ओतप्रोत हैं। इस प्रसंग में 'परम पद', 'परमानन्द' का जहाँ तक प्रयोग हुआ है, वह कई आलोचकों द्वारा आलंकारिक रूप में गृहीत है, आध्यात्मिक रूप में नहीं; और वस्तुत: ऐसे ही पदों के आधार पर विद्यापति को रहस्यवादी सिद्ध करना समुचित न होगा। कुछ आलोचकों ने राधा और कृष्ण को प्रतीक रूप में ग्रहण कर विद्यापति के पदों की रहस्यात्मक व्याख्या की है। इस क्षेत्र में कहना यह है कि विद्यापति ने कृष्ण-कथा का अति संक्षिप्त संदर्भ अपनाया है और उसमें इन प्रतीकों के परम्परागत निर्वाह का कोई संकेत नहीं दिया है। इन पदों में अधिकांश रूप से राधा और कृष्ण का प्रणय लौकिक भित्ति पर ही चित्रित है। राधा और कृष्ण का स्पष्ट नामोल्लेख भी बहुत कम पदों में मिलता है। इसके अतिरिक्त नायक-नायिका के हाव-भावों, प्रणयचित्रों, मान, अभिसार, वय:सन्धि, मिलन इत्यादि के चित्रण में कवि का मानवीय पक्ष ही स्पष्ट रूप से प्राधान्य पा सका है। नायक की अपेक्षा कवि का ध्यान नायिका की ओर अधिक है और नायिका के नखशिख के वर्णन में कवि ने कहीं कहीं विलास की सीमा पार कर दी है, जिसमें उसके घोर शृंगारी रूप का दर्शन होता है। विद्यापति के पदों में वर्णित प्रेम के इस मानवीय रूप को स्पष्ट करते हुए विनयकुमार सरकार का अभिमत है कि लौकिक भावना का मानव सम्बन्धों के मध्यस्थ इतना भव्य सम्मिश्रण और इस के तुल्य उच्च कोटि का चित्रण भारतवर्ष के साहित्य में विद्यापति के अतिरिक्त और किसी अन्य ने हमारे समक्ष नहीं रक्खा।[1] इस प्रकार यह कवि के प्रेम विषयक मानवीय स्तर का पोषक पक्ष है। यह भी सत्य है कि कवि के राधा-कृष्ण विषयक ही कुछ पद भक्ति के निकट हैं और उच्चकोटि के हैं, जिन्हें कई उत्कृष्ट वैष्णव भक्तों और जनसाधारण द्वारा मान्यता प्राप्त हुई है। परंतु इनके स्वरूप का अन्तिम निर्णय विवादग्रस्त है।

राधा-कृष्ण के प्रेम-प्रसंगों का चारु चित्र विद्यापति ने गेय शैली में उतारा है। इसके लिए प्रेम के विविध पक्षों और मनस्थितियों को उन्होंने अपनाया तथा समाज की समवेदना को अपने हृदय में प्रतिष्ठित कर एवं उसे परिष्कृत कर कवि ने अपनी भावना की गहरी अभिव्यक्ति की है। गीतिकाव्य की समस्त तात्विक मान्यताओं की प्राप्ति कवि की भावनागत अभिव्यक्ति में हो जाती है। आत्मनिष्ठता, ध्वन्यात्मकता, भावैक्य, संक्षिप्तता और प्रेम का शाश्वत मनोभाव जो गीति का प्राण है, विद्यापति के गीतों में प्राधान्य पा सका है। कवि का हृदय इन प्रेम के शाश्वत प्रसंगों को समष्टि से बाहर निकालकर अपने व्यष्टि में बैठाता है और उसकी गहरी अनुभूति से प्रेरित हो उसकी सहज और लोकव्यापी अभिव्यक्ति करता है। चिंतन और दार्शनिक प्रतिपादन से रहित विद्यापति का काव्य अवश्यमेव 'मनोवेगों का शब्दों द्वारा संगीतात्मक प्रदर्शन' है।

---

१. लव इन हिंदू लिटरेचर, पृष्ठ २०–२१।

मानव-प्रेम के संयोग और वियोग के उभयपक्ष हृदयहारी हैं और इनके माध्यम से कवि अपनी अभिव्यक्ति में संवेदना की सृष्टि करता है। इस संवेदना में जितनी सहजता, सरलता, सम्पूर्णता और उल्लासमयता होती है, उतना ही अधिक उसके साथ लोकमानस का लगाव रहता है। वस्तुतः इन्हीं गुणों के कारण आज भी विद्यापति के पद मिथिला, बंगाल और भोजपुर के लोकमानस से अहरह अभिव्यक्ति पाते हैं। कृष्ण और राधा की प्रणय-लीला आज भी उनके मन को झकझोरती है और उसकी संवेदना में वे वैयक्तिकता की अनुभूति प्राप्त करते हैं—

"नन्द के नन्दन कदम्ब के तरु तरे
धीरे धीरे मुरली बजाव।
समय सँकेत निकेतन बसइल
बेरि बेरि बोल पठाव
सामरि तोरा लागे अनुखने विकल मुरारि ॥"

कवि विद्यापति का सौंदर्यबोध इतना प्रगाढ़ था कि उसकी रागात्मक अभिव्यक्ति में गेयता स्वतः समाविष्ट हो गई है। मनोभाव जब हृदय के मर्म को स्पर्श करते हैं तो कवि का भावबोध नई दीप्ति से साकार हो उठता है। विद्यापति की सारी पदावली प्रेम के नैसर्गिक चित्रों से भरी हुई है। राधा के माध्यम से कवि ने अति शोभनीय और भारतीय परम्परा के अनुकूल प्रेम की रूपरेखा हमारे समक्ष रक्खी है, उदाहरणार्थ—

सखि कि पूछसि अनुभव मोय
से है पिरीत अनुराग बखानिए
तिले तिले नूतन होय ॥

इस प्रकार कवि ने एक से एक सुन्दर पदों की सृष्टि की है। पुनरावृत्ति का लेश भी उनकी पदावली में प्रतीत नहीं होता और भावैक्य की घनीभूत अवस्था में कवि ने विविध प्रकार के गीत गाए हैं।

विद्यापति के विरह-पदों की सुषमा निराली है। प्रेम के क्षेत्र में विरह का वर्णन हृदय-द्रावक है। कवि ने संयोग और प्रणयलीला के सुन्दर चित्र तो चित्रित किए ही हैं, पर विरह की विषम और हृदयद्रावक परिस्थिति की भी मर्मस्पर्शी अभिव्यंजना उसके पदों में हुई है। विरह-वर्णन के उपादान परम्परागत और कवि-प्रसिद्धियों से संवलित हैं, फिर भी लोकगीति-परम्परा का कवि का विरह-वर्णन बड़ा ही प्रभावशाली है। कवि-परम्परा में रूढ़ काव्य-उपादानों के साथ भी कवि ने लोक शैली से प्रेरणा ग्रहण कर विरह की कसकती अनुभूति से साक्षात्कार किया है —

चानन भेल विषम सर रे,
भूषन भेल भारी।
सपनहु हरि नहि आयल रे,
गोकुल गिरधारी।

एकसरि ठाढ़ि कदम तर रे,
पथ हेरति मुरारी।
हरि बिनु हृदय दगध भेल रे,
झामर भेल सारी।।

इसी प्रकार 'सखि रे हमर दुख क नहिं ओर' में सामान्य लोकगीत शैली में विरहणी की विकलता चित्रित है। दुःख के क्षणों में मनुष्य अपनी पीड़ा से विवश अपनी भावना का प्रक्षेप प्रकृति के उपादानों में करता है जो उसका जीवन सहचर है। इसी को दृष्टिगत कर सभी कवियों में विरह की संवेदनात्मक अभिव्यक्ति प्रकृति के माध्यम से पाई जाती है। ऐसी अवस्था में 'मत्त दादुर डाक डाहुक फाटि जायत छतिया' जैसे कई पदों में प्रकृति मानवीय मनोभावों से सम्बन्ध स्थापित करती हुई चित्रित की गई है। प्रकृति का यह मानवीय सम्बन्ध विरह को उद्दीप्त करता है। वर्णन में उसकी अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों को अवस्थानुसार अपनाया जाता है।

कवि विद्यापति की गेय पदावली का एक दूसरा रूप है जो भक्ति की ओर अभिमुख है। सामन्ती समाज से अनुप्राणित कवि का जीवन प्रेम की कसक का अनुभव करते हुए बुढ़ापे के समय भक्ति की ओर अवश्य आकृष्ट हुआ होगा। जीवन के पर्यवसान काल में उसमें अपने यौवन की आकांक्षाओं और विलासों के प्रति अवश्य स्वाभाविक उपेक्षा-भावना जागी होगी। 'निधुवने रमनी रस रँग मातल तोहि भजब कोन बेला' जैसे पदों में कवि की इसी मनस्थिति की अभिव्यक्ति हुई है। ऐसे पदों में हम देखते हैं कि कवि का हृदय सचमुच भक्ति और शान्ति की ओर अभिमुख हुआ है और परिताप से आक्रान्त हो उसमें आत्मसमर्पण की भावना फूट पड़ी है। इसी प्रकार के एक पद की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

माधव हम परिनाम निरासा।
तुहु जगतारन दीन दयामय
अतए तोर विशोयासा।।

विद्यापति मैथिली के सर्वाधिक लोकप्रिय कवि हैं। प्रारंभ में उन्हें आलोचकों ने बँगला का कवि घोषित किया था। इसका मुख्य कारण था विद्यापति की पदावली में बँगला शब्दों का पाया जाना। अनुसंधान के साथ साथ जितने पद विद्यापति के मिले उनसे मिथिला प्रदेश की भाषा ही उनकी अपनी भाषा सिद्ध हुई। 'देसिल बयना' तो उनके अन्तःसाक्ष्य पर ही उनके काव्य की भाषा है। यह बात भी है कि उनके द्वारा रचित कहे जाने वाले पदों में कहीं कहीं बँगला और उड़िया के मुहावरे और लोकोक्तियाँ पाई जाती हैं। सम्भव है, यह स्थिति भी उनके पदों की लोकप्रियता के कारण हुई हो। संस्कृत के तद्भव और तत्सम शब्दों का प्रयोग विद्यापति की पदावली में मिलता है। इस विषय में सतीशचन्द्र राय का अनुभवसिद्ध अभिमत है कि "विद्यापति की पदावली की भाषा उनके द्वारा बनाई नहीं गई थी, वह मिथिला की तत्कालीन प्रचलित भाषा है, उसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों से अधिक तद्भव मैथिली शब्द और मिथिला के रीति-सिद्ध प्रयोग बहुत देखे जाते हैं।"[१]

---

१. देखिए विद्यापति, पृष्ठ ८७, खगेन्द्रनाथ मित्र, विमानबिहारी मजूमदार।

विद्यापति ने मैथिली साहित्य में अपनी काव्य-प्रतिभा से एक गीति-परम्परा का निर्माण किया। हिन्दी के प्रसिद्ध गायक कवि सूरदास पर विद्यापति की काव्यधारा का प्रभाव बताया जाता है। बंगाल के प्रसिद्ध कवि माइकेल मधुसूदनदत्त और रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी विद्यापति के काव्य से प्रेरणा ग्रहण की है। जहाँ तक लोक-चेतना में कवि की व्याप्ति का प्रश्न है, भोजपुरी-मगही क्षेत्र में जनसाधारण में भी उनके पद गाए जाते हैं। मिथिला के तो वे प्राण ही हैं। बंगाल और उड़ीसा के जन-मानस में भी उनका कम महत्वपूर्ण स्थान नहीं है।

मैथिली साहित्य के मध्ययुग के पूर्वार्द्ध में विद्यापति के समकालीन अनेक कवियों ने उनकी गीति-परम्परा में रचना की। यों तो इस काल में श्रेष्ठ नाटक रचनाएँ भी हुई हैं, किन्तु उनका उल्लेख बाद में किया जायगा। डा० जयकांत मिश्र ने इस मध्ययुग के पूर्वार्द्ध को अध्ययन की सुविधा के लिए दो कालों में विभक्त किया है। उन्होंने विद्यापति के समकालीन कवियों की अवधि १४०० ई० से १५२७ ई० (सं० १४५७ से १५८४ वि०) तक मानी है और इसके उपरान्त १५२७ से १७०० ई० (सं० १५८४ से १७५७ वि०) तक के काल को विद्यापति के उत्तराधिकारी कवियों का समय माना है। विद्यापति की पुत्रवधू **चंद्रकला** महाराज महेश ठाकुर की समकालीन थीं। उनकी भी कुछ स्फुट रचनाएँ मिलती हैं। लोचन कवि ने उन्हें सादर 'इति विद्यापति पुत्र-वध्वाः' कह कर उल्लिखित किया है। मैथिली की इस कवयित्री ने अपनी कविता में संस्कृत-प्रियता का परिचय दिया है। विद्यापति के समकालीन दूसरे प्रसिद्ध कवि **अमृतकर** हैं। ये कायस्थ परिवार के थे। इनके पदों के अंतःसाक्ष्य से सूचित होता है कि वे विद्यापति के समकालीन थे। स्वतः कवि विद्यापति ने इनके गुणों की चर्चा अपने एक पद में की है। इस कवि की रचनाओं से दरबारी मनोवृत्ति की अधिक तुष्टि हुई। इनके प्रेम विषयक गीत सुन्दर हैं और सम्भवतः इनकी रचना विद्यापति की पदावली के अनुकरण में हुई है। विद्यापति की पुत्र-वधू चंद्रकला के अतिरिक्त सम्भवतः उनके पुत्र **हरपति** की भी रचनाएँ उपलब्ध होती हैं। इनके द्वारा रचित 'शास्त्रव्यवहार प्रदीपिका' नामक ज्योतिष ग्रंथ की भी चर्चा मिलती है। इसी समय के एक प्रसिद्ध कवि **चतुर चतुर्भुज** हैं, जिन्होंने नैषध की अनुकृति पर 'हरिचरित' काव्य लिखा है। विद्यापति के समकालीन **भानुकवि, गजसिंह, भिखारी मिश्र, मधुसूदन, जीवनाथ** आदि बीसों कवियों की स्फुट रचनाएँ उपलब्ध होती हैं। इन सभी कवियों ने ओइनी वंश के अधिपतियों के राजाश्रय से लाभ उठाया और अपने विद्या-विनोद से काव्य साहित्य को सम्पन्न किया। इस काल में राजा शिवसिंह के उपरान्त मैथिल गीति-साहित्य को सर्वाधिक प्रश्रय कवि और काव्य प्रेमी राजा कंसनारायणसिंह से मिला। इनके नाम से प्रचलित एक पदसंग्रह भी मिला है।[1] इनका नाम मैथिली गीति-साहित्य के लिए बहुत महत्वपूर्ण समझा जाता है। इनके राजाश्रय में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में मैथिल कवि **गोविन्ददास, काशीनाथ, रामनाथ, श्रीधर** आदि को प्रश्रय मिला, जिनमें सर्वाधिक लोकप्रिय गोविन्ददास थे।

विद्यापति ने मैथिली गीतिकाव्य की जो परम्परा चलाई उसमें अनेक श्रेष्ठ कवियों ने योगदान किया। **लोचन** कवि ने अपने काव्य 'राजतरंगिणी' में मिथिला के ३८ गीतिकार

---

१. **मैथिली साहित्य का इतिहास (अंग्रेजी संस्करण) भाग १, डॉ० जयकांत मिश्र, पृष्ठ २२०।**

कवियों की सुन्दर और श्रेष्ठ रचनाओं का संकलन किया है। प्रारम्भ में विद्यापति के समान इन्हें भी बँगला का कवि समझा जाता था। लेकिन बाद में डा० समुद्र झा के अध्यवसाय से उनकी मैथिली रचनाओं पर प्रकाश पड़ा और वे मिथिला के प्रसिद्ध कवि सिद्ध हुए। लोचन ने स्वतः अपने को विद्यापति की परम्परा में स्वीकार किया है और इन्होंने भी राधा-कृष्ण की प्रेमकेलि के वर्णन से अपने काव्य को मण्डित किया है। शक्ति के उपासक कवि लोचन ने अपनी इष्टदेवी की उपासना में भक्ति विह्वल गीत गाए हैं। प्रेम के विविध हाव-भाव, विलास तथा अभिसार का सुन्दर चित्रण इस कवि ने भी किया है। अभिसारिका का सुन्दर चित्रण इनकी शब्द-योजना और काव्यपटुता का परिचायक है—

आनन्दकन्दा पुनिमेक चन्दा, सुमुखि बदन तहं मन्दा।
अधरे मधुरी सामरि सुन्दरी, विहुसि चितए सित कुसुम सिरी।
पथ मेलती घनी दामिनी, सन ब्रजराज जनी।
चिकुर चामरा मुदिर सामरा, नलिन नयन सुखकारा।
काम रमनी जहिनीव तहिनी, दसन चमक जन हीरक।

इस काल के दूसरे प्रसिद्ध गीतिकार **गोविन्ददास** हैं जो विद्यापति के बाद के सर्वोत्तम कवियों में से एक हैं। इनकी पदावली का सम्पादन डा० अमरनाथ झा ने किया है। कुछ आलोचक इनके काव्य-सौंदर्य पर इतने आकृष्ट हैं कि वे इनकी तुलना विद्यापति के साथ गौरव से करते हैं। इनकी पदावली बड़ी मधुर और अर्थ-गौरव से परिपूर्ण है। प्रारम्भ में गोविन्ददास को भी बँगला का कवि समझा जाता था, लेकिन इस भ्रांत धारणा का निराकरण भी नगेन्द्रनाथ गुप्त ने किया और उन्हें मैथिली का कवि प्रमाणित किया। गोविन्ददास विद्यापति की गीति-परम्परा की एक महत्वपूर्ण कड़ी हैं। उन्होंने राधा-कृष्ण की प्रेमलीला को अपनी सरस पदावली में वर्णित किया है और उसकी समलंकृति के लिए काव्य के परम्परागत उपादानों को अपनाया है। राधा के अभिसार वर्णन में कवि ने ललित शब्दों के माध्यम से एक अद्भुत चित्रमयता की सृष्टि की है, जिसके लिए उनका काव्य ख्यात है—

कंटक गाड़ि कुसुम सम पदतल मंजिल चोरहिं झांपि।
गागरि बारि बारि कर पिच्छल चलतँह अंगुलि चाँपि॥
माधव तुम अभिसारक लागि॥

गोविन्ददास रससिद्ध कवि थे। वे विद्यापति की रसमयता से अनुप्राणित हो अपनी काव्य-रचना को अधिक सरसता और अर्थमयता प्रदान कर सके हैं। विद्यापति के उत्तराधिकारी अन्य कई छोटे कवियों का नाम मैथिली साहित्य में मिलता है, जिनमें महाराज **महेशठाकुर** का नाम अविस्मरणीय है। नरपति मिथिला के एक नवीन राजवंश के संस्थापक थे। वे दर्शन के प्रगाढ़ अध्येता और सुकवि भी थे। जीवन के अवसान-काल की इनकी रचनाएँ भक्तिपूर्ण उद्गारों से परिपूर्ण हैं। इसके अतिरिक्त मध्ययुग में इसी समय में नैपाल के राजवंश से सम्बद्ध कवियों की भी एक तालिका मिलती है जिन्होंने मैथिली साहित्य को अपनी रचनाओं से समृद्ध किया।

मैथिली साहित्य के मध्यकाल के उत्तरार्द्ध में भी गीतिकार कवियों की पुरानी परम्परा विकसित होती हुई दिखाई देती है। लोचन और गोविन्ददास की गीति-परम्परा इस काल में अग्रसर हुई। इस काल में सन १७४४–१८३८ ई० (सं० १८०१-१८९५ वि०) के मध्य के मिथिला-नृपतियों में क्रमशः महाराज नरेन्द्रसिंह, माधवसिंह, छत्रसिंह, रुद्रसिंह के शासन-काल में मैथिली गीति-परम्परा को प्रोत्साहन मिला और कई गीतिकारों ने अपनी रचनाओं से साहित्य को समृद्ध किया। आस-पास के मुसलमान नवाबों की हुकूमत से इस साहित्य की गतिशीलता में कुछ अवरोध भी आया था। इस काल में मैथिली साहित्य के लोक-साहित्य की विधाओं ने भी शिष्ट साहित्य को महत्वपूर्ण प्रेरणा दी। तत्कालीन **कविशेखर भंजन, रमापति उपाध्याय, माधव, श्रीपति, महिनाथ, चक्रपाणि, रत्नपाणि** आदि अन्य अनेक कवियों ने सोहर, वटगमनी, गोलारी और नचारी की लोक शैली में बहुत से सुन्दर गीतों की रचना की। इन गीतों की परम्परा विद्यापति की पदावली से आद्योपान्त प्रभावित रही। १८वीं शताब्दी के मध्य में इन गीतिकारों की एक शाखा भक्ति और दार्शनिकता की ओर अधिक झुक गई है। इस प्रकार की रचनाओं में **साहेव रामदास, लक्ष्मीनाथ गोसाईं, हरिकिंकरदास** की रचनाएँ भक्ति और दर्शन से अधिक अनुप्राणित हैं।

मध्यकाल में इस गीतिकाव्य के अतिरिक्त कुछ **प्रबन्ध काव्यों** की भी रचना हुई। मैथिली प्रबन्धकाव्य का सर्वप्रथम प्रणयन **मनबोध झा** से शुरू हुआ जिनका समय १८वीं शताब्दी के मध्य में पड़ता है। इनके समकालीन कई कवियों ने खण्डकाव्य जैसी लम्बी कविताओं का सर्जन किया है जिनके आलोचनात्मक और गवेषणात्मक विवेचन की अपेक्षा है। यह सम्भव है कि इन कवियों की रचनाओं और कुछ कवियों की संस्कृत से अनुवादित रचनाओं ने मनबोध को प्रबन्ध काव्य की रचना की प्रेरणा दी हो। इनके प्रबन्ध काव्य का नाम 'कृष्णजन्म' है, जिसे मैथिली का आदिकाव्य कहा जाता है। कृष्ण-चरित्र का सुन्दर और विस्तृत चित्रण इस काव्य में हुआ है। प्रबन्ध काव्य के अतिरिक्त मनबोध झा की तिरहुती और सोहर गीत बहुत लोकप्रिय हैं। मनबोध झा ने मैथिली प्रबन्ध काव्य की जो परम्परा चलाई उसका अधिक विकास उनके समय में न होकर आगे चलकर मैथिली साहित्य के आधुनिक काल में हुआ और चन्दा झा ने इस परम्परा को अधिक बलशाली बनाया। मनबोध झा के आसपास के कवियों ने स्फुट रचनाओं पर ही बल दिया। कुछ कवियों ने संस्कृत के काव्यों का मैथिली में अनुवाद किया। **रतिपति भगत** ने 'गीतगोविन्द' का मैथिली में अनुवाद किया। इसमें कवि का उद्देश्य अनुवाद के साथ मौलिकता प्रदर्शन भी है। इसीसे इस कवि ने कई स्थानों पर कुछ नई स्थापनाएँ भी की हैं। मनबोध झा ने भी अपनी काव्य-रचना में 'हरिवंश' और 'भागवत' का आधार ग्रहण किया है। लम्बी और प्रबन्धतुल्य रचनाओं में **चक्रपाणि** की 'रुक्मिणीहरण' और 'पारिजातहरण' तथा **शिवदत्त** की 'सीतारामविवाह' आदि रचनाएँ इस काल में उपलब्ध होती हैं। इनके अतिरिक्त अलंकार, छंद और प्रशस्ति विषयक लम्बे और प्रबन्धात्मक काव्यों की रचना भी इस काल में हुई।

मध्यकाल में मैथिली साहित्य की सर्वाधिक समृद्ध विधा **नाटक साहित्य** की है। मध्यकालीन मैथिली नाटक साहित्य प्रचुर प्रामाणिक सामग्री से समाविष्ट है। मध्यकाल में इन नाटकों का प्रणयन नैपाल, मिथिला और आसाम प्रदेश में हुआ। इस प्रकार इन प्रदेशों में रचित नाटकों की

एक लम्बी परम्परा और सरणि उपलब्ध होती है। इस काल में ही मिथिला का शासक वर्ग जब मुसलमानी आक्रमण से आक्रांत होने लगा, तो मिथिला राजवंश के एक राजन्य हरिसिंह देव नैपाल में जाकर बस गए थे। बाद में चलकर इस वंश के नृपतियों ने ही मिथिला के अपने पूर्व पुरुषों के वंश से रक्त-संबंध स्थापित किया। मैथिली के अनेक विद्वान समय समय पर अपना संबंध इस राजवंश से स्थापित करते रहे और उन्हीं के साहचर्य से यहाँ मैथिली के नाटकों का प्रणयन प्रारंभ हुआ। मुसलमानी राज्य में संघर्ष और उथल-पुथल के कारण अभिनय का अवसर कम मिला और उनकी हुकूमती और धार्मिक व्यवस्था ने भी रंगमंच और नाट्य साहित्य के लिए कोई प्रोत्साहन नहीं दिया। इस तरह मिथिला में एक लम्बी अवधि तक नाट्य-रचनाओं का अभाव पाया जाता है। संस्कृत नाटकों में देशी भाषा का प्रयोग विद्यापति के समय से ही होने लगा था। लेकिन इस परम्परा का भी मिथिला में बहुत काल तक कोई परिपोषण नहीं हुआ। नैपाल के नृपतियों ने अपने राजवंश में मैथिली नाट्य साहित्य को प्रोत्साहित करना प्रारम्भ किया। संस्कृत के प्रकाण्ड अध्येता दरबारी कवियों ने संस्कृत नाटकों का अनुवाद किया और उसी परंपरा में देशी नाटकों की रचना की। डा० जयकान्त मिश्र के अनुसार १७वीं शताब्दी के प्रारम्भ से लेकर १८वीं शताब्दी के अर्द्ध चतुर्थ भाग तक मैथिली नाटकों का नैपाल में ही सर्वाधिक अभ्युदय हुआ। इस अवधि में नाटक साहित्य में मैथिली की प्रतिष्ठा हुई और संस्कृत के प्रयोग को कम करने की ओर सदा ध्यान रखा गया। नाटकों की शिल्पगत रूपरेखा संस्कृत नाट्य-परंपरा का परिवहन करती हुई प्रतीत होती है। स्वतंत्र नाट्य-परम्परा की दृष्टि से अभी कोई सुस्थिर परंपरा निर्मित नहीं हो पाई थी। गद्य का प्रोज्ज्वल और निखरा हुआ रूप भी इन नाटकों में नहीं मिलता। नाटकीय संघर्षों और चरित्रों की वैज्ञानिक प्रतिष्ठापना में इन नाटकों में आधुनिकता का अभाव है और गीतों का बाहुल्य है। इन नाटकों के कथानक प्रायः पौराणिक आख्यानों अथवा प्राचीन, प्रसिद्ध ऐतिहासिक वृत्तों पर आधारित हैं। मध्यकाल में प्रचलित कथाओं को भी उपजीव्य विषय बनाया गया है।

मैथिली नाटकों से संबंधित प्रभूत सामग्री नैपाल दरबार की लाइब्रेरी में उपलब्ध हुई है। इन उपलब्ध नाटकों का एक सुन्दर प्रकाशन 'नैपाले बाँगला नाटक' शीर्षक से बंगीय साहित्य परिषद से हुआ है। नैपाल के राजघराने कालांतर में भटगांव से कई शाखाओं में फूट पड़े। लगभग अन्य सभी राजवंशों के अधिपतियों और शासकों ने नाटकों की रचना को प्रोत्साहित किया। फलतः भटगाँव, काठमाण्डू, ललितपुर और बनिकपुर केन्द्रों से अनेक सुंदर नाट्य-रचनाएँ प्रस्तुत की गईं, जिनमें 'विद्यापतिविलाप', 'हरगौरीविवाह', 'पारिजातहरन', 'नवलचरित', 'महातुलादान', 'अभिनव प्रबन्धचन्द्रोदय', 'हरिश्चन्द्रनृत्यम', 'ललित कुबलयाश्व', 'उषाहरन', 'कृष्णचरित' और 'पाण्डवविजय' उत्कृष्ट हैं। नाटकों की रचना की इस गतिविधि को देखते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि नैपाल के नृपतियों ने मैथिली नाटकों की रचना में जो योग दिया वह अमूल्य है।

मिथिला प्रदेश के अंतर्गत विद्यापति के आसपास से ही नाटक-रचना प्रारंभ हो गई थी। यहाँ के नाट्य साहित्य को प्रोत्साहन महाराज **शुभंकर ठाकुर** (१५३८–१६१९ ई० = सं० १५९५-१६७६ वि०) के पुर्व पुरुषों से मिलना प्रारंभ हो गया था। ये महाराज महेशठाकुर के पुत्र थे और अपनी विद्याभिरुचि से साहित्य-सेवा में भी सक्रिय थे। मिथिला के कीर्तनिया नाटकों का प्रादु-

भाव इसी खाण्डवाल कुल के अधिपतियों के प्रोत्साहन से हुआ। ये मूल मिथिला प्रदेश के नाट्य साहित्य के प्रेरणा स्रोत थे। मिथिला के कीर्तनिया नाटकों में एक ओर संस्कृत परंपरा का पोषण मिलता है और दूसरी ओर लोक के प्रति आकर्षण। देशज शैली के गीतों की प्राप्ति इन नाटकों में बहुलता से होती है। मैथिली नाटककारों में **उमापति उपाध्याय** का नाम सर्वप्रथम उल्लेखनीय है। इनकी प्रसिद्ध नाट्य कृति 'पारिजातहरन' उपलब्ध है। इनको महाकवि की संज्ञा भी दी गई है। इनकी नाट्य-कृतियों में गीति शैली का सुन्दर रूप मिलता है। उमापति के काल-निर्धारण में मत-वैभिन्य है परन्तु उनके रचना-सौष्ठव और गीति-सौंदर्य को देख कर यह अनुमान किया जाता है कि उनका काल विद्यापति के बाद ही रहा होगा। यों तो इस काल में बीसियों कवियों की रचनाएँ उपलब्ध होती हैं, लेकिन प्रमुख रूप से **रामदास झा** की नाट्य-रचना 'आनन्दविजय', **रमापति उपाध्याय** की 'रुक्मिणीपरिणय', **लाल झा** की 'गौरीपरिणय', **नन्दीपति** की 'कृष्णकेलिमाला', **देवानन्द** की 'उषाहरण' तथा **कर्णकायस्थ** की 'रुक्मांगद' सुन्दर नाटक रचनाएँ हैं। इन सभी नाटककारों ने कथानक के लिए प्रसिद्ध पौराणिक उपाख्यानों का आश्रय लिया है। गीत सभी ने विद्यापति से अनुप्राणित हो लोक शैली में ही लिखे हैं। इन नाटककारों के गद्य में संस्कृतनिष्ठता है। इस परंपरा में छोटी बड़ी कई नाट्य-कृतियाँ उपलब्ध हैं। मिथिला के साहित्य में इसका परिष्कार भी हुआ है और आगे चलकर इसमें हर्षनाथ झा जैसे सुप्रसिद्ध और सिद्धहस्त नाटक लेखक हुए हैं।

मैथिली नाटकों की एक रचना-परंपरा आसाम प्रदेश में भी मिलती है। आसाम प्रदेश में पाए जाने वाले मैथिली नाटकों को 'अंकियानट' कहा जाता है। आसाम के वैष्णव भक्तों ने जनसाधारण में अपनी विचारधारा के प्रसार के लिए इन नाट्य-रचनाओं को सर्वाधिक सशक्त बनाया है। आसाम के वैष्णव भक्तों ने १६वीं शताब्दी से ही नाटक-रचना प्रारम्भ कर दी थी। अपनी नाट्य-कृतियों में उन्होंने मैथिली को ही क्यों प्रश्रय दिया, इसके कई कारण बताए जाते हैं। तीर्थवासियों के मध्यस्थ अपनी विचारधारा के प्रचारार्थ उन्होंने विद्यापति की भाषा को अपनाना ही सुकर समझा, यह एक वर्ग के विद्वानों का मत है। इन वैष्णव भक्तों ने रामायण, महाभारत और श्रीमद्भागवत पुराण की कथाओं को अपनाकर, उनको अभिनय का रूप देकर जनता का रंजन किया। आसाम के मैथिली नाटककारों में **शंकरदेव** की नाट्य-रचना 'कालियदमन', 'रामविजय' एवं 'रुक्मिणीहरण', **माधवदेव** की 'अर्जुनभंजन', 'भोजनव्यवहार' और गोपालदेव की 'जन्मयात्रा' उत्कृष्ट और प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त भी कई अन्य छोटे बड़े नाटक यहाँ उपलब्ध हुए हैं।[१] आसाम में उपलब्ध इन सभी नाटकों का नाम 'अंकियानट' है। श्री बरुआ ने 'अंकिया' की उत्पत्ति 'अंगिका अभिनय' से मानी है। यहाँ के नाटककारों में नाटकीयता कम और काव्यत्व अधिक मिलता है। प्राचीन पौराणिक और ऐतिहासिक उपाख्यानों की पृष्ठभूमि में तत्कालीन रीति-रिवाजों और व्यवहारों का भी यत्किंचित उल्लेख किया गया है। ये सभी नाटक धार्मिक उद्देश्य लेकर लिखे गए हैं और इनमें प्रभावोत्पादन की शक्तिशाली क्षमता है।

मध्यकालीन मैथिली **गद्य साहित्य** का स्वरूप कई स्रोतों में विभक्त है। मैथिली में गद्य

---

१. मैथिली साहित्य का इतिहास, भाग १, डॉ० जयकान्त मिश्र, पृष्ठ ३६३-६५।

का एक स्वरूप नाट्य-कृतियों में देखने को मिलता है और उसका दूसरा रूप दरबारी कागजात तथा शासकीय लेखा जोखा और पत्रों में मिलता है। राजदरबारों से सम्बद्ध कागजात में मैथिली के व्यावहारिक गद्य का रूप मिलता है। इस ग्रद्य की व्यावहारिक शैली की प्राप्ति 'गौरीवचा वाटिका', 'बहीखाथा', 'अजात पत्र', 'एकरार पत्र', 'जनौधि', 'निस्तार पत्र' शीर्षक मिथिला के मध्ययुग के कागजात में मिलता है।[१] कुल मिला कर इन कागजात में मैथिल के व्यावहारिक गद्य की उपलब्धि होती है। इसमें साहित्यिक दृष्टि से परिमार्जित गद्य शैली का अभाव है। यह सम्भव है कि भविष्य में इस गद्य-परंपरा ने उसके प्रादुर्भाव और विकास में सहायता पहुंचाई हो। गद्य की ऐतिहासिक शृंखला स्थापित करने में इस गद्य का महत्वपूर्ण स्थान है, यद्यपि इसमें साहित्यिक गद्य के प्रोज्ज्वल रूप की प्राप्ति नहीं होती। इस गद्य का दूसरा स्वरूप मैथिली की नाटक-रचनाओं में मिलता है। मिथिला प्रदेश के कीर्तनिया नाटकों की अपेक्षा आसाम प्रदेश के आँकिया नाटक गद्य की दृष्टि से श्रेष्ठ हैं। मिथिला के नाटकों के गद्य में संस्कृत के गद्य के प्रति मोह है। नैपाल के नाटकों में थोड़ा बहुत प्रश्रय मैथिली गद्य को मिला है लेकिन आसाम के मैथिली नाटक अधिकांश गद्य में ही हैं। कहीं कहीं भावात्मक स्थलों पर वैष्णवों की अभिव्यक्ति ने सुष्ठु और आलंकारिक रूप ले लिया है। इस प्रकार 'वर्णरत्नाकर' से प्रारम्भ होने वाली गद्य-परंपरा की मध्यकाल तक कोई प्रौढ़ साहित्यिक रूपरेखा नहीं मिलती। सच बात तो यह है कि अन्य प्रादेशिक आर्यभाषाओं की भाँति मैथिली गद्य का उत्थान भी आधुनिक काल में ही हुआ जब हम विश्व-साहित्य के गद्य के साहचर्य में अंग्रेजी के माध्यम से आए। इसी कारण गद्य-साहित्य की अन्य विधाओं का मध्यकालीन मैथिली साहित्य में अभाव है।

मैथिली साहित्य के मध्यकाल तक की साहित्यिक गति विधि की उपर्युक्त संक्षिप्त रूप-रेखा है। इसमें कई कवियों का नामोल्लेख और लेखकों की रचनाओं का आकलन विस्तार भय से निबन्ध के कलेवर को ध्यान में रखते हुए नहीं हो पाया। मिथिला प्रदेश के विद्वानों की यह विशेषता बड़ी ही अनूठी रही कि उन्होंने अपनी मातृभाषा को साहित्यिक माध्यम बनाया। इस दृष्टि से उसकी पड़ोसी भाषाओं—मगही और भोजपुरी— में इसका अभाव है। भोजपुरी भाषा-भाषी अपनी बोली को गौरव प्रदान करते हैं, किन्तु संस्कृत के व्यापक प्रभाव और राज्याश्रय के अभाव में वहाँ पहले से ही इस भाषा में साहित्यिक रचना का अभाव है। मैथिली का अपना अब तक का लगभग ७०० वर्षों का गौरवपूर्ण इतिहास है। इस काल में कतिपय उत्कृष्ट कवि और नाटककार हुए हैं। विश्व-विश्रुत अभिनव जयदेव विद्यापति मैथिली साहित्य के प्राण हैं जिन्होंने बँगला, ब्रजभाषा जैसे धनी साहित्य के निर्माताओं को प्रेरणा दी है। इनके अतिरिक्त और भी अनेक उत्कृष्ट कवि और लेखक हैं जिनकी तुलना शिष्ट साहित्य के किसी भी देश के लेखक के साथ की जा सकती है। इसके बावजूद इसका एक समृद्ध भाग लोक साहित्य का है जिसकी चेतना से मिथिला के जन-जीवन में प्राण स्पंदन होता है। लोककवियों द्वारा रचित लोरिक, सहलेस, बिहुला, सोंठी प्रबंधकाव्य की समता में रक्खे जाने वाले लोकगाथात्मक काव्य हैं जो हमारे जीवन के साथ गतिशील हैं। लोरिक लोक काव्य की चर्चा 'वर्णरत्नाकर' के प्रथम अध्याय में है और वह आज भी

१. वही, पृ० २८०-२९०।

एक बहुत बड़े भूमिभाग का लोक-काव्य है। विविध संस्कारों पर गाए जाने वाले गीतों और लोक-गाथात्मक काव्यों में मैथिली प्रदेश के जीवन की सांस्कृतिक और सामाजिक अभिव्यंजना हुई है। अन्ततः मिथिला का सारा लोक-साहित्य यथार्थ और आदर्श के परिवेश में एक संवेदनात्मक भाव-धारा का वहन करता है जिसमें साहित्यिक सौंदर्य है, भावमयता है और प्रभावोत्पादन की क्षमता है। लोक में प्रचलित नचारी, झूमर, सोहर, चाचर, चैतावार, बारहमासा, समदाउनि, श्याम-चकेवा से मिथिला के शिष्ट साहित्य ने समय समय पर प्रेरणा ली है और उनमें रसमयता का जीवन्त आभास हुआ है। मिथिला के साहित्यिक गौरव के लिए उसका यह सम्भार अक्षय निधि है। इस प्रकार मिथिला की सुरम्य धरती पर सर्वदा से कला और साहित्य को प्रश्रय मिलता रहा, जिसकी चरितार्थता एक कवि के इस गीत से होती है—

कवि क कथन अछि कलित कलामय,
छथि कमनीय वसंत।
सुखद सरस ऋतुराज विराजथि,
साजथि देश दिगन्त।
माधव मधुप मुदित मधु लोचन,
छथि मोहन बलवन्त।
वेद पुराण समेत गवै छथि,
हुमि गुन गान अनन्त॥[1]

इस प्रकार मध्यकाल के मैथिल साहित्य से प्रेरणा लेकर और सामयिक प्रभावों के फल-स्वरूप मिथिला प्रदेश के अधिक कवि और लेखक अपनी मातृभाषा के मण्डन में लगे हैं जो उसके साहित्यिक गौरवशाली भविष्य का प्रतीक है।

प्रकाशित मैथिली साहित्य तथा मुख्य सहायक ग्रन्थों की सूची

१. ऐशियाटिक रिसर्चेज़, कोलब्रुक।
२. कीर्तिलता, सं० डा० बाबूराम सक्सेना, इंडियन प्रेस, इलाहाबाद।
३. गोविन्द गीतावली, सं० मथुराप्रसाद दीक्षित, पुस्तक भण्डार, लहेरिया सराय, पटना।
४. महाकवि विद्यापति, सं० शिवनन्दन ठाकुर, पुस्तक भण्डार, लहेरिया सराय, पटना।
५. मैथिली क्रिस्टोमैथी (अंग्रेजी), जार्ज ए० ग्रियर्सन।
६. मैथिली गद्य मंजूषा, मित्र मण्डल, लहेरिया सराय, पटना।
७. मैथिली साहित्य का इतिहास भाग १-२, डा० जयकान्त मिश्र।
८. वर्णरत्नाकर, ज्योतीश्वर ठाकुरकृत, सं० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या तथा बबुआ मिश्र।
९. विद्यापति, खगेन्द्रनाथ मित्र तथा विमानविहारी मजूमदार।
१०. विद्यापति ठाकुर, डा० उमेश मिश्र, हिंदुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद।
११. विद्यापति गीत संग्रह, डा० सुभद्र झा, मोतीलाल बनारसीदास, बनारस।
१२. विद्यापति पदावली, सं० रामवृक्ष बेनीपुरी, पुस्तक भण्डार, लहेरिया सराय, पटना।

---

१. देखिए 'मैथिल बन्धु' होलिकांक, मार्च, १९३९।

१५. हिन्दवी साहित्य

भाषा और उसके विभिन्न नाम

सत्रहवीं शती ई० के अंत तक हिन्दी[1] हिन्दवी, हिन्दुई और हिन्दुस्तानी शब्द समानार्थक थे। इनके द्वारा सामान्य रूप से मध्यदेशी अर्थात मध्यकालीन मध्यदेश की भाषा का और विशिष्ट रूप से दिल्ली-मेरठ-बिजनौर की खड़ीबोली के साहित्यिक और अन्तःप्रान्तीय रूप का बोध होता था। १८वीं शती ई० के अंतिम चरण में हिन्दुस्तानी शब्द विशिष्ट रूप से आधुनिक उर्दू का और १८२३ ई० (१८८० वि०) के लगभग हिन्दी शब्द आधुनिक हिन्दी का बोध कराने लगा। अतएव मध्यकालीन साहित्यिक खड़ीबोली के लिए हिन्दवी शब्द ही सब प्रकार से उपयुक्त है।

ब्रज, अवधी, राजस्थानी आदि समसामयिक बहनों के जन्मकाल के साथ-साथ खड़ीबोली का भी उद्‌भव आधुनिक उत्तर प्रदेश के उत्तर-पश्चिमी भाग के दिल्ली-मेरठ-बिजनौर क्षेत्र में हुआ था। इसमें साहित्य-सर्जना का आरंभ भी उपर्युक्त भाषाओं के साथ-साथ या उनके कुछ पूर्व ही नाथ योगियों और मुसलमान फकीरों द्वारा हो चला था; किन्तु कुछ विशेष ऐतिहासिक घटनाओं के कारण हिन्दवी (खड़ीबोली) की एक धारा विन्ध्याटवी को पार कर तुंगभद्रा और कृष्णा नदियों के आन्तर प्रदेश में प्रवाहित हुई। इस प्रदेश को मध्यकाल में मुसलमानों ने दक्खिन नाम से अभिहित किया है। अतएव भारतीय भाषा तथा साहित्य के सन्दर्भ में दक्खिनी उत्तर भारत की मध्यकालीन हिन्दवी (खड़ीबोली) का वह दक्खिनी रूप है जिसका प्रयोग साहित्य में दक्खिन के बहमनी, बीजापुर, गोलकुंडा तथा अहमदनगर, औरंगाबाद आदि मुसलमानी राज्यों में सूफी फकीरों, कवियों और लेखकों ने १५वीं शती ई० से १८वीं शती के प्रथम चरण तक किया था तथा जिसका प्रयोग आज भी आंशिक रूप से उपर्युक्त क्षेत्र (गुजरात, बंबई, बरार, हैदराबाद) के वे मुल्की[2] मुसलमान अपने सामान्य व्यवहार में करते हैं जिन्हें उर्दू भाषा और साहित्य की शिक्षा नहीं मिली है। इस प्रकार दक्खिनी साहित्य में हिंदवी या खड़ीबोली साहित्य का आरंभिक रूप सुरक्षित है। इस कारण दक्खिनी साहित्य को हम असंदिग्ध रूप में शुद्ध हिन्दी साहित्य का ही अंग समझ सकते हैं।[3]

---

१. हिन्दी, दक्खिनी, हिन्दुस्तानी, खड़ीबोली नामों के इतिहास के लिए दे० हिन्दी साहित्य कोश, ज्ञानमंडल, वाराणसी।

२. मध्यकाल में ही उत्तर भारत से आकर दक्खिनी भारत में स्थायी निवास बना लेने वाले मुसलमान मुल्की मुसलमान कहलाते हैं, जब कि उत्तरी भारत से हाल में आए हुए मुसलमान गैरमुल्की या नवागन्तुक कहलाते हैं। दक्खिनी अब केवल मुल्की लोगों के घरों की टूटी-फूटी भाषा रह गई है।

३. श्रीराम शर्मा : दक्खिनी का पद्य और गद्य में सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या द्वारा लिखित अवतरणिका, पृष्ठ ६।

दक्खिनी साहित्य के रचयिता स्वयं अपनी भाषा को हिन्दी,[1] हिन्दवी[2], दक्खिनी[3], गूजरी[4], देहलवी[5], जबान हिन्दुस्तान आदि कई नामों से पुकारते हैं। आज इस भाषा को दक्खिनी हिन्दी कहा जाय या दक्खिनी उर्दू अथवा केवल हिन्दवी या दक्खिनी, इस संबंध में विद्वानों के भिन्न भिन्न मत हैं। ग्रियर्सन[6] के अनुसार दक्खिनी भाषा भ्रष्ट हिन्दुस्तानी (उर्दू) नहीं, बल्कि साहित्यिक हिन्दुस्तानी ही भ्रष्ट दक्खिनी का रूप है। आधुनिक युग में हैदराबाद राज्य में दक्खिनी साहित्य के प्रकाश में आने पर मुहीउद्दीन कादिरी[7], शेरानी[8], नासिरुद्दीन हाशिमी[9] तथा शम्शुल्ला साहब कादिरी[10] आदि उर्दू विद्वान दक्खिनी को कदीम उर्दू या दखनी उर्दू कहते हैं। रामबाबू सक्सेना[11]

---

१. (क) यह सब बोलूं हिन्दी बोल। पुन तुं एहीं सेती घोल॥
(ख) ऐब न राखे हिन्दी बोल। मानी तो चख दीखें खोल॥
(ग) हिन्दी बोलों किया बखान। जे कर परसाद था मूँझ ग्यान॥
—शाह बुरहानुद्दीन जानम
(घ) मैं इसको दर हिन्दी जबाँ इस वास्ते कहने लगा—इरशादनामा, १५८२ ई०।
जो फारसी समझे नहीं समझे इसे खुश दिल होकर॥
—जनूनी, मोजगह, १६९० ई०।

२. (क) बाजा केता हिन्दवी में किस्सए मकतल शाहहुसे।
(ख) नज्म लिखी सब मौजू आन। यों मैं हिन्दवी कर आसान।
(ग) यक यक बोलय मोजू आन। तकरीद हिन्दवी सब बखान।
—शेख अशरफ, नौसर हार, १५०३ ई०।

३. (क) दखिन में जो दखिनी मीठी बात का
अदा में किया कोई इस घात का।
—वजही, कुतुब मुशतरी, १६३८।
(ख) इसे हम कस के तईं समझा को तूं बोल।
दखिनी के बातां सारयां को खोल॥
—इबन निशाती, फूलबन, १६४९ ई०।

४. (क) जे होए ग्यान बिचारी न देखे भाखा गूजरी।
(ख) यह सब गूजरी किया जबान —शाह बुरहाबुद्दीन जानम, हजरत उलबका।

५. कर यह आईना कियानमा —वही, इरशादनामा।

६. लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इंडिया, जिल्द ९, भाग १।

७. कादिरी : उर्दू शहपारे।

८. शेरानी : पंजाब में उर्दू।

९. हाशिमी : दकन में उर्दू।

१०. कादिरी : कदीम उर्दू।

११. रामबाबू सक्सेना : उर्दू साहित्य का इतिहास।

इसी मत का समर्थन करते हुए दकनी को हिन्दुस्तानी की एक शाखा समझ कर उसको उर्दू की एक भाषा समझने की बात कहते हैं। धीरेन्द्र वर्मा[1] भी पहले इसे उर्दू का एक रूप मानते थे। ऐसा मान लेने में कुछ विशेष कारण भी हैं। एक तो यह समस्त साहित्य फारसी लिपि में है, दूसरे इसके समस्त लेखक मुसलमान हैं, तीसरे दक्खिन के मुसलमानी राज्य में ही यह पोषित हुआ। अतएव इसे कदीम उर्दू कह देना सहज संभाव्य है। किन्तु भाषावैज्ञानिक और साहित्यिक, दोनों दृष्टियों से निष्पक्ष विवेचन के पश्चात यही कहना पड़ता है कि यह भाषा न तो फारसीनिष्ठ उर्दू-ए-मुअल्ला ही है और न संस्कृतनिष्ठ आधुनिक हिन्दी। बाबूराम सक्सेना[2] दक्खिनी भाषा और साहित्य के विवेचन के पश्चात इसे दक्खिनी हिन्दी कहना ही न्याय-संगत समझते हैं। यद्यपि हिन्दी नाम उर्दू नाम की अपेक्षा व्यापकता, प्राचीनता और दीर्घकालीन परंपरा से संयुक्त है; किन्तु जैसे ब्रज, अवधी आदि के बाद हिन्दी नाम का अध्याहार मान लिया जाता है, उसी प्रकार दक्खिनी के बाद भी हिन्दी नाम जोड़ना अपेक्षित नहीं है। सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, यदि इसे बिलकुल हिन्दुस्थानी नहीं, तो सहोदरा भाषा तो अवश्य ही मानते हैं।[3] दक्खिनी को दक्षिणी कहना भी उपयुक्त नहीं, क्योंकि इससे भारत की दक्षिणी भाषाओं---मराठी, तेलुगु, कन्नड़ आदि---का भ्रम हो सकता है। इसी प्रकार आज गूजरी नाम भी नहीं दिया जा सकता, क्योंकि इससे गुजराती की ओर संकेत होता है। दक्खिनी के किसी भी कवि ने अपनी भाषा को उर्दू नहीं कहा। इसलिए दक्खिनी के लिए यह नाम देना अत्यंत अनुपयुक्त होगा। कुछ कवियों ने इसमें कुछ रेख्ते लिखे हैं। किन्तु उस समय रेख्ता शब्द का प्रयोग भाषा के लिए न हो कर एक विशिष्ट प्रकार की काव्य-शैली के लिए होता था। इन सब बातों पर विचार करके इसे दक्खनी या हिन्दवी नाम देना ही उचित है।

हिंदवी साहित्य का उदय---नाथ साहित्य

८वीं शताब्दी से लगभग १००० ई० तक वर्तमान हिन्दी प्रदेश के पूर्व में ८४ सिद्धों ने अपने चर्या पदों में जन-समुदाय की भाषा का प्रयोग किया। इस भाषा को विद्वान प्राचीन बंगाली, प्राचीन मैथिली और कुछ पुरानी हिंदी या प्राचीन कोसली कहते हैं। सिद्धों के पश्चात उत्तरी भारत की धर्मध्वजा नाथ-संप्रदाय के प्रवर्तक गोरखनाथ के हाथ में आ जाती है। इस संप्रदाय के प्रचारक उस क्षेत्र के थे जहाँ हिन्दवी (खड़ी बोली) और पूर्वी पंजाब की बोलियाँ प्रचलित थीं। नाथपंथी संत एक मिली-जुली भाषा का प्रयोग करते थे जिसके मुख्य तत्व हिन्दवी (खड़ीबोली) और पूर्वी पंजाबी के थे। इस प्रकार हिन्दवी में साहित्यिक रचना का प्रथम श्रेय गोरखनाथ को दिया जाना चाहिए। स्वर्गीय बड़थ्वाल ने 'गोरखबानी' में गोरखनाथ की और हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'नाथसिद्धों की बानियाँ' नामक पुस्तक में अन्य नाथों की बानियों का प्रकाशन किया है। इन बानियों की मूल भाषा हिन्दवी (खड़ीबोली) ही है; किन्तु अभाग्यवश इन बानियों की कोई भी प्रति १७वीं शती ईसवी के पूर्व की नहीं मिली। अतएव इन बानियों के आधार पर निश्चित

---

१. धीरेन्द्र वर्मा : हिन्दी भाषा का इतिहास।

२. बाबूराम सक्सेना : दक्खिनी हिन्दी।

३. सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या : भारतीय आर्यभाषा और हिंदी, पृष्ठ १९९।

रूप से ११वीं–१२वीं शती की हिन्दवी (खड़ीबोली) के स्वरूप का सुनिश्चित ज्ञान नहीं हो पाता है। किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि नाथ संतों द्वारा पारस्परिक विचार-विनिमय और वाद-विवाद के लिए हिन्दवी (खड़ीबोली) का ही प्रयोग किया जाता रहा होगा। ज्यों-ज्यों नाथ सिद्धों के अखाड़े खड़ीबोली के समीपवर्ती क्षेत्रों में से भारत के अन्य भागों में फैलते गए हिन्दवी का प्रचार-क्षेत्र भी बढ़ता गया और साथ ही उसका रूप भी कुछ परिवर्तित होता गया, यद्यपि खड़ीबोली के तत्वों की मुख्यता बनी रही।

मुसलमानों का योगदान

१०वीं शती से ही उत्तरी भारत में मुसलमानों के आक्रमण लगातार होने लगे और १३वीं शती ई० के प्रथम चरण (१२०६ ई०=१२६३ वि०) में कुतुबुद्दीन ऐवक ने सर्वप्रथम दिल्ली में मुसलमानी राज्य की नींव जमाई। इसके पूर्व आक्रमणकारी मुसलमानों का केन्द्र पंजाब था; किन्तु दिल्ली राजधानी बन जाने से पंजाब का महत्व कम हो गया। पंजाब में बसे हुए तुर्कों और ईरानी विजेताओं के साथ-साथ पंजाब की भाषा भी दिल्ली में प्रविष्ट हुई होगी। यह भाषा दिल्ली के उत्तर तथा उत्तर-पच्छिम जनपदों की बोली से अनेक बातों में मिलती-जुलती थी, अतएव दिल्ली की प्रान्तर भाग की बोली को मूलाधार मानकर पूर्वी पंजाबी के मिश्रण से नूतन मेल-मिलाप, आदान-प्रदान के लिए उस भाषा का रूप और निखरा और व्यापक हुआ जिसे अपने धर्म-प्रचार के लिए उसी क्षेत्र के नाथ-सिद्धों ने सर्वप्रथम अपनाया था। विजेता तुर्कों का उच्च अधिकारी वर्ग घर में तो तुर्की या चगताई बोलता था; किन्तु उनके राजकाज तथा संस्कृति की भाषा कुछ ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण फारसी बन गई थी। इन तुर्की विजेताओं के साथ वे विदेशी सैनिक, सरदार और प्रजाजन भी आए थे, जो फारसी-भाषी थे। इनकी भाषा का भारतीयकरण दूसरी पीढ़ी से आरंभ हो गया था—सामान्य-व्यवहार के लिए इन सब नवागन्तुक मुसलमानों के लिए एक भारतीय भाषा स्वीकार करना अनिवार्य हो गया था। इस देश की संस्कृत, पाली, प्राकृत तथा अपभ्रंश ऐसी प्राचीन भाषाएँ इन विदेशियों के लिए क्लिष्ट तथा सामान्य व्यवहार के लिए अनुपयोगी थीं। फारसी और तुर्की के अलावा साधारण जनता की बोलचाल की भाषा से ही उन्हें विशेष प्रयोजन था। मुसलमानी साहित्य और संस्कृति का प्रचार इसी बोलचाल की भाषा के माध्यम से हो सकता था। अतएव मुसलमानों ने अपने लिए दिल्ली-मेरठ के प्रान्तर भाग की हिन्दवी को अपनाया जिसे आज खड़ीबोली की संज्ञा दी जाती है।

जिस हिन्दवी को मुसलमानों ने भारतीयों के साथ सामान्य व्यवहार तथा अपने धर्म, साहित्य, संस्कृति के प्रचार का साधन बनाया, उसमें संभवतः उस समय भी प्रचुर कथा-साहित्य और गीतिकाव्य रहा होगा। किन्तु नाथों की संदिग्ध बानियों के अतिरिक्त कोई साहित्य उपलब्ध नहीं है। यही कारण है कि प्रायः समझा जाता है कि उत्तर भारत की इस बोलचाल की भाषा में साहित्य-सृजन सर्वप्रथम विदेशियों ने ही किया।

मसऊद इब्नसाद

हिन्दवी में रचना करने वाले मुसलमानों में सर्वप्रथम नामोल्लेख मसऊद इब्न साद का मिलता है। ये महमूद गज़नवी के पौत्र इब्राहीम सुलतान के दरबार में थे और ११२४ ई० (११८१

वि०)से ११३० ई०(११८७ वि०)के बीच इनकी मृत्यु हुई। फारसी कवि औफी अपने तजकिरह (१२२८ ई०=१२८५ वि०) में स्वर्गीय मसऊद की काव्य-कृतियों का उल्लेख करते हुए उनके हिन्दवी दीवान का भी उल्लेख करते हैं--'यके ब ताज़ी व यके ब पारसी व यके ब हिन्दवी'। अमीर खुसरो (१२५३-१३२५ ई०=१३१०-१३८२ वि०) भी मसऊद को फारसी के साथ-साथ हिन्दवी का भी कवि मानते हैं--'सैयद दीवान दर इबारत हिन्दवी व पारसी'। किन्तु हिन्दवी का 'मसऊद दीवान' उपलब्ध न होने के कारण यह निश्चित रूप से नहीं ज्ञात होता कि उस हिन्दवी का भाषा-स्वरूप कैसा था। हेमचन्द्र राय से सहमति प्रकट करते हुए सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या कहते हैं कि 'बहुत संभव है कि वह ब्रजभाषा या पश्चात्कालीन हिन्दुस्तानी के सदृश न होकर १२वीं शती में प्रचलित सर्वसाधारण की साहित्यिक अपभ्रंश ही रही हो।'[१] यद्यपि अपभ्रंश की साहित्यिक परंपरा १६वीं शती ई० तक चलती है; किन्तु बारहवीं शती ई० से ही अपभ्रंश सर्व-साधारण से दूर केवल साहित्यिकों की वस्तु रह गई थी। सर्वसाधारण में तो नव्य भारतीय आर्य-भाषाओं का प्राचीन रूप ही प्रचलित रहा होगा। अतएव फारसी के विद्वान मसऊद ने यदि हिन्दवी में रचना की, तो वह पंजाबीमिश्रित प्राचीन हिन्दवी ही रही होगी। फिर भी अनुमान के अतिरिक्त निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता है।

बाबा फरीद (शेख फरीद) शंकरगंज

मुसलमान सूफी संत जिनके नाम से देशी भाषा की कुछ रचनाएँ हमें प्राप्त हैं, बाबा फरीद शकरगंज या शेख फरीदुद्दीन शकरगंज (११७३-१२६५ ई०=१२३०-१३२२ वि०) हैं। प्रसिद्ध इतिहासकार फरिश्ता (१७वीं शती) के अनुसार तैमूरलंग के आक्रमण (१३१८ ई०=१३७५ वि०) के समय पंजाब के अजोधन वा पाकपत्तन की गद्दी पर प्रसिद्ध फकीर बाबा फरीद का पोता शादुद्दीन गद्दी पर वर्तमान था। इस गद्दी के संस्थापक बाबा फरीद ही थे। इनका जन्म (११७३ ई०=२१३० वि०)में कोठीवाल गाँव(पाकिस्तानी पंजाब)में हुआ था। ये प्रसिद्ध शेख मुहीनुद्दीन चिश्ती के शिष्य कहे जाते हैं। कहा जाता है कि अजोधन गाँव, जिला मांटगोमरी (पाकिस्तानी पंजाब) में इन्होंने १२ वर्ष तक तप किया। इस कारण उस गाँव का नाम पाकपत्तन पड़ गया। बाबा फरीद ने देहली, मुलतान आदि नगरों की यात्रा करके सूफी संप्रदाय का प्रचार किया और पंजाबीमिश्रित हिन्दी में अनेक कविताएँ रचीं। कभी-कभी उन्हें लहंदी-पंजाबी-हिन्दी काव्य का जनक तक कह दिया जाता है। अब्दुलहक[२] के अनुसार इनके कलाम का कुछ नमूना निम्नलिखित है---

तन धोने से जो दिल होता पूक।
पेशरू असफ़िया के होतें गूक॥

---

१. हेमचन्द्र राय : द्वितीय ओरियंटल कान्फ्रेंस की कार्यविवरणी, भारत में हिन्दुस्तानी कविता का आरंभ, १९२५ ई०।

२. अब्दुलहक : उर्दू की इब्तदाई नश्वोनुमा में सूफियाई कराम का काम, पृ० ७,८।

रीश सबलत से गर बड़े लेते।
बोकड़वाँ से न कोई बड़े होते।।
ख़ाक लाने से गर् ख़ुदा पाएँ।
गाय बैलाँ भी वासलाँ हो जाएँ।।
गोशगीरी में गर ख़ुदा मिलता।
गोश चोयां कोई न वासिल था।।
इश्क़ का रम्ज़ न्यारा है।
जुज़ मदद पीर के न चारा है।।

× × ×

जली याद की करना हर घड़ी, यक तिल हुज़ूर सों टलना नईं।
उठ बैठ में याद से शाद रहना, गवाहदार को छोड़ के चलना नईं।।

सिक्खों के उपास्य ग्रंथ 'गुरुग्रंथसाहब'[1] में शेख़ फरीद के नाम से ४ पद (राग आसा और राग सूही में) और १३० सलोक दिए गए हैं। नानक की जनमसाखियों में उन्हें शेख़ इब्राहीम नाम से भी संबोधित किया गया है। 'आदिग्रंथ' में संगृहीत पदों और सलोकों में से कुछ उद्धरण नीचे दिए जाते हैं—

बेड़ा बाँधि न सकियो बंधन की बेला।
भरि सरवरु जब उछले तब तरणु दुहेला।।१।।
हथु न लाइ कुसंभ डै जलि जासी ढोला।।१।।
इक आपीने पतली रुहकेरे बेला।।
दुधा थणी नआवई फिरि हो न मेला।।२।।
कहै फरीदु सहेली हो सहु अलाएसी।।
हंसु चलसी डुमण अहि तनु ढेरी थी सी।।३।।

सलोक

फरीदा जो ते मारनि मुकीआं तितां न मारे घुंमि।।
आपन ड़े धरि जाईऐ पैर तिनां दे चुंमि।।७।।
फरीदा जिन लो ण जगु मोहिआ से लो ण मै डिठु।।
कजल रेख न सह दिआ से पंखी सुइ वहिठु।।१४।।
फरीदा थीउ पवाही दमु।। जो सांई लोड़हि समु।।
इकु छीजहि दिआ लताड़ीअहि।। तां साई दैदरि वाड़ीअहि।।१६।।
फरीदा रोटी मेरी काठ की लावणु मेरी भुख।।
जिना खाधी चोपड़ी घणो सहनिगों दुख।।२८।।

---

१. गुरुग्रंथसाहब, हिन्दी, द्वितीय संचय, १९५१ ई०, पृ० ७९४ तथा पृ० १३७७–१३८४।

सिक्ख धर्म के प्रसिद्ध इतिहास-लेखक मैकालिफ[1] 'आदिग्रंथ' में संगृहीत उक्त पदों और सलोकों को जिन शेख फरीद की रचना मानते हैं उनका वास्तविक नाम शेख इब्राहीम था और उपाधि नाम शेख फरीद था और जो प्रसिद्ध बाबा फरीद गंजशकर के वंशज थे। फरीद सानी, सलीस फरीद, शेख फरीद, ब्रह्ममल, बलराज, शाहब्रह्म आदि इन्हीं की पदवियाँ कही जाती हैं। ये शेख फरीद गुरु नानक के समसामयिक कहे जाते हैं। इनका जन्म भी दीपालपुर के निकट कोठीवाल नामक गाँव में माना जाता है। इनकी समाधि अभी तक सरहिंद में वर्तमान है। बाबा फरीद शकरगंज, शेख फरीद और शेख इब्राहीम——इन तीनों नामों का संबंध अब भी विवादास्पद है। कुछ लोग इन्हें एक ही व्यक्ति के और कुछ दो व्यक्तियों के नाम बताते हैं। प्रामाणिक तथा सुसंपादित रचना के अभाव के कारण भाषा के आधार पर भी किसी निश्चित निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा जा सकता। अब्दुलहक ने बाबा फरीद की जो बानी उद्धृत की है उसमें पंजाबीमिश्रित हिन्दवीपन अधिक है। कुछ फारसी शब्दों का भी मिश्रण है। 'गु ग्रंथसाहब' में संग्रहीत पदों तथा सलोकों की भाषा लहंदी-पंजाबीमिश्रित हिंदवी है। कुछ भी हो, बाबा फरीद[2] और (अथवा) शेख फरीद की बानियाँ आदिकालीन हिन्दवी भाषा-साहित्य की आवश्यक कड़ी हैं।

अमीर खुसरो

हिन्दवी में रचना करने वालों में सबसे प्रमुख नाम अमीर खुसरो (१२५३–१३२५ ई०= १३१०–१३८२ वि०) का है। खुसरो अपने समय के भारत में जन्म लेने वाले महान फारसी कवि थे। इनका जन्म जिला एटा, ग्राम पटियाली में हुआ था। इन्होंने निजामुद्दीन औलिया से धार्मिक दीक्षा ली थी। इन्होंने दिल्ली के तीन राजवंश——गुलाम, खिलजी तथा तुगलक——तथा ग्यारह राजाओं का उत्थान-पतन देखा था। राजाओं के राजमहल, फकीरों की झोपड़ियों तथा सेना के समरांगण का इन्होंने प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त किया था। धर्म तथा राजनीति से इन्हें जीवन की गंभीरता और संगीत से जीवन की सरसता मिली होगी। इनके काव्य में ये दोनों विशेषताएँ मिलती हैं। इनके फारसी काव्य[3] में जीवन का विशाल अनुभव उतर आया है। उसमें तत्कालीन

---

१. मेकालिफ : दि सिख रेलिजन, भा० ६, पृ० ३५६–३५७।

२. बाबा फरीद के विशेष विवरण के लिए दे०——

(क) मोहनसिंह : (१) दि हिस्ट्री आव पंजाबी लिटरेचर, पृ० १२;

(२) बाबा फरीद गंजशकर, शेख इब्राहीम और फरीद सानी शीर्षक लेख, ओरिएंटल कालेज मैगजीन (उर्दू), भाग १४, पृ० ७५।

(ख) बलदेवसिंह गिआनी : बाबा फरीद शकरगंज शीर्षक लेख ओरिएंटल कालिज मैगजीन, (हिन्दी), भाग ७ (पृ० १२–१६, ८९–६४), १०, ११ (पृ० १–१४), १९३८ ई० तथा

शेख फरीदजी, वही, भाग १७, १९४० ई० (पंजाबी में), (पृ० ६५–६९)।

(ग) परशुराम चतुर्वेदी : उत्तरी भारत की संत-परंपरा, पृ० ३७३–३७८।

३. अमीर खुसरो रचित निम्नलिखित फारसी ग्रंथ प्रसिद्ध हैं——

भारत की सांस्कृतिक झाँकी मिल जाती है, साथ ही उसमें खुसरो का हिन्दुस्तान के प्रति प्रेम भी फूटा पड़ता है। इनकी मसनवियों में भारत की बोलियों, त्योहारों, ऋतुओं, फूलों, फलों आदि की प्रशंसा की गई है और अन्य देशों की अपेक्षा यहाँ की जलवायु तथा यहाँ के प्राकृतिक सौन्दर्य को सराहा गया है। अरबी-फारसी के साथ-साथ अपने हिन्दवी ज्ञान पर भी इन्हें गर्व था। वे स्वयं कहते हैं—

> तुर्क हिन्दुस्तानियम मन हिन्दवी गोयम जवाव
> चु मन तूतिए हिन्दम, अर रास्त पुर्सी
> जे मन हिन्दवी पुर्स, ता नग्ज गोयम।

अर्थात् 'मैं हिन्दुस्तान की तूती हूँ। अगर तुम वास्तव में मुझसे कुछ पूछना चाहते हो तो हिन्दवी में पूछो। मैं तुम्हें अनुपम बातें बता सकूँगा।'

अमीर खुसरो अरबी-फारसी के समान उत्तर भारत की प्रधान भाषा हिंदी वा हिन्दवी का स्तवन ओजपूर्ण शब्दों में करते हैं, जिसका सार निम्नलिखित है—

"मैं भूल पर था। अच्छी तरह सोचने पर हिंदी (हिन्दवी) भाषा फारसी से कम नहीं ज्ञात हुई। सिवाय अरबी के जो प्रत्येक भाषा की मीर और सबों में मुख्य है, रई और रूम की प्रचलित भाषाएँ समझने पर हिन्द से कम मालूम हुईं। अरबी अपनी बोली में दूसरी भाषा को नहीं मिलने देती, पर फारसी में यह कमी है कि वह बिना मेल के काम में आने योग्य नहीं है। इस कारण कि वह शुद्ध है उसे प्राण और इसे शरीर कह सकते हैं।...हिन्दी भाषा भी अरबी के समान है, क्योंकि उसमें भी मिलावट को स्थान नहीं है...यदि अरबी व्याकरण नियमबद्ध है तो हिन्दी भी उससे एक अक्षर कम नहीं है। जो इन तीनों भाषाओं का ज्ञान रखता है वह जानता है कि मैं न भूल कर रहा हूँ और न बढ़ा कर लिख रहा हूँ। और यदि पूछो कि उसमें अधिक न होगा तो समझ लो उसमें दूसरों से कम नहीं है।"[1]

अमीर खुसरो द्वारा भारतीय भाषा का यह स्तवन हमें विलियम जोन्स[2] की उस ऐतिहासिक घोषणा की याद दिलाता है जिसमें किसी यूरोपियन ने प्रथम बार संस्कृत को ग्रीक-लैटिन के समकक्ष या दोनों से अधिक समृद्ध घोषित किया था। खुसरो ने स्पष्ट रूप से हिंदी शब्द लिखा है। कुछ लोग खुसरो द्वारा प्रयुक्त हिंदी शब्द से संस्कृत का अर्थ लेते हैं। किसी भाषा के स्तवन के लिए उस भाषा का ज्ञान आवश्यक है। खोजने पर भी यह कहना कठिन है कि खुसरो फारसी-अरबी

---

(१) मसनवी क़िरानुस्सादैन
(२) मसनवीमल्लउल अनवार
(३) मसनवी शीरीं व खुसरो
(४) मसनवी लैलीमजनूं
(५) मसनवी आइनेइस्कन्दरी
(६) मसनवी हश्त बिहिश्त
(७) मसनवी खिज्रनामह या देवलखिज्रखां
(८) मसनवी नुहसिपहर
(९) मसनवी तुगलकनामा, आदि।

१. अमीर खुसरो : मसनवी देवल खिज्रखां (सन १९१७ में प्रकाशित), पृ० ४१-४२।
२. दे० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या : भारतीय आर्यभाषा और हिंदी, पृ० ७।

के साथ साथ संस्कृत भी जानते थे। अतएव ब्रजरत्नदास[1], रामकुमार वर्मा[2] आदि विद्वान खुसरो की उपर्युक्त हिन्दी से दिल्ली-मेरठ प्रदेश में प्रचलित समकालीन खड़ीबोली या हिंदी का ही अर्थ लेते हैं। जो हो, यह तो स्पष्ट है कि खुसरो ने हिन्दवी में रचना अवश्य की है, जिसकी स्वीकारोक्ति वे स्वयं इन शब्दों में करते हैं—

जुज़वे चंद नज़मे हिन्दी नज़रे दोस्ताँ करदा शुदा अस्त

अमीर खुसरो के नाम से हिन्दी साहित्य में एक अरबी-फारसी-हिन्दवी (हिन्दी) कोश ग्रंथ 'खालिकबारी'[3] तथा अनेक पहेलियाँ, मुकरियाँ, दोसुखने तथा कुछ गज़लें प्रसिद्ध हैं। खालिकबारी से कुछ पंक्तियाँ उद्धृत हैं—

ख़ालिकबारी सिरजनहार। वाहिद एक बदा करतार॥
× × ×
रसूल पैगंवर जान बसीठ। यारो दोस्त बोलो जो ईठ॥
× × ×
मुश्क काफूरस्त कस्तूरी कपूर। हिन्दवी आनंद शादीवो सुरूर॥
× × ×
अरज़ धरती फारसी बाशद ज़मीं। कोह दर हिंदवी पहाड़ आमद दरीं॥
× × ×
संग पाथर जानिए बरकन उठाव। अस्प मीरां हिन्दवी घोड़ा चलाव॥
× × ×
मूश चूहा गुरवा बिल्ली मार नाग। सोज़नो रिश्ता बहिंदी सुई ताग॥
× × ×
मोलवी साहब शरन पनाह। गदा भिखारी ख़ुसरो शाह॥
× × ×

खालिकबारी की कोई भी प्रति १६वीं शती ई० के पूर्व की अभी तक नहीं प्राप्त हुई है। प्राप्त प्रतियों की भाषा के आधार पर भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि इसमें १३वीं शती ई० की भाषा पूर्ण रूप से सुरक्षित है। किन्तु हिन्दवी में रचना करने की खुसरो की स्वीकारोक्ति

---

१. ब्रजरत्नदास : खुसरो की हिन्दी कविता, ना० प्र० प०, भाग २, पृ० २६९।

२. रामकुमार वर्मा : हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, ततीय संस्करण, पृ० १२६-७२।

३. शेरानी (पंजाब में उर्दू, पृ० १७४) का मत है कि खालिकबारी प्रसिद्ध अमीर खुसरो की रचना नहीं हो सकती। हिफ़ज़ुलनिसां या खालिकबारी के नाम से इन्होंने इस पुस्तक का संपादन किया है जिसके संपादकीय में वे इस कोश ग्रंथ को जहाँगीरकालीन (१६वीं-१७वीं शती ई०) किसी अन्य खुसरो की रचना मानते हैं, क्योंकि १६वीं शती ई० के पूर्व खालिकबारी की कोई प्रति नहीं मिलती, जब कि १६वीं-१७वीं शती ई० के बाद की सैकड़ों प्रतियाँ मिलती हैं। १६वीं-१७वीं शती ई० के बाद खालिकबारी के समान फारसी-हिन्दवी कोश ग्रंथ लिखने की एक परंपरा ही चल पड़ी थी।

तथा प्रवल जनश्रुति की पृष्ठभूमि में हम यह कह सकते हैं कि खुसरो ने इस प्रकार की रचना हिन्दवी में अवश्य की होगी, भले ही उसका यथावत रूप सुरक्षित न रह सका हो। खुसरो गयासुद्दीन बलबन के लड़के के शिक्षक थे। संभव है उसी के तत्कालीन भाषा-ज्ञान के लिए उन्हें फारसी-हिन्दवी कोश की रचना करनी पड़ी हो।

मोहनसिंह निम्नलिखित पद को खुसरो द्वारा रचित मानते हैं—

नक़दे इलम अनदीदई संदूक़ सीना फोड़ कर।
पकरो क़यामत को तुझै आखे खुदा सो छोड़ कर।
गर राम सो वर हुसन खुद दो चार दिन को मरना है।
महबूब यूसुफ से गए वहु हुसन खूवी छोड़ कर॥
खिसरो कहे वातां अजव दिल मन मिलाओ से गुजल
कुदरत खुदा से यह न कर मैं छोड़िया गम खाइ कर॥[1]

इसी प्रकार एक पद की निम्नलिखित पंक्तियाँ भी खुसरो की ही कही जाती हैं—

भाई रे मुल्ला हो हमकूँ पार उतार।
हाथ का देऊँगी मुंदरा गल का देऊँगी हार।
देख मैं अपने हाल को रोऊँ ज़ारो ज़ार॥[2]

निम्नलिखित गज़लें तो खुसरो के नाम से अति प्रसिद्ध हैं ही—

जब यार देखा नैन भर, दिल की गई चिन्ता उतर।
ऐसा नहीं कोई अजब, राखे उसे समझाए कर॥
तूँ तो हमारा यार है, तुझपर हमारा प्यार है।
तुझ दोस्ती बिसयार है, इक शब मिलो तुम आय कर॥
खुसरो कहे बातें गजब, दिल में लावै कुछ अजब।
कुदरत खुदा की है अजब, जब जिव दिया गिल लाय कर॥

× × ×

ज़े हाले मिस्कीं मकुन तग़ाफ़ुल, दुराए नैनां बनाए बतियां,
कि ताबें हिजरां न दारम ऐ जां, न लीहो काहे लगाए छतियां॥
शबाने हिजरां दराज़ चूं ज़ुल्फ़, व-रोज़े-वस्लत चूं उम्र कोताह॥
सखी पिया को जो मैं न देखूँ, तो कैसे काटूँ अँधेरी रतियां॥
चु शमअ सोज़ां, चु ज़र्रा हैरां, ज़े मेहरे आं मह बेगशतम आखिर॥
न नींद नैना न अंग चैना, न आप आवें न भेजें पतियां॥

महाकवि तथा संगीतज्ञ होने के साथ साथ अमीर खुसरो एक मनोविनोदी सामाजिक व्यक्ति थे। उनके नाम से पहेलियाँ, मुकरियाँ, दोसुखने आदि मिलते हैं, यथा, पहेली—

---

१. मोहनसिंह: हिस्ट्री आव पंजाबी लिटरेचर, पृ० ११३।
२. मुलतानी और उर्दू के ताल्लुकात, (उर्दू,) लाहोर यूनीवर्सिटी, पृ० ३५७।

बाला था जब मन को भाया
बड़ा हुआ कुछ काम न आया
खुसरो कर दिया उसका नांव
बूझे नहीं तो छोड़े गांव। (दीप)

संभव है खुसरो के नाम से प्रचलित समस्त रचनाएँ खुसरो द्वारा रचित न हों और जो रचित भी हों उनका प्राचीन यथावत रूप सुरक्षित न रहा हो, किन्तु इससे यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि जन-जीवन में प्रचलित लोक-साहित्य को साहित्य में स्थान दिलाने का प्रथम श्रेय हिन्दवी के कवि खुसरो को ही है। खुसरो ने हिन्दवी में गंभीर साहित्य की रचना नहीं की। संभवतः फारसी के समान हिन्दवी में वे पटु नहीं थे। उस समय तक हिन्दवी उच्च-गंभीर साहित्य के लिए मँज भी नहीं पाई थी, केवल सामान्य जन की बोलचाल की भाषा थी। किंतु इतना निश्चित है कि सामान्य जन-समुदाय में प्रचलित लोक-साहित्य की श्रीवृद्धि में खुसरो ने महत्वपूर्ण योग दिया। यही कारण है कि हिंदी साहित्य के इतिहास में अमीर खुसरो का नाम अमिट है।

हिन्दवी उत्तरी भारत की स्फुट रचनाओं के इस संक्षिप्त परिचय से प्रमाणित होता है कि हिन्दवी में साहित्य-रचना के प्रयोग ब्रज और अवधी की अपेक्षा लगभग दो शताब्दी पहले आरंभ हो गए थे। साहित्य में अवधी और ब्रज का प्रयोग १५वीं शती से पूर्व नहीं हुआ।

कब और किन परिस्थितियों में उत्तरी भारत की समकालीन मध्यदेशी या हिन्दवी दक्खिन भारत में पहुँची, यह विवादास्पद है। 'दक्खिनी का पद्य और गद्य' के संपादक श्रीराम शर्मा तथा 'दक्खिनी के सूफी लेखक' की लेखिका विमल वाघ्रे इससे सहमत नहीं हैं कि दक्खिनी विशुद्ध रूप से उन मुसलमानों की पैदा की हुई भाषा है जो सेना तथा शासन कार्य से दक्खिन गए थे। उनका विचार है कि राष्ट्रकूटों (७वीं शती) और यादवों (९वीं शती) के साथ आने वाले सहस्रों उत्तरी भारतीय लोगों के साथ उत्तर भारत की तत्कालीन भाषा दक्खिन पहुँची जिससे दक्खिनी की नींव पड़ी। मुसलमानों के आगमन से पहले वहाँ एक मिली-जुली भाषा थी। उस समय तक उसका रूप बहुत परिष्कृत नहीं था। मुसलमानों के आगमन के बाद उसने साहित्यिक और सांस्कृतिक रूप ग्रहण किया।[1] उपर्युक्त मत के मान लेने पर दक्खिन में दक्खिनी के प्रादुर्भाव की तिथि ४ या ५ सौ वर्ष पूर्व चली जाती है। किन्तु इस मत को स्वीकार करने में कोई ठोस प्रमाण नहीं मिलते हैं।

वास्तव में दक्खिनी का मूल ढाँचा उत्तरी भारत की हिन्दवी में अन्तर्निहित है। यह पहले ही बताया जा चुका कि है कि हिन्दवी के प्रथम प्रयोग और प्रसार-प्रचार का श्रेय नाथपंथी योगियों को और फिर विदेशी मुसलमानों को दिया जा सकता है। संभवतः नाथपंथी योगियों द्वारा ही हिन्दवी दक्खिन लाई गई और उसका फल यह हुआ कि हिन्दवी को समझने के लिए दक्खिन में एक पृष्ठभूमि तैयार हो गई। नाथों से संबंधित तथा उत्तरी भारत के उत्तरी-पच्छिमी भाग से गमनागमन बनाए रखने वाले कुछ महाराष्ट्र संत संभवतः हिन्दवी का प्रयोग कभी कभी बोलचाल

---

१. **श्रीराम शर्मा : दक्खिनी का पद्य और गद्य, निवेदन, पृ० २५-२६ तथा विमल वाघ्रे: दक्खिनी के सूफ़ी लेखक (अप्रकाशित प्रबंध), पृ० ५।**

अथवा कविता में करते रहे होंगे जिसके फलस्वरूप नामदेव, गोंदा, ज्ञानेश्वर तथा अन्य समसामयिक महाराष्ट्र संतों की हिन्दवी रचनाएँ मिलती हैं, भले ही उनकी भाषा का मूल रूप आज सुरक्षित न रहा हो। किन्तु इतना होने पर भी १३वीं शती ई० तक उत्तरी भारत से इतने बहुसंख्यक लोग दक्खिन में जाकर नहीं बस गए थे कि सामूहिक रूप में अपने दिन-प्रतिदिन के व्यवहार में हिन्दवी का प्रयोग करते, जिससे सतत प्रयोग के कारण और दक्खिन की मूल भाषाओं (मराठी, कन्नड़, तेलुगु) के सतत संसर्ग के कारण अत्यधिक नवीनता ग्रहण कर वह दक्खिनी के रूप में विकसित हो जाती और जिससे साहित्य-निर्माण की एक अविरल धारा प्रवाहित होने लगती।

दक्खिनी (हिंदवी) साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

१४वीं शती ई० से १८वीं शती ई० पूर्वार्ध तक दक्खिन में हिन्दवी साहित्य की रचना कुछ विशेष राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा अन्य सांस्कृतिक परिस्थितियों के परिणाम-स्वरूप हुई थी। इन परिस्थितियों के कारण ही उत्तर की हिन्दवी ने 'दक्खिनी' रूप ग्रहण किया और वह इतनी अधिक निखर गई कि उसमें लगभग ३०० वर्षों तक साहित्यिक रचना होती रही।

१४वीं शती ई० के प्रथम चरण में मुहम्मद तुगलक की आज्ञा से दिल्ली के राज दरबारी प्रशासक, सैनिक, कर्मचारी, व्यवसायी, व्यापारी, सूफी संत-फकीर सबको देवगिरि या दौलताबाद में सपरिवार बसना पड़ा था। राजनीतिक दृष्टि से यह घटना चाहे बादशाह की अदूरदर्शिता या दूर-दर्शिता सिद्ध करती हो, किन्तु सामाजिक, धार्मिक तथा भाषा के दृष्टिकोण से यह घटना भारतीय इतिहास में अपना एक विशेष महत्व रखती है। इस घटना के परिणामस्वरूप उत्तरी भारत—विशेष रूप से दिल्ली, पंजाब, आगरा—के मुसलमान तथा हिन्दू भी स्थायी रूप से दक्खिन में बस गए, जिससे उत्तर भारतीय समाज की एक पूर्ण इकाई ने दक्खिन में अपनी नींव जमा ली। इसी समय उत्तरी भारत की हिन्दवी—हरियानी, पूर्वी पंजाबी, मेवातीमिश्रित खड़ी बोली—को विकसित होने का यथेष्ट अवसर मिला, क्योंकि उत्तर से दक्खिन आने वाले अधिकांश लोग देशी भाषा—हिन्दवी—का ज्ञान लेकर ही आए थे। फारसी अरबी तथा अन्य प्राचीन भाषाओं के ज्ञाता उच्चाधिकारी, विद्वान, कवि तथा धर्मप्रचारक केवल उँगलियों पर गिने जा सकते थे। सूफी संतों ने भी देशी भाषा हिन्दवी को अपने धर्म-प्रचार का साधन बनाया, क्योंकि यही सबको बोधगम्य थी। नितांत अपरिचित होने के कारण दक्खिन की मराठी, तेलुगु तथा कन्नड़ भाषाओं को नवागन्तुक मुसलमान अपना नहीं सकते थे। यह अवश्य हुआ कि इन भाषाओं के बोलने वालों के संसर्ग में आने से हिन्दवी पर मराठी, तेलुगु, कन्नड़ का कुछ प्रभाव अवश्य पड़ा, जिससे हिन्दवी दक्खिनी बन गई। अधिकांश सामाजिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक कार्यों में प्रयुक्त होने से दक्खिनी पर्याप्त रूप से मँज गई। हिन्दवी अपने मूल स्वरूप को बनाए रखते हुए भी फारसी, अरबी, मराठी, तेलुगु, कन्नड़ से कुछ संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, अव्यय लेकर साहित्य-रचना के लिए उपयुक्त बनती जा रही थी। मध्यकाल में किसी भाषा-शक्ति की प्रगति के लिए धर्म और राजनीति का सहारा आवश्यक था। धर्म का सहारा तो दक्खिनी को मिल रहा था, क्योंकि सूफी साधकों ने इसे ही अपने धर्म-प्रचार का माध्यम बनाया था, आवश्यकता थी केवल राजनीतिक आश्रय की।

१४वीं शती में दक्खिन में बहमनी वंश तथा उसके टूट जाने पर १५वीं-१६वीं शती ई०

में गोलकुंडा, बीजापुर, अहमदनगर, बीदर, बरार में पाँच मुसलमानी राज्य स्थापित हुए। दक्खिन के ये बादशाह उत्तरी भारत के मुसलिम सुलतानों की अपेक्षा भारतीय रंग में विशेष रँगे थे। दिल्ली का संबंध ईरान और अरब से बराबर बना रहता था और इससे दिल्ली के सुलतान ईरानी सभ्यता, संस्कृति, ऐश्वर्य, भाषा और साहित्य से विशेष प्रभावित रहते थे। किन्तु दक्खिन से दिल्ली दूर थी और उससे अधिक दूर थे ईरान और अरब। इसके अतिरिक्त भारतीय रंग में रँग जाने का एक अन्य विशेष कारण था इन शासकों का हिन्दुओं से अति निकट का संबंध। कहा जाता है कि बहमनी वंश का संस्थापक हसन एक गंगू नामक ब्राह्मण का शिष्य था। जब वह राजा हुआ तब उसने अपने नाम के साथ गंगू उपाधि धारण की और साथ ही उसे अपना राजस्व सचिव भी बना लिया। यह घटना चाहे सत्य हो या असत्य, किन्तु बहमनी काल से ही दक्खिन में यह प्रथा चल पड़ी कि राजस्व सचिव का पद ब्राह्मणों को ही दिया जाने लगा। 'तारीख़ फरिश्ता' के अनुसार राजस्व विभाग में हिन्दुओं की नियुक्ति का यह परिणाम हुआ कि हिन्दवी भाषा ने शीघ्र ही उन्नति करना आरंभ किया और दो बड़े समूहों, अर्थात हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच मेल-मिलाप बढ़ गया। इब्राहीम आदिलशाह ने दूसरे प्रदेशों के लोगों के स्थान पर दक्खिनियों को राजकीय पदों पर रक्खा और उसकी आज्ञा से आय-व्यय का हिसाब जो अब तक फारसी में रक्खा जाता था, ब्राह्मणों के निरीक्षण में हिन्दवी में लिखा जाने लगा।[1] इस प्रकार राज्याश्रय प्राप्त होने पर हिन्दवी या दक्खिनी को उन्नति करने का उपयुक्त अवसर मिल गया।

हिन्दुओं और मुसलमानों में विशेष रूप से राजाओं और अमीरों में सामाजिक-वैवाहिक संबंध भी स्थापित होने लगा। इसके फलस्वरूप हिन्दू मुसलमानों में एक अद्वितीय मेल-मिलाप तथा संबंध-संपर्क स्थापित हुआ। दक्खिन के एक इतिहास-लेखक का मत है कि 'इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन ३०० वर्षों, अर्थात जब तक बीजापुर और गोलकुंडा स्वतंत्र राज्य रहे, इन दोनों जातियों, अर्थात हिन्दू और मुसलमानों में इतना मेल-जोल था कि हिन्दुस्तान में अन्यत्र नहीं पाया जाता था। हिन्दू और मुसलमानों के बीच केवल साधारण व्यवहार और मेल-मिलाप ही न था, वरन हिन्दू प्रजा मुसलमान बादशाहों से प्रेम करती थी और यह दशा बराबर बनी रही।'[2] यद्यपि पास-पड़ोस के हिन्दू राजाओं से इन बादशाहों के युद्ध भी हुआ करते थे, फिर भी दक्खिन के सुलतानों को हिन्दुओं से सौहार्द बनाए रख कर सुख-शांति से शासन करने के साधन दिल्ली के सुलतानों की अपेक्षा अधिक प्राप्त थे। यही कारण है कि दक्खिन के सुलतानों—विशेष रूप से बहमनी, बीजा-पुर, गोलकुंडा राज्यों—ने दक्खिनी को राजभाषा घोषित किया और वही शिक्षा का माध्यम भी बनाई गई। इन परिस्थितियों के फलस्वरूप भी दक्खिनी को विकास के लिए अवसर मिला।

गत पृष्ठों में संकेत किया जा चुका है कि गोरखनाथ द्वारा प्रवर्तित नाथ-संप्रदाय के प्रचार करने के लिए नाथ-योगी भारत के चारों कोनों में पहुँच रहे थे। दक्खिन में उनका प्रवेश १०वीं-११वीं शती में ही हो गया था। प्रसिद्ध मराठी संत ज्ञानेश्वर के बड़े भाई निवृत्तिनाथ इसी संप्रदाय में दीक्षित थे। नाथ योगियों के द्वारा धर्म-प्रसार के साथ साथ दक्खिन में हिन्दवी का

---

१. तारीखे फरिश्ता, ब्रिग्स का अनुवाद, जिल्द ३, पृ० ८०।

२. ग्रिबिल्स, हिस्ट्री आव दि दकन, जिल्द १, पृ० २९४, पाद टिप्पणी।

प्रवेश हुआ। इसके पश्चात कबीर तथा अनेक समसामयिक निर्गुण संतों के अनुयायी भी दक्खिन में धर्म का प्रचार करते हुए अपने साथ अवधी, राजस्थानी, तथा ब्रजमिश्रित हिन्दवी को ले गए। एकनाथ, तुकाराम, केशवस्वामी आदि महाराष्ट्र संतों ने इसी संत-परंपरा से प्रभावित होकर हिन्दवी में भी कुछ रचनाएँ की हैं, यद्यपि प्रधानतः वे सब मराठी के कवि हैं।

इनके अतिरिक्त कहा जाता है कि ६वीं-७वीं शती में अरब-ईरान के कुछ व्यापारी तथा इस्लाम के प्रचारक समुद्री मार्ग से दक्खिन में आए थे। किन्तु इनके व्यापार तथा धर्म-प्रचार का साधन ईरानी और अरबी ही रही होगी और वे भारतीय जनता से विशेष मिले न होंगे। मलिक काफूर की दक्षिण-विजय के पूर्व भी सूफी साधक हाजी रूमी ५५५ हिजरी (११४३ ई०=१२०० वि०) में ही बीजापुर के हिन्दू राजा को अपने चमत्कारों से प्रभावित करके उसके सम्मानभाजन बन चुके थे। रूमी के पश्चात लगभग बीस सूफी साधक दक्खिन-विजय के पूर्व यहाँ पहुँच चुके थे जिनमें शाह मोलिन, बाबा सैयद मजहर, तबले शाह, अलाउद्दीन बादशाह, अली पहलवान, शाह हिसामुद्दीन, बाबा शरफुद्दीन, बाबा शाहउद्दीन तथा बाबा फखरुद्दीन आदि प्रसिद्ध हैं।[1] मुहम्मद तुगलक ने जब दौलताबाद को अपनी राजधानी बनाने का निश्चय करके दिल्ली के निवासियों को वहाँ बसने का आदेश दिया, तब से उत्तरी भारत के सूफियों का ध्यान दक्खिन की ओर विशेष गया। १४वीं शती ई० में उत्तर से दक्खिन में सूफी धर्म का प्रचार करने वालों में शाह मुतजबउद्दीन जरबख्श, सैयद यसुफ, शाह राजू, बुरहानुद्दीन गरीब, शेख सिराजउद्दीन जुनेदी तथा ख्वाजा बंदेनवाज गेसूदराज आदि अति प्रसिद्ध हैं। ये साधक दक्षिण में बीजापुर, गुलबर्गा आदि में रहने लगे और वहीं इनकी मृत्यु हुई। उत्तरी भारत से दक्खिन आने वाले अधिकांश सूफी ख्वाजा मुइनुद्दीन अजमेरी की परंपरा के थे और उनका सम्बन्ध सूफियों की चिश्तिया शाखा से था। अतः अधिकांश दक्खिनी सूफी साहित्य सूफियों की चिश्तिया शाखा से ही सम्बन्धित है। सूफियों की सुहरावर्दी, कादिरी तथा नख्शबन्दा शाखा का प्रभाव दक्खिनी साहित्य पर बहुत कम पड़ा। प्रायः अधिकांश सूफी संत अरबी-फारसी का ज्ञान रखते थे, किन्तु सर्वसाधारण में संप्रदाय का प्रचार करने के लिए उन्होंने जनता की भाषा हिन्दवी या दक्खिनी को ही अपनाया। अब्दुल हक इन सूफियों के सम्बन्ध में लिखते हैं—

"इन बुजुर्गों के घरों में भी हिन्दी (हिन्दवी) बोलचाल का रिवाज था और चूँकि यह इनके मुफीदे मतलब था इसलिए वे अपनी तालीम व तल्कीन में भी इसी से काम लेते थे।"[2]

राजभाषा और धर्मभाषा बन कर राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक साधनों का सहारा लेकर दक्खिनी में साहित्य-रचना १५वीं शती ई० से प्रारम्भ हुई और अविरल रूप से लगभग तीन सौ वर्षों तक होती रही। इस प्रकार उत्तर भारत से आए हुए पंजाबी और पछाँही मुसलमान उत्तर भारत से जो लोक-साहित्य लाए थे, उसी के आधार पर इस्लामी सूफी दर्शन और रहस्यवाद का रंग चढ़ा कर एक अभिनव साहित्य-शैली का प्रवर्तन किया गया।

---

१. विमल वाग्रे : दक्खिनी के सूफी लेखक (अप्रकाशित प्रबंध), पृ० ६१।

२. अब्दुल हक, उर्दू की इब्तदाई नश्वोनुमा में सूफियाई कराम का काम, पृ० ८।

दक्खिनी साहित्य

दक्खिनी साहित्य के विकास को भलीभाँति समझने के लिए उसे निम्नलिखित भागों में विभाजित किया जा सकता है—

(१) बहमनी युग (१३४७ ई० – १५२४ ई० = १४०४–१५८१ वि०)—इसे धार्मिक युग भी कह सकते हैं, क्योंकि इस युग में प्रधानतः धार्मिक साहित्य की ही सर्जना हुई। कालक्रम से इसे आदियुग कह सकते हैं।

(२) आदिलशाही कुतुबशाही युग (१४९० ई० – १६८७ ई० = १५४७–१७३७ वि०)—बहमनी वंश के समाप्त होने पर वह राज्य पाँच मुसलिम राज्यों में विभाजित हो गया। दक्खिनी साहित्य की दृष्टि से गोलकुंडा के कुतुबशाही और बीजापुर के आदिलवंशी सुलतानों का सहयोग महत्वपूर्ण है। इस युग का साहित्य अनेक धाराओं में प्रवाहित हुआ। कालक्रम से इसे हम मध्ययुग की संज्ञा दे सकते हैं।

(३) मुगल युग (१६८७ ई० – १७२२ ई० = १७४४–१७७९ वि०)—इस समय दक्खिनी साहित्य और साहित्यकारों का केन्द्र मुगल राज्य के प्रशासन-केन्द्र औरंगाबाद में था। इस युग की समाप्ति के पश्चात दक्खिनी साहित्य की पृथुल धारा अति क्षीण हो कर उत्तर के उर्दू साहित्य की धारा में विलुप्त सी हो गई। केवल लोक साहित्य के रूप में ही वह यदाकदा दृष्टिगोचर हो जाती है।

(१) बहमनी युग

बहमनी वंश के १७ सुलतानों ने लगभग १७९ वर्ष तक दक्खिन में राज्य किया। ये सभी सुलतान मध्यकालीन निरंकुश सामंतशाही के प्रतीक थे। शत्रुओं के प्रति अति निर्मम और निर्दय होने पर भी वे अपनी प्रजा को सुखी और समृद्धिशाली रखने के इच्छुक रहते थे। राजभक्ति तथा समस्त धनी-निर्धन जनता की समृद्धि को ही जीवन की चरम उपासना मानने वाला, मध्यकालीन इतिहास का महानतम राजनीतिज्ञ, प्रधान मंत्री महमूद गवाँ इसी बहमनी वंश में हुआ। बीदर में उसने एक बहुत बड़ा कालेज खोला था जिसमें ३००० पुस्तकों का संग्रह था। सूफी संतों को धर्म-प्रचार के लिए पूर्ण स्वतंत्रता थी। बहमनी युग में इन्हीं सूफी संतों ने धर्म प्रचार के लिए दक्खिनी में रचनाएँ कीं।

ख्वाजा बंदेनेवाज गेसूदराज (१३४६–१४२३ ई० = १४०३–१४८० वि०)

बंदेनेवाज का पूरा नाम हजरत सैयद मोहम्मद हुसेनी था। लंबे-लंबे बाल होने के कारण इनके नाम के साथ गेसूदराज की उपाधि जुड़ गई थी। इनके पिता सैयद युसुफ शाह राजू खत्ताल दिल्ली के निवासी थे। दिल्ली के हजरत बुरहानुद्दीन गरीब के साथ चार सौ बुजुर्गों की टोली में अपनी पत्नी और ४–५ वर्ष की आयु वाले एक मात्र पुत्र सैयद मुहम्मद हुसेनी (बंदेनेवाज) को लेकर ये भी दक्खिन आए थे और दौलताबाद में रहने लगे थे। बंदेनेवाज की प्रारंभिक शिक्षा-दीक्षा दौलताबाद में ही हुई। १५ वर्ष की आयु में ही इनके पिता का देहान्त होगया। तब माता के साथ ये दिल्ली लौट गए। दिल्ली के सूफी संत ख्वाजा नसीरउद्दीन चिराग से इन्होंने सूफी दीक्षा ली। १३६१ ई० (१४१८ वि०) में गुरु की मृत्यु के पश्चात ये अपना सारा समय धर्मो-

पदेश तथा ज्ञान-लाभ में ही व्यतीत करते थे। ये अरबी-फारसी तथा रेखागणित और ज्यामिति के पंडित थे। इनकी पत्नी का नाम रजा खातून था जो मौलाना जमालुद्दीन की पुत्री थीं।

दिल्ली में तैमूरलंग के अत्याचारों से ऊब कर १४१३ ई० (१४७० वि०) में ये वृद्धावस्था में सपरिवार बहमनी बादशाह फिरोजशाह के राज्यकाल में गुलबर्गा पधारे। बादशाह ने सम्मान के साथ इनका स्वागत किया। उसके छोटे भाई अहमदशाह ने बंदेनेवाज को एक जागीर दी और एक बड़ी पाठशाला खुलवा दी। वहीं १४२३ ई० (१४८० वि०) में इनका देहान्त हो गया। अहमदशाह ने इनकी मजार पर एक मकबरा बनवा दिया।

एक सिद्ध साधक के रूप में ये हिन्दू और मुसलमान, दोनों के द्वारा समादृत थे। आज भी गुलबर्गा में इनकी दरगाह हिन्दू-मुसलिम, दोनों में वैसे ही प्रसिद्ध है जैसे कि अजमेर में ख्वाजा मुई-नुद्दीन चिश्ती की दरगाह।

उत्तरी भारत में रहते हुए बंदेनेवाज ने लगभग १५ ग्रंथ फारसी-अरबी में लिखे। दक्खिन आकर ये दक्खिनी में उपदेश देने लगे। दक्खिनी में लिखे इनके तीन ग्रंथ—(१) मीराजुलआश-कीन, (२) हिदायतनामा, (३) रिसाला सेहवारा या बारहमासा—प्रसिद्ध हैं।

'मीराजुंल-आशकीन'[1] दक्खिनी की प्रथम रचना होने के नाते महत्वपूर्ण है। लगभग १९ पृष्ठों का यह एक छोटा सा ग्रंथ अत्यन्त मूल्यवान है। इस 'मीराज (सोपान) उल (का) आशकीन' (भक्तों), अर्थात भक्तों के सोपान में ख्वाजा बंदेनेवाज के धर्मोपदेश संग्रहीत हैं।

साहित्य की दृष्टि से यह कोई प्रौढ़ रचना नहीं है। सरल से सरल प्रचलित दक्खिनी में सूफी सिद्धांतों की व्याख्या ही ग्रंथ का एकमात्र उद्देश्य है। विषय सूफी धर्म से संबंधित होने के कारण इसमें कहीं-कहीं फारसी-अरबी के वाक्यांश भी आ गए हैं। बंदेनेवाज का दक्खिनी (हिन्दवी) में उपदेश देने का कदाचित यह प्रथम प्रयास था। अतः इसकी भाषा व्याकरण की दृष्टि से असंयत तथा अनियमित है; फिर भी भाषा के अध्ययन की दृष्टि से इसका महत्व है। 'मीराजुल-आशकीन' की भाषा का उदाहरण देखिए—

> कौल नबी अले उल सलाम, कहे इंसान के बूझने कों (कूं) पाँच तन, हर एक तन कों पाँच दरवाजे हैं हौर पाँच दरबान हैं। पैला तन वाजिबुल वजूद मोकाम उसका शैतानी, नफ्श उसका अम्मार याने वाजिब के आंक सों (सूं) गैर न देखना सों, हिरस के कान (सों) गैर न सुना सों। हसद नक सों बदबूई न लेना सो......... नब्ज़ पिछान कों दवा देना– ....
>
> × × ×
>
> पीर मना किए सो परहेज करना, मुराक़बे की गोली मुशाहदे के कांसे में मेकाइल के मदद के पानी सों, जली का काड़ा कर कों पीलाना– ......

---

१. अब्दुल हक ने १९२५ ई० में ताज प्रेस, हैदराबाद से इसे प्रकाशित कराया था। जिस हस्त-लिखित प्रति की प्रतिलिपि कराकर पुस्तक प्रकाशित की गई है, उसका प्रतिलिपि-काल ९०६ हिजरी या १५०० ई० है। अतएव १५०० ई० के गद्य के रूप में यह महत्वपूर्ण लेख है।

यूं खाली में माटी—खाली में पानी—खाली में आग—खाली में बारा—खाली में खाली यूं पाँच अनासिरन का वाजिबुल वजूद बूजिया तों तौहीद तमाम का रूह इसे कहते हैं—खुदाय ताला ने हदीस कुदसी में फरमाए हैं।

कहा जाता है कि बंदेनेवाज अच्छे कवि भी थे और शाहवाज नाम से कविताएँ लिखते थे।[१] खेद है कि उनकी कुछ स्फुट कविताएँ ही मिलती हैं। उन्हीं से उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

में आशिक उस पीव का जिनने मुझे जीव दिया है।
ओ पीव मेरे जीव का जो कुर्का लिया है।।
ऐसी मीठी माशूक कूँ कोई क्यों न देखने पावे।
जिनने देखे उसे उसी कूँ और न कोई भावे।।

× × ×

यों खोई खुद्दी अपनी खुदा साथ मोहम्मद।
जब चुल गई खुदी तो खुदा बिन न कोई दिखे।।

इन कविताओं में दक्खिनी का स्वरूप कुछ निखरा प्रतीत होता है। इनमें सूफी साधनानुसार प्रेम-पद्धति का चित्रण किया गया है।

सैयद मुहम्मद अकबर हुसेनी ख्वाजा बंदेनेवाज के पुत्र थे। दिल्ली में इनका जन्म हुआ था और वहीं अपने पिता से धर्म की दीक्षा लेकर ये उनके अनुयायी बन गए थे। इनका विवाह खिलजी परिवार में हुआ था। पिता के सामने ही इनकी मृत्यु हो गई थी। कहा जाता है कि अल्पायु में ही इन्होंने अनेक ग्रंथों की रचना की थी; किन्तु अभी तक इनकी कोई रचना उपलब्ध नहीं हुई है।

अब्दुल्ला हुसेनी ख्वाजा बंदे नेवाज के पोते थे और अहमद शाह सानी बहमनी (१४३५–१४५८ ई० = १४९२–१५१५ वि०) के राज्यकाल में वर्तमान थे। ये अपने समय के प्रसिद्ध सूफी संत और कवि थे। इन्होंने अपने शिष्यों के लिए हजरत शेख अब्दुल कादर जिलानी की फारसी रचना का दक्खिनी में 'निशातुल इश्क' नाम से अनुवाद किया था।

निजामी बहमनी युग के सबसे प्रसिद्ध कवि थे। ये सुलतान अहमद शाह तृतीय (१४६०–१४६२ ई० = १५१७–१५१९ वि०) के दरबारी कवि थे। मसनवी शैली में रचित इनकी एक रचना 'कदमराव व पदम' प्रसिद्ध है। इस मसनवी में शुद्ध हिन्दवी, अर्थात तद्भव-शब्दबहुल हिन्दवी का प्रयोग अधिक हुआ है। अतएव केवल उर्दू का ज्ञान रखने वालों के लिए इसका समझना कठिन है। निजामी को कुछ लोग बहमनी युग का प्रथम प्रसिद्ध कवि मानते हैं। एक प्रकार से 'कदमराव व पदम' हिन्दवी का आदि चरितकाव्य है।[२] एक उदाहरण देखिए—

---

१. नासिरुद्दीन हाशिमी ने मराकाते हाशिमी नामक निबंधों में ख्वाजा बंदेनेवाज की भी कविता संकलित की है।

२. दक्खिन में उर्दू के लेखक नासिरुद्दीन हाशिमी का कथन है : 'इसमें अरबी-फारसी के बजाय हिन्दी अल्फाज ज्यादा हैं। इसकी जबान इस कदर मुश्किल है कि इसका समझना वक्ततलब है'। पृ० ४०।

अकास ऊँच पताल धरती थी—जहाँ कुछ न कोई था है तहीं
बिठाया अमोलक रतन नूर धर—... ...
अमोलक कलत सेस संसार का—करे काम लिरधार करतार का।।

(२) कुतुबशाही-आदिलशाही युग

सन १४८१ ई० (१५३८ वि०) में बहमनी राज्य-प्रासाद को सुदृढ़ स्तंभ की भाँति सँभालने वाले प्रजापालक, अनन्य राजभक्त, महामंत्री महमूद गवाँ की निर्मम हत्या स्वयं बादशाह की कुप्रेरणा से हो गई। भूल के रहस्योद्घाटन होने पर महमूद भी दूसरे वर्ष प्रायश्चित्त की आग में जल कर चल बसा। इसके बाद बहमनी वंश का पतन आरंभ हो गया और प्रान्तीय शासक स्वतंत्र होने लगे। कहने को बहमनी सुलतानों का नाम १५२४ ई० (१५८१ वि०) तक चलता रहा; किन्तु १४८९ ई० (१५४६ वि०) के पश्चात बहमनी वंश का शासन व्यावहारिक दृष्टि से समाप्त सा हो गया था। १४८९ ई० (१५४६ वि०) में बीजापुर यूसुफ आदिलशाही वंश की और १५१० ई० (१५६७ वि०) में गोलकुंडा में कुतुब-उल-मुल्क ने कुतुबशाही वंश की नींव डाली। अतः १४८९ ई० (१५४६ वि०) से दक्खिनी साहित्य में आदिलशाही-कुतुबशाही युग आरंभ हो जाता है। १६८७ ई० (१७४४ वि०) तक ये दोनों राज्य मुगल राज्य में मिला लिए गए थे, जिससे दक्खिनी साहित्य का यह मध्यकाल समाप्त हो गया।

इस काल में दक्खिनी को विकास करने का अभूतपूर्व अवसर प्राप्त हुआ और उसमें प्रौढ़ साहित्य की रचना हुई। इस काल के काव्य में भक्ति और शृंगार का एक सरस समन्वय मिलता है। उत्तरी भारत में जिस काल में तुलसी का 'मानस' और सूर का 'सागर' हिन्दी साहित्य में तरंगित हो रहा था, उसी समय दक्खिनी साहित्य का स्वर्ग भवन भी निर्मित हो रहा था। सुविधा की दृष्टि से हम इस युग के साहित्य को दो धाराओं में बाँट सकते हैं : (क) आदिलशाही साहित्य धारा और (ख) कुतुबशाही साहित्य धारा।

(क) आदिलशाही साहित्यधारा (१४९०–१६८७ ई०=१५४७–१७४४ वि०)

बीजापुर के आदिलशाही[1] वंश में आठ बादशाह हुए। इस वंश के अधिकांश सुलतान धर्मसहिष्णु, उदारतावादी, सुसंस्कृत, विद्याव्यसनी और कलाप्रिय थे, अतएव इस युग में दक्खिनी साहित्य की धारा प्रौढ़ रूप से विविध दिशाओं में प्रवाहित हुई। बहमनी युग समाप्त होने पर भी

---

१. बीजापुर के आदिलशाही वंश के आठ सुलतान हैं—१. यूसुफ आदिलशाह (१४९०–१५१० ई०=१५४७–१५६७ वि०), २. इस्माइल आदिलशाह (१५१०–१५३४ ई०=१५६७–१५९१ वि०), ३. इब्राहीम आदिलशाह (१५३४–१५५८ ई०=१५९१–१६१५ वि०), ४. अली आदिलशाह (१५५८–१५८० ई०=१६१५–१६३७ वि०), ५. इब्राहीम आदिलशाह द्वितीय (१५८०–१६२७ ई०=१६३७–१६८४ वि०), ६. मुहम्मद आदिलशाह (१६२७–५७ ई०=१६८४–१७१४ वि०), ७. अली आदिलशाह द्वितीय (१६५७–१६७२ ई०=१७१४–१७२९ वि०) और ८. सिकंदर आदिलशाह (१६७२–१६८६ ई०=१७२९–१७४३ वि०)।

दक्खिन में सूफी संत साहित्य की धारा प्रवाहित होती रही। आदिलशाही साहित्यधारा में सर्व-प्रथम सूफी संत कवि ही आते हैं। इनमें शाह मीरांजी शमसुल-उश्शाक, बुरहानुद्दीन जानम और अमीनुद्दीन आला अधिक प्रसिद्ध हैं।

आदिलशाही युग में पद्य रचनाओं के अतिरिक्त गद्य की भी रचनाएँ हुईं। वास्तव में दक्खिनी साहित्य का आरम्भ ही गद्य से होता है। बहमनी युग में गद्य का विकास हुआ, किन्तु आदिलशाही युग में जैसा प्रौढ़ गद्य साहित्य लिखा गया, वैसा इतर मध्यकालीन साहित्य में अलभ्य है।

शाह मीरांजी शम्शुलउश्शाक

शाह मीरांजी का जन्म मक्का में हुआ था। धर्म-प्रचार करने की इच्छा से ये भारत आए और दक्खिन आकर बीजापुर में बस गए। ख्वाजा कमालउद्दीन बियाबानी के शिष्यत्व में रह कर इन्होंने कठिन साधना की और सिद्ध सूफी संत, विद्वान तथा कवि के रूप में प्रसिद्ध हुए। उच्च साधना के कारण ये शमशुल-उश्शाक (भक्तों के सूर्य) कहे जाने लगे। इन्होंने अधिकांश जीवन बीजापुर तथा अंतिम काल बीजापुर के पास शाहपुर में बिताया। यहीं १४९७ ई० (१५५४ वि०) में इनकी मृत्यु हुई।

फारसी-अरबी के विद्वान होने पर भी ये हिन्दवी में ही उपदेश देते थे। गद्य और पद्य दोनों रूपों में इनकी हिन्दवी रचनाएँ मिलती हैं। 'खुशनामा', 'खुशनगंज' तथा 'शहादतुलहकीकत' इनकी पद्य रचनाएँ हैं तथा 'शरहमरगूबउलकलूब' गद्य में लिखी गई है।

'खुशनामा' एक खंडकाव्य है जो मसनवी शैली में लिखा गया है। इसकी नायिका का नाम खुश है जो कवि की पुत्री अथवा अन्य कोई प्रिय संबंधी है। बाल्यावस्था से ही संसार से विरक्त होकर खुश ईश्वरीय प्रेम में तल्लीन रहा करती है। १७ वर्ष की अल्पायु में ही शाहपुर में इस महान प्रेमी भक्त का ईश्वर से महामिलन हो जाता है। खुश की इस महान साधना से ही कवि को इस ग्रंथ-रचना की प्रेरणा मिली होगी। खुश के उदात्त चरित, स्वभाव, साधना और ईश्वर से महा-मिलन का वर्णन करना ही इस ग्रन्थ का उद्देश्य है। परोक्ष रूप से सूफी सिद्धान्तों की व्याख्या भी की गई है।

कवि ने स्वयं इस मसनवी का विस्तार इस प्रकार लिखा है—

इस खुशनामा धरिया नाम, दोहा एक सौ सत्तर।
दस ज्यादा हैं पर हैं सुने, लहे खुशी का छत्तर॥

संभवत: १७० छंदों के अतिरिक्त रचना में दस दोहे हैं। पुत्री और पिता के संवाद के रूप में इसकी रचना हुई है।

नीचे रचना से कुछ उद्धरण दिए जाते हैं। खुश के स्वभाव का वर्णन है—

बाली भोली जीव झवाली मुहबत केरा नूर।
परम पियारी साधु सँघाती तुलना होवे दूर॥
जब वह आई इत संसार खुशी से हुई तमाम।
पगों तब गुरू की लागी लह्या खुश कर नाम॥

हंसा बदनी सोमा नैनी गौर बदन की देखी।
वहुत सत्यापल यह सत्त कलजुग मांही सोवे॥
शाह बोली गुनों की सब पिरत लगावे यह मन मोहे।
कौन बखाने लक्खन इसके न पाया जाने सोहे॥
करत लाड़ चह् चाव सब गोदों की प्यारी।
सत्त संभाले ऐ झंवाले मुहब्बत की हमारी॥

'खुशनगंज' भी एक खंडकाव्य है, जिसमें खुश का जीवन-चरित तथा सूफी सिद्धातों का वर्णन है। यह रचना भी पुत्री-पिता के संवाद के रूप में लिखी गई है। इसमें कुल ७२ या ७३ छंद हैं जो नौ अध्यायों में विभाजित हैं।

प्रथम अध्याय में खुश का ईश्वर संबंधी प्रश्न है तथा पीर द्वारा उसका उत्तर दिया गया है। आठवें अध्याय में अकल (ज्ञान) और इश्क (भक्ति) के संवाद के रूप में साधना के क्षेत्र में दोनों का विवेचन किया गया है। अन्त में दोनों के समन्वय को ही साधना का आदर्श बताया गया है। कवि के अनुसार वह जीवन महान है जो अकल के साथ इश्क को समझ सके और वह जीव महात्मा है जो इश्क की लौ ईश्वर से लगाए। ग्रंथ में जीवन, जगत, जन्म, मृत्यु तथा ईश्वर से महामिलन की साधना का काव्यमय विवेचन सरल से सरल रूप में किया गया है। एक उदाहरण—

खुश पुछे कै कहो मीरांजी आलिम अछे केते।
मीरा कहे सुन जेते तन अच्छे आलिम तेते॥
खुश कहे मुज कहो मीरांजी इश्क बड़ा या बूझ।
पीर कहें मैं आखों बयान इसमें धरना सूध॥

'शहादतुलहकीकत[1]' 'खुशनामा' से भी बड़ी रचना है। इसमें लगभग ६५ पृष्ठ और ५६३ छंद हैं और इसमें भी प्रधानतः तसव्वुफ अथवा सूफी साधना का विवेचन है, साथ ही कवि ने इसमें अपनी वंश-परंपरा आदि पर भी कुछ प्रकाश डाला है।

फारसी-अरबी छोड़कर हिन्दवी में रचना करने का कारण लेखक इस प्रकार बतलाता है—

हैं अरबी बोल केर और फारसी भोतेरे॥
यह हिन्दवी बोलों सब, इस अर्थो भावे सब॥
यह भाका भल सो बोले, पुन इसका भावत खोले॥
× × ×
जो कोई अच्छे खासे, इस बयान केरे प्यासे॥
वे अरबी बोल न जाने, ना फारसी पिछाने॥
यह उमको बचन हेत संत बूझे रेत॥
× × ×
धड़ भाका छोड़ दीजे, चुन मानिक मोती लीजे॥

---

१. इसकी एक प्रति हिन्दुस्तानी एकडेमी, इलाहाबाद में है। प्रति में इसका नाम 'शहादुलहकीक' दिया गया है।

इस नाम है तहकीक, सुन शहादतुल हकीक ।।
इसका अगज दरिया, जी देख नित रहे मरया ।।
सब ही कों केरी खान, ना मोतियों केरी बान ।।
जो होवेगा मुछारा, कुछ जानेगा बिचारा ।।

शाह मीराँजी ने पद्य के साथ-साथ गद्य भी लिखा है। 'शरह मरगूबउलमलूब' इनकी एक छोटी सी प्रसिद्ध गद्य रचना है। आरंभ में हदीस के कुछ संक्षिप्त अनुवाद देकर संपूर्ण रचना को दस अध्यायों में विभाजित किया गया है। हिंदवी अनुवाद के पहले कुरान की मूल आयतें भी दी गई हैं। साहित्यिक दृष्टि से इस रचना का विशेष महत्व नहीं है, किन्तु भाषा के ऐतिहासिक विकास के दृष्टिकोण से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसका गद्य ख्वाजा बंदेनेवाज की अपेक्षा अधिक हिन्दवी या दक्खिनीपन लिए हुए है। भाषा अपेक्षाकृत अधिक निखरी हुई है। फारसी-अरबी के वे ही शब्द प्रयुक्त हुए हैं, जो जनता की जिह्वा पर चढ़ कर घिस घिस कर दक्खिनी या हिन्दवी बन चुके थे। कुछ उदाहरण देखिए—

होर खुदा का सिफत भोत करना भोत सराहना, भोत नवाज़ना जिसने पैदा किया सब आलम कूं होर हमना कूं अकल होर दीन दिया।

× × ×

इश्क सरदार है, इश्क खुलासे मौजूदात है, इश्क साहबे कामलात है, जान भी इश्क है, तन भी इश्क की बात है, शेर पद्य भी इश्क की बात है, बेपरवाई इश्क का घर है, राग इश्क का राज़ है, रंज इश्क का राहत, कैफियत इश्क की जौहर, खुशबो इश्क की बास, हुस्न इश्क का जलवागाह, इस सात गंज से जो कोई मार्का न हुआ वह आशिक नहीं बल्कि आदम भी नहीं।

शाहअली मुहम्मद गाँवधनी

इनके पिता शाह इब्राहीम जानुल्ला भी अपने समय के प्रसिद्ध सूफी संत थे। शाह अली मुहम्मद का जन्म अहमदाबाद में हुआ था। इनकी जन्म-तिथि अज्ञात है। अपने पिता से ही इन्होंने दीक्षा ली और धर्म का प्रचार किया। इन्होंने एक पाठशाला भी खोली थी, जिसमें सामान्य शिक्षा के साथ-साथ धार्मिक शिक्षा भी दी जाती थी। इनकी मृत्यु १५६६ ई० (१६२३ वि०) में हुई।

इनके पदों का संकलन सर्वप्रथम इनके शिष्य अबुलहसन ने किया था। बाद में इनके पोते शाह इब्राहीम बिन शाह मुस्तफा ने संशोधन करके उन्हें पुनः संकलित किया जो 'जवाहरउल असरार'[१] के नाम से प्रसिद्ध हुए।

लगभग १३० पृष्ठों की इस रचना में सूफी सिद्धांतों का ही विवेचन किया गया है। भूमिका

---

१. ग्रंथ की दो प्रतियाँ आसफ़िया लाइब्रेरी, हैदराबाद में और एक प्रति डा० हफीज सैयद, भूतपूर्व सहायक प्रोफेसर, इलाहाबाद यूनिवर्सिटी के पास है। तीनों में यह निश्चय करना कठिन है कि कौन शिष्य द्वारा संकलित है और कौन पोते द्वारा संशोधित है।

भाग में पहले अरबी में ईश्वर की प्रार्थना की गई है। इसके बाद अली मुहम्मद के पोते ने फारसी में कवि का और रचना का परिचय दिया है। बाद में शाह मुहम्मद गाँवधनी के फुटकर पदों का संग्रह दिया गया है। भूमिका में लिखा है कि यह रचना कहीं खुदा की जबान और कहीं इन्सान की जबान में लिखी गई है। इन्सान की जबान से संभवतः जन-सामान्य में प्रचलित हिन्दवी या दक्खिनी जबान से ही तात्पर्य है।

'जवाहरउलअसरार' के कुछ पद दिए जाते हैं—

आप ही खेलूं आप खिलाऊं
आपे ईस तवक्कुल लाऊं।

× × ×

मेरा नांव मुझे अति भावे, मेरा जीव मुंजी पै जावे।
मेरी नेह मुझी कूं माने, रह रह आपन रूप लुभावे॥
कभी सो मजनूं हो बरलावे, कभी सो लैला होय दिखावे।
कभी सो खुसरो शाह कहावे, कभी सो शीरी होकर आवे॥

× × ×

कहीं सो साथी कहीं अली आवे,
अपी मुहम्मद कहीं कहावे।
कहीं सो शाह हुसेनी राजा,
आवे तिल तिल मेरु भरावे॥

शाह बुरहानुद्दीन जानम

ये शाह मीरांजी के सुपुत्र और उत्तराधिकारी थे। इनका जन्म बीजापुर में सन १४५४ ई० (सं० १५११ वि०) में हुआ था। इन्होंने पिता से ही शिक्षा-दीक्षा ली और पिता की मृत्यु के बाद उनका पद प्राप्त किया। ये अरबी-फारसी और दक्खिनी या हिन्दवी के विद्वान थे तथा सूफी साधना के अनुसार भगवद्भक्ति करते थे। लोगों को धर्मोपदेश के साथ-साथ विद्यार्थियों को पढ़ाया भी करते थे। सूफी संत के रूप में दूर-दूर तक इनकी ख्याति फैल चुकी थी, अतएव लोग इनके उपदेश सुनने आते थे। इनका देहान्त शाहपुर में सन १५८३ ई० (सं० १६४० वि०) में हुआ। आज भी इनकी दरगाह पर मुसलमान श्रद्धा-भक्ति के साथ आते हैं।

अपने पिता की भाँति इन्होंने भी गद्य, पद्य तथा दोनों की मिश्रित शैली में रचनाएँ लिखी हैं। इनके नाम से निम्नलिखित ग्रंथ प्रसिद्ध हैं—

'सुखसुहेला', 'इरशादनामा', 'वसीयतुलहादी', 'मनफतुलईमान' तथा 'कलिम्मतुल-असरार' पद्य की रचनाएँ हैं तथा 'इरशादनामा', 'मारफतुलकुलूब', 'हश्तमसाइल' और 'कलमवुबहकायक' गद्य की।

'सुखसुहेला'[1] आठ पृष्ठों की एक छोटी सी रचना है, जिसमें आत्मा और परमात्मा के

१. सुहेला ऐसे काव्य को कहते हैं जिसमें किसी की प्रशंसा की गई हो।

आध्यात्मिक प्रेम की प्रशंसा की गई है। कवि ने सरल भाषा में सूफी भक्ति का विवेचन किया है। एक उदाहरण इस प्रकार है—

अल्ला वाहिद सिरजनहार
दो जग रचना रचिया प्यार।
सकल आलम किया ज़हूर
अपने बातिन केरे ज़हूर।

× × ×

'इरशादनामा' में पद्यात्मक दो सौ पचास पद हैं। अपने पिता की भाँति ही कवि ने इसमें प्रश्नोत्तर की शैली अपनाई है। शिष्य प्रश्न करता है और गुरु उसका उत्तर देता है। सरल हिन्दवी या दक्खिनी में कवि ने सूफी साधना की अभिव्यक्ति की है।

फारसी-अरबी छोड़, हिन्दवी में रचना करने के कारण कट्टर मुसलमान इनके प्रति रोष प्रकट करते थे। संभवतः ऐसे ही लोगों को संबोधित कर प्रस्तुत काव्य में निम्नलिखित पंक्तियाँ लिखी गई हैं—

ऐब न राखे हिन्दी बोल, माने तू चल देख टटोल।
क्यों ना लेवे इसे कोय, सुहावना चितवर जो होय।

कवि ने इसका रचना-काल स्वयं इस प्रकार लिखा है—

हिजरत नौसद नव्वद मान
इरशादनामा लिखिया जान।

इस प्रकार इसका रचना-काल ९९० हिजरी के आसपास पड़ता है।

'वसीयतुलहादी' नामक लगभग १४ पृष्ठों के प्रसिद्ध ग्रंथ में कवि ने धार्मिक जीवन की महत्ता पर बल दिया है। इसमें ईश्वर की महत्ता, ईश्वर-जीव का भेद तथा आत्मा की साधना और पवित्रता का वर्णन किया गया है। एक उदाहरण इस प्रकार है—

यह रूप प्रगट आप छिपाया, कोई न पाया अंत।
माया मोह में सब जग बंधिया, क्यूंकर सूझे पंथ।
× × ×
चलने का पी नेम न होवे, यह तो शाह फोकट खाया।
इस घात उमर खर्च कीता, आखिर फिर पछताया।

'मनफलतुलईमान' १२० पदों की रचना है जिसमें ईश्वर, नबी और पैगंबर की महत्ता बता कर भगवद्भक्ति की महिमा का वर्णन किया गया है। उदाहरणार्थ—

गुन आदम का न हात चढ़े
रे क्यों कहना इंसान।।

सूरत पर ऐतबार न राखे
जैसे है हैवान।
लोकां यह मत कुछ हो अधीन
जिस बूझ वकत हो लावे दीन।

चार गद्य ग्रंथों—'इरशादनामा', 'मारफ़तुलकलूब', 'हश्तमसायल' और 'कलमवुहकायक' का नामोल्लेख ऊपर किया जा चुका है। पहली तीन रचनाओं में सूफी सिद्धांतों का विवेचन हुआ है, चौथी रचना में भी लगभग १५० पृष्ठों में प्रश्नोत्तर के रूप में सूफी धर्म का ही विवेचन है। इनका गद्य अपने पिता से भी अधिक निखरा और साफ-सुथरा है और गद्य के विकास की कड़ी को आगे बढ़ाता है। 'कलमवुहकायक' का एक उदाहरण है—

प्रश्न—यह तन अलहदा दिसता व लेकिन जेता विकार सो टूटने नहीं बल्कि स्वतंत्र विकार रूप दिसता है यक तिल करार नहीं ज्यों मुक्त रूप...।

उत्तर—इसका नांव सो मुमकिन उल वजूद दूसरा तन ओ भी कि इस इन्द्रिय का विकार व चेष्टा करनहारा सोई तन नहीं तो यू खाक व सुख दुख मागनहारा जेता विकार रूप वही दूसरा तन तूं नजर को देख यह तन फ़हम सूं गुज़र्‌या तो गुण उसके क्या रहे...।

अमीनुद्दीन आला

ये शाह बुरहान के सुपुत्र और शिष्य थे। धर्म-साधना और साहित्य-साधना अपने पूर्वजों से इन्हें उत्तराधिकार के रूप में मिली थी। ये जन्म से ही वली थे और इनकी साधना से संबंधित अनेक चमत्कारिक कहानियाँ कही जाती हैं। अपने पिता और पितामह की भाँति इन्होंने भी गद्य और पद्य दोनों में रचनाएँ की हैं। १६७५ ई० (१७३२ वि०) में बीजापुर में इनकी मृत्यु हुई। 'मुहब्बतनामा' तथा 'रम्जुस्सालिकीन', इनकी दो रचनाएँ प्रसिद्ध हैं। इन्होंने अपने पिता तथा पितामह पर कुछ कसीदे भी लिखे हैं। अपने पूर्वजों की अपेक्षा ये अधिक उच्च श्रेणी के कवि हैं। इनकी कविता में सरसता और प्रवाह दोनों मिलते हैं। इनकी वर्णन-शैली भी साहित्यिक है। इनके स्फुट पद 'हकीकत' के नाम से प्रसिद्ध हैं। नीचे कुछ उदाहरण दिए जाते हैं—

आशिक अदना ज्यूं पतंग, आला मोमबत्ती का रंग।
ज्यू पतंगा देख पड़ता ना, आप जल कर हुए फ़ना।
हक़ की राह में पकड़ यकीन, क्यूं ना इसको होवे ऐन।

× × ×

ऐ सुभान दे तूं मुझे ग्यान, मैं देखों तुझकूं पहचान !

× × ×

तन मन मेरा है तुझ पर फ़िदा।
हरदम मिल रहूँ तुझसों सदा।
नार कि मुझ कों तुझसों जुदा।

अपने पिता और पितामह की भाँति अमीनुद्दीन आला ने भी पद्य और गद्य दोनों में रचनाएँ की हैं। इनकी तीन गद्य रचनाएँ प्रसिद्ध हैं—'रिसाला गुफ्तारशाह अमीन', 'गंगमरवफी', और 'रिसाला मजबुलसालकीन'। इनके ग्रंथों में सूफी साधना का विवेचन किया गया है। जिस प्रकार ये कविता में अपने पिता और पितामह से आगे बढ़ जाते हैं, उसी प्रकार इनकी गद्य-रचना में भी अधिक निखार, एकरूपता और प्रवाह मिलता है।

'रिसाला मजबुलसालकीन' कई दृष्टियों से एक महत्वपूर्ण गद्य रचना है। इसमें लेखक ने संस्कृत के वेदान्त, पुराण और फारसी-अरबी के धार्मिक ग्रंथों के उदाहरण देकर एकेश्वरवाद के दार्शनिक विचार का समर्थन किया है। विद्वान लेखक ने ऋग्वेद और यजुर्वेद की तुलना कुरान और इंजील से की है। ग्रंथ के महत्व पर लेखक स्वयं प्रकाश डालता हुआ कहता है—

> हर एक के काम आवे, इसका जल्द हक़ ताले के फज़ल से अपने मतलब को पावे।
>
> × × ×
>
> मजहब हमारा सूफ़िया होर मशरफ़ हमारा दीद है तो दिल में आया कि बयान करूँ हर दो कौम के सूफियां का दखिनी ज़बान सूं।
>
> × × ×

लेखक सब धर्मों की समानता का समर्थन इस प्रकार करता है—

> ऐ आरिफ सुन मैंने वहुत सूफ़ियाने दानिशमन्द, पंडित ज्ञानी... ...इन सबों से हम मजलिस होके गुफतगू किया तो सिवाय लफ़्ज़ों के कुछ तफावत नहीं देखिया। जैसा के कोई पानी कूं मेंह कहते, कोई आब कहते, होर कोई नीर कहते। कोई सीतल कहते होर कोई जल कहते। इन सबों को जमा करके देखे तो मतलव मुराद पानी है। यूं हर एक कौम अपनी अपनी जबान में अलहदा अलहदा नाम रखे... ... ...

पुस्तक के अंत में लेखक ने कई हिन्दी शब्दों के अर्थ सरल भाषा में इस प्रकार बताए हैं—

ऋग्वेद	—	किताबे तौरेत
ब्रह्मादवेद	—	मूसा पैगंबर की किताब
ब्रह्मांड	—	वजूद
अवस्था	—	हाल
यजुर्वेद	—	किताब इंजील
श्याम वेद	—	किताब जंबूर
अथर्ववेद	—	दाऊद पैगंबर
अंतरंगवेद	—	कुरान
अशुरदेव	—	मोहम्मद साहब आदि

आदिलशाही सुलतान और हिन्दवी

बीजापुर के आदिलशाही सुलतान उदारतावादी, विद्याव्यसनी और कलाप्रिय थे। वे विद्वानों और कवियों को संरक्षण देते थे, साथ ही कई आदिलशाही नरेश स्वयं उच्च कोटि के कवि और कलाकार भी थे। बहमनी सुलतानों की राजभाषा दक्खिनी ही थी, किन्तु यूसुफ आदिलशाह

और उसके पुत्र इस्माइल आदिलशाह (१५१०–१५३४ ई० = १५६७–१५९१ वि०) ने फारसी को राजभाषा बनाया। इस प्रकार लगभग ५० वर्ष तक फारसी को राज्याश्रय मिला। किन्तु इब्राहीम आदिलशाह प्रथम (१५३४–१५५८ ई० = १५९१–१६१५ वि०) ने दक्खिनी हिन्दवी को राजभाषा घोषित किया। आदिलशाह प्रथम (१५५८–१५८० ई० = १६१५–१६३७ वि०) ने पुनः फारसी को अपनाया; किन्तु इब्राहीम आदिलशाह द्वितीय (१५५०–१६२६ ई० = १६३७–१६८३ वि०) ने फिर हिन्दवी को प्रचलित किया और तब से आदिलशाही राजवंश के अंतिम दिनों तक यही राजभाषा बनी रही। दक्खिनी साहित्य के विकास की दृष्टि से इब्राहीम आदिलशाह द्वितीय और अली आदिलशाह द्वितीय (१६५६–१६७६ ई० = १७२३–१७३३ वि०) का काल विशेष महत्वपूर्ण है।

इब्राहीम आदिलशाह द्वितीय (१५८०–१६२६ ई० = १६३७–१६८३ वि०) आदिलशाही वंश में सर्वाधिक विद्याव्यसनी, काव्यकला-प्रेमी तथा अत्यधिक लोकप्रिय शासक थे। काव्यकला का संरक्षक होने के साथ-साथ वे स्वयं उच्च कोटि के संगीतज्ञ और कवि थे। भारतीय संगीत उन्हें बहुत प्रिय था। प्रसिद्ध है कि लगभग तीन सहस्र संगीतज्ञ उनके दरबार से संबंधित थे। फारसी का प्रसिद्ध कवि जहूरी जो १५८० ई० (१६३७ वि०) में भारत आया था, अपने जीवन के अंतिम दिनों तक (१६१६ ई० = १६७३ वि०) इन्हीं के दरबार में रहा। संगीत में लोग उन्हें जगद्गुरु कहते थे। भारतीय रागों पर 'नवरस' नाम से इन्होंने एक काव्य सन १०२२ हिजरी में लिखा। इसमें भारतीय रागों का विवेचन संस्कृतनिष्ठ हिन्दवी में किया गया है और भारतीय संगीत शास्त्र के शब्दों को ज्यों का त्यों रखा गया है। यह वह युग था जब उत्तरी भारत में काव्यभाषा के रूप में ब्रजभाषा का प्रभुत्व था, अतः 'नवरस' की हिन्दवी ब्रजभाषामिश्रित है। कहा जाता है कि 'नवरस' का नाम इतना अधिक लोकप्रिय हुआ कि नौरसपुर नाम से एक बड़ा नगर बस गया, शाही महल नौरसमहल कहा जाने लगा, शाही मुहर नौरसी सिक्का हो गई, तथा कलाकार नौरसी उपाधि धारण करने लगे। फारसी कवि जहूरी ने 'सेहनस्र' नाम से इसकी भूमिका फारसी गद्य में लिखी। इसका एक उदाहरण देखिए—

> कल्यानी रमनी पीवर कुचा तन्वांबरी
> मृगनयनी बाहां तन्वी स्यामकेस बदनी हिमकरा ॥१२३॥
> कान्ता कम बसन्ती बाली लज्जा उर
> दुरषा पशंती रोमावली नीत कंचुकी चित्र वस्तर ॥१२४॥

बादशाह मुहम्मद आदिलशाह और उनकी धर्मपत्नी दोनों कलाप्रिय थे। इनके पश्चात अली आदिलशाह द्वितीय गद्दी पर बैठे। इन्होंने भी दक्खिनी को ही राजभाषा बनाए रक्खा और दक्खिनी कवियों को राजाश्रय प्रदान किया। आदिलशाही काल में नुसरती, रुस्तमी दौलत, शाह मलिक, अमीन, मोमिन, सनाती, मुल्कशुशनूदा, मिर्जा, शेख, आदि प्रसिद्ध कवि हुए।

रुस्तमी

ये फारसी और दक्खिनी दोनों में कविता लिखते थे। मुहम्मद आदिलशाह की धर्मपत्नी के अनुरोध पर इन्होंने १६४९ ई० (१७०६ वि०) में 'खावरनामा' नाम का एक प्रबन्ध

काव्य लिखा। कवि ने चौबीस सहस्र छंदों का एक विशाल प्रबन्ध काव्य केवल डेढ़ वर्ष में पूरा किया। वास्तव में यह एक फारसी ग्रंथ का अनुवाद है, किन्तु कवि ने ऐसी कुशलता और सुन्दरता से इसका अनुवाद किया है कि इसमें मौलिक काव्य-सौन्दर्य अपने आप आ गया है। इसकी भाषा सरल और शैली मनोहर है।

नुसरती

ये इस युग के सर्वोच्च कवि हैं। कहा जाता है इनकी जन्मभूमि बीजापुर में थी। कर्नाटक में बहुत दिन तक रह कर ये मुहम्मद आदिलशाह के राज्यकाल में दरबार में आए और अली आदिलशाह द्वितीय के समय में राजा द्वारा मलिकुश्शोअरा (कविराय) की उपाधि से विभूषित हुए। यह प्रसिद्ध है कि कर्नाटक के ये किसी ब्राह्मण-परिवार से संबंधित थे। इन्होंने अपनी कविता में गेसुएदराज की अनेक बार चर्चा की है, जिससे कुछ लोगों का अनुमान है कि संभवत: ये उन्हीं के परिवार से संबंधित हो सकते हैं। संभव है इनकी मूल वंश-परम्परा किसी ब्राह्मण-परिवार से मिल जाती हो।

नुसरती ने मसनवी शैली में तीन काव्य ग्रंथों की रचना की—'अलीनामा', 'गुलशनेइश्क' और 'तारीखेसिकन्दरी'।

'अलीनामा' १६५६ ई० (१७१३ वि०) में लिखी गई लंबी मसनवी है, जिसमें अली आदिल शाह द्वितीय का जीवन-चरित विस्तार से वर्णित है। इसमें हमें आदिलशाह की विजय तथा उसके राग-रंग के अतिरिक्त पश्चिमी भारत का एक जीता-जागता काव्यात्मक चित्र मिल जाता है। अत: साहित्यिक महत्व के अतिरिक्त इसका ऐतिहासिक महत्व भी कम नहीं है। 'अलीनामा' की भाषा-शैली भी महान है। संग्राम-चित्रण में कवि को पूर्ण सफलता मिली है। खेद है कि ऐसा मूल्यवान ग्रंथ अभी भी अप्रकाशित है। वास्तव में यह हिन्दवी की एक महान रचना है। 'पृथ्वीराजरासो' की भाँति इसमें भी संरक्षक राजा के जीवन संबधी सभी अंगों का चित्रण हुआ है।

'गुलशनेइश्क' एक प्रेमाख्यानक काव्य है, जिसमें मनोहर और मधुमालती के प्रेम की कहानी कही गई है। यह प्रेम-कथा उस समय दक्खिनी भारत में लोकप्रिय थी। कई फारसी कवि भी इसे लिख चुके थे। नुसरती ने १६५७ ई० (१७१४ वि०) में इसी को अपनाकर कुछ नवीनता के साथ दक्खिनी में 'गुलशनेइश्क' के नाम से लिखा। इसकी भाषा ललित उपमाओं और रूपकों से अलंकृत है। कहीं-कहीं फारसी-अरबी का भी मिश्रण मिलता है। कुछ अंश अति सरल और कुछ अति गंभीर तथा उच्च स्तर के हैं।

'तारीखेसिकन्दरी' नुसरती की तीसरी रचना है, जिसकी खोज अभी कुछ ही दिन पूर्व हुई है। यह अपूर्ण है और संभव है कि १६८७ ई० (१७४४ वि०) में बीजापुर के विनाश अथवा नुसरती की मृत्यु के कारण यह पूर्ण न हो सकी हो। दूसरे कवियों की भाँति नुसरती भी अपनी काव्यभाषा को हिन्दवी या हिन्दी कहते हैं। फारसी-अरबी शब्दों का प्रयोग होने पर भी वास्तव में उनकी भाषा का स्वरूप हिन्दवी ही है। नुसरती ने कुछ फुटकर कसीदे भी लिखे हैं। इनकी कविता का एक उदाहरण 'गुलशनेइश्क' से दिया जाता है —

उधर साथ थी माँ के मधुमालती, उधर माँ के संगात चंपावती।
बहुत दिन कों जिस बात बिछुड़े-मिले, यकस एक लगाए चंगुल कर गले॥

हाशिमी

इनकी गणना बीजापुर के प्रसिद्ध कवियों में की जाती है। इनका वास्तविक नाम सैयद मीरां और उपनाम हाशिमी था। कहा जाता है कि ये जन्मांध थे, किन्तु फिर भी महान प्रतिभावान थे। अपने गुरु की आज्ञा से इन्होंने 'युसुफजुलेखा' नामक मसनवी की रचना की। इनकी मृत्यु १६९७ ई० (१७५४ वि०) में हुई। 'यूसुफ जुलेखा' इनकी प्रसिद्ध मसनवी है, जिसमें लगभग १२ हजार पक्तियाँ हैं। यह मसनवी एक फारसी मसनवी पर आधारित है। हाशिमी की काव्य शैली अति मधुर तथा मनोरम है। भारतीय प्रेम-परंपरा के अनुसार इनके नारी पात्रों का प्रेम-निवेदन, विरह-वर्णन आदि अत्यन्त मार्मिक हुआ है। इनकी भाषा शैली सरल तथा आकर्षक है। कहा जाता है कि इनके कुल्लियात में स्वरचित गजलें, कसीदे, मर्सिये, रुबाइयाँ आदि संकलित थीं, किन्तु यह दीवान अब अप्राप्य है। कुछ लोगों का विचार है कि हाशिमी रेखती के जन्मदाता हैं, किन्तु यह भ्रम है। इनका एक उदाहरण नीचे दिया जाता है—

सुना हम्द इसकों सजावार है,
सगल इश्क़ का जिसको विस्तार है।

क़ुतुबशाही साहित्यधारा (१५१०-१६८६ ई० = १५६७-१७४३ वि०)

बीजापुर की आदिलशाही की भाँति गोलकुंडा की कुतुबशाही की स्थापना बहमनी राज्य के टूटने पर १५१० ई० (१५६७ वि०) में कुली कुतुबउलमुल्क द्वारा हुई। इस वंश में कुल आठ सुलतान हुए। ये सुलतान भी उदार, धर्म-सहिष्णु तथा काव्य-कला प्रेमी थे। हिन्दुओं के साथ उनका घनिष्ठता का संबंध था। कई सुलतानों ने हिन्दू रानियों से विवाह किया था। इनके राज्य में भी हिन्दवी या दक्खिनी ही राजभाषा थी।

मुहम्मद क़ुली क़ुतुबशाह (१५८०—१६११ ई० = १६३७—१६६८ वि०)

महासैनिक होने के साथ-साथ महाकवि की विभूति से विभूषित कुली कुतुबशाह १२ वर्ष की आयु में ही सिंहासनारूढ़ हुए। वे सम्राट अकबर के समकालीन थे। १५८७ ई० (१६३७ वि०) में उन्होंने बीजापुर के सुलतान इब्राहीम आदिलशाह के साथ अपनी बहन का विवाह करके मैत्री संबंध स्थापित किया। कुली कुतुब के पिता इब्राहीम कुली को साहित्य और स्थापत्य दोनों से विशेष रुचि थी। इब्राहीम के राज्य-काल में अनेक सूफी संत, फकीर, धर्म-प्रचारक, विद्वान और कवि-कलाकार आश्रय पाते थे। साहित्य और स्थापत्य का प्रेम कुली कुतुब को अपने पिता से संस्कार के रूप में मिला था। युद्ध की अपेक्षा कुली कुतुब को ललित कलाओं से विशेष प्रेम था। अपनी प्रेयसी भागमती के नाम पर ही इन्होंने भागनगर नामक नगर बसाया था। कालांतर में उसे ही हैदरमहल के नाम से संबोधित कर हैदराबाद नाम प्रसिद्ध

किया गया। अरब और भारत के राज-दरबारों से आकर अनेक कवियों और विद्वानों ने इनके यहाँ आश्रय लिया था।

सुलतान स्वयं कवि-कलाकार थे और कवि-कलाकारों का सम्मान करते थे। विद्वानों में वाद-विवाद, कवियों में काव्य-चर्चा अर्थात मुशायरे आदि के लिए सुलतान ने एक विशेष समय निश्चित कर दिया था। इस काव्य-शास्त्र-विनोद के अतिरिक्त सुलतान धार्मिक वाद-विवाद भी कराया करते थे। सुलतान स्वयं शिया धर्म के अनुयायी थे, अतएव उनके शासन-काल में शिया धर्म को विशेष प्रोत्साहन मिलता था। जिस प्रकार ईद, मुहर्रम, शबरात आदि मुसलमानी त्योहारों में सुलतान प्रेम के साथ सम्मिलित होते थे, उसी प्रकार हिन्दुओं के होली-दीवाली तथा वसंतोत्सव आदि त्यौहारों में भी प्रेमपूर्वक सम्मिलित होते थे। इस प्रकार दक्खिनी साहित्य के ये पहले कवि हैं जिन्होंने भारतीय जीवन में डूब कर अपनी कविताएँ लिखी हैं। इन्होंने कविता की प्रेरणा राजमहलों की अपेक्षा व्यापक जन-जीवन से अधिक पाई थी।

मुहम्मद कुली फारसी, अरबी, दक्खिनी अर्थात हिन्दवी, मराठी, कन्नड़, तेलुगु आदि अनेक भाषाओं के ज्ञाता थे। फारसी, दक्खिनी और तेलुगु, तीनों भाषाओं में ये कविता करते थे। इनकी कविताएँ फारसी में कुतुबशाह, दक्खिनी में मआनी और तेलुगु में तुर्कमान के उपनाम से मिलती हैं। इनकी कविताओं का लगभग १८०० पृष्ठों का एक बृहत संग्रह हैदराबाद से 'कुल्लियातकुली कुतुबशाह'[१] के नाम से प्रकाशित हुआ है। कहा जाता है कि कुली कुतुब ने लगभग एक लाख शेर या पद कहे थे। कुल्लियात में फारसी और दक्खिनी, इन दो भाषाओं की कविताएँ संग्रहीत हैं। इनकी तेलुगु कविता के संबध में अभी तक विशेष जानकारी नहीं मिल पाई है, किंतु यह निश्चय है कि तेलुगु में इन्होंने कविताएँ अवश्य लिखी हैं, क्योंकि इनकी माँ तेलुगु-भाषी थीं और इस कारण तेलुगु का इन्हें पूर्ण ज्ञान था। कुली कुतुबशाह ने गजल, कसीदा, मसनवी, मर्सिया, रुबाइयाँ, सभी प्रकार की कविताएँ लिखी हैं।

कुली कुतुब के वर्ण्य विषय में व्यापकता और विविधता मिलती है। भारतीय जीवन की गहराई में डूब कर इन्होंने कविता की रत्न-राशि का संकलन किया था। अतएव इनके काव्य में जीवन का एक व्यापक, सर्वांगीण, सतरंगी चित्र अंकित हुआ है। इनकी कविताएँ स्थानीय रंग में रँगी हैं। इनके काव्य में तत्कालीन युग से संबंधित आचार-विचार, रहन-सहन, आमोद-प्रमोद, फल-फूल, व्रत-त्यौहार, रीति-रिवाज तथा जीवन की अन्य समस्याएँ परोक्ष अथवा अपरोक्ष रूप से चित्रित हुई हैं। इस प्रकार हिन्दू-मुसलिम संस्कृति का एक आकर्षक संगम कुली कुतुब के काव्य में उतर आया है।

कुली के काव्य में भावों की भी विविधता और व्यापकता है। यदि एक ओर सूफी संतों के रहस्यात्मक पारलौकिक प्रेम के चित्रण हैं, तो दूसरी ओर इहलौकिक प्रेम का सतरंगी रंग इनकी

---

१. कुली कुतुबशाह की कविताओं का संकलन पहले राजकीय पुस्तकालय में विद्यमान था। यह प्रति सुलतान के समय में ही तैयार की गई थी। अभाग्यवश राजकीय पुस्तकालय की प्रति खो गई। अतः सालारजंग पुस्तकालय में जो हस्तलिखित दीवान था, उसी के आधार पर डा० मोहीउद्दीन कादिरी ने यह संकलन प्रकाशित किया है।

भाव-भूमि में चित्रित हुआ है। कुली कुतुब प्रेमी जीव थे। कहा जाता है इनके १२ रानियाँ थीं। उन सबके विषय में इन्होंने कविताएँ लिखी हैं।

भाषा-शैली में स्थानीय रंग गाढ़ा है। लौकिक प्रेमानुभूति से कवि पारमार्थिक प्रेमाभिव्यक्ति की ओर झुकने लगता है, तब मानो प्रेम के हिंडोले में वह कभी इस लोक की ओर झूलता है और कभी परलोक की ओर। काव्य में सूफी भक्ति-भावना तथा लौकिक शृंगार-भावना, दोनों की भावानुभूति को अभिव्यक्ति मिली है।

सुन्दरियों का नख-शिख-वर्णन हिन्दी और संस्कृत कवियों की शैली में ही किया गया है। हिन्दी कवियों की प्रेमाभिव्यक्ति की प्रणाली इनकी कविताओं में विशेष रूप से मिलती है। पता नहीं, कवि ने सूर, तुलसी, मीरां आदि की हिन्दी कविताओं का अध्ययन किया था या नहीं, किन्तु हिन्दी शब्द-प्रयोग, हिंदी रूपक-उपमाएँ, फारसी शब्दों को देशी रूप देना, जनभाषा में ईश्वर की प्रशंसा, हिन्दू शूर-वीरों और हिंदी कवियों की भाँति हिन्दू कथाओं का वर्णन, स्त्री की ओर से पुरुष के प्रति प्रेम-प्रदर्शन आदि, सब बातें इनकी रचनाओं में मिलती हैं। फारसी साहित्य के भी विषय, भाव, शब्द, मुहावरे, प्रयोग, रूपक, उपमाएँ तथा छंद अपनाए गए हैं; किन्तु वे सब देशी रंग में रँग दिए गए हैं; कहीं भी पांडित्य-प्रदर्शन की प्रवृत्ति नहीं है। सरल से सरल और मधुर से मधुर भाव सरल से सरल भाषा में पिरो कर अभिव्यक्त करने में कुली कुतुब की कला-कुशलता प्रकट हुई है।

जिस प्रकार कुली के भावों में भारतीयता है, उसी प्रकार उनकी भाषा में भी पूर्ण रूप से भारतीयता मिलती है। वह आज की हिन्दी-उर्दू नहीं है; वरन निश्चयत: वह शुद्ध मध्यकालीन हिन्दवी या दक्खिनी है, जिसमें तद्भव रूपों का प्राधान्य है; फारसी, अरबी और संस्कृत के शब्द उसी तद्भव रूप में प्रयुक्त हुए हैं, जिस रूप में उस समय की जनता बोलती थी। मराठी और तेलुगु के शब्दों का भी प्रयोग हुआ है, किन्तु उनकी संख्या बहुत न्यन है।

भाषा में भावाभिव्यंजन की पूर्ण शक्ति है। माधुर्य और प्रसाद गुण ही उसका आभूषण है। अलंकारों के बोझ से बोझिल बनाकर कृत्रिम प्रसाधन का सहारा कवि ने बहुत ही कम लिया है। भाषा स्वाभाविक और सरल है।

विषय, भाव, भाषा सब प्रकार से कुली कुतुब दक्खिनी के अमर कवि हैं। दक्खिनी साहित्य उनसे गौरवान्वित हुआ है। नीचे कुछ उदाहरण दिए जाते हैं—

ईश्वर की प्रशंसा

चंद्र सूर तेरे नूर थे, निस दिन को नूरानी किया।
तेरी सिफ़त किन कर सके, तूं आपी मेरा है जिया।
तुज नाम मुँज आराम है, मुँज जीव सो तुज नाम है।
सब जग को तुज सो काम है, तुज नाम जप माला हुवा।

× × ×

जीता हूँ तेरी आस थे, आया है रहम आकास थे।
जे कुच मांगूँ तुज पास थे, सोहै सो मुँज को तू दिया।

—कुल्लियात, भाग १, ५—३।

बसंत

बसंत आया सकी जूं लाल गाला।
..............कुसुम चोला।
पपीहा गावत है मीठे बैना।
मधुर रस दे अधर फुलका पियाला।
× × ×
गरज बादल थे दादुर गीत गावे।
कोयल कूके सुफल बन के ख्याला।
सदा सेवा करें ऐसी गुसाईं।
दलिद्दर दूर कर करता निहाला।

—वहीं, पृष्ठ १३६।

नख-शिख

चंदमुख तुज लाल लब है दसन जूं तो तारे हैं।
कहो यह चांद कां का है किस असमां थे उतारे हैं।

—वहीं, पृ० २७४–२७५।

मुहम्मद क़ुतुबशाह (१६११-१६२४ ई० = १६६८-१६८१ वि०)

कुली कुतुबशाह के भतीजे मुहम्मद कुतुबशाह भी एक बड़े कवि थे। सन १६११ ई० (१६६८ वि०) में वे सिंहासनारूढ़ हुए और १६२४ ई० (१६८१ वि०) में उनका देहान्त हो गया। अनेक कवि उनके दरबार की शोभा बढ़ाते थे।

मुहम्मद कुतुबशाह जिल्लुल्लाह नाम से कविता करते थे। अपने चाचा की भाँति ये भी सब प्रकार की कविताएँ लिखते थे। इनकी कविता भी स्थानीय रंग और उपमाओं से भरी है। इनकी कविताओं का संग्रह भी अब प्राप्त हो गया है। इनकी कविता में भी वही मधुरता, सरसता और सरलता पाई जाती है जो कुली कुतुब की कविता में मिलती है।

अब्दुल्ला क़ुतुबशाह (१६२५-१६७४ ई० = १७८२-१७३१ वि०)

मुहम्मद कुतुबशाह के पुत्र अब्दुल्ला कुतुबशाह भी कवि थे। उनकी कविताओं का संग्रह भी प्राप्त हो गया है। यद्यपि वे स्वयं बहुत बड़े कवि नहीं थे, किन्तु उनके संरक्षण में कई महाकवि और लेखक जीवन-यापन करते थे। उनके दरबारी कवियों में गौव्वासी, कुत्बी, इब्नेनिशाती, तबई, जुनैदी और अमीन अधिक प्रसिद्ध हैं।

इस राजवंश के अंतिम सुलतान **अब्दुलहसन तानाशाह** (१६६५-१६८६ ई० = १७२२–१७४३ वि०) थे। उनका सारा जीवन मुगलों से संघर्ष करते बीता और अंत में औरंगजेब के द्वारा गोलकुंडा राज्य का विनाश हो गया। तानाशाह कवि थे, किन्तु उनका कोई काव्य-संग्रह प्राप्त नहीं है।

कुतुबशाही राज्यकाल में अनेक कवियों और लेखकों ने दक्खिनी साहित्य को समृद्धिशाली बनाया। उनमें से कुछ मुख्य कवियों का विवेचन प्रस्तुत किया जाता है।

वजही

ये कुली कुतुबशाह के राज्य-काल के महान कवि थे तथा पद्य और गद्य दोनों रूपों में उन्होंने साहित्य-सरोवर को आपूर्ण किया है। १६०८ ई० (१६६५ वि०) में लिखी गई 'कुतुबमुशतरी' नाम की बड़ी मनोरंजक मसनवी इनकी मुख्य काव्य-कृति है। वजही की उर्वर काव्य-कल्पना पर आधारित यह एक प्रेमाख्यानक काव्य है। इसका नायक कुली कुतुबशाह है। कहानी के बहाने कवि ने सुलतान की वीरता, उदारता, दानशीलता और प्रेम-भावना को चित्रांकित किया है। इनकी काव्य-प्रतिभा को देखकर ही राजा ने इन्हें अपना मित्र और दरबारी बनाया था। इस रचना में भाषा के संबंध में बहुत स्वतंत्रता से काम लेकर, फारसी, अरबी और संस्कृत के शब्द दक्खिनी में ढाल कर प्रस्तुत किए गए हैं। इसकी भाषा बहुत सरल न होने पर भी क्लिष्ट नहीं है। उदाहरणार्थ—

छिपी रात उजाला हुआ दीन का।
लगा जग करन सेव परमेसरा॥
जो आया झलकता सूरज दाहकर।
अंधेरा जो था सो गया न्हात कर॥
सूरज यूं है रंग आसमानी मने।
कि खिल्या कमल फूल पानी मने॥

वजही ने १६३५ ई० (१६९२ वि०) में 'सबरस' नाम से एक महान गद्य ग्रंथ लिखा, जिसमें सूफी साधना के गूढ़ विचार प्रतीकों के रूप में साहित्यिक सरसता के साथ प्रस्तुत किए गए हैं। 'सबरस'[1] दक्खिनी गद्य-साहित्य की उत्कृष्ट कृति कही जा सकती है।

'सबरस' एक फारसी गद्य पुस्तक 'हुस्नोदिल' पर आधारित कही जाती है। इससे भी पूर्व फातही ने 'दस्तूरइश्शाक' नाम की एक मसनवी लिखी थी जिसका विषय भी कुछ इसी प्रकार का है। किन्तु लेखक ने इस ग्रंथ को इस प्रकार लिखा है कि यह एक नितान्त मौलिक रचना जान पड़ती है।

कहानी लगभग ३०० पृष्ठों में समाप्त हुई है। संक्षेप में कथा इस प्रकार है: अक्ल पच्छिम का और इश्क पूर्व दिशा का बादशाह था। अक्ल के पुत्र का नाम दिल और इश्क की पुत्री का नाम हुस्न था। बेटा जब सयाना हुआ तो अक्ल ने उसे शहर तन (शरीर) का शासक बना दिया। दिल आबेहयात (जीवनामृत) की तलाश में निकल पड़ता है। अपने एक जासूस नजर के कहने से वह हुस्न के देश में पहुँचा। वहाँ के बादशाह ने उसे बंदी बना लिया। अनेक संघर्षों के बाद दिल और हुस्न का विवाह हुआ। कहानी के अन्य पात्र नजर, नामूस (बदनामी), हिम्मत, जुल्फ, हमजा, वहम, रकीब आदि हैं।

---

१. यह ग्रंथ डॉ० अब्दुलहक ने १९३२ ई० (१९८९ वि०) में हैदराबाद से प्रकाशित कराया था। अब हिन्दी प्रचार सभा, हैदराबाद की ओर से इसका हिन्दी रूपान्तर भी प्रकाशित हो गया है।

कहानी में सूफी साधना की गूढ़ दार्शनिक समस्याओं को इन प्रतीकों के माध्यम से अत्यंत रोचक तथा सरस साहित्यिक शैली में समझाने का प्रयास किया गया है। इस रहस्यमय कथा में प्रेम, सौन्दर्य, बुद्धि और हृदय को प्रतीक बना कर जीवन के सभी नैतिक पक्षों पर प्रकाश डाला गया है। कहानी की महत्ता इसी में है कि सूफी साधना और साहित्यिकता का स्वर्णिम समन्वय इसमें मिलता है।

वजही के गद्य को हम तुकान्त गद्य कह सकते हैं। वजही इस पर स्वयं गर्व करते हुए कहते हैं —

"आज लग न कोई इस जहान में, हिन्दुस्तान में, हिन्दी जबान में इस लताफत, इस छंदों से नज्म और नस्र मिला कर, गुला कर नहीं बोल्या।"

वजही की गर्वोक्ति सब प्रकार से उचित है, क्योंकि हिन्दी या हिन्दवी में इसके पूर्व ऐसी कलात्मक सुन्दर शैली में कोई गद्य-रचना नहीं लिखी गई। भाषावैज्ञानिक और साहित्यिक दोनों दृष्टियों से वजही का 'सबरस' दक्खिनी की अमर कृति मानी जाएगी। इसका एक उदाहरण देखिए—

"वही है काम के जिसके काम ते नफा कोई पाए। एता जत जो धरते हैं, लोगां बाग जो करते हैं, सो इसी च खातिर करते हैं के कोई खूब चतुर भोगी · · · · · नायक आशिक पिव के इस बाग में आवे, महजूज होवे, आराम पावे। बाग के साहब कूं दुआ करे। फूलां सूं गोद भरे। रंग में डुबावे आस, इसे ते कुछ लगे बास। उसे फैज अपड़े, हमना को सवाब। खुदा खुश, रसूल खुश, आलम खुश इस बाब।"

गौव्वासी

गौव्वासी इस युग के अन्य महाकवि हैं। कुतुबशाही राज्य ने इन्हें मलिकुशशोअरा (कविराय) की उपाधि से विभूषित किया था। इनके जीवन-वृत्त के संबंध में पूरी जानकारी नहीं है। इनके द्वारा रचित ग्रंथों में इनके जीवन-संबंधी कुछ वृत्त अवश्य मिलते हैं; किन्तु उनसे पूरा जीवन-वृत्त नहीं बनता। इनका प्रारंभिक जीवन अत्यन्त संघर्षमय था ; किन्तु राजदरबार में पहुँचकर इनकी मान-प्रतिष्ठा इतनी बढ़ी की ये अपने युग के सबसे बड़े कवि गिने जाने लगे।

'सैफुलमुलूक व बदीउज्जमाल' (१६२४ ई० = १६८१ वि०) और 'तूतीनामा'[१] नाम से इनकी दो रचनाएँ प्रसिद्ध हैं। प्रथम 'अलिफलैला' पर आधारित एक प्रेमाख्यानक काव्य है, जिसमें मिश्र के राजकुमार सैफलमुल्क और अजना की राजकुमारी बदरुलजमाल की प्रेम कहानी लिखी गई है। दूसरी रचना 'हितोपदेश' के फारसी अनुवाद पर आधारित है। आगे चलकर फोर्ट विलियम कालेज के तत्वावधान में गिलक्राइस्ट के निर्देशन में इसका हिन्दुस्तानी (उर्दू) में सैयद हैदर बख्श द्वारा 'तोताकहानी' नाम से अनुवाद कराया गया था।

---

१. **फारसी के प्रसिद्ध विद्वान मौलाना जियाउद्दीन ने ८३० हिजरी में संस्कृत की शुकसप्तशती का अनुवाद फारसी में किया था। गौव्वासी ने इसी फारसी ग्रंथ से दक्खिनी में ४५ कहानियों का अनुवाद किया है। फारसी, तुर्की, अंगरेजी, जर्मन आदि अनेक भाषाओं में शुक-सप्तशती का अनुवाद हुआ है। हिन्दी में शुक-बहत्तरी इसी का अनुवाद है।**

गौव्वासी की कविता सरसता और भव्यता से परिपूर्ण है। इनकी भाषा शुद्ध दक्खिनी है, जिसमें फारसी-अरबी के शब्द कम मिलते हैं। शैली सरल और प्रवाहमय है। नीचे दो उदाहरण दिए जा रहे हैं—

जो एक दिन फिर दिल मने शोक आं।
चल्या फिर बाजार कों वो जवां।।
देख्या एक मैना कों मिठ बोल खूब।
उसे भी लिया होर दिया मोल खूब।।

—'तूतीनामा' से

खुशियां सात अमृत घड़ी फ़ाल देकर।
सो सैफुलमलुक रखिया नांव नेका।।
× × ×
करनहार सैर इस प्रित घाट का।
देवे काढ़ मारग यूं उस बाट का।।
जो साअद व सैफुलमुलुक झाज़ चढ़।
चले गल गले सात परिया में पड़।।

—'सैफुलमुल्क व बदीउज्जमाल' से

इब्ननिशाती

इब्ननिशाती सुलतान अब्दुल्ला कुतुबशाह के प्रसिद्ध दरबारी कवि थे। इनका जीवन-वृत्त पूर्णतया ज्ञात नहीं है। 'फूलबन' नामक एक रचना इनके नाम से प्रसिद्ध है, जो एक प्रेमाख्यानक काव्य है। अनुमानतः यह 'बसातीन' नामक फारसी कविता पर आधारित है।

'फूलबन' काव्य से ज्ञात होता है कि कवि फारसी भाषा और साहित्य से पूर्ण परिचित था और काव्यशास्त्र में भी पटु था। इसी ग्रंथ में वह स्वयं सूचना देता है कि उसने गद्य में भी रचनाएँ की हैं, किन्तु वे उपलब्ध नहीं हैं। 'फूलबन' की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि भारतीय है। दक्खिनी भाषा पर कवि का पूर्ण अधिकार था। उसकी भाषा-शैली सरल और प्रवाहमय है। 'फूलबन' दक्खिनी साहित्य का एक अनमोल रत्न है। एक उदाहरण देखिए—

करूँ तारीफ़ मैं उस ताजदर का।
समझता है जिने कीमत गुहर का।।
शाहंशाह का शाह अब्दुल्ला ग़ाज़ी।
अछोजम हक़ सो उसके पेशबारी।।
मरा था बाप सौदागर खुतन का।
न था परवा उसे कुच माल धन का।।

उपर्युक्त प्रसिद्ध कवियों के अतिरिक्त गोलकुंडा के कुतुबशाही राज-दरबार के संरक्षण में और भी अनेक कवि हुए हैं। इन कवियों के द्वारा भारत की प्राचीन लोककथाओं पर आधारित अनेक प्रेमाख्यानक काव्य लिखे गए, जिनमें 'मनोहर मधमालती,' गुलाम अली द्वारा लिखित

'पदमावत' (१६८० ई०=१७३७ वि०) तथा मुकीमी द्वारा रचित 'मसनवी चंदरबदन व महियार' (१६४० ई०=१६९७ वि०), अहमद जुनेदी की 'माहपैकर' (१६५३ ई०=१७१० वि०), सेवक का 'जंगनामा' (१६८१ ई०=१७३८ वि०), अमीन की 'बाहराम व हुसनबानो' आदि अधिक प्रसिद्ध हैं।

(३) मुगलकालीन हिन्दवी साहित्य (१६८७-१७२३ ई०=१७४४-१७८० वि०)

१६८७ ई० (१७४४ वि०) तक औरंगजेब ने बीजापुर और गोलकुंडा को जीतकर मुगल साम्राज्य में मिला लिया। आदिलशाही और कुतुबशाही राजवंशों के समाप्त होने के कारण दक्खिनी के कवियों का राजाश्रय छिन गया था; किन्तु दक्खिनी साहित्य की जो धारा लगभग ३०० वर्षों से प्रवाहित हो रही थी, उसमें तुरन्त कोई गत्यवरोध नहीं हुआ, साहित्यिक परंपराओं का जो राजभवन दक्खिन में निर्मित हुआ वह एकबारगी टूटकर गिर नहीं गया। दक्खिनी साहित्य केवल राजसभा से ही संबंधित नहीं था, बल्कि जनता भी इस भाषा-साहित्य को जीवन के निकट मानती थी। अतएव १६८७ ई० (१७४४ वि०) के पश्चात भी दक्खिनी साहित्य का सरोवर अनेक कृतियों द्वारा भरा गया और यह क्रम अविरल रूप से तब तक चलता रहा, जब तक उत्तर से १८वीं शती ई० के प्रथम चरण में उर्दू का नया स्रोत दक्खिन की ओर प्रवाहित नहीं हुआ। ४० वर्षों के इस अन्तरिम काल में दक्खिनी प्रदेश ने साहित्यिक जगत में बहरी, सिराज, वली वजही, वली वेलूरी, दाऊद, उजलत और आफिज ऐसे कवि उत्पन्न किए। उत्तर के मुगल दरबार से सीधा संबंध होने के कारण दक्खिनी के कवियों में रेखता शैली (हिन्दवी-फारसी-अरबी-मिश्रण) का प्रभाव बढ़ता दिखाई देता है, किन्तु इस युग के अधिकांश कवि दक्खिनी में ही लिखते रहे।

बहरी

काजी महमूद बहरी इस युग के प्रथम श्रेणी के कवियों में गिने जाते हैं। इनके पिता बदरुद्दीन गोगी गुलबर्गा (जिला हैदराबाद) में काजी थे। १६८५ ई० (१७४२ वि०) में बीजापुर गए। किन्तु औरंगजेब के कारण वहाँ अशान्ति देख हैदराबाद और अंत में औरंगाबाद चले गए। इनके गुरु का नाम मौलाना शेख मुहम्मद बाकर था।

धर्म-साधना और काव्य-चिन्तन में इन्होंने जीवन में अनेक कष्ट सहे, किन्तु एक कष्ट उनके लिए असह्य हो गया। कहा जाता है कि बीजापुर से हैदराबाद आते हुए एक चोर ने इनके हस्तलिखित ग्रंथों (लगभग ५० हजार पद के संग्रह) का एक संदूक चुरा लिया। बाहरी जीवन से निराश हो गए, किन्तु फिर भी एक अमीर मित्र के प्रोत्साहन से पुनः काव्य-रचना में लगे और उन्होंने कई अनमोल रत्न दक्खिनी को दिए। इनकी मृत्यु इनकी जन्मभूमि गोगी में ही १७१९ ई० (१७७६ वि०) में हुई। यहीं इनकी समाधि है।

'मनलगन' नामक एक कथात्मक काव्य बहरी ने १७०० ई० (१७५७ वि०) के आसपास लिखा। इस काव्य में सूफी दर्शन के गूढ़ और जटिल विचार प्रकट किए गए हैं जो सामान्य जन के लिए कुछ दुरूह हो जाते हैं। यही कारण है कि कवि ने स्वयं फारसी में इसका भाष्य लिखा और उनके

एक शिष्य ने 'अर्त-मनलगन' (अर्थ-मनलगन) के नाम से एक गद्य ग्रंथ भी लिख डाला। इस मसनवी के प्रारंभिक अंश में कवि ने अपने जीवन के संबंध में भी बहुत कुछ लिखा है। मसनवी के अतिरिक्त बहरी ने गजल, कसीदा, मर्सिया और रूबाइयाँ भी लिखी हैं, जो मसनवी से भी सरल और सादी भाषा में हैं। इन्होंने हिन्दवी या दक्खिनी के प्रति अपनी मातृभाषा की तरह आत्मीयता प्रकट की है। इनके समय के कुछ लोगों की भाषा में परिवर्तन होने लगा था, किन्तु बहरी की भाषा दक्खिनी ही है। ये और वली औरंगाबादी समसामयिक थे।[1] 'मनलगन' की कुछ पंक्तियाँ हैं—

हिन्दी तो जबान है हमारी।
कहने न लगत हमन को भारी॥
× × ×
था पुर जो एक बड़ा पिटारा।
सू भागनगर में खोए सारा॥
हौर हौर थी यादगार चीजां।
तिसपर उन चुराएँ बेतमीजां॥
× × ×
गर बीच कवीसुरी न आती।
वल्ला यह आग मुझे जलाती॥

'भंगनामा' नाम से बहरी की एक अन्य काव्यकृति मिलती है, जिसमें भंग और उसके नशे का वर्णन है। कवि ने इसे ईश्वर का दिया हुआ नशा माना है। इसमें १२ अध्याय हैं जिनमें ईश्वर की प्रशंसा, एकेश्वरवाद, ईश्वर से मिलन की अनुभूति, स्वर्गलोक, गरीबी-अमीरी, सूफियों का शील, विश्व-दर्शन और गुरु-महिमा का वर्णन है। एक उदाहरण है—

उस मत्ते भंग को शाही दिए।
हम न दिए आप इलाही दिए॥

वजदी

शेख वजहीउद्दीन वजदी आन्ध्र राज्य के कुर्नूल नगर के निवासी थे। ये एक प्रसिद्ध सूफी संत थे और अपनी साधना में ईरान के सूफी शेख फरीदउद्दीन अत्तार से बहुत प्रभावित थे। वजदी की तीन काव्य-कृतियाँ प्रसिद्ध हैं—'पंछीबाचा,' 'तोहफ़ेआशिका', और 'बागेजां-फ़िजां'। इनकी अधिकांश रचनाएँ फरीदउद्दीन अत्तार की फ़ारसी रचनाओं के दक्खिनी अनुवाद हैं। फारसी छोड़ दक्खिनी में रचना करने का कारण ये इस प्रकार बताते हैं—

तमा बली जीव फारसी में यो कलाम।
कम समझ सकते इसको खास व आम॥

---

१. बहरी के संबंध में विस्तृत विवरण के लिए देखिए इलाहाबाद यूनीवर्सिटी स्टडीज में डॉ० मुहम्मद हफ़ीज सैयद लिखित काजी महबूब बहरी शीर्षक निबंध।

कस्द कर दखिनी ज़बां में लिखे अपन।
ता रहे दुनिया मने मेरा भी नाव॥

'पंछीबाचा' शेख फरीदउद्दीन अत्तार की एक फारसी मसनवी 'मनतेकुले' (पक्षियों की भाषा) का दक्खिनी अनुवाद है, किन्तु कवि की काव्य-प्रतिभा के कारण मौलिक रचना प्रतीत होती है। इसका रचना-काल १७१९ ई० (१७७६ वि०) है। १६५० पदों की वजदी की इस सर्वप्रसिद्ध रचना में पक्षियों के संवाद के माध्यम से सूफी साधना का प्रेम पर आधारित रहस्यात्मक चित्र काव्य में सजीव उतर आया है।

'तोहफेआशिका' भी 'गुल व हुरमुज' नामक अत्तार की फारसी रचना का विस्तार से किया हुआ अनुवाद है। इसका रचना-काल १७०४ ई० (१७६१ वि०) है। यह प्रेम-कथा ६९ अध्यायों में विभाजित है। इसमें रोम के राजकुमार हुरमुज और खोजिस्थान की राजकुमारी गुल के प्रेम की कथा है। इसके दो पद्य नीचे दिए जाते हैं—

कहा इश्क ने तब इसे झाड़ कर।
के हे गुल चली तू किधर का किधर॥
तुझ असल में आम खाने सों काम।
न पेड़ों के गिनने सों रखना है काम॥

'बागेजांफिजां' भी कवि की मौलिक रचना है। रचना-काल १७३२ ई० (१७८९ वि०) है। यह भी एक प्रेमाख्यानक काव्य है।

वली

दक्खिनी साहित्य के इतिहास में वली अत्यन्त महत्वपूर्ण कवि हैं। दक्खिनी कवियों में प्रथम श्रेणी के कवि होने के साथ-साथ ये ही वे कवि हैं जिन्होंने दक्खिनी साहित्य की सामान्य, सरल और स्वाभाविक धारा को जबान उर्दू-ए-मुअल्ला की सुसंस्कृत धारा में विलीन कर दिया। यही कारण है कि बहुत दिनों तक ये उर्दू के बाबा आदम कहलाते रहे। यह सत्य है कि इन्हीं की ज्योति से उत्तरी भारत में उर्दू के दीप जले, किन्तु यह भी सत्य है कि ये ऐसे दीप थे कि दक्खिनी के कवि पतिंगे की तरह उनकी लौ में लग गए और अपने तन-बदन की सुध बुध भूल गए। जो भी हो, साहित्य-सरिता में इतना बड़ा मोड़ उत्पन्न करने और अपने उच्च कृतित्व के कारण वली दक्खिनी साहित्य और उर्दू के अमर कवि माने जाते रहेंगे।

कुछ समय पूर्व तक वली के नाम, उपाधि, जन्म-स्थान, जन्म-तिथि, मृत्यु, माता-पिता आदि जीवन-वृत्त संबंधी बातों में मतभेद था, किन्तु आधुनिक खोजों के द्वारा ये सब गुत्थियाँ सुलझ सी गई हैं। वली का नाम वली मुहम्मद था। कुछ लोग इन्हें औरंगाबादी, अर्थात दकनी और कुछ लोग अहमदाबादी, अर्थात गुजराती कहते हैं। धर्म और काव्य की पिपासा को शान्त करने के लिए ये औरंगाबाद, सूरत आदि स्थानों में भ्रमण करते रहे। सूफी साधना से इनका हार्दिक लगाव था।

वली प्राय: काव्य के सभी रूपों—गजल, कसीदा, मसनवी, रुबाई, तरजी, बंद

आदि में कविता करते थे। इस प्रकार प्रारंभ से ही वे दक्खिनी के उच्च कोटि के कवि माने जाने लगे थे।

कहा जाता है कि वली ने दिल्ली की एक यात्रा १७०० ई० (१७५७ वि०) में औरंगजेब के काल में की थी। वहीं शाह सादुल्ला गुलशन से उनकी भेंट हुई थी और वहीं सादुल्ला ने वह प्रसिद्ध वाक्य कहा था जिसने साहित्य के इतिहास को ही पलट दिया। इसके पहले कि हम उस ऐतिहासिक वाक्य को उद्धृत करें, उस समय की भाषा संबंधी स्थिति का विवेचन कर लें तो कुछ निश्चित लाभ होगा। यह पहले ही कहा जा चुका है कि उत्तरी भारत में मुगल राजाओं और मुगल दरबारियों पर फारसी भाषा और ईरानी संस्कृति की श्रेष्ठता का आंतक सा छाया था। यही कारण है कि मुगल बादशाहों, सैनिकों आदि की सामान्य तथा अन्तर्प्रान्तीय व्यवहार की भाषा होने पर भी उत्तरी भारत में हिन्दवी साहित्य की कोई परंपरा पनप ही नहीं सकी। हिन्दी प्रदेश के काव्य-जगत में उस समय ब्रजभाषा का एकछत्र राज्य था। मुगल शासक जब शौक के लिए देशी भाषा में कविता करते थे, तब ब्रजभाषा को अपनाते थे। हिन्दवी को सामान्य-व्यवहार और लोक-साहित्य से ऊपर उठने का अवसर न मिला था। शाहजहाँ-काल में जब शाह जहानाबाद नाम से नई दिल्ली आबाद हुई और वहाँ उर्दू-ए-मुअल्ला (बादशाह का पड़ाव, लाल किला या शाही दरबार) की स्थापना हुई तो उस शाही दरबार से संबंधित फारसीदां अमीर-उमरा हिन्दवी को फारसी का जामा पहना कर उसे राजदरबार के योग्य बनाने लगे और धीरे-धीरे उत्तरी भारत में १८वीं शती के पूर्वार्ध में हिन्दवी में फारसी-अरबी के अत्यधिक शब्द, महावरे, व्याकरण, ज्यों के त्यों रख कर रेखते लिखे जाने लगे। बीजापुर, गोलकुंडा आदि दखिनी राज्यों के मुगल साम्राज्य में मिल जाने के बाद दिल्ली और दक्खिन का सीधा संपर्क स्थापित हुआ। औरंगाबाद में औरंगजेब के वर्षों के निवास के कारण उत्तर भारत का भाषा संबंधी प्रभाव दक्खिन पर पड़ना अवश्यम्भावी था। उस प्रभाव के फलस्वरूप वली की दिल्ली-यात्रा के पूर्व ही रेखते लिखे जाने लगे थे। किन्तु इनमें दक्खिनी या हिन्दवी का ही रंग गाढ़ा रहता था।

१७०० ई० (१७५७ वि०) के लगभग जब वली शाह सादुल्ला गुलशन से मिले तो उनसे कहा गया : "ये सब विषय जो बेकार फारसी में भरे पड़े हैं, उन्हें रेखता भाषा में उपयोग में लाओ। तुमसे कौन पूछेगा ?" गुलशन सूफी संत, विद्वान और मुगल दरबार के प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। उनकी बात ने जादू का काम किया। उसके पश्चात ही वली के रेख्तों के भाव, भाषा और शैली में महान परिवर्तन हो गया। दक्खिनी में दक्खिनी के घर को जबान-उर्दू-ए-मुअल्ला ने अपना लिया। घर में विदेशी सजावट इतनी अधिक हो गई कि वह अपना घर ही न रह गया। निस्संदेह वली ने अपने दृष्टिकोण से दक्खिनी को तत्कालीन पृष्ठभूमि में अधिक आधुनिक तथा सुसंस्कृत बनाने के प्रयत्न में ही ऐसा किया ; किन्तु सुसंस्कृत बनाने के शौक से जिस ईरानी परंपरा का अनुकरण किया गया उससे हिन्दवी का अपनापन—हिन्दवीपन, हिन्दीपन या भारतीयपन निकल गया। नाममात्र को अस्थिपंजर ही हिन्दवी या हिन्दी रहा, क्योंकि वह बदला नहीं जा सकता था, शेष सब कुछ नया हो गया। इस प्रकार वली ने उत्तरी भारत के लोगों में देशी भाषा में कविता करने का शौक पैदा किया और एक नई साहित्यिक धारा को जन्म दिया, जिसमें समृद्धिशाली साहित्य रचा गया, किन्तु बहुत महँगा मूल्य चुका कर और अपनी हिन्दवी की बलि दे

कर। दिल्ली से लौटने पर वली ने रेख्ता या उर्दू की नई शैली में गजल, कसीदे, रुबाई सब कुछ लिखे, जिसकी शोहरत दिल्ली में बहुत हुई। उत्तर के फारसीदां कवि भी इस रेख्ता या उर्दू की नई शैली में कविता करने की ओर झुके। दिल्ली के हातिम, फायज, आबरू, यकरंग आदि, सभी समकालीन फारसी के कवि इससे प्रभावित हुए और देशी भाषा में कविता होने लगी। कहा जाता है कि एक बार पुनः वली उत्तर भारत के मुसलमानी तीर्थस्थानों की यात्रा के लिए मुहम्मदशाह के काल में गए थे, किन्तु इस संबंध में विद्वानों में एक मत नहीं है। जीवन में महान यश कमा कर १७०७ ई० (१७६४ वि०) में अहमदाबाद में उनकी मृत्यु हुई।

वली ने काव्य के सभी रूपों में कविता की है। उनकी गजलों में प्रेम की भावना का वर्णन विभिन्न रूपों में किया गया है। यह प्रेम भावना व्यापक होकर सूफी प्रेम का रूप ग्रहण कर लेती है। वली ने दक्खिनी और रेख्ते, दोनों की शैली में कविताएँ लिखीं। उनकी शैली कहीं-कहीं अत्यन्त सरल है, सरसता और प्रवाह तो उसमें सर्वत्र मिलता है। बाद में वली के दीवान के अनुकरण पर अनेक दीवान बने। निस्संदेह वली दक्खिनी और उर्दू दोनों के वली हैं। उनकी दक्खिनी और रेख्ता या उर्दू का एक एक उदाहरण दिया जाता है—

दक्खिनी

जिसे इश्क का तीर कारी लगे।
उसे जिंदगी क्यों न भारी लगे॥
न होवे उसे जग में हरगिज करार।
जिसे इश्क की बेकरारी लगे॥
वली कों कहे तूं अगर एक वचन।
रकीबों के दिल में कटारी लगे॥

× × ×

रेखता या उर्दू

हुस्न का मसनदनशीं वह दिलबरे मुमताज है।
दिलवरों का हुस्न जिस मसनद का पाअन्दाज़ है॥
याद से उस इश्के-गुलज़ारे-हरम के ए वली।
रंग को मेरे सदा ज्यों बूए गुल परवाज है॥

× × ×

मिराज औरंगाबादी तथा वेलूरी

१७४७ ई० (१८०४ वि०) में 'बोस्तानेख्याल' नामक मसनवी के रचयिता मिराज औरंगाबादी इस युग के एक अन्य महान कवि हैं। प्रस्तुत मसनवी में ११६० शेर हैं। काव्य की दृष्टि से इनकी रचना उच्च श्रेणी की है। किन्तु इनकी भाषा दक्खिनी भारत की दक्खिनी या हिन्दवी की अपेक्षा उत्तर की उर्दू के अधिक निकट है। इसी युग में मद्रास और आरकाट प्रदेश में भी अनेक कवि हुए। इनमें से कुछ ने नई शैली में कविता की, किन्तु कुछ ने दक्खिनी को ही काव्यभाषा बनाया। ऐसे कवियों में वली वेलूरी अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इन्होंने तीन मसनवियाँ लिखी थीं जिनमें से एक 'पदमावती की कथा' भी थी।

मुगल सम्राट के सूबेदार आसफजाह १७२३ ई० (१७८० वि०) **में स्थायी रूप से** दक्खिन के नवाब नियुक्त हुए। हैदराबाद की सूबेदारी कुछ काल तक दिल्ली के शासन को मानती रही, किन्तु बाद में स्वतंत्र हो गई। भारतीय संघ में विलयन के पूर्व तक हैदराबाद की रियासत स्वतंत्र बनी रही। १८वीं शती ई० के अंत होते-होते दक्खिन में भी उर्दू शैली का प्रभुत्व बढ़ा। १९वीं शती के कवियों के ग्रंथों में दक्खिनी की विशेषताएँ लगभग लुप्त हो गईं। उत्तर और दक्खिन दोनों उर्दू को अपनाकर फारसी के रंग में सराबोर हो गए।

दक्खिनी धारा १८वीं शती ई० उत्तरार्ध और १९वीं शती ई० में केवल लोक-साहित्य के क्षीण रूप में प्रवाहित होती हुई यदा-कदा दृष्टिगोचर होती है। इन शताब्दियों में भी दक्खिनी को अपनाकर कविता लिखने वालों में **शाहमियां तुराब दखनी** (१८४० ई०=१८९७ वि०) **शेख अबुलकादिरी** (१८७० ई० = १९२७ वि०), और **कादिर बीजापुरी** आदि कुछ नाम उल्लेखनीय हैं।[1]

दक्खिनी साहित्य पर पुनर्दृष्टि

दक्खिनी साहित्य के उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन के पश्चात भाषा, शैली, शब्दकोश, परंपरा आदि साहित्यिक तत्वों की दृष्टि से इस साहित्य पर पुनः एक दृष्टि डाल लेना उपयोगी होगा। दक्खिनी साहित्य के प्रकाश में आने के पश्चात उर्दू साहित्य के इतिहास-लेखक तथा आलोचक दक्खिनी साहित्य को उर्दू का एक अंग मानकर चलते हैं। दूसरी ओर हिन्दी साहित्य के समीक्षक तथा इतिहास-लेखक ही नहीं, बल्कि विश्वविख्यात भाषाविज्ञानी सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ऐसे लोग भी दक्खिनी साहित्य को शुद्ध हिन्दी के अंतर्गत रखने का समर्थन करते हैं। वैसे तो अब समस्त उर्दू को ही हिन्दी साहित्य के अंतर्गत मानने की बात कही जाने लगी है, किन्तु इस विवादास्पद विषय को न उठा कर हम केवल दक्खिनी साहित्य तक ही अपने कथन को सीमित रक्खेंगे।

भाषा——उपर्युक्त साहित्यिक विवरण से यह तो स्पष्ट हो जाता है कि साहित्यिक दक्खिनी के भाषा-रूपों की विभिन्नता विविध बोलियों का सम्मिश्रण प्रकट करती है। ध्वनि तथा व्याकरण संबंधी विशेषताओं से यह बात स्पष्ट हो जायगी——

ध्वनि——महाप्राण ध्वनियों का अल्पप्राणत्व, यथा, मुज (मुझ), पारकी (पारखी) मूरक (मूरख), रकत (रखत) पिचले (पिछले)।

कहीं-कहीं 'ह' का लोप, यथा कया (कह्या), कता (कहता), ठैरते (ठहरते), पछान (पहचान) आदि।

संज्ञा——बहुवचन के लिए मूलरूप में 'आं' जोड़ा जाता है, जैसे, गवालियर के चतुरां, गुरां, बातां, दोस्तां, जीवां, जहितां, औरतां, ऐसियां आदि।

बहुवचन के विकृत रूपों में 'ओं' का कम और 'आं', 'यां' का अधिक प्रयोग, जैसे, अखियाँसों, मुसल्मानां में, हिन्दुआं में, अंगारियां में बहाया।

---

१. श्रीराम शर्मा ने दक्खिनी का पद्य और गद्य नामक संकलन में इन कवियों की रचनाएँ संकलित की हैं।

सर्वनाम---सामान्य सर्वनामों के अतिरिक्त हमना, तुमना, हमन, तुमन, तुज, मुज, जु कोई, जुकुच, जित्ता, जित्ती, किलेक, एत तथा सार्वनामिक विशेषण वहुवचन में एकियां, जैसियाँ एतियां आदि।

परसर्ग---कों, कूं, सों, ते, थे, से, सतीं, सेतीं, साथ आदि रूप।

संबंध---का, के, की, के साथ, केरा, केरी, केरे रूप भी और फिर वहुवचन रूप---क्यां, जैसे, उनां क्यां अखियां (उनकी आँखें), ग्यान क्या वातां (ज्ञान की बातें)।

अधिकरण---में, पर के अलावा मने, मियाने, महूं, पो, उपराल रूप भी मिलते हैं।

क्रिया---भूतकाल में ---आ अन्त वाले रूपों के अतिरिक्त -या वाले रूप मिलते हैं, जैसे, जान्या, जुड़्या, पूछ्या, विचार्या, धार्या, पहचान्या आदि।

भविष्य में -गा वाले रूपों के साथ ही साथ -स वाले रूप भी विद्यमान हैं, जैसे, खागा, आयगा, ल्यायगा, के साथ ही जासी (जायगा), आसी (आएगा), अछसे (होंगे), चलसे (चलेगा), होसी (होगा)।

सहायक क्रिया---है, था, थे, के अतिरिक्त अछ, अथ रूप भी मिलते हैं, जैसे, अछे(रहे), अछगा, अछता, अछती, अथा (था), थ्यां (थीं) आदि।

कृदन्त---क्रियार्थक में -ना, न-वाले रूपों के अतिरिक्त-न अन्त वाले रूप भी मिलते हैं, जैसे, करन जायगी, किसी के करन ते, लगा देवन, आवना, जावना। कर्तृवाचक में -वाला के साथ -हारा, -हार आदि मिलते हैं, जैसे, मिलनहार, करनहार, रहनहार।

अव्यय---'कर' का 'समान', 'ऐसा' के अर्थ में प्रयोग, जैसे, अंधारे को उजाला कर समजता, तो उन लड़ती है तुजे मर्द कर।

स्थानवाचक---जधाँ (जहाँ), तधाँ (तहाँ), काँ (कहाँ), यां (यहाँ), वा (वहाँ), कईं (कहीं) आदि अतिरिक्त रूप मिलते हैं। बाहर के लिए 'बहार', 'भार', रूप भी मिलते हैं। कने (पास), लक (तक)।

कालवाचक---ताल (इस समय), अताल (अब) आदि भिन्न रूप भी मिलते हैं।

प्रश्नवाचक---क्यों, के लिए, की (संस्कृत 'किम्') का भी प्रयोग है।

निषेधार्थक---न, नहीं के अतिरिक्त ना, ने, नको आदि रूप भी मिलते हैं।

संबंधसूचक---बिना के लिए बाज का भी प्रयोग होता है।

समच्चुयबोधक---हौर (और), च (ही) आदि का प्रयोग है।

उपर्युक्त व्याकरण-रूपों में पूर्वी पंजाबी, हरियानी, अवधी, ब्रज और मराठी का मिश्रित प्रभाव है। किन्तु सभी विभेदों पर गंभीरतापूर्वक विचार करने पर निष्कर्ष यही निकलता है कि दक्खिनी खड़ीबोली का ही मध्यकालीन रूप है और दक्खिनी का मूलाधार खड़ीबोली ही है, जिसे मध्यकाल में साहित्य तथा अंतर्प्रान्तीय व्यवहार में प्रयुक्त करके हिन्दवी की संज्ञा दी गई थी। दक्खिनी इसी हिन्दवी का दक्खिनी रूप है। इसे संस्कृतनिष्ठ आधुनिक हिन्दी या फारसी-निष्ठ उर्दू-ए-मुअल्ला कहना युक्तियुक्त नहीं है। आधुनिक हिन्दी-उर्दू ने जितने प्रतिशत हिन्दवी-पन बनाए रक्खा है उतने ही अनुपात से हम दक्खिनी को हिन्दी या उर्दू कह सकते हैं।

शब्दावली---दक्खिनी में तद्भव शब्दावली की प्रधानता है। सामान्य दक्खिनी लेखक

फारसी, अरबी संस्कृत आदि के तद्भव रूप ही लिखता है। इस्लाम धर्म के प्रचार से संबंधित धार्मिक ग्रंथों में अरबी शब्दावली अधिक है। फारसी मसनवियों के अनुवाद में फारसी शब्द भी आए हैं, किन्तु अधिकांशतः उन्हें देशी रूप में ढाला गया है, फारसी अक्षर विन्यास के अनुसार नहीं। उदाहरणार्थ---

फारसी	दक्खिनी
इनआम	इनाम
साअत	सात
किस्सः	किस्सा
किलः	किला, आदि

विदेशी शब्दों का समावेश उस समय की जीती-जागती भाषा में किया गया था और इसका उद्देश्य था उस भाषा में चतुराई से भाव प्रकट करना, न कि विदेशी रूपों तथा मुहावरों को ज्यों का त्यों रखना।[1] इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए संस्कृत के प्रचलित तत्सम शब्दों का भी प्रयोग होता था, यथा---अखंड, अधर, अंबर, अपार, अनन्त, उपकार, उत्तल, गंभीर, छन्द, तुरंग, धरित्री, पवन, वस्तु, भानु, रोमावलि, सम्मुख, दिवाकर, स्वाद, संग्राम आदि। तद्भव शब्दावली में अनेकरूपता पाई जाती है, यथा---अपछरी, अछरी, आदिक, अधिख, अधिक, धरत, धरती, धरित्री, धिव (धी), जिउ (जी), नेम, धरम आदि। जिस प्रकार फारसी-अरबी के विकृत देशी रूप मिलते हैं, वैसे ही भारतीय शब्द भी विकृत रूप में मिलते हैं, यथा म्हाड़ी (मढ़ी), मंधिर (मंदिर), संसार (संसार), परधान (प्रधान), परतिपाल (प्रतिपाल), सुन्ना (सोना), दीस (दिवस), सकत (शक्ति) आदि।

दक्खिनी शब्दकोश में मराठी, कन्नड़, तेलुगु तथा मुंडा भाषा परिवार के भी शब्द लिए गए जान पड़ते हैं। यही कारण है कि इस साहित्य में कुछ अपरिचित शब्द दिखाई पड़ते हैं, यथा, अंसू (आँसू), अवासवा (ऐरा-गैरा), अरडावना (चिल्लाना), अड़वाट (उन्मार्ग), अँपरना (पहुँचना), आटा (मुश्किल), उधान (ज्वार भाटा) एलाड़ (इधर) काँद (दीवार), आदि।

दक्खिनी साहित्यकारों ने विदेशी शब्दों को लिया अवश्य है, किन्तु उनमें विदेशी ध्वनियों के स्थान पर परिचित देशी ध्वनियों को रख दिया है। बहुवचन बनाने में स्वदेशी प्रत्ययों को ही अपनाया गया है। फारसी संज्ञा-विशेषण लेकर हिन्दवी के नियमानुसार क्रिया-रचना की गई है।[2]

साहित्यिक परंपरा---दक्खिनी साहित्य में स्थानीय रंग अधिक है। अतएव अधिकांश में देशी साहित्यिक परंपराओं का ही पालन किया गया है। फारस में जैसे गुल-बुलबुल आदि के कवि-समय प्रचलित हैं, उसी प्रकार भारत में कमल-भौंरे तथा चंद्र-चकोर आदि का प्रचलन है। दक्खिनी साहित्य में भारतीय कवि-समय ही अधिकांशतः अपनाए गए हैं। यथा---

---

१. बाबूराम सक्सेना: दक्खिनी हिन्दी, पृ० ७३।
२. भाषा संबंधी विशेष विवरण के लिए देखिए उपर्युक्त ग्रंथ।

कँवल का दिल खिला सीता की दह में।

× × ×

अगर नै है आशिक चकोर चाँद का।
तो रातां को वो क्या सबब जागता।।

दक्खिनी साहित्य में भारत के प्राचीन कथानकों, सीता की पति-परायणता, राम की कर्तव्य-परायणता, हनुमान की सेवा-भावना आदि का उल्लेख पर्याप्त मात्रा में मिलता है, जब कि उर्दू में इसका सर्वथा अभाव है। यद्यपि अधिकांश दक्खिनी साहित्य की मसनवियाँ फारसी के अनुवाद हैं, किन्तु उनमें भी भारतीय कथाएँ, नदी, पर्वत आदि का उल्लेख मिल जाता है।

भारतीय परंपरा में पुरुष का प्रेमपात्र स्त्री और स्त्री का प्रेम-भाजन पुरुष होता है। दक्खिनी के अधिकांश ग्रंथों में प्रेम की यही परंपरा निभाई गई है। फारसी का प्रभाव अधिक पड़ने के कारण वली के बाद की दक्खिनी उर्दू में माशूक (प्रेयसी) का वर्णन पुंलिंग में होने लगा।

दक्खिनी साहित्य के कलाकार प्रायः मुसलमान थे, अतः फारसी-अरबी लिपि में ही संपूर्ण साहित्य लिखा गया था। फारसी के छंद और काव्यरूप—मर्सिया, कसीदा, रुबाई, तरर्जीअबंद भी अपनाए गए, तथापि भाषा में बहुत दूर तक भारतीयता निभाई गई और भावों में देशीपन बना रहा। दक्खिनी साहित्य सब प्रकार से हिन्दवी साहित्य है।

उत्तरी भारत में हिन्दवी साहित्य

इस बात की ओर पहले ही संकेत किया जा चुका है कि हिन्दवी का साहित्य में प्रयोग सर्वप्रथम नाथ योगियों और धर्म प्रचार करने वाले विदेशी मुसलमानों द्वारा हुआ है। १४वीं शती ई० में हिन्दवी ने दक्खिन को प्रस्थान किया, जहाँ १५वीं शती ई० में साहित्यिक परंपरा की नींव पड़ी और १८वीं शती ई० के प्रथम चरण तक वह साहित्यिक परंपरा समृद्धिशाली बनी रही। उत्तरी भारत में १४वीं शती ई० तक साहित्य में हिन्दवी के प्रयोग का आविर्भाव मात्र हो सका, किन्तु उत्तरी भारत की सांस्कृतिक परिस्थिति के कारण हिन्दवी की कोई साहित्यिक परंपरा विकसित नहीं हो पाई। उत्तरी भारत में वैष्णव भक्ति आन्दोलन के कारण हिन्दी के कवियों ने ब्रज और अवधी को अपना लिया और संपूर्ण काव्य ब्रज और अवधी में ही लिखा गया। इस प्रकार हिन्दी के आदिकालीन साहित्य में हिन्दवी या खड़ीबोली का जो एक मिला-जुला रूप प्रयुक्त हुआ था, वह हिन्दी के मध्यकालीन साहित्य की प्रधान धाराओं—कृष्ण, राम या रीति काव्यों की धाराओं में नहीं मिलता। साहित्य के क्षेत्र में हिन्दुओं ने ब्रज, अवधी, राजस्थानी, मैथिली, आदि को अपना लिया था। निर्गुण संतों और मुसलमानों ने हिन्दवी (खड़ीबोली) को बोल-चाल और धर्म-प्रचार के लिए अपनाया था। संभवतः इस कारण भी सगुण वैष्णव साहित्य हिन्दवी से उदासीन रहा। यही कारण है कि हिन्दवी का प्रयोग ब्रजभाषा का हिन्दू कवि केवल मुगलों के संदर्भ में ही कभी कभी करता है। निर्गुण संतों—कबीर, नानक, दादू, रविदास आदि की मिली-जुली भाषा में खड़ीबोली या हिन्दवी का प्रचुर प्रयोग अवश्य मिलता है। हिन्दवी मध्यकाल में ही अन्तर्प्रान्तीय बोलचाल या व्यवहार की भाषा बन गई थी। अतएव हिन्दू-मुसलमान सबको संबोधित करने वाले निर्गुण संतों ने खड़ीबोली का ही सहारा लिया। दक्खिन के

मराठा संतों—नामदेव, गोदा, एकनाथ, केशवस्वामी, तुकाराम आदि ने उत्तरी भारत की इसी संत-परंपरा का पालन करते हुए हिन्दवी में पद लिखे हैं। ध्वनि, शब्द-रचना, वाक्य-विन्यास, शब्दावली, छंद-विन्यास आदि के दृष्टिकोण से मराठी संतों के संबंध में यही कहना पड़ता है कि उनका संबंध उत्तर की हिन्दवी से है; हिन्दवी के दक्खिनी साहित्य के अन्तर्गत उन्हें सम्मिलित करना युक्ति-युक्त नहीं है।

उत्तरी भारत में १६वीं-१७वीं शती ई० में आलम (अकबरकालीन) द्वारा रचित 'सुदामा-चरित' नामक खड़ीबोली का ग्रंथ कहा जाता है। निस्संदेह यह खड़ीबोली में है, किन्तु इसकी उपलब्ध प्रति किस शताब्दी की है, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। एक उदाहरण देखिए—

राम किसन केदार सुकेसव कृष्ण गोपाल गोवर्धनधारी।
कादर सबके सिर परि कादर सुन्दर तन घनस्याम मुरारी।
सूरत खूब अजाइब मूरति आलम के सिरताज बिहारी॥

× × ×

बहुत गरीब सुदामा बाह्मन, निपट खिलाफत में जब अटका।
सद पैबंद लगे चादर मैं, सिरि जंबून सा बांधरा पटका।
पै अपनी किसमत पर राजी, किसी तरफ सौं दिल नहिं लटका॥

हिन्दी वीरकाव्य के रचयिता भूषण, लाल, सूदन आदि के ग्रंथों में हिन्दवी के स्फुट शब्द और वाक्यांश मिल जाते हैं, किन्तु कोई विशिष्ट पृथक साहित्य नहीं मिलता। मिर्जा राजा जयसिंह के पुत्र राजसिंह ने अपने दीवान को कुछ पत्र लिखे थे, जिनकी भाषा राजस्थानीमिश्रित हिन्दवी है। उत्तरी भारत में हिन्दवी साहित्य-परंपरा की दृष्टि से प्रणामी संप्रदाय के प्रवर्तक स्वामी प्राणनाथ[1] तथा उनके प्रमुख शिष्य स्वामी लालदास[2] का नाम अत्यंत महत्वपूर्ण है। प्राणनाथ तथा लालदास की अधिकांश रचना हिन्दवी में है। संक्षेप में इनका परिचय दिया जाता है।

स्वामी प्राणनाथ (सन १६१८-१६९४ ई० = संवत १६७५-१७५१ वि०)

प्राणनाथ का जन्म हल्लार जनपद जामनगर (नौतनपुरी) में हुआ था। इनके पिता का नाम केशव ठाकुर और माता का धनबाई था। ये चार भाई थे। बाल्यावस्था में इनका नाम मेहराज (मिहिरराज) था। बाल्यावस्था से ही इन्हें धर्म में रुचि थी। देवचंद से इन्होंने तारतम्य मंत्र की दीक्षा ली और धर्म-साधना में लग गए। देवचंद निजानन्द संप्रदाय के प्रवर्तक थे।

सन १६४६ ई० (संवत १७०३) में इन्होंने अरब की यात्रा की और ४ वर्ष तक वहीं रहे। सं० १७१२ से इन्होंने धर्म का कार्य प्रारंभ किया। इसके पूर्व ये ध्रोल राज्य के दीवान भी रहे,

---

१. दे० लेखक का निबंध, प्रणामी साहित्य, सम्मेलन पत्रिका, भाग ४१, अंक १।

२. दे० लेखक का निबंध, बीतक की ऐतिहासिक समीक्षा, हिन्दी अनुशीलन, वर्ष १०, अंक, ४,५।

किन्तु सांसारिक कामों में मन न रमने के कारण इन्होंने सब कुछ त्याग दिया और धर्म-प्रचार में लग गए। ड्यू, टट्ठानगर, मस्कत, लाटीबंदर, सूरत आदि स्थानों में प्रचार करते हुए ये राजस्थान आए और वहाँ धर्म-प्रचार करते रहे। अब तक इनके सहस्रों शिष्य बन गए थे। उसी समय औरंगजेब का धार्मिक अत्याचार जोर पकड़ रहा था, अतएव औरंगजेब को धर्म का वास्तविक स्वरूप समझाने के महान उद्देश्य को लेकर ये अपने शिष्यों सहित दिल्ली गए। पहले इन्होंने हिन्दवी में औरंगजेब को तथा उसके अमीरों को कई पत्र लिखे, किन्तु किसी ने भी ध्यान न दिया। अनूपशहर जाकर इन्होंने 'सनंध' नाम से 'कुरान' की व्याख्या हिन्दवी में की और 'भागवत' तथा 'कुरान' में एकता स्थापित करते हुए हिन्दू-मुसलमान धर्म के ऐक्य पर बल देकर धार्मिक अत्याचार को समाप्त करने की प्रार्थना की। किन्तु औरंगजेब ने एक भी न सुनी। अंत में इनके १२ साहसी शिष्यों ने 'अवरंग' के यहाँ धर्म-सत्याग्रह किया। वे सभी बन्दी बनाए गए और वहीं इनके शिष्यों का अवरंग के प्रधान शिष्यों से धार्मिक वाद-विवाद हुआ। किन्तु कुछ फल न निकला। अंत में प्राणनाथ पुनः राजस्थान की ओर चले गए और वहाँ कई राज्यों में धर्म-प्रचार करते रहे। अनेक मुसलमान भी इनके शिष्य बन गए, क्योंकि वे सर्व-समन्वय का प्रचार करते थे। १६९३ ई० (१७४० वि०) में प्राणनाथ पदमापुरी (पन्ना) पधारे। छत्रसाल को भी इन्होंने अपना शिष्य बनाया। उन्हीं की प्रेरणा और प्रोत्साहन से छत्रसाल ने औरंगजेब का सामना किया और विजयी हुए। पन्ना में ही १७५१ वि०, आषाढ़ बदी ४ को रात्रि के ४ बजे इनकी इहलीला समाप्त हुई और ये परमधाम को सिधार गए।

मध्यकाल में अनेक निर्गुण संतों ने राम-रहीम की एकता का उपदेश दिया था, किन्तु संभवतः प्राणनाथ ही पहले महात्मा हैं जिन्होंने हिन्दुओं के धर्म-ग्रंथ—वेद, उपनिषद, गीता, भागवत और मुसलमानों के धर्म-ग्रंथ—कुरान का सम्यक अध्ययन करके मौलिक एकता स्थापित करने का प्रयत्न किया। इनका संप्रदाय प्रणामी, प्राणनाथी, धामी और निजानंद के नाम से प्रसिद्ध है। इस संप्रदाय में सूक्ष्म दशधा कृष्ण-भक्ति को आधार मान कर सर्व-धर्म-समन्वय का प्रयास मिलता है। धार्मिक, सामाजिक तथा साहित्यिक सभी दृष्टियों से प्राणनाथ का नाम मध्यकालीन इतिहास में महत्वपूर्ण है।

प्राणनाथ की प्रसिद्ध रचना 'कुलजनस्वरूप' या 'तारतम्य सागर' है। लगभग एक सहस्र बड़े पृष्ठों का यह बृहदाकार ग्रंथ प्रणामियों का उपास्य-ग्रंथ है। इसमें १४ छोटे ग्रंथ संकलित हैं। इनका संकलन सन १६९४ ई० (१७५१ वि०) में इनके प्रमुख शिष्य केसोदास ने किया था। इसकी प्रति अब भी पन्ना के प्रणामी मंदिर में सुरक्षित है। ग्रंथ में लगभग १८ हजार चौपाइयाँ हैं। प्राणनाथ ने ब्रज, गुजराती, सिन्धी और हिन्दवी में रचनाएँ की थीं। इनकी ११ पुस्तकें हिन्दवी में लिखी हुई हैं, जिनमें लगभग १० हजार चौपाइयाँ संकलित होंगी। इनके हिन्दवी में रचित ग्रंथों के नाम निम्नलिखित हैं—

१. प्रकाश	११७६ चौपाइयाँ, भाषा हिन्दवी या ब्रजमिश्रित खड़ी बोली।
२. कलस	७६८ चौपाइयाँ, भाषा ,, ,, ,,
३. सनंध	१६९१ चौपाइयाँ, भाषा फारसी-अरबी के तद्भव शब्दों से युक्त, कहीं-कहीं अरबी का

		हिन्दवी में अनुवाद।
४. किरतन	२१०३ चौपाइयाँ,	भाषा ब्रजमिश्रित।
५. खुलासा	१०२९ चौपाइयाँ,	भाषा फारसी के तद्भव शब्दों से युक्त।
६. खिलवत	१०९४ चौपाइयाँ,	भाषा वही।
७. परकरमा	२४८४ चौपाइयाँ,	भाषा कहीं ब्रज और कहीं फारसीमिश्रित।
८. सिंगार	२२०९ चौपाइयाँ,	भाषा यदा-कदा ब्रजमिश्रित।
९. सिन्धी पदों का हिन्दुस्तानी अनुवाद	कुछ पद,	भाषा हिन्दवी।
१०. मारफत	—	भाषा इस्लाम धर्म संबंधी अनेक अरबी शब्दों से युक्त
११. कयामतनामा	७६७ चौपाइयाँ,	भाषा अरबी-फारसी के शब्दों से युक्त
१२. कयामतनामा बड़ा	चौपाइयाँ,	भाषा हिन्दवी।

हिन्दवी में इतनी अधिक रचना मध्यकाल में संभवतः किसी अन्य हिन्दू द्वारा नहीं हुई। 'कुलजनस्वरूप' अब भी हस्तलिखित रूप में ही है। आवश्यकता है कि धार्मिक, सामाजिक और भाषावैज्ञानिक दृष्टि से इसका सम्यक अध्ययन किया जाय।

स्वामी लालदास

स्वामी लालदास स्वामी प्राणनाथ के प्रमुख शिष्य थे। ये सदैव धर्म-प्रचार के कार्य में अपने गुरु के साथ रहे। इन्हें संस्कृत, फारसी, अरबी, गुजराती, सिन्धी, ब्रज और हिन्दवी (खड़ी) का ज्ञान था। स्वामी जी के प्रवचनों के समय ये 'कुरान' का पाठ करते थे।

'बीतक' हिन्दवी में लिखा हुआ प्राणनाथ का जीवन-चरित्र संबंधी ग्रंथ है। इस ग्रंथ में लगभग ४००० चौपाइयाँ हैं। सन १६८४ ई० (संवत १७४१ वि०) में लिखित होने के कारण यह हिन्दवी का प्रथम जीवन-चरित्र कहा जा सकता है।

१८वीं शती ई० में उत्तरी भारत में हिन्दवी धारा दो भिन्न दिशाओं में प्रवाहित होती दिखाई पड़ती है। इस शती के प्रथम चरण में ही हिन्दवी में फारसी-अरबी का विशेष प्रभाव पड़ना आरंभ हो गया था। शाही दरबार ने उसे फारसी लिबास पहना कर रेखते की जबान (मिश्रित भाषा) के रूप में अपनाया। क्रमशः वह रेखते की जबान उर्दू-ए-मुअल्ला की जबान बन गई। १७वीं शती ई० के अंतिम चरण और १८वीं शती ई० के प्रथम चरण में भी कुछ मुसलमान कवि—जाफर ज़टली, अटल आदि हिन्दवी की सामान्य शैली में ही कविता करते थे। किन्तु फायज, यकरंग, आबरू, फुगां आदि मुसलमान कवि रेखता शैली की ओर झुकने लगे थे और हिन्दवी शैली से दूर हटते जा रहे थे। मुहम्मदशाह के समय में हातिम आदि कवियों के कारण उर्दू की शैली का जन्म हुआ और उस शाही शैली की तुलना में हिन्दवी की सामान्य शैली को गँवारू समझा जाने लगा। किन्तु हिन्दवी शैली व्यापक और बोधगम्य थी।

१८वीं शती ई० में भी हिन्दवी में हमें कई गद्य रचनाएँ मिलती हैं, जिनमें **दौलतराम** की **'जैन रामायण'** (पद्मपुराण), किसी अज्ञात लेखक द्वारा लिखित **'चकत्ता की पातस्या'**

की कथा और **रामप्रसाद निरंजनी** द्वारा लिखित 'योगवासिष्ठ' अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। १८वीं शती ई० के अंत में ही हिन्दवी शैली को परिनिष्ठित (स्टैंडर्ड) रूप देने का प्रयत्न हिन्दुओं द्वारा आरंभ हो गया था। **इंशा** ने 'हिन्दवी छुट और किसी बोली का पुट न रहे, न उसमें फारसी-अरबी का प्रभाव हो और न ग्राम्य दोष हो' कहकर हिन्दवी के सुस्थिर, नियमित, आदर्श की ओर संकेत किया था। **सदासुखलाल** की कुछ रचनाएँ इसी शैली में लिखी गई हैं। अंत में फोर्ट विलियम कालेज के तत्वावधान में डा० गिलक्राइस्ट की देखरेख में लल्लूलाल द्वारा 'प्रेमसागर' तथा **सदल मिश्र** द्वारा 'नासिकेतोपाख्यान' और 'रामचरित्र' नामक ग्रंथ हिन्दवी, अर्थात खड़ीबोली में लिखे गए। ये दोनों ग्रंथ एक प्रकार से हिन्दवी के अंतिम ग्रंथ और स्टैंडर्ड हिन्दी के प्रथम ग्रंथ हैं। यहाँ आकर हिन्दी हिन्दवी को आत्मसात कर लेती है। आधुनिक हिन्दी ने अधिकांश में हिन्दवीपन की रक्षा की है, अतएव वह उसकी समस्त साहित्य-राशि की उचित उत्तराधिकारिणी है।

सहायक पुस्तकों की सूची

१—उर्दू ए कदीम (उर्दू), सैयद शमसुल्ला क़ादिरी।
२—उर्दू शहपारे (उर्दू), डा० मोहिनुद्दीन क़ादिरी।
३—उर्दू की इब्तदाई नश्वोनुमा में सूफियाए कराम का काम (उर्दू), डा० अब्दुल हक़।
४—कुल्लियात बहरी (उर्दू), डा० मोहम्मद हाफीज सैयद।
५—कुल्लियातेकुली कुतुबशाह (उर्दू), डा० मोहिनुद्दीन क़ादिरी ज़ौर।
६—कुतुब मुश्तरी (उर्दू), डा० अब्दुल हक़।
७—उर्दू साहित्य का इतिहास, सैयद एहतिशाम हुसेन।
८—खड़ीबोली साहित्य का इतिहास, ब्रजरत्न दास।
९—तारीखे अदब उर्दू (उर्दू), रामबाबू सक्सेना।
१०—दकन में उर्दू (उर्दू), नसीरुद्दीन हाशिमी।
११—दखिनी हिन्दी, डा० बाबूराम सक्सेना।
१२—दक्खिनी का पद्य और गद्य, श्रीराम शर्मा।
१३—दखिनी के सूफी लेखक, डा० विमला वाघ्रे।
१४—मुकालाते हाशिमी (उर्दू), नसीरुद्दीन हाशिमी।
१५—मदरास में उर्दू (उर्दू), नसीरुद्दीन हाशिमी।
१६—यूरोप में दखिनी मखतूतात (उर्दू), नसीरुद्दीन हाशिमी।
१७—रौज़तुल औलिया बीजापुर, मुहम्मद अली मिर्जा।
१८—लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इंडिया (अंग्रेजी), डा० ग्रियर्सन।
१९—सबरस (उर्दू), डा० अब्दुल हक़।
२०—हिन्दुस्तानी लिसानियात (उर्दू), डा० मुहीनुद्दीन क़ादिरी 'ज़ौर'।

१६. उर्दू साहित्य

उत्तरी भारत में दिल्ली के आस-पास खड़ीबोली का उर्दू रूप अमीर खुसरौ से पहले प्रचलित हो चुका था और इसकी एकाध रचनाएँ कहीं-कहीं मिल जाती थीं, परन्तु मुगल शासक औरंगज़ेब से पूर्व यहाँ रचनाओं का नियमित क्रम नहीं मिलता। औरंगजेब के ज़माने से दिल्ली के कवियों की कविताएँ मिलती हैं और हमारे पास इसके स्पष्ट प्रमाण मौजूद हैं कि **वली** जब सैर को दिल्ली आए तो यहाँ शेर व शायरी का रवाज था। इस समय के कवियों में **फ़ायज** देहलवी और **जाफर जटल्ली** के दीवान छपे हुए हैं, जिनको देखकर यह साफ़ साफ़ पता चल जाता है कि वली के असर से पहले दिल्ली की उर्दू कविता भिन्न थी। फ़ायज़ के दीवान में ब्रजभाषा की तरह स्त्री की ओर से प्रेम प्रकट किया गया है। वे पुरुष की उपमा चाँद से और स्त्री की चकोर से देते हैं, बालों के जूड़े को नागिन और आँखों को कटारी कहते हैं। जब सन १७२२ ई० (सं० १७७९ वि०) में वली दिल्ली आए, तो उनको दिल्ली के एक सूफ़ी बुजुर्ग शेख सादुल्लाह 'गुलशन' ने कविता का रंग बदल देने की सलाह दी और कहा कि फ़ारसी में जो रंगारंग के लेख मौजूद हैं, उनसे फ़ायदा उठाओ और सबको अपनी भाषा में ले आओ। उस समय दरबारी भाषा फ़ारसी थी। बड़े बड़े लोग इसी में बातचीत करते थे, इसी में पत्र और पुस्तकें लिखते थे। इसीके माध्यम से दर्शन, आयुर्वेद, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, ज्योतिष, भौतिकी आदि पढ़ते-पढ़ाते थे, इसलिए वली को यह बात बड़ी अच्छी लगी। उन्होंने अपनी कविता का रूप बदल दिया और फ़ारसी ग़ज़ल की तरह उर्दू में लिखने लगे—वही परम्पराएँ, वही उपमान और वैसी ही विचार-धारा।

वली तो यह बदला हुआ रंग दिखा कर दिल्ली से चले गए, परन्तु दिल्ली वालों को उर्दू कविता का यह नया रूप बहुत भाया और देखते ही देखते यहाँ के लोग इसी रूप में कविता लिखने लगे। **शाह मुबारक 'आबरू', मुस्तफ़ा खाँ 'यकरंग', शाहहातिम** बहुत प्रसिद्ध हुए। हातिम ने तो एक बहुत बड़ा दीवान भी लिखा जिसके बारे में मुहम्मदहुसैन 'आज़ाद' ने लिखा है कि उसमें कई हज़ार शेर थे। इन शायरों को ईहाम (श्लेष) बहुत पसन्द था। कुछ साल बाद शाहहातिम ने अपने समय की कविता में दो कमज़ोरियों को बहुत महसूस किया। एक यह कि श्लेष की कविता बड़ी हलकी चीज है, इसी को कविता का लक्ष्य नहीं समझना चाहिए, शायरी इससे कहीं ज्यादा गहरी चीज़ है। दूसरी यह कि कविता की भाषा अधिक साफ़ और मँजी हुई होनी चाहिए।

फ़ारसी की रीति पर चलने के कारण क़ाफ़िया के क़ायदों की पाबन्दी अधिक होने लगी, इसलिए शाह हातिम ने कुछ ऐसे शब्दों और तरीकों को, जो उस समय कविता में प्रचलित थे, बुरा समझ कर छोड़ दिया। साथ ही उन्होंने नई पाबन्दियों का खयाल रख कर अपने तैयार

किए हुए दीवान पर एक दृष्टि डाली और पुराने नियमों के अनुसार लिखे हुए शेर निकाल कर एक छोटा दीवान तैयार किया, जिसका नाम उन्होंने 'दीवान ज़ादा' रखा। उसमें लगभग ५००० शेर हैं।

दिल्ली में उस समय पढ़ने-लिखने की बड़ी चर्चा थी, अरबी और फारसी के बड़े बड़े विद्वान थे, जिनके पास बहुत लोग उठा बैठा करते थे और विभिन्न प्रश्नों पर तर्क-वितर्क करते थे। ऐसे व्यक्तियों में एक **खान आरज़ू** थे, जिनकी योग्यता के कारण लोग उनका बड़ा आदर करते थे। वे उर्दू में कविता करने वालों को बड़ा उत्साह दिलाते थे। वे **मीरतक़ी 'मीर'** की सौतेली माँ के भाई थे। यद्यपि बाद को मीर और उनके बीच कुछ रंजिश हो गई थी, परन्तु प्रारम्भ में ख़ान आरज़ू के ही यहाँ मीर की उर्दू कविता की नींव पड़ी। ख़ान आरज़ू के अलावा दूसरा केन्द्र शाह तसलीम का तकिया था, जहाँ रोज़ शाम को शाह हातिम बैठा करते थे, और लोग भी आ जाया करते थे, दो-चार घंटे बड़ी दिलचस्प गोष्ठी होती थी। शाह हातिम के पैंतालिस शिष्यों में **सआदत यार ख़ाँ 'रंगी'** और **मिर्ज़ा मुहम्मद रफ़ी 'सौदा'** अत्यन्त प्रसिद्ध हुए, जिनमें 'सौदा' का जो नाम हुआ वह किसी के हिस्से में नहीं आया।

शाह हातिम के बाद ग़ज़ल कहने वालों की जो पीढ़ी आई उनमें मीर तक़ी 'मीर', मिर्ज़ा 'सौदा' और **ख़्वाजा मीर 'दर्द'** सबसे ज्यादा प्रसिद्ध हैं। **क़यामउद्दीन 'क़ायम'** और **मीर 'सोज़'** दूसरी श्रेणी में आते हैं। **मीर तक़ी 'मीर'** (१७२४-१८१० ई० = सं० १७८१–१८६७ वि०) का बचपन आगरे में बीता और वहाँ से वे दिल्ली और फिर लखनऊ आए। उनकी ग़ज़लों में भावना की तीव्रता, गंभीरता तथा वेदना का ऐसा अतिरेक है कि उर्दू ग़ज़ल में उनका महत्व सर्वस्वीकृत है। इस बात को सभी मानते हैं कि मीर की रचना में जो मधुरता और कलात्मक उत्कर्ष है वह किसी दूसरे में नहीं। जल्द ही दिल्ली से निकल कर उनका नाम उर्दू जानने वालों में फैल गया और जब दिल्ली से तंग आकर वे लखनऊ पहुँचे तो यहाँ उनकी बड़ी आवभगत हुई, परन्तु स्वतंत्र प्रकृति और तुनुकमिज़ाजी के कारण वे सदैव दुखी ही रहे।

सौदा (सन १७१३-१७८०ई० = सं० १७७०-१८३७ वि०) भी दिल्ली में ही प्रसिद्ध हुए, परन्तु वे भी वहाँ से दुखी होकर पहले फ़र्रुख़ाबाद और फिर फ़ैजाबाद होते हुए लखनऊ पहुँचे और वहीं के हो रहे। **ख़्वाजा मीर 'दर्द'** (सन १७१९-१७५८ई० = सं० १७७६-१८१५ वि०) सूफ़ी फ़क़ीर थे और उम्र भर दिल्ली में ही रहे। उनकी कविताओं में भी सूफ़ियाना रंग है और इस रंग के उनके शेर 'मीर' की टक्कर के हैं। 'सोज़' और 'क़ायम' ने भी दिल्ली में ही परवरिश पाई। वे ग़ज़ल की शायरी में अपनी भावनाओं को प्रकट करने और सीधी सादी रचना करने में प्रसिद्ध हैं। इन कवियों ने फ़ारसी ग़ज़ल के नमूने अपने सामने रखे और श्लेष की हलकी कविता को छोड़कर गहराई की ओर झुके। इनके कारण उर्दू ग़ज़ल में गंभीरता और गुरुता आई, जिससे वह भावनाओं को प्रकट करने और प्रभाव में फ़ारसी ग़ज़ल से स्पर्धा करने लगी। दिल्ली के दरबार ने इन कवियों की किसी प्रकार की सहायता नहीं की, अलबत्ता यहाँ के पढ़े-लिखे लोग जब तक इस योग्य रहे, कवियों का सम्मान करते रहे। परन्तु नादिरशाह, अहमदशाह अब्दाली और मराठों ने दिल्ली को ऐसा लूटा कि वहाँ अराजकता छा गई और एक-एक करके सभी को दिल्ली छोड़ कर दूसरे शहरों में शरण लेनी पड़ी। अवध के नवाबों ने ऐसे समय में कला, साहित्य और ज्ञान

को प्रश्रय दिया और अधिकतर कलाकार और विद्वानों ने दिल्ली से निकल कर अवध में शरण ली। यहाँ उनका बड़ा सम्मान हुआ।

मुसहफ़ी (सन १७५०-१८२४ ई० =सं० १८०७-१८८१ वि०) का नाम गुलाम हमदानी **था** और ये अमरोहा के रहने वाले थे। शेर वहुत जल्दी कहते थे और मुशायरे के लिए ग़ज़लें बेचते भी थे। उनके कलाम में मजबूती और सफ़ाई है। नवाब सआदत अली खाँ की दरबारी नोक-झोंक में उनसे और सैयद इंशा से चल गई, जिससे शहर में बड़े हंगामे हुए। **सैयद इंशा** बड़ी तीव्र बुद्धि वाले और प्रतिभावान कवि थे। वे बात-बात में अपने स्वभाव की चंचलता से नवीनता पैदा कर देते थे; इसलिए अवध के दरबार में वे कवि से अधिक दरबारी विदूषक बनकर रह गए थे। परन्तु दोनों उस्तादों की रचना में कुछ चमत्कार भी हैं जिनसे उनका नाम जीवित रहेगा। **क़लन्दर वख़्श 'जुरअत'** (मृत्यु सन १८१० ई० =सं० १८६७ वि०) भी इन्हीं लोगों के समकालीन हैं जिनकी अभिव्यक्ति में चंचलता अधिक है।

राय टीकाराम 'तसल्ली', इफ़तेख़ारउद्दौला महाराजा मेवाराम और **राजा कुन्दन लाल 'अश्की'** दरबारी कवियों में प्रसिद्ध हैं। राय टीकाराम 'तसल्ली' के यहाँ मुशायरे बड़ी शान के होते थे, जिनमें से दो में बादशाह भी सम्मिलित हुए थे। इनके अलावा इस ज़माने के मशहूर कवियों में **'रंगी', 'मीर असर', जाफ़र अली 'हसरत'** और **शेर अली 'अफ़सोस'** हैं। **नजीर 'अकबराबादी'** भी उसी ज़माने के कवि हैं, परन्तु उनका महत्व ग़ज़लगो की हैसियत से नहीं, इसलिए उनका वर्णन आगे होगा।

लखनऊ का जीवन दिल्ली के जीवन से बिलकुल भिन्न था। यहाँ (दिल्ली में) लोग शासन-प्रबन्ध ठीक न होने से परेशान थे, वहाँ सब प्रसन्न और संतुष्ट थे। यहाँ के शासक की आय कम, अपने ही खर्चे के लिए अपर्याप्त थी। वहाँ दौलत और सख़ावत का दरिया बहता था, 'जिसको न दें मौला, उसको दें आसिफ़ुद्दौला' की कहावत लोगों की ज़बान पर थी। इसलिए लखनऊ के जीवन में विलासिता के सामान थे। खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने, हर चीज़ में तकल्लुफ़, बनावट और सजावट थी। गुलाब और केवड़ा पानी की तरह बहता था, इसीलिए वहाँ समस्त ललित कलाओं का विकास हुआ और लखनऊ की संस्कृति एक अलग चीज़ बन गई, जिसकी अलग विशेषताएँ थीं। हर चीज़ में स्वच्छता, नज़ाकत और नफ़ासत। यही चीज़ शायरी में भी आई। नर्मी और लोच की दृष्टि से शब्दों की काट-छाँट, मुहाविरों का ठीक-ठीक प्रयोग, संस्कृत और ब्रजभाषा के शब्दों को सुन्दर और सुडौल रूप में कविता में प्रयुक्त करने का प्रयत्न किया गया। दूसरे शब्दों में यों कहिए कि गँवारपन की जगह नागरिकता को स्थान दिया गया, और उर्दू कविता उस लखनवी संस्कृति की प्रतिनिधि हो गई जिसके हाथों इसका पालन पोषण हो रहा था। हर ज़माने के साहित्य का निर्माण करने वाला वही होता है जिसके हाथों में समाज की बागडोर होती है। उस समय की सभ्यता में स्वच्छता, सुन्दरता और गहराई का जो मापदंड था, वही साहित्य में भी दिखाई पड़ा। फ़ारसी के शब्दों का अधिक प्रयोग होने लगा और भाषा या मुहाविरे या उच्चारण की ज़रा सी चूक भी सहन न की जाती थी। इसी कारण ग़ज़ल कहने वालों का ज़्यादा ध्यान काव्य के रूप की ओर गया। उपमा और रूपक पर अधिक ध्यान दिया गया। शैली के कमाल में उस्तादी समझी जाने लगी। वेश्या इस

सभ्यता की एक अंग थी, इसी कारण इस समय की कविता की विषय वस्तु में इसकी झलक स्पष्ट दिखलाई पड़ती है।

नासिख इस स्कूल के सबसे बड़े प्रतिनिधि हैं। **भाषा** की काट-छाँट और सुथरता को उन्होंने अपना ध्येय बनाया और सब ने उनकी नक़ल की। भाषा-सुधार आन्दोलन में उनका स्थान सबसे महत्वपूर्ण है। **आतश** ने अगरचे अपना रंग अलग रखा और कुछ भावनाएँ प्रकट करते रहे, परन्तु उनके शागिर्दों ने भी 'नासिख' का अनुसरण किया, अतः इन दोनों के बाद **'वज़ीर', 'सबा', 'रिन्द' 'रश्क'** और **'असीर'** इत्यादि भी लखनऊ स्कूल के पूरे अनुयायी हुए।

उधर जब दिल्ली को मरहठों, रुहेलों आदि ने इतना लूटा कि वहाँ कुछ लूटने को रह ही नहीं गया तो वहाँ का जीवन शान्तिमय हुआ और वहाँ भी शेर व शायरी की चर्चा, जो अराजकता और कंगाली में दब गई थी, उभर आई। यहाँ के शासकों को भी उर्दू से लगाव होने लगा। **शाह आलम 'आफ़ताब'** और **बहादुरशाह 'जफ़र'** खुद भी शेर कहते थे, इसलिए दिल्ली में प्रथम श्रेणी के कवियों ने पुनः जन्म लिया। परन्तु अब की दिल्ली और पहले की दिल्ली में अन्तर था। अब 'नासिख' का सिक्का ऐसा चल चुका था कि दिल्ली वालों को भी एक हद तक उनके उसूल मानने पड़े, **'मोमिन', 'ज़ौक'** और **'ग़ालिब'** सब 'नासिख' का रास्ता ठीक समझते हैं। 'ज़ौक़' तो 'नासिख' के ही रास्ते पर बराबर चले। 'मोमिन' और 'ग़ालिब' ने शेर में गहराई और विचार पैदा करके कविता की धारा ही बदल दी। 'ग़ालिब' ने विशेष कर **'ग़ौर'** व **'फ़िक्र'** की राह निकाल दी, जिस पर लोग 'नासिख' के रास्ते को छोड़कर चल पड़े और कविता की काया ही पलट गई। इस कायापलट में 'ग़ालिब' का कितना हिस्सा था और कितना उन सामाजिक परिस्थितियों का जो अंग्रेजी शासन से उत्पन्न हुई थीं, इसका वर्णन यहाँ उचित नहीं जान पड़ता क्योंकि हमारे विषय की सीमा १८५० ई० तक ही है।

क़सीदा

दरबारी जीवन की एक ज़रूरी कड़ी क़सीदा है। इसका मुख्य उद्देश्य किसी की प्रशंसा करना होता है। अरबी और फ़ारसी शायरी में क़सीदे का बड़ा ज़ोर रहा है, हर शायर बादशाहों और अमीरों से अपना परिचय क़सीदे द्वारा ही करता रहा और खुशी के हर मौक़े पर क़सीदा लिखकर इनाम लेता रहा। लोगों को प्रसन्न करने के लिए उसमें अधिक से अधिक प्रशंसा की जाती थी और इसका मुक़ाबिला होता था कि अधिक से अधिक प्रशंसा कौन करता है। शासकों और अमीरों के अलावा धार्मिक पेशवाओं की तारीफ़ में भी क़सीदे लिखे जाते थे। कवि जब किसी से नाराज़ होता था तो उसकी बुराई में भी क़सीदे लिखता था, ऐसे क़सीदे को 'हजो' कहते हैं। उर्दू में जब शेर व शायरी की प्रथा बढ़ी तो कवियों को अमीरों और दरबारों की आवश्यकता पड़ी। औरंगज़ेब के बाद दिल्ली का शासन बहुत कमजोर हो गया था। इस कारण फ़ारसी के कसीदों के बजाय उर्दू में क़सीदे लिखे जाने लगे। उर्दू में सबसे बड़ा क़सीदा और हजो लिखने वाला कवि **सौदा** (१७१३–१७८० ई०=सं० १७७०–१८३७ वि०) है। सौदा ने फ़ारसी क़सीदों के जोड़ पर उर्दू क़सीदे लिखे हैं और बड़े बड़े फ़ारसी कवियों से मुक़ाबला किया है।

क़सीदा का प्रारम्भिक भाग बड़ा महत्वपूर्ण होता है। उसमें प्रशंसा नहीं होती बल्कि

दूसरी बातें होती हैं। अधिकतर फूलों की रंग-बिरंगी बहार का वर्णन होता है। सौदा ने अपने कसीदों में भिन्न-भिन्न दृश्यों की चित्रकारी की है और इसी में बड़ी उस्तादी दिखलाई है। एक क़सीदे में हाफ़िज़ रहमत खां और रुहेलों के युद्ध का वर्णन है। एक में दिल्ली की अराजकता और दुर्दशा का वर्णन है और सभी प्रकार के मनुष्यों की दयनीय दशा का वर्णन-चित्रण है। उनके क़सीदों में जगह जगह दर्शन और तर्क परिलक्षित होते हैं।

सौदा के बयान में बड़ी शान व शौकत है। ग़ज़ल में मीठी, नर्म, लोचदार भाषा की ज़रूरत होती है, परन्तु क़सीदे में शानदार और जोशीली भाषा की आवश्यकता होती है, ताकि यह मालूम हो कि जो प्रशंसा की जा रही है उसमें सत्यता और ज़ोर है। इसी कारण मीर तक़ी 'मीर' के क़सीदों में वह बात नहीं जो सौदा के यहाँ है।

सौदा के क़सीदों की भाँति उनकी हज्वें भी बहुत ज़ोरदार हैं। गुंचा नाम का उनका एक नौकर था। जब वे किसी से नाराज़ होते थे तो पुकार कर कहते थे कि 'अरे गुंचा, लाना तो मेरा क़लमदान' और उसकी हज्व लिख डालते थे। उन्होंने बहुत लोगों की हज्वें लिखी हैं और बहुतों ने उनकी लिखी हैं। लेकिन उनकी हज्वों में अपना विशेष काव्य गुण है जिसके कारण उनमें जान है और दूसरों की लिखी हज्व कोई पढ़ता भी नहीं।

सौदा के बाद क़सीदा लिखने वालों में दूसरा प्रमुख नाम **इंशा** (मृत्यु १८१७ ई० = सं० १८७४ वि०) का है। उन्होंने भी बहुत अच्छे क़सीदे लिखे हैं।

दिल्ली के लोग अवध दरबार से सम्बन्ध-विच्छेद होने के बाद भी क़सीदे लिखते रहे। लखनऊ के नवाबों के पास यद्यपि दिल्ली के मुक़ाबले में बहुत ज्यादा धन था और वे बड़ी उदारता से उसे कवियों, गायकों और अन्य कलाकारों पर ख़र्च करते थे, लेकिन उन लोगों ने अपनी प्रशंसा में क़सीदे लिखने के लिए कवियों को उत्साहित नहीं किया। इसी कारण क़सीदा लखनऊ स्कूल में ग़दर से आगे नहीं बढ़ा, अलबत्ता उधर दिल्ली में इसका प्रचार रहा। 'मोमिन', 'ज़ौक़' और 'ग़ालिब' तीनों अच्छे क़सीदे लिखने वाले हैं और अपने अपने रंग में ख़ूब हैं। इन तीनों में 'ज़ौक़' के क़सीदों की बड़ी ख्याति है। सौदा के बाद क़सीदे को अगर किसी ने फिर उसी ऊँचाई पर पहुँचाया तो वह ज़ौक़ ही हैं।

मसनवी

ग़ज़ल और क़सीदे की भाँति मसनवी में एक ही क़ाफ़िये और रदीफ़ (तुकांत) की पाबन्दी नहीं की जाती। इसमें हर शेर के दोनों मिसरे एक क़ाफ़िये के होते हैं, लेकिन अगले शेरों में वह क़ाफ़िया नहीं होता, जैसे—

सुनाऊँ तुम्हें बात यक रात की,
कि वह रात अँधेरी थी बरसात की,
चमकने से जुगनू के था यक समां,
हवा में उड़ें जैसे चिनगारियां।

इस सुविधा के कारण इसमें पूरी पूरी कहानियों और घटनाओं का वर्णन किया जाता है। बड़ी बड़ी मसनवियों में कई कई हज़ार शेर होते हैं। दक्षिण में मसनवियाँ अधिकतर धार्मिक

विषयों पर लिखी गई हैं, लेकिन उत्तरी भारत में प्रसिद्ध और नामी मसनवियाँ वे हैं, जिनमें प्रेम की कथाओं का वर्णन है। छोटी छोटी मसनवियाँ तो क़रीब क़रीब उर्दू के सभी कवियों ने लिखी हैं। 'फ़ायज़' के दीवान में भी 'पनहारन' आदि पर कई मसनवियाँ हैं। 'आबरू' और 'सौदा' की मसनवियाँ हैं, परन्तु ग़ज़ल की तरह मसनवी में भी मीर तक़ी 'मीर' अपने सब साथियों से आगे हैं। उनकी कुछ मसनवियों में प्रेम कहानियाँ हैं जो सब की सब नायक और नायिका की मृत्यु पर समाप्त हुई हैं। कुछ में अपने पालतू जानवरों, अपनी बीमारी और घर आदि का वर्णन है, परन्तु इनमें अच्छी वही हैं जिनमें प्रेम कथाएँ हैं। इनमें 'मीर' ने अपनी कला की सुकुमारता और कोमलता को बड़ी अच्छी तरह प्रकट किया है।

'मीर असर' की मसनवी 'ख़ाबोख़याल' भी वर्णन की सादगी, मुहावरे की सफ़ाई की दृष्टि से बड़ी अच्छी मसनवी है। उसमें नायक और नायिका की मुलाक़ात का समां बहुत विस्तार से लिखा है जो कहीं-कहीं पर कुछ अश्लील हो गया है। 'मुसहफ़ी' की 'बहरुलमुहब्बत' और मुहब्बत खां की 'असरारेमुहब्बत' भी उल्लेखनीय हैं। लेकिन **मीर हसन** (१७३६-१७८६ ई० =सं० १७९३-१८४३) की मसनवी 'सेहरुलबयान' को जो यश प्राप्त है, वह किसी दूसरी मसनवी को नहीं।

'सेहरुलबयान' मीर हसन ने उस समय लिखी जब वे फ़ैज़ाबाद जा बसे थे और वहाँ अवध के दरबार से फ़ैज़ पाते थे। इसमें उन्होंने शाहज़ादा बेनज़ीर की कहानी लिखी जो एक बादशाह के यहाँ पैदा हुआ। जब वह बारह बरस का हुआ तो उसे एक परी उठा ले गई जिसने उसे सैर के लिए एक कल का घोड़ा दिया। यह घोड़ा एक दिन बेनज़ीर को शाहज़ादी बद्रेमुनीर के बाग़ में ले गया, जिसे देखकर बेनज़ीर उस पर आशिक़ हो गया। कुछ दिनों बाद जब परी को इसका पता चला तो उसने शाहज़ादे को एक कुएँ में क़ैद कर दिया।

बद्रेमुनीर की सहेली नजमुन्निसा के प्रयत्न से शाहज़ादा को कैद से मुक्ति मिली और फिर उन दोनों का विवाह हो गया। यह कहानी तो कुछ नई नहीं, लेकिन मीर हसन ने इसका वर्णन करने में जो उस्तादी दिखाई है--बादशाह के महल और जुलूस का दृश्य, ज्योतिषियों, गायकों, शहसवारों और विभिन्न पेशावरों की बातचीत, नवाबों की जिन्दगी का चित्रण जिस प्रकार उपस्थित किया है---उसने उनका नाम अमर कर दिया है। उनकी भाषा ऐसी सरल, मुहावरेदार है कि उसे पढ़ कर दरिया का बहाव याद आ जाता है---

> कहीं अपने पट्टे सँवारे कोई, अरी ओ सहेली पुकारे कोई!
> कहीं चुटकियाँ और कहीं तालियाँ, कहीं क़हक़हे और कहीं गालियाँ।
> कोई हौज़ में जाके ग़ोता लगाए, कोई नहर पर पाँव बैठी हिलाए।
> कोई आरसी अपने आगे धरे, अदा से कहीं बैठी कंघी करे।
> मुक़ाबा कोई खोल मिस्सी लगाए, लबों पर धड़ी कोई अपने जमाए।

मीर हसन की 'सेहरुलबयान' के बाद 'नासिख़' ने भी मसनवी लिखी और दूसरों ने भी, लेकिन जिस मसनवी का नाम अक्सर लिया जाता है वह **दयाशंकर 'नसीम'** (१८११-१८४३ई०= १८६८-१९०० वि०) की 'गुलज़ारेनसीम' है। यह 'सेहरुलबयान' के लगभग पचास वर्ष

बाद लिखी गई और उसकी शैली इससे बिलकुल अलग है। 'मीरहसन' ने प्रवाह पर जितना ज़ोर दिया है उतना ही 'नसीम' ने अपने अन्दाज़े बयान में अलंकारिता पर बल दिया है। दयाशंकर 'नसीम' 'आतश' के शिष्य हैं। उनकी यह मसनवी लखनऊ स्कूल की प्रतिनिधि है और इस रंग में अनुपम है। एक उदाहरण लीजिए—

> गुलचीं का जो हाय हाथ टूटा, गुंचे के भी मुँह से कुछ न फूटा।
> ओ ख़ार पड़ा न तेरा चंगुल, मुशकें कस लीं न तू ने संबुल ?
> ओ बादे सबा हवा न बतला, ख़ुशबू ही सुँघा पता न बतला।
> बुलबुल तू चहक बता किधर है ?, गुल, तू ही महक बता किधर है ?
> उंगली लबे जू प रक्खे शम्शाद, था दम ब खुद उसकी सुन के फ़रियाद,
> जो नख़्ल था सोच में खड़ा था, जो बर्ग था हाथ मल रहा था।

१८५० ई० (सं० १९०७) से पहले ये तमाम मसनवियाँ अलौकिकता से भरी हुई हैं; देव-परी, जादू-टोने का वर्णन इनमें मिलता है। इसका कारण यह है कि इस समय में लोग इन चीज़ों पर विश्वास करते थे। इन मसनवियों की दूसरी विशेषता यह थी कि इन पर आदर्श-वाद और अतिवाद का रंग चढ़ा हुआ था। जो गुण हैं वे चरम तक पहुँचे हुए, जो बात है वह इन्तहा तक। नायक में दुनिया की तमाम अच्छाइयाँ भरी हुई हैं, इसी तरह नायिका दुनिया से ऊपर है। 'मीर' के आशिक़ महबूबा की एक झलक मात्र देखकर ऐसे दीवाने हो जाते हैं कि तड़प तड़प कर जान दे देते हैं। दूसरों के यहाँ जान देने की नौबत तो नहीं आती, परन्तु सब अतिवादी हैं। मसनवियों की अन्तिम ध्यान देने योग्य विशेषता उनका दुःखान्त होना है, जो दिल्ली की अराजकता और परेशानी का परिणाम है। परन्तु जब कवियों को अवध का विलासपूर्ण वातावरण प्राप्त होता है तो उनकी मसनवियाँ सुखान्त होती हैं और नायक और नायिका के मिलन पर समाप्त होती हैं।

इन मसनवियों में तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति का बहुत सुन्दर चित्रण हुआ है। उस समय की बहुत सी प्रथाएँ, रवाज और तरीक़े इनमें मिलते हैं जिनसे उस समय की सामाजिक विशेषताओं का मूल्यांकन किया जा सकता है। इन मसनवियों के अतिरिक्त उस समय कुछ धार्मिक मसनवियाँ भी लिखी गईं जिनमें रामायण की कहानी का वर्णन मिलता है।

रेख़ती

दिल्ली और लखनऊ के अमीरों और शरीफ़ों का जो सामाजिक निज़ाम था उसने सारे उत्तरी भारत को प्रभावित किया। इसके परिणाम स्वरूप स्त्री और पुरुष समाज के दो भागों में विभक्त हो गए। इस विभाजन के साथ एक परिणाम यह भी हुआ कि स्त्रियों की भाषा की अपनी कुछ विशेषताएँ हो गईं। उनके मुहावरे और बहुत से शब्द अलग हो गए। **सआक्त यार ख़ाँ 'रंगीन'** को यह खयाल आया कि स्त्रियों की इस अलग भाषा में शायरी की जाय। इसलिए उन्होंने इसी भाषा में ग़ज़लें कहीं और उसका नाम 'रेख़ती' रखा। अपनी मस्ती, रंगीनी और दिलचस्पी के कारण यह बहुत लोकप्रिय हुई। इन लोगों के बाद **मीर यार अली**, जिनका तख़ल्लुस **'जान**

साहब' है, इसकी ओर ऐसा बढ़े कि उन्होंने इसके अलावा और कुछ कहा ही नहीं। मुशायरों में शेर सुनाते वक्त वे कंधों पर दुपट्टा डालकर स्त्रियों की तरह ऐसा मटक मटक कर पढ़ते कि लोगों को बड़ा मज़ा आता था। उनकी एक ग़ज़ल इस प्रकार है—

कहती हूँ मैं खुदा से यह शाम और सबेरे,
जुग जुग रहें सलामत बाजी के बच्चे मेरे।
मैं ख़ुद जली भुनी हूँ मुझ से करो न गरमी,
बस ठण्ढे ठण्ढे साहब तुम जाओ अपने डेरे।
बेटी हूँ सूरमा की दो चोटों में भगा दूँ,
लश्कर अमीर ख़ां का गर आके मुझको घेरे।
सौदा हुआ है तुझको आवारा मैं नहीं हूँ,
गलियों में मेरी आके करते हो तुम जो फेरे।
मंगल का दिन है साहब हो जायगी वह दुबली,
बच्ची को मेरी देखो मारो न तुम थपेड़े।
भोली समझ न मुझ को सुनता है 'जान साहब',
ऐसी नहीं हूँ नन्हीं जो आऊँ दम में तेरे।

स्त्री की भावना को प्रकट करने के लिए रेख़ती कहने वालों ने यह सिंफ (रूप) बहुत अच्छी निकाली। उर्दू में स्त्रियों की भाषा और मुहावरे इतने अधिक और ऐसे हैं जिनका प्रयोग पुरुष नहीं करते। इसलिए कविता में उनको स्थान देना बहुत अच्छा था, परन्तु वह वातावरण कुछ ऐसा था कि उसमें भी विलासिता का प्रभाव आ गया और रेख़ती में उच्च श्रेणी की स्त्रियों के बजाय केवल उस श्रेणी की स्त्रियों को लाया गया जो पूरी तरह वेश्या तो नहीं होतीं वरन रखैल होती हैं या नौकरानियों की तरह रहती हैं। इसी कारण रेख़ती में ऐन्द्रिकता यानी सेक्स का भाग अधिक रहता है। उनमें ऐसे इशारे होते हैं जिन्हें बाज़ारू कह सकते हैं। इसी कारण रेख़ती की उन्नति नहीं हुई। यदि सही मार्ग पर इसे चलाया गया होता तो यह बहुत अच्छी चीज़ हो सकती थी।

मरसिया

मुहम्मद साहब के नवासे इमाम हुसैन ने सच्चाई, निकूकारी (सच्चरित्रता) और जनता की भलाई के लिए करबला के मैदान में अपना और अपने परिवार के प्राण देकर शहीद का पद प्राप्त किया। हर साल मुहर्रम में उनकी यादगार मनाई जाती है। ताज़िए रखे जाते हैं, सभाओं में व्याख्यान दिए जाते हैं और कविताएँ लिखी जाती हैं। इन्हीं कविताओं को अपने अपने भेद के विचार से 'मरसिया', 'सलाम' या 'नौहा' कहते हैं। उर्दू, फारसी और अरबी में यों तो हर मरने वाले पर जिस कविता में शोक प्रकट किया जाय उसे मरसिया कह सकते हैं, परन्तु प्रथा के कारण जब केवल मरसिया कहा जाय तो उसे करबला में मरने वालों का मरसिया समझा जायगा और वास्तव में इसी ने उर्दू साहित्य में उन्नति की बड़ी मंज़िलें तै करके उच्च स्थान प्राप्त किया है।

दिल्ली में मरसिये हर रूप (फ़ार्म) में लिखे गए हैं। **सौदा, मीर, सिकन्दर, गदा, मिसकीन** और बहुत से अन्य लोग मरसिया लिखते थे जिनमें कुछ ऐसे लोग थे जो मरसिया के अलावा कुछ लिखते ही न थे। इस काल से पूर्व जो मरसिये लिखे गए वे धर्म-भावना-प्रधान होते थे, परन्तु 'सौदा' ने यह विशेष प्रयत्न किया कि मरसियों को साहित्यिक दृष्टिकोण से भी देखा जाय और उनमें भी कविता के नियमों का पालन किया जाय। दिल्ली की सामाजिक एवं आर्थिक अवनति का प्रभाव वहाँ के साहित्य और काव्य पर भी पड़ा। आर्थिक एवं राजनैतिक कठिनाइयों से तंग आकर वहाँ के कवियों ने अवध की राह ली, जहाँ के नवाबों के ख़ज़ाने कवियों और कलाकारों के लिए खुले हुए थे। एक एक कर दिल्ली के सभी प्रसिद्ध कवि अवध की रंगीन शाम में पहुँच गए। लखनऊ के मरसिया कहने वालों में **छन्नूमल 'दिलगीर'** और **अफ़सुर्दा** प्रसिद्ध हैं। इन कवियों ने बहुत से मरसिये लिखे। 'दिलगीर' के मरसियों की चार मोटी जिल्दें नवल किशोर प्रेस से प्रकाशित हुई हैं। इसी समय **मुजफ़्फ़र हुसेन 'ज़मीर'** ने मरसियागोई में एक इन्क़लाब पैदा कर दिया और उसका एक स्वरूप निश्चित कर उसे उन्नति की ओर अग्रसर किया। पहले तो ज़मीर ने भी अफ़सुर्दा की तरह 'रवायतें' (धार्मिक कहानियाँ) मरसिया में लिखीं, परन्तु इसके पश्चात अपनी बुद्धि एवं कल्पना के सहारे इमाम हुसैन के बेटे अली अकबर के हाल में एक मरसिया उन्होंने एक नए अन्दाज़ से कहा जिसमें उन्होंने उनके ब्याह और नखशिख का वर्णन किया। वैसे हिन्दी में नखशिख वर्णन रहीम, जायसी और अन्य कवियों में बहुत पाया जाता है, परन्तु 'मरसिया' में इसका प्रारंभ एक विशेष रचना-क्रम से 'ज़मीर' ने ही किया। उसके बाद उन्होंने उनके युद्ध का चित्र भी प्राकृतिक रूप में उपस्थित किया। यह मरसिया लिखते समय ज़मीर को इस बात का ज्ञान था कि उर्दू मरसिये में वह एक नया रास्ता निकाल रहे हैं। अली अकबर के मरसिये में उन्होंने आख़िर में लिखा है कि जो ऐसा मरसिया कहे वह उनका शिष्य है—

> जिस साल लिखे वस्फ़[१] यह हमशक्ले[२] नबी के,
> सन बारह सौ उनचास थे हिज्रे नबवी के।
> आगे तो यह अंदाज़ सुने थे न किसी के,
> अब सब यह मुक़ल्लिद[३] हुए इस तर्ज़े नवी[४] के।
> दस में कहूँ, सौ में कहूँ यह विर्द[५] है मेरा,
> जो जी कहे इस तर्ज़ में शागिर्द है मेरा।

सत्य बात तो यह है कि मरसिया को उर्दू कविता में जो उच्च स्थान प्राप्त हुआ है वह ज़मीर के दिखाए हुए मार्ग का ही परिणाम है। ज़मीर के समय में मरसिया के निम्नलिखित रूप निश्चित हो गए :—

१. चेहरा—यह अंग्रेजी के 'प्रोलाग' से कुछ मिलता जुलता है। इसमें कवि पहले साधारण बातें लिखने के पश्चात कभी प्रकृति-चित्रण करता है, कभी पिता-पुत्र का स्नेह उपस्थित करता है और फिर करबला की ट्रेजिडी के किरदारों[६] का परिचय कराता है।

---

१. तारीफ़, २. अली अकबर, ३. अनुयायी, ४. नई, ५. कहना, ६. पात्रों।

२. **सरापा**—इसमें कवि अपने मुख्य नायक का नखशिख वर्णन करता है।

३. **रुख़सत**—नायक युद्ध में जाने को उद्यत हो कर विदा होता है।

४. **रजज़**—युद्धस्थल पर पहुँच कर अरब लड़ाई से पूर्व अपना शौर्य प्रदर्शित करते थे और शत्रु को सम्मुख आने को ललकारते थे। यही मरसिया के इस भाग का विषय होता है।

५. **लड़ाई**—यहाँ तलवार, घोड़े और युद्ध के दाँव-पेंच का वर्णन होता है।

६. **शहादत**[1]—नायक का युद्धस्थल में घायल होकर गिरना।

७. **बैन**—नायक की वीरगति के बाद उसके लिए शोक प्रदर्शन यहाँ होता है।

मरसिया लिखने वाले कवियों में 'ज़मीर' के साथ 'ख़लीक', 'फ़सीह' इत्यादि ने भी इस क्षेत्र में काफी प्रसिद्धि प्राप्त की। इनके बाद **अनीस, दबीर, इश्क़, ताश्शुक़** और उनके साथ बीसों मरसिया लिखने वाले हुए और मरसिया ने बड़ी उन्नति की। एक बात ध्यान देने योग्य यह है कि उर्दू ग़ज़ल या मसनवी में प्रेमी-प्रेमिका या स्त्रीपुरुष के प्रेम का चित्रण होता था, परन्तु मरसिया में भाई-बहन का प्रेम, पिता-पुत्र का स्नेह, माता की ममता और स्त्री-प्रेम के बहुत ही अच्छे नमूने मिलते हैं। इसके अलावा लड़ाई के दृश्य, सेना का एकत्रित होना, सैनिकों का एक दूसरे पर घात-प्रतिघात करना, युद्ध के विभिन्न ढंग या दाव-पेंच मरसिया के वर्ण्य विषय बनाए गए। साथ ही प्रकृति-चित्रण में प्रभातबेला, पक्षियों का कलरव, अरुणोदय बड़े स्वाभाविक ढंग से इसमें लिखे गए। इससे उर्दू कविता में विस्तार आया और कविता के ऐसे नमूने पैदा हुए जिनको महाकाव्य से मिलता जुलता कहा जा सकता है।

इन मरसियों की एक दूसरी मुख्य विशेषता यह है कि उनका वर्ण्य विषय तो मुहम्मद साहब का घराना अर्थात विदेशी है, किन्तु उनका वातावरण, स्त्रियों की बातचीत, भावनाएँ, किरदार ऐसे रखे गए हैं जैसे भारतीय घरों के हों। यह भारतीय रंग इसमें इतना अधिक है कि शादी इत्यादि की यहाँ की जो रस्में हैं—जैसे, मंडप छाना, कंगना बाँधना, लगन धरना, सेहरा बाँधना आदि—उनका वर्णन सबने किया है, जिससे मरसियों को पढ़ते समय इन पर भारतीय वातावरण छा जाता है और अरब के चरित्र बिल्कुल अपने ही जैसे मालूम होते हैं।

नज़ीर अकबराबादी की कविता ने जनसाधारण के हृदय में स्थान बना लिया है। इनकी कविताएँ सड़कों और गलियों में पढ़ी जाती हैं। कल्पना की सूक्ष्म और नाजुक गति और शैली की जो सजावटें हमें उर्दू के मुख्य साहित्यकारों में मिलती हैं वह 'नज़ीर' के यहाँ नहीं, परन्तु 'नज़ीर' जनता के कवि हैं। वे मेलों, त्यौहारों और गलियों का चित्र खींचते हैं और हर वस्तु में उन्हें जगत-प्रेम और मानव-प्रेम का रंग दिखाई देता है। दरबारों से उनका कोई सम्बन्ध न था। वे बच्चों को पढ़ाते और आगरे की गलियों का तमाशा देखते फिरते थे। 'फ़िराक़' ने उनके बारे में ठीक ही लिखा है—

"नज़ीर का क़लम सावन की घटा है जो सैकड़ों शीर्षकों पर बरस जाया करती है। 'होली', 'दीवाली', 'तैराकी', 'रीछ का बच्चा', 'बचपन', 'जवानी', 'बुढ़ापा', 'चाँदनी', 'बरसात

---

१. वीरगति प्राप्त करना।

और फिसलन', 'उमस', 'कोरा वर्तन', 'ककड़ी', 'तरबूज़', 'आँधी', 'जाड़े की बहार', 'मौत', 'झोंपड़ा', 'आईना', 'कलजुग', 'मुफ़लिसी', 'पैसा', 'रोटियाँ', 'चपाती', 'आदमी', 'कन्हैया जी का जन्म', 'महादेव जी का ब्याह', 'हज़रत अली', 'गुरु नानक की बन्दना', इत्यादि विषय नज़ीर के क़लम की नोक पर थे।"

वे जब तक जीवित रहे उर्दू के आलोचक उन्हें बाज़ारू कवि कहते रहे। परन्तु बीसवीं सदी के लिखने वालों ने 'नज़ीर' की महानता को पहचाना है और अब उनको अठारहवीं सदी के जनसाधारण के जीवन का सबसे बड़ा गायक माना जाता है। इनके अतिरिक्त और किसी ने इस काल में ऐसी कविताएँ नहीं लिखीं।

गद्य

सन १८५० ई० (सं० १९०७ वि०) से पूर्व उत्तरी भारत में उर्दू गद्य में बहुत थोड़ी पुस्तकें लिखी गईं। कुछ लोगों की दिलचस्पी के कारण और कुछ दरबारों, मुशायरों और लोगों के प्रभाव के कारण कविता लिखना ही लोकप्रिय रहा। और चीजों का माध्यम फारसी गद्य था। यहाँ तक कि ग़ालिब, जो बहुत बाद के कवि हैं तथा जिनके उर्दू पत्र इतने प्रसिद्ध हैं—वे भी सन १८५० ई० (सं० १९०७ वि०) तक फ़ारसी में ही पत्र लिखते रहे। गद्य की सबसे पहली पुस्तक **फ़ज़ली** की 'दहमजलिस' है जो सन १७३२ ई० (सं० १७८९ वि०) में लिखी गई। यह एक फ़ारसी पुस्तक का उर्दू अनुवाद है। इसमें करबला के युद्ध-नायक इमाम हुसैन की शहादत के सम्बन्ध के दस व्याख्यान हैं। यह पूरी पुस्तक भारत में अब नहीं मिलती। हाँ, इंग्लैंड में है।

गद्य की दूसरी पुस्तक **मोहम्मद हुसेन अता ख़ाँ 'तहसीन'** का 'नौ तर्ज मुरस्सा' है। यह फ़ारसी की बहुत प्रसिद्ध कहानी 'चहार दरवेश' का उर्दू अनुवाद है। इसकी शैली बहुत कठिन और शृंगारिक है। यह १७७० ई० (सं० १८२७ वि०) में लिखी गई। सन १७९० ई० (सं० १८४७ वि०) में **शाह अब्दुल क़ादिर ने उर्दू में** क़ुरान का अनुवाद किया।

उर्दू गद्य साहित्य में फ़ोर्ट विलियम कालेज का महत्वपूर्ण स्थान है। यहाँ जिस प्रकार उर्दू हिन्दी की पुस्तकें सरल भाषा में लिखने का प्रबन्ध हुआ उसका संक्षिप्त विवरण इस पुस्तक के किसी भाग में मिलेगा। उर्दू के दृष्टिकोण से फोर्ट विलियम कालेज की सेवाएँ इस प्रकार कही जा सकती हैं—

(१) इससे पूर्व उर्दू में पुस्तकें कठिन भाषा में लिखी जाती थीं, क्योंकि इस प्रकार इसके लेखक फारसी विद्वानों के सम्मुख अपनी योग्यता प्रदर्शित करना चाहते थे। पुस्तकें लिखने का नियम भी उन लोगों का यही था कि शैली और शब्दों पर अपना जोर दूसरों को दिखाएँ। फोर्ट विलियम कालेज में किताबें अंग्रेज़ों के लिए लिखी गईं, इसलिए उनमें सरलता पर अधिक बल दिया गया था। इसका परिणाम यह है कि **मीर अम्मन, हैदरबख़्श 'हैदरी', बहादुर अली हुसैनी** आदि ने उत्कृष्ट भाषा में पुस्तकें लिखीं और उर्दू गद्य के आधुनिक काल के लिए रास्ता साफ़ कर दिया।

(२) यहाँ पहली बार पुस्तकें लिखने का काम संगठित रूप में प्रारम्भ हुआ। इसके पूर्व तो इक्के-दुक्के लेखक अपने तौर पर पुस्तकें लिखते थे।

(३) इसी कालेज में सर्वप्रथम उर्दू टाइप का प्रेस स्थापित हुआ।

(४) यहाँ केवल क़िस्से-कहानियों की पुस्तकें ही नहीं लिखी गईं बल्कि भूगोल, इतिहास, व्याकरण इत्यादि विषयों पर भी पुस्तकें तैयार हुईं। जो पुस्तकें फोर्ट विलियम कालेज में दस बारह वर्ष के अन्दर लिखी गईं, उनसे उर्दू गद्य साहित्य को बहुत प्रोत्साहन मिला। उनमें मुख्य पुस्तकें ये हैं—

पुस्तक		लेखक
१. बाग़ व बहार	...	मीर अम्मन
२. गंजे ख़ूबी	...	"
३. क़िस्सा महर व माह	...	हैदर बख़्श 'हैदरी'
४. क़िस्सा लैला मजनू	...	"
५. हफ्त पैकर	...	"
६. तारीख़ेनादिरी	...	"
७. गुलज़ारे दानिश	...	"
८. गुलदस्तए हैदरी	...	"
९. गुलशने हिन्द	...	"
१०. तोता कहानी	...	"
११. आराइशे महफ़िल	...	"
१२. बाग़े उर्दू	...	शेर अली 'अफ़सोस'
१३. आराइशे महफ़िल	...	"
१४. गुल्शने हिन्द	...	मिर्ज़ा अली 'लुत्फ़'
१५. अख़लाक़े हिन्दी		बहादुर अली हुसैनी
१६. तारीख़ इसलाम	...	"
१७. रिसालए गिलक्राइस्ट	...	"
१८. मज़हबे इश्क (गुलबकावली)	...	नेहाल चन्द लाहौरी
१९. शकुन्तला	...	क़ाज़िम अली जवान
२०. दीवाने जहाँ	...	बेनी नारायण 'जहाँ'
२१. तम्बीहुल ग़ाफ़लीन	...	"
२२. चार गुलशन	...	"
२३. हिदायत उसलाम	...	अमानत उल्ला शैदा
२४. क़ुरान (उर्दू अनुवाद)	...	"
२५. सिंहासन बत्तीसी	...	लल्लू लाल
२६. अख़वानु सफ़ा	...	इकराम अली
२७. दास्ताने अमीर हमज़ा	...	ख़लील अली खां अश्क
२८. कायेनात	...	"

पुस्तक	लेखक
२९. क़सस मशरिक़	जान गिलक्राइस्ट
३०. उर्दू क़वायद	"

कालेज से बाहर के लेखकों में **सैयद इंशा अल्ला खाँ** का नाम बहुत महत्वपूर्ण है। कवि की हैसियत से तो वे महत्वपूर्ण हैं ही, लेकिन उर्दू लेखक भी वे ऊँचे दर्जे के हैं। उन्होंने 'रानी केतकी की कहानी' एक ऐसी पुस्तक लिखी जिसमें अरबी-फ़ारसी के एक भी शब्द का प्रयोग नहीं किया गया। साथ ही यह भी दिखाया गया कि इस भाषा में इतने शब्द हैं कि फ़ारसी-अरबी की सहायता के बिना भी काम चलाया जा सकता है। 'रानी केतकी की कहानी' के अतिरिक्त उनकी एक पुस्तक 'सिल्के गौहर' भी है। यह पूरी कहानी उन्होंने इस सावधानी से लिखी है कि एक भी नुक़्तेदार अक्षर का प्रयोग नहीं हुआ है।

इसके बाद के प्रसिद्ध लेखक **रजब अली बेग़ 'सुरूर'** हैं जिनकी 'फ़सानएअजायब' अपनी शैली के लिए बहुत प्रसिद्ध है। सुरूर ने सात पुस्तकें लिखी हैं परन्तु 'फ़सानएअजायब' के कारण ही वे जीवित हैं। सवाल जवाब का ज़ोर तो उर्दू कविता में बहुत रहा, भला उर्दू गद्य पर इसका प्रभाव कैसे न पड़ता? 'फ़सानएअजायब' की भूमिका में 'सुरूर' ने दिल्ली के मीर अम्मन पर चोट कर दी जिसके जवाब में दिल्ली के **फ़ख़रउद्दीन 'सुखन'** ने 'सरोशेसुख़न' लिखी और फिर इसका जवाब लखनऊ के **जाफ़र अली 'शेवन'** ने 'तिलिस्मेहैरत' के नाम से लिखा।

साहित्यिक पुस्तकों में दो पुस्तकें महत्वपूर्ण हैं: एक **सर सैयद** की किताब 'आसारुस्सनादीद' जिसमें दिल्ली की इमारतों और कवियों आदि का वर्णन है और दूसरी 'तबक़ातेशुआराए हिन्द', जिसको **फ़ेलन** और **करीमउद्दीन** ने मिलकर लिखा। यह पुस्तक एक प्रकार से उर्दू साहित्य का इतिहास है, जिसको उर्दू कवियों के तज़किरों से कुछ अलग करके लिखा गया है। इसमें पाँच फारसी के, उन्तालीस ब्रजभाषा के और नौ सौ बीस उर्दू लेखकों और कवियों का विवरण है।

दिल्ली और लखनऊ के दरबार तो उर्दू कवियों के स्वरों से गूँज रहे थे। फिर भी राज्य-भाषा फ़ारसी थी और सरकारी काग़ज़ फ़ारसी में ही लिखे जाते थे। परन्तु सब लोग उर्दू बोलते थे। इसलिए अंग्रेज़ों ने सच्चा दृष्टिकोण अपनाया और सन १८३५ (सं० १८९२ वि०) से ईस्ट इंडिया कम्पनी की कचहरियों की भाषा उर्दू हो गई। उर्दू का प्रथम समाचार पत्र तो सन १८२२ (सं० १८७९ वि०) में 'जामेजहाँनुमा' के नाम से कलकत्ते से निकल चुका था। अब दिल्ली से भी समाचार पत्र निकलने लगे। दीवानी, फ़ौजदारी और मालगुज़ारी के क़ानूनों का अनुवाद उर्दू में हो गया। स्कूलों में पढ़ाई का माध्यम भी उर्दू हो गया। दिल्ली, लखनऊ और हैदराबाद में वैज्ञानिक पुस्तकें भी लिखी जाने लगीं। हैदराबाद के नवाब फ़ख़रउद्दीन ख़ाँ बड़े विद्या प्रेमी थे। उन्होंने अपने आस पास ऐसे लोगों को एकत्र किया, जिन्होंने फ्रेंच और अंग्रेज़ी भाषा से पुस्तकों का अनुवाद किया। सन १८३६ से १८४७ ई० (सं० १८९३–१९०४ वि०) के बीच के काल में यहाँ से इस प्रकार की चौदह पन्द्रह पुस्तकें प्रकाशित हुईं।

लखनऊ के नवाब ग़ाज़ीउद्दीन हैदर का भी ध्यान उर्दू में वैज्ञानिक पुस्तकें लिखवाने की ओर गया। उन्होंने एक वेधशाला भी बनवाई और सैयद कमालुद्दीन हैदर को इसका निरीक्षक

नियुक्त किया। इन्हीं के कारण सन १८४१ (सं० १८९८ वि०) के लगभग बादशाह के प्रेस से उन्नीस वैज्ञानिक पुस्तकें प्रकाशित हुईं।

दिल्ली कालेज तो १७९२ ई० (सं० १८४९ वि०) से था, परन्तु १८३५ ई० (सं० १८९२ वि०) के पश्चात यहाँ भी उर्दू में पुस्तकें तैयार करवाने का प्रयत्न हुआ ; लार्ड आकलैंड ने इस सम्बन्ध में गहरी दिलचस्पी दिखाई। १८४१ ई० (सं० १८९८ वि०) में एक समिति बना दी गई। इसने अनुवादकों और लेखकों को चुन चुन कर काम बाँट दिया। सन १८४५ ई० (सं० १९०२ वि०) में जब डा० स्प्रिंगर लार्ड आकलैंड की जगह आए तो उन्होंने और अधिक उत्साह दिखाया और इस काम में बड़ी उन्नति हुई। यहाँ से जो पुस्तकें उर्दू में सन १८५० (सं० १९०७ वि०) से पहले छप चुकी थीं उनकी संख्या चालीस से ऊपर है। इनमें वैज्ञानिक पुस्तकों के अतिरिक्त कुछ अंग्रेजी नाटकों के अनुवाद भी हैं।

उर्दू का पहला शब्दकोश **फरगुसन ने** लिखा था, जो सन १७७३ ई० (सं० १८३० वि०) में लंदन से प्रकाशित हुआ। फिर जनरल **विलियम किर्क पैट्रिक** ने तीन भागों में एक और शब्दकोश लिखना आरम्भ किया। इसका पहला भाग लंदन में १७८५ ई० (सं० १८४२ वि०) में प्रकाशित हुआ। फिर जब वह भारत आए तो उनको मालूम हुआ कि डा० जान गिलक्राइस्ट भी वही काम करा रहे हैं। पहले उन्होंने डा० गिलक्राइस्ट से मिल कर बाक़ी काम करने को सोचा, परन्तु उन्हें यह काम छोड़कर जाना पड़ा। इसलिए **डा० जान गिलक्राइस्ट** इसे अकेले ही करते रहे और सन १७९८ ई० (सं० १८५५ वि०) में इसका एक भाग 'अंग्रेज़ी हिन्दुस्तानी डिक्शनरी' के नाम से प्रकाशित किया। वे इसका दूसरा भाग 'हिन्दुस्तानी अंग्रेजी डिक्शनरी' भी लिखना चाहते थे, परन्तु उसका आर्थिक प्रबंध न हो सका। **मेजर डेविड रिचर्ड्स** ने भी एक शब्दकोश तैयार किया, पर वह भी छपते छपते रह गया। फिर सन १८०८ ई० (सं० १८६५ वि०) में **डा० टेलर** ने 'हिन्दुस्तानी अंग्रेजी शब्दकोश' प्रकाशित किया। **डा० विलियम हंटर** ने फोर्ट विलियम कालेज के लेखकों की सहायता से उसे पुनः संशोधित रूप में प्रकाशित किया। इसके पश्चात सन १८१७ ई० (सं० १८७४ वि०) में **जान शेक्सपियर** ने एक उर्दू शब्दकोश छापा और डंकन **फॉर्ब्स** ने १८४७ ई० (सं० १९०४ वि०) में अपना कोश प्रकाशित किया। लखनऊ के बादशाह **गाजी-उद्दीन हैदर** ने भी एक शब्दकोश लिखा।

इस प्रकार उर्दू भाषा, जो पद्य में बहुत बड़ी साहित्यिक पूँजी एकत्र किए थी, गद्य में भी मालामाल होने लगी और भाषा से साहित्य के रूप में आ गई। इसको इस पद पर आसीन होने में अंग्रेजों से बड़ी सहायता मिली, क्योंकि ईस्ट इंडिया कम्पनी के अफ़सरों को अपने व्यवहार के लिए उर्दू पढ़ना ज़रूरी मालूम हुआ। इसी आवश्यकता से उन्होंने पुस्तकें लिखाने का प्रबन्ध किया। इन पुस्तकों का प्रभाव देश भर पर पड़ा और जैसे जैसे दिल्ली, लखनऊ का शासन कम-ज़ोर पड़ता गया और अंग्रेज़ों के पंजे आगे फैलते गए, फ़ारसी की जगह उर्दू लेती गई।

१७. पंजाबी साहित्य

पृष्ठभूमि

किसी देश का साहित्य उस प्रदेश की सांस्कृतिक और जातीय परंपरा का परिचायक होता है। पंजाब वह भूमि है जहाँ भारतीय आर्य संस्कृति का अरुणोदय हुआ और जहाँ अधिकांश वैदिक साहित्य लिखा और संपादित किया गया। यह वेदभूमि है, यही ध्रुव की तपोभूमि है। लाहौर और कसूर आज भी लव और कुश की स्मृति को बनाए हुए हैं। महाभारतकाल में पंजाब राजनीति और धर्म का केन्द्र रहा है। कटाक्षराज (जिला झेलम) वह जगह है जहाँ सरोवर में यक्ष के प्रश्नों का उत्तर दिए बिना चार पांडव मृत्यु को प्राप्त हुए और फिर युधिष्ठिर के प्रयत्न से पुनर्जीवित हुए थे। कुरुक्षेत्र को धर्मक्षेत्र कहा ही गया है। तक्षशिला बौद्धकाल में शिक्षा और संस्कृति का बहुत बड़ा केन्द्र था। महायान का प्रचार यहीं से गांधार, तिब्बत, चीन और जापान तक हुआ। गोरखनाथ, जालंधरनाथ, बालानाथ आदि कनफटे जोगियों की यही कर्मभूमि रही है। इस्लाम का प्रचार भी भारत के इस खंड में पहले पहल हुआ। धार्मिक लहरों के थपेड़ों ने पंजाबियों को उदार और सहिष्णु बना दिया है। पंजाब की संस्कृति बीसियों संस्कृतियों का सम्मिश्रण है।

पंजाब की धरती पर जितनी राजनीतिक क्रांतियाँ हुई हैं, सम्भवतः उतनी अन्यत्र नहीं हुईं। आर्यों और द्रविड़ों—अथवा यहाँ के आदिवासियों—का संघर्ष आरंभ में इसी धरती पर हुआ। ईरानी और पारसी (दारा और जरक्षीस के राज्यकाल में) यूनानी (सिकंदर और सिल्यूकस के साथ साथ), बाक्तरी और पार्थी (मिलिन्द और मिश्रादत्त के समय में), यूची (कुशान आदि), चीनी, असीरी, हूण (तोरमाण और मिहिरकुल की विजयों के साथ), शक, गुर्जर, साही, जाट, अरब (मुहम्मद बिन कासिम की सिंध विजय के बाद) से अफ़गान (महमूद गज़नवी और उसके वंशजों के राज्यकाल में) मंगोल (चंगेज़खां और उसके उत्तराधिकारियों के संकेत से एवं तैमूर और बाबर के साथ), तूरानी और तुर्क और अनेक दूसरे लोग यहाँ आए और बस गए। पंजाबी के शारीरिक, मानसिक, नैतिक और धार्मिक गठन में इन सबका थोड़ा बहुत हाथ है।

पंजाबी भाषा का उदय अन्य आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के समानान्तर १०वीं, ११वीं शताब्दी ई० से माना जा सकता है। तब से पंजाब प्रदेश पर क्रमशः गजनवी वंश (सन १०२२–११८६ ई०=सं० १०७९–१२४३ वि०) तुर्की और पठान सुलतान (११८६–१५२६ ई०=सं० १२४३–१५८३ वि०) मुगलवंश (१५२६–१५४० ई०=सं० १५८३–१५९७ वि०) सूर वंश (१५४०–१५५५ ई०=सं० १५९७–१६१२ वि०) पुनः मुगलवंश (१५५६–१७८९ ई० सं० १६१३–१८४६ वि०) और सिख (१७९९–१८४९ ई०=सं० १८५७–

१९०६ वि०) का राज्य रहा है। अंग्रेजी राज्य की स्थापना (१८४९ ई० = सं० १९०६ वि०) से पहले इस काल में—अर्थात १०२२ से १८४९ ई० (= सं० १०७९-१९०६ वि०) तक पंजाब पर बीसियों आक्रमण बाहर से हुए, बीसियों ही गृहयुद्ध हुए, अनेक राज्य-क्रांतियाँ हुईं। इन परिस्थितियों ने पंजाब निवासी को परिश्रमी, संघर्षशील, लड़ाका और रणवीर बना दिया है। मृत्यु और नाश से खेलते खेलते वह निर्भीक, पर धर्मभीरु हो गया है। आशा और निराशा के बीच में वह आस्तिक तो बना रहा है, पर देवी-देवताओं की मूर्तियों पर प्रायः उसका विश्वास नहीं है, क्योंकि देवी-देवता उसके घर-द्वार की रक्षा करने में समर्थ नहीं रहे।

शत्रु और परिस्थिति से जूझते रहने के कारण अथवा राज्य और अधिकार के लिए लड़ने वाले दलों के बीच में घुटते पिसते रहने के कारण पंजाबी को साहित्य, कला और दर्शन की सूक्ष्म और गम्भीर चर्चाओं का अवसर ही कम मिल पाया। चम्बा और कांगड़ा की दूरस्थ घाटियों में चित्रकला भले ही सुरक्षित रह गई, पर मैदानों में मूर्तिकला, वास्तुकला अथवा साहित्य और धर्म के जो केन्द्र थे, वे कई बार बने और कई बार विध्वस्त हुए। पंजाब की सांस्कृतिक चेतना प्रायः कुंठित रही है।

जिस प्रदेश को हम पंजाब नाम से जानते हैं, इसको इतिहास में प्रथम बार राजनीतिक एकता १८४९ ई० (सं० १९०६ वि०) के बाद ही प्राप्त हुई है। इससे पहले इसकी स्थिति बड़ी विचित्र रही है। सिंध पतन के बाद इसका बहुत सा दक्षिण-पश्चिमी भाग तीन शताब्दियों तक अरब राज्य में सम्मिलित रहा। उत्तरी पंजाब साही राजपूतों के समय में काबुल तक फैला हुआ था और गजनी बादशाहों के राज्यकाल में यही भाग गजनी के एक प्रान्त के रूप में था। इस बीच में पंजाब का कुछ भाग कश्मीर से भी संलग्न रहा। पंजाब का पूर्वी भाग दिल्ली के राजपूत राजाओं के अधीन था। मुगलों के समय में पंजाब को एकता तो मिली, लेकिन यह प्रान्त कभी दिल्ली से और कभी काबुल से मिला दिया जाता रहा। कभी इसमें एक शासन-प्रबंध रहा और कभी इसके अनेक टुकड़े कर दिए गए।

इन कारणों से पंजाबी पर सिंधी, पश्तो, कश्मीरी और हिन्दी के प्रभाव भी पड़े। ऐतिहासिक खोज से प्रमाणित होता है कि पंजाबी को आसपास की भाषाएँ भींचती रही हैं और इनमें दिल्ली, आगरा के दीर्घकालीन प्रभाव के कारण हिन्दी ने इसे पश्चिम की ओर कोसों दूर ढकेल दिया है। पंजाब की भौगोलिक स्थिति भी अनेकरूप है। एक ओर तो शिमला, डलहौजी, कांगड़ा, चम्बा और मरी की पहाड़ियाँ हैं जो घने घने वनों से आच्छादित हैं, दूसरी ओर मुलतान और बहावलपुर की मरुभूमि है। नदी-नाले इतने अधिक हैं कि एक जाल सा बिछा है। इन कारणों से पंजाब में भाषा-भूषा, रहन-सहन, रीति-रिवाज की एकरूपता आज दिन तक नहीं बन पाई।

पंजाबी साहित्य की सामान्य विशेषताएँ

विचाराधीन इस काल (अर्थात १८५० ई० = १९०७वि० तक) की अनेक परिस्थितियों के रहते हुए भी पंजाबी में जो साहित्य उपलब्ध है, वह किसी दृष्टि से भी हीन नहीं है। इस साहित्य की प्रमुख विशेषताएँ ये हैं—

१. पंजाबी साहित्य का आरम्भ सूफी काव्य से होता है।

२. सूफ़ी काव्य में मुक्तकों की प्रधानता है और इन कविताओं का रहस्यवादी पक्ष स्पष्ट और प्रत्यक्ष है।

३. बाद में फ़ारसी साहित्य के प्रभाव से सूफ़ियों ने अपनी रहस्य भावनाओं को हीर-राँझा, सोहनी-महीवाल, मिरजा-साहिबाँ, सस्सी-पुन्नूं, शीरीं-फ़रहाद, युसुफ़-जुलेखा आदि प्रेमियों के कथारूपों (किस्सों) में व्यक्त किया। लेकिन इन प्रेम-प्रसंगों में लौकिक पक्ष और कथा का अंश इतना प्रबल है कि सूफ़ीवाद स्पष्ट होकर नहीं आ पाया। ये किस्से सबसे अधिक लोकप्रिय रहे हैं।

४. हिन्दी के प्रेमाख्यानों की परंपरा प्राकृत और अपभ्रंश से तथा पंजाबी के किस्सों की फ़ारसी से आई है। हिन्दी के सूफ़ी आख्यानों में एकरूपता और एकरसता अधिक है, पंजाबी किस्सों के कथानक बहुविध और अधिक सजीव हैं।

५. मुक्तक सूफ़ी काव्य केवल मुसलमान कवियों का लिखा हुआ है। प्रबंध काव्यकारों में कुछ एक हिन्दुओं के नाम भी आते हैं। अधिकांश सूफ़ी प्रबंध-कवियों ने अपने को फ़क़ीर कहा है। हिन्दू कवियों ने मात्र लौकिक प्रेमगाथाएँ गाई हैं।

६. सूफ़ी काव्य के रूप प्रायः फ़ारसी, अरबी से उद्धृत हैं, जैसे काफ़ी, सीहर्फ़ी, बैत, गज़ल, रुबाई, नसीहतनामा, सालनामा, मसनवी आदि। देशी छंदों का प्रयोग कम हुआ है।

७. मुसलमानों के आगमन के पश्चात पंजाब की भूमि सगुण उपासना के अनुकूल न रह गई थी। पंजाबी साहित्य में सगुण भक्ति-काव्य की धारा अत्यंत क्षीण है। राम और कृष्ण संबंधी काव्य-रचना हुई तो अवश्य, पर उसका कोई साहित्यिक मूल्य नहीं है।

८. इस काल की सबसे प्रबल धारा गुरु नानक और उनके परवर्ती सिख संतों की गुरु-मत धारा है जिसमें 'नाम सिमरन' पर अधिक बल दिया गया है।

९. गुरुमत काव्य में साहित्य और संगीत का निरन्तर मेल रहा है—राग-रागिनियों और साहित्य का भाव सामंजस्यपूर्ण ढंग से जोड़ा गया है। किस राग में कौन कौन से भाव अभि-व्यक्त हुए हैं, यह गवेषणीय विषय है।

१०. गुरुमत काव्य में प्रायः छंद लोकगीतों से लिए हुए जान पड़ते हैं, जैसे बोल, टप्पा, बार, तिथि, झूलना, दखने, सद्द, वैण, घोड़ी, सोहिला इत्यादि।

११. हिन्दी के छंदों में कवित्त, दोहा या दोहरा, सोरठा, सवैया आदि भी प्रयुक्त हुए हैं।

१२. छंदों की दृष्टि से गुरुमत काव्य और रूपकों की दृष्टि से सूफ़ी काव्य बहुत समृद्ध है।

१३. पंजाबी का वीरकाव्य परिमाण में राजस्थानी काव्य से कम नहीं है। इसमें प्रक्षेप भी कम हैं। सच तो यह है कि राजस्थानी के चारण काव्य में श्रृंगार रस ही की प्रधानता है। पंजाबी का वीर रस प्रायः शुद्ध और परिपक्व है। जितने 'जंगनामे' और 'वार' पंजाबी में हैं, संभवतः भारत की किसी भी भाषा में नहीं हैं।

१४. सन १८५० ई० (=सं० १९०७ वि०) से पहले का पंजाबी गद्य भी परिमाण और वैविध्य की दृष्टि से अत्यन्त सम्पन्न है। याद रहे कि इस समय तक पंजाब की राजभाषा

और शिक्षा तथा सांस्कृतिक केन्द्रों की भाषा बराबर फ़ारसी रही है। महाराज रणजीतसिंह के राज्यकाल में भी पंजाबी को प्रोत्साहन प्राप्त नहीं हुआ।

१५. प्रायः मुसलमानों और हिन्दुओं द्वारा रचित साहित्य फ़ारसी लिपि में और सिख महात्माओं द्वारा गुरुमुखी लिपि में मिलता है, नागरी लिपि में बहुत कम साहित्य उपलब्ध है।

सूफ़ी साहित्य

मुसलमान ८वीं शती से ही दक्षिण-पश्चिम प्रदेश में फैल गए थे। मुसलमानों के आने से धर्म और साहित्य के क्षेत्र में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। अरब विजेता धर्म-प्रचारक थे। उनके साथ अरब, ईराक और इरान से बड़े बड़े सूफ़ी विद्वान आए। गुल मुहम्मद चिश्ती शेरवी लिखित 'हदीक़तुल इसरार फ़ी अख़बार उल इबरार' में एसे विद्वानों की विस्तृत सूची दी गई है। उनमें अनेक सिद्धहस्त लेखक और व्याख्याता थे। पंजाब में कसूर (जिला लाहौर), लाहौर, पाकपटन (जिला मांटगुमरी), मुलतान आदि नगरों में उनके संस्थान थे। इन लोगों ने अरबी-फ़ारसी और पश्चिमी पंजाबी में अनेक धार्मिक और नीति संबंधी पुस्तकें लिखीं, कुरआन और हदीस, गुलिस्तां और बोस्तां के अनुवाद किए तथा छोटे-छोटे रिसाले पंजाबी भाषा में लिखे। पंजाब की राजनीतिक अवस्था कुछ ऐसी रही है कि इनमें से अधिकतर की साहित्यिक कृतियाँ लुप्त हो गई हैं।

पंजाबी के प्रथम ज्ञात कवि **बाबा फ़रीद शकरगंज** (११७३–१२६५ ई० = सं० १२३०-१३२२ वि०) हैं। 'गुरु ग्रंथ साहब' में फ़रीद के नाम से जो वाणी संगृहीत है, वह एक ही फ़रीद की नहीं है। एक दूसरे फ़रीद गुरु नानक के समकालीन और फ़रीद प्रथम की शिष्य परंपरा में १२वीं पीढ़ी में हुए थे। अधिकांश वाणी इन्हीं फ़रीद द्वितीय की मिलती है। भाषा के अन्तर से हम दोनों को अलग अलग कर सकते हैं। फ़रीद प्रथम (शकरगंज) की वाणी में पश्चिमी पंजाबी (लहंदी) ठेठ है, अलबत्ता फ़ारसी शब्दों का प्रयोग उनकी विद्वत्ता के कारण हुआ है। फ़रीद द्वितीय की वाणी में तत्कालीन लाहौर की भाषा का प्रभाव अधिक है और फ़ारसी शब्द कम हैं।

बाबा फ़रीद रहस्यवादी, निराशावादी और आदर्शवादी कवि हैं। कुरआन, शरअ, नमाज़, रोज़ा, ज़कात, नरक, स्वर्ग आदि में उनका पक्का विश्वास है। इस पर भी वे धर्म के बाहरी रूप को महत्व नहीं देते। हज (तीर्थ) करने का कोई लाभ नहीं, अन्तर के विशाल सागर में माणिक मोती मिलते हैं, डुबकी लगाने वाला साधक होना चाहिए। पदार्थिक लाभ से आन्तरिक लाभ नहीं होता। इच्छाएँ कम हों, आकांक्षाएँ मिट जाएँ, अन्तर स्वच्छ हो जाए—इस प्रकार अहंकार खो देने से ही वियोग का अन्त सम्भव है।

कवित्व की दृष्टि से **लुत्फ़अली** कृत 'सैफ़लमलूक' बड़ी सुन्दर कृति है। इसमें इतनी अधिक संवेदना और मनोहरता है कि, कहते हैं, जो कोई इसे एक बार पढ़ लेता है वह उन्मत्त और वीतराग हो जाता है। अभी इस ग्रंथ का सम्पादन-प्रकाशन नहीं हुआ। परवर्ती सूफ़ियों पर इसका बहुत अधिक प्रभाव रहा है।

फ़रीद द्वितीय (१४५०–१५७५ ई०=सं० १९०७–१६३२ वि०) का असली नाम दीवान इब्राहीम साहिब किबरा था। ये भी अपने पीर की तरह इस्लामी शरअ के पाबंद थे। वैराग्य की भावना इनमें अधिक प्रबल दिखाई देती है। इनका विचार है कि मनुष्य का संसार में आना ही एक बुराई है। वे मृत्यु का डर सामने लाकर जीव को चेतावनी देते हैं। कबरिस्तान में खोपड़ियों और पंजरों को देखकर उन्हें और अधिक विरक्ति होती है। यह रूप, यह यौवन, यह वैभव, यह बल और तेज सब मिट्टी में मिल जाता है। वह सुन्दरी, जिसके नयन काजल की रेख को भी सहन नहीं कर सके, आज मनों मिट्टी के नीचे दबी पड़ी है। दुनिया माया-छाया है—राग-रंग, आनन्द-विलास सब मृगतृष्णा हैं। इन भयों और प्रलोभनों से बचने के लिए भगवान का नाम जपना चाहिए। सब हृदयों में परमात्मा है, इसलिए किसी का हृदय दुखाने से परमात्मा दुखी होता है।

कहीं कहीं प्रकृति-चित्रण भी मिलता है। जीव-जन्तुओं और पक्षियों से उन्हें प्यार है, इनकी आत्मा में उन्हें किसी छिपे प्रकाश की ज्योति मिलती है। फ़रीद की भाषा सादी और मधुर है, रूपक घरेलू वातावरण से लिए गए हैं। छंद अवश्य शिथिल हैं। कविता सहज और स्वाभाविक है। कवि का अपना कहना है कि साधक 'अकथ नूर' के प्रभाव से नाच उठता है और नाच बिना संगीत के अधूरा है, अतः संगीत के रूप में कविता स्वयं फूट पड़ती है।

इस्लाम की शरअ से विद्रोह करने वाला पहला पंजाबी सूफी **शाह हुसेन लौहारी** (सन १५३८-९९ ई०=सं० १५९५-१६९६वि०) था। अद्वैतवाद, पुनर्जन्म और भक्ति में उसका विश्वास है। वह परमात्मा को रांझा और अपने को 'रांझे जोगी दी जुगियाणी' कहता है। प्रेम, विरह और वैराग्य के गीत शाह हुसैन के प्रसिद्ध हैं। उसका काव्य रूप 'काफी' है। भाषा सरल, मधुर और प्रभावोत्पादक है जिसमें मुहावरों का प्रचुर प्रयोग मिलता है। भाव गम्भीर और कवित्वपूर्ण हैं। रूपक घरेलू और ग्रामीण जीवन से लिए गए हैं।

शाह हुसैन से भी अधिक साहसपूर्वक शरअ की दीवारें तोड़ने वाला **सुल्तान बाहू** (सन १६२९–१६९० ई०=सं० १६८६–१७४७ वि०) हुआ है। वह कहता है, 'न मैं हिन्दू, न मुसलमान, मैं साईं दा फकीर' हूँ। उसने 'सीहर्फियाँ' लिखी हैं। इसमें प्रत्येक फ़ारसी अक्षर से आरम्भ करके ४–४ पंक्तियों का पद है और इसकी प्रत्येक पंक्ति के अंत में 'हू' आता है। यह 'हू' कवि के नाम का अन्तिम अक्षर हो सकता है अथवा 'हू' की ध्वनि जो ध्यान की चरमावस्था में साधक को सुनाई देने लगती है, उसका संकेत है। बाहू ने अहंकार के त्याग, मुरशिद (गुरु) की सहायता, अन्तर्निरीक्षण और आत्मचिंतन पर बल दिया है और उस दुनिया में रहना चाहा है जहाँ 'मैं' और 'मेरे' का बखेड़ा नहीं है।

शाह शरफ (सन १७२४ ई०=सं० १७८१ वि०) की काफियाँ अधिक आलंकारिक हैं। इन्होंने तप और संयम द्वारा आत्मोत्सर्ग पर ज़ोर दिया है। साधक को उसी प्रकार 'आपा' मारना चाहिए जैसे भट्ठी में लोहा तपकर गलता है, फिर घन की चोटें सहता है अथवा जैसे तिल पेला जाकर तेल का रूप ग्रहण करता है। इनकी बोली केन्द्रीय पंजाबी है, जिसमें लहंदी का सम्मिश्रण है।

पंजाबी सूफी साहित्य के प्रसिद्धतम कवि **बुल्लेशाह कसूरी** (१६८०-१७५२ ई०=सं० १७३७-१९०९ वि०) हुए हैं। इन्होंने काफियाँ, गंढ़ाँ, अठवारा, सीहर्फ़ी, बारहमाँह और दोहड़े लिखे हैं। इनका विचार है कि रब (परमात्मा) को पाने का सहज मार्ग 'इश्क' है। उस तक पहुँचने के लिए मुरशिद की कृपा और अपना भाग्य होना चाहिए। सूफ़ी को चाहिए कि संसार से निर्लिप्त रह कर मन और इन्द्रियों का दमन करे। दिल का शीशा साफ़ होगा, तो महबूब (प्रेमी) के दर्शन होंगे। प्रत्येक वस्तु हमें रब की याद कराने वाली किताब है, उसका रूप दिखाने वाली मूर्ति है। सोच-विचार सूफ़ी के लिए बहुत आवश्यक है, विशेषतया मृत्यु के बाद ईश्वरी प्रेम दोज़ख (नरक) और बहिश्त (स्वर्ग) से परे ले जाता है, जहाँ प्रेमी शरअ के बंधनों से मुक्त हो जाता है। आशिक़ (प्रेमी) को पोथियाँ पढ़ने की अपेक्षा नहीं रहती। अलिफ अल्लाह से काम बन जाता है, बे तक पहुँचने की नौबत ही नहीं आती। जो अधिक पढ़ता है उसके मन में संदेह उठते हैं, श्रद्धा नहीं रह जाती। बुल्लेशाह ने साधक को हीर और रब को रांझा कहा है। बुल्लेशाह की कविता की सब से बड़ी विशेषता है उसकी भाषा का ओज और प्रभाव।

अली हैदर (१६९०-१७८५ ई०=सं० १७४७-१८४२ वि०) ने सीहर्फ़ियाँ और काफ़ियाँ लिखी हैं। ये रागी कवि हैं, पर इनकी कविता अधिक विद्वत्तापूर्ण होने के कारण बहुत प्रभावोत्पादक नहीं है। कहीं-कहीं भाषा भी दुरूह है।

इसी समय का एक और सूफ़ी कवि है **वजीद**। उसकी कविता में धार्मिकता के साथ हास्य और व्यंग भी है। वह कहता है कि भगवान अपने भक्तों को दुःख देता है। पापी को तो सिरपीड़ा तक नहीं होती, पंडित-पीर फटे हाल मारे मारे फिरते हैं, मूर्ख हाथी-घोड़ों की सवारी करते सुख भोगते हैं। वाह रे भगवान और वाह रे तेरी लीला! वजीद ने समता और हिन्दू-मुसलमानों की अभिन्नता पर जोर दिया है।

फरद फ़कीर (१७२०-९० ई०=सं० १७७७-१८४७ वि०) पर भी हिन्दू विचारधारा का स्पष्ट प्रभाव है। कर्मफल और पुनर्जन्म में उसका पूर्ण विश्वास है। 'कसाबनामा' (१७-५१ ई०=सं० १८०८ वि०) उसकी प्रसिद्ध कृति है। उसने सीहर्फियाँ और बारहमाँह भी लिखे हैं, परन्तु इनमें न तो बुल्लेशाह का सा भाव-गाम्भीर्य है और न ही अली हैदर का सा संगीत।

परवर्ती सूफ़ी कवियों में **गुलाम जीलानी** (१७४९-१८१९ ई०=सं० १८०६-१८-७६ वि०), **हाशम** (१७५३-१८२३ ई०=सं० १८१०-१८८० वि०), **बहादुर** (१७५०-१८५० ई०=सं० १८०७-१९०७ वि०), **करमअली शाह, अशरफ, करीमबख्श, खुलदी, महरम शाह, गौहर साँईं, फ़ाजल बख्श, जाना** आदि प्रसिद्ध हैं, पर इनमें अधिकतर की रचनाएँ नहीं मिलतीं। हाशम के दोहड़े गम्भीरता और मार्मिकता में बुल्लेशाह के समकक्ष हैं। गुलाम जीलानी के चौबरगे (चौपदे), करीमबख्श का बारहमाँह, हाशम की रुबाइयाँ, बहादुर के दोहड़े, महरमशाह की 'सीहर्फी' उल्लेखनीय हैं।

गुरुमत काव्य

पंजाब में संत मत के प्रमुख प्रवर्त्तक **गुरुनानक** (१४६९-१५३९ ई०=सं० १५२६-

१५९६ वि०) थे। उन्हीं की परंपरा में नौ और सिक्ख गुरु हुए हैं। गुरुओं की वाणी 'आदि ग्रंथ' में और दसवें गुरु की 'दशमग्रंथ' में संगृहीत हैं। 'आदिग्रंथ' का संकलन पाँचवें गुरु, **अर्जुनदेव** (१५६१–१६०६ ई०=सं० १६१८-१६६३ वि०) ने किया। उन्होंने प्रथम चार गुरुओं की वाणियाँ बड़ी खोज और साधना से इकट्ठी कीं, उनका यथाक्रम सम्पादन किया और उनके साथ अपनी वाणी भी जोड़ दी । 'आदि ग्रंथ' में सबसे अधिक पद गुरु अर्जुनदेव के ही हैं। मुद्रित प्रति (बीड़) में नवें गुरु **तेग बहादुर** के १९६ पद और **गुरु गोविंदसिंह** का एक पद बाद में सम्मिलित किया गया है। इनके अतिरिक्त फ़रीद, कबीर, नामदेव, रविदास, जयदेव, वेणी, त्रिलोचन, रामानन्द सेन, धन्ना, भीखन, सूरदास आदि सोलह भक्तों की वाणियाँ भी 'आदि ग्रंथ' में संकलित हैं। सिक्ख गुरुओं की कृतियों को 'गुरुवाणी' और संतों की कृतियों को 'भगतवाणी' कहा जाता है। सिक्ख गुरु सभी अपने पदों के अंत में 'नानक' नाम लिखते हैं, अतः उनकी वाणी के साथ क्रमशः मुहल्ला १, मुहल्ला ३, मुहल्ला ४, मुहल्ला ५, और मुहल्ला ९ का संकेत रहता है। भगतवाणी में प्रत्येक भगत का अपना अपना नाम आता है। भक्तों की वाणी में पंजाबी प्रायः नहीं पाई जाती। सिक्ख गुरुओं के पद भी सभी पंजाबी के नहीं हैं— कुछ तो तत्कालीन हिन्दी में लिखे गए हैं, अधिकतर की भाषा सधुक्कड़ी, मिली-जुली पंजाबी है।

'आदिग्रंथ' में गुरु नानक की वाणी सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। इनकी रचना कला और भाव दोनों दृष्टियों से अत्यन्त सुन्दर है। भाषा और अभिव्यक्ति संयत और स्पष्ट है। रूपक जाने-पहचाने, जीवन से उद्धृत किए गए हैं। इन्होंने काव्य और संगीत का अद्भुत सामंजस्य उपस्थित किया है। भाव को राग के अनुरूप और राग को भाव के अनुरूप रखा है । छंदों के प्रयोगों में विविधता है। इनकी शिक्षा का उच्चतम स्वर है 'सिमरन' (हरिनाम श्री वाहिगुरु का जाप), जिसका अधिकार स्त्री-पुरुष, राजा-रंक, शूद्र-ब्राह्मण सब को है। गुरु नानक का कथन है कि नाम वह साबुन है जो ८४ लाख जन्मों के पापों को धो देता है। जिस प्रकार 'तिरिया' अपने पुरुष का स्मरण करती है, उसी प्रकार सिख (शिष्य—साधक) अपने परम प्रियतम का स्मरण करे। गुरु नानक ने चरित्र बल और सुकर्म के साथ गृहस्थ जीवन की महिमा प्रतिष्ठित की है। मनुष्य-जीवन दुर्लभ है, साधना, अभ्यास और संकल्प द्वारा उसे निरन्तर उच्चतर बनाते रहना चाहिए। साधु-वेश धारण करने अथवा जंगल में डेरा जमा लेने से भगवान नहीं मिल जाता। अन्तर में प्रभु की प्रीति और विषयों के प्रति विरक्ति होनी चाहिए। सेवा से चरित्र शुद्ध होता है और 'नाम सिमरन' से मन।

आदि ग्रन्थ में गुरु नानक की रचनाओं में सर्व प्रसिद्ध 'जपुजी' है। इसके अतिरिक्त 'आसा दी वार', 'सोहिला', और 'रहिदास' नाम की रचनाएँ प्रमुखतः गुरु नानक की हैं। फुटकर पदों की संख्या ५०० के लगभग है।

परवर्ती सिक्ख गुरुओं ने गुरु नानक के भावों की प्रायः अनुकृति और व्याख्या की है। **गुरु अंगद** और **गुरु अमरदास** की वाणियों में विशेष नवीनता नहीं है। **गुरु रामदास** (१५३४-८१ ई०=सं० १५९१-१६३८ वि०) की रचना में काव्य गुण अधिक हैं। **गुरु अर्जुनदेव** की वाणी में ज्ञान और विचार की प्रधानता है। इनकी भाषा संस्कृत-गर्भित और गम्भीर है। 'आदिग्रंथ' में सबसे अधिक पद (१००० से कुछ ऊपर) इन्हीं के हैं। 'सुखमनी' इनकी सर्वोत्कृष्ट कृति है।

गुरु गोविंदसिंह (१६६६-१७०८ ई०=सं० १७२३-१७६५ वि०) बड़े विद्वान और वीर लेखक थे। उनकी कृतियों का संग्रह 'दशमग्रंथ' नाम से संकलित है। इसके अन्तर्गत ११ रचनाएँ हैं, परन्तु 'जाप', 'अकालउस्तुत', 'बिचित्तर नाटक', 'शस्त्रनाममाल', 'ज्ञान प्रबोध' आदि ब्रजभाषा में हैं। 'चंडी दी वार' और कुछ फुटकर पद पंजाबी में हैं। 'चंडी दी वार' में दुर्गादेवी और दैत्यों के युद्ध का वर्णन सिरखंडी छंद में हुआ है। पंजाबी में वीर-रसप्रधान रचनाओं में इसे सर्वोत्कृष्ट माना गया है। फुटकर पदों में भक्ति और वैराग्य अधिक है। छंदों की विविधता में गुरु गोविन्दसिंह की कविता बेजोड़ है।

सिक्ख गुरुओं के अतिरिक्त **भाई गुरुदास** (१५५८–१६३७ ई०=सं० १६१५-१६९४ वि०) की वाणी को गुरुमत साहित्य के अन्तर्गत मान्यता दी गई है। आपने वार, कवित्त, सवैए, और गीत लिखे हैं। कवित्त और सवैए ब्रजभाषा में हैं। वारों की संख्या चालीस है। ये शुद्ध साहित्यिक पंजाबी में हैं। छंदों और अलकारों में विशेषतया रूपक, दृष्टांत और उदाहरण का प्रयोग इनकी कविता में अधिकारपूर्ण ढंग से हुआ है। इनकी कविता का विशेष उद्देश्य गुरुमत की व्याख्या करना है।

सगुण भक्ति काव्य

पंजाबी में सगुण भक्ति-काव्य नगण्य है। **छज्जू भगत, काह्न, बलीराम, बाबा सुन्दर अगरा, गरीबदास, बुधसिंह, सेव सिंह** आदि कवियों के नाम उल्लेखनीय हैं। लगभग सभी ने मुक्तक पद लिखें हैं। इनमें बलीराम की कविता साहित्यिक कोटि की है। उन्होंने कृष्ण-भक्ति की काफ़ियाँ और गीतियाँ लिखी हैं। काह्न के पद मीराँ की अनुकृति में लिखे जान पड़ते हैं—कहीं सगुणता और कहीं निर्गुणता तथा वेदांत की झलक दिखाई देती है। बाबा सुन्दर रामभक्त हैं। छज्जू अनेक देवी-देवताओं के उपासक हैं। दोनों की कविता साहित्यिक दृष्टि से साधारण कोटि की है। अगरा पर कृष्ण-भक्तों के अतिरिक्त सिक्ख गुरुओं के 'नाम सिमरन' का प्रभाव है। बुधसिंह ने काफ़ियाँ और सीहर्फ़ियाँ लिखी हैं। सेवासिंह की सीहर्फ़ियाँ, 'सतवारा' और 'बारह माँह' उपलब्ध हैं।

लौकिक साहित्य

वास्तविक पंजाब लौकिक साहित्य में प्रतिबिम्बित हुआ है। यह साहित्य बहुत विशाल है और विशेषतया वीर-रसप्रधान वारों और शृंगार-रसप्रधान किस्सों के रूप में उपलब्ध है। हीर-राँझा का किस्सा सबसे अधिक पुरातन और प्रसिद्ध है। **दामोदर** (अकबर के राज्यकाल में, झंग का एक खत्री दुकानदार) सबसे पहला कवि था जिसने हीर की 'आँखों देखी' कहानी लिखी। हीर झंग की सुन्दरी थी। उसका साक्षात्कार तख्तहजारा के राँझा से हुआ और वह दीवानी हो गई। जब माँ बाप को इस प्रेम-प्रसंग की सूचना मिली तो उन्होंने हीर का विवाह रंगपुर के शैदा के साथ जबरदस्ती कर दिया। ससुराल में हीर राँझा के वियोग में विह्वल हो उठी। उसके रोम-रोम में राँझा समा गया। इधर राँझा जोगी का रूप धारण करके रंगपुर पहुँचा। हीर ने उसे नहीं पहिचाना, पर हीर की ननद उसे पहिचान गई। उसकी सहायता से हीर-राँझा की मुलाकात

हुई। अवसर पाकर दोनों भाग खड़े हुए, लेकिन पकड़े गए। काज़ी ने हीर को शैदा के हवाले करने का हुक्म दिया। इधर रंगपुर में आग लग गई। लोगों ने कहा कि जोगी के शाप से ऐसा हुआ है। हीर राँझे को दे दी गई और दोनों मक्के की तरफ चल पड़े। यह 'हीर' सुखान्त है; बाद में जो किस्से लिखे गए वे दुःखान्त हैं।

भाई गुरुदास (१७०७ ई०=सं० १७६४ वि०) ने दामोदर के किस्से को दोहराया और **मुकबल** ने उसे बैंतों का रूप दिया। एक और 'हीर' (१६९३ ई०=सं० १७५० वि०) **अहमद कवि** की मिलती है। **हामद** ने भी सन १७७० ई० (सं० १८२७ ई०) के लगभग हीर का किस्सा लिखा था। सबसे श्रेष्ठ रचना **वारिसशाह** (१७३८-१७९८ ई०=१७९५-१८५५ वि०) की है। मुकवल और हामद दोनों माने हुए कवि हैं, लेकिन वारिसशाह की 'हीर' में एक अद्‌भुत जादू है। इसे हम तत्कालीन रीति-रिवाज और लोक-परंपरा का विश्वकोश कह सकते हैं। मानव-प्रकृति, पशु-पक्षी आदि का स्वभाव-विश्लेषण मार्मिक ढंग से किया गया है। वारिस-शाह बहुज्ञ, अनुभवी और प्रतिभाशाली कवि थे। भाषा पर उनका पूर्ण अधिकार था।

'मिरज़ा-साहिबाँ' का किस्सा भी छोटे बड़े बहुत से कवियों ने लिखा, पर सब से पुराना और उत्तम किस्सा जहाँगीर, शाहजहाँ के राज्य काल में **पीलू ने** लिखा है। मिरज़ा रावी के किनारे दानाबाद का रहने वाला था। साहिबाँ उसके मामा की लड़की थी और झंग में रहती थी। मिरज़ा का बाप मर गया, माँ उसे झंग ले गई। मिरज़ा और साहिबाँ इकट्ठे खेलते, इकट्ठे पढ़ते। इस तरह दोनों में प्रेम हो गया। मामा ने मिरज़ा को घर से निकाल दिया और साहिबाँ का विवाह कहीं और कर देने का निश्चय किया। मिरज़ा को साहिबाँ ने आने वाले संकट की सूचना दे दी और दोनों भाग निकले। साहिबाँ के भाइयों ने उसका पीछा किया। मिरज़ा ने डटकर उनका सामना किया। इस समय साहिबाँ ने मिरज़ा का तूणीर छिपा दिया कि कहीं यह मेरे भाइयों को मार न डाले। मिरज़ा निहत्था हो जाने पर लड़ता-लड़ता मारा गया और साहिबाँ ने आत्मघात कर लिया।

काव्य में वात्सल्य, शृंगार और वीर रस के सुन्दर स्थल आए हैं।

पीलू के बाद शाहजहां के राज्यकाल में **हाफ़िज़ बरखुरदार** ने भी मिरज़ा साहिबाँ का किस्सा लिखा। इसके अतिरिक्त उसने 'युसुफ-जुलेखा' और 'सस्सी पून्नू' की प्रेमकथाएँ लिखीं। 'सस्सी-पुन्नू' का सम्बन्ध बिलोचिस्तान से और 'यूसुफ-जुलेखा' का मिस्र से है। दोनों को कवि ने सफलतापूर्वक पंजाबी का रूप दिया है। प्रेम, सौन्दर्य, विरह और करुणा का वर्णन कवि ने बड़े मार्मिक ढंग से किया है।

सिक्ख राज्यकाल में **हाशम** (१७५३-१८२३ ई०=सं० १८१०-१८८० वि०), **अहमदयार** (१७६८-१८४५ ई०=सं० १८२५-१८०२ वि०), **क़ादरयार** (१८६० ई०= सं० १९१७ वि०) आदि बड़े विख्यात और सफल कवि हुए, जिन्होंने प्रेमकथा में काव्य-रचना की। हाशम की 'सस्सी' इस नाम के किस्सों में सब से अधिक लोकप्रिय है। इसके अलावा इन्होंने 'सोहनी-महीवाल', 'शीरीं-फरहाद' और 'लैला-मजनू' के किस्से लिखे। पिछले दोनों फारसी से लिये गए हैं और 'सोहणी-महीवाल' लोकवार्ता से। चेनाब नदी के तट पर गुजरात शहर में तुला नाम का कुम्हार रहता था। उसकी लड़की का नाम सोहणी था। बलख के एक व्यापारी का लड़का मिरजा इज्जतबेग हिन्दोस्तान की सैर करता हुआ गुजरात में आ निकला। उसने

तुला कुम्हार से कुछ बर्तन खरीदने के लिए गुलामों को भेजा, उन्होंने लौट कर सोहणी के सौन्दर्य की प्रशंसा की। वह स्वयं गया, आँखें चार हुईं और दोनों प्रेम पाश में बँध गए। इज्जतबेग ने वहीं बर्तन बेचने की दुकान खोल ली, लेकिन व्यापार में हानि हुई, वह कंगाल हो गया, नौकर चाकर छोड़कर चले गए। उसने तुला के यहाँ भैंस चराने की नौकरी कर ली, जिससे उसका नाम मही-(महिषी)वाल (पाल) पड़ा। प्रेम-प्रसंग बढ़ चला, तुला ने महीवाल को घर से निकाल दिया और सोहणी का विवाह गुजरात में किसी कुम्हार के लड़के से कर दिया। महीवाल चनाब के किनारे पहुँचा। सोहणी रात को घड़े पर नदी तैर कर उससे मिलने आया करती। एक दिन उसकी ननद ने उसका घड़ा उठा लिया और उसकी जगह कच्चा घड़ा रख दिया। सोहणी कच्चे घड़े के सहारे चली ही थी कि घड़ा घुल गया और वह नदी की धार में बह गई। महीवाल को सपने में उसकी लाश पुकारती हुई दिखाई दी। वह भी नदी में छलाँग लगाकर डूब गया।

किस्से की वर्णन-शैली बहुत रोचक है। हाशम सूफ़ी कवि है। उसके मुक्तकों में 'दोहड़े' उपलब्ध हैं जिनका उल्लेख पीछे किया गया है।

अहमदयार के किस्सों की संख्या सब से अधिक है। इनके चालीस किस्सों में 'हीर-राँझा' 'सस्सी-पुन्नू', 'यूसुफ-जुलेखा', 'कामरूप', 'लैला-मजनूं' और 'राजबीबी' उच्च कोटि के हैं। इनके अतिरिक्त 'हातम', 'सैफ़लमलूक,' 'सोहणी-महीवाल', 'चंदरबदन' आदि उल्लेखनीय हैं। इन्होंने कुछ धार्मिक पुस्तकें भी लिखीं हैं। इतना होने पर भी इनकी गणना वारिसशाह से दूसरे दर्जे पर की जाती है, क्योंकि इनकी रचना में विषय की मौलिकता बहुत कम है। 'राजबीबी' का किस्सा मौलिक जान पड़ता है, परन्तु यह प्रचलित नहीं हो पाया। इनके काव्य की विशेषता है वैचित्र्य-पूर्ण घटनाओं का समावेश, संयत वर्णन और आलंकारिक भाषा-शैली। यौवन के चित्र चित्रित करने में ये दक्ष हैं। इनकी भावधारा में फारसी का प्रभाव है।

अमामबख्श की दो रचनाएँ हैं—'चंदरबदन' और 'बहरामगोर'। 'चंदरबदन' अपरिपक्व और दोषपूर्ण कृति है। कवि की वास्तविक प्रसिद्धि 'बहरामगोर' के कारण है। इसमें देउओं और परियों का रोचक वर्णन है। बहरामगोर को सफेद देउ घोड़े का रूप धारण कर आकाश लोक में ले जाता है। बहराम हुस्नबानो परी पर मोहित हो जाता है। इसमें प्रेम, रूप, विरह, संयोग आदि का वर्णन सफल है। कुछ एक दृश्य बड़े कवित्वपूर्ण हैं, जैसे, देउ का वर्णन अथवा मां का हुस्नबानो को उपदेश। इस काव्य का कलापक्ष उत्तम है।

इस समय का एक और कवि **कादरयार** हुआ है। उसकी प्रसिद्धि पूरनभगत के किस्से के कारण है। कविता सादी और सरल है। सियालकोट के राजा सालबाहन की दो रानियाँ थीं। बड़ी रानी इच्छरां से पूर्णभक्त का जन्म हुआ। छोटी रानी युवा पूर्ण पर मोहित हो गई। जब पूर्ण ने उसके प्रेम की अवहेलना की तो लूणा ने राजा के पास पूर्ण पर कुदृष्टि का अभियोग लगाया। राजा ने पूर्ण के हाथ पैर कटवाकर उसे कुंए में डाल दिया। वहाँ गुरु गोरखनाथ की कृपा से उसका उद्धार हुआ और उसे हाथ भी मिल गए।

इसके अतिरिक्त कवि की रचनाओं में 'पूरन भक्त दे वार', 'हरिसिंह-नलवा', 'सोहणी-महीवाल', और 'राजा रसालू' उपलब्ध हैं। इनका प्रकृति-चित्रण उत्तम है। भाषा भी सरस

और मधुर है। 'हरिसिंह-नलवा' और 'राजा रसालू' ऐतिहासिक किस्से हैं। इनमें विचित्र घट-नाओं का वर्णन ऐतिहासिकता को रूप देता है।

वीरकाव्य

पंजाबी का वीरकाव्य बहुत समृद्ध है। निम्नलिखित रचनाएँ 'गुरुग्रंथ' के संकलन से पहले की बताई जाती हैं—

१. **राय कमालदी मोजदी वार** में राय कमाल दी और उसके भाई सारंग के बीच में जायदाद के कारण लड़ाई का वर्णन है।

२. **टुंडे असराजे दी वार** में पूरन भगत और कुणाल का सा किस्सा है। असराज की विमाता उसके रूप-सौंदर्य पर मोहित हो जाती है। असराज उसके प्रेम को ठुकरा देता है तो वह अपने पति, राजा सारंग से शिकायत करके उसे मत्युदंड दिलवाती है, लेकिन जल्लाद उसके यौवन से प्रभावित होकर उसके हाथ काटकर छोड़ देते हैं। टुंडा असराज किसी दूसरे नगर में जाकर किसी धोबी के यहाँ ठहरता है। संयोग से उसे वहाँ का राज्य मिल जाता है। राजा सारंग के देश में भयानक अकाल पड़ता है और अंत में असराज उसकी सहायता करता है।

३. **सिकन्दरइब्राहीम दी वार** में सिकंदर शाह अपनी प्रजा में से एक ब्राह्मण की सुन्दर कन्या पर कुदृष्टि रखने और एक क्षत्रिय का उस लड़की का सतीत्व बचाने के लिए युद्धकरके उसका उद्धार करने की कथा वर्णित है।

४. ५. **लैला बहिलीमा दी वार** और **हसने महमे दी वार** में राजपूत सरदारों की ईर्ष्या और लड़ाई का वर्णन है।

६. **मूसे दी वार** में मूसे की प्रेमिका के एक दूसरे राणा से ब्याहे जाने पर दोनों के बीच युद्ध का वर्णन है।

जहाँगीर के समय में 'मलिक मुरीद', 'जोधा वीर', और 'राणा कैलाशदेव मालदेव' आदि वारों में तत्कालीन पंजाबी वीरों की वीरता का वर्णन है।

उपर्युक्त सब कृतियाँ भाटों द्वारा रची जान पड़ती हैं। ये मौखिक रूप से प्रचलित रही हैं और इनकी भाषा तथा शैली में अनेक परिवर्तन हो गए हैं।

गुरु गोविंदसिंह की 'चंडी दी वार' का उल्लेख पीछे हो चुका है। यह कविता पंजाबी वीरकाव्य की शिरोमणि रचना है। गुरु गोविंदसिंह ने और भी अनेक वीर-रसपूर्ण पद लिखे हैं जिनमें बड़ा ओज भरा है।

नजावत ने 'नादरशाह दी वार' लिखी। कवि ने नादर की वीरता की प्रशंसा की है, उसकी हत्याओं और क्रूरताओं का उल्लेख नहीं किया। इस वार का ऐतिहासिक और साहित्यिक महत्व है।

इस काल का अन्तिम कवि **शाह मुहम्मद** (१७८२-१८६२ ई०=सं० १८३९-१९१९ वि०) है जिसने महाराज रणजीतसिंह की वीरता का वर्णन किया है। **मटक** ने भी सिक्खों और अंग्रेजों की लड़ाइयों का वर्णन किया है, लेकिन शाह मुहम्मद की कृति अधिक महत्वपूर्ण है।

गद्य

प्रारंभिक काल का पंजाबी गद्य महापुरुषों की 'जन्म-साखियों', 'गोष्ठों', '**धर्म-पोथियों**' और टीकाओं के रूप में था, इसके अनेक प्रमाण मिलते हैं। गुरु नानक से **पहले का कोई** गद्य प्राप्त नहीं है। **गुरु नानक** कृत 'हराज़नामे' शुद्ध गद्य कृति नहीं है, इसे हम अतुकांत कविता ही कहेंगे। नानक की पहली जन्म-साखी (जीवन-गाथा) भाई बाला ने दूसरे सिक्खगुरु अंगद को लिखवाई। इसकी रचना सन १५६० ई० (सं० १६१७ वि०) और १६४० ई० (सं० १६९७ वि०) के बीच में हुई। इसकी एक प्रतिलिपि बिधिचन्द द्वारा लिखित १६४० ई० (सं० १६९७ वि०) की प्राप्त है। लेकिन इस प्रति की भाषा इतनी पुरानी नहीं है। सबसे प्रसिद्ध 'पुरातन जन्म-साखी' है जो गुरु गोविन्दसिंह के समय के आसपास लिखी जान पड़ती है। इनके अतिरिक्त दो और जन्म-साखियों का पता चला है, जो इंडिया आफिस लाइब्रेरी में हैं। इनका रचना-काल सन १५५८ और १६२५ (सं० १६१५ और १८८२ वि०) के बीच में निर्धारित किया गया है। ये जन्म-साखियां कहानी और जीवनी का मिश्रित रूप है।

'आदिग्रंथ' की प्रथम पुस्तक 'जपुजी' साहब पर अनेक टीकाएँ हैं जिनमें 'जपु परमार्थ' (१७०८ ई० = सं० १७६५ वि०) प्रसिद्ध है। इसमें गुरु नानक और गुरु अंगद के बीच जपुजी पर विचार-विनिमय है। 'सिद्ध गोष्ठ' में सिद्धों और गुरु नानक का वार्तालाप है जिस की शैली बड़ी रोचक है। इसकी बोली सधुक्कड़ी पंजाबी है।

'प्रेम सुमार्ग ग्रंथ' (१७१८ ई० = सं० १७७५ वि०) **गुरु गोविंदसिंह** की रचना है जो शुद्ध केन्द्रीय पंजाबी भाषा में लिखी हुई है। इसमें कलियुग के बाद आने वाले सतयुग का चित्र है। 'सौ साखी' पर गुरु गोविंदसिंह के हस्ताक्षर विद्यमान हैं। इसकी रचना उनके दरबारी **साहबसिंह** ने की थी। इसमें गद्य के साथ कहीं कहीं पद्य भी हैं। कृति में सौ कथाएँ संग्रहीत हैं।

गुरु गोविंदसिंह के सिक्खों में कुछ ने 'रहितनामे' लिखे हैं जिनमें सिक्खों को उपदेश दिया गया है कि वे अपना रहन सहन कैसा रक्खें।

भाई मनीसिंह (मृत्यु सन १७३७ ई० = सं० १७९४ वि०) की दो पुस्तकें 'ग्यान रतनावली' और 'भगतरतनावली' प्राचीन पंजाबी गद्य की सर्वोत्तम कृतियाँ हैं। इनका धार्मिक और ऐतिहासिक महत्व भी है। 'ग्यान रतनावली' में गुरु नानक के जीवन पर और 'भगतरतनावली' (सिक्खों की भक्तमाल) में पहले पाँच गुरुओं के समकालीन कुछ प्रेमी भक्तों की कथाएँ हैं। 'परचियाँ' और 'गोष्ठियाँ' अनेक मिलती हैं, पर इनकी भाषा बहुत पुरानी नहीं जान पड़ती। 'जो ब्रह्मांडे सोई पिंडे' निबन्धात्मक पुस्तक है, जो किसी निर्मले साधु ने लिखी है। **छज्जू भगत** की 'गीता महातम' मिली-जुली पंजाबी में है।

उत्तर मुगल काल की गद्य रचनाओं में 'पारस भाग' (**अड्डण शाह** कृत), भरथरी हरि, मैनावती और राजा विक्रम की कहानियाँ, हज़रत मुहम्मद साहब, कबीर और रविदास की जीवनियाँ; 'सतयुग कथा', 'पकी रोटी', 'गीतासार', 'लवकुशसंवाद', 'जपुपरमार्थ' और 'सिद्धगोष्ठ-परमार्थ', 'योगबाशिष्ठ' और 'महाभारत' से ली गई कुछ कहानियाँ, **तथा** 'सिंहासन बत्तीसी' और 'विवेक' आदि गद्य कृतियाँ मिलती हैं। 'पारसभाग' एक प्रकार का निबन्ध-संग्रह है जिसमें ज्योतिष, वैद्यक, मित्रता, मौत, तृष्णा, नाम-स्मरण, भजन, आत्म-ज्ञान आदि विविध विषयों पर प्रकाश

डाला गया है। भरथरी हरि, मैनावती और राजा विक्रम की कहानियाँ लोकवार्ता से संकलित की गई हैं। मुहम्मद साहब को भारतीय रूप में प्रस्तुत किया गया है। कबीर और रविदास की जीवनियों में जन्म-साखी की शैली है।' 'लवकुशसंवाद' में लव और कुश का वार्तालाप है। यह एक प्रकार का नाटक है। 'सतयुगकथा' और 'विवेक' में अनेक धार्मिक और दार्शनिक विषयों की विवेचना की गई है। 'जप परमार्थ' में शास्त्रार्थ की शैली है। 'पकीरोटी' में इस्लाम के सिद्धांतों पर बहस की गई है। अन्य पुस्तकें अनुवाद के रूप में हैं। इनमें 'सिंहासनबत्तीसी' प्रतिनिधि कृति है। इसमें मौलिक रचना का सा प्रवाह है।

महाराज रणजीतसिंह के राज्यकाल की कोई प्रसिद्ध गद्य रचना उपलब्ध नहीं है। पुरानी परंपरा का अनुसरण प्रायः होता रहा। इस समय गद्य में अनुवादसाहित्य ही प्रमुख है। 'भगवद्गीता', 'अकबरनामा', 'अदलेअकबरी' आदि संस्कृत और फारसी की पुस्तकों के पंजाबी रूपांतर लिखे गए। लाहौर में इन्हीं दिनों एक लिथो प्रेस स्थापित हुआ जिसमें राजकीय समाचार छापकर प्रकाशित किए जाते थे। इन 'रोज़नामचों' की बोली ठेठ पंजाबी है। इतिहास के विद्यार्थियों के लिए यह सामग्री बड़ी महत्वपूर्ण है। महाराजा रणजीतसिंह अपनी डायरी पंजाबी में लिखते थे। इसकी भी एक प्रति उपलब्ध है।

परिशिष्ट

राजस्थानी साहित्य के ग्रन्थकारों और ग्रन्थों की कालक्रमानुसार सूची—

वि० सं०	ई० सन्‌	ग्रन्थकार	ग्रन्थ	भाषा	विशेष
७००	६१३	पूषी	दोहों में रचित अलंकार ग्रन्थ	अपभ्रंश से विकसित देशभाषा	अप्राप्य
९००	८४३	ढेंढणपा (?)	चतुर्योगभावना	,,	,,
९००	८४३	गोरखनाथ	गोरखवाणी	मिश्रित राजस्थानी	प्रकाशित
९००	८४३	खुमाण	खुमाणरासा		अप्राप्य
९९०	९३३	देवसेन	१. सावयधम्मदोहा	अंतिम अपभ्रंश	प्रकाशित
			२. दर्शनसार	राजस्थानी	,,
१०१५	९५८	पुष्पदन्त	१. महापुराण	अंतिम अपभ्रंश	,,
			२. जसहरचरिउ		,,
			३. णायकुमारचरिउ		,,
१०३६	९७९	लाखा	फुटकर दोहे	मिश्रित राजस्थानी	
१०५०	९९३	जोइन्दु	१. आत्मप्रकाश दोहा	उत्तरकालीन	,,
			२. योगसार दोहा	अपभ्रंश तथा	,,
			३. व्याकरण	आरंभिक राजस्थानी	अप्रकाशित
१०५०	९९३	रामसिंह	पाहुड दोहा	राजस्थानी	प्रकाशित
१०५०	९९३	धनपाल	भविस्यत्तकहा	मिश्रित राजस्थानी	,,
१०५०	९९३	मुंज	फुटकर दोहे	,,	,,
१०५०	९९३	भोज	फुटकर दोहे	,,	,,
११६	१०५९	कनकामर मुनि	करकंडचरिउ	मिश्रित देशभाषा	,,
११५०	१०९३	जिनदत्त सूरि	१. चाचरि	मिश्रित राजस्थानी	,,
			२. उवएसरसायणु	,,	,,
			३. कालस्वरूप कुल	,,	,,
११५०	१०९३	आमभट्ट	फुटकर	,,	अप्रकाशित
१२००	११४३	हेमचन्द्र	१. प्राकृत व्याकरण	मिश्रित राजस्थानी	प्रकाशित
			२. छन्दोनुशासन		,,
			३. देशीनाममाला		,,

वि० सं०	ई० सन	ग्रन्थकार	ग्रन्थ	भाषा	विशेष
१२०९	११५२	अज्ञात	उपदेशतरंगिणी	आरंभिक राजस्थानी	प्रकाशित
१२२०	११६३	महेश्वर सूरि	समयसंजममंजरी	,,	
१२४०	११८३	शालिभद्र सूरि	भरतेश्वर बाहुबलि रास	राजस्थानी	,,
१२५०	११९३	जिनपद्म सूरि	थूलिभद्दफागु	,,	,,
१२५०	११९३	विनयचंद सूरि	नेमिनाथ चतुष्पदी	,,	,,
१२५०	११९३	चंद बरदाई या पृथ्वीचंद	पृथ्वीराजरासो		वर्तमान रूप संदिग्ध है।
१२५५	११९८	अजयपाल	फुटकर	राजस्थानी	अप्रकाशित
१३००	१२४३	लक्खण	अणुवयरयण पईब	अन्तिम अपभ्रंश	,,
१३५०	१२९३	जज्जल (जाजदेव)	हमीर की प्रशंसा में कोई काव्य	राजस्थानी	केवल कुछ छंद 'प्राकृत पैंगल' में सुरक्षित
१३००	१२४३	सधना	भक्ति के पद	,,	अप्रकाशित
१३२४	१२६७	तिलोचन	पद	,,	,,
१३२४	१२६७	रत्नप्रभ सूरि	अप्राप्य रचनाएँ	×	×
१३५६	१२९९	अज्ञात	शालिभद्र कक्का	राजस्थानी	प्रकाशित
१३६४	१३०७	अंबदेव सूरि	समरदास	,,	,,
१३७०	१३१३	राजशेखर सूरि	नेमिनाथ फागु	,,	,,
१४१३	१३५६	हरसेवक	मयणरेहा	,,	अप्रकाशित
१४२०	१३६३	शार्ङ्गधर	१. शार्ङ्गधरसंहिता २. संगीत रत्नाकर ३. हमीररासो (?) ४. हमीर काव्य (?)	मिश्रित राजस्थानी	
१४२२	१३६५	प्रसन्नचन्द्रसूरि	रावणिपार्श्वनाथफागु	राजस्थानी-गुजराती मिश्रित	प्रकाशित
१४२२	१३६५	कृष्ठावर्षीजयसिंह सूरि	१. प्रथमनेमिनाथफागु २. द्वितीय ,,	,, ,,	,, ,,
१४२७	१३७०	आसाइत	हंसाउलि	,,	,,
१४३०	१३७३	समुधर	नेमिनाथ फागु	,,	अप्रकाशित
१४५७	१४००	श्रीधर	रणमल्लछंद	,,	,,
१४६२	१४०५	अज्ञात	प्रबोध चिन्तामणि	,,	,,

वि० सं०	ई० सन	ग्रन्थकार	ग्रन्थ	भाषा	विशेष
१४७०	१४१३	शिवदास चारण	अचलदास खीची री वचनिका या वार्ता	राजस्थानी	अप्रकाशित
१४७२	१४१५	धन्ना भगत	पद	"	"
१४७८	१४२१	अज्ञात	पृथ्वीचन्द्र चरित्र	"	"
१४८०-१५३०	१४२३-१४७३	पीपा भगत	पद	"	"
१४९०	१४२३	महाराणा कुंभा	कई फुटकर रचनाएँ तथा चार नाटक	इनमें राजस्थानी का भी मिश्रण है	अप्राप्य
१५२५-१४९३	१४६८-१४३६	अज्ञात	पुरुषोत्तम पाँचपांडव फागु	राजस्थानी	प्रकाशित
१४९३	१४३६	अज्ञात	भरतेश्वर चक्रवर्ती फाग	"	"
१४९३	१४३६	समर	नेमिनाथ फागु	"	"
१४९३	१४३६	पद्म	नेमिनाथ फागु	"	"
१४९५	१४३८	चारण चौहथ	गीत	"	अप्रकाशित
१४९६	१४३९	अज्ञात	राणपुरमंडन चतुर्मुख आदिनाथ फागु	"	प्रकाशित
१५००	१४४३	देववर्द्धन	नलदमयंती आख्यान गद्य रचना	"	"
१५००	१४४३	अज्ञात	सामुद्रिकहं स्त्री-पुरुष शुभाशुभ (नायिकाभेद)	"	"
१५००	१४४३	अज्ञात	वसन्तविलास	गुजराती-राजस्थानी मिश्रित	"
१५१२	१४५५	पद्मनाभ	कान्हडदे प्रबन्ध	"	"
१५१६	१४५९	दामो	लक्ष्मणसेन-पद्मावती चउपई	राजस्थानी	"
१५३०	१४७३	कल्लोल	ढोलामारू रा दूहा	"	"
१५४०	१४८३	हंस कवि	चंदकँवर री वार्ता	"	"
१५५०	१४९३	सांखभद्र	मुनिपतिचरित कवित्त	"	अप्रकाशित
१५५०	१४९३	तत्त्ववेत्ता (?)	कवित्त	"	"
१५५६	१४९९	सिद्धसेन	विक्रमपंचदंड चउपई	"	"
१५५६	१४९९	चतुर्भुज	भ्रमरगीता	"	प्रकाशित
१५५९-८४	१५०२-१५२७	कील्ह	पद	"	अप्रकाशित

वि० सं०	ई० सन	ग्रन्थकार	ग्रन्थ	भाषा	विशेष
१५६३-१६६०	१५६०-१६०३	आसानंद	१. लक्ष्मणायण	राजस्थानी	अप्रकाशित
			२. निरंजन पुराण	,,	,,
			३. गोगाजी री पेड़ी	,,	,,
			४. बाघा रा दूहा	,,	,,
			५. उमादे भटियाणी रा कवित	,,	,,
			६. फुटकर	,,	,,
१५६६-८४	१५०९-२७	सोदाबारहठ जमना	रचनाएँ अप्राप्य	,,	,,
१५६६-८४	१५०९-२७	केसरिया चारण हरिदास	,, ,,	,,	,,
१५७५	१५१८	छीहल	पंचसहेली रा दूहा	,,	प्रकाशित
१५७६	१५१९	चतुर्भुज	भ्रमरगीता	,,	,,
१५८०-१६१७	१५२३-६०	कुशललाभ	१. ढोलामारू रा दूहा	,,	,,
			२. माधवानलकाम-कंदला चउपई	,,	,,
			३. तेजसार रास	,,	अप्रकाशित
			४. अगड़दत्त चउपई	,,	,,
			५. पार्श्वनाथ स्तवन	,,	,,
			६. गौड़ी छंद	,,	,,
			७. नवकार छंद	,,	,,
			८. भवानी छंद	,,	,,
			९. पूज्यवाहण गीत	,,	,,
			१०. जिनपाल जिन-रक्षक संधिभाषा	,,	,,
			११. पिंगलशिरोमणि	,,	,,
१५९०	१५३३	अज्ञात	राउ जइतसी रउ छंद	राजस्थानी पिंगल	,,
१५९०-९८	१५३३-४१	वीठू चारण सूजो नभराजेस	राउ जइतसी रउ छंद	राजस्थानी डिंगल	प्रकाशित
१५९२	१५३५	कायस्थ केशवदास	वसंतविलास फाग	,,	अप्रकाशित
१५९२-१७१२	१५३५-१६५५	दुरसा	१. विरुद छिहत्तरी	,,	प्रकाशित
			२. किरतार बावनी	,,	अप्रकाशित

वि० सं०	ई० सन	ग्रन्थकार	ग्रन्थ	भाषा	विशेष
			३. श्रीकुमार अज्जाजीनी भूचर मारी नी गजगत	राजस्थानी	अप्रकाशित
१५९२	१५३५	ईसरदास	१. हरिरस	,,	,,
			२. छोटा हरिरस	,,	,,
			३. बाललीला	,,	,,
			४. गुणभागवतहंस	,,	,,
			५. गुण आगम	,,	,,
			६. गरुड़पुराण	,,	,,
			७. निंदास्तुति	,,	,,
			८. देवियाण	,,	,,
			९. वैराट	,,	,,
			१०. रास कैलास	,,	,,
			११. सभापर्व	,,	,,
			१२. हालांझालां रा कुंडलिया	,,	,,
१५९६	१५३९	पुण्यरत्न	नेमिनाथ रास	,,	,,
१५९७-१७०७	१५४०-१६५०	लालदास	वाणी, पद, गीत	,,	,,
१६०१-६०	१५४४-१६०३	दादू	वाणी	,,	प्रकाशित
१६०६-४४	१५४९-८७	पृथ्वीराज राठौड़	१. वेलि क्रिसन रुकमिणी री	,,	,,
			२. दूहा दसम भागवत रा	,,	अप्रकाशित
			३. गंगालहरी	,,	,,
			४. वसदेव रावउत	,,	,,
			५. दसरथ रावउत	,,	,,
			६. फुटकर	,,	,,
१६१०-९७	१५५३-१६४०	केशवदास गाडण	१. गुणरूपक	,,	,,
			२. राव अमरसिंह रा दूहा	,,	,,
			३. विवेक यात्रा	,,	,,
			४. गजगुणचरित्र	,,	,,
१६१५-४०	१५५८-८३	नारायण ब्राह्मण	हितोपदेश	,,	,,

वि० सं०	ई० सन	ग्रन्थकार	ग्रन्थ	भाषा	विशेष
१६१५	१५५८	जयवंत सूरि	स्थूलिभद्रकोश प्रेम-विलास फाग	राजस्थानी	प्रकाशित
१६१६	१५५९	रतनोखाती	नरसी महता रो माहेरो	,,	,,
१६१७	१५६०	दयासागर	मदन नरिंद चरित	,,	अप्रकाशित
१६२०	१५६३	अल्लूजी	फुटकर	,,	,,
१६२४-४६	१५६७-८९	रज्जब	१. वाणी, २. सर्वंगी	,,	,,
१६२५	६८	जल्ह	बुद्धिरासो	,,	,,
१६२८-५३	१५७१-९६	पीथा आशिया	अप्राप्य	,,	,,
१६३२-१७०३	१५७५-१६४६	सांयाँझूला	१. रुक्मिणीहरण	,,	,,
			२. नागदमण	,,	,,
१६३२	१५७५	देवो	फुटकर	,,	,,
१६३२	१५७५	अग्रदास	१. श्रीरामभजन-मंजरी	,,	,,
			२. कुंडलिया	,,	,,
			३. हितोपदेश भाषा	,,	,,
			४. उपासना बावनी	,,	,,
			५. ध्यानमंजरी	,,	,,
			६. पद	,,	,,
			७. विश्वब्रह्मज्ञान	,,	,,
			८. रागावली	,,	,,
			९. रामचरित	,,	,,
			१०. अष्टयाम	,,	,,
			११. अग्रसार	,,	,,
			१२. रहस्यत्रय	,,	,,
१६३२-९३	१५७५-१६३६	गरीबदास	१. अनभैप्रबोध	,,	प्रकाशित
			२. साखी	,,	,,
			३. चौबोले	,,	,,
			४. पद	,,	,,
१६३३	१५७६	देवीदास	सिंहासनबत्तीसी	,,	अप्रकाशित
१६३६	१५७९	हीरकलश	सिंहासनबत्तीसी	,,	,,
१६४०	१५८३	बखना	वाणी	,,	प्रकाशित
१६४०	१५८३	जगजीवन	१. वाणी	,,	,,

वि० सं०	ई० सन	ग्रन्थकार	ग्रन्थ	भाषा	विशेष
			२.दृष्टांतसाखीसंग्रह	राजस्थानी	अप्रकाशित
१६४०	१५८३	चतुर्भुजदास (दादू-पंथी)	भागवतएकादशस्कंध	,,	,,
१६४०	१५८३	चतुर्भुजदास निगम	मधुमालती चउपई	,,	,,
१६४५	१५८८	हेमरतन	१.महिपाल चउपई	,,	,,
			२.अभयकुमार चउपई	,,	,,
			३.गोराबादल पद्मिणी चउपई	,,	,,
			४.शीलवतीकथा	,,	,,
			५.लीलावती	,,	,,
			६.सीताचरित्र	,,	,,
			७.रामरासौ	,,	,,
			८.जगदंबा बावनी	,,	,,
			९.शनिश्चरछंद	,,	,,
१६४८	१५९१	नरहरिदास	१.अवतारचरित	राजस्थानी और ब्रजभाषा	,,
			२.दशमस्कंध भाषा	,,	,,
			३.रामचरित	,,	,,
			४.अहल्यापूर्णप्रसंग	,,	,,
			५.अमरसिंह रा दूहा	,,	,,
१६५०	१५९३	मसकीनदास	वाणी	,,	,,
१६५०	१५९३	टीलाजी	वाणी	,,	,,
१६५०	१५९३	प्रयागदास	वाणी	,,	,,
१६५०	१५९३	मोहनदास	१.आदिबोध	,,	,,
			२.साधमहिमा	,,	,,
			३.नाममाला	,,	,,
१६५०	१५९३	जैमल जोगी	वाणी	,,	,,
१६५०	१५९३	जैमल चौहाण	१.वाणी	,,	,,
			२.भक्तविरुदावली	,,	,,
			३.रामरक्षा	,,	,,
१६५०	१५९३	जगन्नाथदास कायस्थ	१.वाणी	,,	,,
			२.गुणगंजनामा	,,	,,
			३.गीतासार	,,	,,

वि० सं०	ई० सन	ग्रन्थकार	ग्रन्थ	भाषा	विशेष
			४. योगवशिष्टसार	राजस्थानी और	अप्रकाशित
१६५०	१५९३	बाजींद	१. वाणी	व्रजभाषा	,,
			२. पद	,,	,,
			३. गुणमुख नावों	,,	,,
			४. अरिल्ल	,,	,,
			५. गुणकविभारानावाँ	,,	,,
			६. गुणनामनावाँ	,,	,,
			७. गुणगंजनामा	,,	,,
			८. गुणउत्पत्तिनामा	,,	,,
			९. गुणघरियानामा	,,	,,
			१०. गुणनिरमोहीनामा	,,	,,
			११. गुणहरिजननामा	,,	,,
			१२. गुणप्रेमकहानी	राजस्थानी	प्रकाशित
			१३. गुणविरहअंग	,,	,,
			१४. गुणनिसाणी	,,	,,
			१५. गुणछंद	,,	,,
			१६. गुणहितोपदेश	,,	,,
			१७. राजकीर्तन	,,	,,
१६५२	१५९५	चतुरदास	भागवत एकादसस्कंध	,,	,,
१६५३-१७४६	१५९६-१६८९	सुन्दरदास	१. ज्ञानसमुद्र	,,	,,
			२. सर्वाङ्ग योगदीपिका	,,	,,
			३. पंचेन्द्रियचरित	,,	,,
			४. सुखसमाधि	,,	,,
			५. स्वप्नप्रबोध, आदि चौबीस रचनाएँ 'सुन्दर-ग्रन्थावली' में प्रकाशित हैं।	,,	,,
१६५६	१५९९	हरिदास निरंजनी	१. भक्तविरुदावली	,,	,,
			२. भरथरी संवाद	,,	,,
			३. साखी	,,	,,
			४. पद	,,	,,
			५. नाममाला	,,	,,
			६. नामनिरूपण	,,	,,
			७. यादूलो (?)	,,	,,

वि० सं०	ई० सन	ग्रन्थकार	ग्रन्थ	भाषा	विशेष
			८. जोगग्रन्थ	राजस्थानी	प्रकाशित
			९. टोडरमल जोग-ग्रन्थ	"	"
१६६१	१६०४	माधोदास (दादूपंथी)	सतगुणसार	"	"
१६६५	१६०८	समयसुन्दर	चतुः प्रत्येक बुद्धप्रबंध	"	"
१६७५	१६१८	भद्रसेन	चंदनमलयगिरि चउपई	"	अप्रकाशित
१६७५	१६१८	चतुरदास	भागवत एकादश स्कंध	"	"
१६७७	१६२०	परशुरामदेव	१. विप्रमतीसी	"	"
			२. परशुरामसागर	"	"
			३. साखी का जोड़ा	"	"
			४. छंद का जोड़ा	"	"
			५. सवैया दसअवतार	"	"
			६. रघुनाथचरित	"	"
			७. सिंगार सुदामा-चरित	"	"
			८. द्रौपदी का जोड़ा	"	"
			९. छप्पय गज ग्राह को	"	"
			१०. श्रीकृष्णचरित	"	"
			११. प्रहलादचरित	"	"
			१२. अमरबोध लीला	"	"
			१३. नामनिधिलीला	"	"
			१४. शौचनिषेध लीला	"	"
			१५. नाथलीला	"	"
			१६. निजरूप लीला	"	"
			१७. श्रीहरिलीला	"	"
			१८. नंदलीला	"	"
			१९. नक्षत्र लीला	"	"
			२०. निर्वाण लीला	"	"
			२१. समझणी लीला	"	"
			२२. तिथिलीला	"	"
			२३. नक्षत्रलीला	"	"
			२४. श्रीबावनी लीला	"	"

वि० सं०	ई० सन	ग्रन्थकार	ग्रन्थ	भाषा	विशेष
			(सभी 'परशुराम-सागर' में संग्रहीत)		
१६८०	१६२३	दयालदास	राणारासौ	राजस्थानी	अप्रकाशित
१६८२	१६२५	नारायण वैरागी	नलदवदंती आख्यान	,,	,,
१६८८-१७१०	१६३१-५३	केहरी	रसिकविलास	,,	,,
१६९०	१६३३	माधोदास	१. रामरासौ	,,	,,
			२. भाषा दसमस्कंध	,,	,,
१६९१	१६३४	सुमतिहंस	विनोदरस	,,	,,
१७००	१६४३	हरिदास भाट	१. अजीतसिंह चरित	,,	,,
			२. अमरबत्तीसी	,,	,,
१७००	१६४३	दानदासदयाल	छंदप्रकाश	,,	,,
१७०६-०७	१६४९-५०	लब्धोदय	पद्मिनीचरित्र	,,	,,
१७०८	१६५१	किसन कवि	उपदेश बावनी	,,	,,
१६०९	१६५२	साईंदानचारण	संमतसार	,,	,,
१७१०	१६५३	राम कवि	जयसिंहचरित्र	,,	,,
१७१०	१६५३	श्रीधर	भवानीछंद	,,	,,
१७१५	१६५८	जग्गो	वचनिका राठौर रतन सिंहजी री महेसदासोत री (रतनरासौ)	,,	,,
१७१८	१६६१	किशोरदास	राजप्रकाश	,,	,,
१७२०	१६६३	गिरधरआस्था	सगतरासौ	,,	,,
१७२१	१६६४	जोगीदास चारण	हरिपिंगल प्रबन्ध	,,	,,
१७२४	१६६७	मतिसुन्दर	विक्रमवेलि	,,	,,
१७२५-१८०८	१६६८-१७२५	संतदास	अणभै वाणी	,,	,,
१७२५-६०	१६६८-१७०३	दौलत विजय (दलपत)	खुमाणरासौ	,,	,,
१७३२	१६७५	सूरविजय	रत्नपालरत्नावती रास	,,	,,
१७३५	१६७८	अजीतसिंह	१. गुणसागर	,,	,,
			२. भावविरही	,,	,,
१७३७	१६८०	रूपजी	रसरूप	,,	,,
१७४०	१६८३	ढाढीबादर	वीरभाण (भिसाणी)	,,	,,

वि० सं०	ई० सन	ग्रन्थकार	ग्रन्थ	भाषा	विशेष
१७४०-५०	१६८३-९३	हरिनाम	केसरीसिंह समर	राजस्थानी	अप्रकाशित
१७४५-९२	१६८८-१६३५	वीरभाण चारण	राजरूपक	"	"
१७५०	१६९३	वल्लभ	१. वल्लभविलास	ब्रजराजस्थानी	"
			२. वल्लभमुक्तावली	"	"
१७५४	१६९७	शिवराम	दस कुमार प्रबन्ध	राजस्थानी	"
१७५५-६३	१६९८-१७०६	मुरली	१. अश्वमेधकथा	"	"
			२. त्रियाविनोद	"	"
१७९०	१७३३	वल्लभ	१. वल्लभविलास	"	"
			२. वल्लभमुक्तावली	"	"
१७९७	१७४०	करणीदान	१. सूरजप्रकाश	"	"
			२. राठौड़ों की ख्यात	"	"
			३. विरुदश्रृंगार	"	"
१८००	१७४३	गिरधर आस्यो	सगतरासो	"	"
१८१७	१७६०	अमरसिंह	रसिक कमल	"	"
१८२८-९०	१७७१-१८३३	बाँकीदास	१. सूरछत्तीसी	"	"
			२. सीहछत्तीसी	"	"
			३. वीरविनोद	"	"
			४. धवलपचीसी	"	"
			५. दातारबावनी	"	"
			६. नीतिमंजरी	"	"
			७. सुयहछत्तीसी	"	"
			८. वैसकवार्ता	"	"
			९. मावड़िया मिजाज	"	"
			१०. कर्पणदर्पण	"	"
			११. मोहमर्दन	"	"
			१२. युगलमुखचपेटिका	"	"
			१३. वैसवार्ता	"	"
			१४. कुकविबत्तीसी	"	"
			१५. विदुरबत्तीसी	"	"
			१६. भुरजालभूषण	"	"

वि० सं०	ई० सन	ग्रन्थकार	ग्रन्थ	भाषा	विषेश
१८२८-९०	१७७१-१८३३	बाँकीदास	१७. गजूलक्ष्मी	राजस्थानी	प्रकाशित
			१८. कमाल नखसिख	,,	,,
			१९. जेहलजसजड़ाव	,,	,,
			२०. सिद्धरावछत्तीसी	,,	,,
			२१. संतोषबावनी	,,	,,
			२२. सुजसछत्तीसी	,,	,,
			२३. वचन विवेक पचीसी	,,	,,
			२४. कायरबावनी	,,	,,
			२५. कृपणपचीसी	,,	,,
			२६. हवरा-छत्तीसी	,,	,,
			२७. स्फुटसंग्रह	,,	,,
			२८. वातसंग्रह	,,	,,
१८३०-९२	१७७३-१८३५	मंछाराम (मंछ)	१. रघुनाथरूपक गीताँ रो	,,	,,
			२. फूलजीफूलमती री वार्ता	,,	अप्रकाशित
१८३६-४५	१७७९-८८	मोतीचंद (चंद)	१. बुढलारी ढालाँ	,,	,,
			२. बूढ्यारासो	,,	,,
१८४०	१७८३	गणेश चतुर्वेदी	१. रसचन्द्रोदय	,,	,,
			२. कृष्ण भक्ति चन्द्रिका नाटक	,,	,,
			३. सभापर्व	,,	,,
			४. नग्रशतक	,,	,,
			५. फागुनमाहात्म्य	,,	,,
१८४९-९२	१७९२-१८३५	चण्डीदास	१. सारसागर	,,	,,
			२. बलिविग्रह	,,	,,
			३. वंशाभरण	,,	,,
			४. तीज तरंग	,,	,,
			५. विरुदप्रकाश	,,	,,
१८५४	१७९७	हरि	कवाट सरवहिया री वात	,,	,,
१८६०	१८०३	उदैचंद भंडारी	छंदप्रबंधपिंगल भाषा	,,	,,

वि० सं०	ई० सन	ग्रन्थकार	ग्रन्थ	भाषा	विशेष
१८६१	१८०४	मनराखन श्रीवास्तव	छंदोनिधि पिंगल	राजस्थानी	अप्रकाशित
१८७०	१८१३	मुनि गुणचंद	वैराग्यशतक	,,	,,
१८७०-१९०९	१८१३-५२	राव बख्तावर	१. केहरप्रकाश	,,	,,
			२. रसोत्पत्ति	,,	,,
			३. स्वरूपयशप्रकाश	,,	,,
			४. शम्भूयशप्रकाश	,,	,,
			५. सज्जनयशप्रकाश	,,	,,
			६. फतहयशप्रकाश	,,	,,
			७. सज्जनचित्रचंद्रिका	,,	,,
			८. संचार्णव	,,	,,
			९. अन्योक्तिप्रकाश	,,	,,
			१०. सामंतयज्ञप्रकाश	,,	,,
			११. रागरागिनियों की पुस्तक	,,	,,
१८९३	१८३६	स्वामी गणेशपुरी	वीरविनोद	ब्रजभाषा	,,
१९००	१८४३	प्रतापकुँवरि बाई	१. ज्ञानसागर	राजस्थानी	,,
			२. ज्ञानप्रकाश	,,	,,
			३. प्रतापपच्चीसी	,,	,,
			४. प्रेमसागर	,,	,,
			५. रामचन्द्रनाम महिमा	,,	,,
			६. रामगुणसागर	,,	,,
			७. रघुवरसनेहलीला	,,	,,
			८. रामप्रेमसुखसागर	,,	,,
			९. रामसुजसपच्चीसी	,,	,,
			१०. रघुनाथ जी के कवित्त	,,	,,
			११. भजनपदहरजस	,,	,,
			१२. प्रतापविनय	,,	,,
			१३. श्रीरामचन्द्र विनय	,,	,,
			१४. हरिजस	,,	,,
१९००	१८४३	गुलाब जी	१. रुद्राष्टक	,,	,,
			२. रामाष्टक	,,	,,
			३. गंगाष्टक	,,	,,
			४. बालाष्टक	,,	,,

वि० सं०	ई० सन	ग्रन्थकार	ग्रन्थ	भाषा	विशेष
			५. पावसपच्चीसी	राजस्थानी	अप्रकाशित
			६. प्रेनपचीसी	,,	,,
			७. रसपचीसी	,,	,,
			८. समस्यापचीसी	,,	,,
			९. गुलाबकोष	,,	,,
			१०. नामचन्द्रिका	,,	,,
			११. नामसिंधुकोष	,,	,,
			१२. व्यंग्यार्थचन्द्रिका	,,	,,
			१३. भूषणचन्द्रिका	,,	,,
			१४. ललितकौमुदी	,,	,,
			१५. नीतिसिंधु	,,	,,
			१६. नीतिमंजरी	,,	,,
			१७. नीतिचन्द्र	,,	,,
			१८. काव्यनियम	,,	,,
			१९. कविताभूषण	,,	,,
			२०. चिंतातंत्र	,,	,,
			२१. मूर्खशतक	,,	,,
			२२. ध्यानरूपसवति का कृष्ण चरित्र	,,	,,
			२३. आदित्यहृदय	,,	,,
			२४. कृष्णलीला	,,	,,
			२५. रामलीला	,,	,,
			२६. सुलोचना लीला	,,	,,
			२७. विभीषण लीला	,,	,,
			२८. दुर्गास्तुति	,,	,,
			२९. लक्षणकौमुदी	,,	,,
			३०. कृष्णचरित्र	,,	,,
			३१. शारदाष्टक	,,	,,
१९००	१८४३	सरजमलकविराज	१. वंशभास्कर	,,	प्रकाशित
			२. वीरसतसई	,,	,,
			३. बलवंतविलास	,,	अप्रकाशित
			४. छंदोमयूख	,,	,,

अनुक्रमणिका

(अंक पृष्ठ-संख्या के सूचक हैं)

१. ग्रंथ तथा पत्र-पत्रिकाएं

२. ग्रन्थकार तथा अन्य व्यक्ति